मूल्य : बीस रुपये

प्रथम संस्करण, भाद्रपद संवत २०१७ वि०
द्वितीय संस्करण, आश्विन, संवत् २०१८ वि०
तृतीय संस्करण, श्रावण, संवत २०२८ वि०
चतुर्थ संस्करण, श्रावण, संवत २०२७ वि०

प्रकाशक—ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी
मुद्रक—ओमप्रकाश कपूर, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी ६९५४-२६

विषयसूची

प्रथम उल्लास

[काव्य-प्रयोजन-कारण-स्वरूपनिर्णय]

द्वितीय उल्लास

[शब्दार्थ-स्वरूप-निर्णय]

तृतीय उल्लास

[अर्थव्यञ्जना-निर्णय]

विषय	पृष्ठ

पञ्चम उल्लास

[ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्यसङ्कीर्ण-भेदनिर्णय]

अष्टम उल्लास

[गुणालङ्कारभेद-निर्णय]

नवम उल्लास

[शब्दालङ्कार-निर्णय]

दशम उल्लास

[अर्थालङ्कार-निर्णय]

भूमिका

नामकरण

काव्यसौन्दर्यकी परख करनेवाले शास्त्रका नाम 'काव्यशास्त्र' है। काव्यशास्त्रके प्रारम्भिक युगमें इसके लिए मुख्यरूपसे 'काव्यालङ्कार' शब्दका प्रयोग होता था। इसीलिए काव्यशास्त्रके आदि युगके सभी आचार्योंने अपने ग्रन्थोंका नाम 'काव्यालङ्कार' रखा है। भामहका कारिका-रूपमें लिखा हुआ काव्यशास्त्रका आदि ग्रन्थ 'काव्यालङ्कार' नामसे ही प्रसिद्ध है। उद्भटने भी अपने ग्रन्थका नाम 'काव्यालङ्कारसारसंग्रह' रखा है। रुद्रटके काव्यशास्त्रविषयक ग्रन्थका नाम भी 'काव्यालङ्कार' है। वामनने सूत्ररूपमें लिखे हुए अपने ग्रन्थका नाम भी 'काव्यालङ्कारसूत्र' रखा। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीनकालमें 'काव्यशास्त्र'के लिए 'काव्यालङ्कार' नाम ही अधिक प्रचलित पाया जाता है। इस नाममें आया हुआ 'अलङ्कार'शब्द सौन्दर्य अर्थको बोधन करनेवाला है। वामनने "सौन्दर्यमलङ्कारः"[1] सूत्र लिखकर अलङ्कारशब्दको सौन्दर्यपरक प्रतिपादन किया है। अन्य सब आचार्योंने भी काव्यके सौन्दर्याधायक धर्मोंको ही 'अलङ्कार' नामसे व्यवहृत किया, "काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलङ्कारान् प्रचक्षते"[2] आदि वचन भी इसी मत की पुष्टि करते हैं। इस प्रकार 'काव्यालङ्कार' शब्दका अर्थ काव्यसौन्दर्य होता है और उससे लक्षणा द्वारा काव्यसौन्दर्यपरक शास्त्रका ग्रहण होता है। इसीलिए काव्यसौन्दर्यकी परीक्षाके आधारभूत मौलिक सिद्धान्तोंका प्रतिपादन करनेवाले ये सब प्राचीन ग्रन्थ 'काव्यालङ्कार' नाम से कहे जाते हैं। इन ग्रन्थोंमें केवल अलङ्कारोंका ही वर्णन नहीं है अपितु काव्यसौन्दर्यकी परीक्षाके लिए गुण, दोष, रीति, अलङ्कार आदि जिन-जिन तत्त्वोंके ज्ञानकी आवश्यकता है उन सभीका प्रतिपादन किया गया है। इसलिए इन नामोंमें आये हुए 'अलङ्कार' शब्दको सौन्दर्यपरक मानकर काव्यसौन्दर्यके प्रतिपादक शास्त्रोंके लिए 'काव्यालङ्कार' नामका प्रयोग उचित प्रतीत होता है।

बादको अनेक स्थलोंपर इस शास्त्रके लिए 'काव्यालङ्कार'के बजाय केवल 'अलङ्कारशास्त्र' नामका प्रयोग ही पाया जाता है। 'प्रतापरुद्रीय'की टीकामें 'अलङ्कारशास्त्र' नामके प्रतिपादनके लिए 'छत्रिन्याय'का अवलम्बन किया गया है। उन्होंने लिखा है—'यद्यपि रसालङ्काराद्यनेकविषयमिदं शास्त्रं तथापि छत्रिन्यायेन अलङ्कारशास्त्रमुच्यते'[3]। इसका अर्थ यह हुआ कि यद्यपि इस शास्त्रमें रस, गुण, दोष, अलङ्कार आदि अनेक विषयोंका विवेचन किया गया है परन्तु 'छत्रिन्याय'से उसे केवल अलङ्कारशास्त्र कहा जाता है। 'छत्रिन्याय'का अभिप्राय यह है कि कहीं बहुत-से व्यक्ति जा रहे हैं, उनमें दो-चार या एक-दो व्यक्ति छाता लगाये हुए, छत्रधारी हैं, उन दो-चार छत्रधारी व्यक्तियोंकी प्रधानता मानकर उनके साथ चलनेवाले छत्ररहित अन्य अनेक व्यक्तियोंका भी 'छत्रिणो यान्ति' आदि पदोंसे ग्रहण हो जाता है और व्यवहारमें उन दो-चार छातेवालोंके कारण उस समुदायके अनेक छत्ररहित व्यक्तियोंको भी 'ये छातेवाले जा रहे हैं' इस प्रकार कहा जाता है। इसी तरह अलङ्कारशास्त्रमें अलङ्कारके अतिरिक्त रसादि अनेक विषयोंका प्रतिपादन होते हुए भी अलङ्कारको प्रधान मानकर 'अलङ्कारशास्त्र' नामसे उनका ग्रहण हो जाता है। यह

१ काव्यालङ्कारसूत्र १-१-२। २ काव्यादर्श २-१। ३ प्रतापरुद्रीय टीका, पृ० ३।

हुए जानेसे उसका महत्त्व बहुत अधिक बढ़ गया। प्राचीन नाम 'काव्यालङ्कार'में उतना महत्त्व प्रतीत नहीं होता है जितना 'काव्यशास्त्र' या 'अलङ्कारशास्त्र' नामोंमें प्रतीत होता है।

'काव्यशास्त्र' शब्दके प्रयोगका आधार

ग्यारहवीं शताब्दीमें 'सरस्वतीकण्ठाभरण'के रचयिता भोजदेवने मुख्य रूपसे इस शास्त्रके लिए 'काव्यशास्त्र' पदका प्रयोग किया है। परन्तु उन्होंने 'शास्त्र' शब्दकी विधि-प्रतिषेधपरक 'शासनात् शास्त्रं' इस पहली व्युत्पत्तिको लेकर ही 'शास्त्र' शब्दका प्रयोग माना है। उन्होंने लिखा है—

'यद्विधौ च निषेधे च व्युत्पत्तेरेव कारणं।
तदध्येयं विदुस्तेन लोकयात्रा प्रवर्तते॥'[१]

इसका अर्थ यह है कि विधि या निषेधका ज्ञान करानेवाला अर्थात् शासन करनेवाला 'शास्त्र' है उसका अध्ययन करना चाहिये क्योंकि उसीसे लोकव्यवहारका सञ्चालन होता है। इस विधि और प्रतिषेधका ज्ञान करानेवाले मुख्य तीन साधन हैं—(१) काव्य, (२) शास्त्र तथा (३) इतिहास। इन तीनोंके मिश्रणसे तीन और बन जाते हैं—(१) काव्य और शास्त्रको मिलाकर काव्यशास्त्र, (२) काव्य और इतिहासको मिलाकर काव्येतिहास, (३) शास्त्र और इतिहासको मिलाकर शास्त्रेतिहास। इस प्रकार भोजदेवके मतमें विधि और प्रतिषेधकी व्युत्पत्ति अर्थात् ज्ञानके कारण छः हो जाते हैं—(१) काव्य, (२) शास्त्र, (३) इतिहास, (४) काव्यशास्त्र, (५) काव्येतिहास, (६) शास्त्रेतिहास। इनका प्रतिपादन करते हुए उन्होंने लिखा है—

'काव्यं शास्त्रेतिहासौ च काव्यशास्त्रं तथैव च।
काव्येतिहासः शास्त्रेतिहासस्तदपि षड्विधम्॥'[२]

इस प्रकार भोजदेवने काव्य, काव्यशास्त्र और काव्येतिहास तीनोंको विधि-प्रतिषेधका ज्ञान करानेवाला माना है। इस प्रकार उन्होंने काव्यके सब प्रयोजनोंमेंसे 'कान्तासम्मिततया उपदेशयुजे' अर्थात् विधि-प्रतिषेधको ही काव्यका मुख्य प्रयोजन माना है। पर यह वस्तुतः बहुजनसमादृत पक्ष नहीं है। अधिकांश विद्वानोंकी दृष्टिमें उपदेश काव्यका मुख्य प्रयोजन नहीं, गौण प्रयोजन है। उसकी अपेक्षा 'सद्यः परनिर्वृत्ति'—अलौकिकानन्दानुभूति या रसास्वादन ही काव्यका मुख्य प्रयोजन है। भोजदेवके ध्यान में 'शास्त्र' शब्दकी कदाचित् 'शासनात् शास्त्रं' वाली एक ही व्युत्पत्ति थी इसीलिए उन्होंने काव्यशास्त्रमें भी शासनकी प्रधानता मान ली है। पर ऐसा करके उन्होंने कदाचित् काव्यके साथ न्याय नहीं किया है। काव्यका प्रधान उद्देश्य शासन नहीं है अन्यथा वेद, शास्त्रादिसे उसका भेद ही क्या रह जायगा। काव्यका प्रधान लक्ष्य 'सद्यः परिनिर्वृत्ति' अर्थात् अपूर्व आनन्दानुभूति या रसास्वादन ही है। यही उसका वेद, शास्त्र आदिसे विभेदक मुख्य धर्म है। भोजदेव इस तत्त्वकी रक्षा नहीं कर सके हैं। 'काव्य'के साथ 'शास्त्र' शब्द जोड़कर उन्होंने उसकी गौरववृद्धि करनेका यत्न तो किया है, पर उस यत्नमें काव्यके आत्माको भूल गये हैं। 'शासनात् शास्त्र'के स्थानपर यदि 'शंसनात् शास्त्र' इस व्युत्पत्तिको लेकर शास्त्र शब्दका प्रयोग मानते तो उससे काव्यका आत्मा भी सुरक्षित रहता और उसकी गौरववृद्धि भी होती।

---

१. सरस्वतीकण्ठाभरण, २।१२८ । २. सरस्वतीकण्ठाभरण २-१२९ ।

और इन्होंने 'साहित्य'के आधारपर ही अपने काव्यलक्षण किये हैं और इस आधारपर ही 'काव्य-शास्त्र'के लिए 'साहित्य' शब्दका प्रयोग होता है। यह प्रयोग भी तो आदिकालसे होता आया है और इसीके आधारपर नवम शताब्दीमें काव्यमीमांसाकार राजशेखरने "पञ्चमीसाहित्यविद्या इति यायावरीयः"[1] लिखकर इस शास्त्रके लिए 'साहित्यविद्या' या साहित्यशास्त्र नामका निर्देश किया है और इसी आधारपर ग्यारहवीं शताब्दीमें रुय्यकने अपने ग्रन्थका नाम 'साहित्यमीमांसा' तथा चौदहवीं शताब्दीमें विश्वनाथने अपने ग्रन्थका नाम 'साहित्यदर्पण' रखा।

'क्रियाकल्प' शब्दका प्रयोग

इस प्रकार हमने देखा है कि काव्यसौन्दर्यकी परख करनेवाले इस शास्त्रके लिए (१) 'काव्यालङ्कार', (२) 'काव्यशास्त्र', (३) 'अलङ्कारशास्त्र', (४) 'साहित्यशास्त्र', (५) 'साहित्यविद्या' आदि अनेक नामोंका प्रयोग करते आये हैं। परन्तु इन सब नामोंसे भिन्न इस शास्त्रके लिए एक और भी नाम प्रयुक्त है और वह है 'क्रियाकल्प'। यह नाम कदाचित् इन सब नामोंसे अधिक प्राचीन है। इसका निर्देश वात्स्यायनके 'कामशास्त्र'में गिनायी गयी ६४ कलाओंमें आता है। 'क्रियाकल्प' 'काव्यक्रियाकल्प'का संक्षिप्त रूप जान पड़ता है। इसका पूरा नाम 'काव्यक्रियाकल्प' अर्थात् 'काव्यशास्त्र' है। केवल 'कामशास्त्र'में ही नहीं अपितु 'ललितविस्तर' नामक बौद्ध ग्रन्थमें भी 'क्रियाकल्प' शब्दका प्रयोग किया गया है। टीकाकार जयमङ्गलार्कने उसका अर्थ 'क्रियाकल्प इति काव्यकरणविधिः काव्यालङ्कार इत्यर्थः' इस प्रकार किया है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि कलाओंके अन्तर्गत प्रयुक्त हुआ 'क्रियाकल्प' शब्द काव्यालङ्कार अथवा अलङ्कारशास्त्रके अर्थमें भी प्रयुक्त हुआ है। वाल्मीकिरामायणके उत्तरकाण्ड (अध्याय ९४, श्लोक ४-१० तक) में लव-कुशके गानको सुननेके लिए रामकी सभामें वैयाकरण, नैगम, स्वरज्ञ, गान्धर्व आदि विद्याओंके विशेषज्ञों-की उपस्थितिका वर्णन किया गया है, इसीके साथ 'क्रियाकल्प' तथा 'काव्यविद्'का वर्णन भी पाया जाता है। इसमें 'काव्यविद्'का अर्थ केवल काव्यरसको ग्रहण करनेमें समर्थ व्यक्ति है तथा 'क्रियाकल्पविद्' का अभिप्राय काव्यसौन्दर्यकी परीक्षामें समर्थ व्यक्ति है। रामायणके श्लोकका सम्बद्ध भाग निम्नलिखित प्रकार है—

'क्रियाकल्पविदश्चैव तथा काव्यविदो जनान्।'[2]

इस प्रकार 'काव्यशास्त्र'के लिए (१) काव्यालङ्कार, (२) काव्यशास्त्र, (३) अलङ्कारशास्त्र, (४) साहित्यशास्त्र, (५) क्रियाकल्प, इन पाँच नामोंका प्रयोग प्रायः होता रहा है। भामह, उद्भट, रुद्रट, वामन और कुन्तकने इनमेंसे 'काव्यालङ्कार' शब्दको अधिक पसन्द किया है इसलिए अपने ग्रन्थोंके नाम 'काव्यालङ्कार' रखे हैं, कुन्तकका ग्रन्थ यद्यपि 'वक्रोक्तिजीवित' नामसे प्रसिद्ध है परन्तु इसके दो भाग हैं—एक मूल कारिकाभाग और दूसरा वृत्तिभाग। दोनों भागोंके रचयिता स्वयं कुन्तक ही हैं। उन्होंने अपने वृत्तिभागका नाम 'वक्रोक्तिजीवित' रखा है और इसी नामसे यह ग्रन्थ प्रसिद्ध है, परन्तु उसके मूल कारिकाभागका नाम 'काव्यालङ्कार' ही है। इसीलिए कुन्तकने प्रारम्भमें ही लिखा है कि—

'लोकोत्तरचमत्कारकारिवैचित्र्यसिद्धये।
काव्यस्यायमलङ्कारः कोऽप्यपूर्वो विधीयते।'[3]

---

१ काव्यमीमांसा, पृ० ४। २ वाल्मीकिरामायण उत्तरकाण्ड, ९४।७। ३ वक्रोक्तिजीवित १।२।

अनुप्रासविषयक, यमने यमकसम्बन्धी, चित्राङ्गदने चित्रकाव्यविषयक, शेषने शब्दश्लेषपर, पुलस्त्यने वास्तव अर्थात् स्वभावोक्तिपर, औपकायनने उपमा अलङ्कारके सम्बन्धमें, पाराशरने अतिशयोक्तिके सम्बन्धमें, उतथ्यने अर्थश्लेषपर, कुबेरने शब्द और अर्थ उभयालङ्कारोंके सम्बन्धमें, कामदेवने विनोद सम्बन्धी, भरतने नाट्यविषयपर, नन्दिकेश्वरने रसविषयपर, धिषण्—बृहस्पति—ने दोषपर, उपमन्युने गुणोंके सम्बन्धमें और कुचमारने औपनिषदिक विषयोंपर स्वतन्त्र रूपसे अपने-अपने ग्रन्थोंकी रचना की।

"इस प्रकार भिन्न-भिन्न विषयोंकी ग्रन्थरचनाओंसे काव्यविद्या अनेक भागोंमें विभक्त होकर छिन्न-भिन्न-सी हो गयी। इसलिए अत्यावश्यक काव्यविद्याके सभी विषयोंको संक्षिप्त करके हमने अठारह अधिकरणोंमें 'काव्यमीमांसा' नामक इस ग्रन्थकी रचना की है।"

इस प्रकार राजशेखरने काव्यशास्त्रके उद्गमके ऊपर प्रकाश डालनेका प्रयत्न किया है। परन्तु इस प्रकारका उल्लेख अन्य किसी ग्रन्थमें नहीं मिलता है।

वेदोंमें काव्यशास्त्रके बीज

प्राचीन भारतीय दृष्टिकोणके अनुसार वेद सब सत्य विद्याओंके प्रतिपादक ग्रन्थ हैं। सब सत्य विद्याओंकी उत्पत्ति और विकास वेदोंसे ही हुआ है इसलिए सभी विद्याओंके मूल तत्त्वोंका अनुसन्धान वेदोंमें किया जाता है। आधुनिक पाश्चात्य विद्वान् भी ऋग्वेदको विश्व-साहित्यका सबसे प्राचीन ग्रन्थ मानते हैं। इसलिए अपनी अनुसन्धानप्रक्रियामें वे भी प्रत्येक विषयका बीज ऋग्वेदमें खोजनेका प्रयत्न करते हैं। इसी दृष्टिसे साहित्यशास्त्रके मूल सिद्धान्तोंका वेदोंमें अन्वेषण करनेका यत्न किया गया है। यों साक्षात् साहित्यशास्त्रका वेदोंसे कोई सम्बन्ध नहीं। वेदाङ्गोंमें शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष इन छ विद्याओंकी गणना की गयी है, पर उनमें साहित्यका नाम नहीं आता। इसलिए वेद और वेदाङ्गोंसे साहित्यशास्त्रका साक्षात् सम्बन्ध नहीं है फिर भी वेदको 'देवका अमर काव्य' कहा गया है—"देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति" के वैदिक वचनमें 'देवके काव्य'के रूपमें वेदका ही निर्देश किया गया। [illegible] निर्माता परमात्माके लिए वेदोंमें अनेक जगह 'कवि' शब्दका प्रयोग किया गया। [illegible] स्वयं काव्यरूप है और उसमें काव्यका सम्पूर्ण सौन्दर्य पाया जाता है। [illegible] निरूपक साहित्यशास्त्रमें काव्यसौन्दर्यके आधायक जिन गुण, रीति, अलङ्कार, [illegible] विवेचन किया गया है वे सभी तत्त्व मूल रूपमें वेदमें पाये जाते हैं। वेदोंमें [illegible] और प्रसादादि गुणोंके उदाहरण अनेक स्थानोंपर पाये जाते हैं। [illegible] निर्धारण होता है। इसलिए रीतियोंके उदाहरण भी वेदमें खोजे जा सकते हैं। [illegible] आदि अलङ्कारोंकी तो वेदोंमें भरमार है। [illegible] प्रयोग देखा जा सकता है—

> 'उत त्वः पश्यन् न ददर्श वाचम् उत त्वः शृण्वन् न शृणोत्येनाम्।
> उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः।

की उपमा कैसी सुन्दर उपमा है। [illegible]
[illegible] सुनते हैं पर उसका भाव समझते नहीं [illegible]

लक्ष्यमें रखकर मन्त्रमें कहा गया है, 'उत त्वः पश्यन् न ददर्श वाचं ।' 'त्व' अर्थात् 'एके' कुछ लोग ऐसे है जो देखते हुए भी वाणीके स्वरूपको नहीं देख पाते हैं और 'शृण्वन् अपि न शृणोत्येनां', सुनकर भी उसको सुन नही पाते है । ये दोनों विरोधाभासके कितने सुन्दर और प्रासादिक, प्रसाद-गुणयुक्त मनोहर उदाहरण है । तीसरे वे लोग है जिनके सामने वाणी अपना सारा सौन्दर्य इस प्रकार खोलकर रख देती है जैसे सुन्दरतम वेश-भूषामें अलङ्कृत होकर पत्नी अपने पतिके सामने अपने सौन्दर्यको पूर्ण रूपमें प्रदर्शित करती है । 'उतो त्व स्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्ये उशती सुवासा' इस उपमाका यही भाव है । यह कितनी सुन्दर उपमा है । दूसरी जगह—'उषा हस्नेव निर्णीते अप्स 'में उषा हँसती हुई-सी अपने 'अप्स' रूपाणि अर्थात् सौन्दर्यको प्रकाशित करती है मे 'हँसती हुई-सी सौन्दर्यको प्रकाशित करती है', कितनी सुन्दर उत्प्रेक्षा है ।

'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥'[१]

इस मन्त्रमें यो तो दर्शनशास्त्रके मौलिक तत्त्वोंका प्रतिपादन किया गया है, परन्तु काव्य या साहित्यशास्त्रकी दृष्टिसे भी वह एक बडा सुन्दर उदाहरण है । वेदके दार्शनिक सिद्धान्तके अनुसार सृष्टिमे ईश्वर, जीव और प्रकृति तीन अनादि, अनन्त मौलिक तत्त्व है । ईश्वर प्रकृतिके द्वारा सृष्टिकी रचना करता है और जीव उस सृष्टिमे अपने कर्मोंके अनुसार सुख-दुःखरूप फलोंका भोग करता है । इस एक मन्त्रमे सारे दर्शनोका रहस्य समाविष्ट कर दिया गया है । पर इस जटिल दार्शनिक तत्त्वका निरूपण 'दिव्य काव्य' वेदमे हुआ है इसलिए वह काव्यके समान सुन्दर प्रतीत होता है । मन्त्रमें ईश्वर, जीव और प्रकृति इन तीनो तत्त्वोको अपने नामोंसे न कहकर 'रूपकालङ्कार'मे दो पक्षियो और एक वृक्षके रूपमे प्रदर्शित किया है । प्रकृति एक विशाल पिप्पल-वृक्षके रूपमें है । ईश्वर और जीव दोनों 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' दो 'सुपर्णा' सुन्दर पंखोवाले, 'सयुजा' साथ रहनेवाले और मित्ररूप पक्षी है । वे दोनों पक्षी 'समानं वृक्षं परिषस्वजाते' एक समान वृक्ष अर्थात् प्रकृतिपर स्थित है । 'तयोरन्य. पिप्पलं स्वाद्वत्ति' उन दोनोमेसे एक—जीव—उस वृक्षके फलोंको खाता है अर्थात् जीवात्मा अपने कर्मोंके अनुसार सृष्टिमे सुख-दु.खरूप फलोका भोग करता है और 'अनश्नन्नन्यः अभिचाकशीति', दूसरा पक्षी अर्थात् परमात्मा 'अनश्नन्' फलोंका भोग न करता हुआ 'अभिचाकशीति' संसारमे चारों ओर अपने सौन्दर्यको प्रकाशित करता है । यह इस मन्त्रका भाव है । काव्यकी मनोहर भाषामे दार्शनिक तत्त्वका ऐसा सुन्दर निरूपण सारे साहित्यमें कहीं और देखनेको नहीं मिलता है । रूपककी कल्पना कैसी सुन्दर बनी है और उसके साथ 'सुपर्णा, सयुजा, सखायः, समान, परिषस्वजाते'के सुन्दर अनुप्रासने तो सोनेमें सुगन्धका काम किया है । 'अनश्नन्नन्यः अभिचाकशीति'में नकारका अनुप्रास माधुर्यकी अभिव्यञ्जना कर रहा है । 'अनश्नन् अन्य अभिचाकशीति' फलका भोग न करते हुए भी अपने तेजको, सौन्दर्यको प्रकाशित कर रहा है यह विभावना अलङ्कारका सुन्दर उदाहरण है । 'विभावना तु विना हेतुं कार्योत्पत्तिर्यदुच्यते', विना हेतुके जहाँ कार्यकी उत्पत्तिका वर्णन हो वहाँ 'विभावना' अलङ्कार होता है । फलका भोग या भक्षण ही दैहिक सौन्दर्यका जनक है पर यहाँ 'अनश्नन्' न खानेपर भी 'अभिचाकशीति' सौन्दर्यके प्रकाशका उल्लेख पाया जाता है । इसलिए यह विभावना अलङ्कारका उदाहरण है । 'काव्यप्रकाश'के 'यः कौमारहरः' इत्यादि अनलङ्कृतिवाले उदाहरणके खण्डनमें 'साहित्यदर्पण'की अपनायी गयी प्रक्रियाके

---

१ ऋग्वेद १-१६४-२० ।

इस मन्त्रमें आध्यात्मिक और आधिभौतिक दोनों प्रकारके उच्च तत्त्वोंका प्रतिपादन किया गया है। आध्यात्मिक दृष्टिसे इसमें मनुष्यके लिए इन्द्रियसंयमका उपदेश किया गया है। 'रशनाभिर्दशभिरभ्यधी ताम्', दस रसनाओंसे अर्थात् दस इन्द्रियोंसे अपना संयम करे अर्थात् अपनी दशों इन्द्रियोंका कठोरताके साथ नियन्त्रण करे। इसके लिए मन्त्रके प्रथम चरणमें 'तनूत्यजेव तस्कराः वनर्गू', जंगलमें रहनेवाले तस्कर अर्थात् लुटेरोंको उपमानरूपमें प्रस्तुत किया गया है। 'वनर्गू' वनगामिनो अर्थात् वनमें रहनेवाले, 'तस्कराः' लुटेरे, 'तनूत्यजेव' अपने प्राणोंपर खेलकर भी जैसे परद्रव्यापहरणरूप कार्यका सम्पादन अत्यन्त निष्ठुर होकर भी करते हैं इसी प्रकार श्रेयोमार्गके पथिक मानवको निष्ठुरताके साथ या दृढ़ताके साथ अपनी दसों इन्द्रियोंका नियन्त्रण करना चाहिये और इस इन्द्रियसंयम द्वारा 'शुचयद्भिरङ्गैः', पवित्र अङ्गोंसे 'रथम् युक्त्वा', अपने जीवन-रथका सञ्चालन करना चाहिये। इस प्रकार संयत जीवन व्यतीत करनेसे, 'यन्ते अग्ने नव्यसीमनीषा', हे अग्रगन्तः! प्रतिदिन जीवनके उन्नत पथपर चलनेवाले तुमको 'नव्यसीमनीषा' प्रतिदिन आत्म-साक्षात्कारके मार्गसे नूतन ज्ञान, नूतन स्फूर्ति प्राप्त होगी, यह इस मन्त्रका अर्थ है। इसमें अपनी इन्द्रियोंके संयमके लिए तस्करोंकी दृढ़ताको उपमान बनाया गया है। यों तो तस्करोंका उपमान बनानेके कारण यह हीनोपमा है पर इन्द्रियदमनके लिए अपेक्षित दृढता या निष्ठुरताका प्रदर्शक यह एक बहुत ही सुन्दर उपमान है इसलिए निरुक्तकारने इस हीनोपमाको दोष न मानकर अलङ्कार ही माना है।

वेदमें 'इव'के अतिरिक्त उपमावाचक अन्य अनेक शब्द भी आते हैं। उनके आधारपर अनेक उदाहरण निरुक्तकारने प्रस्तुत किये हैं। इनमें 'आ' और 'चित्' भी वेदके उपमावाचक शब्द हैं। सूर्य रात्रिके अन्धकारको नष्ट करता है। इसका वर्णन करते हुए—'जार आ भगम्' यह उपमा वेदमें दी गयी है। उसमें 'आ' उपमावाचक शब्द है। 'था'को भी वेदमें उपमावाचक शब्दके रूपमें प्रयुक्त किया जाता है—'तं प्रत्नथा पूर्वथा विश्व थेमथा'में 'था' शब्द 'इव'के अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। 'प्रत्नथा'का अर्थ 'प्र न इव', 'पूर्वथा'का पूर्व इव, 'विश्व था'का विश्व इव आदि हैं। 'यथा' और 'वत्' आदि भी लोकके समान वेदमें उपमावाचक शब्दके रूपमें प्रयुक्त होते हैं—

'यथा वातो यथा वनं यथा समुद्र एजति।'[१]

में 'यथा' शब्द उपमावाचक शब्दके रूपमें प्रयुक्त हुआ है। इसी प्रकार—

'प्रियमेधवत् अत्रिवत् जातवेदो विरूपवत्।'[२]

में 'वत्' शब्द उपमावाचक शब्दके रूपमें प्रयुक्त हुआ है। निरुक्तकारने 'कर्मोपमा, भूतोपमा, रूपोपमा, सिद्धोपमा और लुप्तोपमा आदि उपमाके अनेक भेद भी किये हैं। 'लुप्तोपमा'का दूसरा नाम 'अर्थोपमा' भी है। 'सिंहः पुरुषः', 'काक पुरुष' आदि इस उपमाके उदाहरण हैं। इनमें सिंह आदि शब्द प्रशंसात्मक और काक पद निन्दाव्यञ्जक हैं। यही उत्तरवर्ती कालमें रूपकालङ्कारके रूपमें स्वतन्त्र हुआ है।

वेदाङ्ग व्याकरणशास्त्रमें उपमाका निरूपण

'निरुक्त'के समान ही व्याकरणकी गणना भी छः वेदाङ्गोंमें की गयी है। वर्तमान व्याकरण-ग्रन्थोंके देखनेसे पता चलता है कि व्याकरणशास्त्रपर अनेक आचार्योंने ग्रन्थ लिखे थे। परन्तु इस

[illegible]

समय उनकी उपलब्धि नहीं हो रही है। इस समय केवल पाणिनिव्याकरण ही उपलब्ध हो रहा है। उसमें भी 'निरुक्त'के समान या उससे भी अधिक स्पष्ट रूपमें 'उपमा' अलङ्कारका निरूपण पाया जाता है। उपमा अलङ्कारमें (१) उपमान, (२) उपमेय, (३) साधारणधर्म और (४) उपमा-वाचक शब्द—ये चार मुख्य भाग होते हैं। पाणिनिसूत्रोंमें उन सबका स्पष्ट निर्देश पाया जाता है—

'तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयान्यतरस्याम्'—अष्टाध्यायी २-३-७२
'उपमानानि सामान्यवचनैः' ,, २-१-५५
'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे' ,, २-१-५६

इन सूत्रोंमें उपमान, उपमेय आदि शब्दोंका स्पष्ट रूपसे प्रयोग किया गया है। इतना ही नहीं, अपितु उत्तरवर्ती आलङ्कारिकोंने उपमाके 'श्रौती' और 'आर्थी' रूपसे जो भेद किये हैं उनका भी विस्तृत विवेचन व्याकरणशास्त्रमें पाया जाता है। अथवा यों कहना चाहिये कि अलङ्कारशास्त्रमें यह विवेचन व्याकरणके आधारपर ही किया गया है। साहित्यदर्पणकारने श्रौती और आर्थी उपमा-का लक्षण बताते हुए लिखा है—

'श्रौती यथेव वा शब्दा इवार्थो वा वतिर्यदि।
आर्थी तुल्यसमानाद्या तुल्यार्थो यत्र वा वतिः॥' सा० द० १०-१६

इसका अभिप्राय यह है कि जहाँ उपमानके साथ 'यथा', 'इव', 'वा' आदि शब्दोंका प्रयोग किया जाय अथवा 'तत्र तस्येव' (अष्टाध्यायी ५-१-११६) सूत्रसे 'इव'के अर्थमें 'वति' प्रत्यय किया जाय वहाँ 'श्रौती' उपमा होती है और जहाँ तुल्य, समान आदि उपमावाचक शब्दोंका प्रयोग किया जाय अथवा 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' (अष्टा० ५-१-११५) सूत्रसे 'वति' प्रत्यय किया जाय वहाँ 'आर्थी' उपमा होती है। काव्यप्रकाशकारने भी पूर्णोपमाके भेदोंका प्रतिपादन करते हुए लिखा है—

'साग्रिमा
श्रौत्यार्थी च भवेद् वाक्ये समासे तद्धिते तथा॥'
—का० प्र०, का० ८७, सू० १२७

'अग्रिमा' अर्थात् पूर्णोपमा 'श्रौती' और 'आर्थी' भेदसे दो प्रकारकी होती है और इनमेंसे प्रत्येक वाक्यगत, समासगत तथा तद्धितगत तीन प्रकारकी हो जाती है। इस प्रकार 'पूर्णोपमा'के छः भेद बन जाते हैं। यथा, इव, वा आदि शब्दोंके योगमें 'श्रौती' और तुल्य आदि शब्दोंके योगमें 'आर्थी' उपमा क्यों मानी जाती है इसका उपपादन करते हुए काव्यप्रकाशकारने लिखा है—

"यथेवादि शब्दाः यत्परास्तस्यैवोपमानता प्रतीतिरिति यद्यप्युपमानविशेषणान्येते तथापि शब्दशक्तिमहिम्ना श्रुत्यैव षष्ठीवत् सम्बन्धं प्रतिपादयन्तीति तत् सद्भावे श्रौती उपमा। तथैव 'तत्र तस्येव' इत्यनेनेवार्थे विहितस्य वतेरुपादानेऽपि।

" 'तेन तुल्यं मुखम्' इत्यादावुपमेय एव 'तत्तुल्यमस्य' इत्यादौ चोपमान एव 'इदं च तच्च तुल्यम्' इत्युभयत्रापि तुल्यादिशब्दानां विश्रान्तिरिति साम्यपर्यालोचनया तुल्यताप्रतीतिरिति साधर्म्यस्यार्थत्वात् तुल्यादिशब्दोपादाने आर्थी। तद्वत् तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः इत्यनेन विहितस्य वतेरुपादाने।"

इसका अभिप्राय यह हुआ कि 'यथा', 'इव' आदि शब्द जिसके बाद या साथ में प्रयुक्त होते हैं, वही उपमान होता है और वही विभक्तिके समान सम्बन्धमात्रसे ही यहाँ इस सम्बन्धकी प्रतीति हो जाती है इसलिए इनके होनेपर 'श्रौती' उपमा मानी जाती है। इसी प्रकार '—

तत्र तस्येव' सूत्रके द्वारा 'वति' प्रत्यय होनेपर भी शब्दमात्रसे ही उपमानोपमेयभावकी प्रतीति हो जाती है इसलिए उसके योगमें भी श्रौती उपमा होती है।

तुल्य, समानादि उपमावाचक अन्य शब्दोंकी स्थिति इससे भिन्न है। यथा, इव आदि शब्द सदा उपमानके साथ ही प्रयुक्त होते हैं, परन्तु तुल्य, समानादि शब्दोंके विषयमें यह बात नहीं है। वे कभी उपमानके साथ प्रयुक्त होते हैं, कभी उपमेयके साथ और कभी दोनोंके साथ, जैसे— 'तेन तुल्यं मुखम्।' इस उदाहरणमें 'तुल्य' शब्दका सम्बन्ध 'तेन' इस उपमेयके साथ है। उपमानके साथ नहीं। 'तत्तुल्यमस्य' इस उदाहरणमें 'तुल्य' शब्दका प्रयोग उपमानके साथ है उपमेयके साथ नहीं और 'इदञ्च तच्च तुल्यं' इस उदाहरणमें 'तुल्य' शब्दका प्रयोग 'इदं' और 'तत्' अर्थात् उपमेय और उपमान दोनोंके साथ है इसलिए इन शब्दोंके प्रयोगमें उपमान और उपमेयकी प्रतीति तुरन्त नहीं होती। विचार करनेके बाद निश्चय होता है कि यहाँ तुल्य शब्दका सम्बन्ध किसके साथ है। इसलिए इस प्रकारके स्थलोंमें 'आर्थी' उपमा मानी जाती है। इन दोनों भेदोंमें 'तत्र तस्येव' तथा 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' इन दो व्याकरणसूत्रोंका उपयोग होता है। इसलिए इन उपमाभेदोंके ऊपर व्याकरणशास्त्रका प्रभाव स्पष्ट दिखलायी देता है। यही नहीं, इन दोनों भेदोंके वाक्यगत, समासगत तथा तद्धितगत जो भेद किये गये हैं वे तो पूर्णत व्याकरणके आधारपर ही किये गये हैं।

'सौरभमम्भोरुहवन्मुखस्य कुम्भाविव स्तनौ पीनौ।
हृदयं मदयति वदनं तव शरदिन्दुर्यथा बाले॥'

इस उदाहरणमें 'अम्भोरुहवत्'में 'तत्र तस्येव' सूत्रसे 'वति' प्रत्यय होनेसे तद्धितगत श्रौती उपमा है। 'कुम्भाविव'में 'इवेन नित्यसमासः विभक्त्यलोपश्च' इस नियमके अनुसार 'कुम्भ' शब्दके साथ 'इव' शब्दका नित्यसमास होनेसे समासगत श्रौती उपमा है और 'शरदिन्दुर्यथा'में वाक्यगत श्रौती उपमा है। इस प्रकार एक ही श्लोकमें श्रौती उपमाके तद्धितगत, समासगत तथा वाक्यगत, तीनों भेदोंके उदाहरण आ जाते हैं। इसी प्रकार—

'मधुरः सुधावदधरः पल्लवतुल्योऽतिपेलवः पाणिः।
चकितमृगलोचनाभ्यां सदृशी चपले च लोचने तस्याः॥'

इस उदाहरणमें 'सुधावत्', पदमें 'सुधया तुल्यं सुधावत्' इस विग्रहमें 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' सूत्रसे 'वति' प्रत्यय होनेके कारण तद्धितगत आर्थी उपमा है। 'पल्लवतुल्य'में समासगत आर्थी उपमा तथा 'मृगलोचनाभ्यां सदृशी चपले'में वाक्यगत आर्थी उपमा है।

पूर्णोपमाके ये श्रौती और आर्थी भेद कुछ अंशमें व्याकरणके सूत्रोंसे नियन्त्रित होते हैं। परन्तु लुप्तोपमाके पाँच भेद तो पूर्ण रूपसे व्याकरणके सूत्रोंसे ही नियन्त्रित होते हैं—

'आधारकर्मविहिते द्विविधे च क्यचि क्यङि।
कर्मकर्त्रोर्णमुलि च स्यादेवं पञ्चधा पुनः॥' सा० द० १०-१९
'वादेर्लोपे समासे सा कर्माधारक्यचि क्यङि।
कर्मकर्त्रोर्णमुलि ॥'

—का० प्र०, का० १०, सूत्र १३०

के अनुसार आधार तथा कर्म अर्थोंमें क्रमशः 'अधिकरणाच्च' इस वार्तिक तथा उसके मूलभूत 'उपमानादाचारे' (अष्टा० ३-१-१०) सूत्रसे क्यच् प्रत्यय होनेपर दो प्रकारकी तथा 'कर्तुः क्यङ्-

सलोपश्च' (अष्टा० ३-१-११) सूत्रसे क्यङ् प्रत्यय होनेपर तीसरी प्रकारकी एवं 'उपमाने कर्मणि' (अष्टा० ३-४-४५) सूत्रसे उपमानभूत कर्म तथा कर्ता उपपद रहते किसी धातुसे 'ण्मुल्' प्रत्यय करनेपर चौथी और पाँचवीं धर्मलुप्ता उपमा होती है। इस प्रकार धर्मलुप्ता उपमाके पाँचों भेद एकदम व्याकरणसूत्रोंसे ही नियन्त्रित होते हैं। इन पाँचों भेदोंके उदाहरण एक ही श्लोकमें निम्नलिखित प्रकार आ जाते हैं—

'अन्तःपुरीयसि रणेषु सुतीयसी त्वं,
पौरं जनं तव सदा रमणीयते श्रीः।
दृष्टः प्रियाभिरमृतद्युतिदर्शमिन्दु-
सञ्चारमत्र भुवि सञ्चरसि क्षितीश ॥'

इस उदाहरणमें 'रणेषु अन्तःपुरीयसि' यह आधार अर्थमें 'अधिकरणाच्च' इस वार्तिकसे 'क्यच्' प्रत्यय होकर 'अन्तःपुरे इव आचरसि अन्तःपुरीयसि' रूप बनता है। 'पौरं जन सुतीयसि' इसमें 'सुतमिव आचरसि सुतीयसि' यह रूप 'उपमानादाचारे' (अष्टा० ३-१-१०) सूत्रसे क्यच् प्रत्यय करनेपर बनता है। 'रमणीयते श्री.'मे 'रमणी इव आचरति' इस अर्थमें 'कर्तुः क्यङ् सलोपश्च' (अष्टा० ३-१-११) सूत्रसे क्यङ् प्रत्यय होकर 'रमणीयते' रूप बनता है। 'अमृतद्युति दर्शं दृष्टः' और 'इन्दुसञ्चारं संचरति' इन दोनों उदाहरणोंमें 'उपमाने कर्मणि च' (अष्टा० ३-४-४५) सूत्रसे क्रमशः कर्म तथा कर्ता उपपद रहते 'ण्मुल्' प्रत्यय होकर यह रूप बने हैं। इस प्रकार उपमाके भेदोंपर व्याकरणशास्त्रका पर्याप्त नियन्त्रण प्रतीत होता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वेद तथा वेदाङ्गोंमें काव्यशास्त्रके मौलिक तत्त्वोंका बीज पर्याप्त रूपमें पाया जाता है।

कालविभाग

इस प्रकार हमने वैदिक साहित्यसे लेकर विक्रमसे लगभग ५०० वर्ष पूर्व पाणिनिके कालतक अलङ्कारशास्त्रकी स्थितिपर पिछली पंक्तियोंमें विचार किया। परन्तु इस कालमें अलङ्कारशास्त्रके मौलिक तत्त्वोंका पर्याप्त मात्रामें उल्लेख मिलते हुए भी उसका सुश्लिष्ट शास्त्रीय निरूपण प्राप्त नहीं होता है। उसका शास्त्रीय निरूपण मुख्यतः भरतमुनिसे प्रारम्भ होता है। भरतमुनिका काल प्रायः विक्रमसे २ शताब्दी पूर्वसे लेकर २ शताब्दी बादतकके बीचमें विभिन्न विद्वानों द्वारा नियत किया जाता है। इस प्रकार विक्रमसे दो शताब्दी पूर्वसे लेकर १८वीं शताब्दीतकके पण्डितराज जगन्नाथ, आशाधर भट्ट और अलङ्कारकौस्तुभकार विश्वेश्वर पण्डिततक अलङ्कारशास्त्रके साहित्यका निर्माण होता रहा है। विक्रमसे पूर्व द्वितीय शताब्दीसे लेकर १८वीं शताब्दीतक लगभग २ हजार वर्षके बीचमें अलङ्कारशास्त्रका इतिहास फैला हुआ है। इस कालका विभाजन कई प्रकारसे विद्वानोंने किया है। अधिकांश विद्वानोंने इस कालको चार भागोंमें विभक्त किया है—

१ प्रारम्भिक काल (अज्ञातकालसे लेकर भामहतक)
२. रचनात्मक काल (भामह ,, ,, आनन्दवर्धनतक, अर्थात् ६०० विक्रमीसे ८०० विक्रमीतक)
३ निर्णयात्मक काल (आनन्दवर्धनकालसे लेकर मम्मटतक, अर्थात् ८०० विक्रमीसे १००० विक्रमीतक)

तस्येव' सूत्रके द्वारा 'वति' प्रत्यय होनेपर भी श्रवणमात्रसे ही उपमानसम्बन्धकी प्रतीति हो जाती है इसलिए उसके योगमें भी श्रौती उपमा होती है।

तुल्य, समानादि उपमावाचक अन्य शब्दोंकी स्थिति इससे भिन्न है। यथा, इव आदि शब्द सदा उपमानके साथ ही प्रयुक्त होते हैं, परन्तु तुल्य, समानादि शब्दोंके विषयमें यह बात नहीं है। वे कभी उपमानके साथ प्रयुक्त होते हैं, कभी उपमेयके साथ और कभी दोनोंके साथ, जैसे—'तेन तुल्यं मुखम्।' इस उदाहरणमें 'तुल्य' शब्दका सम्बन्ध 'तेन' इस उपमेयके साथ है। उपमानके साथ नहीं। 'तत्तुल्यमस्य' इस उदाहरणमें 'तुल्य' शब्दका प्रयोग उपमानके साथ है उपमेयके साथ नहीं और 'इदञ्च तच्च तुल्यं' इस उदाहरणमें 'तुल्य' शब्दका प्रयोग 'इद' और 'तत्' अर्थात् उपमेय और उपमान दोनोंके साथ है इसलिए इन शब्दोंके प्रयोगमें उपमान और उपमेयकी प्रतीति तुरन्त नहीं होती। विचार करनेके बाद निश्चय होता है कि यहाँ तुल्य शब्दका सम्बन्ध किसके साथ है। इसलिए इस प्रकारके स्थलोंमें 'आर्थी' उपमा मानी जाती है। इन दोनों भेदोंमें 'तत्र तस्येव' तथा 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' इन दो व्याकरणसूत्रोंका उपयोग होता है। इसलिए इन उपमाभेदोंके ऊपर व्याकरणशास्त्रका प्रभाव स्पष्ट दिखलायी देता है। यही नहीं, इन दोनों भेदोंके वाक्यगत, समासगत तथा तद्धितगत जो भेद किये गये हैं वे तो पूर्णतः व्याकरणके आधारपर ही किये गये हैं।

'सौरभमम्भोरुहवन्मुखस्य कुम्भाविव स्तनौ पीनौ।
हृदयं मदयति वदनं तव शरदिन्दुर्यथा बाले॥'

इस उदाहरणमें 'अम्भोरुहवत्'में 'तत्र तस्येव' सूत्रसे 'वति' प्रत्यय होनेसे तद्धितगत श्रौती उपमा है। 'कुम्भाविव'में 'इवेन नित्यसमासः विभक्त्यलोपश्च' इस नियमके अनुसार 'कुम्भ' शब्दके साथ 'इव' शब्दका नित्यसमास होनेसे समासगत श्रौती उपमा है और 'शरदिन्दुर्यथा'में वाक्यगत श्रौती उपमा है। इस प्रकार एक ही श्लोकमें श्रौती उपमाके तद्धितगत, समासगत तथा वाक्यगत, तीनों भेदोंके उदाहरण आ जाते हैं। इसी प्रकार—

'मधुरः सुधावदधरः पल्लवतुल्योऽतिपेलवः पाणिः।
चकितमृगलोचनाभ्यां सदृशी चपले च लोचने तस्याः॥'

इस उदाहरणमें 'सुधावत्', पदमें 'सुधया तुल्यं सुधावत्' इस विग्रहमें 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' सूत्रसे 'वति' प्रत्यय होनेके कारण तद्धितगत आर्थी उपमा है। 'पल्लवतुल्य'में समासगत आर्थी उपमा तथा 'मृगलोचनाभ्यां सदृशी चपले'में वाक्यगत आर्थी उपमा है।

इस प्रकार ये श्रौती और आर्थी भेद कुछ अंशमें व्याकरणके सूत्रोंसे नियन्त्रित होते हैं। परन्तु लुप्तोपमाके पाँच भेद तो पूर्ण रूपसे व्याकरणके सूत्रोंसे ही नियन्त्रित होते हैं—

'आधारकर्मविहिते द्विविधे च क्यचि क्यङि।
कर्मकर्त्रोर्णमुलि च स्यादेवं पञ्चधा पुनः॥' सा० द० १०-१९
'वाक्येऽपि समासे वा कर्माधारक्यचि क्यङि।
कर्मकर्त्रोर्णमुलि ॥'

—का० प्र०, का० १०, सूत्र १३०

१. [illegible] 'इवेन [illegible]' इस वार्तिक तथा उसके मूलभूत [illegible] (अष्टा० [illegible]) [illegible]

४. व्याख्याकाल (मम्मटकालसे लेकर जगन्नाथ तथा विश्वेश्वर पण्डिततक, अर्थात् १००० विक्रमीसे १७५० विक्रमीतक

१. प्रारम्भिक काल

इन चार कालविभागोंमें पहला—प्रारम्भिक काल है। यह अज्ञातकालसे प्रारम्भ होकर ७वीं शताब्दीके प्रारम्भमें भामहतक आता है। इस कालमें मुख्य रूपसे भरत और भामह दो ही मुख्य आचार्य पाये जाते हैं। भरतका 'नाट्यशास्त्र' ग्रन्थ साहित्यशास्त्रका मुख्य ग्रन्थ है उसमें रस और नाटकके सूक्ष्म तत्त्वोंका विवेचन बहुत सुन्दर रूपसे किया गया है। परन्तु वह सब मूलभूत है, बीजभूत है। आगे उसका विस्तार अन्य आचार्योंने किया है। 'नाट्यशास्त्र'के १६वें अध्यायमें केवल ४ अलङ्कार, १० गुण और १० दोषोंका ही विवेचन किया गया है जो अलङ्कारशास्त्रकी दृष्टिसे [illegible]मात्र ही कहा जा सकता है।

भरतके बाद मेधावी रुद्र आदि उनके कुछ टीकाकार हुए हैं पर उनके ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होते हैं। इनके बाद वास्तवमें भामह ही अलङ्कारशास्त्रके प्रथम आचार्य पाये जाते हैं और उनका '[illegible]' ग्रन्थ अलङ्कारशास्त्रका मुख्य ग्रन्थ कहा जा सकता है। इसमें इन्होंने भरतके चार अलङ्कारोंके स्थानपर ३८ स्वतन्त्र अलङ्कारोंका विवेचन किया है। भट्टिकाव्यके निर्माता भट्टिने इसी-[illegible] अलङ्कारोंका निरूपण किया है।

२. [illegible]

[illegible] दूसरा महत्त्वपूर्ण काल रचनात्मक काल है जो भामह (६०० विक्रमी) [illegible] (८०० विक्रमी) तक २०० वर्षोंमें फैला हुआ है। इस रचनात्मक कालमें [illegible] अलङ्कारसम्प्रदाय, रीतिसम्प्रदाय, रससम्प्रदाय तथा ध्वनि-[illegible] मौलिक ग्रन्थोंका निर्माण हुआ है। इन चारों सम्प्रदायोंके मौलिक [illegible] इस कालमें ही हुए हैं, उनके नाम इस प्रकार हैं—

[illegible]— भामह, उद्भट, रुद्रट

[illegible]— दण्डी, वामन

[illegible]— लोल्लट, शङ्कुक और भट्टनायक आदि

[illegible]— आनन्दवर्धन

[illegible] दृष्टिसे बड़ा महत्त्वपूर्ण है। इसमें जहाँ एक ओर भामह, उद्भट [illegible] निरूपण किया, वहाँ दूसरी ओर दण्डी और वामनने [illegible] 'रससूत्र'की व्याख्या करने [illegible] 'रससिद्धान्त'की [illegible] अपना '[illegible]' ग्रन्थ लिखकर [illegible]

३. [illegible]

[illegible]

बीच फैला हुआ है। 'ध्वन्यालोक'की प्रसिद्ध टीका 'लोचन' एवं 'नाट्यशास्त्र'की 'अभिनवभारती' टीकाके निर्माता अभिनवगुप्त, वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तक, व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट इस युगके प्रधान आचार्य हैं। इनमेंसे कुन्तक पाँचवें वक्रोक्तिसम्प्रदायके संस्थापक हैं और महिमभट्ट ध्वनि-सिद्धान्तके कट्टर विरोधी हैं। कुन्तकका 'वक्रोक्तिजीवित' ग्रन्थ वक्रोक्तिसिद्धान्तका प्रतिपादन करने-वाला उत्कृष्ट ग्रन्थ है और महिमभट्टका 'व्यक्तिविवेक' ग्रन्थ ध्वनिसिद्धान्तका आमूल खण्डन करने-वाला उच्च कोटिका ग्रन्थ है। इनके अतिरिक्त रुद्रभट्ट, भोजराज तथा धनिक और धनञ्जय भी इसी कालके उज्ज्वल रत्न हैं।

४. व्याख्याकाल

साहित्यशास्त्रका चौथा महत्त्वपूर्ण काल व्याख्याकालके नामसे प्रसिद्ध है जो मम्मटसे लेकर जगन्नाथ और विश्वेश्वर पण्डिततक अर्थात् १००० से लेकर १७५० तक लगभग ७½ सौ वर्षोंमें फैला हुआ है। यह सबसे लम्बा काल है। इसमें अनेक आचार्य हुए जिनमेंसे हेमचन्द्र, विश्वनाथ और जयदेव आदिने काव्यकी सर्वाङ्गपूर्ण विवेचना की है और साहित्यके सम्पूर्ण विषयोंको लेकर अपने ग्रन्थोंकी रचना की है। रुय्यक तथा अप्पयदीक्षित आदिने केवल अलङ्कारोंके विवेचनमें ही अपनी शक्तिका व्यय किया है। शारदातनय, शिङ्गभूपाल तथा भानुदत्त आदिने रस सिद्धान्तके विवेचनमें श्लाघनीय प्रयत्न किया है। गौडीय, वैष्णव आचार्य रूपगोस्वामीका सहयोग भी इस कार्यमें श्लाघनीय रहा है। राजशेखर, क्षेमेन्द्र, अमरचन्द्र आदिने कविशिक्षाके विषयपर अपने ग्रन्थों-का निर्माण किया है। इस कालके आचार्योंका वर्गीकरण इस विविध सम्प्रदायोंके अन्तर्गत निम्न लिखित प्रकार कर सकते हैं—

१ ध्वनिसम्प्रदाय—मम्मट, रुय्यक, विश्वनाथ, हेमचन्द्र तथा विद्याधर, विद्यानाथ, जयदेव तथा अप्पयदीक्षित आदि।

२. रससम्प्रदाय—शारदातनय, शिङ्गभूपाल, भानुदत्त, रूपगोस्वामी आदि।

३. कवि-शिक्षा—राजशेखर, क्षेमेन्द्र, अरिसिंह, अमरचन्द्र, देवेश्वर आदि।

४. अलङ्कारसम्प्रदाय—पण्डितराज जगन्नाथ, विश्वेश्वर भट्ट आदि।

प्रकारान्तरसे कालविभाग

यह एक शैलीसे कालविभाजन किया गया है, जिसमें साहित्यशास्त्रके दो हजार वर्षके लम्बे इतिहासको चार भागोंमें विभक्त किया है। दूसरे विद्वानोंने ध्वनिसिद्धान्तको साहित्यशास्त्रका मूल सिद्धान्त मानकर इस कालको तीन भागोंमें विभक्त किया है—

१. पूर्वध्वनिकाल—प्रारम्भसे आनन्दवर्धन (८०० वि० सं०) तक

२. ध्वनिकाल—आनन्दवर्धन (८०० वि० सं०) से मम्मट (१००० वि० सं०) तक

३. पश्चात् ध्वनिकाल—मम्मट (१००० वि० सं०)से जगन्नाथ (१७५० वि० सं०) तक

साहित्यशास्त्रके सम्प्रदाय

कालविभागके उपर्युक्त प्रकरणमें ध्वनिसम्प्रदाय, रससम्प्रदाय आदि [illegible] चर्चा आयी है। इन सम्प्रदायोंकी स्थापना काव्यात्मभूत तत्त्वके विषयमें मतभेदके कारण हुई है। [illegible] लोग रसको काव्यका आत्मा मानते हैं वे रससम्प्रदायके अनुयायी हैं। [illegible] को आत्मा मानते हैं वे अलङ्कारसम्प्रदायके अनुयायी कहे जाते हैं। [illegible]

४ [illegible]

१. प्रारम्भिक काल

इन चार कालविभागोंमें पहला—प्रारम्भिक काल है। [illegible] ७वीं शताब्दीके प्रारम्भसे भामहतक माना है। इस कालमें मुख्य [illegible] मुख्य आचार्य पाये जाते हैं। भरतका 'नाट्यशास्त्र' ग्रन्थ साहित्यशास्त्रका मुख्य ग्रन्थ है। उसमें रस और नाट्यके सूक्ष्म तत्त्वोंका विवेचन बहुत सुन्दर रूपसे किया गया है। परन्तु [illegible] बीजभूत हैं। आगे उनका विस्तार अन्य आचार्योंने किया है। 'नाट्यशास्त्र'में १६वें अध्यायमें केवल ४ अलङ्कार, १० गुण और १० दोषोंका ही विवेचन किया गया है और [illegible] एक रूपरेखामात्र ही कहा जा सकता है।

भरतके बाद मेधावी रुद्र आदि उनके कुछ टीकाकार हुए, पर उनके ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होते हैं। उनके बाद वास्तवमें भामह ही अलङ्कारशास्त्रके प्रारम्भक आचार्य पाये जाते हैं और उनका 'काव्यालङ्कार' ग्रन्थ अलङ्कारशास्त्रका मुख्य ग्रन्थ कहा जा सकता है। उसमें उन्होंने भरतके चार अलङ्कारोंके स्थानपर ३८ स्वतन्त्र अलङ्कारोंका विवेचन किया है। भट्टिकाव्यके निर्माता भट्टिने इन्हींके आधारपर अपने ग्रन्थमें अलङ्कारोंका निरूपण किया है।

२. रचनात्मक काल

साहित्यशास्त्रका दूसरा महत्त्वपूर्ण काल रचनात्मक काल है जो भामह (६०० विक्रमी) से लेकर आनन्दवर्धन (८०० विक्रमी) तक २०० वर्षोंमें फैला हुआ है। इस रचनात्मक कालमें साहित्यशास्त्रके आगे कहे जानेवाले अलङ्कारसम्प्रदाय, रीतिसम्प्रदाय, रससम्प्रदाय तथा ध्वनि-सम्प्रदाय चारों मुख्य सम्प्रदायोंके मौलिक ग्रन्थोंका निर्माण हुआ है। इन चारों सम्प्रदायोंके मौलिक साहित्यका निर्माण करनेवाले आचार्य इस कालमें ही हुए हैं, उनके नाम इस प्रकार हैं—

१. अलङ्कारसम्प्रदाय— भामह, उद्भट, रुद्रट
२. रीतिसम्प्रदाय— दण्डी, वामन
३. रससम्प्रदाय— लोल्लट, शङ्कुक और भट्टनायक आदि
४. ध्वनिसम्प्रदाय— आनन्दवर्धन

यह काल साहित्यशास्त्रकी दृष्टिसे बड़ा महत्त्वपूर्ण है। इसमें जहाँ एक ओर भामह, उद्भट तथा रुद्रटने काव्यके बाह्य अलङ्कारोंका निरूपण किया, वहाँ दूसरी ओर दण्डी और वामनने काव्यकी रीति और उसके गुणोंकी विवेचना की। भरतनाट्यशास्त्रके प्रसिद्ध 'रससूत्र'की व्याख्या करनेवाले लोल्लट, शङ्कुक और भट्टनायक आदिने नाट्यशास्त्रपर टीका लिखकर 'रससिद्धान्त'को स्पष्ट करनेका प्रयत्न किया और इसी कालमें आनन्दवर्धनाचार्यने अपना 'ध्वन्यालोक' ग्रन्थ लिखकर ध्वनिसिद्धान्तकी स्थापना की।

३. निर्णयात्मक काल

आनन्दवर्धनसे लेकर मम्मटतक साहित्यशास्त्रका तीसरा महत्त्वपूर्ण काल है जो निर्णया-त्मक कालके नामसे प्रसिद्ध है। यह काल ८०० विक्रमीसे लेकर १००० विक्रमीतक दो सौ वर्षोंके

बीच फैला हुआ है। 'ध्वन्यालोक'की प्रसिद्ध टीका 'लोचन' एवं 'नाट्यशास्त्र'की 'अभिनवभारती' टीकाके निर्माता अभिनवगुप्त, वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तक, व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट इस युगके प्रधान आचार्य हैं। इनमेंसे कुन्तक पाँचवें वक्रोक्तिसम्प्रदायके संस्थापक हैं और महिमभट्ट ध्वनि-सिद्धान्तके कट्टर विरोधी हैं। कुन्तकका 'वक्रोक्तिजीवित' ग्रन्थ वक्रोक्तिसिद्धान्तका प्रतिपादन करने-वाला उत्कृष्ट ग्रन्थ है और महिमभट्टका 'व्यक्तिविवेक' ग्रन्थ ध्वनिसिद्धान्तका आमूल खण्डन करने-वाला उच्च कोटिका ग्रन्थ है। इनके अतिरिक्त रुद्रभट्ट, भोजराज तथा धनिक और धनञ्जय भी इसी कालके उज्ज्वल रत्न हैं।

४. व्याख्याकाल

साहित्यशास्त्रका चौथा महत्त्वपूर्ण काल व्याख्याकालके नामसे प्रसिद्ध है जो मम्मटसे लेकर जगन्नाथ और विश्वेश्वर पण्डिततक अर्थात् १००० से लेकर १७५० तक लगभग ७½ सौ वर्षोंमें फैला हुआ है। यह सबसे लम्बा काल है। इसमें अनेक आचार्य हुए जिनमेंसे हेमचन्द्र, विश्वनाथ और जयदेव आदिने काव्यकी सर्वाङ्गपूर्ण विवेचना की है और साहित्यके सम्पूर्ण विषयोंको लेकर अपने ग्रन्थोंकी रचना की है। रुय्यक तथा अप्पयदीक्षित आदिने केवल अलङ्कारोंके विवेचनमें ही अपनी शक्तिका व्यय किया है। शारदातनय, शिङ्गभूपाल तथा भानुदत्त आदिने इस सिद्धान्तके विवेचनमें श्लाघनीय प्रयत्न किया है। गौडीय, वैष्णव आचार्य रूपगोस्वामीका सहयोग भी इस कार्यमें श्लाघनीय रहा है। राजशेखर, क्षेमेन्द्र, अमरचन्द्र आदिने कविशिक्षाके विषयपर अपने ग्रन्थों-का निर्माण किया है। इस कालके आचार्योंका वर्गीकरण हम विविध सम्प्रदायोंके अन्तर्गत निम्न-लिखित प्रकार कर सकते हैं—

१ ध्वनिसम्प्रदाय—मम्मट, रुय्यक, विश्वनाथ, हेमचन्द्र तथा विद्याधर, विद्यानाथ, जयदेव तथा अप्पयदीक्षित आदि।

२ रससम्प्रदाय—शारदातनय, शिङ्गभूपाल, भानुदत्त, रूपगोस्वामी आदि।

३ कवि-शिक्षा—राजशेखर क्षेमेन्द्र, अरिसिंह, अमरचन्द्र, देवेश्वर आदि।

४. अलङ्कारसम्प्रदाय—पण्डितराज जगन्नाथ, विश्वेश्वर भट्ट आदि।

प्रकारान्तरसे कालविभाग

यह एक शैलीसे कालविभाजन किया गया है, जिसमें साहित्यशास्त्रके दो हजार वर्षके लम्बे इतिहासको चार भागोंमें विभक्त किया है। दूसरे विद्वानोंने ध्वनिसिद्धान्तको साहित्यशास्त्रका मुख्य सिद्धान्त मानकर इस कालको तीन भागोंमें विभक्त किया है—

१. पूर्वध्वनिकाल—प्रारम्भसे आनन्दवर्धन (८०० विक्रमी) तक

२. ध्वनिकाल—आनन्दवर्धन (८०० विक्रमी) से मम्मट (१००० विक्रमी) तक

३. पश्चात् ध्वनिकाल—मम्मट (१००० विक्रमी)से जगन्नाथ (१७५० विक्रमी) तक

साहित्यशास्त्रके सम्प्रदाय

कालविभागके उपर्युक्त प्रकरणमें ध्वनिसम्प्रदाय, रससम्प्रदाय आदि कुछ सम्प्रदायोंकी चर्चा आयी है। इन सम्प्रदायोंकी स्थापना काव्यात्मभूत तत्त्वके विषयमें मतभेदके कारण हुई है। जो लोग रसको काव्यका आत्मा मानते हैं वे रससम्प्रदायके अन्तर्गत हैं। जो अलङ्कारोंको ही काव्य-का आत्मा मानते हैं वे अलङ्कारसम्प्रदायके अनुयायी कहे जाते हैं। इसी प्रकार '[illegible]

काव्यस्य', रीतिको ही काव्यका आत्मा माननेवाले रीतिसम्प्रदायके अन्तर्गत आते हैं। 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः', ध्वनिको काव्यका आत्मा माननेवाले ध्वनिसम्प्रदायके अनुयायी तथा 'वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्', वक्रोक्तिको काव्यका आत्मा माननेवाले वक्रोक्तिसम्प्रदायके अनुयायी कहे जाते हैं। इस प्रकार साहित्यशास्त्रमें प्रायः (१) रससम्प्रदाय, (२) अलङ्कारसम्प्रदाय, (३) रीतिसम्प्रदाय, (४) वक्रोक्तिसम्प्रदाय तथा (५) ध्वनिसम्प्रदाय ये पाँच सम्प्रदाय पाये जाते हैं। भरतसे लेकर पण्डितराज जगन्नाथतक लगभग दो हजार वर्षों में साहित्यशास्त्रमें जितने आचार्य हुए हैं वे प्रायः इन्हीं सम्प्रदायोंमेंसे किसी-न-किसी सम्प्रदायमें अन्तर्भुक्त हो जाते हैं।

१. रससम्प्रदाय

इन पाँचों सम्प्रदायोंमेंसे सबसे मुख्य तथा प्राचीन सम्प्रदाय कदाचित् रससम्प्रदाय है। रससम्प्रदायके संस्थापक भरतमुनि हैं। यद्यपि राजशेखरने अपनी 'काव्यमीमांसा'में भरतसे भी पहले नन्दिकेश्वरको रससिद्धान्तका प्रतिष्ठापक माना है, किन्तु नन्दिकेश्वरका कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। इसलिए उपलब्ध साहित्यके आधारपर साहित्यशास्त्रके पितामह भरतको ही रससम्प्रदायका संस्थापक माना जाता है। रसके विषयमें सबसे पहिला विवेचन भरतके 'नाट्यशास्त्र'में [illegible] है। भरतमुनिका 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' यह प्रसिद्ध रससूत्र ही [illegible] है। उत्तरवर्ती आचार्योंने इसीके आधारपर रसका विवेचन किया है। इसलिए भरतमुनिको ही रससम्प्रदायका आदिप्रवर्तक मानना होगा। भरतमुनिने 'नाट्यशास्त्र'के [illegible] भावोंका बहुत विस्तारके साथ विवेचन किया है। यही [illegible] है।

[illegible] व्याख्याकारके रूपमें भट्टनायक, भट्टलोल्लट, शङ्कुक, अभिनव[illegible] प्रसिद्ध हैं। इनके मतोंकी चर्चा प्रकृत ग्रन्थ 'काव्यप्रकाश'में की गयी [illegible] इसे 'काव्यप्रकाश'की प्रकृत टीकामें दिखलाया गया है, उसे वहींसे [illegible] चाहिये। 'काव्यप्रकाश'का यह सारा विवरण भरतनाट्यशास्त्रकी [illegible] किया है।

[illegible] अलङ्कारसम्प्रदाय

[illegible] स्थान अलङ्कारसम्प्रदायका आता है। कालक्रमसे भरतके बाद [illegible] इस अलङ्कारसम्प्रदायके प्रवर्तक माने जाते हैं। उनके व्याख्याकार [illegible] उद्भट [illegible] उनके बाद हुए दण्डी, रुद्रट आदि और पश्चाद्वर्ती [illegible] इस अलङ्कारसम्प्रदायके अन्तर्गत आ जाते हैं। [illegible] किन्तु उसे प्रधानता नहीं देते हैं। उनके [illegible] अलङ्कारविहीन [illegible] कल्पना [illegible] काव्यप्रकाश- [illegible] अलङ्कारहीन [illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

'सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना॥'

—भामह, काव्यालङ्कार २-८५

इसी प्रकार दण्डीने 'भिन्नं द्विधा स्वभावोक्ति-वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्' (काव्यादर्श, २-३६३) लिखकर वक्रोक्तिके महत्त्वका प्रतिपादन किया है। और वामनने भी 'सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः' (काव्यालङ्कारसूत्र, ४-३-८ की वृत्ति) लिखकर काव्यमें 'वक्रोक्ति'का स्थान माना है। किन्तु उन सबके मतसे वक्रोक्ति सामान्य अलङ्कारादिरूप ही है। कुन्तकने वक्रोक्तिको जो गौरव प्रदान किया है वह उन आचार्योंने नहीं दिया है। इसलिए कुन्तक ही इस सम्प्रदायके संस्थापक माने जाते हैं। उन्होंने इस वक्रोक्तिसिद्धान्तके ऊपर भी 'वक्रोक्तिजीवित' नामक अपने विशाल एवं अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थकी रचना की है।

वक्रोक्तिजीवितकारने अपने पूर्ववर्ती रीतिसिद्धान्तको भी परिमार्जित करके अपने यहाँ स्थान दिया है। वामनकी पाञ्चाली, वैदर्भी, गौडी आदि 'रीतियाँ' देशभरके आधारपर मानी जाती थीं। कुन्तकने उनका आधार देशको न मानकर रचनाशैलीको माना है और उनके लिए 'रीति'के स्थानपर 'मार्ग' शब्दका प्रयोग किया है। वामनकी वैदर्भी रीतिको कुन्तक 'सुकुमारमार्ग' कहते हैं। इसी प्रकार गौडी रीतिको 'विचित्रमार्ग' तथा पाञ्चाली रीतिको 'मध्यममार्ग' नामसे कहते हैं।

५. ध्वनिसम्प्रदाय

कालक्रमसे वक्रोक्तिसम्प्रदायके बाद ध्वनिसम्प्रदायका उदय हुआ। इस सम्प्रदायके संस्थापक आनन्दवर्धनाचार्य माने जाते हैं। इनके मतमें 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः', काव्यका आत्मा ध्वनि है। इन सभी सम्प्रदायोंमें ध्वनिसम्प्रदाय सबसे अधिक प्रबल एवं महत्त्वपूर्ण सम्प्रदाय रहा है। यों इसके विरोधमें भी अनेक ग्रन्थ लिखे गये, किन्तु उस विरोधसे ध्वनिसिद्धान्त वैसा ही अधिकाधिक चमकता गया जैसे अग्निमें तपानेपर स्वर्णकी कान्ति बढ़ती जाती है। ध्वनिसिद्धान्तके विरोधमें वैयाकरण, साहित्यिक, वेदान्ती, मीमांसक, नैयायिक सभीने आवाज उठायी, किन्तु अन्तमें काव्यप्रकाशकार मम्मटने बड़ी प्रबल युक्तियों द्वारा उन सबका खण्डन करके ध्वनिसिद्धान्तकी पुनः स्थापना की। इसीलिए उनको 'ध्वनिप्रतिष्ठापक परमाचार्य' कहा जाता है।

भरतसे लेकर पण्डितराज जगन्नाथतक लगभग दो हजार वर्षोंके दीर्घकालके भीतर इन सम्प्रदायोंका विकास और सङ्घर्ष होता रहा है। इस बीचमें लगभग चालीस-पैंतालीस मुख्य आचार्यों ने इस साहित्यिक विकासके कार्यमें अपना योगदान किया है। उनका परिचय इस सारे सङ्घर्ष एवं विकासको समझनेमें उपयोगी होगा, इसलिए निम्नलिखित पङ्क्तियोंमें हम साहित्यशास्त्रके उन प्रमुख आचार्योंका संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करनेका यत्न करते हैं।

साहित्यशास्त्रके आचार्योंका परिचय

भरतमुनि

भरतमुनि साहित्यशास्त्रके आचार्योंमें सबसे प्राचीन आचार्य माने जाते हैं। भरत नामसे पाँच विभिन्न व्यक्तियोंका उल्लेख संस्कृत साहित्यमें पाया जाता है—१. दशरथके पुत्र भरत, २. दुष्यन्तके पुत्र भरत, ३. मान्धाताके प्रपौत्र भरत, ४. जडभरत और ५. 'नाट्यशास्त्र'के प्रवर्तक

भरतमुनि। हमें यहाँ केवल अन्तिम अर्थात् नाट्यशास्त्रकार भरतमुनिके विषयमें ही विवेचन करना है, क्योंकि साहित्यशास्त्रके आचार्योंमें उन्हींकी गणना की जाती है। अन्य भरतोंका साहित्यशास्त्रके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।

भरतमुनिके कालका निर्णय करना बड़ा कठिन कार्य है। कुछ विद्वान् भरत नामको एक काल्पनिक नाम मानते हैं। डॉ० मनमोहन घोषका 'नाट्यशास्त्र'का अंग्रेजी अनुवाद 'रायल एशियाटिक सोसाइटी' बंगालसे अभी सन् १९५० में प्रकाशित हुआ है। उसमें भी उन्होंने भरतमुनिको एक काल्पनिक व्यक्ति माना है। इस मतके माननेवाले लोगोंका यह विचार है कि प्रारम्भमें जो नटगण लोग भरते थे वे लोग भरणके कारण 'भरत' कहलाते थे। बादमें उनके आदिपुरुषके रूपमें भरतमुनिकी कल्पना कर ली गयी। परन्तु यह मत वास्तवमें ठीक नहीं है। भरतमुनि काल्पनिक व्यक्ति नहीं अपितु ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। सारे साहित्यशास्त्रमें उनको 'नाट्यशास्त्र'के प्रवर्तकरूपमें स्मरण किया गया है। 'मत्स्यपुराण'के २४ वें अध्यायमें २७-३२वें श्लोकतक ६ श्लोकोंमें भरतमुनिका उल्लेख अनेक बार किया गया है। उनमें यह कथा कही गयी है कि भरतमुनिने देवलोकमें 'लक्ष्मीस्वयंवर' नामक नाटकका अभिनय करवाया था। उसमें अप्सरा उर्वशी लक्ष्मीका अभिनय कर रही थी। देवसभामें इन्द्रके साथ राजा पुरूरवा भी उपस्थित थे। पुरूरवाके रूपको देखकर उर्वशी उस समय ऐसी मोहित हो गयी कि वह अपना अभिनय करना भूल गयी। इसपर भरतमुनिने अप्रसन्न होकर पुरूरवा और उर्वशी दोनोंको शाप दे दिया। महाकवि कालिदासने भी इस घटनाकी ओर सङ्केत किया है और भरतमुनिके नामका उल्लेख करते हुए लिखा है—

'मुनिना भरतेन यः प्रयोगो भवतीष्वष्टरसाश्रयः प्रयुक्तः।
ललिताभिनयं तमद्य भर्ता मरुतां द्रष्टुमनाः सलोकपालः॥'

—विक्रमोर्वशीय २-१८

भरतके 'नाट्यशास्त्र'में भी देवलोकमें भरतमुनिके द्वारा किये जानेवाले अभिनयका वर्णन किया गया है। इसमें भरतमुनिके सौ पुत्रोंकी लम्बी सूची भी दी गयी है और साथमें अप्सराओंके नामोंकी सूची दी गयी है, जिनके द्वारा भरतमुनिने अभिनयकी योजना की थी। संस्कृतके सभी नाटकोंकी समाप्ति प्रायः 'भरतवाक्य'के साथ होती है। और अभिनवगुप्त आदि सभी प्राचीन लेखकोंने भरतमुनिको 'नाट्यशास्त्र'का प्रवर्तक माना है, इसलिए उनको कल्पित व्यक्ति कहना उचित नहीं है।

भरतमुनिके कालका निर्णय कर सकना यद्यपि बहुत कठिन है फिर भी जो लोग उनको ऐतिहासिक व्यक्ति मानते हैं वे उनका समय ५०० विक्रमपूर्वसे लेकर प्रथम शताब्दीतकके बीचमें मानते हैं। अश्वघोष नामक बौद्ध दार्शनिक तथा कवि, विक्रमकी प्रथम शताब्दीमें हुए हैं। उनका 'सारिपुत्रप्रकरण' नामक एक नाट्यग्रन्थ भी खण्डित अवस्थामें अभी मिला है। आलोचकोंकी सम्मतिमें उनके ऊपर भी भरतमुनिके 'नाट्यशास्त्र'का प्रभाव दिखायी देता है। इसलिए भरतमुनिका काल उनसे पहिले अवश्य ही मानना होगा। अतएव कुछ विद्वान् लोग विक्रमपूर्व पञ्चम शताब्दीसे लेकर विक्रमकालके बीचमें कहीं भरतमुनिका समय मानते हैं।

भरतमुनिका एकमात्र ग्रन्थ 'नाट्यशास्त्र' है। यों नामसे तो यह नाट्यके विषयका ही ग्रन्थ प्रतीत होता है परन्तु वस्तुतः यह समस्त कलाओंका विश्वकोष है। स्वयं भरतमुनिने 'नाट्यशास्त्र'का परिचय देते हुए लिखा है—

नामक फ्रांसके एक विद्वान्ने 'नाट्यशास्त्र'के १५वें तथा १६वें अध्यायोंको प्रकाशित किया। उसके बाद सन् १८८४ में उन्हीं रैग्नो महोदयने ६ठें तथा ७वें अध्यायोंको प्रकाशित किया।

रैग्नो महोदयके शिष्य ग्रोसे नामक दूसरे फ्रेंच विद्वान्ने अपने गुरुके कार्यको आगे बढ़ाते हुए सन् १८८८ में नाट्यशास्त्रके संगीतविषयक २८वें अध्यायको सम्पादित करके प्रकाशित किया और उसके बाद भी 'नाट्यशास्त्र'के सम्पादनमें अनवरत तत्पर रहे। अनेक कठिनाइयोंके होते हुए भी सन् १८९८ में उन्होंने 'नाट्यशास्त्र'के प्रारम्भिक १४ अध्यायोंका एक सुसम्पादित संस्करण प्रकाशित किया।

ग्रोसेके इस संस्करणके प्रकाशित होनेके पूर्व फ्रांसके प्रसिद्ध संस्कृत विद्वान् प्रो० सिल्वां लेवी ने अपने भारतीय नाटकविषयक ग्रन्थमें भरतके 'नाट्यशास्त्र'के कुछ अध्यायोंका विवेचन किया था, पर वह बहुत अच्छा नहीं कहा जा सकता था। इसी बीचमें ग्रोसेके संस्करणसे पहले हमारे भारतमें भरत-नाट्यशास्त्रका प्रथम संस्करण निर्णयसागर प्रेस, बम्बईकी काव्यमाला सीरीजमें प्रकाशित हुआ। इसका सम्पादन स्वर्गीय श्री पण्डित शिवदत्तजी तथा श्री काशीनाथ पाण्डुरङ्ग परब महोदयने किया था।

इतना कार्य हो चुकनेपर भी 'नाट्यशास्त्र'का समझना और उसकी समुचित व्याख्या कर सकना विद्वानोंके लिए एक समस्या ही बनी हुई थी। क्योंकि ये संस्करण पर्याप्त शुद्ध न थे और न उनकी कोई टीका आदि अबतक मिल सकी थी। वर्तमान २० वीं शताब्दीके आरम्भमें डॉ० सुशीलकुमार दे महोदयने 'नाट्यशास्त्र'की 'अभिनवभारती' नामक प्राचीन टीकाकी एक प्रति खोज-कर निकाली। इस टीकाके रचयिता कश्मीरके प्रसिद्ध विद्वान् श्री अभिनवगुप्तपादाचार्य हैं। बादको मद्रासके प्रसिद्ध विद्वान् श्री रामकृष्ण कवि महोदयने 'अभिनवभारती' टीका और मूल 'नाट्यशास्त्र'को सम्पादित करनेका भार उठाया और सन् १९२६ में उसके सात अध्यायोंका प्रथम भाग तथा सन् १९३४ में द्वितीय भाग १८ अध्यायतकका प्रकाशित किया। इसका तृतीय भाग भी अब प्रकाशित हुआ है और चतुर्थ भाग भी शीघ्र प्रकाशित होनेकी आशा है।

'अभिनवभारती'के प्रकाशनसे यह आशा हुई थी कि 'नाट्यशास्त्र'का रहस्य स्पष्ट हो जायगा। और बहुत-कुछ अंशोंमें ऐसा हुआ भी है। परन्तु दुःखकी बात यह है कि 'अभिनवभारती'की जो प्रतियाँ उपलब्ध हुईं वे सब अत्यन्त दूषित थीं। उनका पाठ अत्यन्त अशुद्ध था। सम्पादक महोदयको जिस प्रकारका पाठ हस्तलिखित प्रतियोंमें मिला उसको उन्होंने उसी रूपमें छाप दिया था। परन्तु वह पाठ इतना अधिक अशुद्ध और असङ्गत है कि उससे ग्रन्थका अभिप्राय समझ सकना नितान्त असम्भव है।

उसके सम्बन्धमें विद्वानोंका कहना तो यह है कि 'अभिनवभारती'का पाठ इतना अधिक अशुद्ध है कि यदि स्वयं अभिनवगुप्ताचार्य भी स्वर्गसे उतरकर आ जायें तो वर्तमान पाठको देखकर वे भी अपने अभिप्रायको नहीं समझ सकते।

इस प्रकारकी अशुद्धियोंके दो कारण हुए हैं। एक तो यह कि सम्पादक महोदयको जो पाण्डुलिपि प्राप्त हुई थी उसे अनेक स्थानोंपर कीड़ों ने खा डाला था। इसलिए उन स्थानोंपर क्या पाठ था यह पता नहीं लग सकता। इसी कारणसे मुद्रित संस्करणमें अनेक जगह पाठ लुप्त-सा दिखायी देता है। दूसरा कारण यह है कि पाण्डुलिपिके पृष्ठोंपर संख्या पड़ी हुई नहीं थी। इसलिए कहीं-कहींपर जहाँ कि पृष्ठोंको किसीने इधर-उधर करके रख दिया था, वे वहीं छाप दिये गये। इस

प्रकार उनके मुद्रणमें भी भूल हो गयी है, अर्थात् पाठोका पौर्वापर्य बिगड़ गया है। ऐसी अवस्थामें किसी पाठका अर्थ समझमें आ ही कैसे सकता है।

हमारा संस्करण

हमने अभी 'अभिनवभारती'का पाठसंशोधन कर नवीन संस्करण प्रस्तुत किया है जो दिल्ली विश्वविद्यालयकी 'हिन्दी-अनुसन्धान-परिषद्'की ओरसे प्रकाशित हो गया है। इसमें हमने अपनी विवेकाश्रित सम्पादन-पद्धतिसे पाठोका संशोधन करनेका यत्न किया है। जहाँपर कीडोंके खा जानेके कारण हस्तलिखित पाण्डुलिपियोंमें पाठ न पढ़े जा सकनेसे मुद्रित प्रतिमें पाठ लुप्त हो गये थे वहाँ हमने प्रसङ्गके अनुसार लुप्त पाठकी पूर्ति करनेका यत्न किया है। जहाँ दो-चार अक्षरोंका ही लोप हुआ था वहाँ तो हमारा संशोधित पाठ निश्चय ही ठीक बैठ गया है। पर जहाँ लम्बा पाठ लुप्त हो गया था वहाँ भी अक्षरशः नहीं तो भी ग्रन्थकारका भाव पूर्णतः संशोधित पाठमें आ गया है। इसी प्रकार जहाँ पृष्ठोंके व्युत्क्रमसे रख दिये जानेके कारण मुद्रित संस्करणमें पाठ उलट-पलटकर अस्थानमें छप गये थे वे भी प्रायः ठीक स्थानपर कर दिये गये हैं। पाठोका यह संशोधन बड़ा असाध्य कार्य था। पर मैंने उसे करनेका यत्न किया है। यदि विद्वानोंको सन्तोषप्रद हुआ तो हम अपना श्रम सफल समझेंगे और यदि इस कार्यमें कोई भूल-चूक हुई हो तो विद्वानोंके परामर्शका आदर करते हुए अगले संस्करणमें और आवश्यक सुधार करनेका यत्न करेंगे।

भरतमुनिके टीकाकार

भरतमुनिके 'नाट्यशास्त्र'की यद्यपि केवल एक ही टीका 'अभिनवभारती' अबतक उपलब्ध हुई है परन्तु उसे देखनेसे विदित होता है कि उनके पूर्व अन्य अनेक टीकाकारोंने 'नाट्यशास्त्र'पर टीकाएँ लिखी थीं। किन्तु वे सब कालक्रमसे विलुप्त हो गयीं या कम-से-कम अबतक प्राप्त नहीं हो सकी हैं। इनमेंसे १. भट्टोद्भट, २ भट्टलोल्लट, ३ भट्टशङ्कुक और ४ भट्टनायक इन चार व्याख्याकारोंका उल्लेख तो काव्यप्रकाशकारने भी किया है। भरतके 'रससूत्र'की व्याख्यामें इन चारोंके मतोंका उल्लेख अभिनवभारतीकारने भी किया है। इनके साथ पाँचवें अभिनवगुप्त और छठे कीर्तिधरको मिलाकर 'सङ्गीतरत्नाकर'के लेखक श्री शार्ङ्गदेवने भरतके छः टीकाकारोंका उल्लेख निम्नलिखित प्रकारसे किया है—

> 'व्याख्यातारो भारतीये लोल्लटोद्भटशङ्कुकाः।
> भट्टाभिनवगुप्तश्च श्रीमान् कीर्तिधरः परः॥'

इन ६ टीकाकारोंके अतिरिक्त 'अभिनवभारती'में ७ राहुल, ८. भट्टयन्त्र और हर्ष-वर्धनका उल्लेख अपनी टीकामें किया है। राहुलके मतका उल्लेख करते हुए 'अभिनवभारती'के चतुर्थ अध्यायमें पृष्ठ १७२ पर लिखा है—

> 'यथाह राहुलः—
> परोक्षे रि हि वक्तव्या नार्या प्रत्यक्षयन् प्रियः।
> सखी च नाट्यधर्मों यं भरतेनोदितं द्वयम्॥'

अभिनवभारतीकारने पृष्ठ २०८ पर भट्टयन्त्रके मतका उल्लेख करते हुए लिखा है—

[illegible] नृत्तमभ्यासफलमिति भट्टयन्त्रः।

इसी पृष्ठ २०८ पर अभिनवभारतीकारने 'नाट्यमेवेदमिति कीर्तिधराचार्य.' लिखकर कीर्तिधरके नामका भी उल्लेख किया है।

वार्तिककारके मतका उल्लेख 'अभिनवभारती'के पृष्ठ १७२ पर भी किया गया है और फिर पृष्ठ २०७ पर भी उनका उल्लेख किया है। दोनोंमे अन्तर यह है कि पहिली जगह अर्थात् पृष्ठ १७२ पर केवल 'वार्तिककृताप्युक्तम्' इस रूपमें नामके विना वार्तिककारका उल्लेख किया है। और दूसरी जगह अर्थात् पृष्ठ २०७ पर 'इतिहर्षवार्तिकम्' इस रूपमें वार्तिकके साथ हर्ष नामको जोड़कर उसका उल्लेख किया गया है। इससे प्रतीत होता है कि 'नाट्यशास्त्र'पर वार्तिक लिखनेवाले कदाचित् हर्षदेव या श्रीहर्ष आदि नामका कोई व्यक्ति रहा होगा।

इन नौ टीकाकारोंका उल्लेख 'अभिनवभारती' तथा 'सङ्गीतरत्नाकर' आदि ग्रन्थोंमे पाया जाता है। इनके अतिरिक्त मातृगुप्ताचार्य नामक एक दसवें व्यक्तिका नाम भी इस प्रसङ्गमें लिया जाता है। राघवभट्टने 'अभिज्ञानशाकुन्तल'की टीकामें पृष्ठ १५ पर भरतके आरम्भ तथा बीचके लक्षणवाले पद्योंको उद्धृत कर उनका भेद दिखलानेके लिए मातृगुप्ताचार्यका उल्लेख करते हुए लिखा है—

'अत्र विशेषो मातृगुप्ताचार्यैरुक्तः।
क्वचित् कारणमात्रन्तु क्वचिच्च फलदर्शनम् ॥'

इसी प्रकार 'नाट्यप्रदीप'के निर्माता सुन्दरमिश्र (१६१३ ई०) ने 'नाट्यशास्त्र' ५-२५ तथा ५-२८ से नान्दी-लक्षणको उद्धृत करते हुए लिखा है—

'अस्य व्याख्याने मातृगुप्ताचार्यैः षोडशांघ्रिपदापीयमुदाहृता।'

इस लेखसे प्रतीत होता है कि उन्होंने भी भरतनाट्यशास्त्रपर कोई व्याख्या लिखी थी। इस प्रकार भरतमुनिके व्याख्याकारोंके रूपमें प्रायः दस विद्वानोंका उल्लेख पाया जाता है परन्तु उनमेंसे एक 'अभिनवभारती'को छोड़कर अन्य किसीका टीकाग्रन्थ अबतक उपलब्ध नहीं हुआ है। और यह भी विदित नहीं होता है कि उन्होंने सारे 'नाट्यशास्त्र'के ऊपर अपनी टीकाएँ लिखी थीं अथवा उसके किसी विशेष भागपर ही अपनी व्याख्याएँ की थी। केवल एक 'अभिनवभारती' व्याख्या ऐसी है जो 'नाट्यशास्त्र'के अधिकांश भागपर की गयी है। किन्तु कुछ अध्यायोंमें और कुछ स्थलोंपर वह भी उपलब्ध नहीं होती। जो कुछ उपलब्ध होती है वह भी अशुद्ध पाठोंके कारण दुरूह है। अच्छे-अच्छे विद्वान् भी पाठदोषके कारण उसे समझ नहीं सकते। हमने केवल तीन अध्यायों (१, २ तथा ६) का पाठसंशोधन किया है। उतना भाग तो अब सुबोध हो गया है, परन्तु शेष भाग अभी संशोधन की अपेक्षा रखता है।

२. मेधावी

साहित्यशास्त्रके इतिहासमें भरतमुनिके बाद मुख्य रूपसे भामहका नाम आता है। परन्तु इन दोनोंके बीचमें छ-सात सौ वर्षका व्यवधान पड़ता है। भरतमुनिका समय, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, विक्रमके पूर्व प्रथम शताब्दी या विक्रमके बाद प्रथम शताब्दीतक माना जाता है। भामहका काल, जैसा कि आगे कहेंगे, विक्रमके षष्ठ शतकका पूर्वार्द्ध माना जाता है। इतना लम्बा बीचका काल साहित्यिक आचार्योंसे शून्य ही पड़ा रहा हो ऐसा सम्भव नहीं है। इस बीचमें

१ नाट्यशास्त्र (बड़ौदा), पृ० १७२। २ ना० शा० (बड़ौदा), पृ० २०८।

भी अनेक आचार्य हुए होंगे। परन्तु उनके विषयमें आज हमको कुछ भी पता नहीं चलता है। इन्हीं बीचके आचार्योंमें मेधावी या मेधाविरुद्र नामके अलङ्कारशास्त्रके एक प्रमुख आचार्य हो चुके हैं। उनका पता हमें भामह, रुद्रटके व्याख्याकार नमिसाधु और राजशेखर आदिके ग्रन्थोंसे मिलता है।

मेधावी आचार्यके जिस मुख्य सिद्धान्तकी चर्चा उत्तरवर्ती साहित्यमें की गयी है वह उनका उपमादोषोंके विवेचनका सिद्धान्त है। उन्होंने १ हीनता, २ असम्भव, ३ लिङ्गभेद, ४ वचनभेद, ५ विपर्यय, ६ उपमानाधिक्य तथा ७ उपमानासादृश्य— इन सात प्रकारके उपमादोषोंका विशेष रूपसे निरूपण किया था। उसकी चर्चा भामह, नमिसाधु तथा वामनने अपने ग्रन्थोंमें की है। भामहने इस विषयका विवेचन करते हुए लिखा है—

'हीनतासम्भवो लिङ्गवचोभेदो विपर्ययः।
उपमानाधिकत्वं च तेनासदृशतापि च॥
त एत उपमादोषाः सप्त मेधाविनोदिताः।
सोदाहरणलक्ष्माणो वर्ण्यन्तेऽत्र ते पृथक्॥'

—भामह, काव्यालङ्कार २-३९, ४०

रुद्रटके, 'काव्यालङ्कार' (११-२४)की टीकामें इसी विषयकी चर्चा करते हुए उसके टीकाकार नमिसाधुने लिखा है—

'अत्र च स्वरूपोपादाने सत्यपि चत्वार इति ग्रहणात् मेधावि-प्रभृतिभिरुक्तं यथा लिङ्गवचनभेदौ हीनताधिक्यमसम्भवो विपर्ययो सादृश्यमिति सप्तोपमादोषा · 'तदेतन्निरस्तम्।'

मेधावीने जिन सात उपमादोषोंका प्रतिपादन किया था उनमेंसे विपर्ययको हीनता या अधिकता दोषके अन्तर्गत करके वामनने सातके स्थानपर केवल छः उपमादोषोंका प्रतिपादन करते हुए लिखा है—

'अनयोर्दोषयोर्विपर्ययाख्यस्य दोषस्यान्तर्भावान्न पृथगुपादानम्। अत एवास्माकं मते षड्दोषा इति।'

—वामन, काव्यालङ्कारसूत्र ४-२-११ की वृत्ति

वामनने यद्यपि भामह और नमिसाधुकी तरह यहाँ मेधावीके नामका उल्लेख नहीं किया है, परन्तु इस विवेचनको देखते हुए यह स्पष्ट हो जाता है कि मेधावीके सात दोषोंवाले सिद्धान्तके आलोचनारूपमें ही इसे लिखा है।

दोषोंके अतिरिक्त अलङ्कारोंके विवेचनमें भी भामह और दण्डीने मेधावीके सिद्धान्तकी चर्चा की है। भामह आदि उत्तरवर्ती आलङ्कारिकोंने 'यथासंख्य' तथा 'उत्प्रेक्षा' दो अलग-अलग अलङ्कार माने हैं, परन्तु मेधावी 'उत्प्रेक्षा'को अलग अलङ्कार न मानकर कहीं-कहीं 'संख्यान' नामसे ही उसका कथन करते हैं। इसी बातका प्रतिपादन करते हुए भामहने लिखा है—

'यथासंख्यमथोत्प्रेक्षामलङ्कारद्वयं विदुः।
संख्यानमिति मेधाविनोत्प्रेक्षाऽभिहिता क्वचित्॥'

—भामह, काव्यालङ्कार २-८८

दण्डीने इस संख्यान नामको उत्प्रेक्षाका वाचक न कहकर यथासंख्यका ही दूसरा नाम माना है और उसीको 'क्रम' नामसे भी कोई आचार्य कहते हैं यह लिखा है—

'यथासंख्यमिति प्रोक्तं संख्यानं क्रम इत्यपि।'

—दण्डी, काव्यादर्श २-३८२

दण्डीके इस लेखमें यद्यपि मेधावीके नामका उल्लेख नहीं किया गया है और न उनके उत्प्रेक्षाको 'संख्यान' नामसे कहनेकी चर्चा की गयी है फिर भी उसमें मेधावीके द्वारा प्रयुक्त 'संख्यान' नामकी चर्चा हुई है इसलिए हमने उसको यहाँ दे दिया है।

मेधाविरुद्रके तीसरे जिस सिद्धान्तकी चर्चा उत्तरवर्ती साहित्यमें पायी जाती है, वह है शब्दोंका चतुर्धा विभाग। व्याकरण आदि शास्त्रोंमें शब्दोंके १. नाम, २ आख्यात, ३ उपसर्ग, ४ निपात और ५ कर्मप्रवचनीय नामसे पाँच विभाग किये गये हैं, परन्तु मेधाविरुद्रने इनमेंसे कर्मप्रवचनीयको छोड़ केवल १ नाम, २ आख्यात, ३ उपसर्ग और ४ निपात, चार ही विभाग किये हैं। इसकी चर्चा करते हुए रुद्रक-काव्यालङ्कारकी टीकामें नमिसाधुने लिखा है—

'एत एव चत्वारः शब्दविधा इति येषां सम्यग्ज्ञातं तत्र तेषु नामादिषु मध्ये मेधाविरुद्रप्रभृतिभिः कर्मप्रवचनीया नोक्ता भवेयुः।'

—रुद्रट, काव्यालङ्कारकी टीका २-२, पृ० ०

'निरुक्त'के रचयिता यास्कमुनिने भी 'निरुक्त'के प्रारम्भमें शब्दोंका विभाजन करते हुए 'तद्यान्येतानि चत्वारि पदजातानि नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्च' लिखकर नाम, आख्यात, उपसर्ग तथा निपात चार प्रकारका पदविभाग ही स्वीकार किया है। 'कर्मप्रवचनीय'को अलग विभाग नहीं माना है। इसी प्रकार मेधाविरुद्रने भी 'कर्मप्रवचनीय'को छोड़कर केवल चार प्रकारका ही पदविभाग माना है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मेधाविरुद्रके अनेक सिद्धान्तोंकी चर्चा भामह तथा उनके परवर्ती ग्रन्थोंमें हुई है। इसलिए उन्होंने अलङ्कारशास्त्रपर अवश्य ही कोई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा होगा जो दुर्भाग्यवश आज उपलब्ध नहीं होता है। राजशेखरके लेखसे यह भी ज्ञात होता है कि मेधावी जन्मान्ध थे। राजशेखरने लिखा है—

प्रत्यक्षप्रतिभावतः पुनरपश्यतोऽपि प्रत्यक्ष इव। यतो मेधाविरुद्र-[illegible] दयः जात्यन्धाः कवयः श्रूयन्ते।'

काव्यमीमांसा, पृ० [illegible]

राजशेखरके इस लेखसे प्रतीत होता है कि मेधाविरुद्र प्रतिभावान्, [illegible] थे। परन्तु दुःखकी बात है कि आज उनका न काव्यग्रन्थ मिलता है और न [illegible] पाया जाता है।

३ भामह

भरतमुनिके बाद अलङ्कारशास्त्रके दूसरे आचार्य, जिनका ग्रन्थ भी मिलता है, [illegible]। भामहका समय विद्वानोंने छठे शतकसे पूर्व माना है। इसका आधार यह [illegible] 'काव्यालङ्कार'के पञ्चम परिच्छेदमें न्यायनिर्णयका वर्णन करते हुए [illegible] कल्पनापोढम्' इस प्रत्यक्षलक्षणको उद्धृत किया है। [illegible]

सी अनेक आचार्य हुए होंगे। परन्तु दैवदुर्विपाकसे आज हमको उनका कोई पता नहीं चलता है। इन्हीं बीचके आचार्योंमें मेधावी या मेधाविरुद्र नामके अलङ्कारशास्त्रके एक प्रमुख आचार्य हो चुके हैं। उनका पता हमें भामह, रुद्रटके व्याख्याकार नमिसाधु और राजशेखर आदिके ग्रन्थोंमें मिलता है।

मेधावी आचार्यके जिस मुख्य सिद्धान्तकी चर्चा उत्तरवर्ती आलङ्कारिकोंमें की गयी है वह उनका उपमादोषोंके विवेचनका सिद्धान्त है। उन्होंने १ हीनता, २ असम्भव, ३, लिङ्गभेद, ४ वचनभेद, ५. विपर्यय, ६ उपमानाधिक्य तथा ७ उपमानासादृश्य—इन सात प्रकारके उपमादोषोंका विशेष रूपसे निरूपण किया था। इसकी चर्चा भामह, नमिसाधु तथा वामनने अपने ग्रन्थोंमें की है। भामहने इस विषयका विवेचन करते हुए लिखा है—

'हीनतासम्भवो लिङ्गवचोभेदो विपर्ययः।
उपमानाधिकत्वं च तेनासदृशतापि च॥
त एत उपमादोषाः सप्त मेधाविनोदिताः।
सोदाहरणलक्ष्माणो वर्ण्यन्तेऽत्र ते पृथक्॥'

—भामह, काव्यालङ्कार २-३९, ४०

रुद्रटके, 'काव्यालङ्कार' (११-२४)की टीकामें इसी विषयकी चर्चा करते हुए उसके टीकाकार नमिसाधुने लिखा है—

'अत्र च स्वरूपोपादाने सत्यपि चत्वार इति ग्रहणात् मेधावि-प्रभृतिभिरुक्तं यथा लिङ्गवचनभेदौ हीनताधिक्यमसम्भवो विपर्ययो सादृश्यमिति सप्तोपमादोषाः 'तदेतन्निरस्तम्।'

मेधावीने जिन सात उपमादोषोंका प्रतिपादन किया था उनमेंसे विपर्ययको हीनता या अधिकता दोषके अन्तर्गत करके वामनने सातके स्थानपर केवल छः उपमादोषोंका प्रतिपादन करते हुए लिखा है—

'अनयोर्दोषयोर्विपर्ययाख्यस्य दोषस्यान्तर्भावान्न पृथगुपादानम्। अत एवास्माकं मते षड्दोषा इति।'

—वामन, काव्यालङ्कारसूत्र ४-२-११ की वृत्ति

वामनने यद्यपि भामह और नमिसाधुकी तरह यहाँ मेधावीके नामका उल्लेख नहीं किया है, परन्तु इस विवेचनको देखते हुए यह स्पष्ट हो जाता है कि मेधावीके सात दोषोंवाले सिद्धान्तके आलोचनारूपमें ही इसे लिखा है।

दोषोंके अतिरिक्त अलङ्कारोंके विवेचनमें भी भामह और दण्डीने मेधावीके सिद्धान्तकी चर्चा की है। भामह आदि उत्तरवर्ती आलङ्कारिकोंने 'यथासंख्य' तथा 'उत्प्रेक्षा' दो अलग-अलग अलङ्कार माने हैं, परन्तु मेधावी 'उत्प्रेक्षा'को अलग अलङ्कार न मानकर कहीं-कहीं 'संख्यान' नामसे ही उसका कथन करते हैं। इसी बातका प्रतिपादन करते हुए भामहने लिखा है—

'यथासंख्यमथोत्प्रेक्षामलङ्कारद्वयं विदुः।
संख्यानमिति मेधाविनोत्प्रेक्षाऽभिहिता क्वचित्॥'

—भामह, काव्यालङ्कार २-८८

दण्डीने इस संख्यान नामको उत्प्रेक्षाका वाचक न कहकर यथासंख्यका ही दूसरा नाम माना है और उसीको 'क्रम' नामसे भी कोई आचार्य कहते हैं यह लिखा है—

'यथासंख्यमिति प्रोक्तं संख्यानं क्रम इत्यपि।'

—दण्डी, काव्यादर्श २-२८३

दण्डीके इस लेखमें यद्यपि मेधावीके नामका उल्लेख नहीं किया गया है और न उनके उत्प्रेक्षाको 'संख्यान' नामसे कहनेकी चर्चा की गयी है फिर भी उसमें मेधावीके द्वारा प्रयुक्त 'संख्यान' नामकी चर्चा हुई है इसलिए हमने उसको यहाँ दे दिया है।

मेधाविरुद्रके तीसरे जिस सिद्धान्तकी चर्चा उत्तरवर्ती साहित्यमें पायी जाती है, वह है शब्दोंका चतुर्धा विभाग। व्याकरण आदि शास्त्रोंमें शब्दोंके १. नाम, २. आख्यात, ३ उपसर्ग, ४ निपात और ५. कर्मप्रवचनीय नामसे पाँच विभाग किये गये हैं, परन्तु मेधाविरुद्रने इनमेंसे कर्मप्रवचनीयको छोड़ केवल १ नाम, २. आख्यात, ३. उपसर्ग और ४. निपात, चार ही विभाग किये हैं। इसकी चर्चा करते हुए रुद्रक-काव्यालङ्कारकी टीकामें नमिसाधुने लिखा है—

'एत एव चत्वारः शब्दविधा इति येषां सम्यग्ज्ञातं तत्र तेषु नामादिषु मध्ये मेधाविरुद्रप्रभृतिभिः कर्मप्रवचनीया नोक्ता भवेयुः।'

—रुद्रट, काव्यालङ्कारकी टीका २-२, पृ० ९

'निरुक्त'के रचयिता यास्कमुनिने भी 'निरुक्त'के प्रारम्भमें शब्दोंका विभाजन करते हुए 'तद्यान्येतानि चत्वारि पदजातानि नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्च' लिखकर नाम, आख्यात, उपसर्ग तथा निपात चार प्रकारका पदविभाग ही स्वीकार किया है। 'कर्मप्रवचनीय'को अलग विभाग नहीं माना है। इसी प्रकार मेधाविरुद्रने भी 'कर्मप्रवचनीय'को छोड़कर केवल चार प्रकारका ही पदविभाग माना है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मेधाविरुद्रके अनेक सिद्धान्तोंकी चर्चा भामह तथा उनके परवर्ती ग्रन्थोंमें हुई है। इसलिए उन्होंने अलङ्कारशास्त्रपर अवश्य ही कोई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा होगा जो दुर्भाग्यवश आज उपलब्ध नहीं होता है। राजशेखरके लेखसे यह भी जान पड़ता है कि मेधावी जन्मान्ध थे। राजशेखरने लिखा है—

प्रत्यक्षप्रतिभावतः पुनरपश्यतोऽपि प्रत्यक्ष इव। यतो मेधाविरुद्र-कुमारदासादयः जात्यन्धाः कवयः श्रूयन्ते।'

काव्यमीमांसा, पृ० ११-१२

राजशेखरके इस लेखसे प्रतीत होता है कि मेधाविरुद्र प्रतिभावान्, उच्च कोटिके कवि भी थे। परन्तु दुःखकी बात है कि आज उनका न काव्यग्रन्थ मिलता है और न अलङ्कारग्रन्थ ही पाया जाता है।

३. भामह

भरतमुनिके बाद अलङ्कारशास्त्रके दूसरे आचार्य, जिनका ग्रन्थ भी मिलता है, भामह हैं। भामहका समय विद्वानोंने छठ शतकका पूर्वार्द्ध माना है। इसका आधार यह है कि उन्होंने अपने 'काव्यालङ्कार'के पञ्चम परिच्छेदमें न्यायनिर्णयका वर्णन करते हुए बौद्ध आचार्य दिङ्नागके 'प्रत्यक्ष कल्पनापोढम्' इस प्रत्यक्षलक्षणको उद्धृत किया है। दिङ्नागका समय ५०० ई० के लगभग

भी अनेक आचार्य हुए होंगे। परन्तु दैवदुर्विपाकसे आज हमको उनका कोई पता नहीं लगता है। इन्हीं बीचके आचार्योंमें मेधावी या मेधाविरुद्र नामके अलङ्कारशास्त्रके एक प्रमुख आचार्य हो चुके हैं। उनका पता हमें भामह, रुद्रटके व्याख्याकार नमिसाधु और राजशेखर आदिके ग्रन्थोंसे मिलता है।

मेधावी आचार्यके जिस मुख्य सिद्धान्तकी चर्चा उत्तरवर्ती साहित्यमें की गयी है वह उनका उपमादोषोंके विवेचनका सिद्धान्त है। उन्होंने १ हीनता, २ असम्भव, ३, लिङ्गभेद, ४ वचनभेद, ५ विपर्यय, ६ उपमानाधिक्य तथा ७. उपमानासादृश्य—इन सात प्रकारके उपमादोषोंका विशेष रूपसे निरूपण किया था। इसकी चर्चा भामह, नमिसाधु तथा वामनने अपने ग्रन्थोंमें की है। भामहने इस विषयका विवेचन करते हुए लिखा है—

'हीनतासम्भवो लिङ्गवचोभेदो विपर्ययः।
उपमानाधिकत्वं च तेनासदृशतापि च॥
त एत उपमादोषाः सप्त मेधाविनोदिताः।
सोदाहरणलक्ष्माणो वर्ण्यन्तेऽत्र ते पृथक्॥'

—भामह, काव्यालङ्कार २-३९, ४०

रुद्रटके, 'काव्यालङ्कार' (११-२४)की टीकामें इसी विषयकी चर्चा करते हुए उसके टीकाकार नमिसाधुने लिखा है—

'अत्र च स्वरूपोपादाने सत्यपि चत्वार इति ग्रहणात् मेधावि-प्रभृतिभिरुक्ता यथा लिङ्गवचनभेदौ हीनताधिक्यमसम्भवो विपर्ययो सादृश्यमिति सप्तोपमादोषाः तदेतन्निरस्तम्।'

मेधावीने जिन सात उपमादोषोंका प्रतिपादन किया था उनमेंसे विपर्ययको हीनता या अधिकता दोपके अन्तर्गत करके वामनने सातके स्थानपर केवल छः उपमादोषोंका प्रतिपादन करते हुए लिखा है—

'अनयोर्दोषयोर्विपर्ययाख्यस्य दोषस्यान्तर्भावान्न पृथगुपादानम्। अत एवास्माकं मते षड्दोषा इति।'

—वामन, काव्यालङ्कारसूत्र ४-२-११ की वृत्ति

वामनने यद्यपि भामह और नमिसाधुकी तरह यहाँ मेधावीके नामका उल्लेख नहीं किया है, परन्तु इस विवेचनको देखते हुए यह स्पष्ट हो जाता है कि मेधावीके सात दोषोंवाले सिद्धान्तके आलोचनारूपमें ही इसे लिखा है।

दोषोंके अतिरिक्त अलङ्कारोंके विवेचनमें भी भामह और दण्डीने मेधावीके सिद्धान्तकी चर्चा की है। भामह आदि उत्तरवर्ती आलङ्कारिकोंने 'यथासंख्य' तथा 'उत्प्रेक्षा' दो अलग-अलग अलङ्कार माने हैं, परन्तु मेधावी 'उत्प्रेक्षा'को अलग अलङ्कार न मानकर कहीं-कहीं 'संख्यान' नामसे ही उसका कथन करते हैं। इसी बातका प्रतिपादन करते हुए भामहने लिखा है—

'यथासंख्यमथोत्प्रेक्षामलङ्कारद्वयं विदुः।
संख्यानमिति मेधाविनोत्प्रेक्षाऽभिहिता क्वचित्॥'

—भामह, काव्यालङ्कार २-८८

दण्डीने इस संख्यान नामको उत्प्रेक्षाका वाचक न कहकर यथासंख्यका ही दूसरा नाम माना है और उसीको 'क्रम' नामसे भी कोई आचार्य कहते हैं यह लिखा है—

'यथासंख्यमिति प्रोक्तं संख्यानं क्रम इत्यपि।'

—दण्डी, काव्यादर्श २-२८३

दण्डीके इस लेखमें यद्यपि मेधावीके नामका उल्लेख नहीं किया गया है और न उनके उत्प्रेक्षाको 'संख्यान' नामसे कहनेकी चर्चा की गयी है फिर भी उसमें मेधावीके द्वारा प्रयुक्त 'संख्यान' नामकी चर्चा हुई है इसलिए हमने उसको यहाँ दे दिया है।

मेधाविरुद्रके तीसरे जिस सिद्धान्तकी चर्चा उत्तरवर्ती साहित्यमें पायी जाती है, वह है शब्दोंका चतुर्धा विभाग। व्याकरण आदि शास्त्रोंमें शब्दोंके १. नाम, २. आख्यात, ३ उपसर्ग, ४ निपात और ५ कर्मप्रवचनीय नामसे पाँच विभाग किये गये हैं, परन्तु मेधाविरुद्रने इनमेंसे कर्मप्रवचनीयको छोड़ केवल १. नाम, २. आख्यात, ३. उपसर्ग और ४. निपात, चार ही विभाग किये हैं। इसकी चर्चा करते हुए रुद्रक-काव्यालङ्कारकी टीकामें नमिसाधुने लिखा है—

'एत एव चत्वारः शब्दविधा इति येषां सम्यङ्मतं तत्र तेषु नामादिषु मध्ये मेधाविरुद्रप्रभृतिभिः कर्मप्रवचनीया नोक्ता भवेयुः।'

—रुद्रट, काव्यालङ्कारकी टीका २-२, पृ० ९

'निरुक्त'के रचयिता यास्कमुनिने भी 'निरुक्त'के प्रारम्भमें शब्दोंका विभाजन करते हुए 'तद्यान्येतानि चत्वारि पदजातानि नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्च' लिखकर नाम, आख्यात, उपसर्ग तथा निपात चार प्रकारका पदविभाग ही स्वीकार किया है। 'कर्मप्रवचनीय'को अलग विभाग नहीं माना है। इसी प्रकार मेधाविरुद्रने भी 'कर्मप्रवचनीय'को छोड़कर केवल चार प्रकारका ही पदविभाग माना है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मेधाविरुद्रके अनेक सिद्धान्तोंकी चर्चा भामह तथा उनके परवर्ती ग्रन्थोंमें हुई है। इसलिए उन्होंने अलङ्कारशास्त्रपर अवश्य ही कोई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा होगा जो दुर्भाग्यवश आज उपलब्ध नहीं होता है। राजशेखरके लेखसे यह भी जान पड़ता है कि मेधावी जन्मान्ध थे। राजशेखरने लिखा है—

प्रत्यक्षप्रतिभावतः पुनरपश्यतोऽपि प्रत्यक्ष इव। यतो मेधाविरुद्र-कुमारदासादय जात्यन्धाः कवयः श्रूयन्ते।'

काव्यमीमांसा, पृ० ११-१२

राजशेखरके इस लेखसे प्रतीत होता है कि मेधाविरुद्र प्रतिभावान्, उच्च कोटिके कवि भी थे। परन्तु दुःखकी बात है कि आज उनका न काव्यग्रन्थ मिलता है और न अलङ्कारग्रन्थ ही पाया जाता है।

३ भामह

भरतमुनिके बाद अलङ्कारशास्त्रके दूसरे आचार्य, जिनका ग्रन्थ भी मिलता है, भामह हैं। भामहका समय विद्वानोंने षष्ठ शतकका पूर्वार्ध माना है। इसका आधार यह है कि उन्होंने अपने 'काव्यालङ्कार'के पञ्चम परिच्छेदमें न्यायनिर्णयका वर्णन करते हुए बौद्ध आचार्य दिङ्नागके 'प्रत्यक्षं कल्पनापोढम्' इस प्रत्यक्षलक्षणको उद्धृत किया है। दिङ्नागका समय ५०० ई० के लगभग

इसमें सत्कवि, शब्द और अर्थ दोनोंकी अपेक्षा रखता है, उसी प्रकार राजनीतिज्ञ भाग्य और पौरुष दोनोंकी अपेक्षा रखता है। इस युक्तिसे काव्यके साथ शब्द और अर्थ दोनोंका जो सम्बन्ध सूचित किया गया है इस आधारपर कुछ विद्वानोंका विचार है कि माघकी यह उपमा भामहके काव्य-लक्षणके आधारपर स्थित होती है। भामहने 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' यह काव्यका लक्षण किया है। इन विद्वानोंका विचार है कि माघकविकी यह उपमा भामहके काव्यलक्षणके आधारपर बनी है। इसलिए भामह माघके पूर्ववर्ती हैं। यह प्रो० पाठकका मत है। इसके विपरीत डॉ० जे० नोबुलका कहना है कि यह युक्ति बिल्कुल निस्सार है। यदि इसी युक्तिको मान लिया जाय तो फिर कालिदासके 'रघुवंश'में जो 'वागर्थाविव सम्पृक्तौ' लिखा गया है वह भी कालिदासने भामहके काव्यलक्षणके आधारपर ही लिखा होगा। परन्तु यह सब बात ठीक नहीं।

भामह और भास

इसी प्रकारकी कल्पनाओंके आधारपर कुछ विद्वान् भामह और भासका भी सम्बन्ध जोड़नेका यत्न करते हैं। भामहने 'काव्यालङ्कार'के चतुर्थ परिच्छेदमें निम्नाङ्कित श्लोक लिखे हैं—

'विजिगीषुमुपन्यस्य वत्सेशं वृद्धदर्शनम्।
तस्यैव कृतिनः पश्चादभ्यधाच्चरशून्यताम्॥३९॥
अन्तर्योधशताकीर्णं सालङ्कायननेतृकम्।
तथाविधं गजच्छद्म नाज्ञासीत् स स्वभूगतम्॥४०॥
यदि वोपेक्षितं तस्य सचिवैः स्वार्थसिद्धये।
अहो नु मन्दिमा तेषां भक्तिर्वा नास्ति भर्तरि॥४१॥'

इन श्लोकोंमें वत्सराज उदयनकी कथाकी चर्चा की गयी है। गणपति शास्त्रीका कथन है कि भामहने यह चर्चा भास कविके 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' नाटकके आधारपर की है। इसकी सम्पुष्टिमें उन्होंने एक युक्ति यह भी दी है कि इसी प्रसङ्गमें भामहने अगले ४३वें श्लोकमें लिखा है—

'हतोऽनेन मम भ्राता मम पुत्रः पिता मम।
मातुलो भागिनेयश्च रुषा संरब्धचेतसा॥'

इसीसे मिलता-जुलता निम्नलिखित प्राकृत गद्यभाग 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण'में आता है—

'मम भादा हदो अणेण मम पिदा हणेण मम सुदो।'

भामहके उपर्युक्त श्लोकों और 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' नाटिकाकी कथा तथा 'हतो येन मम भ्राता' आदि वाक्यकी समानताके आधारपर ही गणपति शास्त्रीने यह परिणाम निकाला है कि भामह भासके बाद हुए हैं, किन्तु दूसरे विद्वानोंकी सम्मतिमें यह ठीक नहीं है। वत्सराज उदयनकी कथा 'बृहत्कथा'में मूल रूपसे आती है। अन्यत्र जहाँ कहीं भी इसका उल्लेख किया गया है वह सब 'गुणाढ्य'की 'बृहत्कथा'से ही लिया गया है। 'बृहत्कथामञ्जरी' और 'कथासरित्सागर' 'बृहत्कथा'के संक्षिप्त रूप हैं। उनमें भी वत्सराज उदयनकी कथा आती है। भामहने जो वत्सराज उदयनकी कथाका यह उल्लेख किया है वह भासके 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण'के आधारपर नहीं, अपितु 'बृहत्कथामञ्जरी' या 'कथासरित्सागर'के आधारपर ही किया है। अतः इस युक्तिके आधारपर भामहको भासका उत्तरवर्ती सिद्ध करनेका प्रयत्न ठीक नहीं है।

भामह और भट्टि

महाकवि भट्टि भी संस्कृत साहित्यके महान् कवि हुए हैं। उनकी रचना बड़ी विचित्र है। उन्होंने 'रावणवध' नामक एक महाकाव्य लिखा है। जिस प्रकार माघने 'शिशुपालवध' काव्य लिखा है, उसी प्रकार इनका 'रावणवध' महाकाव्य है। किन्तु माघके काव्यका नाम कविके नामसे 'माघ'के रूपमें ही प्रसिद्ध हो गया है। 'शिशुपालवध' नाम उसकी अपेक्षा कम प्रचलित है। उसी प्रकार भट्टि कविके 'रावणवध' महाकाव्यका मुख्य नाम गौण हो गया है। उसके स्थानपर उसे अब 'भट्टिकाव्य' ही कहा जाता है। इस 'भट्टिकाव्य'की रचना काठियावाड़के 'वलभी' राज्य, जिसे अब 'वल' कहते हैं, के राजा धरसेनके समयमें हुई है। 'भट्टिकाव्य'के अन्तमें कविने इसका उल्लेख करते हुए लिखा है—

'काव्यमिदं विहितं मया वलभ्यां श्रीधरसेननरेन्द्रपालितायाम्।
कीर्तिरतो भवतान्नृपस्य तस्य प्रेमकरः क्षितिपो यतः प्रजानाम्॥'

—२२-३५

'भट्टिकाव्य'में रचनाकालका इतना परिचय होनेपर भी उसका समय कुछ निश्चित नहीं कहा जा सकता, क्योंकि काठियावाड़के इतिहासके अनुसार 'वलभी'में धरसेन नामके चार राजा राज्य कर चुके हैं। इनमेंसे किस 'धरसेन'के समयमें 'भट्टिकाव्य'की रचना हुई यह नहीं कहा जा सकता। प्रो० मजूमदारने सन् ४७३ ई० के मन्दसौर सूर्यमन्दिरके लेखमें कहे हुए वत्सभट्टिको ही 'भट्टिकाव्य'का रचयिता माना है। इसके समर्थनके लिए उनकी यह युक्ति है कि मन्दसौरके शिलालेखके श्लोक 'भट्टिकाव्य'के शरद्वर्णनके श्लोकोंसे बहुत मिलते-जुलते हैं। इसके विपरीत प्रो० कीथने इस मतका उग्रताके साथ खण्डन किया है। इसी प्रकार प्रो० काणे, प्रो० पाठक आदि अन्य विद्वानोंका भी 'भट्टिकाव्य'के रचनाकालके विषयमें मतभेद पाया जाता है। इसलिए इसके कालका यथार्थ निर्णय बड़ा कठिन काम है।

भामहने 'काव्यालङ्कार'के द्वितीय परिच्छेदमें निम्नलिखित श्लोक दिया है—

काव्यान्यपि यदीमानि व्याख्यागम्यानि शास्त्रवत्।
उत्सवः सुधियामेव हन्त दुर्मेधसो हताः॥'

—२-२०

इसी श्लोकका भावानुवाद 'भट्टिकाव्य'के श्लोकमें निम्नलिखित प्रकार किया गया है—

'व्याख्यागम्यमिदं काव्यमुत्सवः सुधियामलम्।
हता दुर्मेधसश्चास्मिन् विद्वत्प्रियतया मया॥'

—३२-३४

भामह और भट्टिके इन दोनों श्लोकोंमें इतना अधिक साम्य है कि इन दोनोंमेंसे किसी एकने दूसरेके श्लोकका भावानुवाद किया है यह बात बिलकुल निश्चित ही है। किन्तु भामहने भट्टिका अनुवाद किया है अथवा भट्टिने भामहका यह बात तबतक नहीं कही जा सकती जबतक उनके कालका ठीक निर्णय नहीं हो जाता है। इसीलिए विद्वानोंमें इस विषयमें मतभेद पाया जाता है।

भामह और न्यासकार

पाणिनिकी 'अष्टाध्यायी'पर 'काशिका' वृत्ति और उसके ऊपर जिनेन्द्रबुद्धिकी 'काशिका-

विवरणपञ्जिका' टीका मिलती है। इस 'काशिकाविवरण-पञ्जिका'की अधिक प्रसिद्धि 'न्यास' नामसे पायी जाती है। 'काशिका'के ऊपर जिनेन्द्रबुद्धिके 'न्यास'के पहिले हरदत्तने 'पदमञ्जरी' नामकी एक और टीका की थी। 'भविष्यत्पुराण'के आधारपर डॉ० याकोबीने (जे० आर० ए० एस०, बम्बई, भाग २३, पृष्ठ ३१) लिखा है कि हरदत्तका देहावसान ८७८ ई० के लगभग हुआ। अर्थात् हरदत्त-का समय नवम शताब्दीमें पड़ता है। डॉ० कीलहार्न आदि विद्वानोंका मत है कि जिनेन्द्रबुद्धिने अनेक स्थानोंपर 'पदमञ्जरी'की बिलकुल नकल की है। इसका अर्थ यह होता है कि जिनेन्द्रबुद्धिका काल हरदत्तके बाद दशम शताब्दीमें पड़ता है। भामहके 'काव्यालङ्कार'में षष्ठ परिच्छेदमें एक स्थानपर न्यासकारके मतका उल्लेख इस प्रकार किया गया है—

'शिष्टप्रयोगमात्रेण न्यासकारमतेन वा।
तृचा समस्तषष्ठीकं न कथञ्चिदुदाहरेत्॥
सूत्रज्ञापकमात्रेण वृत्रहन्ता यथोदितः।
अकेन च न कुर्वीत वृत्तिं तद्गमको यथा॥'—६,३६-३७

इन श्लोकोंमें न्यासकारके मतका उल्लेख देखकर प्रो० पाठकने यह सिद्धान्त निकाला कि भामह न्यासकार जिनेन्द्रबुद्धिके पश्चात् हुए हैं और जिनेन्द्रबुद्धिका समय उन्होंने इत्सिंगके वृत्तान्तके आधारपर सप्तम शताब्दीमें निश्चय किया है। इस प्रकार प्रो० पाठकने भामहका समय अष्टम शताब्दीमें स्थिर किया है। किन्तु डॉ० त्रिवेदी आदि अन्य विद्वान् इस मतको नहीं मानते हैं। उनके कथनानुसार यहाँ जिस न्यासग्रन्थका उल्लेख किया गया है वह जिनेन्द्रबुद्धिकी 'काशिकाविवरणपञ्जिका' नहीं अपितु कोई अन्य ही ग्रन्थ है। 'न्यास' शब्द सामान्य रूपसे व्याकरणकी टीका या व्याख्याग्रन्थोंके लिए प्रयुक्त होता है। जिनेन्द्रबुद्धिके 'न्यास'के अतिरिक्त अन्य भी अनेक न्यासग्रन्थोंका उल्लेख पाया जाता है। माधवाचार्यने अपनी 'माधवीया धातुवृत्ति'में 'क्षेमेन्द्रन्यास', 'न्यासोद्योत', 'बोधिन्यास', 'शाकटायन-न्यास' आदि अनेक न्यासोंका उल्लेख किया है। बाणभट्टके 'हर्षचरित'में 'कृतगुरुपदन्यासाः' पद आया है। इसकी व्याख्या करते हुए उनके टीकाकार शङ्करने 'कृतोऽभ्यस्तो गुरुपदे दुर्बोधशब्दे न्यासो वृत्तिविवरणं च' यह लिखा है। यहाँ 'न्यास' पदसे टीकाकारने वृत्ति या विवरण अर्थ ही लिया है। उसमें जिनेन्द्रबुद्धिके 'न्यास'का ग्रहण नहीं किया गया है। अन्यथा न्यासकार जिनेन्द्रबुद्धिको बाणभट्टका भी पूर्ववर्ती मानना होगा। इसलिए जो लोग 'न्यासकार' पदका उल्लेख देखकर भामहको जिनेन्द्रबुद्धिके बादमें होनेवाला सिद्ध करना चाहते हैं उनका मत ठीक नहीं है।

भामह और दण्डी

भामह और भट्टिके समान दण्डीके साथ भी भामहकी अनेक उक्तियोंका आश्चर्यजनक साम्य पाया जाता है। अनेक उक्तियाँ तो ऐसी हैं जो भामहके 'काव्यालङ्कार' तथा दण्डीके 'काव्यादर्श'में बिलकुल एक ही रूपमें पायी जाती हैं। उदाहरणके लिए हम कुछ उक्तियाँ नीचे उद्धृत करते हैं जो इन दोनों ग्रन्थोंमें शब्दशः समान रूपमें उपलब्ध होती हैं—

१. 'सर्गबन्धो महाकाव्यम्।' भामह १–१९। काव्यादर्श १–१४।
२. 'मन्त्रदूतप्रयाणाजिनायकाभ्युदयैरपि।' भामह १–२०। काव्यादर्श १–१७।
३. 'कन्याहरणसंग्रामविप्रलम्भोदयादयः।' भामह १–[illegible]। काव्यादर्श १–[illegible]।

[illegible] 'अवन्तिसुन्दरी'[illegible] [illegible] किया। [illegible] (पृ० १३४-१३९,[illegible]) दण्डीको भामहका [illegible] इसलिए [illegible] किया। इस मत [illegible] करने- [illegible] दण्डीका पूर्ववर्ती माननेके पक्षमें हैं।

[illegible] 'अवन्तिसुन्दरी- [illegible]' [illegible]। इस [illegible] आरम्भमें जो [illegible]—

'[illegible] ।
[illegible] ॥'

[illegible] उल्लेख किया गया है। इसके अतिरिक्त [illegible] है। इससे स्पष्ट है कि दण्डी महाकवि [illegible] बाद हुए हैं। [illegible] 'हर्षचरित'के आधारपर यह निश्चित बात है कि बाणभट्ट हर्षवर्धन- [illegible] राजसभामें थे। हर्षवर्धनका राज्यकाल ६०६-६४८ ई० तक माना जाता है। इसलिए बाणभट्ट- का काल भी सातवीं शताब्दीका मध्यभाग है। इस दशामें दण्डीका समय आठवीं शताब्दीमें होना चाहिये। दण्डी बाणभट्टके बाद हुए हैं और भामह बाणभट्टके पहिले हुए हैं इसलिए भामह दण्डीके निश्चय ही पूर्ववर्ती हैं। इसमें किसी प्रकारका सन्देह नहीं है।

भामह बाणभट्टसे पहिले हुए हैं, इस बातकी सिद्धि आनन्दवर्धनाचार्यके 'ध्वन्यालोक' ग्रन्थके आधारपर होती है। 'ध्वन्यालोक'के चतुर्थ उद्योतमें—

'दृष्टपूर्वा अपि ह्यर्थाः काव्ये रसपरिग्रहात्।
सर्वे नवा इवाभान्ति मधुमास इव द्रुमाः॥'

यह कारिका आयी है। इसका अभिप्राय यह है कि काव्यमें पूर्ववकवियों द्वारा वर्णित पुराने अर्थोंमें भी यदि रसका समावेश करके उनमें नवीनता आ सकती है और वे पुराने अर्थ भी रसके सम्पर्कसे ऐसे ही नवीन प्रतीत होने लगते हैं जैसे वसन्तमें पुराने वृक्ष भी नवीन और आकर्षक हो जाते हैं। इसीका उदाहरण देते हुए आनन्दवर्धनने लिखा है—

'तथा हि विवक्षितान्यपरवाच्यस्यैव शब्दशक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यङ्ग्यप्रकार- समाश्रयेण नवत्वं। यथा—धरणीधारणायाधुना त्वं शेषः इत्यादौ—

शेषो हिमगिरिस्त्वं च महान्तो गुरवः स्थिराः।'

इत्यादिषु सत्स्वपि।'

इसका अभिप्राय यह है कि 'शेषो हिमगिरिः' इत्यादि पूर्ववर्ती श्लोकमें वर्णित पुराने अर्थको ही 'अधुना धरणीधारणाय त्वं शेष' इस नवीन वाक्यमें कहा गया है, किन्तु उसमें शब्द- शक्तिमूलक अलङ्कारध्वनिके सन्निवेशसे विशेष चमत्कार आ जानेसे उसमें नवीनता प्रतीत होने लगी है। इसी प्रकार पूर्वकवियों द्वारा वर्णित पुराने अर्थोंमें नवीन चमत्कारका आधान करके उनमें नूतनता उत्पन्न की जा सकती है। इस आशयसे आनन्दवर्धनाचार्यने यहाँ यह उदाहरण दिया है।

इस उदाहरणमें जो दो वाक्य उद्धृत किये गये हैं वे विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। आनन्दवर्धना-

चार्यने 'शेषो हिमगिरिस्त्वं च' इत्यादि श्लोकको पुराना वर्णन माना है और उसी अर्थको नवीन रूपमें प्रस्तुत करनेवाला 'धरणीधारणायाधुना त्वं शेषः' इस वाक्यको नवीन वाक्य माना है। आनन्दवर्धनाचार्य जिस 'शेषो हिमगिरिस्त्वं च' आदिको पुराना वाक्य कहते हैं वह भामहके 'काव्यालङ्कार'में आया हुआ तीसरे परिच्छेदका २७ वाँ श्लोक है। और 'धरणीधारणायाधुना त्वं शेषः' रूप जिस वाक्यको वे नवीन वाक्य कहते हैं वह बाणभट्टके 'हर्षचरित'के चतुर्थ उच्छ्वासके १५ वे अनुच्छेदमें आया है। अर्थात् बाणभट्टका यह वाक्य भामहके वाक्यकी अपेक्षा नवीन है। इसका अर्थ हुआ कि भामह बाणभट्टसे बहुत पहिले हुए हैं और दण्डी बाणभट्टके बादमें हुए हैं। इसलिए भामह दण्डीके पूर्ववर्ती हैं इसमें कोई सन्देह रह ही नहीं जाता है।

भामहका धर्म

जिस प्रकार भामहके कालके विषयमें विद्वानोंमें बड़ा मतभेद पाया जाता है उसी प्रकार उनके धर्मके विषयमें भी पर्याप्त मतभेद पाया जाता है। भामहके 'काव्यालङ्कार'के प्रथम श्लोकमें—

'प्रणम्य सार्वसर्वज्ञं मनोवाक्कायकर्मभिः।
काव्यालङ्कार इत्येष यथाबुद्धि विधास्यते॥'—का० १—१

" 'सार्वसर्वज्ञ'को नमस्कार किया गया है।" 'सर्वज्ञः सुगतो बुद्धः' इत्यादि 'अमरकोश'के आधारपर कुछ लोगोंने 'सर्वज्ञ' पदको बुद्धका नाम मानकर यह अर्थ लगा लिया है कि इसमें बुद्धको नमस्कार किया गया है इसलिए भामह बौद्ध आचार्य जान पड़ते हैं। परन्तु यह कोई युक्ति नहीं है। 'कृशानुरेताः सर्वज्ञो धूर्जटिर्नीललोहितः' इत्यादि 'अमरकोश'के अनुसार 'सर्वज्ञ' पद शिवके नामोंमें भी पढ़ा गया है। तब उससे शिव अर्थ न लेकर बुद्ध अर्थ ही कैसे लिया जा सकता है? उसके साथमें 'सार्व' पद और है। उसका अर्थ सबके लिए हितकारी है। वह जैसे बुद्धके साथ जुड़ सकता है वैसे ही शिवके साथ भी जुड़ सकता है। इसलिए इस पदके आधारपर भामहको बौद्ध नहीं माना जा सकता। इसके विपरीत उनके ग्रन्थके भीतर वैदिक प्रक्रियाओं, वैदिक कथाओंका विशेष रूपमें उल्लेख पाया जाता है, बौद्ध कथाओं या बौद्ध प्रक्रियाओं आदिका उल्लेख बिलकुल नहीं पाया जाता है। इसलिए उनको बौद्ध नहीं कहा जा सकता है। इस प्रकार कथाओं आदिके उदाहरणरूपमें 'काव्यालङ्कार' ग्रन्थके निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किये जा सकते हैं जिनमें भामहके वैदिक धर्मके प्रति अनुरक्तिकी ही सूचना मिलती है—

'भूभृतां पीतसोमानां न्याय्ये वर्त्मनि तिष्ठताम्।
अलङ्करिष्णुना वंशं गुरौ सति जिगीषुणा॥ ४-४८
युगादौ भगवान् ब्रह्मा विनिर्मित्सुरिव प्रजाः॥ २-५५
समग्रगगनायाममानदण्डो रथाङ्गिणः।
पादो जयति सिद्धस्त्रीमुखेन्दुनवदर्पणः॥ २-३६
कान्ते इन्दुशिरोरत्ने आदधाने उदंशुनी।
पातां वः शम्भु-शर्वाण्याविति प्राहुर्विसन्ध्यदः॥ ४-२७
विदधानौ किरीटेन्दू श्यामाभ्रहिमसच्छवी।
रथाङ्गशूले बिभ्राणौ पातां वः शम्भुशार्ङ्गिणौ॥ ४-२१
उदात्तशक्तिमान् रामो गुरुवाक्यानुरोधकः।
विहायोपनतं राज्यं यथा वनमुपागमन्॥ ३-११

'भरतस्त्वं दिलीपस्त्वं त्वमेवैलः पुरूरवाः ।
त्वमेव वीर प्रद्युम्नस्त्वमेव नरवाहनः ॥' ५-५९

इत्यादि श्लोकोंमें शिव, विष्णु, पार्वती, ब्रह्मा आदि देवताओंका वर्णन और सोमपान आदि याज्ञिक क्रियाओंका उल्लेख वैदिक धर्मके प्रति भामहका स्पष्टरूपसे अनुराग सूचित करता है। रामचन्द्र, भरत, दिलीप, प्रद्युम्न और पुरूरवाका उल्लेख भी वैदिक धर्मके प्रति उनके अगाध प्रेमको ही सूचित करता है। इसमें कहीं भी कोई ऐसा तत्त्व नहीं है जिससे भामहको बौद्ध माननेका सङ्केत मिल सकता हो। अतएव भामहको बौद्ध सिद्ध करनेका प्रयास असङ्गत है।

अपने वंशपरिचयके रूपमें केवल एक पंक्ति भामहके ग्रन्थके अन्तिम भागमें पायी जाती है। उसमें उन्होंने अपने पिताका नाम 'रक्रिलगोमिन' बतलाया है—

'अवलोक्य मतानि सत्कवीनामवगम्य स्वधिया च काव्यलक्ष्म ।
सुजनावगमाय भामहेन ग्रथितं रक्रिलगोमिनसूनुनेदम् ॥'

इस श्लोकमें ग्रन्थकारने अपना नाम 'भामह' और अपने पिताका नाम 'रक्रिलगोमिन' बतलाया है। इसके अतिरिक्त इनके जीवनका और कोई परिचय इनके ग्रन्थमें नहीं मिलता है।

भामहके ग्रन्थ

भामहका आज हमें केवल 'काव्यालङ्कार' ही एकमात्र ग्रन्थ उपलब्ध होता है। किन्तु साहित्यशास्त्रके ग्रन्थोंके देखनेसे विदित होता है कि उन्होंने इस 'काव्यालङ्कार'के अतिरिक्त छन्दःशास्त्र और अलङ्कारशास्त्रके विषयमें कुछ और ग्रन्थोंकी भी रचना की थी, किन्तु दुर्भाग्यवश वे ग्रन्थ अबतक उपलब्ध नहीं हो सके हैं। उन ग्रन्थोंके उद्धरण भामहके नामसे विविध ग्रन्थोंमें पाये जाते हैं। उदाहरणके लिए, 'अभिज्ञानशाकुन्तल'की टीकामें राघवभट्टने—

'क्षेमं सर्वगुरुर्दत्ते मगणो भूमिदैवतः ।' इति भामहोक्तेः

(अभि० शा०, टीका नि० सा०, पृ० ४) लिखकर भामहके किसी छन्दःशास्त्रविषयक ग्रन्थमें उसके उद्धृत किये जानेकी सूचना दी है। इसी टीकामें दूसरे स्थान (पृ० १०) पर राघवभट्टने उनके किसी अन्य अलङ्कारविषयक ग्रन्थसे निम्नलिखित वाक्य उद्धृत किया है—

'तल्लक्षणमुक्तं भामहेन—

पर्यायोक्तं प्रकारेण यदन्येनाभिधीयते ।
वाच्यवाचकशक्तिभ्यां शून्येनावगमात्मना ॥ इति ।

उदाहृतं च हयग्रीववधस्थं पद्यं—

यं प्रेक्ष्य चिररूढापि निवासप्रीतिरुज्झिता ।
मदेनैरावणमुखे मानेन हृदये हरेः ॥'

पर्यायोक्त अलङ्कारके जिस लक्षण और उदाहरणको राघवभट्टने यहाँ भामहके नामसे उद्धृत किया है, उन दोनोंमेंसे कोई भी भामहके वर्तमान 'काव्यालङ्कार'में नहीं पाया जाता है। वर्तमान 'काव्यालङ्कार'में भामहके अनुसार पर्यायोक्त अलङ्कारके लक्षण और उदाहरण निम्नलिखित प्रकार दिये गये हैं—

'पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते ।
उवाच रत्नाहरणे चैद्यं शार्ङ्गधनुर्यथा ॥'—का० ३-८

लक्षणका पूर्वार्द्ध भाग तो थोड़े-से अन्तरसे भामहके लक्षणसे मिल जाता है किन्तु उत्तरार्द्ध भागका उल्लेख वर्तमान लक्षणमें नहीं पाया जाता है और हयग्रीववधस्थ उदाहरण तो यहाँ बिलकुल ही नहीं पाया जाता है। उद्भटके 'काव्यालङ्कार'में पर्यायोक्तका यह लक्षण कुछ अन्तरसे मिल जाता है और हयग्रीववधस्थ जिस श्लोकको उदाहरणरूपमें प्रस्तुत किये जानेकी चर्चा राघवभट्टने की है वह उदाहरण 'काव्यप्रकाश'में पाया जाता है।

ऐसा हो सकता है कि राघवभट्टके पास भामहके 'काव्यालङ्कार'की जो प्रति रही हो उसमें पर्यायोक्तका लक्षण इसी रूपमें दिया गया हो जिस रूपमें उन्होंने उद्धृत किया है और हयग्रीववधस्थ श्लोक भी उदाहरणरूपमें दिया गया हो, किन्तु दूसरी किसी प्रतिमें जिसके आधारपर वर्तमान 'काव्यालङ्कार'का सम्पादन किया गया है, ये दोनों भाग लिखनेसे रह गये हों। लक्षणके विषयमें तो इतना ही भेद है कि राघवभट्टने जो लक्षण उद्धृत किया है वह पूरा एक श्लोक है, किन्तु वर्तमान 'काव्यालङ्कार'में दिया हुआ लक्षण आधे श्लोकमें ही आ गया है। वर्तमान 'काव्यालङ्कार'का लक्षण अपूर्ण-सा भी जान पड़ता है। राघवभट्टने जो लक्षण दिया है वह पूर्ण लक्षण है। इसलिए ऐसा अनुमान होता है कि वर्तमान 'काव्यालङ्कार'की पाण्डुलिपिमें लक्षणकी एक पंक्ति लिखनेसे छूट गयी है। इसी प्रकार पर्यायोक्तके अनेक उदाहरण 'काव्यालङ्कार'में पाये जाते हैं। सम्भव है इनके साथ हयग्रीववधस्थ एक और भी उदाहरण रहा हो। परन्तु यह बात तभी सम्भव हो सकती है जब 'हयग्रीववध'के प्रणेताका काल भामहके पूर्व निश्चित किया जा सके अन्यथा नहीं। किन्तु यह बात निश्चित है कि केवल इस श्लोकके आधारपर भामहके अलङ्कारविषयक किसी अन्य ग्रन्थकी कल्पना नहीं की जा सकती है। उनका छन्दःशास्त्रविषयक तो दूसरा ग्रन्थ हो सकता है किन्तु अलङ्कारशास्त्रके विषयमें तो 'काव्यालङ्कार'के रहते अन्य दूसरा ग्रन्थ लिखे जानेकी कोई सङ्गति नहीं लगती है।

छन्दःशास्त्रके विषयमें भामहने किसी ग्रन्थकी रचना की थी यह बात अन्य साहित्यग्रन्थोंमें भामहके नामसे उद्धृत किये गये उद्धरणोंसे प्रतीत होती है। उनमेंसे एक उदाहरण तो हम 'अभिज्ञानशाकुन्तल'की राघवभट्टकृत टीकामेंसे ऊपर उद्धृत कर चुके हैं। उसी प्रकारका दूसरा उद्धरण 'वृत्तरत्नाकर'की टीकामें नारायणभट्टने इस प्रकार दिया है—

'तदुक्तं भामहेन—

> अवर्णात् सम्पत्तिर्भवति मुदिवर्णात् धनशता-
> न्युवर्णाद् अख्यातिः सरभसमृवर्णाद्धरहितात् ॥
> तथा ह्येचः सौख्यं ङ-ञ-णरहितादक्षरगणात्
> पदादौ विन्यस्ताद् भ-र-च-ह-ल-हाहाविरहितात् ॥'

—वृत्तरत्नाकर, पृ० ६

'तदुक्तं भामहेन—

> देवतावाचकाः शब्दाः ये च भद्रादिवाचकाः।
> ते सर्वे नैव निन्द्याः स्युर्लिपितो गणतोऽपि वा ॥
> कः खो गो घश्च लक्ष्मीं वितरति वियशो ङस्तथा चः सुखं छः
> प्रीतिं जो मित्रलाभं भयमरणकरौ ञ-झौ ट-ठौ खेद दुःखे।
> ड· शोभा ढो विशोभां भ्रमणमथ च णस्तः सुखं थश्च युद्धं
> दो धः सौख्यं मुदं नः सुखभयमरणक्लेशदुःखं पवर्गः ॥

यो लक्ष्मीं रश्च दाहं व्यसनमथ लचौ शः सुखं यश्च खेदं
सः सौख्यं हश्च खेदं विलयमपि च लः क्षः समृद्धिं करोति।
संयुक्तं चेह न स्यात् सुख-मरण-पटुर्वर्णविन्यासयोगः
पद्यादौ गद्यवक्त्रे वचसि च सकले प्राकृतादौ समोऽयम्॥'

—वृत्तरत्नाकर, पृ० ७

यद्यपि ये सब उद्धरण बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं हैं फिर भी इनके आधारपर यह सम्भावना मानी जा सकती है कि भामहने सम्भव है छन्दःशास्त्रविषयक कोई अन्य ग्रन्थ लिखा हो।

भामहभट्टके नामसे एक ग्रन्थ और मिलता है और वह है वररुचिके 'प्राकृत-प्रकाश' नामक प्राकृत व्याकरणग्रन्थकी 'प्राकृतमनोरमा' नामक टीका। प्राकृत-व्याकरणमें इस टीकाका बड़ा महत्त्व माना जाता है। पिशल आदि प्राकृत-व्याकरणके विद्वानोंने 'काव्यालङ्कार' और 'प्राकृतमनोरमा' दोनोंके निर्माता एक ही भामहको माना है। इस प्रकार भामहके १. 'काव्यालङ्कार' तथा २ 'प्राकृतमनोरमा' दो ग्रन्थ तो उपलब्ध होते हैं और तीसरे छन्दःशास्त्रविषयक ग्रन्थकी भी रचना उन्होंने की थी इस बातका अनुमान किया जाता है। 'प्राकृतमनोरमा' 'प्राकृत-प्रकाश'की टीका है। 'काव्यालङ्कार' स्वतन्त्र ग्रन्थ है। इसमें ६ परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेदमें ६० श्लोक हैं और उनमें काव्यके शरीरका वर्णन किया गया है, द्वितीय और तृतीय परिच्छेदमें मिलाकर १६० श्लोक हैं। द्वितीय तथा तृतीय दोनों परिच्छेदोंमें अलङ्कारोंका वर्णन किया गया है। चतुर्थ परिच्छेदमें दोषोंका निरूपण किया है और उसमें ५० श्लोक हैं। पञ्चम परिच्छेदके ७० श्लोकोंमें न्यायनिर्णयका प्रतिपादन किया है और षष्ठ परिच्छेदके ६० श्लोकोंमें शब्दशुद्धिका विवेचन किया गया है। इस प्रकार 'काव्यालङ्कार'में कुल मिलाकर ४०० श्लोक हैं जो ६ परिच्छेदोंमें विभक्त हैं। भामहने स्वयं इस सबका विवरण निम्नलिखित प्रकार दिया है—

'षष्ट्या शरीरं निर्णीतं शतषष्ट्या त्वलङ्कृतिः।
पञ्चाशता दोषदृष्टिः सप्तत्या न्यायनिर्णयः॥
षष्ट्या शब्दस्य शुद्धिः स्यादित्येवं वस्तुपञ्चकम्।
उक्तं षड्भिः परिच्छेदैः भामहेन क्रमेण वः॥'

भामहके टीकाकार

भामहका 'काव्यालङ्कार' अलङ्कारशास्त्रका प्रथम उपलब्ध ग्रन्थ है जिसमें अलङ्कारशास्त्र एक स्वतन्त्र शास्त्रके रूपमें दिखाई पड़ता है। इसके पूर्व भरतके 'नाट्यशास्त्र'में नवें अध्यायमें गौणरूपसे काव्यके गुण, दोष, अलङ्कार आदिके लक्षण किये गये थे, किन्तु वे सब 'नाट्यशास्त्र'के अङ्गरूपमें ही थे। स्वतन्त्ररूपमें अलङ्कारशास्त्रको एक अलग शास्त्रका रूप प्रदान करनेवाला भामहका 'काव्यालङ्कार' ग्रन्थ ही है। इसके ऊपर नवम शताब्दीमें कश्मीरके राजा जयादित्यकी राजसभाके सभापति उद्भटने 'भामहविवरण' नामसे एक टीका लिखी थी। किन्तु दुर्भाग्यसे वह 'भामहविवरण' आजतक उपलब्ध नहीं हुआ है। केवल साहित्यके विभिन्न ग्रन्थोंमें स्थान-स्थानपर उसका उल्लेख पाया जाता है। उद्भटका स्वयं भी एक 'काव्यालङ्कारसारसंग्रह' ग्रन्थ है, जो अब प्रकाशित हो चुका है। उसपर प्रतीहारेन्दुराजने 'लघुविवृति' नामक टीका लिखी है। इस टीकामें प्रतीहारेन्दुराजने इस 'भामहविवरण'का उल्लेख इस प्रकार किया है—

'विशेषोक्तिलक्षणे च भामहविवरणे भट्टोद्भटेन एकदेशशब्द एवं व्याख्यातो यथेहास्माभिर्निरूपितः।' (पृ० १३)

अभिनवगुप्ताचार्यने भी 'ध्वन्यालोकलोचन'में कई जगह भामहके ऊपर 'उद्भट'के विवरणका उल्लेख किया है।

४. दण्डी

भामहके बाद दूसरे आचार्य, जिन्होंने अलङ्कारशास्त्रपर स्वतन्त्ररूपसे ग्रन्थरचना की, दण्डी हैं। भामह और दण्डीके पौर्वापर्यके निरूपणके प्रसङ्गमें हम पीछे देख चुके हैं कि दण्डीका काल अष्टम शताब्दीमें पड़ता है। दण्डीने अपने 'अवन्तिसुन्दरीकथा'में अपनेको महाकवि भारविका प्रपौत्र बतलाया है और बाण तथा मयूर कविकी प्रशंसा की है। अतएव उनका समय सप्तम शताब्दीमें राजा हर्षवर्धन (राज्यकाल ६०६-६४८ तक) की राजसभामें रहनेवाले बाणभट्टके बाद अर्थात् आठवीं शताब्दीमें है।

दण्डीके ग्रन्थ

'शार्ङ्गधरपद्धति'में श्लोकसंख्या १७४ पर राजशेखरके नामसे निम्नलिखित पद्य उद्धृत किया गया है—

'त्रयोऽग्नयस्त्रयो वेदा त्रयो देवास्त्रयो गुणाः।
त्रयो दण्डिप्रबन्धाश्च त्रिषु लोकेषु विश्रुताः॥'

अर्थात् तीन अग्नि, तीन वेद, तीन देव और तीन गुणोंके समान दण्डी कविके तीन ग्रन्थ सारे संसारमें प्रसिद्ध हैं। इस श्लोक द्वारा राजशेखरने दण्डीके तीन ग्रन्थोंको विश्वविश्रुत बतलाया है। किन्तु अभी कुछ समय पूर्वतक विद्वानोंको दण्डीके तीन ग्रन्थोंके नामोंका भी पता नहीं था। दण्डीके १. 'काव्यादर्श' तथा २ 'दशकुमारचरित' दो ग्रन्थ तो लोकप्रसिद्ध हैं किन्तु इनका तीसरा ग्रन्थ कौन-सा है इसका पता इस २०वीं शताब्दीके आरम्भमें विद्वानोंको नहीं था। डॉ० पिशलने 'मृच्छकटिक'को दण्डीका तीसरा ग्रन्थ कहनेका साहस कर डाला। 'दशकुमारचरित'की भूमिकामें डॉ० पीटर्सनने तथा डॉ० जैकोबीने 'छन्दोविचिति' नामक ग्रन्थको दण्डीका तीसरा ग्रन्थ कहा है। किन्तु यह सिद्धान्त भी गलत निकला। उसके बाद कुछ लोगोंने 'कलापरिच्छेद' नामक किसी ग्रंथको दण्डीकी तृतीय रचना माना। परन्तु यह बात भी केवल कल्पनामात्र ही ठहरी। उसमें कोई तत्त्व नहीं निकला। इस प्रकार दण्डीका तीसरा ग्रन्थ कौन-सा है इसके विषयमें विद्वज्जन अभीतक अन्धकारमें थे। 'प्रोसीडिंग्स एण्ड ट्रान्जेक्शन्स ऑव् दि सेकेण्ड ओरिएण्टल कान्फ्रेंस', पृ० १९८-२०१ तथा 'जर्नल ऑफ दि मिथिक सोसाइटी' भाग १३, पृ० ६७१-६८५ के अनुसार अभी दक्षिण भारतमें स्थित, मद्रासके हस्तलिखित ग्रन्थोंके राजकीय पुस्तकालयमें 'अवन्तिसुन्दरीकथा' नामक एक ग्रन्थकी पाण्डुलिपि मिली है। इसके प्रारम्भिक भागके देखनेसे स्पष्टरूपसे विदित होता है कि यह ग्रन्थ दण्डीने लिखा है। इसीमें दण्डीने अपनेको भारविका प्रपौत्र कहा है। इस प्रकार इस 'अवन्तिसुन्दरीकथा'को मिलाकर दण्डीके तीन ग्रन्थ बन जाते हैं।

यह बातको जानकर और आश्चर्य होगा कि अभीतक कुछ लोग ऐसे भी हैं जो 'दशकुमारचरित'के दण्डीकृत होनेमें सन्देह करते हैं। श्री त्रिवेदीने अपने सम्पादित 'प्रतापरुद्रयशोभूषण'की

भूमिकामें तथा श्री आगाशेने 'दशकुमारचरित'की भूमिकामें इस प्रकारका सन्देह प्रदर्शित किया है। श्री आगाशेका कहना यह है कि 'काव्यादर्श'के प्रणेता दण्डी बड़े कठोर आलोचक हैं।

'तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथञ्चन।
स्याद्वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम्॥'

—काव्यादर्श १-७

'काव्यादर्श'के इस सिद्धान्तके अनुसार दण्डी काव्यमें एक तनिक-से भी दूषणको सहन नहीं करते हैं। सुन्दर चेहरेपर यदि एक भी कोढ़का दाग हो जाय तो जैसे मुखका सारा सौन्दर्य नष्ट हो जाता है उसी प्रकार सुन्दर काव्यमें एक भी दोष आ जानेपर काव्यका सारा सौन्दर्य जाता रहता है। इसलिए काव्यमें एक भी दोषकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। यह दण्डीका सिद्धान्त है। इस सिद्धान्तके आधारपर आगाशे महोदयका कहना है कि 'दशकुमारचरित', जिसमें कि सैकड़ों दोष पाये जाते हैं, किसी भी अवस्थामें दण्डीकी रचना नहीं हो सकता है।

ग्राम्यत्व दोषके विवेचनमें दण्डीने—

'कन्ये कामयमानं मां न त्वं कामयसे कथम्।
इति ग्राम्योऽयमर्थात्मा वैरस्याय प्रकल्पते॥'

—काव्यादर्श १-६[illegible]

'हे कन्ये, मैं तुमको चाहता हूँ फिर तुम मुझको क्यों नहीं चाहती हो' इस बातको भी दण्डीने ग्राम्य दोषका उदाहरण माना है और इस प्रकारकी उक्तिको भी वैरस्यापादक माना है। परन्तु 'दशकुमारचरित'में इससे भी कहीं अधिक ग्राम्यताके उदाहरण पाये जाते हैं। इससे भी आगाशे महोदयने अपने इस सिद्धान्तकी पुष्टि करनेका यत्न किया है कि 'दशकुमारचरित' दण्डीकी रचना नहीं है।

परन्तु इस बातको लिखते समय आगाशे महोदयने सिद्धान्त और व्यवहारके सार्वत्रिक भेदकी ओर ध्यान नहीं दिया है। सिद्धान्त और व्यवहारका यह भेद तो सब जगह पाया जाता है। सिद्धान्त या लक्ष्यबिन्दु तो सदा ऊँचा होता है और रखना भी चाहिये। किन्तु व्यवहारमें उसका उतना शुद्धरूपमें पालन लगभग असम्भव है। इसलिए यदि दण्डीके सिद्धान्त और व्यवहारमें अन्तर पाया जाता है तो यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। दण्डी ही क्यों, कोई भी ग्रन्थकार आजतक ऐसे निर्दोष काव्यकी रचना नहीं कर सका है जिसके ऊपर अँगुली न उठाई जा सके। कोई भी कवि या कोई व्यक्ति किसी भी काव्यको करे, सिद्धान्तत यही चाहता है कि उसमें [illegible] कोई कमी न रहने पाये, कोई दोष न निकाल सके, परन्तु फिर भी मनुष्यके प्रयत्न करनेपर [illegible] कोई दोष रह ही जाता है। व्यक्तिविवेककारने लिखा है—

'स्वकृतिष्वयन्त्रितः कथमनुशिष्यादन्यमयमिति न वाच्यमिदम्।
वारयति भिषगपथ्यादितरान् स्वयमाचरन्नपि तत्॥'

वैद्य स्वयं अपथ्यका सेवन करते हुए भी दूसरोंको अपथ्यका निषेध करता है। [illegible] 'काव्यादर्श'में तनिक-से भी काव्यदोषकी उपेक्षा न करनेकी बात लिखी है। [illegible] सेवनके निषेधक आदेशके समान है और 'कन्ये कामयमानं मां' आदि श्लोकोंमें [illegible]

यही दिखलाया है कि बातको इस प्रकार नग्न रूपमें कहना सहृदयोंके लिए रुचिकर नहीं होता है। उसी बातको यदि थोड़ी-सी शैली बदलकर यों कह दिया जाय कि—

'कामं कन्दर्पचाण्डालो मयि वामाक्षि निर्दयः।
त्वयि निर्मत्सरो दिष्ट्येत्यग्राम्योऽर्थो रसावहः॥'

—काव्यादर्श १–६४

तो यह अर्थ ग्राम्यता दोषसे रहित और रसावह हो जाता है। इसलिए 'दशकुमारचरित'में दोषोंके विद्यमान होनेसे आगाशे महोदयने जो यह परिणाम निकाला है कि वह दण्डीकी रचना नहीं है वह अनुचित और असङ्गत है। दूसरी बात यह भी है कि 'दशकुमारचरित' दण्डीकी अप्रौढ़ावस्थाकी रचना है इसलिए उसमें दोषोंका होना स्वाभाविक है।

आगाशे महोदयने 'दशकुमारचरित'को दण्डीकी रचना न माननेका दूसरा कारण यह बतलाया है कि 'दशकुमारचरित'की रचनाशैली बड़ी क्लिष्ट और समासबहुल है, जब कि 'काव्यादर्श'की रचनाशैली बड़ी सरल समासरहित प्रसादगुणयुक्त है। इसलिए भी इन दोनोंका रचयिता एक नहीं हो सकता है। किन्तु यह हास्यास्पद-सी बात है। 'दशकुमारचरित' गद्यग्रन्थ है। उसमें समासबाहुल्य गुण है, दोष नहीं। स्वयं 'काव्यादर्श'में दण्डीने इस बातका समर्थन करते हुए लिखा है—

'ओजः समासभूयस्त्वमेतद्गद्यस्य जीवितम्।
पद्येऽप्यदाक्षिणात्यानामिदमेकं परायणम्॥'

—काव्यादर्श १–८०

अर्थात् समासबाहुल्यात्मक ओज गुण ही तो गद्यकी जान है और दाक्षिणात्य लोगोंको छोड़कर अन्य लोग तो पद्यमें भी समासबाहुल्यका प्रयोग पसन्द करते हैं। इसलिए गद्यात्मक 'दशकुमारचरित'में भी समासबाहुल्य पाया जाता है और वह उसमें सौन्दर्यका आधान कर रहा है। 'काव्यादर्श' तो गद्य ग्रन्थ नहीं है, पद्यात्मक ग्रन्थ है। इसलिए उसमें समासका न होना या कम होना स्वाभाविक है। फिर 'काव्यादर्श'में समासभूयस्त्व नहीं है यह बात नहीं है।

'पयोधरतटोत्सङ्गलग्नसन्ध्यातपांशुका।
कस्य कामातुरं चेतो वारुणी न करिष्यति॥'

—काव्यादर्श १–८४

इस पद्यमें पूर्वार्द्ध भाग सारा का सारा मिलकर एक समस्तपद है। इसलिए 'दशकुमारचरित'के समासबाहुल्यके आधारपर उसको दण्डीकी रचना न माननेका आगाशे महोदयका विचार किसी तरह भी उचित नहीं हो सकता है।

[illegible] बात और है, संस्कृत साहित्यमें दण्डी एक महाकविके रूपमें प्रसिद्ध हैं।

'जाते जगति वाल्मीकौ कविरित्यभिधाऽभवत्।
कवी इति ततो व्यासे कवयस्त्वयि दण्डिनि॥'

इस श्लोकमें [illegible] तथा व्यासके बाद तीसरे नम्बरपर दण्डी कविको ही रखा गया है। [illegible] 'कवि' शब्दका प्रयोग [illegible] व्यासके आनेपर 'कवी'

यह द्विवचनमें कवि शब्दका प्रयोग होने लगा, क्योंकि अब वाल्मीकि और व्यास दो कवि हो गये। किन्तु अभीतक 'कवयः' इस बहुवचनमें कवि शब्दके प्रयोगका अवसर नहीं आया। कवि शब्दका बहुवचनमें 'कवयः' प्रयोग दण्डीके बाद होना प्रारम्भ हुआ। यह तो कविकी प्रशंसापरक अतिशयोक्ति है। किन्तु इसका भाव इतना ही है कि दण्डी एक महाकविके रूपमें प्रसिद्ध हैं। उनकी यह प्रसिद्धि मुख्यरूपसे 'दशकुमारचरित'के आधारपर ही है। 'काव्यादर्श'के आधारपर कवित्वकी प्रसिद्धि नहीं है। यदि उस 'दशकुमारचरित'को उनकी रचनाओंमेंसे निकाल दिया जाय तो फिर उनकी इस प्रसिद्धिका आधार ही क्या रह जाता है। इसी प्रकार—

'उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्।
दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः॥'

इस प्रसिद्ध लोकोक्तिमें दण्डी अपने 'दशकुमारचरित'के पदलालित्यके आधारपर ही स्थान पा सके हैं। इसलिए 'दशकुमारचरित' दण्डीकी रचना नहीं है, आगाशे महोदयका यह कथन सर्वथा असङ्गत है। पता नहीं उन्होंने इस प्रकारकी असङ्गत बात लिखनेका साहस कैसे किया।

'काव्यादर्श'

दण्डीके तीन ग्रन्थोंमेंसे अलङ्कारशास्त्रसे सम्बद्ध ग्रन्थ 'काव्यादर्श' ही है। भारतमें इसके अनेक संस्करण निकल चुके हैं। सबसे पहिला संस्करण सन् १८६३ में कलकत्तासे प्रकाशित हुआ था। उसमें प्रेमचन्द्र तर्कवागीशकी टीका भी साथमें मुद्रित थी। उसके बाद सन् १९१० में प्रो० रङ्गाचार्य द्वारा सम्पादित एक 'तरुण वाचस्पति' कृत टीका तथा दूसरी 'हृदयङ्गमा' टीका जिसके निर्माताके नामका पता नहीं है, इन दो टीकाओं सहित एक संस्करण मद्राससे प्रकाशित हुआ। उसके बाद पूनासे डॉ० बेलवलकर और शास्त्री रङ्गाचार्य रेड्डी द्वारा सम्पादित होकर प्रकाशित हुआ। 'काव्यादर्श'में सामान्यतः तीन परिच्छेद हैं। किन्तु मद्राससे प्रकाशित रङ्गाचार्यवाले संस्करणमें चार परिच्छेद रखे गये थे। अन्य संस्करणोंमें जिसको तृतीय परिच्छेदके रूपमें दिया गया है उसको रङ्गाचार्यवाले संस्करणमें दो भागोंमें विभक्त कर दिया गया था। उसमें दोषोंके निरूपणसे चतुर्थ परिच्छेदका आरम्भ किया गया था। कलकत्ता और मद्रासवाले संस्करणोंमें दूसरा अन्तर यह भी था कि कलकत्तावाले संस्करणमें कुल श्लोकोंकी संख्या ६६० थी और मद्रासवाले संस्करणमें यह संख्या ६६३ थी। यह तीन संख्याओंका अन्तर इस प्रकार है कि दो श्लोक तो तृतीय परिच्छेदके अन्तमें अधिक पाये जाते हैं और एक श्लोक चतुर्थ परिच्छेदके आरम्भमें अधिक पाया जाता है। इसके अतिरिक्त कलकत्तावाले संस्करणके तृतीय परिच्छेदके १९० वें श्लोकके बाद—

'आधिव्याधिपरीताय अद्य श्वो वा विनाशिने।
को हि नाम शरीराय धर्मापेतं समाचरेत्॥'

यह एक चौथा श्लोक मद्रास संस्करणमें अधिक पाया जाता है। इस प्रकार मद्रास संस्करणमें चार श्लोक अधिक हो जाते हैं। किन्तु इसके साथ ही परिच्छेदका 'लिम्पतीव तमोऽङ्गानि'-वाला प्रसिद्ध श्लोक मद्रासवाले संस्करणमें नहीं पाया जाता है। इसलिए इन दोनों संस्करणोंमें तीन श्लोकोंका ही अन्तर रह जाता है। कलकत्तावाले संस्करणमें कुल ६६० श्लोक थे और मद्रासवाले संस्करणमें ६६३ श्लोक थे।

'काव्यादर्श'के प्रथम परिच्छेदमें काव्यका लक्षण, उसके गद्य, पद्य और मिश्रकाव्यरूप तीन

भेद, सर्गबन्ध महाकाव्यका लक्षण देनेके बाद गद्यकाव्यके कथा तथा आख्यायिकारूप भामहाभि-मत दो भेदोंका उल्लेख कर फिर उसका खण्डन कर दिया है। उन्होंने कथा और आख्यायिकाको एक ही जाति माना है। इसके बाद साहित्यका भाषाके आधारपर १. संस्कृत, २. प्राकृत, ३. अप-भ्रंश तथा ४. मिश्ररूपसे चार भागोंमें विभाजन किया है। उसके बाद काव्यके दस गुणोंके लिए 'वैदर्भ' तथा 'गौड' दो मार्गोंका उल्लेख कर उसी प्रसङ्गमें अनुप्रासका लक्षण तथा उदाहरण दिये हैं। इसके बाद उत्तम कवि बननेके लिए आवश्यक १. प्रतिभा २. श्रुत तथा ३. अभियोग इन तीन गुणोंका वर्णन किया है।

द्वितीय परिच्छेदमें अलङ्कारका सामान्य लक्षण करनेके बाद ३५ अलङ्कारोंके लक्षण तथा उदाहरण दिये हैं। वे ३५ अलङ्कार, जिनका वर्णन दण्डीने द्वितीय परिच्छेदमें किया है, क्रमशः निम्नलिखित प्रकार हैं—

१. स्वभावोक्ति, २. उपमा, ३. रूपक, ४. दीपक, ५. आवृत्ति, ६. आक्षेप, ७ अर्थान्तरन्यास, ८. व्यतिरेक, ९. विभावना, १०. समासोक्ति, ११. अतिशयोक्ति, १२. उत्प्रेक्षा, १३. हेतु, १४. सूक्ष्म, १५ लेश (या लव), १६. यथासंख्य (या क्रम), १७. प्रेय, १८. रसवत् १९. ऊर्जस्वि, २०. पर्यायोक्त, २१. समाहित, २२. उदात्त, २३. अपह्नुति, २४. श्लेष, २५ विशेषोक्ति, २६. तुल्ययोगिता, २७ विरोध, २८. अप्रस्तुतप्रशंसा, २९. व्याजोक्ति, ३०. निदर्शना, ३१. सहोक्ति, ३२. परिवृत्ति, ३३. आशी, ३४. संसृष्ट और ३५. भाविक।

'काव्यादर्श'के तृतीय परिच्छेदमें ग्रन्थकारने 'यमक'का विस्तारके साथ वर्णन किया है और चित्रबन्धके गोमूत्रिका, अर्धभ्रम, सर्वतोभद्र, स्वरस्थानवर्णनियम आदि भेदोंका तथा प्रहेलिकाके दस भेदोंका वर्णन करनेके बाद दस प्रकारके काव्यदोषोंका वर्णन किया है। मद्रासवाले संस्करणमें इन दोषोंके विवेचनको चतुर्थ परिच्छेदमें दिखलाया गया है।

दण्डीका प्रभाव और उनके टीकाकार

यद्यपि अलङ्कारशास्त्रके आद्य आचार्य भामह हैं और दण्डी उनके बाद हुए हैं, किन्तु अपनी रचनाके द्वारा दण्डीने भामहकी अपेक्षा कहीं अधिक ख्याति प्राप्त की है। भामहका मूलग्रन्थ ही बड़ी कठिनाईसे मिल सका। उसपर 'भामहविवरण' नामक एक ही टीका लिखी गयी, वह भी मिलती नहीं। किन्तु दण्डीके 'काव्यादर्श'की स्थिति इससे बिल्कुल भिन्न है। इसके ऊपर अनेक टीकाएँ लिखी गयीं। एक प्रेमचन्द्र तर्कवागीशवाली टीका जो कलकत्तासे प्रकाशित हुई थी और तरुण वाचस्पतिकृत टीका तथा 'हृदयङ्गमा' टीका, जिसके लेखकके नामका पता नहीं है, दो टीकाएँ मद्राससे प्रकाशित हुई थीं। इन तीनों टीकाओंकी चर्चा हम पहिले कर चुके हैं। इनके अतिरिक्त ४. महामहोपाध्याय हरिनाथकृत 'मार्जन' नामक टीका (१ विक्रम संवत् १७४६ में इसकी प्रतिलिपि की गयी थी), ५. कृष्णकिङ्कर तर्कवागीशविरचित 'काव्यतत्त्वविवेचनकौमुदी' नामक टीका, ६. वादिघङ्घल-विरचित 'श्रुतानुपालिनी' टीका, ७. जगन्नाथके पुत्र मल्लिनाथकृत 'वैमल्यविधायिनी' आदि अनेक टीकाओंका उल्लेख मिलता है। इतनी अधिक टीकाएँ 'काव्यादर्श'पर लिखी गयी हैं इससे 'काव्यादर्श'की लोकप्रियता तथा विद्वानोंमें उसके विशेष आदरका परिचय मिलता है।

न केवल टीकाग्रन्थोंके द्वारा ही, अपितु अन्य भाषाओंमें अनुवाद आदिके द्वारा भी 'काव्या-दर्श'ने विशेष सम्मान प्राप्त किया है। सिंहली भाषामें 'सिय-बस-लकर' नामका अलङ्कारशास्त्रका सर्वमान्य ग्रन्थ है। 'सिय-बस-लकर'का अर्थ होता है 'स्व-भाषा-अलङ्कार'। इस ग्रन्थकी रचना

'काव्यादर्श'के आधारपर ही हुई है। इसी प्रकार कन्नड़ भाषाका अलङ्कारशास्त्रविषयक प्रसिद्ध ग्रन्थ 'कविराजमार्ग' भी दण्डीके 'काव्यादर्श'के आधारपर ही लिखा गया है। अधिकांशमें उसका अनुवाद ही कहा जा सकता है।

सिंहल और कन्नड़ भाषाके अलङ्कारशास्त्रविषयक ग्रन्थोंपर इतना व्यापक प्रभाव देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि दण्डी स्वयं दक्षिणभारतके ही रहनेवाले थे। 'काव्यादर्श'के 'पद्येऽप्यदाक्षिणात्यानामिदमेकं परायणम्' आदि (१-८०) श्लोकको हम ऊपर दे चुके हैं। उसमें एक ध्वनि यह निकलती है कि दाक्षिणात्य लोग तो पद्यमें समासभूयस्त्वका प्रयोग नहीं करते हैं किन्तु दाक्षिणात्यों-को छोड़कर अन्य लोगोंके लिए पद्यमें भी सौन्दर्य लानेका केवल यही एक मार्ग रह जाता है। इससे दाक्षिणात्योंके प्रति कुछ गौरवभावना व्यक्त होती है। इससे भी यह अनुमान होता है कि वे दाक्षिणात्य रहे होंगे। इसके अतिरिक्त कर्णाटककी रहनेवाली कवयित्री विज्जिका या विजयाङ्काके द्वारा दण्डीका विशेषरूपसे उल्लेख भी उनके दाक्षिणात्य होनेका सङ्केत करता है। जल्हणकी 'सूक्तिमुक्तावली'में तथा 'शार्ङ्गधरपद्धति'में १८४ श्लोकसंख्यापर राजशेखरके नामसे निम्नलिखित पद्य उद्धृत किया गया है—

'सरस्वतीव कार्णाटी विजयाङ्का जयत्यसौ।
या वैदर्भगिरां वासः कालिदासादनन्तरम्॥'

—शा० प० १८४

इसमें कर्णाटकनिवासिनी 'विजयाङ्का' कवयित्रीकी प्रशंसा की गयी है। उसे सरस्वतीके समान कहा गया है और वैदर्भमार्गकी रचनामें कालिदासके समान ठहराया गया है। इसी 'विजयाङ्का' या 'विज्जिका'के नामसे 'शार्ङ्गधरपद्धति'में श्लोकसंख्या १८० पर निम्नलिखित पद्य दिया गया है—

'नीलोत्पलदलश्यामां विज्जिकां मामजानता।
वृथैव दण्डिना प्रोक्तं सर्वशुक्ला सरस्वती॥'

—शा० प० १८०।

'सर्वशुक्ला सरस्वती' 'काव्यादर्श'के प्रथम श्लोकका अन्तिम चरण है। इसमें सरस्वती-को 'सर्वशुक्ला' कहा है। कर्णाटी विजयाङ्का या विज्जिकाको भी लोग साक्षात् सरस्वती कहते थे। और वह स्वयं भी अपनेको सरस्वतीसे कम नहीं समझती थी। किन्तु कर्णाटी होनेके कारण वह 'नीलोत्पलदलश्यामा' थी। इसीलिए उसने अपनी प्रशंसाके रूपमें कहा है कि सरस्वती श्याम भी हो सकती है, क्योंकि मैं श्यामवर्ण हूँ। दण्डीने जो सरस्वतीको 'सर्वशुक्ला सरस्वती' कहा है वह ठीक नहीं है।

दण्डीके 'काव्यादर्श'का भारतके दक्षिणी भागमें विशेष प्रभाव होने, कर्णाटी 'विज्जका'के द्वारा उनका उल्लेख करने और स्वयं दण्डीके द्वारा दाक्षिणात्योंकी प्रशंसा व्यक्त करनेसे यह अनुमान किया जा सकता है कि दण्डी कदाचित् दाक्षिणात्य ही रहे होंगे।

५. भट्टोद्भट

दण्डीके बाद दूसरे आचार्य भट्टोद्भट हैं जिन्होंने अलङ्कारशास्त्रके ऊपर महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। भट्ट उद्भट, जैसा कि उनके नामसे विदित होता है, काश्मीरी ब्राह्मण थे। वे काश्मीरके

कालिदासका श्लोक—'स्वयं विशीर्णद्रुमपर्णवृत्तिता
परा हि काष्ठा तपसस्तया पुनः ॥' ५-२८

'काव्यालङ्कारसारसंग्रह'

भट्ट उद्भटका एकमात्र उपलब्ध ग्रन्थ 'काव्यालङ्कारसारसंग्रह' है। यह ग्रन्थ ६ वर्गोंमें विभक्त है। इसमें कुल मिलाकर ७९ कारिकाएँ हैं और उनमें ४१ अलङ्कारोंके लक्षण आदि दिये गये हैं। ६ वर्गोंमें उन ४१ अलङ्कारोंका विभाजन निम्नलिखित प्रकार किया गया है—

प्रथम वर्ग—१ पुनरुक्तवदाभास, २. छेकानुप्रास, ३. त्रिविध अनुप्रास (परुषा, उपनागरिका, ग्राम्या या कोमला वृत्ति), ४ लाटानुप्रास, ५ रूपक, ६. उपमा, ७ त्रिविध दीपक (आदिदीपक, मध्यदीपक, अन्तदीपक), ८. प्रतिवस्तूपमा।

द्वितीय वर्ग—१ आक्षेप, २. अर्थान्तरन्यास, ३. व्यतिरेक, ४ विभावना, ५ समासोक्ति, ६. अतिशयोक्ति।

तृतीय वर्ग—१ यथासंख्य, २. उत्प्रेक्षा, ३ स्वभावोक्ति।

चतुर्थ वर्ग—१. प्रेय, २ रसवत्, ३. ऊर्जस्विन्, ४. पर्यायोक्त, ५ समाहित।

पञ्चम वर्ग—१. अपह्नुति, २. विशेषोक्ति, ३. विरोध, ४. तुल्ययोगिता, ५ अप्रस्तुतप्रशंसा, ६. व्याजस्तुति, ७. निदर्शना, ८. उपमेयोपमा, ९. सहोक्ति, १०. सङ्कर (चतुर्विध), ११. परिवृत्ति।

षष्ठ वर्ग—१. अनन्वय, २. ससन्देह, ३. संसृष्टि, ४. भाविक, ५ काव्यलिङ्ग, ६. दृष्टान्त।

इन सब अलङ्कारोंका वर्णन ७९ कारिकाओंमें किया गया है और उनके उदाहरणस्वरूप लगभग १०० श्लोक ग्रन्थकारने अपने 'कुमारसम्भव काव्य'मेंसे उद्धृत किये हैं।

इन ४१ अलङ्कारोंमेंसे १. पुनरुक्तवदाभास, २. काव्यलिङ्ग, ३. छेकानुप्रास, ४ दृष्टान्त और ५. सङ्कर ये पाँच अलङ्कार ऐसे हैं जो भामहके 'काव्यालङ्कार'में नहीं पाये जाते हैं। किन्तु उद्भटने एक रूपमें उनकी स्थापना की है। ये पाँचों अलङ्कार दण्डीके 'काव्यादर्श'में भी नहीं पाये जाते हैं।

१ उत्प्रेक्षावयव, २. उपमारूपक और ३. यमक ये तीन अलङ्कार ऐसे हैं जो भामहने और दण्डीने उत्प्रेक्षाके अन्तर्गत माने हैं किन्तु उद्भटने उनको नहीं माना है।

१. लेश, २. सूक्ष्म तथा ३. हेतु ये तीन अलङ्कार दण्डीने माने हैं। भामहने उनका निषेध किया है। भामहके समान उद्भट भी इन तीनों अलङ्कारोंको नहीं मानते हैं, इसलिए उन्होंने अपने ग्रन्थमें इन तीनों अलङ्कारोंकी कोई चर्चा नहीं की है। १. रसवत्, २. प्रेय, ३. ऊर्जस्वि, ४. समाहित और ५. श्लिष्ट ये पाँच अलङ्कार ऐसे हैं जिनका वर्णन तो भामह और दण्डीने किया है, किन्तु उनके लक्षण दोनों जगह अस्पष्ट हैं। उद्भटने उनके लक्षण बहुत स्पष्टरूपसे प्रस्तुत कर दिये हैं। इस प्रकार पुनरुक्तवदाभासादि पाँच अलङ्कारोंकी स्थापना तथा रसवत् आदि पाँच अलङ्कारोंके लक्षणका स्पष्टीकरण साहित्यशास्त्रको उद्भटकी अपनी विशेष देन है।

उद्भटके टीकाकार

उद्भटके 'काव्यालङ्कारसारसंग्रह'पर दो टीकाएँ उपलब्ध होती हैं। एक टीकाके [illegible] प्रतीहारेन्दुराज हैं और दूसरीके निर्माता राजानक तिलक हैं। प्रतीहारेन्दुराज [illegible] तथा 'अभिधावृत्तिमातृका'के निर्माता मुकुलभट्टके शिष्य थे। इनका समय [illegible] प्रारम्भमें माना जाता है। 'काव्यालङ्कारसारसंग्रह'पर इनकी 'लघुवृत्ति' [illegible]

टीकामें इन्होंने अपने गुरु मुकुलभट्टकी बड़ी प्रशंसा की है। उन्हींसे पढ़कर इन्होंने 'काव्यालङ्कार-सारसंग्रह'की यह टीका लिखी है—

'विद्वदग्र्यान्मुकुलकादधिगम्य विविच्यते।
प्रतीहारेन्दुराजेन काव्यालङ्कारसंग्रहः॥'

यह 'लघुविवृति' टीका निर्णयसागर प्रेस बम्बईसे काव्यमाला तथा बाम्बे संस्कृत सिरीजके अन्तर्गत प्रकाशित हो चुकी है।

'काव्यालङ्कारसारसंग्रह'पर 'विवृति' नामकी एक और टीका 'गायकवाड ओरिएण्टल सिरीज' बड़ौदासे प्रकाशित हुई है। इसके रचयिताका नाम तो उसपर नहीं दिया गया है, किन्तु उसके सम्पादक महोदयका विचार है कि इस टीकाके निर्माता कश्मीर-निवासी राजानक तिलक प्रतीत होते हैं। राजानक तिलकने 'काव्यालङ्कारसारसंग्रह' पर 'उद्भटविवेक' नामसे कोई टीका लिखी थी इस बातका उल्लेख 'अलङ्कारसर्वस्व'की जयरथ-विरचित 'विमर्शिनी' टीकामें पाया जाता है। किन्तु उसकी अन्यत्र कहीं उपलब्धि नहीं हुई है। इसलिए यह अनुमान किया गया है कि यही ग्रन्थ राजानक तिलक द्वारा लिखा गया होगा। यह ग्रन्थ प्रतीहारेन्दुराजकी 'लघुविवृति'के बाद लिखा गया है, क्योंकि उसमें प्रतीहारेन्दुराजकी व्याख्याकी आलोचना भी पायी जाती है।

उद्भटके 'भामहविवरण', 'कुमारसम्भव' तथा 'काव्यालङ्कारसारसंग्रह' इन तीन ग्रन्थोंका उल्लेख तो ऊपर किया जा चुका है। इनके अतिरिक्त भरत-नाट्यशास्त्रके टीकाकारके रूपमें भी इनका उल्लेख पाया जाता है। शार्ङ्गदेवने अपने 'सङ्गीतरत्नाकर'में 'नाट्यशास्त्र'के व्याख्याताओंकी सूची निम्नलिखित प्रकार दी है—

व्याख्यातारो भारतीये लोल्लटोद्भटशङ्कुकाः।
भट्टाभिनवगुप्तश्च श्रीमत्कीर्तिधरोऽपरः॥'

'भामहविवरण'के समान 'नाट्यशास्त्र'पर इनकी लिखी टीका भी उपलब्ध नहीं होती है।

६. वामन

अलङ्कारशास्त्रके आचार्योंमें उद्भटके बाद वामनका स्थान आता है। साहित्यशास्त्रके इतिहासमें वामनका स्थान विशेष महत्त्वपूर्ण है। ये रीतिसम्प्रदाय नामसे प्रसिद्ध साहित्यशास्त्रके एक प्रमुख सम्प्रदायके प्रवर्तक हैं। 'रीतिरात्मा काव्यस्य' लिखकर इन्होंने रीतिको काव्यका आत्मा माना है। इस सिद्धान्तके कारण इनका साहित्यशास्त्रके इतिहासमें विशेष महत्त्व माना गया है। उद्भटके समान वामन भी कश्मीरके निवासी उद्भटके समकालीन और सहयोगी थे। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, उद्भट कश्मीरराज जयादित्यकी राजसभाके सभापति थे। आचार्य वामन उन्हीं जयादित्यके मन्त्री थे। राजतरङ्गिणी'में जहाँ उद्भटके सभापति होनेकी बात लिखी है वहीं वामनके जयादित्यके मन्त्री होनेकी बात भी इस प्रकार लिखी है—

'मनोरथः शङ्खदत्तश्चटकः सन्धिमांस्तथा।
बभूवुः कवयस्तस्य वामनाद्याश्च मन्त्रिणः॥'

—राजतरङ्गिणी ४-४९७

जयादित्यका राज्यकाल ७७९ से ८१३ ई० तक माना जाता है। अतएव इनका समय अष्टम शताब्दीके अन्तमें और नवम शताब्दीके आरम्भमें पड़ता है।

वामनका एकमात्र ग्रन्थ 'काव्यालङ्कारसूत्र' है। अलङ्कारशास्त्रपर यह एक ऐसा ग्रन्थ है जो सूत्रशैलीमें लिखा गया है। यह ग्रन्थ पाँच अधिकरणोंमें विभक्त है। प्रत्येक अधिकरण दो या तीन अध्यायोंमें विभक्त किया गया है। इस सम्पूर्ण ग्रन्थमें बारह अध्याय हैं। इन बारहों अध्यायोंमें मिलाकर सूत्रोंकी संख्या ३१२ है। ग्रन्थके प्रथम अधिकरणमें काव्यके प्रयोजन, अधिकारीका वर्णन करके रीतिको काव्यका आत्मा सिद्ध किया है। रीतिको काव्यका आत्मा बतलानेवाले प्रसिद्ध सिद्धान्तका निरूपणकर, फिर रीतिके तीन भेद तथा काव्यके अनेक प्रकारका वर्णन किया गया है। इस अधिकरणका नाम 'शारीराधिकरण' है और उसमें तीन अध्याय हैं। द्वितीयाधिकरणका नाम 'दोषदर्शनाधिकरण' है। इसमें दो अध्याय हैं जिनमें काव्यके दोषोंका विवेचन किया गया है। तीसरे अधिकरणका नाम 'गुणविवेचनाधिकरण' है। इसमें दो अध्याय हैं, जिनमें काव्यके गुणोंका विवेचन किया गया है। इसमें ग्रन्थकारने गुण तथा अलङ्कारोंका भेद भी दिखलाया है। "काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः" (३-१-१), "तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः" (३-१-२), इन सूत्रोंमें गुण तथा अलङ्कारके भेदनिरूपणसे ही इस अधिकरणका आरम्भ हुआ है। किन्तु उत्तरवर्ती मम्मटादि आचार्योंने वामनके इस मतकी बड़ी कटु आलोचना की है। वामनको गुण तथा अलङ्कारका यह भेद दिखलानेकी आवश्यकता इसलिए पड़ी कि इनके पूर्ववर्ती उद्भटने काव्यमें गुण तथा अलङ्कारोंका भेद नहीं माना था। उद्भटका कहना था कि लोकमें तो शौर्यादि गुणों तथा हारादि अलङ्कारोंमें यह भेद किया जा सकता है कि शौर्यादि गुण आत्मामें समवायसम्बन्धसे रहते हैं और हारादि अलङ्कार संयोगसम्बन्धसे शरीरमें रहते हैं, इसलिए वे दोनों भिन्न हैं। किन्तु काव्यमें तो ओज आदि गुण तथा उपमादि अलङ्कार दोनों समवायसम्बन्धसे ही रहते हैं इसलिए उनमें कोई भेद नहीं है। उद्भटके इस मतका खण्डन करनेके लिए वामनको गुण-निरूपण करनेवाले तृतीय अधिकरणके आरम्भमें ही गुण तथा अलङ्कारोंका यह भेद करना पड़ा।

चतुर्थ अधिकरणका नाम 'आलङ्कारिक अधिकरण' है। इसमें तीन अध्याय हैं। पाँचवें अधिकरणका नाम 'प्रायोगिकाधिकरण' है। इसमें दो अध्याय हैं और शब्दप्रयोगके विषयमें विवेचन किया गया है।

इस ग्रन्थके तीन भाग हैं—१. सूत्र, २. वृत्ति तथा ३. उदाहरण। सूत्र और वृत्ति दोनों भागोंकी रचना वामनने स्वयं की है।

'प्रणम्य परमं ज्योतिर्वामनेन कविप्रिया।
काव्यालङ्कारसूत्राणां स्वेषां वृत्तिर्विधीयते।'

अर्थात् वामनने अपने काव्यालङ्कारसूत्रोंके ऊपर 'कविप्रिया' नामकी वृत्ति स्वयं ही लिखी है। इस प्रकार सूत्र तथा वृत्ति दो भागोंकी रचना तो स्वयं वामनने की है। किन्तु उदाहरणवाले तीसरे भागमें उन्होंने कुछ उदाहरण अपने भी दिये हैं और अधिकांश उदाहरण दूसरोंके ग्रन्थोंसे लिये हैं। चतुर्थ अधिकरणके अन्तमें इन्होंने स्वयं लिखा है—

'एभिर्निदर्शनैः स्वीयैः परकीयैश्च पुष्कलैः।'

अन्य जिन ग्रन्थोंसे उदाहरण लेकर वामनने अपने ग्रन्थमें प्रस्तुत किये हैं उनमें 'अमरुकशतक', 'उत्तररामचरित', 'कादम्बरी', 'किरातार्जुनीय', 'कुमारसम्भव', [illegible],

'मृच्छकटिक', 'मेघदूत', 'रघुवंश', 'विक्रमोर्वशीय', 'वेणीसंहार', 'अभिज्ञानशाकुन्तल', 'शिशुपालवध', 'हर्षचरित' आदिके नाम विशेषरूपसे उल्लेखनीय है।

'काव्यलङ्कारसूत्र' वामनका एकमात्र ग्रन्थ है किन्तु बीचमें वह भी लुप्त हो गया था। प्रतीहारेन्दुराजके गुरु मुकुलभट्टको कहींसे उसकी एक आदर्श प्रति मिली, उसके आधारपर इसका फिर प्रसार और प्रचार हो सका है। इस बातका उल्लेख 'काव्यालङ्कार'के टीकाकार सहदेवने निम्नलिखित प्रकार किया है—

> 'वेदिता सर्वशास्त्राणां भट्टोऽभून्मुकुलाभिधः।
> लब्ध्वा कुतश्चिदादर्शं भ्रष्टाम्नायं समुद्धृतम्॥
> काव्यालङ्कारशास्त्रं यत् तेनैतद्वामनोदितम्।
> असूया तत्र कर्तव्या विशेषालोकिभिः क्वचित्॥'

६. रुद्रट

वामनके बाद अगले आचार्य रुद्रट हैं। ये साहित्यशास्त्रके इतिहासमें एक अत्यन्त प्रसिद्ध आचार्य हुए हैं। इनका दूसरा नाम शतानन्द था। किन्तु वह नाम अधिक प्रसिद्ध नहीं है। इनकी प्रसिद्धि रुद्रट नामसे ही है। इनके पिताका नाम वामुकभट्ट था। नामसे प्रतीत होता है कि ये भी कश्मीरी थे। अपने वंशके परिचयरूपमें इनके एक श्लोकको टीकाकारने विशेषरूपसे निम्नलिखित प्रकार उल्लिखित किया है—

> 'अत्र च चक्रे स्वनामाङ्कभूतोऽयं श्लोकः कविनान्तर्भावितो यथा—
> शतानन्दापराख्येन भट्टवामुकसूनुना।
> साधितं रुद्रटेनेदं सामाजा धीमतां हितम्॥'

—काव्यालङ्कार ५। १२-१४ की टीका

इनके मतका उल्लेख धनिक, मम्मट, प्रतीहारेन्दुराज, राजशेखर आदि अनेक आचार्योंने अपने ग्रन्थोंमें किया है। किन्तु इनमें सबसे पूर्ववर्ती उल्लेख राजशेखर द्वारा किया गया है। राजशेखरने 'काव्यमीमांसा'में 'काकुवक्रोक्तिर्नाम शब्दालङ्कारोऽयमिति रुद्रटः' (काव्यमीमांसा, अध्याय ७, पृष्ठ ३१) लिखकर रुद्रटके मतका उल्लेख किया है। राजशेखरका काल ९२० ई० के लगभग माना जाता है। इसलिए रुद्रटका काल उनसे पहले नवम शताब्दीमें ८५० ई० के लगभग पड़ता है।

ऐसा ज्ञात पड़ता है कि साहित्यशास्त्रके सारे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थोंकी रचना कश्मीरमें हुई और उनमेंसे अधिकांश लेखकोंने अपने ग्रन्थोंके नाम भी 'काव्यालङ्कार' ही रखे हैं। इस परम्पराके अनुसार कश्मीरवासी रुद्रटके ग्रन्थका नाम भी 'काव्यालङ्कार' होना चाहिये और है भी। रुद्रटका 'काव्यालङ्कार' ग्रन्थ आर्या छन्दमें लिखा गया है। इसमें कुल ७३४ आर्याएँ हैं। ग्रन्थ १६ अध्यायोंमें विभक्त है, जिनमेंसे ११ अध्यायोंमें अलङ्कारोंका वर्णन है। अन्तिम अध्यायमें रसोंकी मीमांसा की गयी है। इसमें नौ रसोंके साथ 'प्रेय' नामक रसकी और कल्पना करके रसोंकी संख्या दस कर दी गयी है। नायक-नायिकाभेदका भी विस्तारके साथ वर्णन किया गया है। अलङ्कारोंके विवेचनमें इन्होंने सबसे पहले [illegible] कि वैज्ञानिक आधारपर अलङ्कारोंका विभाजन [illegible] किया है। [illegible] इन्होंने अलङ्कारोंका विभाजक तत्त्व माना है [illegible] किया है। यह इनका बिल्कुल नया दृष्टि-

कोण है। रुद्रटने अलङ्कारक्षेत्रमें १. मत, २. साम्य, ३. पिहित और ४. भाव नामके चार बिल्कुल नवीन अलङ्कारोंकी कल्पना की है, जिनका उल्लेख प्राचीन और नवीन किन्हीं ग्रन्थोंमें नहीं मिलता है। कुछ प्राचीन अलङ्कारोंका इन्होंने नवीन रूपमें नया नामकरण किया है। जैसे भामह आदिके 'व्याजस्तुति'के लिए इन्होंने 'व्याजश्लेष' (१०-११) शब्दका प्रयोग किया है। 'स्वभावोक्ति'के स्थानपर 'जाति' (९-२) और 'उदात्त'के स्थानपर 'अवसर' (७-१०३) आदि नामोंका प्रयोग किया है।

रुद्रटके टीकाकार

रुद्रटके 'काव्यालङ्कार'पर तीन टीकाओंका उल्लेख मिलता है। इनमें सबसे पहली टीका कश्मीरके वल्लभदेव नामक विद्वान्ने लिखी थी। इसका नाम 'रुद्रटालङ्कार' था। परन्तु यह टीका उपलब्ध नहीं होती है। दूसरी टीका नमिसाधुकी है। यह टीका उपलब्ध होती है और छप चुकी है। नमिसाधु जैन विद्वान् थे। इन्होंने अपनी टीकाके रचनाकालका उल्लेख निम्नलिखित प्रकार किया है—

'पञ्चविंशतिसंयुक्तैः एकादशसमाशतैः।
विक्रमात् समतिक्रान्तैः प्रावृषीदं समर्थितम्॥'

अर्थात् विक्रमके ११२५ संवत् (१०६८ ई०) में नमिसाधुने इस टीकाकी रचना की। तीसरी टीकाके निर्माता भी जैन यति थे। इनका नाम आशाधर और समय १३वीं शताब्दीका मध्यभाग है।

रुद्रट और रुद्रभट्ट

रुद्रटसे मिलता-जुलता एक नाम और पाया जाता है रुद्रभट्ट। रुद्रभट्टकी रचनाका नाम 'शृङ्गारतिलक' है। इसमें तीन परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेदमें नौ रसों, भाव तथा नायक नायिकाके भेदोंका सामान्य वर्णन है। द्वितीय परिच्छेदमें विशेषरूपसे विप्रलम्भशृङ्गारका [illegible] तृतीय परिच्छेदमें इतर रसों तथा वृत्तियोंका वर्णन किया गया है। नवीन और प्राचीन अधिकांश विद्वान् इन दोनोंको अभिन्न एक ही व्यक्ति मानते हैं। किन्तु कुछ लोग ऐसे भी हैं जो इनको भिन्न-भिन्न व्यक्ति मानते हैं। भिन्नतावादियोंकी मुख्य युक्तियाँ इस प्रकार हैं—

१ रुद्रटके 'काव्यालङ्कार'के अनुसार काव्यका सार अलङ्कार है, क्योंकि उन्होंने अपने ग्रन्थके सोलह अध्यायोंमेंसे ग्यारह अध्यायोंमें अलङ्कारोंका वर्णन किया है। रसका [illegible] अन्तिम अध्यायमें किया है। इसके विपरीत 'शृङ्गारतिलक'में काव्यका प्रधान तत्त्व रस है। इसमें अलङ्कारोंकी चर्चा बिल्कुल ही नहीं की गयी है। इसलिए इन दोनों ग्रन्थोंके [illegible] मानने चाहिये।

२. 'शृङ्गारतिलक'में रुद्रभट्टने केवल नौ रसोंका उल्लेख किया है, कि[illegible] रुद्रटने 'प्रेय'को भी दसवाँ रस मानकर रसोंकी संख्या दस कर दी है।

३ रुद्रभट्टने कैशिकी आदि चार वृत्तियोंका उल्लेख किया है, [illegible] प्रौढा, ललिता तथा भद्रा नामसे पाँच प्रकारकी वृत्तियोंका वर्णन किया है।

४ नायकनायिकाभेदमें रुद्रभट्टने तीसरे नायिकाभेद, [illegible] किया है, किन्तु रुद्रटने केवल दो [illegible]

इस प्रकार भेदवादियोंकी दृष्टिसे रुद्रट तथा रुद्रभट्ट [illegible]

अधिकांश लोग इन दोनोंको एक ही व्यक्ति मानते हैं। प्राचीन सूक्तिसंग्रहोंमें दोनोंके पद्य एक-दूसरेके नामसे दिये गये हैं।

८. आनन्दवर्धनाचार्य

साहित्यशास्त्रके आचार्योंमें रुद्रभट्टके बाद आनन्दवर्धनाचार्यका नाम आता है। आनन्दवर्धनाचार्य साहित्यशास्त्रके प्रमुख ध्वनिसम्प्रदायके प्रतिष्ठापक होनेके नाते साहित्यशास्त्रके अत्यन्त प्रसिद्ध एवं प्रमुखतम व्यक्ति हैं। पूर्ववर्ती अन्य आचार्योंके समान यह भी कश्मीरके निवासी हैं। राजतरङ्गिणीकारने इन्हें कश्मीराधिपति अवन्तिवर्माका समकालीन बतलाते हुए लिखा है—

'मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्धनः।
प्रथां रत्नाकरश्चागात् साम्राज्येऽवन्तिवर्मणः॥'

—राजतरङ्गिणी ५-४

कश्मीरनरेश अवन्तिवर्माका समय ८५५-८८४ ई० तक है। इसलिए आनन्दवर्धनाचार्यका समय नवम शताब्दीमें ठहरता है। आनन्दवर्धनाचार्यने १. 'विषमबाणलीला', २. 'अर्जुनचरित', ३. 'देवीशतक', ४. 'तत्त्वालोक' तथा ५. 'ध्वन्यालोक' इन पाँच ग्रन्थोंकी रचना की थी। इनमें सबसे अधिक प्रसिद्ध एवं महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'ध्वन्यालोक' है। इस ग्रन्थमें काव्यके आत्मभूत ध्वनि-तत्त्वका प्रतिपादन किया गया है। ग्रन्थमें चार 'उद्योत' हैं। कुछ लोग ध्वनिको मानते ही नहीं हैं, कुछ उसको गौण मानते हैं और कुछ उसको अनिर्वचनीय तत्त्व कहते हैं। ये तीन ध्वनिविरोधी सिद्धान्त हैं। इन तीनों सिद्धान्तोंका खण्डन करके प्रथम उद्योतमें ध्वनिकी स्थापना की गयी है और उसका स्वरूपप्रतिपादन किया गया है—

'काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्व-
स्तस्याभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये।
केचिद्वाचां स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीयं
तेन ब्रूमः सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपम्॥'—ध्वन्यालोक १-१

द्वितीय उद्योतमें अविवक्षितवाच्य अर्थात् लक्षणामूला ध्वनि तथा विवक्षितवाच्य अर्थात् अभिधामूला ध्वनिके भेदोपभेदोंका विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है और उनके साथ गुणोंका भी कुछ विवेचन किया गया है। तृतीय उद्योतमें पदों, वाक्यों, पदांश और रचना आदिके द्वारा ध्वनिकी व्यञ्जकताका प्रतिपादन और रसोंके विरोध तथा अविरोधापादनके सिद्धान्तोंका वर्णन किया गया है। चतुर्थ उद्योतमें यह दिखलाया गया है कि ध्वनि तथा गुणीभूतव्यङ्ग्यके प्रयोगके प्रभावसे कविके काव्यमें अनन्त चमत्कारकी उत्पत्ति हो जाती है। जैसे मधुमासमें पुराने जीर्ण-शीर्ण वृक्षोंमें अनन्त सौन्दर्य आ जाता है इसी प्रकार ध्वनि तथा रसके सम्बन्धसे पूर्व कवियों द्वारा वर्णित पुराने अर्थोंमें भी नवीन चमत्कार उत्पन्न किया जा सकता है। इस प्रकार आनन्दवर्धनाचार्यने इस ग्रन्थमें ध्वनि-विरोधी सभी मतोंका निराकरण कर बड़ी सुन्दरता एवं प्रौढ़ताके साथ ध्वनि-सिद्धान्तकी स्थापना की है।

'ध्वन्यालोक' के तीन भाग हैं। एक मूल कारिका-भाग, दूसरा उनकी वृत्ति और तीसरा भाग उदाहरणोंका। कारिका और वृत्ति दोनों भागोंके निर्माता स्वयं आनन्दवर्धनाचार्य ही हैं। उदाहरणोंमें कुछ उदाहरण इन्होंने स्वयं बनाये हैं। उनमें 'विषमबाणलीला' और 'अर्जुनचरित' आदि ग्रन्थोंसे लिये हैं। किन्तु अधिकांश उदाहरण अन्य प्रसिद्ध कवियोंके ग्रन्थोंसे लिये हैं। प्राचीन [illegible]

आचार्य कारिकाभाग तथा वृत्तिभाग दोनोंका निर्माता आनन्दवर्धनाचार्यको ही मानते हैं। किन्तु डॉ० बुल्हर, प्रो० जैकोबी, प्रो० कीथ आदि आधुनिक विद्वानोंने इन दोनो भागोंको भिन्न व्यक्तियोंकी रचना सिद्ध करनेका यत्न किया है। इन भिन्नतावादियोंके मतमें कारिकाभागके निर्माता कोई 'सहृदय' नामके व्यक्ति हैं और वृत्तिभागके निर्माता आनन्दवर्धनाचार्य हैं। अपने मतके समर्थनके लिए वे 'ध्वन्यालोक'के प्रथम तथा अन्तिम श्लोकमें 'सहृदय' पदके प्रयोगको प्रस्तुत करते हैं। प्रथम श्लोक जो ऊपर उद्धृत किया जा चुका है उसके अन्तिम चरणमें 'तेन ब्रूमः सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपम्'में जो 'सहृदय' पद आया है इसे भेदवादी लोग कारिकाका नाम मानते हैं। इसी प्रकार 'ध्वन्यालोक'के अन्तिम श्लोक—

'सत्काव्यतत्त्वनयवर्त्मचिरप्रसुप्तकल्पं मनस्सु परिपक्वधियां यदासीत्।
तद्व्याकरोत् सहृदयोदयलाभहेतोरानन्दवर्धन इति प्रथिताभिधानः॥'

इसमें जो 'सहृदयोदयलाभहेतोः' पद आया है वह भी इन भेदवादियोंकी दृष्टिमें मूल कारिकाकारके नामका ग्राहक है। किन्तु वास्तवमें यह बात नहीं है। 'सहृदय' शब्द यहाँ किसी व्यक्तिविशेषका नाम नहीं, अपितु 'सहृदय' व्यक्तियोंका बोधक विशेषणपद है। 'ध्वन्यालोक'की टीका 'लोचन'में स्थान-स्थानपर 'वृत्तिकृत्', 'ग्रन्थकृत्' आदि शब्दोंका जो प्रयोग आता है वह व्याख्याके कारिका तथा वृत्तिभागको सूचित करनेकी दृष्टिसे ही आता है, किन्तु उसका यह अभिप्राय नहीं है कि वृत्तिकार और कारिकाकार दोनों अलग-अलग हैं। वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तक, व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट, 'औचित्यविचारचर्चा'के निर्माता क्षेमेन्द्र आदि उत्तरवर्ती सभी आचार्य आनन्दवर्धनको ही कारिका तथा वृत्तिभाग दोनोंका निर्माता मानते हैं। स्वयं आनन्दवर्धनाचार्यने भी—

'इति काव्यार्थविवेको योऽयं चेतश्चमत्कृतिविधायी।
सूरिभिरनुसृतसारैरस्मदुपज्ञो न विस्मार्यः॥'

लिखकर ध्वनितत्त्वको 'अस्मदुपज्ञ' कहा है। अर्थात् स्वयं अपने आपको ही ध्वनिसिद्धान्तका प्रतिष्ठापक बतलाया है। अतः कारिकाभाग तथा वृत्तिभाग दोनोंका निर्माता आनन्दवर्धनाचार्यको ही मानना उचित है। नवीन विद्वानोंकी शङ्काएँ उचित नहीं हैं।

आनन्दवर्धनाचार्यके 'ध्वन्यालोक'पर दो टीकाओंका पता चलता है। इनमेंसे एक अभिनवगुप्ताचार्य द्वारा विरचित 'लोचन' टीका उपलब्ध होती है। दूसरी टीका 'चन्द्रिका' नामकी थी। यह टीका 'लोचन'से पहले लिखी गयी थी और उसके निर्माता अभिनवगुप्तके कोई पूर्वज ही थे। अभिनवगुप्तने 'लोचन'में जगह-जगह उसका खण्डन किया है। एक जगह खण्डन करते हुए लिखा है—

'चन्द्रिकाकारस्तु पठितमनुपठतीति न्यायेन गजनिमीलिकया व्याचचक्षे। इत्यलं पूर्ववंश्यैः सह विवादेन बहुना।' —लोचन, पृ० १८५

'चन्द्रिका' टीकाके होनेपर भी आनन्दवर्धनने जो 'लोचन' टीका लिखी है इसका कारण दिखलाते हुए लोचनकारने लिखा है—

'किं लोचनं विनालोको भाति चन्द्रिकयापि हि।
अतोऽभिनवगुप्तोऽत्र लोचनोन्मीलनं व्यधात्॥'

इसमें प्रकारान्तरसे ग्रन्थकारने 'लोचन'की विशेषता सूचित की है।

तीन ग्रन्थोंका रचनाकाल कश्मीरके प्रसिद्ध सप्तर्षिसंवत्सर और उसके साथ कलिसंवत्सरका सम्बन्ध दिखलाते हुए दिया है। उसके अनुसार 'क्रमस्तोत्र'की रचना ९९० ई० में, 'भैरवस्तोत्र'की रचना ९९२ ई० में और 'विवृतिविमर्शिनी'की रचना १०१४ ई० में की गयी है। 'विवृतिविमर्शिनी'में उसके रचनाकालका निर्देश अभिनवगुप्तने इस प्रकार किया है—

'इति नवतितमेऽस्मिन् वत्सरान्त्ये युगांशे
तिथिशशिजलधिस्थे मार्गशीर्षावसाने।
जगति विहितबोधामीश्वरप्रत्यभिज्ञां
व्यवृणुत परिपूर्णां प्रेरितः शम्भुपादैः॥'

'अन्त्ये युगांशे' अर्थात् कलियुगके तिथि अर्थात् १४ 'शशि' अर्थात् १ और 'जलधि' अर्थात् ४, 'अङ्कानां वामतो गतिः' इस सिद्धान्तके अनुसार ४११४ कलि-संवत्सरमें जब कि कश्मीरका प्रसिद्ध 'सप्तर्षिसंवत्सर'का 'नवतितमेऽस्मिन्' ९० संवत् अर्थात् ४०९० 'सप्तर्षिसंवत्'में मार्गशीर्ष-के अन्तमें इस ग्रन्थकी रचना हुई। इस कलिसंवत्सर और सप्तर्षिसंवत्सरको जब हम ईसवी सन्में लाते हैं तब यह मालूम होता है कि १०१४ ईसवी सन्में 'विवृतिविमर्शिनी'की रचना हुई। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि अभिनवगुप्तका काल दशम शताब्दीका अन्तिम भाग तथा ग्यारहवीं शताब्दीके प्रारम्भमें था।

अभिनवगुप्तका पूरा नाम 'अभिनवगुप्तपाद' है। 'काव्यप्रकाश'के टीकाकार वामनका कहना है कि यह नाम बादको उनके गुरुओंने उनकी अपने सहाध्यायी बालकोंको सताने और डरानेकी प्रवृत्तिके कारण दिया था। 'गुप्तपाद'का अर्थ है 'सर्प'। यह अपने साथियोंके लिए सर्पके समान त्रासदायक थे इसलिए गुरुओंने इनका 'अभिनव-गुप्तपाद' नाम रख दिया। इसके बाद इन्होंने अपने लिए गुरुप्रदत्त इसी नामका व्यवहार आरम्भ कर दिया। इन्होंने 'तन्त्रालोक' (१-५०)में स्वयं भी लिखा है—

'अभिनवगुप्तस्य कृतिः सेयं यस्योदिता गुरुभिराख्या।'

अभिनवगुप्तको विद्याध्ययनका बड़ा व्यसन था। इनके समयमें कश्मीरमें और कश्मीरके आस-पास जितने प्रसिद्ध विद्वान् थे उन सबके पास जाकर इन्होंने विद्याका अध्ययन किया था। जिस शास्त्रके विशेषज्ञके रूपमें जिस विद्वान्की उस समय प्रसिद्धि थी उस शास्त्रका अध्ययन इन्होंने उसी विशिष्ट विद्वान्के पास जाकर किया था। इसलिए इनके भिन्न-भिन्न शास्त्रोंके भिन्न-भिन्न गुरु थे, जिनकी सूची निम्नलिखित प्रकार है—

१. नरसिंहगुप्त (अभिनवगुप्तके पिता)	व्याकरणशास्त्रके गुरु
२. वामनाथ	द्वैताद्वैततन्त्रके गुरु
३ भूतिराजतनय	द्वैतवादी शैवसम्प्रदायके गुरु
४. लक्ष्मणगुप्त	प्रत्यभिज्ञा, क्रम तथा त्रिक् दर्शनके गुरु
५ भट्ट एन्दुराज	ध्वनिसिद्धान्तके गुरु
६ भूतिराज	ब्रह्मविद्याके गुरु
७. भट्ट तौत	नाट्यशास्त्रके गुरु

इन सात गुरुओंका तो अभिनवगुप्तने शास्त्रके सहित उल्लेख किया है। इनके अतिरिक्त अपने १२ अन्य गुरुओंका उल्लेख भी एक श्लोकमें इस प्रकार किया है—

[illegible] प्रारम्भमें वे साहित्यके सरस विषयके अध्ययनमें लगे थे, किन्तु बादमें [illegible] ने पूर्णतया शिवभक्ति और दार्शनिक विषयोंके अध्ययनमें लग गये—

'[illegible] गम्भक्त्या स्वयंग्रहणदुर्मदया गृहीतः।
न [illegible] न लोकवर्तनीमजीगणत् कामपि केवलं पुनः॥
तदीयसम्भोगविवृद्धये पुरा करोति दास्यं गुरुवेश्मसु स्वयम्।'

उन्होंने विवाह भी नहीं किया। जीवनभर ब्रह्मचर्यके कठोर व्रतका पालन किया। उनके जीवनका पर्यवसान भी उनकी इस जीवनचर्याके अनुरूप ही सुन्दररूपमें हुआ है। कश्मीरमें श्रीनगर तथा गुलमर्गके बीचमें 'मगम' नामका एक स्थान है। इस स्थानसे पाँच मीलकी दूरीपर 'भैरव-गुफा'के नामसे एक प्रसिद्ध गुफा है। उसके पास ही 'भैरव' नामकी एक छोटी-सी नदी भी बहती है। इसके पास एक छोटा-सा गाँव है, वह भी 'भैरव गाँव'के नामसे प्रसिद्ध है। अभिनवगुप्तने अपने जीवनका अन्तिम भाग इसी पवित्र वातावरणमें व्यतीत किया। अन्तिम समय समीप आनेपर वे स्वयं इस गुफाके भीतर प्रविष्ट हो गये और फिर कभी वापस नहीं लौटे। उनकी इस अन्तिम दीर्घ यात्राके समय कहते हैं कि उनके बारह सौ शिष्य उनको विदाई देनेके लिए उनके साथ थे।

१०. राजशेखर

दशम शताब्दीके आरम्भमें प्रसिद्ध नाटककार तथा काव्यशास्त्रके सूक्ष्म विवेचक राजशेखर-का नाम उल्लेख योग्य है। अबतक हमने साहित्यशास्त्रके जिन आचार्योंका परिचय दिया है उनमें एक दण्डीको छोड़कर शेष सभी आचार्य कश्मीरी थे। दण्डीके बाद यह दूसरे आचार्य हैं जो कश्मीरके बाहरके हैं। राजशेखर विदर्भवासी हैं। किन्तु इनका कार्यक्षेत्र विदर्भमें न होकर कन्नौजमें रहा। कन्नौजके प्रतीहारवंशीय राजा महेन्द्रपाल और महिपाल इनके शिष्य थे। 'बालरामायण' नाटकमें अपने इन शिष्योंकी प्रशंसा करते हुए राजशेखरने लिखा है—

'आपन्नार्तिहरः पराक्रमधनः सौजन्यवारांनिधिः
त्यागी सत्यसुधाप्रवाहशशभृत् कान्तः कवीनां गुरुः।
वर्ण्यं वा गुणरत्नरोहणगिरेः किं तस्य साक्षादसौ
देवो यस्य महेन्द्रपालनृपतिः शिष्यो रघुग्रामणीः॥'

—बा० रा० १-१८

राजशेखर अपनेको 'यायावरीय' लिखते हैं। इसका अर्थ यह है कि वे 'यायावर' वंशमें उत्पन्न हुए थे। वे महाराष्ट्रके प्रसिद्ध कवि 'अकालजलद'के पौत्र थे। उनके पिताका नाम 'दुर्दुक' और माताका नाम 'शीलवती' था। 'यायावर' वंशमें इनके पितामह अकालजलद और उनके अतिरिक्त सुरानन्द, तरल आदि अनेक कविराज हो चुके हैं। इसलिए इनमें कवित्व तथा शास्त्रीय प्रतिभा वंशपरम्परागत थी। सौभाग्यसे पत्नी भी इनको बड़ी विदुषी और कवित्व-प्रतिभाशालिनी प्राप्त हुई थी। उसका नाम 'अवन्तिसुन्दरी' था। राजशेखरने अपनी 'काव्यमीमांसा'-में कई स्थानोंपर 'इति अवन्तिसुन्दरी' लिखकर उसके साहित्यविषयक मतोंका उल्लेख किया है। इससे उसके पाण्डित्यका परिचय मिलता है। यह अवन्तिसुन्दरी चौहान-वंशमें उत्पन्न हुई थी। अपने 'कर्पूरमञ्जरी सट्टक'में राजशेखरने अपनी पत्नीका परिचय निम्नलिखित प्रकार दिया है—

'चाहुमानकुलमौलिमालिका राजशेखरकवीन्द्रगेहिनी।
भर्तुः कृतिमवन्तिसुन्दरी या प्रयोक्तुमेवमिच्छति॥

—कर्पूरमञ्जरी (संस्कृत) १-११

राजशेखरके ग्रन्थ

राजशेखर मुख्यरूपसे कवि और नाटककार हैं। उन्होंने चार नाटकोंकी रचना की है—१. 'बालरामायण', २. 'बालभारत', ३. 'विद्धशालभञ्जिका' और ४. कर्पूरमञ्जरी'। 'कर्पूरमञ्जरी' संस्कृत भाषामें न लिखकर प्राकृतभाषामें लिखा गया 'सट्टक' है। इनका पाँचवाँ ग्रन्थ 'काव्यमीमांसा' है। यह ग्रन्थ साहित्यसमीक्षासे सम्बन्ध रखता है। इसी ग्रन्थके कारण अलङ्कारशास्त्रके इतिहासमें इनको गौरवमय स्थान प्राप्त हुआ है। अबतक हम साहित्यशास्त्रके ग्रन्थोंकी जो रूप-रेखा देखते आये हैं, राजशेखरकी 'काव्यमीमांसा'की रूपरेखा उन सबसे एकदम विलक्षण है। इसमें अठारह अध्याय हैं। प्रथम अध्यायका नाम 'शास्त्रसंग्रह' है। इसमें बतलाया गया है कि 'काव्यमीमांसा'की शिक्षा शिवने ब्रह्मा आदिको किस प्रकार प्रदान की और फिर ब्रह्मासे शिष्यपरम्परा द्वारा इसके १८ विषयोंको १८ लेखकोंने १८ ग्रन्थोंमें अलग-अलग लिखा और उन सबको यायावरवंशोद्भव राजशेखरने एक ही ग्रन्थमें २८ अध्यायोंमें किस प्रकार संक्षेपमें दे दिया है। इसलिए इस अध्यायका नाम 'शास्त्रसंग्रह' अध्याय रखा है। दूसरे अध्यायका नाम 'शास्त्रनिर्देश' है। इसमें वाङ्मयको दो भागोंमें विभक्त किया है—एक 'शास्त्र' और दूसरा 'काव्य'। 'शास्त्र'को फिर अपौरुषेय तथा पौरुषेयरूपसे दो भागोंमें विभक्त किया है। ४ वेद, ४ उपवेद और ६ वेदाङ्ग ये अपौरुषेय शास्त्रके वर्गमें आते हैं। राजशेखरने अपना मत दिया है कि ६ वेदाङ्गोंके साथ अलङ्कारको भी सातवाँ वेदाङ्ग मानना चाहिये। पौरुषेय शास्त्रमें पुराण, आन्वीक्षिकी, पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा, १८ स्मृति, १४ या १८ प्रकारकी जो विद्याएँ मानी जाती हैं उन सबका समावेश होता है।

तीसरे अध्यायका नाम 'काव्यपुरुषोत्पत्ति' है। इसमें सरस्वतीसे 'काव्यपुरुष'की उत्पत्तिका वर्णन किया गया है। उस काव्यपुरुषके स्वरूपका वर्णन करते हुए लिखा है—'शब्दार्थौ ते शरीरम्, संस्कृतं मुखम्, प्राकृतं बाहुः, जघनमपभ्रंशः, पैशाचं पादौ, उरो मिश्रम्, समः प्रसन्नो मधुर उदार ओजस्वी चासि। उक्तिचणं च ते वचो, रस आत्मा, रोमाणि छन्दांसि, प्रश्नोत्तरप्रवह्लिकादिकं च वाक्केलिः, अनुप्रासोपमादयश्च त्वामलङ्कुर्वन्ति।' साहित्यविद्यावधूके साथ 'वत्सगुल्म' नगरमें इस काव्यपुरुषके विवाहका वर्णन भी किया है।

चौथे अध्यायका नाम 'पदवाक्यविवेक' है। इसमें कवि बननेके लिए किन-किन बातोंकी आवश्यकता है इस बातका वर्णन विशेषरूपसे किया गया है। इसमें राजशेखरने कहा है कि [illegible] हेतु है। उसीसे प्रतिभा तथा व्युत्पत्ति आती है [illegible] आवश्यकता होती है।

[illegible] —[illegible], ६ [illegible], [illegible], १० [illegible]। [illegible] ११— [illegible] और [illegible] है।

इस विषयसूचीके देखनेसे विदित होता है कि 'काव्यमीमांसा' अपने पूर्ववर्ती अलङ्कार-ग्रन्थोंसे एकदम विलक्षण ग्रन्थ है। यह कविके लिए उपयोगी जानकारी देनेवाला एक विश्वकोश-सा प्रतीत होता है। इसलिए राजशेखर एक स्वतन्त्र 'कविशिक्षासम्प्रदाय'के प्रवर्तक माने जा सकते हैं। राजशेखरके बाद क्षेमेन्द्र, अरिसिंह, अमरचन्द्र तथा देवेश्वर आदिने भी इसी प्रकार 'कविशिक्षा'के विषयमें ग्रन्थोंकी रचना की है। इसलिए साहित्यशास्त्र, रससम्प्रदाय, ध्वनिसम्प्रदाय, अलङ्कार-सम्प्रदाय आदि प्रसिद्ध सम्प्रदायोंसे भिन्न यह 'कविशिक्षासम्प्रदाय' अलग ही माना जाना चाहिये।

११. मुकुलभट्ट

उद्भटके टीकाकार प्रतीहारेन्दुराजके वर्णनके प्रसङ्गमें हम देख चुके हैं कि प्रतीहारेन्दुराजने मुकुलभट्टको अपना गुरु माना है। इसलिए मुकुलभट्टका समय नवम शताब्दीमें पड़ता है। यों मुकुलभट्टने ग्रन्थोंके अन्तमें 'भट्टकल्लटपुत्रेण मुकुलेन निरूपिता' लिखकर अपनेको भट्टकल्लटका पुत्र बतलाया है। 'राजतरङ्गिणी'में भट्टकल्लटको अवन्तिवर्माका समकालीन कहा गया है—

'अनुग्रहाय लोकानां भट्टाः श्रीकल्लटादयः ।
अवन्तिवर्मणः काले सिद्धा भुवमवातरन् ॥' ५-६६।

अवन्तिवर्माका समय, जैसा कि पहिले कहा जा चुका है, ८५५–८८४ ई० तक माना जाता है। इन्हीं अवन्तिवर्माके राज्यकालमें आनन्दवर्धन भी हुए। इसलिए मुकुलभट्टके पिता आनन्द-वर्धनके समकालीन रहे होंगे। मुकुलभट्टने अपने ग्रन्थमें आनन्दवर्धन, उद्भट, विज्जिका आदिका उल्लेख किया है। इनके शिष्य प्रतीहारेन्दुराजने इनका जो परिचय दिया है उसके अनुसार मुकुल-भट्ट मीमांसाशास्त्रके एक प्रकाण्ड विद्वान् थे। उसके साथ ही व्याकरण, तर्क और साहित्यशास्त्र-पर भी उनका पूर्ण अधिकार था। इनका एकमात्र ग्रन्थ है 'अभिधावृत्तिमातृका'। यह बहुत छोटा-सा ग्रन्थ है। इसमें केवल १५ कारिकाएँ हैं। इन कारिकाओंकी वृत्ति भी स्वयं मुकुलभट्टने ही लिखी है। यह ग्रन्थ एक तरहसे ध्वनिसिद्धान्त तथा व्यञ्जनावृत्तिका विरोधी है। व्यञ्जनावादी आचार्य अभिधा, लक्षणा तथा व्यञ्जना, तीन प्रकारकी वृत्ति मानते हैं। मीमांसक व्यञ्जनावृत्तिको नहीं मानते हैं। इसलिए मुकुलभट्टने इस ग्रन्थमें व्यञ्जना तो दूर रही, लक्षणाको भी अलग वृत्ति न मानकर अभिधाका ही एक भेद माना है और 'इत्येतदभिधावृत्तं दशधात्र विवेचितम्' लिखकर अभिधाके दस प्रकारके व्यापारके अन्तर्गत ही लक्षणाका भी समावेश कर दिया है। इनका ग्रन्थ छोटा होनेपर भी तनिक क्लिष्ट है। मम्मटने 'काव्यप्रकाश'में जो अभिधा, लक्षणा आदि वृत्तियों-का निरूपण किया है वह इस 'अभिधावृत्तिमातृका'के आधारपर ही किया है। मम्मटने इसके आधारपर 'शब्दव्यापार-विचार' नामक एक छोटा-सा अलग ग्रन्थ भी लिखा है। उसीके आधार-पर 'काव्यप्रकाश'में अभिधादि वृत्तियोंका विवेचन किया गया है। अतएव इस विषयकी 'काव्य-प्रकाश'की पंक्तियोंके रहस्यको ठीक तरहसे हृदयङ्गम करनेके लिए मुकुलभट्टके ग्रन्थका परिशीलन उपयोगी तथा आवश्यक है।

१२. धनञ्जय

धनञ्जय दशम शताब्दीके एक महान् साहित्यिक हैं। किन्तु इनका सम्बन्ध मुख्यतः अलङ्कारशास्त्रसे न होकर नाट्यशास्त्रसे है। इनका एकमात्र ग्रन्थ 'दशरूपक' है। भरतमुनिके 'नाट्यशास्त्र'के बाद इस विषयपर यह सबसे अधिक प्रसिद्ध एवं महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। अन्तर

'नाट्यशास्त्र' एक विश्वकोश है। उसमें जितना वर्णन नाट्यके मुख्य विषयोंका है उससे कहीं अधिक विस्तृत वर्णन उससे सम्बद्ध अन्य विषयोंका है। नाट्यके पारिभाषिक शब्दों और विशेष विषयोंका यदि कोई मूल 'नाट्यशास्त्र'से अध्ययन करना चाहे तो उसे बड़ी कठिनाई होगी। इसलिए धनञ्जयने 'नाट्यशास्त्र'के आधारपर नाटकके भेदोपभेद सहित इस प्रकारके रूपकोंसे सम्बन्ध रखनेवाली सारी बातोंका संग्रह करके इस सरल ग्रन्थका निर्माण कर दिया है। इससे नाटक सम्बन्धी सारी बातें बड़ी सरलतासे समझमें आ जाती हैं। इसीलिए इस ग्रन्थका विद्वानोंमें बड़ा आदर हुआ और पठन-पाठनमें सर्वत्र प्रचार होनेसे इसकी बड़ी ख्याति हुई।

'दशरूपक' ग्रन्थ कारिकारूपमें लिखा गया है। इसमें लगभग ३०० कारिकाएँ हैं। ग्रन्थ चार प्रकाशोंमें विभक्त है। प्रथम प्रकाशमें ग्रन्थके प्रयोजन आदिको दिखलाते हुए ग्रन्थकारने नाट्यानां किन्तु किञ्चित् प्रगुणरचनया लक्षणं संक्षिपामि', नाटकोंके लक्षण आदिको संक्षिप्त रूपमें प्रस्तुत करना इस ग्रन्थका प्रयोजन बतलाया है। उसके बाद नाटकोंकी पञ्चसन्धियों, अर्थोपक्षेपकों आदिके लक्षण और आख्यानवस्तुके भेद आदिका वर्णन किया गया है। द्वितीय प्रकाशमें नायक-नायिकाभेद तथा कैशिकी आदि वृत्तियोंके भेदोंका वर्णन किया गया है। तृतीय प्रकाशमें नाटकके लक्षण, प्रस्तावना, अङ्कसंविधान, कथाभागके औचित्यानुसार परिवर्तन, नाटकके प्रधान रस, पात्रोंकी संख्या, प्रवेश और निर्गमके नियम आदिका वर्णन किया गया है। चतुर्थ प्रकाश मुख्यतः रसोंसे सम्बन्ध रखता है। इसमें स्थायिभाव, व्यभिचारिभाव आदि सामग्रीका विवेचन, रसनिष्पत्ति [illegible] होती है, रसास्वादनके प्रकार, नाट्यमें शान्तरसकी अनुपयोगिता, अन्य रसोंकी स्थिति आदि [illegible] समस्त विषयोंका विवेचन किया गया है।

इसके अन्तमें अपना परिचय देते हुए धनञ्जयने लिखा है—

'विष्णोः सुतेनापि धनञ्जयेन विद्वन्मनोरागनिबन्धहेतुः।
आविष्कृतं मुञ्जमहीशगोष्ठीवैदग्ध्यभाजा दशरूपमेतत्॥'

इससे [illegible] होता है कि धनञ्जयके पिताका नाम 'विष्णु' था। इन्होंने मालवाके परमार-[illegible] मुञ्ज, जिन्हें '[illegible] द्वितीय' भी कहा जाता है, की राजसभामें रहनेका सौभाग्य [illegible] इस ग्रन्थकी रचना की थी। मुञ्जका राज्यकाल ९७४–९९४ ई० [illegible] काल है। रसनिष्पत्तिके विषयमें धनञ्जय [illegible] का खण्डन किया है। धनञ्जयके 'दशरूपक'पर उनके छोटे भाई [illegible] लिखी है। यह टीका बड़ी विद्वत्तापूर्ण है। धनिकके अतिरिक्त [illegible] मिश्रने भी दशरूपकके ऊपर टीकाएँ लिखी हैं। [illegible] हैं। ये सारी टीकाएँ हस्तलिखितरूपमें उपल[illegible] [illegible] हुई हैं।

११. [illegible]

[illegible]

सिद्धान्तोंका खण्डन 'ध्वन्यालोक'के टीकाकार अभिनवगुप्तने किया है। इसलिए ये अभिनवगुप्तके पहिले हुए हैं। इस प्रकार उनका समय आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्तके बीच दशम शताब्दीमें पड़ता है। उनका ग्रन्थ 'हृदयदर्पण' आज उपलब्ध नहीं हो रहा है। किन्तु इस ग्रन्थकी अनुपलब्धि आजकी नहीं, बहुत पुरानी जान पड़ती है। भट्टनायकके कुछ समय बाद ही ग्यारहवीं शताब्दीमें दूसरे ध्वनिविरोधी आचार्य महिमभट्ट हुए हैं। भट्टनायकके समान उन्होंने भी 'ध्वन्यालोक' के खण्डनमें अपना 'व्यक्तिविवेक' नामक ग्रन्थ लिखा है। इस ग्रन्थके लिखते समय उन्होंने भट्टनायकके 'हृदयदर्पण'को देखना चाहा जिससे कि वे अपने ग्रन्थको और अधिक उत्कृष्ट बना सकें, किन्तु उस समय भी उनको यह ग्रन्थ देखनेको नहीं मिल सका। इस बातका उल्लेख उन्होंने 'व्यक्तिविवेक'में बड़े सुन्दररूपमें करते हुए लिखा है—

'सहसा यशोऽभिसर्तुं समुद्यताऽदृष्टदर्पणा मम धीः।
स्वालङ्कारविकल्पप्रकल्पने वेत्ति कथमिवावद्यम्॥'

श्लोकमें श्लेषालङ्कार है। कविने अपनी बुद्धिको नायिका बनाया है। वह अलङ्कार सजाने जा रही है ताकि उसे सौन्दर्यका यश प्राप्त हो सके। किन्तु जल्दीबाजीमें बिना दर्पण देखे ही अपनी अलङ्कारसज्जामें लग गयी है। तो वह बिचारी बिना दर्पणके यह कैसे समझ सकेगी कि मेरे अलङ्कारमें कोई दोष तो नहीं रह गया है। इसके द्वारा ग्रन्थकार यह कहना चाहते हैं कि मैं अलङ्कारशास्त्रपर ध्वनिविरोधी ग्रन्थ तो लिखने जा रहा हूँ, किन्तु मैंने भट्टनायकके 'हृदयदर्पण' ग्रन्थका अबतक अवलोकन नहीं किया है, अब मुझे यह कैसे ज्ञात होगा कि मेरे ग्रन्थमें क्या कमी रह गयी है।

इस प्रकार चाहे उसी समय लुप्त हो जानेके कारण या फिर चाहे किसी अन्य कारणसे ११ वीं शताब्दीमें ही महिमभट्टको भट्टनायकका 'हृदयदर्पण' ग्रन्थ देखनेका अवसर नहीं मिल सका।

इस ग्रन्थके उत्तरवर्ती साहित्यमें विशेष ख्याति प्राप्त करनेके दो कारण हैं, एक ध्वनिविरोध और दूसरा रसनिष्पत्तिविषयक सिद्धान्त। ये दोनों सिद्धान्त बड़े महत्त्वपूर्ण हैं और इन दोनोंके विषयमें भट्टनायकने एकदम नवीन दृष्टिकोण उपस्थित किया था। इसलिए उसे आलोचनाका सामना करना ही पड़ा। भट्टनायकके बाद ही अभिनवगुप्तका काल आ जाता है और अभिनवगुप्तको ध्वन्यालोकपर 'लोचन' लिखते समय तथा 'नाट्यशास्त्र'पर 'अभिनवभारती' लिखते समय भट्टनायकके ध्वनिविरोधी तथा रसनिष्पत्तिविषयक दोनों सिद्धान्तोंकी आलोचना करनी पड़ी है। इसलिए भट्टनायकके सबसे बड़े विरोधी अभिनवगुप्त हैं। उन्होंने भट्टनायकपर बड़े कड़े प्रहार किये हैं।

भट्टनायकने ध्वनिसिद्धान्तका खण्डन किया है, किन्तु रसकी स्थिति तो वे मानते ही हैं। वह भी ध्वनिके अन्तर्गत आता है। इसलिए भट्टनायकके ध्वनिविरोधका उपहास करते हुए अभिनवगुप्तने 'लोचन' में (पृ० २० पर) लिखा है—

'वस्तुध्वनिं दूषयता रसध्वनिस्तदनुग्राहकः समर्थ्यत इति सुष्ठुतरां ध्वनिध्वंसोऽयम्।'

भट्टनायक मीमांसक थे। मीमांसक वेदको ही परमप्रमाण मानते हैं। वेदको 'काव्यप्रकाश' आदिमें 'प्रभु-शब्द' कहा है, अर्थात् वेद राजाज्ञाके समान है। राजाज्ञामें व्यञ्जनाका अवसर नहीं होता है। उसमें अभिधासे जो सीधा अर्थ निकलता है उसीको ग्रहण किया जाता है। इसलिए मीमांसकके यहाँ व्यञ्जनाका कोई महत्त्व नहीं है। 'ध्वन्यालोक'में अत्यन्ततिरस्कृत वाच्यध्वनिके

उदाहरणरूपमें 'निःश्वासान्ध इवादर्शश्चन्द्रमा न प्रकाशते' यह प्रसिद्ध श्लोक दिया गया है। इसमें दर्पणके लिए 'अन्ध' विशेषणका प्रयोग किया गया है। किन्तु नेत्रहीनत्वरूप अन्धत्व तो दर्पणमें बन नहीं सकता है। इसलिए 'अन्ध' शब्द अप्रकाशातिशयत्वको सूचित करनेवाला होनेसे इसको अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनिका उदाहरण ध्वनिकारने माना है। भट्टनायकने इसका खण्डन करके इस श्लोकको व्याख्या कुछ अन्य प्रकारसे की है। भट्टनायककी उस व्याख्याका उपहास करते हुए अभिनवगुप्तने 'लोचन' (पृ० ६३ पर) लिखा है—'जैमिनिसूत्रे ह्येवं योज्यते न काव्येऽपि', इस प्रकारकी अर्थयोजना आपके मीमांसादर्शनमें ही होती होगी काव्यमें नहीं, अर्थात् तुम काव्यकी योजनाका प्रकार नहीं समझते हो। इसी प्रकार 'ध्वन्यालोक'के प्रथम उद्योतकी १३वीं कारिकामें आये हुए 'व्यंक्तः काव्यविशेषम्'में 'व्यंक्त.' पदमें द्विवचनका खण्डन भट्टनायकने किया था। इसकी आलोचना करते हुए अभिनवगुप्तने 'तेन भट्टनायकेन द्विवचनं दूषितं तद् गजनिमीलिकयैव' उसे गजनिमीलिका या प्रमाद कहकर उसका उपहास किया है।

रसनिष्पत्तिके विषयमें भी भट्टनायकका अपना अलग सिद्धान्त है। उनके सिद्धान्तका उल्लेख 'काव्यप्रकाश'मे किया गया है। उन्होंने शब्दमें अभिधाव्यापार, भावकत्वव्यापार तथा भोजकत्वव्यापार तीन प्रकारके व्यापार माने है। अभिधाव्यापारके द्वारा काव्यका सामान्य अर्थ उपस्थित होता है। भावकत्वव्यापार सीता-राम आदिके विशेष स्वरूपका अपहरण कर उनका साधरणीकरण करता है और भोजकत्वव्यापार सामाजिकको रसकी अनुभूति कराता है। जयरथने 'अलङ्कारसर्वस्व'की टीकामें (पृ० ९ पर) तथा हेमचन्द्रने 'काव्यानुशासनविवेक'मे (पृ० ६१ पर) भट्टनायकके इस विषयके प्रतिपादक श्लोकोको निम्नलिखितरूपमे उद्धृत किया है—

'अभिधा भावना चान्या तद्भोगीकृतिरेव च।
अभिधाधामतां याते शब्दार्थालङ्कृती ततः॥
भावनाभाव्य एषोऽपि श्रृङ्गारादिगणो मतः।
तद्भोगीकृतिरूपेण व्याप्यते सिद्धिमान्नरः॥'

इनका अभिप्राय 'अलङ्कारसर्वस्व'की टीकामे (पृ० ९ पर) निम्नलिखित प्रकार दिया गया है—

'भट्टनायकेन तु व्यङ्ग्यव्यापारस्यैव प्रौढोक्त्याऽभ्युपगतस्य काव्यांशत्वं ब्रुवता न्यग्भावितशब्दार्थस्वरूपस्य व्यापारस्यैव प्राधान्यमुक्तम्। तत्रापि अभिधाभावकत्वलक्षणव्यापारद्वयोत्तीर्णो रसचर्वणात्मा भोगापरपर्यायो व्यापार. प्राधान्येन विश्रान्तिस्थानतयाऽङ्गीकृत।'

१४. कुन्तक

कुन्तक साहित्यशास्त्रके एक प्रमुख आचार्य है। ये साहित्यके परम मान्य वक्रोक्तिसम्प्रदायके संस्थापक माने जाते है। उनका समय आनन्दवर्धनके बाद राजशेखर तथा महिमभट्टके बीचमें पड़ता है। उन्होंने 'वक्रोक्तिजीवित'मे (पृ० १९६ पर) 'यस्मादत्र ध्वनिकारेण व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावोऽत्र सुतरां समर्थितस्तत् किं पौनरुक्त्येन' लिखकर ध्वनिकार तथा (पृ० १५६ पर) 'भवभूतिराजशेखरविरचितेषु बन्धसौन्दर्यसुभगेषु मुक्तकेषु परिदृश्यते' लिखकर राजशेखर उल्लेख किया है। इससे प्रतीत होता है कि वे आनन्दवर्धन और राजशेखरके भी बाद हुए है। इधर व्यक्तिविवेककार महिमभट्टने—

'काव्यकाञ्चनकषाश्ममानिना कुन्तकेन निजकाव्यलक्ष्मणि।
यस्य सर्वनिरवद्यतोदिता श्लोक एष स निदर्शितो मया॥'

—व्यक्तिविवेक, पृ० ५८

इस श्लोकमें स्पष्टरूपसे कुन्तकके नामका उल्लेख किया है इसलिए यह निश्चय है कि कुन्तक महिमभट्टके पूर्ववर्ती हैं। राजशेखरका काल उनके शिष्य कन्नौजके राजा महेन्द्रपाल तथा उनके पुत्र महिपालके कालके आधारपर दशम शताब्दीका प्रारम्भिक भाग निर्धारित किया जाता है और महिमभट्टका काल ग्यारहवीं शताब्दीके पहिले ही मानना होगा, क्योंकि ग्यारहवीं शताब्दीमें अलङ्कारसर्वस्वकार रुय्यकने महिमभट्टके मतका उल्लेख किया है। इसलिए महिमभट्टके पूर्ववर्ती होनेके कारण कुन्तकका काल दशम शताब्दीका अन्तिम भाग मानना होगा। राजशेखर, कुन्तक और महिमभट्ट ये सब थोड़े-थोड़े अन्तरसे ही पूर्व-पश्चाद्वर्ती हैं, वैसे ये सब दशम शताब्दीके ही साहित्यिक महापुरुष हैं।

कुन्तकका एकमात्र ग्रन्थ 'वक्रोक्तिजीवित' है। किन्तु उस एक ही ग्रन्थने कुन्तकके नामको अमर कर दिया है। महिमभट्टके अतिरिक्त गोपालभट्टने 'साहित्यसौदामिनी' नामक ग्रन्थके आरम्भमें कुन्तककी प्रशंसा करते हुए लिखा है—

'वक्रानुरञ्जिनीमुक्तिं शुक इव मुखे वहन्।
कुन्तकः क्रीडति सुखं कीर्तिस्फटिकपञ्जरे॥

'ध्वन्यालोक' आदि ग्रन्थोंके समान 'वक्रोक्तिजीवित'में भी कारिका, वृत्ति और उदाहरण, तीन भाग हैं। कारिका और वृत्ति दोनोंके लेखक कुन्तक ही हैं। उदाहरण प्रसिद्ध काव्यग्रन्थोंसे लिये गये हैं। ग्रन्थ चार उन्मेषोंमें विभक्त किया गया है। प्रथम उन्मेषमें काव्यके प्रयोजन, लक्षण तथा प्रतिपाद्य विषय षड्विधवक्रताका सामान्य उल्लेख किया गया है। द्वितीय उन्मेषमें षड्विधवक्रतामेंसे १. वर्णविन्यासवक्रता, २. पदपूर्वार्द्धवक्रता तथा ३. प्रत्ययवक्रता इन तीन प्रकारकी वक्रताओंका प्रतिपादन किया गया है। तृतीय उन्मेषमें वाक्यवक्रताका विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है। उसीके भीतर अलङ्कारोंका अन्तर्भाव हो जाता है। चतुर्थ उन्मेषमें वक्रोक्तिके अन्तिम दो भेदों अर्थात् प्रकरणवक्रता तथा प्रबन्धवक्रताका निरूपण किया गया है।

कुन्तक अभिधावादी आचार्य हैं। वैसे वे लक्ष्य-व्यङ्ग्य अर्थ भी मानते हैं, किन्तु उनका अन्तर्भाव वाच्यमें ही कर लेते हैं—'यस्मादर्थप्रतीतिकारित्वात् उपचारात् तावपि वाचकावेव। एवं द्योत्यव्यङ्ग्ययोरर्थयो प्रत्येयत्वसामान्यदुपचारात् वाच्यत्वमेव' (का० १–८ का०) और उस वाचकत्वका अर्थ 'कविविवक्षितविशेषाभिधानक्षमत्वमेव वाचकत्वलक्षणम्' किया है।

१५. महिमभट्ट

कुन्तकके बाद महिमभट्टका स्थान आता है। इनका उल्लेख ग्यारहवीं शताब्दीमें होनेवाले अलङ्कारसर्वस्वकार रुय्यकने किया है और इन्होंने वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तकका उल्लेख किया है। इसलिए कुन्तक तथा रुय्यकके बीचमें महिमभट्टका समय दशम शताब्दीका अन्तिम भाग पड़ता है। महिमभट्ट भी ध्वनिविरोधी आचार्य हैं। आनन्दवर्धनाचार्य और अभिनवगुप्तने ध्वनिको काव्यका आत्मा सिद्ध करनेका जैसा प्रबल प्रयत्न किया है उतना ही अधिक उस सिद्धान्तका उग्र विरोध भी साहित्यशास्त्रमें हुआ है। अभिनवगुप्तके बाद मुकुलभट्ट, धनञ्जय, भट्टनायक, कुन्तक और महिमभट्ट आदि सभी आचार्य ध्वनिके विरोधी हैं। किसीने उग्र विरोध किया है, किसीने हलका। किन्तु इनमेंसे कोई भी ध्वनिको काव्यका आत्मा माननेको तैयार नहीं है। इन विरोधियोंको उनकी शास्त्रीय मान्यताके आधारपर तीन भागोंमें विभक्त किया जा सकता है। मुकुलभट्ट तथा भट्टनायक ये दोनों मीमांसक हैं। मीमांसा अभिधाप्रधान शास्त्र है, उसमें व्यञ्जना और ध्वनिका कोई

स्थान नहीं हो सकता है इसलिए इन दोषोंने अपनी शास्त्रीय मान्यताके अनुसार व्यञ्जना और ध्वनिसिद्धान्तका खण्डन किया है। कुन्तक साहित्यिक आचार्य हैं। उन्होंने शुद्ध साहित्यिक दृष्टिसे ध्वनिको काव्यका आत्मा माननेसे निषेध कर दिया और उसके स्थानपर वक्रोक्तिको काव्यका जीवनाधायक तत्त्व माना है। महिमभट्ट नैयायिक हैं इसलिए उन्होंने न्यायकी पद्धतिसे ध्वनिको सामान्यरूपसे और उसके उदाहरणोंको विशेषरूपसे अनुमानके अन्तर्गत करनेका यत्न किया है।

महिमभट्टका एकमात्र ग्रन्थ 'व्यक्तिविवेक' है। इसके निर्माणका उद्देश्य ध्वनिको अनुमानके भीतर अन्तर्भुक्त करना ही है। इस बातका प्रतिपादन उन्होंने अपने ग्रन्थके आरम्भमें निम्नलिखित श्लोकमें किया है—

'अनुमानेऽन्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वनेः प्रकाशयितुम्।
व्यक्तिविवेकं कुरुते प्रणम्य महिमा परां वाचम्॥'

महिमभट्टका केवल एक ही ग्रन्थ पाया जाता है किन्तु इसके द्वारा उनको पर्याप्त ख्याति प्राप्त हुई है। वे अपने मुख्य नामकी अपेक्षा 'व्यक्तिविवेककार'के नामसे ही अधिक प्रसिद्ध हैं। ये भी कश्मीरनिवासी थे। इनके पिताका नाम 'श्रीधैर्य' और गुरुका नाम 'श्यामल' था। इन्होंने 'व्यक्तिविवेक'के अतिरिक्त 'तत्त्वोक्तिकोश' नामक किसी और ग्रन्थकी भी रचना की थी, किन्तु वह उपलब्ध नहीं है। उसका उल्लेख उन्होंने स्वयं 'इत्यादि प्रतिभातत्त्वमस्माभिरुपपादितं शास्त्रे तत्त्वोक्तिकोशनाम्नि इति नेह प्रपञ्चितम्' (व्यक्तिविवेक, पृष्ठ १८, अनन्तशयन संस्करण) इस रूपमें 'व्यक्तिविवेक'में किया है। 'व्यक्तिविवेक' ग्रन्थमें तीन 'विमर्श' हैं। प्रथम विमर्शमें ध्वनिका प्रबल रूपसे खण्डन करके ध्वनिके सारे उदाहरणोंका अनुमानके भीतर अन्तर्भाव दिखलाया है। द्वितीय विमर्शमें काव्यदोषोंका निरूपण किया है। उसमें अनौचित्यको काव्यका मुख्य दोष माना है। इसके शब्द तथा अर्थविषयक या अन्तरङ्ग एवं बहिरङ्ग दो भेद किये हैं। अन्तरङ्ग अनौचित्यके भीतर रसदोषका समावेश किया है और बहिरङ्ग अनौचित्यके १ विधेयाविमर्श, २. प्रक्रमभेद, ३ क्रमभेद, ४ पौनरुक्त्य और ५. वाच्यावचन ये पाँच भेद किये हैं। तृतीय विमर्शमें ध्वनिके ४० उदाहरणोंका अनुमानमें अन्तर्भाव दिखलाया है।

१६. क्षेमेन्द्र

जिस प्रकार आनन्दवर्धन ध्वनिसम्प्रदायके, वामन रीतिसम्प्रदायके और कुन्तक वक्रोक्तिसम्प्रदायके संस्थापकके रूपमें साहित्यशास्त्रके इतिहासमें प्रसिद्ध हैं उसी प्रकार क्षेमेन्द्र अपने औचित्यसम्प्रदायके संस्थापकके रूपमें प्रसिद्ध हैं। उन्होंने अपने 'कविकण्ठाभरण' ग्रन्थमें लिखा है—

'तस्य श्रीमदनन्तराजनृपतेः काले किलायं कृतः।'

इसी प्रकार 'औचित्यविचारचर्चा'में भी—'राज्ये श्रीमदनन्तराजनृपतेः काव्योदयोऽयं कृतः' लिखकर 'अनन्तराज'के शासनका उल्लेख किया है। अनन्तराज नामके राजाने कश्मीरमें १०२८ से १०६३ तक राज्य किया। इसलिए यही काल क्षेमेन्द्रका सिद्ध होता है। क्षेमेन्द्रके पिताका नाम 'प्रकाशेन्द्र' और पितामहका नाम 'सिन्धु' था। अपने 'बृहत्कथामञ्जरी' ग्रन्थमें इन्होंने '[illegible]' लिखकर अभिनवगुप्तको अपना साहित्यशास्त्रका गुरु माना है। [illegible] उनके पुत्र 'कलश' राज्यसिंहासनपर आसीन हुए। अनन्त[illegible] दिया था। [illegible] १०६३ में [illegible] दिया था।

क्षेमेन्द्रने अपने 'समयमातृका' ग्रन्थकी रचना १०५० में अनन्तराजके कालमें की थी। किन्तु 'दशावतार' ग्रन्थकी रचना उसके १६ वर्ष बाद १०६६ में कलशके राज्यकालमें की थी।

इनके ग्रन्थोंकी सूची बहुत लम्बी है। लगभग ४० ग्रन्थोंकी रचना इन्होंने की है। पर वे सब उपलब्ध नहीं हैं। १. भारतमञ्जरी, २. बृहत्कथामञ्जरी, ३. औचित्यविचारचर्चा, ४. कविकण्ठाभरण, ५. सुवृत्ततिलक, ६. समयमातृका आदि कुछ ही ग्रन्थ उपलब्ध हैं। इन ग्रन्थोंमें उन्होंने अपने अनेक ग्रन्थोंके नामोंका उल्लेख किया है। १. अवसरसार, २. अमृततरङ्गकाव्य, ३. कनकजानकी, ४. कविकर्णिका, ५. चतुर्वर्गसंग्रह, ६. चित्रभारतनाटक, ७. देशोपदेश, ८ नीतिलता, ९. पद्यकादम्बरी, १० बोधावदानकल्पलता, ११. मुक्तावलीकाव्य, १२. मुनिमतमीमांसा, १३. ललितरत्नमाला, १४. लावण्यवतीकाव्य, १५ वात्स्यायनसूत्रसार, १६. विनयवती, १७ शशिवंश इन सत्रह ग्रन्थोंके नाम मिलते हैं।

क्षेमेन्द्रके उपलब्ध ग्रन्थोंमेंसे 'औचित्यविचारचर्चा'का ही अलङ्कारशास्त्रके साथ विशेषरूपसे सम्बन्ध माना जा सकता है। इसीके कारण उनकी गणना आलङ्कारिक आचार्योंमें की जाती है। इसमें उन्होंने औचित्यको रसका भी प्राण कहा है—

'औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारुचर्वणे।
रसजीवितभूतस्य विचारं कुरुतेऽधुना॥'

दूसरी जगह अनौचित्यको रसभङ्गका कारण और औचित्यको रसका परम रहस्य कहा है—

अनौचित्यादृते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा॥'

औचित्य क्या है इसका वर्णन करते हुए लिखा है—

'उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत्।
उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते॥'

'सुवृत्ततिलक' ग्रन्थमें छन्दोंका वर्णन है। उसमें ग्रन्थकारने यह भी दिखलाया है कि किस कविका किस छन्दपर विशेष अधिकार है, जैसे, अभिनन्द अनुष्टुभमें, पाणिनि उपजातिमें, भारवि वंशस्थमें, कालिदास मन्दाक्रान्तामें, रत्नाकर वसन्ततिलकामें, भवभूति शिखरिणीमें और राजशेखर शार्दूलविक्रीडितमें विशेष चमत्कार उत्पन्न करते दीखते हैं। 'कविकण्ठाभरण'में कवित्वकी प्राप्ति अथवा उसमें उत्कर्षप्राप्तिके उपायोंका वर्णन किया है। इसमें पाँच सन्धियाँ हैं और उनके प्रतिपाद्य विषयका संग्रह निम्नलिखित एक श्लोकमें दिया गया है—

१ अकवेः कवित्वाप्तिः, २ शिक्षाप्राप्तगिरः कवेः।
३ चमत्कृतिश्च शिक्षाप्तौ, ४ गुणदोषोद्गतिस्ततः॥
५ पश्चात् परिचयप्राप्तिरित्येते पञ्चसन्धयः॥

क्षेमेन्द्रने अपनेको अभिनवगुप्तका शिष्य कहा है। इन्हीं अभिनवगुप्तके एक शिष्य और हैं क्षेमराज। कुछ विद्वान् इन दोनोंको भिन्न-भिन्न व्यक्ति मानते हैं। क्षेमराजने शैवदर्शनके ऊपर अनेक रचनाएँ की हैं। उन्होंने अभिनवगुप्तके 'परमार्थसार'पर व्यवस्था भी लिखी है। भेदवादियोंका कहना है कि क्षेमराज शैव थे और क्षेमेन्द्र वैष्णव। क्षेमेन्द्रने विष्णुके दश अवतारोंके विषयमें अपना 'दशावतारचरित' लिखा है। अभेदवादियोंका कहना है कि क्षेमेन्द्र पहिले शैव थे, बादको

सोमाचार्य द्वारा वैष्णव सम्प्रदायमें दीक्षित किये गये। क्षेमेन्द्र अपने ग्रन्थोंमें अपनेको प्रायः व्यासदास नामसे लिखते हैं, जैसे 'दशावतारचरित'के निम्नाङ्कित श्लोकमें पाया जाता है—

'इत्येष विष्णोरवतारमूर्तेः काव्यामृतास्वादविशेषभक्त्या।
श्रीव्यासदासान्यतमाभिधेन क्षेमेन्द्रनाम्ना विहितः प्रबन्धः॥'१०-४१

१७. भोजराज

धारानरेश राजा भोज भारतीय इतिहासमें विद्वानोंके आश्रयदाता एवं उदार दानशील राजाके रूपमें अत्यन्त प्रसिद्ध है। इनका शासनकाल ग्यारहवीं शताब्दीमें माना जाता है। इनकी विद्वत्सेवा एवं दानशीलताकी सारे देशमें ख्याति थी। यहाँतक कि कश्मीर राज्यके इतिहास 'राजतरङ्गिणी'में भी इनके इन गुणोंकी प्रशंसा की गयी है। कश्मीरके राजा अनन्तराजकी चर्चा हम अभी कर चुके हैं, भोजराज उन्हीं अनन्तराजके समकालीन हैं। 'राजतरङ्गिणी'की सप्तम तरङ्गमें कश्मीरनरेश अनन्तराज तथा मालवाधीश भोजराज दोनोंकी समानरूपसे विद्वत्प्रियताका उल्लेख ग्रन्थकारने निम्नलिखित प्रकारसे किया है—

'स च भोजनरेन्द्रश्च दानोत्कर्षेण विश्रुतौ।
सूरी तस्मिन् क्षणे तुल्यं द्वावास्तां कविबान्धवौ॥' ७-२५९

इसमें 'स च' इस सर्वनाम 'स' पदसे प्रकृत वर्ण्यमान कश्मीराधिपति अनन्तराजका ग्रहण होता है। अनन्तराजका समय ग्यारहवीं शताब्दीमें था, इसी प्रकार भोजराजका समय भी ग्यारहवीं शताब्दीमे निश्चित माना जाता है। भोजराजके समयके निर्णयके लिए इस प्रमाणके अतिरिक्त उनका स्वयं एक शिला-दानपत्र संवत् १०७८ सन् १०२१ का पाया जाता है। इसमें भोजराजने गोविन्दभट्टके पुत्र धनपतिभट्ट नामक किसी ब्राह्मणको ग्रामदान करनेका उल्लेख किया है। उसके अन्तमें उस दानपत्रकी तिथि आदि इस प्रकार दी है—

'इति। संवत् १०७८ चैत्र सुदी १४ स्वयमाज्ञा मंगलं महाश्रीः। स्वहस्तोऽयं भुजदेवस्य।'

इस दानपत्रमें अपने उत्तराधिकारी अन्य सब लोगोंसे प्रार्थना की है कि जो दान दे दिया गया है उसको कोई वापस लेनेका यत्न न करे। उनमेंसे दो श्लोक निम्नलिखित प्रकार हैं—

'सर्वानेतान् भाविनः पार्थिवेन्द्रान् भूयो भूयो याचते रामभद्रः।
सामान्योऽयं धर्मसेतुर्नराणां काले काले पालनीयो भवद्भिः॥
इति कमलदलाम्बुबिन्दुलोलां श्रियमनुचिन्त्य मनुष्यजीवितं च।
सकलमिदमुदाहृतं च बुद्ध्वा न हि पुरुषैः परकीर्तयो विलोपनीयाः॥

राजा भोज केवल विद्वानोंका आदर करनेवाले ही नहीं थे अपितु स्वयं भी एक महान् विद्वान् और अच्छे साहित्यिक थे। अलङ्कारशास्त्रके विषयमें उनके लिखे हुए दो ग्रन्थ मिलते हैं—१. 'सरस्वतीकण्ठाभरण' और २ 'शृङ्गारप्रकाश'। 'सरस्वतीकण्ठाभरण' पाँच परिच्छेदोंमें विभक्त है। प्रथम परिच्छेदमें दोष और गुणका विवेचन है। इसमें इन्होंने पद, वाक्य तथा वाक्यार्थ तीनोंके १६-१६ दोष माने हैं और शब्द तथा अर्थ दोनोंके २४-२४ गुण माने हैं। द्वितीय परिच्छेदमें २४ शब्दालङ्कारों तथा चतुर्थ परिच्छेदमें २४ उभयालङ्कारोंका वर्णन किया है। पञ्चम परिच्छेदमें रस, भाव, पञ्चसन्धि तथा चारों वृत्तियोंका वर्णन किया है। इसके ऊपर १४वीं

शताब्दीमें तिरहुतके राजा रामसिंहदेवके आग्रहसे महामहोपाध्याय रत्नेश्वरने 'रत्नदर्पण' नामक टीका लिखी थी। इस टीकाके सहित यह ग्रन्थ काव्यमाला सीरीजमें निर्णय सागर प्रेस बम्बईसे प्रकाशित हो चुका है।

भोजराजका दूसरा ग्रन्थ 'शृङ्गारप्रकाश' है। यह बड़ा विशालकाय ग्रन्थ है। इसमें ३६ 'प्रकाश' हैं। ग्रन्थ हस्तलिखित रूपमें पूरा उपलब्ध है। परन्तु अभी पूरा प्रकाशित नहीं हुआ है। इस ग्रन्थपर प्रथम आठ प्रकाशोंमें शब्द तथा अर्थविषयक अनेक वैयाकरणोंके मत दिये गये हैं। नवम-दशम प्रकाशोंमें गुण तथा दोषोंका विवेचन है। ग्यारहवें-बारहवें प्रकाशमें महाकाव्य तथा नाटकका वर्णन है। शेष २४ प्रकाशोंमें उदाहरण सहित रसोंका विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। इसमें, जैसा कि ग्रन्थनामसे ही प्रतीत होता है, शृङ्गाररसको ही प्रधान रस अथवा एकमात्र रस माना है—

'शृङ्गारवीरकरुणाद्भुतरौद्रहास्य-
बीभत्सवत्सलभयानकशान्तनाम्नः।
आम्नासिषुर्दशरसान् सुधियो वयं तु
शृङ्गारमेव रसनाद् रसमामनामः॥'

किन्तु भोजराजका यह शृङ्गार सामान्य शृङ्गार नहीं है, उसमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों पुरुषार्थोंका समावेश हो जाता है। 'मन्दारमरन्दचम्पू' (बिन्दु ७, पृ० १०७) में लिखा है "अथ भोजनृपादीनां मतमत्र प्रकाश्यते। 'रसो वै सः' इति श्रुत्वा रस एकः प्रकीर्तितः। अतो रसः स्याच्छृङ्गार एक एवेतरे तु न॥ धर्मार्थकाममोक्षाख्यभेदेन स चतुर्विधः॥" 'शृङ्गारप्रकाश' अलङ्कार-शास्त्रके ग्रन्थोंमें कदाचित् सबसे अधिक विशालकाय ग्रन्थ है। भोजराजकी इस उत्तम रचनाने साहित्यिक जगत्में उनका नाम चिरकालके लिए अमर कर दिया है।

१८. काव्यप्रकाशकार मम्मट

मम्मटका काल तथा वंश

भोजराजके बाद मम्मटाचार्यका काल आता है। अलङ्कारसाहित्यके निर्माताओंकी अब-तककी धारामें दण्डी, राजशेखर और भोजराजके अतिरिक्त और सभी आचार्य कश्मीर-निवासी थे। इसी प्रकार ये मम्मटाचार्य भी कश्मीर-निवासी हैं यह बात उनके नामसे ही प्रतीत होती है। परन्तु इनके जीवनवृत्तादिका और कुछ अधिक परिचय नहीं मिलता है। कश्मीरी पण्डितोंकी परम्परागत प्रसिद्धिके अनुसार मम्मट 'नैषधीयचरित'के रचयिता महाकवि श्रीहर्षके मामा माने जाते हैं। किन्तु यह प्रवादमात्र जान पड़ता है, क्योंकि महाकवि श्रीहर्ष स्वयं कश्मीरी नहीं थे। 'काव्यप्रकाश'की 'सुधासागर' टीकाके निर्माता भीमसेनने मम्मटके परिचयके रूपमें कुछ पद्य लिखे हैं, उनसे यह प्रतीत होता है कि मम्मट कश्मीरदेशीय जैयटके पुत्र थे। उन्होंने वाराणसीमें जाकर विद्याध्ययन किया था। पतञ्जलि-प्रणीत 'महाभाष्य'के टीकाकार कैयट तथा यजुर्वेदभाष्यकार उव्वट दोनों मम्मटके छोटे भाई थे। इस भावका वर्णन भीमसेनने अपने श्लोकोंमें निम्नलिखित प्रकार किया है—

'शब्दब्रह्म सनातनं न विदितं शास्त्रैः क्वचित् केनचित्
तद्देवी हि सरस्वती स्वयमभूत् काश्मीरदेशे पुमान्।

श्रीमज्जैयटगेहिनीसुजठराज्जन्माप्य युग्मानुजः
श्रीमन्मम्मटसंज्ञया श्रिततनुं सारस्वतीं सूचयन् ॥
मर्यादां किल पालयन् शिवपुरीं गत्वा प्रपठ्यादरात्
शास्त्रं सर्वजनोपकाररसिकः साहित्यसूत्रं व्यधात् ।
तद्वृत्तिं च विरच्य गूढमकरोत् काव्यप्रकाशं स्फुटं
वैदग्ध्यैकनिदानमर्थिषु चतुर्वर्गप्रदं सेवनात् ॥
कस्तस्य स्तुतिमाचरेत् कविरहो को वा गुणान् वेदितुं
शक्तः स्यात् किल मम्मटस्य भुवने वाग्देवतारूपिणः ।
श्रीमान् कैयट औव्वटौ ह्यवरजौ यच्छात्रतामागतौ
भाष्याब्धिं निगमं यथाक्रममनुव्याख्याय सिद्धिं गतौ ॥'

इस विवरणके अनुसार मम्मटका जन्म 'जैयटगेहिनी'के सुजठरमें हुआ था। अर्थात् वे जैयटके पुत्र थे और 'श्रीमान् कैयट औव्वटौ ह्यवरजौ' कैयट और औव्वट उनके छोटे भाई थे, जिन्होंने 'भाष्याब्धि निगमं यथाक्रममनुव्याख्याय' महाभाष्य तथा वेदोंपर व्याख्या लिखी थी। इस प्रकार मम्मटरूपमें स्वयं सरस्वती देवीने कश्मीरदेशमें पुरुषके रूपमें अवतार लिया था और साहित्यशास्त्रपर सूत्रोंका निर्माण, उसपर स्वयं काव्यप्रकाश वृत्तिकी रचना की थी।

यह विवरण सुधासागरकार भीमसेनने मम्मटाचार्यके विषयमें अपने ग्रन्थमें प्रस्तुत किया है। किन्तु इसमें जो कैयट तथा औव्वट या उव्वटको मम्मटका अनुज कहा है वह ठीक प्रतीत नहीं होता है, क्योंकि उव्वटकृत वाजसनेयसंहिता-भाष्यमें उनका परिचय इस प्रकार मिलता है—

'आनन्दपुरवास्तव्यवज्रटाख्यस्य सूनुना ।
मन्त्रभाष्यमिदं क्लृप्तं भोजे पृथ्वीं प्रशासति ॥'

उव्वट द्वारा स्वयं प्रदत्त इस विवरणके अनुसार उव्वटके पिताका नाम 'वज्रट' है, 'जैयट' नहीं, और उनका वेदभाष्य भोजराजके शासनकालमें लिखा गया है। किन्तु मम्मटका समय भोजराजके समकाल नहीं अपितु उनके बाद पड़ता है क्योंकि मम्मटने स्वयं दशम उल्लासमें उदात्त अलङ्कारके उदाहरणरूपमें जो पद्य दिया है उसमें अन्तमें 'भोजनृपतेस्तत् त्यागलीलायितम्', वह सब भोजराजके दानका फल है, इस रूपमें भोजराजके नामका उल्लेख किया है। भोजराजका शासनकाल, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, ९९६ ई० से १०५१ ई० पर्यन्त माना जाता है। मम्मट उनके उत्तरवर्ती जान पड़ते हैं। किन्तु यदि कथञ्चित् मम्मटको भोजराजका समकालीन भी मान लिया जाय तो भी उव्वटको उनका अनुज कहना कठिन है। हाँ, कैयटको उनका अनुज माना जा सकता है, क्योंकि कैयटने भी 'कैयटो जैयटात्मजः'के अनुसार अपनेको जैयटका पुत्र कहा है। किन्तु उव्वट तो वज्रटके पुत्र हैं। इसलिए उव्वटको मम्मटका अनुज बतलानेवाला भीमसेनका लेख सन्दिग्ध जान पड़ता है।

इसके अतिरिक्त 'शिवपुरीं गत्वा प्रपठ्यादरात्' लिखकर मम्मटको विद्याध्ययनके लिए कश्मीरसे 'शिवपुरी' वाराणसी भेजा है। यह बात भी कुछ युक्तिसङ्गत प्रतीत नहीं होती। कश्मीर तो स्वयं विद्याका केन्द्र था। साहित्यशास्त्रके अबतक जितने आचार्य हुए थे उनमेंसे दण्डी, राजशेखर और भोजराजको छोड़कर सभी आचार्य कश्मीरमें ही उत्पन्न हुए थे। जो तीन आचार्य कश्मीरसे बाहरके थे, काशीके साथ उनका भी कोई सम्बन्ध नहीं था। साहित्यशास्त्रकी दृष्टिसे

काशीका कोई विशेष महत्त्व उस समय नहीं था। इसलिए मम्मटके लिए कश्मीरको छोड़कर काशी आनेका कोई विशेष प्रयोजन या आकर्षण नहीं प्रतीत होता है। इन सब कारणोंसे भीमसेन-का मम्मटविषयक उपर्युक्त परिचय अप्रामाणिक मालूम होता है। भीमसेनका यह लेख मम्मटके लगभग ६०० वर्ष बाद सन् १७२३ में लिखा गया है। इसलिए उसमें अधिकतर कल्पनासे काम लिया गया है। उव्वटने अपने ऋक्प्रातिशाख्यमें अपनेको वज्रटका पुत्र लिखा है और वाजसनेय संहिताभाष्यमें 'भोजे राज्यं प्रशासति' लिखा है; इन दोनों बातोंसे उव्वटका सम्बन्ध मम्मटसे नहीं जुड़ता है।

युग्मकर्तृत्व

'काव्यप्रकाश'के कर्ताके रूपमें साधारणतः मम्मट ही प्रसिद्ध हैं। किन्तु वस्तुतः वे अकेले ही इस ग्रन्थके निर्माता नहीं हैं। इनमें मम्मटके अतिरिक्त कश्मीरके दूसरे विद्वान् 'अल्लट'का भी सहयोग है। यह सहयोग कितने अंशमें है इस विषयमें कुछ मतभेद पाया जाता है, किन्तु 'काव्य-प्रकाश' केवल अकेले मम्मटकी रचना नहीं है, उसकी रचनामें अल्लटका भी हाथ है इस विषयमें मतभेद नहीं है। अधिकांश टीकाकार इस बातमें एकमत हैं। 'काव्यप्रकाश'के अन्तमें एक श्लोक निम्नलिखित प्रकार दिया गया है—

'इत्येष मार्गो विदुषां विभिन्नोऽप्यभिन्नरूपः प्रतिभासते यत्।
न तद्विचित्रं यदमुत्र सम्यग्विनिर्मिता सङ्घटनैव हेतुः॥'

'काव्यप्रकाश'के सबसे पूर्ववर्ती टीकाकार माणिक्यचन्द्रने इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है—

'अथ चायं ग्रन्थोऽन्येनारब्धोऽपरेण च समापित इति द्विखण्डोऽपि सङ्घटना-वशादखण्डायते।'

इसी प्रकार 'काव्यप्रकाश'की 'सङ्केत' टीकाके निर्माता रुचकने इसकी व्याख्यामें लिखा है—

'एतेन महामतीनां प्रसरणहेतुरेष ग्रन्थो ग्रन्थकृतानेन कथमप्यसमाप्तत्वादपरेण च पूरितावशेषत्वात् द्विखण्डोऽपि।'

इन दोनों टीकाकारोंने इस बातकी ओर सङ्केत तो किया है कि ग्रन्थका आरम्भ अन्य विद्वानके द्वारा अर्थात् मम्मटाचार्यके द्वारा किया गया, किन्तु किसी कारणसे वे इसको समाप्त नहीं कर सके, तब इसकी समाप्ति दूसरे विद्वान्के द्वारा की गयी। किन्तु दो निर्माताओंके द्वारा बनाये जानेपर भी यह ग्रन्थ अखण्ड-सा प्रतीत होता है। परन्तु इन टीकाकारोंने न तो स्पष्टरूपसे इस बातका उल्लेख किया कि पूर्व ग्रन्थकार अर्थात् मम्मटने ग्रन्थका कितना भाग लिखा और दूसरे ग्रन्थकारने कितना भाग लिखा और न इस बातका ही सङ्केत किया कि वह दूसरा विद्वान्, जिसने अपूर्ण 'काव्यप्रकाश'को पूर्णता प्रदान की, कौन था। इन दोनों बातोंका उल्लेख स्पष्टरूपसे सबसे पहिले 'काव्यप्रकाशनिदर्शना' नामक टीकाके निर्माता राजानक आनन्दने (१६८५) निम्नलिखित प्रकार किया है—

'कृतः श्रीमम्मटाचार्यवर्यैः परिकरावधिः।
ग्रन्थः सम्पूरितः शेषं विधायाल्लटसूरिणा॥'

इस श्लोकसे यह स्पष्ट हो जाता है कि मम्मटाचार्यने परिकर अलङ्कारपर्यन्त 'काव्यप्रकाश'की रचना की, उसके बाद कदाचित् उनका देहावसान हो गया या किसी अन्य कारणसे वे ग्रन्थको समाप्त नहीं कर सके तो शेष ग्रन्थकी रचना 'अल्लक' या 'अलट' नामके विद्वान्ने करके इस ग्रन्थको पूरा किया। इस प्रकारकी घटना 'कादम्बरी' ग्रन्थके विषयमें भी हुई है। 'कादम्बरी'के निर्माता बाणभट्ट कादम्बरीके केवल पूर्वार्द्धभागकी ही रचना कर सके थे। उसके बाद उसके उत्तरार्द्ध-भागकी रचना उनके पुत्रने की थी। इस प्रकार मम्मटाचार्यके इस अपूर्ण 'काव्यप्रकाश'की समाप्ति अल्लट या अलकसूरिने की।

यह एक मत हुआ। इसके अनुसार दशम उल्लासके परिकर अलङ्कारतकके अधिकांश ग्रन्थकी रचना मम्मटने की है। उनके बाद जो थोड़ा-सा भाग रह गया था उसकी पूर्ति अलकसूरि या अल्लटसूरिने की थी। पर इसके अतिरिक्त एक दूसरा मत भी पाया जाता है। उसके अनुसार 'काव्यप्रकाश'का एक भाग मम्मटाचार्यका और दूसरा भाग अल्लटसूरिका लिखा हुआ है यह बात नहीं है अपितु सारा का सारा ग्रन्थ दोनों विद्वानोंकी सम्मिलित रचना है। जैसे 'नाट्यदर्पण' नामक ग्रन्थकी रचना रामचन्द्र और गुणचन्द्र दोनोंने मिलकर की है। सम्पूर्ण 'नाट्यदर्पण' गुणचन्द्र और रामचन्द्रकी सम्मिलित कृति है। इसी प्रकार सम्पूर्ण 'काव्यप्रकाश' मम्मट और अल्लटकी सम्मिलित कृति है। इस दूसरे मतका उल्लेख भी उसी 'काव्यप्रकाशनिदर्शना' टीकामें राजानक आनन्दने अन्योंके मतको दिखाते हुए निम्नलिखित प्रकार किया है—

'अन्येनाप्युक्तम्—
काव्यप्रकाशदशकेऽपि निबन्धकृद्भ्यां
द्वाभ्यां कृतेऽपि कृतिनां रसतत्त्वलाभः।'

[illegible] भण्डारकरने संवत् १२१५ (सन् ११५८) मे लिखी गयी 'काव्यप्रकाश'की एक पाण्डुलिपि [illegible] पुष्पिकामें 'इति राजानकमम्मटालकयोः' इस प्रकारका लेख पाया है। इससे भी सम्पूर्ण '[illegible]' मम्मट तथा अल्लट दोनोंकी सम्मिलित रचना है इस मतकी पुष्टि होती है। 'अमरु-[illegible]' [illegible] निर्माता अर्जुनवर्मदेवने भी इसी मतकी पुष्टि की है। उन्होंने 'भवतु विदित' [illegible] श्लोककी व्याख्यामें पृष्ठ २० पर लिखा है—'यथोदाहृत दोषनिर्णये मम्मटालकाभ्याम्— '[illegible]' इत्यादि'। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे न केवल परिकरालङ्कारके बादवाले भागको ही [illegible] अपितु समस्त उल्लासको भी अर्थात् सारे ग्रन्थको ही दोनोंकी सम्मि-लित कृति [illegible]। '[illegible]' के टीकाकार अर्जुनवर्मदेवने एक जगह और इसी बातका उल्लेख [illegible]। '[illegible]' आदि ('काव्यप्रकाश' उदाहरणसंख्या २३८) '[illegible]' [illegible] इसमें 'वायु' पद आया है। 'काव्यप्रकाश'ने इस 'वायु' पदको [illegible] [illegible] इस श्लोकको [illegible] उदाहरणरूपमें प्रस्तुत किया है। इसपर [illegible] अर्जुनवर्मदेवने [illegible]—

[illegible] दोषमाचक्षते। [illegible] [illegible] किन्तु [illegible] काव्यप्रकाशकारौ प्रायेण [illegible]

[illegible] अर्जुनवर्मदेवने [illegible] मम्मट [illegible] अल्लट [illegible] सम्मिलित [illegible] है।

'अमरुकशतक'के टीकाकार अर्जुनवर्मदेव मालवाधीश और धारानगरीके राजा भोजराज (जिनका उल्लेख पहिले किया जा चुका है)के वंशधर हैं। वे भोजके बाद धाराके राजसिंहासनको अलङ्कृत करनेवाले १३वें राजा थे। १२११ से लेकर १२१६ ई० तकके उनके शिलालेख पाये जाते हैं, अर्थात् वे काव्यप्रकाशकारके लगभग १०० वर्ष बाद हुए हैं।

'काव्यप्रकाश'की 'सङ्केत' टीकाके प्रथम तथा दशम उल्लासके अन्तकी पुष्पिकाओंमें एक और सङ्केत मिलता है। इनमें प्रथम उल्लासके अन्तकी और दशम उल्लासके अन्तकी पुष्पिकाएँ निम्नलिखित प्रकार हैं—

'इति श्रीमद्राजानकमल्लमम्मटरुचकविरचिते निजग्रन्थकाव्यप्रकाशसङ्केते प्रथम उल्लासः।'

इसमें 'काव्यप्रकाश'के निर्मातारूपमें राजानक मल्ल (अलकके स्थानपर), मम्मट और रुचक तीन नाम दिये हैं। इसी प्रकार दशम उल्लासकी पुष्पिकामें फिर 'राजानकमम्मट-अलक-रुचकानाम्' इन्हीं तीन नामोंका उल्लेख किया है। इससे प्रतीत होता है कि 'सङ्केत' टीकाके निर्माता रुचक 'काव्यप्रकाश'को दो की नहीं, तीनकी कृति मानते हैं। पर यह बात नहीं है। रुचकने इस स्थलपर 'काव्यप्रकाश' मूल ग्रन्थके साथ अपनी 'संकेत' टीकाको भी सम्मिलित करके पुष्पिकाएँ दी हैं। इसलिए 'काव्यप्रकाश'के मम्मट तथा अलक निर्माताओंके साथ टीकाकारके रूपमें अपने नामका भी समावेश कर दिया है। यहाँ ग्रन्थकार जिस ग्रन्थकी पुष्पिका लिख रहे हैं वह ग्रन्थ 'काव्यप्रकाश' ग्रन्थ नहीं अपितु 'काव्यप्रकाशसङ्केत' ग्रन्थ है। उसके तीन रचयिता हो जाते हैं, 'काव्यप्रकाश'के नहीं। इसलिए 'काव्यप्रकाश'के विषयमें युग्मकर्तृत्ववाला सिद्धान्त प्रायः सर्वसम्मत सिद्धान्त माना जाता है।

कारिकाकर्तृत्व

'काव्यप्रकाश'के युग्मकर्तृत्व-सिद्धान्तके ये दो पक्ष हमने ऊपर दिखलाये। इनमेंसे एक पक्षके अनुसार 'काव्यप्रकाश'का प्रारम्भसे लेकर परिकरालङ्कारतकका भाग मम्मटका और शेष अन्तिम भाग अलकसूरिका लिखा हुआ है। दूसरे मतके अनुसार साराका सारा 'काव्यप्रकाश' मम्मट तथा अलकसूरिकी सम्मिलित रचना है। इस प्रकार 'काव्यप्रकाश'के युग्मकर्तृत्वविषयक ये दो सिद्धान्त बनते हैं। इसी प्रसङ्गमें एक और तीसरा सिद्धान्त भी है। वह भी 'काव्यप्रकाश'को दो व्यक्तियोंकी रचना मानता है। किन्तु उसकी विचारशैली भिन्न प्रकारकी है। 'ध्वन्यालोक', 'व्यक्तिविवेक' आदि अन्य सभी ग्रन्थोंके समान 'काव्यप्रकाश'में भी तीन भाग हैं—१. कारिकाभाग, २. वृत्तिभाग और ३. उदाहरणभाग। 'काव्यप्रकाश'के उदाहरण सब विभिन्न प्रसिद्ध काव्योंसे लिये गये हैं इसलिए उनके कर्तृत्वके विषयमें कोई विवाद नहीं है। किन्तु कारिकाभाग और वृत्तिभागकी रचनाके विषयमें दो प्रकारके मत पाये जाते हैं। कुछ लोग इन दोनों भागोंके कर्ता अलग अलग मानते हैं। उनके मतानुसार कारिकाभागके निर्माता भरतमुनि हैं और वृत्तिभागके निर्माता मम्मटाचार्य हैं। दूसरे लोग कारिकाभाग तथा वृत्तिभाग दोनोंका निर्माता एक ही मम्मटाचार्यको मानते हैं।

कारिका तथा वृत्तिभागका भिन्नकर्तृकत्ववादी पूर्वपक्ष

कारिकाभाग तथा वृत्तिभाग दोनोंके निर्माता अलग-अलग हैं इस सिद्धान्तका उदय बङ्गदेशमें हुआ। साहित्यकौमुदीकार विद्याभूषण तथा 'काव्यप्रकाश'की 'आदर्श' टीकाके निर्माता

कार रूप मानते थे। पर क्योंकि सूत्रभाग मम्मटका बनाया हुआ नहीं है, भरतका बनाया हुआ है, इसलिए उसकी व्याख्यामें 'बहुत्वमविवक्षितम्' लिखा जाना सङ्गत हो सकता है।

भेदवादीकी युक्तियोंका खण्डन

इस प्रकार इन तीन युक्तियोंके आधारपर भेदवादी 'काव्यप्रकाश'के सूत्रोंको भरतमुनिकी रचना मानते हैं और काव्यप्रकाशकारको केवल उन सूत्रोंपर वृत्ति लिखनेवाला मानते हैं। किन्तु यदि इन युक्तियोंपर विचार किया जाय तो ये तीनों युक्तियाँ एकदम थोथी और निस्सार प्रतीत होती हैं। पहिली युक्तिमें भरतमुनिके तीन ऐसे सूत्र प्रस्तुत किये गये हैं जो 'काव्यप्रकाश'में ज्योंके त्यों पाये जाते हैं। यह ठीक है। ये तीनों सूत्र भरतमुनिके बनाये हुए हैं। उनको काव्यप्रकाशकारने ज्योंका त्यों अपने ग्रन्थमें उद्धृत कर दिया है। पर उनसे सारे सूत्रोंके भरतनिर्मित होनेकी पुष्टि कैसे हो सकती है? जैसे यह स्पष्ट है कि ये तीन सूत्र भरतके 'नाट्यशास्त्र'में पाये जाते हैं वैसे ही यह भी स्पष्ट है कि 'काव्यप्रकाश'के शेष सूत्रोंमेंसे कोई भी सूत्र भरतनाट्यशास्त्रमें नहीं पाया जाता है। तब उनका निर्माता भरतको कैसे माना जा सकता है? भरतने नाट्यशास्त्रको छोड़कर कोई और ग्रन्थ बनाया हो उसमें शेष सूत्र आये हों यह बात एकदम क्लिष्ट कल्पनामात्र है। भरतमुनिका कोई दूसरा ग्रन्थ न मिलता है और न उसका कहीं उल्लेख ही किसी ग्रन्थमें पाया जाता है। अतः यह निश्चय है कि इन तीन सूत्रोंके अतिरिक्त और कोई सूत्र भरत निर्मित नहीं है। शेष सब सूत्र काव्यप्रकाशकारके स्वनिर्मित सूत्र हैं और उन स्वनिर्मित सूत्रोंपर मम्मटाचार्यने स्वयं ही वृत्ति भी लिखी है।

प्रथम युक्तिके समान दूसरी युक्ति भी एकदम निस्सार है। उसमें 'काव्यप्रकाश'के आरम्भमें आये हुए 'समुचितेष्टदेवता ग्रन्थकृत परामृशति' इस प्रथमपुरुषके प्रयोगके आधारपर सूत्रभागको व्याख्याकारसे भिन्न कृति ठहरानेका यत्न किया गया है, किन्तु यह तो युक्ति देनेवालेके अज्ञानका ही परिचायक है। ग्रन्थोंमें इस प्रकारके अवसरोंपर अपने लिए प्रथमपुरुषके प्रयोगकी शैली तो संस्कृत-साहित्यकी बहु-सम्मत और बहु-प्रचलित सामान्य शैली है। अधिकांश लोग ऐसे अवसरोंपर प्रथमपुरुषका प्रयोग करते हैं। उदाहरणके लिए, विश्वनाथने भी 'साहित्यदर्पण'-के आरम्भमें इसी प्रकार 'वाग्देवताया साम्मुख्यमाधत्ते' लिखा है। 'नागेश कुरुते सुधी.'में नागेशने भी अपने लिए 'कुरुते' इस प्रथमपुरुषका प्रयोग किया है। यह संस्कृत-साहित्यके ग्रन्थकारोंकी सामान्य प्रवृत्ति है। वे कदाचित् अपनी निरभिमानिताके सूचनार्थ उत्तमपुरुषका प्रयोग बचाना चाहते हैं इसलिए ऐसे स्थलोंपर प्रथमपुरुषका प्रयोग करते हैं। इसी दृष्टिसे मम्मटाचार्यने भी स्वयं अपनी लिखी हुई कारिकाकी वृत्ति लिखते समय उसमें 'ग्रन्थकृत् परामृशति' यह प्रथमपुरुषका प्रयोग किया है। उसके आधारपर कारिका और वृत्तिको भिन्न निर्माताओंकी कृति माननेका प्रयत्न अनुचित एवं उपहासास्पद है।

इसी प्रकार कारिकाकार तथा वृत्तिकारको भिन्न सिद्ध करनेके लिए जो तीसरी युक्ति प्रस्तुत की गयी है वह भी असङ्गत और उपहासास्पद है। 'समस्तवस्तुविषयं श्रौता आरोपिता यदा' समस्तवस्तुविषयरूपकके इस लक्षणकी वृत्तिमें 'बहुत्वमविवक्षितम्' यह जो वृत्तिकारने लिख दिया है इसमें भेदवादी यह परिणाम निकालना चाहते हैं कि यह मूल कारिका तथा वृत्ति अलग-अलग व्यक्तियोंकी लिखी हुई है, क्योंकि यदि एक ही व्यक्तिकी लिखी हुई होती तो वृत्तिमें 'बहुत्वमविवक्षितम्' लिखनेके बजाय ग्रन्थकार स्वयं मूल कारिकामें ही बहुवचन या एकवचन जो विवक्षित हो उसका प्रयोग कर सकते थे। पहले मूल सूत्रमें बहुवचनका प्रयोग करके स्वयं ही फिर 'बहुत्वम-

विवक्षितम्' उसी वृत्तिकारके लिए शोभा नहीं देता है, 'प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्'। इससे यह सिद्ध होता है कि मूल सूत्र भरतमुनिका बनाया हुआ है। उसमें बहुवचनका प्रयोग किया गया है। उसकी वृत्ति मम्मटाचार्यकी लिखी है इसलिए उन्होंने इसमें बहुत्वमविवक्षितम्' लिखा है।

यह भेदवादीका युक्तिक्रम है। किन्तु जान पड़ता है कि वह प्रकृति प्रसङ्गको बिलकुल ही नहीं समझ सका है इसीलिए ऐसी बात कह रहा है। यहाँ ग्रन्थकारने रूपकके समस्तवस्तुविषय-रूपक और एकदेशविवर्तिरूपक ये दो भेद किये हैं। रूपकमें किसी एक वस्तुके ऊपर दूसरेका आरोप किया जाता है। जैसे मुखके ऊपर चन्द्रका आरोप करके मुखचन्द्र रूपकका उदाहरण हो जाता है। यह आरोप कहीं एक ही होता है, कहीं दो-तीन-चार भी हो सकते हैं। जैसे यहाँ पृष्ठ ४६४ पर समस्तवस्तुविषयरूपकका जो उदाहरण दिया है उसमें 'रात्रिकापालिकी'में रात्रिके ऊपर कापालिकी होनेका आरोप किया है। रात्रिके इस कापालिकीत्वके उपपादनके लिए रात्रिकी ज्योत्स्नापर कापा-लिकीकी भस्मका, तारोंके ऊपर कापालिकीकी अस्थियोंका, चन्द्रमाके ऊपर कपालका और चन्द्रमाके कलङ्कके ऊपर सिद्धाञ्जनका आरोप किया है। इस प्रकार इसमें अनेक आरोप किये गये हैं। समस्त-वस्तुविषयरूपकके लिए यह आवश्यक है कि उसमें दो या दोसे अधिक आरोप होने चाहिये और वे सब 'श्रौत' अर्थात् शब्दतः उपात्त होने चाहिये। दो आरोपोंके शब्दतः उपात्त होनेपर भी समस्तवस्तुविषयरूपक हो सकता है और तीन, चार आदि अनेक आरोपितोंके भी शब्दतः उपात्त होनेपर समस्तवस्तुविषयरूपक हो सकता है। यह बात ग्रन्थकार कहना चाहते हैं। अब यदि इस स्थलपर मूलमें प्रयुक्त बहुवचनको ज्योंका त्यों माना जाता है तो इसका अर्थ यह होगा कि जब कमसे कम तीन या उससे अधिक आरोपित शब्दोपात्त हों तभी समस्तवस्तुविषयरूपक होगा। यदि किसी स्थलपर केवल दोका ही आरोप किया गया है और वे दोनों शब्दोपात्त हैं तब वहाँ समस्तवस्तुविषयरूपक नहीं माना जा सकेगा। इस दोषको बचानेके लिए वृत्तिकारको यहाँ 'बहुत्वमविवक्षितम्' लिखना पड़ा है। इसी प्रकार यदि मूल कारिकामें बहुवचनको हटाकर द्विवचन-का प्रयोग किया जाता तो भी यही स्थिति उत्पन्न होती। उस दशामें यदि दोसे अधिकका आरोप कहीं किया जाता और वे सब शब्दतः उपात्त होते तो वहाँ समस्तवस्तुविषयरूपक नहीं बन सकता। क्योंकि मूल लक्षणमें द्विवचनके प्रयोगके कारण दो आरोपोंके स्थलपर ही वह लक्षण घट सकता था। दोसे अधिक आरोपितोंके विषयमें वह लक्षण नहीं घट सकता। तब इस दोषके परिहारके लिए उस अवस्थामें वृत्तिकारको 'द्वित्वमविवक्षितम्' लिखना पड़ता। मूल कारिकामें यदि बहुवचनका प्रयोग किया है तो वृत्तिमें 'बहुत्वमविवक्षितम्'का लिखना अनिवार्य है और यदि मूलमें द्विवचनका प्रयोग किया जाता तो वृत्तिमें 'द्वित्वमविवक्षितम्' लिखना अनिवार्य हो जाता। इसलिए मूलकारको स्वयं ही द्विवचन या बहुवचन लिखकर फिर उसको अविवक्षित मानना इस स्थलपर सर्वथा अनिवार्य है। भेदवादियोंने इस रहस्यको न समझ सकनेके कारण ही 'बहुत्वमविवक्षितम्'के आधारपर कारिकाकार तथा वृत्तिकारको भिन्न भिन्न व्यक्ति सिद्ध करनेका यह जो प्रयास किया है वह उनके अविवेकको ही सूचित करता है।

अभेदसमर्थक युक्तियाँ

यह तो भेदवादियों द्वारा प्रस्तुत की गयी युक्तियोंका खण्डन हुआ। इसके अतिरिक्त कुछ युक्तियाँ ऐसी भी प्रस्तुत की जा सकती हैं जिनके आधारपर यह सिद्ध होता है कि वृत्ति तथा कारि-काओंके निर्माता एक हैं। इनमें सबसे पहिले कारिका तथा वृत्ति दोनोंके निर्माता मम्मटाचार्य ही हैं इस बातके समर्थनके लिए निम्नाङ्कित तीन युक्तियाँ प्रस्तुत की जा सकती हैं—

१ 'काव्यप्रकाश'की मूल कारिकाओंके आरम्भमें तो मङ्गलाचरण किया गया है, किन्तु वृत्ति-भागके आरम्भमें कोई मङ्गलाचरण नहीं किया गया है। यदि मम्मट केवल वृत्तिभागके ही निर्माता होते तो वे अपने वृत्तिग्रन्थके आरम्भमें मङ्गलाचरण अवश्य करते। मूलके आरम्भमें जो मङ्गलाचरण है उसीको वृत्तिभागका मङ्गलाचरण माननेका अभिप्राय यह है कि ये दोनों भाग मम्मटाचार्यके ही बनाये हुए हैं।

२. जहाँ कहीं मम्मटाचार्यने भरतमुनिकी कारिकाओं या सूत्रोंको उद्धृत किया है वहाँ 'तदुक्तं भरतेन' लिखकर उस विशेष सूत्र या कारिकाके साथ भरतमुनिका नाम जोड़कर ही उद्धृत किया है। यदि सारी ही कारिकाएँ भरतमुनिकी बनायी हुई होतीं तो फिर दो-तीन विशेष स्थलोंपर ही 'तदुक्तं भरतेन'का प्रयोग क्यों किया जाता। इस प्रयोगसे सिद्ध होता है कि केवल वे कारिकाएँ या सूत्र जिनके साथ 'तदुक्तं भरतेन' लिखा गया है, भरतमुनिके बनाये हुए हैं, शेष सब मम्मटा-चार्यके स्वयं बनाये हुए सूत्र या कारिकाएँ हैं।

३. 'काव्यप्रकाश'के कारिका तथा वृत्तिभाग दोनों ही मम्मटाचार्यके ही बनाये हुए हैं इस बातको सिद्ध करनेके लिए तीसरी युक्ति यह है कि रूपकके प्रसङ्गमें—

'साङ्गमेतन्निरङ्गन्तु शुद्धं, माला तु पूर्ववत्।'

लिखकर पूर्वकथित 'मालोपमा'के समान 'मालारूपक' भी हो सकता है यह बात ग्रन्थकारने 'माला तु पूर्ववत्' इस कारिकाभागसे कही है। यदि कारिकाभाग भरतमुनिका बनाया हुआ है तो यहाँ कारिकाभागमें 'माला तु पूर्ववत्' लिखकर जिस मालोपमाका सङ्केत किया गया है वह मालोपमा भी भरतमुनिविरचित कारिकामें ही निर्दिष्ट होनी चाहिये किन्तु 'काव्यप्रकाश'में मालोपमाका जो उल्लेख किया गया है वह कारिकाभागमें नहीं किन्तु वृत्तिभागमें किया गया है (पृ० ४६६)। पहिले वृत्तिभागमें जिस मालोपमाका उल्लेख किया गया है उसीको यहाँ कारिकाभागमें 'माला तु पूर्ववत्' लिखकर निर्दिष्ट किया गया है। इससे यह बात स्पष्टरूपसे सिद्ध होती है कि 'काव्य-प्रकाश'के कारिकाभाग और वृत्तिभाग दोनोंके निर्माता स्वयं मम्मटाचार्य ही हैं। इसलिए जो लोग कारिकाभागको भरतमुनिकृत मानते हैं और मम्मटाचार्यको केवल वृत्तिभागका ही निर्माता मानते हैं उनका मत युक्तिसङ्गत नहीं है।

मम्मटके टीकाकार

मम्मटका 'काव्यप्रकाश' संस्कृत साहित्यके विद्वानोंका सदा प्रेमभाजन रहा है। इसी [illegible] इसके ऊपर टीका लिखनेवाले विद्वानोंकी संख्या बहुत बड़ी है। 'भगवद्गीता' एक [illegible] एवं लोकप्रिय धार्मिक ग्रन्थ है। इसलिए भारतीय साहित्यमें सबसे अधिक टीकाएँ 'भगवद्गीता'के ऊपर लिखी गयी हैं। 'भगवद्गीता'के बाद जिस ग्रन्थपर सबसे अधिक टीकाएँ लिखी गयी हैं [illegible] मम्मटाचार्यका 'काव्यप्रकाश' है। 'काव्यप्रकाश'पर अबतक लगभग ७० टीकाएँ संस्कृतमें [illegible] जा चुकी हैं। वर्तमान संस्कृत टीकाओंके अतिरिक्त हिन्दीमें भी अनेक टीकाएँ लिखी [illegible] अंग्रेजी भाषामें भी उसका अनुवाद हो चुका है। इतनी अधिक टीकाओंका होना [illegible] और ग्रन्थकी लोकप्रियताका परिचायक है वहाँ उसकी क्लिष्टता और दुरूहताका [illegible] किसी ग्रन्थकी लोकप्रियता तो उसके गौरवका कारण हो सकता है किन्तु उसकी दुरूहता [illegible] क्लिष्टता ग्रन्थकारके गौरवको बढ़ानेवाली नहीं हो सकती है। 'काव्यप्रकाश'के [illegible] कि उसकी टीकाएँ घर-घरमें विद्यमान हैं किन्तु [illegible] —

'काव्यप्रकाशस्य कृता गृहे गृहे,
टीकास्तथाप्येष तथैव दुर्गमः ।'

यह उक्ति काव्यप्रकाशके गौरवको बढ़ानेवाली नहीं है। ग्रन्थकारका कौशल तो इसमें है कि जो बात वह कहना चाहता है वह पढ़ने और सुननेवालोंको एकदम हस्तामलकवत् स्पष्ट हो जाय।

'काव्यप्रकाश'की टीकाओंमें सबसे प्राचीन टीका माणिक्यचन्द्रकृत 'सङ्केत' टीका है। इसका रचनाकाल विक्रम संवत् १२१६ तदनुसार ११६० ई० है। माणिक्यचन्द्र गुजराती जैन विद्वान् थे। उन्होंने 'सङ्केत' टीकाके अन्तमें उसके लिखनेका समय निम्नलिखित प्रकार दिया है—

'रसवक्त्रग्रहाधीशवत्सरे (१२१६) मासि माधवे।
काव्ये काव्यप्रकाशस्य सङ्केतोऽयं समर्थितः॥'

कर्णाटक जनपदके बीजापुर प्रान्तमें स्थित झलकी ग्रामके निवासी महाराष्ट्र ब्राह्मण वामनाचार्य शर्माने पुण्यपत्तनकी प्रधान पाठशालामें अध्यापन करते हुए सं० १८०४ तदनुसार सन १७४७ ई० में 'बालबोधिनी' नामकी 'काव्यप्रकाश'की बड़ी सुन्दर टीका लिखी है। इसके आरम्भमें उन्होंने 'काव्यप्रकाश'की ४८ टीकाओं और उनके निर्माताओंके नाम गिनाये हैं। ये नाम उन्होंने पद्यबद्ध रूपमें दिये हैं। हम उनके नामोंकी सूची निम्नलिखित प्रकार दे रहे हैं—

१ माणिक्यचन्द्रकृत 'सङ्केत' टीका : रचनाकाल सं० १२१६, सन् ११६० ई०। २. सरस्वतीतीर्थकृत 'बालचित्तानुरञ्जिनी' टीका : रचनाकाल सं० १२९८, सन् १२४२। ३. जयन्तभट्टकृत 'दीपिका' टीका : रचनाकाल सं० १३५०, सन् १२९३। ४. सोमेश्वरकृत 'काव्यादर्श' टीका, इसका दूसरा नाम 'सङ्केत' भी है। ५ विश्वनाथकृत 'दर्पण' टीका। ६. परमानन्द भट्टाचार्यकृत 'विस्तारिका' टीका। ७ आनन्दकविनिर्मित 'निदर्शना' टीका। ८ श्रीवत्सलाञ्छनकृत 'सारबोधिनी' टीका। ९ कमलाकरकृत 'आदर्श' टीका। १०. कमलाकरभट्टनिर्मित 'विस्तृता' टीका। ११. नरसिंहकृत 'नरसिंहमनीषा' टीका। १२. भीमसेनकृत 'सुधासागर' टीका। १३. महेशचन्द्रविरचित 'तात्पर्यविवृति' टीका। १४ गोविन्दनिर्मित 'प्रदीपच्छाया' व्याख्या। १५. नागेशभट्टकृत 'लघ्वी' टीका तथा १६ नागेशभट्टकृत 'बृहती' टीका। १७ वैद्यनाथकृत प्रदीपकी 'उद्योत' नामक टीका, १८. [illegible] निर्मित 'प्रभा' टीका तथा १९ वैद्यनाथ द्वारा निर्मित 'उदाहरणचन्द्रिका' टीका। २० [illegible] विनिर्मित '[illegible]' टीका। २१ श्रीधरकृत टीका। २२. चण्डीदासकृत टीका। २३. देवनाथकृत टीका। २४ [illegible]कृत 'साहित्यदीपिका' टीका। २५. सुबुद्धिमिश्रकृत टीका। २६ पद्मनाभकृत टीका। २७ [illegible] अच्युतकृत टीका। २८. अच्युतपुत्र रत्नपाणि द्वारा निर्मित टीका। २९ [illegible]कृत '[illegible]' टीका। ३० भट्टाचार्यके पुत्र रविकृत 'मधुमती' टीका। ३१ [illegible] निर्माताके नामका पता नहीं चलता है। ३२ इसी प्रकार '[illegible]' टीकाके निर्माताका [illegible] नहीं। ३३ 'आलोक' टीका। ३४ [illegible]कृत 'सङ्केत' टीका। ३५ [illegible] टीका। ३६ [illegible]कृत टीका। ३७ विद्यासागर निर्मित टीका। ३८ [illegible] टीका। ३९ [illegible]कृत टीका। ४० [illegible]कृत टीका। ४१ [illegible] '[illegible]' टीका। ४२ [illegible]कृत '[illegible]' टीका। ४३ [illegible]कृत टीका। ४४ [illegible] ४५ [illegible] '[illegible]' टीका। ४६. [illegible]निर्मित '[illegible]' [illegible] [illegible] 'बालबोधिनी' टीका।

[illegible] ई० में

शक्ति, ध्वनि आदिके विवेचनके विना साहित्यिक ग्रन्थ पूर्ण नहीं कहा जा सकता। रुद्रटके बाद आनंन्दवर्धन आते हैं। आनन्दवर्धन सचमुच ही आनन्दवर्धन हैं। उन्होंने ध्वनितत्त्वका ऐसा विशद और प्राञ्जल विवेचन उपस्थित किया है कि सहृदयोंका हृदय आनन्दोल्लासमें परिपूर्ण हो उठता है। पर अकेली मिठाईसे ही तो काम नहीं चलता। भगवान्ने तो मधुर, अम्ल, लवण, कटु, कषाय और तिक्त षड्रस बनाये हैं। उन सबकी विविधता आस्वादविशेषको उत्पन्न करती है। आनन्दवर्धनमें वह विविधता कहाँ है ? उनका तो सब-कुछ ध्वनिपर केन्द्रित हो रहा है। इसलिए वे भी साहित्यशास्त्रका समग्र चित्र अपने 'ध्वन्यालोक'में प्रस्तुत नहीं कर सके हैं। काव्यप्रकाशकारने तो 'ध्वन्यालोक'का सारा तत्त्वांश बड़े सुन्दर रूपमें अपने ग्रन्थमें उपस्थित कर दिया है। या यों कहिये कि मम्मटने आनन्दवर्धनको पुनः प्राणदान किया है अन्यथा ध्वनिविरोधी भट्टनायक और महिमभट्टने मिलकर उनके ध्वनिसिद्धान्तको कुचल ही डाला था। यह तो मम्मटका ही सामर्थ्य था कि इस उग्र सङ्घर्षके बीचसे वे ध्वनिसिद्धान्तको बचाकर निकाल लाये हैं और अब वह सिद्धान्त 'ध्वन्यालोक'से भी अधिक सुन्दर रूपमें और अधिक पुष्ट आधारपर 'काव्यप्रकाश'में उपस्थित है। इसीलिए मम्मटाचार्यको 'ध्वनिप्रस्थापनपरमाचार्य' कहा जाता है।

आनन्दवर्धनके बाद अभिनवगुप्त आते हैं। वडे उद्भट विद्वान् और प्रौढ लेखक थे। 'ध्वन्यालोकलोचन' और 'अभिनवभारती' दोनों साहित्यशास्त्रके लिए बडी देने हैं। परन्तु वे दोनों मिलकर भी साहित्यको पूर्ण नहीं कर रही हैं। काव्यके आवश्यक अङ्ग—दोष और अलङ्कारोंका विवेचन उनमें नहीं है। इसलिए वे अलङ्कारशास्त्रकी दृष्टिसे अपूर्ण और एकदेशी ही कहे जा सकते हैं। 'काव्यप्रकाश'-ने उनकी इस अपूर्णताको पूर्ण किया है। 'लोचन'में अभिनवगुप्तने ध्वनिसिद्धान्तका उद्धार करनेका यत्न किया है और 'अभिनवभारती'में नाट्यशास्त्रका। अलङ्कारशास्त्रकी दृष्टिसे उनका जो सारभूत तत्त्व है वह सब 'काव्यप्रकाश'में उपस्थित है। इसलिए 'काव्यप्रकाश' इनकी अपेक्षा अधिक परिपूर्ण है और साहित्यिक आवश्यकताको अधिक सुन्दरताके साथ शान्त करनेवाला है। इनके बाद राजशेखर आते हैं। यह तो बस 'मुरारेस्तृतीयः पन्थाः' हैं। 'काव्यमीमांसा' साहित्यशास्त्रका विवेचन करनेवाली होनेपर भी अबतककी सारी विचारधारासे बिलकुल भिन्न है। इसलिए उपयोगी होनेपर भी वह अलङ्कारशास्त्रविषयक जिज्ञासाकी निवृत्तिमें प्रायः असमर्थ है। अगले मुकुलभट्ट हैं। इनका 'अभिधावृत्तिमातृका' ग्रन्थ केवल शब्दशक्तिसे सम्बन्ध रखता है। अलङ्कारशास्त्रके अन्य अङ्गोंसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। काव्यप्रकाशकार मम्मटने उसकी उपेक्षा नहीं की है। साहित्यशास्त्रके एक आवश्यक भागकी पूर्ति उसके द्वारा होती है इसलिए उसका भी साराश उन्होंने बड़े सुन्दर रूपमें अपने ग्रन्थमें उपस्थित किया है। कुन्तक, क्षेमेन्द्र और भोजराजके सिद्धान्तोंका भी यथार्थ मूल्याङ्कन कर उनका समुचित रूपमें 'काव्यप्रकाश'में समावेश किया गया है और ध्वनिविरोधी महिमभट्टको तो खूब मजा चखाया है। उनकी ध्वनिविरोधी युक्तियोंकी ऐसी छीछालेदर की है कि अब वह बिचारा सिकुड-सिकुडकर अपने 'व्यक्तिविवेक'के भीतर ही समा गया है, उसके बाहर उसका कहीं कोई आदर नहीं है। जिस ध्वनिसिद्धान्तको मिटा डालनेका व्यक्तिविवेककारने सङ्कल्प किया था, मम्मटकी कृपासे वह अब पहलेकी अपेक्षा भी अधिक सुन्दर तथा सुदृढ सिद्धान्तके रूपमें उपस्थित है।

आचार्य मम्मटकी प्रतिभा, उनकी विशेषता और साहित्यशास्त्रके प्रति की गयी उनकी सेवाका मूल्याङ्कन एक सहस्र वर्षसे भी अधिक लम्बे कालमें फैले हुए साहित्यशास्त्रके सिंहावलोकनके बिना नहीं किया जा सकता है। इसलिए हमने बहुत संक्षेपमें विगत एक सहस्र वर्षोंकी साहित्यिक प्रवृत्तियोंका विश्लेषणकर यह दिखलानेका यत्न किया है कि काव्यप्रकाशने इन एक सहस्र वर्षोंमें

साहित्योद्यानमें खिले हुए समस्त पुष्पोंका मधुसञ्चय करके अपने इस 'काव्यप्रकाश' ग्रन्थका निर्माण किया है। यह उनकी सबसे बड़ी विशेषता है जिसके कारण उनको और उनके ग्रन्थको इतना अधिक आदर प्राप्त हुआ है। 'काव्यप्रकाश'में अपने पूर्ववर्ती सारे अलङ्कारशास्त्रियोंके गुणों भारी उत्तम बातोंका एक साथ संग्रह कर दिया गया है और उनमें जो त्रुटियाँ या न्यूनताएँ थीं उनको दूर-कर एक सर्वाङ्गपूर्ण साहित्यग्रन्थ उपस्थित करनेका प्रयत्न मम्मटने किया है। इसीलिए 'काव्य-प्रकाश' इतना सारगर्भित, महत्त्वपूर्ण एवं उपादेय ग्रन्थ बन गया है कि उस एक ही ग्रन्थका अध्ययन कर लेनेसे साहित्यशास्त्रका पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। इसलिए 'काव्यप्रकाश' वस्तुत. एक महती रचना है।

किसी भी महती कृतिके लिए श्रम और कला दोनोंकी आवश्यकता होती है। मधुमक्षिका विविध पुष्पोंका मधु सञ्चय करके लाती है यह उसका श्रमपक्ष है। पर उसको अपने छत्तेमें किस प्रकार सजाकर, सँभालकर रखती है यह उसका कलापक्ष है। मधुमक्खीकी छत्तेकी रचना उसके मधुसे कम आनन्ददायक नहीं है। मधु रसनाको तृप्त करता है तो छत्ता दृष्टिको। दोनोंका अपना सौन्दर्य है, दोनोंकी अपनी उपयोगिता है और दोनोंकी अपनी कला है। मधुमक्षिकाका यह श्रम और यह कलात्मक प्रवृत्ति दोनों ही सराहना प्राप्त करती हैं। 'काव्यप्रकाश'की मधुमक्षिका—मम्मट—की भी यही स्थिति है। उन्होंने एक सहस्र वर्षके दीर्घकालमें फैले हुए विस्तीर्ण साहित्यो-द्यानके सैकड़ों सुन्दर पुष्पोंसे मधुसञ्चय करनेमें जो श्रम किया है वह तो प्रशंसनीय है ही, पर उसके साथ ही उसको जिस रूपमें सजाकर 'काव्यप्रकाश'में उपस्थित किया है वह उनकी कलात्मक प्रवृत्तिका परिचायक है। 'काव्यप्रकाश'में दस उल्लास हैं। उनमें प्रतिपाद्य विषय या सञ्चित मधुको इस प्रकार सजाकर रखा गया है कि बस देखते ही बनता है। सारा 'काव्यप्रकाश' 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुन. क्वापि' इस एक सूत्रके ऊपर घूम रहा है। इस सूत्रमें आया हुआ 'तद्' पद काव्यका वाचक है। 'काव्यं यशसेऽर्थकृते' इत्यादि, काव्यप्रयोजनोंका प्रतिपादन करनेवाली पहली कारिकाके प्रारम्भमें 'काव्यम्' यह संज्ञापद आया है। उसके परामर्शक रूपमें 'तददोषौ शब्दार्थौ' में 'तत्' यह सर्वनाम प्रयुक्त हुआ है। इसलिए 'तत्' यह सर्वनाम 'काव्यम्'का ग्राहक है। इसलिए पहिले उल्लासमें काव्यका लक्षण करनेके बाद उसके ध्वनि, गुणीभूतव्यङ्ग्य और चित्र काव्य तीन भेद भी दिखलाये हैं। इसके बाद 'शब्दार्थौ' पदके स्पष्टीकरणके लिए द्वितीय उल्लासमें वाचक, लक्षक, व्यञ्जक तीन प्रकारके शब्द तथा वाच्य, लक्ष्य, व्यङ्ग्य तीन प्रकारके अर्थोंका वर्णन किया गया है। शब्दसे जो अर्थकी प्रतीति होती है वह शब्दकी शक्ति द्वारा ही होती है। इसलिए इन प्रकारके शब्दोंसे तीन प्रकारके अर्थोंको बोधित करनेवाली अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना तीनों प्रकारकी शब्दशक्तियोंका भी निरूपण इसी उल्लासमें कर दिया है। प्रथम उल्लासमें काव्यके भेदोंका केवल सामान्य वर्णन किया था, उनके स्पष्टीकरणके लिए कुछ विशेष वर्णनकी आवश्यकता थी। अत. चौथे, पाँचवें तथा छठे उल्लासोंमें क्रमश. ध्वनिकाव्य, गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य और चित्रकाव्यका विशेष वर्णन किया गया है। ध्वनिकाव्यके भीतर रसध्वनिका प्राधान्य या मुख्यता होनेके कारण चौथे उल्लासमें ध्वनिकाव्यके निरूपणके साथ ही इसका निरूपण भी कर दिया गया है। इसके पहिले तीसरे उल्लासमें आर्थी व्यञ्जनाका वर्णन किया है। ध्वन्यालोक-कार 'ध्वनिप्रस्थापनपरमाचार्य' कहलाते हैं। उद्भट और महिमभट्टकी उक्तियोंका खण्डन करके ध्वनिसिद्धान्तकी स्थापना करनेमें उनको बड़ा परिश्रम करना पड़ा है। इसलिए ध्वनिका [illegible]

काफी विस्तृत भी हो गया है। द्वितीय उल्लासमें अभिधा और लक्षणाके साथ केवल शाब्दी व्यञ्जनाभेदका निरूपण किया था। इसलिए व्यञ्जनाके दूसरे भेद आर्थी व्यञ्जनाका निरूपण तृतीय उल्लासमें किया गया है और पञ्चम उल्लासमें गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्यके भेदों तथा उदाहरणोंको दिखलानेके बाद फिर व्यञ्जनाकी सिद्धिका यत्न किया गया है। द्वितीय तथा तृतीय उल्लासमें केवल व्यञ्जनाके भेद दिखलाये गये थे और उनके उदाहरण दिये गये थे, अन्य मतोंका खण्डन करके ध्वनिसिद्धान्तकी स्थापनाका प्रयत्न वहाँ नहीं किया गया था। ध्वनि तथा गुणीभूतव्यङ्ग्य दोनों प्रकारके व्यञ्जनाश्रित काव्यके भेदों तथा उदाहरणोंके निरूपण करनेके बाद भट्ट आदि साहित्यिकों, महिमभट्ट आदि नैयायिकों, मुकुलभट्ट आदि मीमांसकों, वैयाकरणों और वेदान्तियों, सब व्यञ्जना-विरोधी मतोंका खण्डन करके बड़ी विद्वत्ताके साथ व्यञ्जनावृत्तिकी सत्ता पञ्चम उल्लासके अन्तमें विस्तारके साथ सिद्ध की गयी है। इसके बाद काव्यलक्षणमें 'अदोषौ', 'सगुणौ' और 'अनलङ्कृती पुनः क्वापि' पद व्याख्याके लिए शेष रह जाते हैं। उनकी व्याख्याके लिए ग्रन्थकारने सातसे लेकर दस तक चार उल्लास लिखे हैं। सप्तम उल्लासमें दोषोंका, अष्टम उल्लासमें गुणोंका, उनके साथ ही रीति तथा वृत्तियोंका, नवम तथा दशम दो उल्लासोंमें अलङ्कारोंका वर्णन किया है। नवम उल्लासमें केवल शब्दालङ्कार तथा उभयालङ्कारका और दशम उल्लासमें अर्थालङ्कारोंका वर्णन किया है इस प्रकार दस उल्लासोंमें ग्रन्थकारने काव्यशास्त्रसे सम्बद्ध सारे विषयको बड़ी सुन्दरताके साथ सजा दिया है। यह 'काव्यप्रकाश'की एक बड़ी विशेषता है जो उसको अन्य सब साहित्यिक ग्रन्थोंकी अपेक्षा अधिक उपादेय बनाती है। इस प्रकार 'काव्यप्रकाश'के गौरव और उपादेयताकी वृद्धि करनेवाले और उसे अन्य सबकी अपेक्षा अधिक गौरव एवं आदर प्राप्त करानेवाले कारणोंका संग्रह हम निम्नलिखित पाँच भागोंमें कर सकते हैं—

१. काव्यशास्त्रकारने साहित्यशास्त्रके एक सहस्र वर्षके समस्त आचार्योंकी कृतियोंका अवगाहन और मनन करके उनके सर्वोत्तम सारभागका संग्रहकर अपने इस ग्रन्थमें उपस्थित करनेका यत्न किया है और अपने उस प्रयत्नमें उन्होंने यथेष्ट सफलता प्राप्त की है।

२. पूर्ववर्ती आचार्योंके ग्रन्थोंमें विषयप्रतिपादनकी दृष्टिसे जो न्यूनता या त्रुटियाँ रह गयी थी उन सबको हृदयङ्गम करके मम्मटने अपने ग्रन्थमें उन सबको दूर कर विषयकी दृष्टिसे ग्रन्थको सर्वाङ्गसुन्दर एव परिपूर्ण बनानेका यत्न किया है और उस यत्नमें पूर्ण सफलता प्राप्त की है।

३. मम्मटने साहित्यशास्त्रके शक्ति, ध्वनि, रस, गुण, दोष, अलङ्कार आदि समग्र आवश्यक तत्त्वोंका यथार्थ मूल्याङ्कन किया है और उसीके अनुसार उनको अपने ग्रन्थमें स्थान दिया है।

४. संक्षिप्त सूत्रशैलीका अवलम्बनकर परिमित शब्दोंमे अधिकसे अधिक विषय देनेका यत्न किया है।

मम्मटके उत्तरवर्ती आचार्य

१९. सागरनन्दी

कालक्रममें मम्मटाचार्यके बाद सागरनन्दीका स्थान आता है। ये काव्यशास्त्रके नहीं अपितु नाट्यशास्त्रके आचार्य हैं। मम्मटके पूर्ववर्ती आचार्योंमें १. भरत तथा २. धनञ्जय और उनके भाई ३ धनिक ये तीन नाट्यशास्त्रके आचार्य हो चुके हैं। धनञ्जयने ९७४-९९४ ई० के बीच अपने नाट्यशास्त्रविषयक प्रसिद्ध ग्रन्थ 'दशरूपक'की रचना की थी। इनके लगभग १०० वर्ष बाद सागरनन्दीने अपने 'नाटकलक्षणरत्नकोश' नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थकी रचना की। इनका असली नाम

तो केवल 'सागर' था, किन्तु नन्दी-वंशमें उत्पन्न होनेके कारण ये 'सागरनन्दी' नाम से ही विख्यात हैं। इन्होंने अपने ग्रन्थके अन्तिम श्लोकमें अपने आधारभूत आचार्योंका उल्लेख इस प्रकार किया है—

> 'श्रीहर्षविक्रमनराधिपमातृगुप्त-
> गर्गाश्मकुट्टनखकुट्टकबादरीणाम्।
> एषां मतेन भरतस्य मतं विगाह्य,
> घुष्टं मया समनुगच्छत रत्नकोशम्॥

सन् १९२२ मे स्व० सिलवाँ लेवीने नेपालमें 'नाटकलक्षणरत्नकोश' नामक ग्रन्थकी पाण्डुलिपि प्राप्तकर और उसके सम्बन्धमें परिचयात्मक विवरण 'जरनल एशियाटिक'में (१९२२, पृष्ठ २५० पर) प्रकाशित कराया। उससे विदित हुआ कि सागरनन्दीने भी नाट्यसाहित्यपर एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थकी रचना की है। इसके पूर्व 'नाटकलक्षणरत्नकोश'के कुछ उद्धरण तो विभिन्न ग्रन्थोंमें मिलते थे, किन्तु इनके ग्रन्थका पता नहीं था। उसके बाद श्री एम० डिलनने इस ग्रन्थको सुसम्पादित करके लन्दनसे प्रकाशित करवाया हैं (१९३७ ई०)। 'नाटकलक्षण'में भरतमुनिके अतिरिक्त १. हर्षविक्रम, २. मातृगुप्त, ३. गर्ग, ४. अश्मकुट, ५. नखकुट, ६ बादरिकाका भी उल्लेख पाया जाता है। इनसे प्रतीत होता है कि सागरनन्दीने भरत सहित सात आचार्योंके आधारपर अपने ग्रन्थकी रचना की हैं। किन्तु इन सबमें अधिक 'नाट्यशास्त्र'का आश्रय लिया गया है। अनेक स्थानोंपर भरतके श्लोकोंको ज्योंका त्यों उतार दिया गया है। 'दशरूपक'के समान यह ग्रन्थ भी कारिकारूपमें लिखा गया है।

२०. राजानक रुय्यक

ऊपरकी पंक्तियोंमें 'काव्यप्रकाश'की टीकाओंके प्रसङ्गमें 'काव्यप्रकाशसङ्केत' टीकाके रचयिताके रूपमें हमने रुय्यकका नाम दिया था। मम्मटके उत्तरवर्ती साहित्याचार्योंमें ये राजानक रुय्यक प्रमुख आचार्य हैं। इनके नामके साथ जुडी हुई 'राजानक' उपाधि इनके कश्मीरी पण्डित होनेका प्रमाण है। कश्मीरके राजाओं द्वारा ही प्रमुख विद्वानोंको 'राजानक'की उपाधि दी जाती थी। राजानक रुय्यकने 'काव्यप्रकाश'पर टीका लिखी है इसलिए ये ११वीं शताब्दीके उत्तरार्द्धमें होनेवाले आचार्य मम्मटके पश्चाद्वर्ती हैं यह बात स्पष्ट ही है। दूसरी ओर उन्होंने मङ्खककविविरचित 'श्रीकण्ठचरित' काव्यसे लिये हुए पाँच पद्योंको उदाहरणरूपमें अपने 'अलङ्कारसर्वस्व' ग्रन्थमें उद्धृत किया है। यह बात भी उनका कालनिर्णय करनेमें सहायक होती है। मङ्खक कवि राजानक रुय्यकके शिष्य हैं। उनके 'श्रीकण्ठचरित'का रचनाकाल ११४५ है। इसलिए राजानक रुय्यकका काल ११वीं शताब्दीका मध्यभाग मानना उचित प्रतीत होता है।

रुय्यकविरचित ग्रन्थोंमेंसे १ 'सहृदयलीला', २. 'व्यक्तिविवेक'की टीका, तथा ३. 'अलङ्कार-सर्वस्व' केवल ये तीन ग्रन्थ इस समय उपलब्ध हो रहे हैं। इनमेंसे 'सहृदयलीला' स्त्रियोंके प्रसाधन अलङ्कारादिसे सम्बन्ध रखनेवाला एक छोटा-सा काव्यग्रन्थ है। दूसरा ग्रन्थ महिमभट्टके 'व्यक्तिविवेक'की टीकारूपमें लिखा गया है। किन्तु यह भी अधूरा ही मिला है और 'त्रिवेन्द्रम ग्रन्थमाला'में प्रकाशित हो चुका है। उनका सबसे प्रमुख ग्रन्थ है 'अलङ्कारसर्वस्व'। अलङ्कार-शास्त्रके ऊपर यह बड़ा प्रौढ़ तथा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। साहित्यशास्त्रके रस, ध्वनि, वक्रोक्ति, रीति आदि जिन सम्प्रदायोंकी चर्चा ऊपर की गयी है उनकी मूल व्याख्या 'अलङ्कारसर्वस्व' और उसकी समुद्रबन्धकृत टीकामें ही की गयी थी। सहृदयबन्धकी टीकामें इन सम्प्रदायोंके विस्तृत वैज्ञानिक विवेचन इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—

विद्याधर चक्रवर्तीकी टीकाका नाम 'अलङ्कारसञ्जीवनी' या 'सर्वस्वसञ्जीवनी' है। उन्होंने मम्मटके 'काव्यप्रकाश'पर भी 'सम्प्रदायप्रकाशिनी' टीका लिखी थी। इनका काल चौदहवीं शताब्दीमें माना जाता है।

रुय्यकके तीन ग्रन्थोंका उल्लेख हमने ऊपर किया है। ये तीनों ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। इनके अतिरिक्त (१) 'काव्यप्रकाशसङ्केत', (२) 'अलङ्कारमञ्जरी', (३) 'अलङ्कारानुसारिणी', (४) 'साहित्यमीमांसा', (५) 'नाटकमीमांसा' और (६) 'अलङ्कारवार्तिक' इन ६ ग्रन्थोंका उल्लेख जयरथकी 'विमर्शिनी' टीकामें मिलता है।

२१. हेमचन्द्र

राजानक रुय्यकके बाद साहित्यशास्त्रके आचार्योंमें आचार्य हेमचन्द्रका नाम आता है। ये जैनधर्मके अत्यन्त प्रसिद्ध आचार्य हैं। इनका जन्म गुजरातमें अहमदाबाद जिलेके 'धुन्धुक' नामक गाँवमें ११४५ वि० (१०८८ ई०)में और देहावसान ११७२ ई० में हुआ था। इस प्रकार इन्होंने ८४ वर्षकी आयु पायी। इनके अनेक ग्रन्थ हैं। अनहिलपट्टनके चालुक्य राजा सिद्धराज (१०९३-११४३ ई०)की प्रार्थनापर इन्होंने एक व्याकरणग्रन्थकी रचना की जिसका नाम अपने तथा सिद्धराज दोनोंके नामोंको मिलाकर 'सिद्धहेम' व्याकरण रखा। साहित्यशास्त्रपर इन्होंने 'काव्यानुशासन' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थकी रचना की। यह ग्रन्थ सूत्रपद्धतिपर लिखा गया है। उसके ऊपर 'विवेक' नामक 'वृत्ति' भी स्वयं ग्रन्थकारने लिखी है। ग्रन्थमें आठ अध्याय हैं। इनमें काव्यके लक्षण, प्रयोजनादि, रस, दोष, गुण, ६ प्रकारके शब्दालङ्कार, २९ प्रकारके अर्थालङ्कार आदिका वर्णन किया गया है। यह प्रायः संग्रहग्रन्थ-सा है जिसमें 'काव्यमीमांसा', 'काव्यप्रकाश', 'ध्वन्यालोक', 'अभिनवभारती' आदिसे लम्बे-लम्बे उद्धरण प्रस्तुत किये गये हैं।

२२. रामचन्द्र-गुणचन्द्र

आचार्य हेमचन्द्रके बाद उनके प्रमुख शिष्य रामचन्द्र और गुणचन्द्रका स्थान आता है। आचार्य हेमचन्द्रके समान ये दोनों भी जैनधर्मके लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् हैं। वैसे रामचन्द्र गुणचन्द्र एक नहीं, दो अलग-अलग व्यक्ति हैं, किन्तु दोनों हेमचन्द्राचार्यके शिष्य हैं। इन दोनोंने मिलकर 'नाट्यदर्पण' नामक एक नाट्यविषयक ग्रन्थकी रचना की है इसलिए इन दोनोंके नामका उल्लेख प्रायः साथ-साथ ही किया जाता है। गुणचन्द्रका अपना अलगसे कोई और ग्रन्थ नहीं पाया जाता। किन्तु रामचन्द्रके अलग भी बहुत-से ग्रन्थ पाये जाते हैं जो प्रायः नाटक हैं। इन्हें 'प्रबन्धशतकर्ता' कहा जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि उन्होंने लगभग १०० ग्रन्थोंकी रचना की थी। उनके ११ नाटकोंके उद्धरण 'नाट्यदर्पण' ग्रन्थमें पाये जाते हैं। अनेक दुर्लभ नाटकोंके उद्धरण भी इसमें दिये गये हैं जिनमें विशाखदत्तविरचित 'देवीचन्द्रगुप्त' नाटक भी है।

अन्य साहित्यग्रन्थोंके समान 'नाट्यदर्पण'की रचना भी कारिकारूपमें हुई है। उसपर वृत्ति भी ग्रन्थकारोंने स्वयं ही लिखी है। ग्रन्थमें चार 'विवेक' हैं, जिनमें क्रमशः नाटक, प्रकरणादि रूपक, रस, भावाभिनय तथा रूपक सम्बन्धी अन्य बातोंका विवेचन किया गया है। इन्होंने रसको केवल सुखात्मक न मानकर दुःखात्मक भी माना है।

आचार्य हेमचन्द्रके शिष्य होनेके नाते ये गुजरातके सिद्धराज (१०९३-११४३), कुमारपाल (११४३-११७२) तथा अजयपाल (११७२-११७५) तीन राजाओंके समयके विद्वान हैं। कहे

है कि अन्तिम राजा अजयपालने किसी कारणवश क्रुद्ध होकर इन्हें प्राणदण्ड दिलवा दिया था। इनका समय १२वीं शताब्दीमें निश्चित होता है।

२२. वाग्भट

आचार्य हेमचन्द्रके समयमें गुजरातका अनहिलपट्टन राज्य जैन विद्वानोंका केन्द्र बन गया था। काव्यशास्त्रके अनेक आचार्योंने वहाँ रहकर साहित्यका निर्माण किया था। उसी परम्परामें रामचन्द्र और गुणचन्द्रके बाद वाग्भटका नाम आता है। साहित्यिक क्षेत्रमें वाग्भटका नाम अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। १. 'वाग्भटालङ्कार', २. 'काव्यानुशासन', ३. 'नेमिनिर्वाणमहाकाव्य', ४. 'ऋषभदेवचरित', ५. 'छन्दोनुशासन' और आयुर्वेदके प्रसिद्ध ग्रन्थ, ६. 'अष्टाङ्गहृदय' आदि ग्रन्थोंके रचयिता वाग्भट माने जाते हैं। इन सबके रचयिता एक ही व्यक्ति है या अलग-अलग व्यक्तियोंने इनकी रचना की है इस विषयमें मतभेद है। कुछ लोग वाग्भट प्रथम और वाग्भट द्वितीय दो वाग्भट हुए हैं ऐसा मानते हैं। उनके मतमें प्रथम वाग्भट केवल 'वाग्भटालङ्कार'के निर्माता है और 'काव्यानुशासन', 'ऋषभदेवचरित' तथा 'छन्दोनुशासन' इन तीन ग्रन्थोंको ये लोग दूसरे वाग्भटकी रचना बतलाते हैं। किन्तु 'नेमिनिर्वाणमहाकाव्य' तथा आयुर्वेदकी 'अष्टाङ्गहृदयसंहिता' इन दोनोंमेंसे किस वाग्भटकी कृति है इस विषयपर ये लोग कोई प्रकाश नहीं डाल सके हैं। वास्तवमें तो इन सब ग्रन्थोंके रचयिता वाग्भट नामके एक ही व्यक्ति प्रतीत होते हैं। 'वाग्भटालङ्कार' की टीका (४-१४८) में—

'इदानीं ग्रन्थकार इदमलङ्कारकर्तृत्वख्यापनाय वाग्भटाभिधस्य महाकवेर्महामात्यस्य तन्नाम गाथया एकया निदर्शयति—'

यह पंक्ति लिखी है। इसमें वाग्भटको 'महाकवि' और अलङ्कारकर्ता' कहा गया है। इससे प्रतीत होता है कि अलङ्कारशास्त्रके 'वाग्भटालङ्कार' तथा 'काव्यानुशासन' ग्रन्थोंके साथ 'नेमिनिर्वाणमहाकाव्य' तथा 'ऋषभदेवचरित' जैसे काव्योंके रचयिता भी यही वाग्भट है। उस दशामें 'छन्दोनुशासन' तथा 'अष्टाङ्गहृदयसंहिता'का रचयिता भी इन्हींको मानना उचित प्रतीत होता है।

ऊपर दिये हुए उद्धरणमें जहाँ इनको 'महाकवि' कहा गया है उसके साथ ही 'महामात्य' भी बतलाया है। 'वाग्भटालङ्कार'के उदाहरणोंमें कर्णदेवके पुत्र अनहिलपट्टनके राजा चालुक्यवंशी राजा जयसिंहकी स्तुति निम्नलिखित प्रकार पायी जाती है—

'जगदात्मकीर्तिशुभ्रं जनयन्नुद्दामधामदोःपरिघः।
जयति प्रतापपूषा जयसिंहः क्ष्माभृदधिनाथः ॥४-४५
अणहिल्लपाटकं पुरमवनिपतिः कर्णदेवनृपसूनुः।
श्रीकलशनामधेयः करी च रत्नानि जगतीह ॥४-१३२

इन्द्रेण किं यदि स कर्णनरेन्द्रसूनुः,
ऐरावणेन किमहो यदि तद्द्विपेन्द्रः।
दम्भोलिनाप्यलमलं यदि तत्प्रतापः,
स्वर्गोऽप्ययं ननु मुधा यदि तत्पुरी सा ॥'

इस स्तुतिसे यह प्रतीत होता है कि वाग्भट अनहिलपट्टनके राजा जयसिंहके महामात्य थे। एक बड़े राज्यके महामात्य, महाकवि और महान् विद्वान् होनेपर भी इनकी जीवनकथा बड़ी

करण है। इन्हें अपने इस 'महामात्यत्व'का 'महामूल्य' चुकाना पड़ा है। इनकी एक पुत्री थी, परम सुन्दरी, परम विदुषी और अपने पिताके सदृश कविप्रतिभाशालिनी। जब वह विवाहयोग्य हुई तो उसे बलात् इनसे छीनकर राजप्रासादकी शोभा बढ़ानेके लिए भेज दिया गया। न वाग्भट इसके लिए तैयार थे और न कन्या। पर 'अप्रतिहता राजाज्ञा'के सामने दोनोंको सिर झुकाना पड़ा। विदाईके समयकी कन्याकी इस उक्तिको जरा देखिये कैसा चमत्कार है, तबीयत फड़क उठती है। राजप्रासादके लिए प्रस्थान करते समय कन्या अपने रोते हुए पिताको सान्त्वना देते हुए कह रही है—

'तात वाग्भट ! मा रोदीः कर्मणां गतिरीदृशी।
दुष् धातोरिवास्माकं गुणो दोषाय केवलम् ॥'

व्याकरणप्रक्रियाके अनुसार दुष् धातुको गुण होकर 'दोष' पद बनता है 'दुष्' धातुके 'गुण'-का परिणाम 'दोष' है। इसी प्रकार हमारे सौन्दर्य-'गुण'का परिणाम यह अनर्थ है और अत्याचार-रूप 'दोष' है। इसलिए हे तात ! आप रोइये नहीं, यह तो हमारे कर्मोंका फल है कि दुष् धातुके समान हमारा गुण भी दोषजनक हो गया।

२४. अरिसिंह और अमरचन्द्र

जैन आचार्योंकी परम्परामें अगला नाम अरिसिंह-अमरचन्द्रका आता है। जिस प्रकार रामचन्द्र और गुणचन्द्र दोनों एक ही गुरुके शिष्य थे और दोनोंने मिलकर 'नाट्यदर्पण'की रचना की थी। उसी प्रकार अरिसिंह और अमरचन्द्र दोनों एक ही गुरु जिनदत्त सूरिके शिष्य हैं और उन दोनोंने मिलकर 'काव्यकल्पलता' नामक ग्रन्थकी रचना की है—

'किञ्चिच्च तद्रचितमात्मकृतं च किञ्चिद्
व्याख्यास्यते त्वरितकाव्यकृतेऽत्र सूत्रम्।'

—काव्यकल्पलतावृत्ति, पृ० १

अमरसिंहके पिताका नाम लावण्यसिंह था। इन्होंने गुजरातके धोलकाके राणा वीर धवलके मन्त्री और अपने मित्र वस्तुपाल जैनकी स्तुतिमें 'सुकृतसङ्कीर्तन' नामक काव्य लिखा है। अमरचन्द्रने 'काव्यकल्पलतावृत्ति'में अपने १. 'छन्दोरत्नावली', २. 'काव्यकल्पलतापरिमल' तथा ३. 'अलङ्कारप्रबोध' इन तीन ग्रन्थोंका उल्लेख किया है। इनके अतिरिक्त इन्होंने 'जिनेन्द्रचरित', जिसका दूसरा नाम 'पद्मानन्द' भी है, की रचना की है।

'काव्यकल्पलतावृत्ति'में अपने पूर्ववर्ती आचार्योंके मार्गको छोड़कर नवीन मार्गका [illegible] किया है। उसका विषय 'कविशिक्षा' है। इसमें गुण, दोष, अलङ्कार आदिका विवेचन न करके काव्यरचनाके नियमोंका प्रतिपादन किया गया है। कवि बननेके इच्छुक [illegible] सहृदयको सरलतासे प्राप्त कर सकते हैं उन्हीं उपायोंका वर्णन इसमें किया गया है। इस ग्रन्थके चार 'प्रतान' हैं। उनमें १. छन्दःसिद्धि, २ शब्दसिद्धि, ३ श्लेषसिद्धि और ४ अर्थसिद्धिके [illegible] प्रतिपादन किया गया है।

२५. देवेश्वर

अरिसिंह और अमरचन्द्रके बाद लगभग १४वीं [illegible] देवेश्वर नामके [illegible] हुए हैं। उन्होंने 'कविकल्पलता' नामक ग्रन्थकी रचना की [illegible]

की एकदम अनुकृति है। कुछ नाममात्रका शैलीभेद करके सारा विषय 'काव्यकल्पलता'का ले लिया गया है। इसलिए इस ग्रन्थका अपना कोई मूल्य नहीं है।

२६. जयदेव

ग्यारहवीं शताब्दीसे आचार्य हेमचन्द्रसे लेकर चौदहवीं शताब्दीमें देवेश्वरपर्यन्त लगभग २५० वर्षतक जब उधर गुजरातका अनहिलवाडा राज्य जैन विद्वानों और साहित्यकारोंका केन्द्र बन रहा था, उसी समय वङ्गदेश ब्राह्मण विद्वानों, कवियों और साहित्यकारोंका केन्द्र बना हुआ था। इस कालमें गुजरातने जहाँ आचार्य हेमचन्द्र जैसे विद्वान् और रामचन्द्र जैसे सुकवि उत्पन्न किये उसी प्रकार वङ्गदेशके विद्याकेन्द्रने जयदेव और गोवर्धनचार्य जैसे सुकवियों और पण्डितोंको प्रस्तुत किया। वङ्गदेशमें वल्लालसेनके पुत्र लक्ष्मणसेन ११वीं शताब्दीमें राज्य करते थे। इन लक्ष्मणसेनकी राजसभामें (१) आर्यासप्तशतीकार गोवर्धनाचार्य, (२) जयदेव, (३) शरणकवि, (४) उमापति और (५) कविराज ये पाँच प्रमुख सभापण्डित थे। राजा लक्ष्मणसेनके सभाभवनके द्वारपर इन 'सभा-रत्नों'के नाम शिलापट्टपर एक श्लोकके रूपमें निम्नलिखित प्रकार अङ्कित थे—

'गोवर्धनश्च शरणो जयदेव उमापतिः।
कविराजश्च रत्नानि समितौ लक्ष्मणस्य तु॥'

इनमेंसे गोवर्धनाचार्य 'आर्यासप्तशती'के रचयिताके रूपमें अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। जयदेव 'चन्द्रालोक' और 'प्रसन्नराघव' नाटकादि अनेक ग्रन्थोंके रचयिता हैं। 'कविराज' पद कदाचित् धोयी कविके लिए प्रयुक्त हुआ है। जयदेवकविने 'गीतगोविन्द'में अपने सभी साथी कवियोंका उल्लेख इस प्रकार किया है—

'वाचः पल्लवयत्युमापतिधरः सन्दर्भशुद्धिं गिरां
जानीते जयदेव एव शरणः श्लाघ्यो दुरूहद्रुतेः।
शृङ्गारोत्तरसत्प्रमेयरचनैराचार्यगोवर्धन-
स्पर्धी कोऽपि न विश्रुतः श्रुतिधरः धोयीकविक्ष्मापतिः॥'

—गीतगोविन्द –४

इसमें जयदेवने उमापति, जयदेव, शरण, गोवर्धनाचार्य और धोयी कविराज सभीका नाम ग्रहण करके उनकी विशेषताओंका वर्णन किया है।

जयदेवविरचित ग्रन्थोंमें १. 'चन्द्रालोक', २. 'प्रसन्नराघव' नाटक और 'गीतगोविन्द' तीन ग्रन्थ विशेष प्रसिद्ध हैं। इनमेंसे 'गीतगोविन्द'में उन्होंने अपने आश्रयदाता लक्ष्मणसेन तथा अपने सहयोगी पञ्चरत्नोंका परिचय दिया है। 'चन्द्रालोक' एवं 'प्रसन्नराघव' नाटकमें अपने माता-पिताका परिचय दिया है। उनके पिताका नाम महादेव और माताका नाम सुमित्रा था। 'चन्द्रालोक'के प्रत्येक 'मयूख'के अन्तमें—

'महादेवः सत्रप्रमुखमखविद्यैकचतुरः
सुमित्रा तद्भक्तिप्रणिहितमतिर्यस्य पितरौ॥'

लिखकर अपनी माता सुमित्रा तथा अपने पिता महादेवके नामका कीर्तन किया है। इसी प्रकार 'प्रसन्नराघव' नाटककी प्रस्तावनामें भी जयदेवने इन दोनोंका परिचय निम्नलिखित प्रकार दिया है—

'विलासो यद्वाचामसमरसनिष्यन्दमधुरः
कुरङ्गाक्षीबिम्बाधरमधुरभावं गमयति।
कवीन्द्रः कौण्डिन्यः स तव जयदेवः श्रवणयो-
र्यासीदातिथ्यं न किमिह महादेवतनयः॥
लक्ष्मणस्येव यस्यास्य सुमित्राकुक्षिजन्मनः।
रामचन्द्रपदाम्भोजे भ्रमद् भृङ्गायते मनः॥'

माता-पिताके इस परिचयसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि 'चन्द्रालोक' तथा 'प्रसन्नराघव' नाटकके रचयिता एक ही व्यक्ति हैं।

गीतगोविन्दकार जयदेव

'गीतगोविन्द'के बारहवें सर्गका ११वाँ श्लोक निम्नलिखित प्रकार पाया जाता है—

'श्रीभोजदेवप्रभवस्य रामा-(धा ?)-देवीसुतश्रीजयदेवकस्य।
पराशरादिप्रियवर्गकण्ठे श्रीगीतगोविन्दकवित्वमस्तु॥'

इस श्लोकमें जयदेवको भोजदेव और रामादेवीका पुत्र कहा है। इस कारण अधिकांश विद्वान् गीतगोविन्दकार जयदेवको 'चन्द्रालोक' तथा 'प्रसन्नराघव'के प्रणेता जयदेवसे भिन्न मानते हैं। इन गीतगोविन्दकार जयदेवके विषयमें श्रीचन्द्रदत्त नामक किसी कविने संस्कृतमें 'भक्तमाल' नामक अपने ग्रन्थमें (३९–४१ तीन सर्गोंमें २४१ श्लोकोंमें) विस्तारके साथ परिचय दिया है। किन्तु उसमें इनके माता-पिताके नामका कोई उल्लेख नहीं किया है। उस परिचयमें चन्द्रदत्तने उत्कलमें जगन्नाथपुरीके पास 'बिन्दुबिल्व' ग्रामको जयदेवकी जन्मभूमि बतलाते हुए लिखा है—

'जगन्नाथपुरीप्रान्ते देशे चैवोत्कलाभिधे।
बिन्दुबिल्व इति ख्यातो ग्रामो ब्राह्मणसंकुलः॥
तत्रोत्कले द्विजो जातो जयदेव इति श्रुतः।'

आगे तीन सर्गोंमें जो कुछ वर्णन है वह 'गीतगोविन्द'के माहात्म्यको प्रदर्शित करनेवाली [illegible] कथाओंके रूपमें है। चन्द्रदत्तके इस वर्णन और 'गीतगोविन्द'में दिये हुए माता-पिताके नामोंके भेदसे यह प्रतीत होता है कि गीतगोविन्दकार जयदेव चन्द्रालोककार और प्रसन्नराघवकार जयदेवसे भिन्न हैं। इसी आधारपर अधिकांश विद्वान् दो जयदेव अलग-अलग मानते हैं।

किन्तु हमारे विचारमें यह स्थिति यथार्थ नहीं है। चन्द्रालोककार जयदेवको गीतगोविन्दकार जयदेवसे भिन्न माननेका मुख्य आधार 'चन्द्रालोक'में आया हुआ उपरिलिखित 'श्रीभोजदेवप्रभवस्य रामादेवीसुतश्रीजयदेवकस्य' श्लोक ही है। परन्तु यह श्लोक प्रक्षिप्त जान पड़ता है। इस अनुमानका कारण यह है कि कुम्भनृपतिकृत 'रसिकप्रिया' नामक 'गीतगोविन्द'की टीकामें इस 'श्रीभोजदेवप्रभवस्य' श्लोककी टीका नहीं पायी जाती है। निर्णयसागरसे जो 'रसिकप्रिया टीका' सहित 'गीतगोविन्द' प्रकाशित हुआ है उसमें इस स्थलपर सम्पादक महोदयने फुटनोटमें 'अत्र श्रीभोजदेवेति श्लोकस्य टीका नोपलभ्यते टीकापुस्तके' यह लिख दिया है। इससे अनुमान होता है कि यह श्लोक बादका बनाया हुआ श्लोक है और प्रामाणिक नहीं है।

की एकदम अनुकृति है। कुछ नाममात्रका शैलीभेद करके सारा विषय 'काव्यकल्पलता'का ले लिया गया है। इसलिए इस ग्रन्थका अपना कोई मूल्य नहीं है।

२६. जयदेव

ग्यारहवीं शताब्दीमें आचार्य हेमचन्द्रसे लेकर चौदहवीं शताब्दीमें देवेश्वरपर्यन्त लगभग २५० वर्षतक जब उधर गुजरातका अनहिलवाडा राज्य जैन विद्वानों और साहित्यकारोंका केन्द्र बन रहा था, उसी समय वङ्गदेश ब्राह्मण विद्वानों, कवियों और साहित्यकारोंका केन्द्र बना हुआ था। इस कालमें गुजरातने जहाँ आचार्य हेमचन्द्र जैसे विद्वान् और रामचन्द्र जैसे सुकवि उत्पन्न किये उसी प्रकार वङ्गदेशके विद्याकेन्द्रने जयदेव और गोवर्धनचार्य जैसे सुकवियों और पण्डितोंको प्रस्तुत किया। वङ्गदेशमें वल्लालसेनके पुत्र लक्ष्मणसेन ११वीं शताब्दीमें राज्य करते थे। इन लक्ष्मणसेनकी राजसभामें (१) आर्यासप्तशतीकार गोवर्धनाचार्य, (२) जयदेव, (३) शरणकवि, (४) उमापति और (५) कविराज ये पाँच प्रमुख सभापण्डित थे। राजा लक्ष्मणसेनके सभाभवनके द्वारपर इन 'सभा-रत्नों'के नाम शिलापट्टपर एक श्लोकके रूपमें निम्नलिखित प्रकार अङ्कित थे—

'गोवर्धनश्च शरणो जयदेव उमापतिः।
कविराजश्च रत्नानि समितौ लक्ष्मणस्य तु ॥'

इनमेंसे गोवर्धनाचार्य 'आर्यासप्तशती'के रचयिताके रूपमें अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। जयदेव 'चन्द्रालोक' और 'प्रसन्नराघव' नाटकादि अनेक ग्रन्थोंके रचयिता हैं। 'कविराज' पद कदाचित् धोयी कविके लिए प्रयुक्त हुआ है। जयदेवकविने 'गीतगोविन्द'में अपने सभी साथी कवियोंका उल्लेख इस प्रकार किया है—

'वाचः पल्लवयत्युमापतिधरः सन्दर्भशुद्धिं गिरां
जानीते जयदेव एव शरणः श्लाघ्यो दुरूहद्रुतेः।
शृङ्गारोत्तरसत्प्रमेयरचनैराचार्यगोवर्धन-
स्पर्धी कोऽपि न विश्रुतः श्रुतिधरः धोयीकविक्ष्मापतिः ॥'

—गीतगोविन्द –४

इसमें जयदेवने उमापति, जयदेव, शरण, गोवर्धनाचार्य और धोयी कविराज सभीका नाम ग्रहण करके उनकी विशेषताओंका वर्णन किया है।

जयदेवविरचित ग्रन्थोंमें १, 'चन्द्रालोक', २. 'प्रसन्नराघव' नाटक और 'गीतगोविन्द' तीन ग्रन्थ विशेष प्रसिद्ध हैं। इनमेंसे 'गीतगोविन्द'में उन्होंने अपने आश्रयदाता लक्ष्मणसेन तथा अपने सहयोगी पञ्चरत्नोंका परिचय दिया है। 'चन्द्रालोक' एवं 'प्रसन्नराघव' नाटकमें अपने माता-पिताका परिचय दिया है। उनके पिताका नाम महादेव और माताका नाम सुमित्रा था। 'चन्द्रालोक'के प्रत्येक 'मयूख'के अन्तमें—

'महादेवः सत्रप्रमुखमखविद्यैकचतुरः
सुमित्रा तद्भक्तिप्रणिहितमतिर्यस्य पितरौ ॥'

लिखकर अपनी माता सुमित्रा तथा अपने पिता महादेवके नामका कीर्तन किया है। इसी प्रकार 'प्रसन्नराघव' नाटककी प्रस्तावनामें भी जयदेवने इन दोनोंका परिचय निम्नलिखित प्रकार दिया है—

येषां कोमलकाव्यकौशलकलालीलावती भारती
तेषां कर्कशतर्कवक्रवचनोद्गारेऽपि किं हीयते।
यैः कान्ताकुचमण्डले कररुहाः सानन्दमारोपिता-
स्तैः किं मत्तकरीन्द्रकुम्भशिखरे नारोपणीयाः शराः॥

जयदेवके नामसे १. 'चन्द्रालोक', २. 'प्रसन्नराघव' नाटक तथा ३. 'गीतगोविन्द' तीन ग्रन्थ विशेषरूपसे प्रसिद्ध हैं।

'चन्द्रालोक'में १० 'मयूख' हैं। उनमें क्रमशः १. वाग्विचार, २. दोषनिरूपण, ३. लक्षण-निरूपण, ४. गुणनिरूपण, ५. अलङ्कारनिरूपण, ६. रसभावरीतिवृत्तिनिरूपण, ७ शब्दशक्तिनिरूपण, ८ गुणीभूतव्यङ्ग्यनिरूपण, ९ लक्षणानिरूपण और १० अभिधानिरूपणका प्रतिपादन हुआ है। यह ग्रन्थ बड़ी सरल और सुन्दर शैलीमें लिखा गया है। अलङ्कारोंके निरूपणमें इनकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इन्होंने अनुष्टुप् श्लोकके पूर्वार्द्धमें प्रत्येक अलङ्कारका लक्षण और उत्तरार्द्धमें उसका उदाहरण दे दिया है। इससे अलङ्कारोंके समझने और याद करनेमें बड़ी सरलता होती है। इसलिए यह ग्रन्थ बहुत लोकप्रिय हुआ। इसके ऊपर प्रद्योतन भट्टाचार्यने 'शरदागम' टीका सबसे पहिले लिखी थी। उसके बाद अप्पय्यदीक्षित (१६२०-१६६०)ने 'चन्द्रालोक'के अलङ्कार-प्रकरणको लेकर अपने 'कुवलयानन्द' ग्रन्थकी रचना की।

'चन्द्रालोको विजयतां शरदागमसम्भवः।
हृद्यः कुवलयानन्दो यत्प्रसादादभूदयम्॥

इनके अतिरिक्त वैद्यनाथ पायगुण्डेने 'रमा' नामक एक टीका और विश्वेश्वर पण्डितने, जो 'गागाभट्ट' नामसे भी कहे जाते हैं, 'चन्द्रालोक'पर 'सुधा' या 'राकागम' टीका लिखी। जोधपुर नरेश जसवन्तसिंह प्रथम (सं०१६८३-१७३५) ने इसी 'चन्द्रालोक'के आधारपर 'भाषाभूषण' नामक अलङ्कारग्रन्थकी रचना की है। 'चन्द्रालोक'का पाँचवाँ मयूख इस 'भाषाभूषण'का आधार है। 'भाषाभूषण' 'चन्द्रालोक'का अनुवादमात्र नहीं है।

जयदेवका दूसरा ग्रन्थ 'प्रसन्नराघव' नाटक है। 'चन्द्रालोक'के समान उसका [illegible] इसका भी पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। गोस्वामी तुलसीदासने 'प्रसन्नराघव'के श्लोक [illegible] अपने 'रामचरितमानस'में प्रस्तुत किया है। उदाहरणरूपमें निम्नलिखित दो पद्य प्रस्तुत किये जा सकते हैं—

'चन्द्रहास हर मे परितापं रामचन्द्रविरहानलजातम्।
त्वं हि कान्तिजितमौक्तिकचूर्णं धारया वहसि शीतलमम्भः।'

यह 'प्रसन्नराघव' नाटकके छठे अङ्कका श्लोक है। गोस्वामी तुलसीदासने इसका अनुवाद निम्नलिखित प्रकार किया है—

"चन्द्रहास हरु मम परितापं। रघुपति बिरह अनल सञ्जातं।
सीत निसित तव असिवर धारा। कह सीता हरु मम दुख भारा।

'प्रसन्नराघव' नाटकके छठे अङ्कका पहिला श्लोक इस प्रकार है—

'उदर्कभूतिमिच्छद्भिः सद्भिः खलु न दृश्यते।
चतुर्थीचन्द्रलेखेव परस्त्रीभालपट्टिका।'

येषां कोमलकाव्यकौशलकलालीलावती भारती
तेषां कर्कशतर्कवक्रवचनोद्गारेऽपि किं हीयते ।
यैः कान्ताकुचमण्डले कररुहाः सानन्दमारोपिताः
तैः किं मत्तकरीन्द्रकुम्भशिखरे नारोपणीयाः शराः ॥

जयदेवके नामसे १. 'चन्द्रालोक', २. 'प्रसन्नराघव' नाटक तथा ३. 'गीतगोविन्द' तीन ग्रन्थ विशेषरूपसे प्रसिद्ध हैं।

'चन्द्रालोक'में १० 'मयूख' हैं। उनमें क्रमशः १. वाग्विचार, २. दोषनिरूपण, ३ लक्षण निरूपण, ४ गुणनिरूपण, ५ अलङ्कारनिरूपण, ६ रसभावरीतिवृत्तिनिरूपण, ७ शब्दशक्तिनिरूपण, ८ गुणीभूतव्यङ्ग्यनिरूपण, ९. लक्षणानिरूपण और १०. अभिधानिरूपणका प्रतिपादन हुआ है। यह ग्रन्थ बड़ी सरल और सुन्दर शैलीमें लिखा गया है। अलङ्कारोंके निरूपणमें इनकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इन्होंने अनुष्टुप् श्लोकके पूर्वार्द्धमें प्रत्येक अलङ्कारका लक्षण और आधे श्लोकमें उसका उदाहरण दे दिया है। इससे अलङ्कारोंके समझने और याद करनेमें बड़ी सरलता होती है। इसलिए यह ग्रन्थ बहुत लोकप्रिय हुआ। इसके ऊपर प्रद्योतन भट्टाचार्यने 'शरदागम' टीका सबसे पहिले लिखी थी। इसके बाद अप्पय्यदीक्षित (१५२०-१५९०)ने 'चन्द्रालोक'के अलङ्कार-प्रकरणको लेकर अपने 'कुवलयानन्द' ग्रन्थकी रचना की।

'चन्द्रालोको विजयतां शरदागमसम्भवः ।
हृद्यः कुवलयानन्दो यत्प्रसादादभूदयम् ॥'

इसके अतिरिक्त वैद्यनाथ पायगुण्डेने 'रमा' नामक एक टीका और विश्वेश्वर पण्डितने, जो 'गागाभट्ट' नामसे भी कहे जाते हैं, 'चन्द्रालोक'पर 'सुधा' या 'राकागम' टीका लिखी। जोधपुर-नरेश जसवन्तसिंह प्रथम (सं०१६८३-१७३५) ने इसी 'चन्द्रालोक'के आधारपर 'भाषाभूषण' नामक अलङ्कारग्रन्थकी रचना की है। 'चन्द्रालोक'का पाँचवाँ मयूख इस 'भाषाभूषण' ग्रन्थका आधार है। 'भाषाभूषण' 'चन्द्रालोक'का अनुवादमात्र नहीं है।

जयदेवका दूसरा ग्रन्थ 'प्रसन्नराघव' नाटक है। 'चन्द्रालोक'के समान उत्तरवर्ती साहित्यपर इसका भी पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। गोस्वामी तुलसीदासने 'प्रसन्नराघव'के अनेक पद्योंका अनुवाद अपने 'रामचरितमानस'में प्रस्तुत किया है। उदाहरणरूपमें निम्नलिखित दो पद्य प्रस्तुत किये जा सकते हैं—

'चन्द्रहास हर मे परितापं रामचन्द्रविरहानलजातम् ।
त्वं हि कान्तिजितमौक्तिकचूर्णं धारया वहसि शीतलमम्भः ॥

यह 'प्रसन्नराघव' नाटकके छठे अङ्कका श्लोक है। गोस्वामी तुलसीदासने इसका अनुवाद निम्नलिखित प्रकार किया है—

"चन्द्रहास हरु मम परितापं । रघुपति विरह अनल संजातम् ।
सीतल निसित बहसि बर धारा । कह सीता हरु मम दुख भारा ॥"

'प्रसन्नराघव' [illegible] इस प्रकार है—

'[illegible] न दृश्यते ।
[illegible] ॥'

गोस्वामी तुलसीदासजीने इसका भाषानुवाद निम्नलिखितप्रकार प्रस्तुत किया है—

"सो परनारि-लिलार गोसाईं ।
तजहु चौथ चन्दाकी नाईं ॥"

२७. विद्याधर

एकावलीकार विद्याधरसे अलङ्कारशास्त्रकी प्रवृत्तियोंमें एक नया मोड आरम्भ होता है। अबतक हमने देखा है कि साहित्यशास्त्रके ऊपर सबसे बडा और सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण काम भारतके ठेठ उत्तरी भाग कश्मीरमें हुआ। साहित्यशास्त्रके २,००० वर्षके इतिहासमें बारहवीं शताब्दीमें हुए रुय्यकतक लगभग १,४०० वर्ष साहित्यिक प्रवृत्तियोंका प्रधान केन्द्र कश्मीर रहा है। यह भारतका उत्तरी विद्याकेन्द्र था। इसके बाद गुजरातका अनहिलपट्टन राज्य और पूर्वका वङ्गराज्य साहित्यिक प्रवृत्तियोंके केन्द्र बने। एकावलीकार विद्याधरसे साहित्यिक प्रवृत्तियोंका केन्द्र दक्षिण-भारतमें पहुँच गया। विद्याधर, विद्यानाथ और विश्वनाथ ये सब दक्षिण भारतकी विभूतियाँ हैं, जिन्होंने अलङ्कारशास्त्रके साहित्यनिर्माणमें महत्त्वपूर्ण योगदान किया है।

विद्याधरका एकमात्र ग्रन्थ 'एकावली' है। इसमें आठ 'उन्मेष' या अध्याय हैं। इनमें क्रमशः १ काव्यस्वरूप, २. वृत्तिविचार, ३. ध्वनिभेद, ४. गुणीभूतव्यङ्ग्य, ५, गुण और रीति, ६. दोष, ७. शब्दालङ्कार तथा ८. अर्थालङ्कारोंका विवेचन किया गया है। यह ग्रन्थ 'काव्यप्रकाश' और 'अलङ्कारसर्वस्व'के आधारपर लिखा गया है। इसके ऊपर १४वीं शताब्दीमें सुप्रसिद्ध टीकाकार मल्लिनाथने 'तरला' नामक विद्वत्तापूर्ण टीका लिखी है। इसीलिए मल्लिनाथने अपनी काव्य टीकाओंमें 'एकावली'के काव्यलक्षण ही प्राय. उद्धृत किये हैं।

'एकावली'की एक मुख्य विशेषता यह है कि इसमें जितने उदाहरण दिये गये हैं वे स्वय विद्याधरके बनाये हुए हैं और उन्होंने अपने आश्रयदाता उत्कलाधिपति नरसिंहदेवके स्तुतिरूपमें उनकी रचना की है। उन्होंने लिखाहै—

'एवं विद्याधरस्तेषु कान्तासम्मितलक्षणम् ।
करोमि नरसिंहस्य चाटुश्लोकानुदाहरन् ॥' —एकावली

ग्रन्थकारने स्वयं अपने इन श्लोकोंको 'चाटुश्लोक' (खुशामद और चापलूसीके श्लोक) कहा है। पूर्ववर्ती अलङ्कारसाहित्यमें यह प्रवृत्ति नहीं दिखायी देती है। विद्याधरने इस नवीन चाटु-प्रवृत्तिकी उद्भावना की। उनके बाद विद्यानाथने भी इसका अनुकरण किया। विद्याधरने जिन उत्कलाधिपतिके चाटुश्लोकोंको उदाहरणरूपमें प्रस्तुतकर 'एकावली'की रचना की है वे उडीसाके राजा नरसिंह द्वितीय माने जाते हैं। उनका समय १२८०-१३१४ ई० है। इसलिए विद्याधरका भी यही काल पडता है।

२८. विद्यानाथ

विद्याधरके बाद विद्यानाथका समय आता है। ये भी विद्याधर द्वारा उद्भावित 'चाटुप्रवृत्ति'के अनुगामी हैं। इन्होंने अलङ्कारशास्त्रपर 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' नामक ग्रन्थ लिखा है। अन्य ग्रन्थोंके समान इसके भी कारिका, वृत्ति तथा उदाहरण तीन भाग हैं। इसके सारे उदाहरण आन्ध्रदेशके काकतीयवंशीय राजा प्रतापरुद्रकी स्तुतिमें स्वयं विद्यानाथके बनाये हुए हैं।

'प्रतापरुद्रदेवस्य गुणानाश्रित्य निर्मितः।
अलङ्कारप्रबन्धोऽयं सन्तः कर्णोत्सवोऽस्तु नः।'

—प्रतापरुद्रयशोभूषण १-९

इस 'प्रतापरुद्रयशोभूषण'में लक्षण भागमें, ग्रन्थकारने अपने आश्रयदाताकी स्तुतिमें लिखे हुए 'प्रतापरुद्र यश' नामसे उदाहरण प्रस्तुत कर दिया है। प्रतापरुद्र आन्ध्रप्रदेशके राजा थे। इनकी राजधानी वारङ्गल, जिसको 'एकशिला' कहते हैं, थी। इनके शिलालेख १२९८-१३१७ ई० तकके मिले हैं। इसलिए प्रतापरुद्रका समय चौदहवीं शताब्दीका आरम्भिक भाग है। यही समय विद्यानाथका भी है। विद्यानाथके 'प्रतापरुद्रयशोभूषण'के आदर्शपर ही कदाचित् हिन्दीके प्रसिद्ध कवि भूषणने 'शिवराजभूषण' नामक अलङ्कारग्रन्थकी हिन्दीमें रचना की थी।

२९. विश्वनाथ कविराज

विद्यानाथके बाद विश्वनाथ कविराजका नाम आता है। इनका अलङ्कारशास्त्रविषयक 'साहित्यदर्पण' ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध है। इसके अन्तिम श्लोकमें उन्होंने अपनेको 'श्रीचन्द्रशेखर-महाकविचन्द्रसूनु' कहा है, जिससे पता चलता है कि इनके पिताका नाम चन्द्रशेखर था। इनके पितामहका नाम नारायणदास था। इन्होंने 'काव्यप्रकाश'के ऊपर टीका भी लिखी है। उसका उल्लेख 'काव्यप्रकाश'की टीकाओंके प्रसङ्गमें किया जा चुका है। इसमें उन्होंने अपने पितामह श्री-नारायणदासका परिचय देते हुए लिखा है—

'यदाहुः श्रीकलिङ्गभूमण्डलाखण्डलमहाराजाधिराजश्रीनरसिंहदेवसभायां धर्मदत्तं स्थगयन्तः अस्मत्पितामहश्रीमन्नारायणदासपादाः।'

'साहित्यदर्पण'में इन्हीं नारायणदासका उल्लेख इस प्रकार किया गया है—

'तत्प्रवणत्वं चास्मद्वृद्धप्रपितामहसहृदयगोष्ठीगरिष्ठकविपण्डितमुख्यश्रीमन्नारा-यणपादैरुक्तम्।'

इन दोनोंमें विश्वनाथने नारायणदासके साथ अपना जो सम्बन्ध दिखलाया है वह एक-सा नहीं है। पहिली जगह उनको अपना साक्षात् पितामह कहा है और दूसरी जगह 'वृद्धप्रपितामह-सहृदयगोष्ठीगरिष्ठ' अर्थात् मित्रमण्डलीके प्रमुख कहा है। पता नहीं इनमेंसे कौन-सी बात ठीक है। पर इस विवरणसे यह निकलता है कि यह कलिङ्गके रहनेवाले थे। 'साहित्यदर्पण'के प्रथम परिच्छेदके अन्तकी पुष्पिकाके अनुसार उन्होंने अपनेको 'सान्धिविग्रहिक' और 'अष्टादशभाषावार-विलासिनीभुजङ्ग' कहा है। इसका अभिप्राय यह है कि वे १८ भाषाओंके ज्ञाता थे और किसी राज्यके 'सान्धिविग्रहिक' अर्थात् विदेशमन्त्री थे। किन्तु उस राज्यका कोई उल्लेख नहीं किया है।

'साहित्यदर्पण'के चतुर्थ परिच्छेदमें 'अलावदीन नृपतौ न सन्धिर्न च विग्रहः' (४-१४) इन शब्दोंमें दिल्लीके सुल्तान अलाउद्दीन खिलजीका उल्लेख पाया जाता है। अलाउद्दीन खिलजीका शासनकाल १२९६-१३१६ ई० तक रहा है। उसने दक्षिणभारतपर आक्रमण कर पिछले आचार्य विद्यानाथके आश्रयदाता प्रतापरुद्रकी राजधानी वारङ्गल (एकशिला)को जीत लिया था। उसका उल्लेख 'साहित्यदर्पण'में पाये जानेसे विश्वनाथका काल उसके बाद ही होना सम्भव है। इधर 'साहित्यदर्पण'की एक हस्तलिपि प्राप्त हुई है, उसका लेखनकाल सन् १३८४ ई० (सं० १४४०) है। इसलिए विश्वनाथका काल चौदहवीं शताब्दीमें स्थिर होता है।

विश्वनाथका सबसे मुख्य और प्रसिद्धतम ग्रन्थ 'साहित्यदर्पण' है। 'काव्यप्रकाश' के समान इसमे भी दस परिच्छेद हैं और इन परिच्छेदोंमे प्राय. उसी क्रमसे विषयका विवेचन किया गया है। किन्तु इसकी अपनी विशेषता यह है इसके छठे परिच्छेदमे, जो इसका सबसे बडा परिच्छेद है, नाट्यशास्त्र-सम्बन्धी सम्पूर्ण विषयका समावेश कर दिया गया है, जिससे काव्य तथा नाट्य-सम्बन्धी सम्पूर्ण विषयोंका ज्ञान एक ही ग्रन्थ द्वारा प्राप्त हो जानेसे ग्रन्थकी उपयोगिता बढ गयी है। 'काव्यप्रकाश'मे नाटक सम्बन्धी अंश नहीं है। प्रथम परिच्छेदमे काव्यके प्रयोजन-लक्षणादि प्रस्तुत करते हुए विश्वनाथने मम्मटके 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुन. क्वापि' इस काव्य-लक्षणका बडे संरम्भके साथ खण्डन किया है और उसके स्थानपर 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'को काव्यका लक्षण स्थापित किया है। द्वितीय परिच्छेदमे वाक्य और पदका लक्षण करनेके बाद अभिधा-लक्षणा-व्यञ्जनादि शब्दशक्तियोंका विस्तारके साथ विवेचन किया है। तृतीय उल्लासमें रस-निष्पत्तिका बडा सुन्दर विवेचन किया है। रसनिरूपणके साथ-साथ इसमें नायकनायिकाभेदका प्रतिपादन किया है। यह विषय भी 'काव्यप्रकाश'मे नही आया है। चतुर्थ परिच्छेदमें काव्यके ध्वनिकाव्य, गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्यके भेदोंका विवेचन किया है। पञ्चम परिच्छेदमे ध्वनिसिद्धान्तके विरोधी समस्त मतोंका खण्डन करके ध्वनिसिद्धान्तका समर्थन बडी प्रौढताके साथ किया है। इसी-लिए ग्रन्थकार परिच्छेदोंके अन्तकी पुष्पिकाओंमें अपनेको 'ध्वनिप्रस्थापनपरमाचार्य' लिखते हैं। छठे परिच्छेदमे नाट्यशास्त्र-सम्बन्धी विषयोंका प्रतिपादन है। उसके बाद ७–१० चार परिच्छेदोंमे क्रमश. दोष, गुण, रीति तथा अलङ्कारोंका प्रतिपादन किया गया है। इस प्रकार यह ग्रन्थ सर्वाङ्गपूर्ण बन गया है। ग्रन्थकी लेखनशैली बडी सरल और सुबोध है। 'काव्यप्रकाश'की-सी जटिलता इसमे कहीं नहीं है।

'साहित्यदर्पण'के लिखनेके बाद विश्वनाथने 'काव्यप्रकाश'के ऊपर 'काव्यप्रकाशदर्पण' नामक टीका लिखी। इनके अतिरिक्त अनेक काव्योंकी भी रचना की है, जिनमे १ 'राघवविलास' संस्कृतका महाकाव्य है; २. 'कुवलयाश्वचरित' प्राकृत भाषामे निबद्ध काव्य है, ३. 'प्रभावतीपरिणय' नाटिका, ४. 'चन्द्रकला' नाटिका; ५. 'नरसिंहविजय' काव्य तथा ६ 'प्रशस्तिरत्नावली' इन ६ काव्य तथा नाटकोंका उल्लेख इन्होंने स्वय 'साहित्यदर्पण' तथा 'काव्यप्रकाश'की टीकामे किया है। इनमेसे अन्तिम 'प्रशस्तिरत्नावली' सोलह भाषाओंमे लिखा हुआ 'करम्भक' है।

३०. शारदातनय [१३वीं शताब्दी]

शारदातनय अलङ्कारशास्त्रके नहीं, अपितु नाट्यशास्त्रके आचार्य हैं। इनके ग्रन्थका नाम 'भावप्रकाशन' है। ग्रन्थमें दस 'अधिकार' अथवा अध्याय हैं। इनमे क्रमश. १. भाव, २. रसस्वरूप, ३. रसभेद, ४. नायक-नायिका, ५. नायिकाभेद, ६. शब्दार्थसम्बन्ध, ७. नाट्येतिहास, ८ दशरूपक, ९ नृत्यभेद तथा १०. नाट्य-प्रयोगका वर्णन किया गया है।

शारदातनयका नाम उनका राशिनाम नहीं है अपितु वे अपनेको शारदादेवीका पुत्र मानकर अपनेको 'शारदातनय' कहने-लिखने लगे, इसलिए उनका यही नाम प्रसिद्ध हो गया। उन्होंने अपने 'भावप्रकाशन' ग्रन्थमें भोजके 'शृङ्गारप्रकाश' तथा मम्मटके 'काव्यप्रकाश'से अनेक श्लोकोंको उद्धृत किया है। आगे १३२० ई० के लगभग होनेवाले शिङ्गभूपालने अपने 'रसार्णवसुधाकर' ग्रन्थमें इन शारदातनयके मतका उल्लेख किया है, इसलिए शारदातनयका समय उनसे पूर्व अर्थात् तेरहवीं शताब्दी माना जा सकता है।

३१. शिङ्गभूपाल [१४वीं शताब्दी]

धनञ्जयके समान शिङ्गभूपाल भी नाट्यशास्त्रके आचार्य हैं। इनका 'रसार्णवसुधाकर' ग्रन्थ नाट्यशास्त्रसे सम्बन्ध रखनेवाला ग्रन्थ है। उसमें १. रञ्जकोल्लास, २. रसिकोल्लास तथा ३. भावोल्लास नामक तीन उल्लास हैं। प्रथम रञ्जकोल्लासमें नायक-नायिकके स्वरूपका, दूसरे रसिकोल्लासमें रसके स्वरूपका, तीसरे भावोल्लासमें रूपकोंके वस्तुविन्यासका विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है। विवेचनशैली सरल और सुन्दर है। 'रसार्णवसुधाकर' की पुष्पिकामें इन्होंने अपना परिचय निम्नलिखित प्रकार दिया है—

'इति श्रीमदान्ध्रमण्डलाधीश्वरप्रतिगण्डभैरवश्रीअन्नपोतनरेन्द्रनन्दनभुजबलभीमश्रीशिङ्गभूपालविरचिते रसार्णवसुधाकरनाम्नि नाट्यालङ्कारे रञ्जकोल्लासो नाम प्रथमो विलासः।'

इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि ये आन्ध्रके राजा अन्नपोतके पुत्र और आन्ध्रमण्डलके अधीश्वर थे। साथ ही इन्होंने अपने को शूद्र लिखा है।

'रसार्णवसुधाकर'के अतिरिक्त इन्होंने शार्ङ्गदेवके 'सङ्गीतरत्नाकर' नामक सङ्गीतशास्त्रविषयक ग्रन्थके ऊपर 'सङ्गीतसुधाकर' टीका लिखी है। इनकी पुष्पिका भी 'रसार्णवसुधाकर'की पुष्पिकासे बिलकुल मिलती जुलती है। 'रसार्णवसुधाकर'के आरम्भमें इन्होंने अपने वंशादिका जो परिचय दिया है उससे विदित होता है कि इनका जन्म 'रेचर्ल' वंशमें हुआ था। इन्हें ६ पुत्र थे। विन्ध्याचलसे लेकर श्रीशैल नामक पर्वतके बीचके भागपर इनका शासन था। इनकी राजधानीका नाम 'राजाचल' था और ये शूद्र थे। इनका समय चौदहवीं शताब्दीमें माना जाता है।

३२. भानुदत्त [१४ वी शताब्दी]

अबतक हमने काव्यशास्त्रविषयक साहित्यिक प्रवृत्तियोंका जो चित्र उपस्थित किया है उसमें भारतके उत्तरमें कश्मीर, पश्चिममें अनहिलपट्टन, पूर्वमें वङ्ग और दक्षिणमें उत्कल, आन्ध्र आदिके राजाओंके संरक्षणमें होनेवाली साहित्यिक प्रवृत्तियोंका परिचय मिल जाता है। किन्तु इस कार्यमें मध्यभारतका भाग अबतक शून्य जैसा है। अब भानुदत्तसे मध्यभारतकी साहित्यिक प्रवृत्तियोंका आरम्भ होता है। भानुदत्तके दो ग्रन्थ हैं—१. 'रसमञ्जरी' और २. 'रसतरङ्गिणी'। इनमेंसे 'रसमञ्जरी' मुख्य ग्रन्थ है। 'रसतरङ्गिणी' इसीका संक्षिप्त रूप है। 'रसमञ्जरी'के अन्तिम श्लोकमें ग्रन्थकारने अपना परिचय निम्नलिखित प्रकार दिया है—

'तातो यस्य गणेश्वरः कविकुलालङ्कारचूडामणिः
देशो यस्य विदेहभूः सुरसरित्कल्लोलकिर्मीरिता।'

इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि ये विदेहभू अर्थात् मिथिलाके रहनेवाले थे और इनके पिताका नाम गणेश्वर था। 'विवादरत्नाकर' नामक धर्मशास्त्रविषयक ग्रन्थके लेखक चण्डेश्वरने भी अपनेको मन्त्री गणेश्वरका पुत्र बतलाया है। इससे प्रतीत होता है कि कदाचित् भानुदत्त और चण्डेश्वर सगे भाई होंगे। चण्डेश्वरने १३१५ ई० में अपना तुलादान करवाया था। इसलिए भानुदत्तका समय चौदहवीं शताब्दीमें ही निर्धारित होता है। पन्द्रहवीं शताब्दीमें गोपाल

आचार्य (१४२८ ई०) ने भानुदत्तकी 'रसमञ्जरी'पर विकास' नामक टीका लिखी है। 'रसमञ्जरी'-पर अबतक ११ टीकाएँ उपलब्ध हो चुकी हैं। 'रसमञ्जरी' एवं 'रसतरङ्गिणी'के अतिरिक्त भानुदत्तका 'गीतगौरीपति' नामक एक सुन्दर गीतिकाव्य भी मिलता है, जो जयदेवके 'गीतगोविन्द'के आदर्श-पर लिखा गया है और उसीके समान सरल एवं सुन्दर है।

३३. रूपगोस्वामी [१५-१६ वीं शताब्दी]

रूपगोस्वामी वृन्दावनकी विभूति हैं। ये चैतन्य महाप्रभुके शिष्य प्रसिद्ध वैष्णव आचार्य हैं। इन्होंने वैष्णव दृष्टिकोणसे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं विशाल साहित्यकी रचना की है। रूप-गोस्वामी तथा सनातनगोस्वामी ये दो भाई थे। दोनों चैतन्य महाप्रभुके शिष्य थे और उन्हींकी प्रेरणासे अपनी जन्मभूमि बंगालको छोड़कर वृन्दावनमें जाकर बसे थे। इनके साथ इनके एक भतीजे जीवगोस्वामी भी हैं। ये तीनों ही वैष्णवधर्मके प्रसिद्ध आचार्य हैं। इनके कारण वृन्दावनको साहित्यिक क्षेत्रमें अपूर्व गौरव प्राप्त हुआ है। जीवगोस्वामीने सनातनगोस्वामीकी भागवत-टीकाका संक्षिप्तरूप 'लघुतोषिणी'के नामसे प्रस्तुत किया है। इस ग्रन्थमें उन्होंने सनातनगोस्वामी तथा रूपगोस्वामीके सभी ग्रन्थोंकी सूची दी है। इस सूचीके अनुसार रूपगोस्वामीके १७ ग्रन्थ हैं। इनमें १. 'हंसदूत' काव्य, २. 'उद्धवसन्देश' काव्य, ३. 'विदग्धमाधव', नाटक, ४. 'ललितमाधव' नाटक, ५. 'दानकेलिकौमुदी' भाणिका, ६. 'भक्तिरसामृतसिन्धु', ७. 'उज्ज्वलनीलमणि' (रसशास्त्र) तथा ८. 'नाटकचन्द्रिका' ये आठ ग्रन्थ विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। इनमेंसे भी अन्तिम तीन ग्रन्थ अलङ्कारशास्त्रसे सम्बन्ध रखनेवाले हैं। इन्हीं ग्रन्थों के कारण अलङ्कारशास्त्रके इतिहासमें इनको महत्त्व-पूर्ण स्थान प्राप्त हुआ है। इनमेंसे 'विदग्धमाधव'का रचनाकाल १५३३ ई० तथा 'उत्कलिकावल्लरी' (जिसका उल्लेख ऊपर नहीं आया) का रचनाकाल १५५० ई० दिया गया है। इससे इनके काल निर्धारणमें सहायता मिलती है। चैतन्य महाप्रभुका समय १५वीं शताब्दीका अन्तिम भाग है। रूपगोस्वामी उनके शिष्य हैं और १५५० में उन्होंने 'उत्कलिकावल्लरी'की रचना की है, इसलिए उनका समय हमने १५-१६वीं शताब्दी रखा है।

रूपगोस्वामीके साहित्यशास्त्रसे सम्बन्ध रखनेवाले तीन ग्रन्थोंमेंसे 'भक्तिरसामृतसिन्धु' तथा 'उज्ज्वलनीलमणि' ये दोनों ग्रन्थ रसविषयपर हैं। 'भक्तिरसामृतसिन्धु'में पूर्व, पश्चिम, उत्तर तथा दक्षिणविभाग नामसे चार 'विभाग' हैं। प्रत्येक विभाग अनेक लहरियोंमें विभक्त है। इसमें भक्तिरसको सर्वोत्तम रस सिद्ध करनेका यत्न किया गया है। पूर्वविभागमें भक्तिका सामान्य स्वरूप-लक्षणादि दिये हैं। दक्षिणविभागमें उसके विभाव, अनुभाव, सात्त्विकभाव, व्यभिचारिभाव तथा स्थायिभावोंका वर्णन किया गया है। पश्चिमविभागमें शान्त भक्तिरस, प्रीत भक्तिरस, प्रेयो भक्तिरस, वत्सल भक्तिरस तथा मधुर भक्तिरस आदि भक्तिरसके विशेष भेदोंका निरूपण किया है। उत्तर-विभागमें हास्य, अद्भुत, वीर, करुण, रौद्र, बीभत्स और भयानक रसोंका वर्णन और रसोंके विरोधाविरोध आदिका दिग्दर्शन कराया गया है। इस ग्रन्थकी रचना १५४१ ई० (१४३३ शाके) में हुई थी। 'उज्ज्वलनीलमणि' इसका पूरक ग्रन्थ है। उसमें मधुर शृङ्गारका विवेचन है।

रूपगोस्वामीका साहित्यशास्त्रविषयक तीसरा ग्रन्थ 'नाटकचन्द्रिका' है। इसकी रचना उन्होंने भरत-नाट्यशास्त्र तथा सिंहभूपालके 'रसार्णवसुधाकर'के आधारपर की है। इसमें विश्वनाथके 'साहित्यदर्पण'में किये हुए नाट्यनिरूपणको भरतमुनिके विपरीत बतलाया गया है।

रूपगोस्वामीके भतीजे जीवगोस्वामीने उनके 'भक्तिरसामृतसिन्धु'पर 'दुर्गमसङ्गमिनी'

इस श्लोकसे विदित होता है कि अप्पय्यदीक्षितने वेङ्कटपतिके अनुरोधसे 'कुवलयानन्द'की रचना की थी। वेङ्कट नामके दो राजा दक्षिणभारतमें मिलते हैं। एक विजयनगरराज्यमें १५३५ के लगभग और दूसरे पेनुगोण्डराज्यमें, जिनके १५८६ से १६१२ तकके लेख मिलते हैं। कोई प्रथम वेङ्कटपतिको और कोई द्वितीय वेङ्कटपतिको अप्पय्यदीक्षितका आश्रयदाता मानते हैं। दोनों अवस्थाओंमें रचना समय १६-१७ शताब्दीमें पड़ता है।

३८. पण्डितराज जगन्नाथ

अप्पय्यदीक्षितके बाद पण्डितराज जगन्नाथका नाम आता है। वैसे ये दोनों समकालीन और दक्षिण भारतके परस्पर प्रतिद्वन्द्वी विद्वान् थे। पण्डितराज जगन्नाथके पिताका नाम पेरुभट्ट तथा माताका नाम लक्ष्मीदेवी था। ये तैलङ्ग ब्राह्मण थे। यों इनका जन्म दक्षिण भारतमें हुआ था किन्तु इनका यौवन दिल्लीके शाहजहाँ बादशाहके यहाँ बीता था ('दिल्लीवल्लभपाणिपल्लवतले नीतं नवीनं वयः')।

'दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा
मनोरथान् पूरयितुं समर्थः।
अन्येन केनापि नृपेण दत्तं
शाकाय वा स्याल्लवणाय वा स्यात्॥'

शाहजहाँके यहाँ रहकर ये दाराशिकोहको संस्कृत पढ़ाते थे। उसके संस्कृत और भारतीय आध्यात्मविद्याके प्रति अनुपम अनुरागादि गुणोंको देखकर पण्डितराजने दाराशिकोहके ऊपर 'जगदाभरण' नामका एक पूरा काव्य ही बना डाला था। शाही दरबारके सरदार आसफअली इनके मित्र थे। १६४१ ई० में उनकी मृत्यु हो जानेपर उनकी स्मृतिमें इन्होंने 'आसफविलास' नामक काव्यकी रचना की थी।

पण्डितराज कवि होनेके नाते बड़े रसिक थे। दिल्लीमें आकर ये लवङ्गी नामकी यवन-कन्याके चक्करमें फँस गये थे। यह यवनकन्या बहुत सामान्य परिवारकी थी। सिरपर पानीका घड़ा लेकर जाती हुई उस नवयुवतीको देखकर मुग्ध हो गये और बादशाहसे प्रार्थना की कि—

'न याचे गजालिं न वा वाजिराजिं
न वित्तेषु चित्तं मदीयं कदाचित्।
इयं सुस्तनी मस्तकन्यस्तकुम्भा
लवङ्गी कुरङ्गीदृगङ्गीकरोतु॥

लवङ्गीके ऊपर यह इतने आसक्त थे कि उसके बिना इन्हें तनिक भी चैन नहीं था और स्वर्गका सुख भी तुच्छ प्रतीत होता था—

'यवनी नवनीतकोमलाङ्गी शयनीये यदि नीयते कदाचित्।
अवनीतलमेव साधुमन्ये न वनी माघवनी विनोदहेतुः॥
यवनी रमणी विपदः शमनी कमनीयतया नवनीतसमा।
उहि-उहि वचोऽमृतपूर्णमुखी स सुखी जगतीह यदङ्कगता॥'

इत्यादि अनेक श्लोक पण्डितराजने इस यवनकन्याके विषयमें कहे हैं। अपना यौवनकाल इन्होंने

रामचन्द्रको 'प्रबन्धशतकर्ता' कहा गया था, पर अप्पय्यदीक्षितके ग्रन्थोंकी संख्या उनसे भी आगे निकल गयी है। विषयकी दृष्टिसे उनके मुख्य रचनाओंका विभाजन निम्नलिखित प्रकार किया जा सकता है—

(१) अद्वैतवेदान्तविषयक ६ ग्रन्थ : १ 'परिमल', २. 'सिद्धान्तलेशसंग्रह', ३ 'वेदान्तनक्षत्रवादावली', ४. 'मध्वतन्त्रमुखमर्दन', ५. 'मध्वमतविध्वंसन', ६. 'न्यायरक्षामणि'।

(२) भक्तिविषयक २६ रचनाएँ : १. 'शिखरिणीमाला', २. 'शिवतत्त्वविवेक', ३ 'ब्रह्मतर्कस्तव', ४ 'लघुविवरण', ५. आदित्यस्तवरत्न', ६. 'आदित्यस्तवव्याख्या', ७. 'शिवाद्वैतविनिर्णय', ८. शिवध्यानपद्धति', ९. 'पञ्चरत्न', १० 'पञ्चरत्नव्याख्या', ११. 'आत्मार्पण', १२. 'मानसोल्लासः', १३. 'शिवकर्णामृत', १४ 'आनन्दलहरी', १५ 'चन्द्रिका', १६. 'शिवमहिमकालिकास्तुति', १७. 'शिवमहिमव्याख्या', १८ 'रत्नत्रयपरीक्षा', १९ रत्नत्रयपरीक्षाव्याख्या', २०. 'अरुणाचलेश्वरस्तुति', २१. 'अपीतकुचाम्बास्तुति', २२ 'चन्द्रकलास्तव', २३. 'शिवार्कमणिदीपिका', २४. 'शिवपूजाविधि', २५ 'नयमणिमाला', २६. 'नयमणिमालाव्याख्या'।

(३) रामानुजमतविषयक ५ ग्रन्थ : १. 'नयमयूखमालिका', २. 'नयमयूखमालिकाव्याख्या', ३ श्रीवेदान्तदेशिकविरचित 'यादवाभ्युदय'की व्याख्या, ४. वेदान्तदेशिक-विरचित 'पादुकासहस्र'की व्याख्या, ५. 'वरदराजस्तव'।

(४) मध्वसिद्धान्तानुसारी २ ग्रन्थ : १. 'न्यायरत्नमाला', २ 'न्यायरत्नमालाव्याख्या'।

(५) व्याकरणविषयक १ 'नक्षत्रवादावली'।

(६) पूर्वमीमांसाविषयक २ ग्रन्थ : १. 'नक्षत्रवादावली', २ 'विधिरसायन'।

(७) अलङ्कारशास्त्रविषयक ३ ग्रन्थ : १. 'वृत्तिवार्तिक', २ 'चित्रमीमांसा', ३. 'कुवलयानन्द'।

अप्पय्यदीक्षितके १०४ ग्रन्थोंमेंसे मुख्यतम ४०-५० ग्रन्थोंके नाम हमने ऊपर दिये हैं। इस सूचीमें दिये अन्तिम तीन ग्रन्थ अलङ्कारशास्त्रसे सम्बद्ध होनेके कारण प्रकृतमें उपयोगी हैं। इनमेंसे 'वृत्तिवार्तिक' ग्रन्थ, जैसा कि उसके नामसे प्रतीत होता है, वृत्ति अर्थात् शब्दशक्तिके विषयपर लिखा गया है। इसमें केवल दो ही परिच्छेद हैं जिनमें केवल अभिधा तथा लक्षणाका विवेचन किया गया है। इससे यह ग्रन्थ अपूर्ण-सा प्रतीत होता है। 'चित्रमीमांसा' दूसरा ग्रन्थ है परन्तु यह भी केवल अतिशयोक्ति अलङ्कारपर्यन्त होनेसे अपूर्ण है। इसके अपूर्ण होनेका उल्लेख स्वयं ग्रन्थकारने निम्नलिखित प्रकार किया है—

'अप्यर्धचित्रमीमांसा न मुदे कस्य मांसला।
अनूरुरिव घर्मांशोरर्धेन्दुरिव धूर्जटेः॥'

तीसरा ग्रन्थ 'कुवलयानन्द' है। यह अप्पयदीक्षितका अलङ्कारशास्त्रविषयक मुख्य ग्रन्थ है। [illegible] 'चन्द्रालोक'में अलङ्कारोंके लक्षण दिये हैं। [illegible]

[illegible]

इस श्लोकसे विदित होता है कि अप्पय्यदीक्षितने वेङ्कटपतिके अनुरोधसे 'कुवलयानन्द'की रचना की थी। वेङ्कट नामके दो राजा दक्षिणभारतमें मिलते हैं। एक विजयनगरराज्यमें १५३५ के लगभग और दूसरे पेन्नकोण्डाराज्यमें, जिनके १५८६ से १६१३ तकके लेख मिलते हैं। कोई प्रथम वेङ्कटपतिको और कोई द्वितीय वेङ्कटपतिको अप्पय्यदीक्षितका आश्रयदाता मानते हैं। दोनों अव-स्थाओंमें रचना समय १६-१७ शताब्दीमें पड़ता है।

३८. पण्डितराज जगन्नाथ

अप्पय्यदीक्षितके बाद पण्डितराज जगन्नाथका नाम आता है। वैसे ये दोनों समकालीन और दक्षिण भारतके परस्पर प्रतिद्वन्द्वी विद्वान् हैं। पण्डितराज जगन्नाथके पिताका नाम पेरुभट्ट तथा माताका नाम लक्ष्मीदेवी था। ये तैलङ्ग ब्राह्मण थे। यों इनका जन्म दक्षिण भारतमें हुआ था किन्तु इनका यौवन दिल्लीके शाहजहाँ बादशाहके यहाँ बीता था ('दिल्लीवल्लभपाणिपल्लवतले नीतं नवीनं वयः')।

'दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा
मनोरथान् पूरयितुं समर्थः।
अन्येन केनापि नृपेण दत्तं
शाकाय वा स्याल्लवणाय वा स्यात्॥'

शाहजहांके यहां रहकर ये दाराशिकोहको संस्कृत पढ़ाते थे। उसके संस्कृत और भारतीय आध्यात्मविद्याके प्रति अनुपम अनुरागादि गुणोंको देखकर पण्डितराजने दाराशिकोहके ऊपर 'जगदा-भरण' नामका एक पूरा काव्य ही बना डाला था। शाही दरबारके सरदार आसफअली इनके मित्र थे। १६४१ ई० में उनकी मृत्यु हो जानेपर उनकी स्मृतिमें इन्होंने 'आसफविलास' नामक काव्यकी रचना की थी।

पण्डितराज कवि होनेके नाते बड़े रसिक थे। दिल्लीमें आकर वे लवङ्गी नामकी यवन-कन्याके चक्करमें फंस गये थे। यह यवनकन्या बहुत सामान्य परिवारकी थी। सिरपर पानीका घड़ा लेकर जाती हुई उस नवयुवतीको देखकर मुग्ध हो गये और बादशाहसे प्रार्थना की कि—

'न याचे गजालिं न वा वाजिराजिं
न वित्तेषु चित्तं मदीयं कदाचित्।
इयं सुस्तनी मस्तकन्यस्तकुम्भा
लवङ्गी कुरङ्गीदृगङ्गीकरोतु॥'

लवङ्गीके ऊपर यह इतने आसक्त थे कि उसके बिना इन्हें तनिक भी चैन नहीं था और स्वर्गका सुख भी तुच्छ प्रतीत होता था—

'यवनी नवनीतकोमलाङ्गी शयनीये यदि नीयते कदाचित्।
अवनीतलमेव साधुमन्ये न वनी माघवनी विनोदहेतुः॥
यवनी रमणी विपदः शमनी कमनीयतया नवनीतसमा।
उहि-उहि वचोऽमृतपूर्णमुखी स सुखी जगतीह यदङ्कगता॥'

इत्यादि अनेक श्लोक पण्डितराजने इस यवनकन्याके विषयमें कहे हैं। अपना यौवनकाल इन्होंने

कृतः श्रीमम्मटाचार्यवर्यैः परिकरावधिः।
प्रबन्धः पूरितः शेषं विधायाल्लटसूरिणा॥

इस श्लोकमें स्पष्टरूपसे यह प्रतिपादन किया गया है कि मम्मटाचार्यने केवल 'परिकर अलङ्कार' पर्यन्त 'काव्यप्रकाश'की रचना की थी। उनके बाद श्री अल्लटसूरिने शेष भागकी रचना करके ग्रन्थको पूर्ण किया। दूसरा श्लोक निम्नलिखित प्रकार है।

काव्यप्रकाश इह कोऽपि निबन्धकृद्‌भ्यां
द्वाभ्यां कृतेऽपि कृतिनां रसवत्त्वलाभः।
लोकेऽस्ति विश्रुतमिदं नितरां रसालं
रन्ध्रप्रकाररचितस्य तरोः फलं यत्॥

इसका अभिप्राय यह है कि जैसे रन्ध्र-प्रकार या बन्ध-प्रकार अर्थात् कलम लगानेकी शैलीसे लगाये गये कलमी आमका फल संसारमें अधिक स्वादिष्ट-रूपसे प्रसिद्ध है उसी प्रकार 'मम्मट' तथा 'अल्लट' दो विद्वानों द्वारा बनाये गये इस 'काव्यप्रकाश' ग्रन्थमें भी सहृदय विद्वानोंको विशेष आनन्द मिलता है।

कारिका तथा वृत्ति-ग्रन्थोंके कर्ताका अभेद

रचना शैलीकी दृष्टिसे भी 'काव्यप्रकाश'में दो भाग पाये जाते हैं—एक कारिकाभाग और दूसरा वृत्तिभाग। यहाँ 'अन्यकृत् परामृशति' ये जो शब्द आये हैं उनके आधारपर कुछ विद्वानोंका विचार है कि इन दोनों भागोंकी रचना अलग अलग व्यक्तियोंने की है। वे लोग कारिकाभागका रचयिता 'भरतमुनि'को मानते हैं और मम्मटाचार्यको केवल उन कारिकाओंपर वृत्ति लिखनेवाला मानते हैं। अपने मतके समर्थनमें वे निम्नलिखित युक्तियाँ देते हैं—

१. 'अन्यकृत् परामृशति' इस वाक्यमें प्रथम-पुरुषके प्रयोग द्वारा वृत्तिकार अपनेसे भिन्न किसी अन्य कारिकाकारका निर्देश कर रहे हैं। इससे प्रतीत होता है कि जिन कारिकाओंकी व्याख्या मम्मटाचार्य कर रहे हैं उनका निर्माता उनसे भिन्न है। इसलिए ये कारिकाएँ 'भरतमुनि'की बनाई हुई हैं और मम्मटाचार्य केवल उनपर वृत्तिका ही निर्माण कर रहे हैं।

२. इस सिद्धान्तके माननेवाले दूसरी युक्ति यह देते हैं कि रूपकके निरूपणके प्रसङ्गमें—

समस्तवस्तुविषयं श्रौता आरोपिता यदा।
[illegible] आरोपिता [illegible]।

[illegible] और तीसरी पंक्ति वृत्तिभागकी है। [illegible] परन्तु उसकी व्याख्या [illegible]

[illegible]

मुख्य रूपसे इन दो युक्तियोंके आधारपर ही कुछ विद्वान् 'काव्यप्रकाश'के कारिकाभागको भरतमुनिकृत मानकर मम्मटाचार्यको केवल वृत्तिभागका निर्माता सिद्ध करना चाहते हैं। परन्तु उनका यह पक्ष ठीक नहीं है। यह ठीक है कि मम्मटाचार्यने दो-तीन स्थलोंपर भरतमुनिकी कारिकाएँ भी दी हैं। परन्तु उनकी संख्या बहुत थोड़ी है। 'काव्यप्रकाश'की १४२ कारिकाओंमें केवल दो तीन कारिकाएँ भरतमुनिकी उद्धृत की गयी हैं, शेष सब कारिकाएँ मम्मटाचार्यकी स्वयं बनायी हुई ही हैं। ग्रन्थकार जब अपनी बनायी हुई कारिकाओंपर स्वयं वृत्ति लिखने बैठता है तो वह अपनेको कारिकाकारसे भिन्न-सा मानकर 'ग्रन्थकृत् परामृशति' आदि प्रथम-पुरुषका प्रयोग करता है और स्वरचित कारिकाकी व्याख्यामें स्वयं ही 'बहुवचनमविवक्षितम्' आदि भी लिख सकता है। इस प्रकारका व्यवहार न केवल 'काव्यप्रकाश'में अपितु अन्य अनेक ग्रन्थोंमें भी पाया जाता है। मम्मटाचार्यके अतिरिक्त आनन्दवर्धन, कुन्तक, मुकुलभट्ट, विश्वनाथ आदि आचार्योंने भी इस पद्धतिका अवलम्बन किया है। इन सभीने स्वयं कारिकारूपमें अपने ग्रन्थोंकी रचनाकर उनपर स्वयं ही वृत्तिकी रचना की है। इसी प्रकार मम्मटाचार्यने भी अपनी लिखी कारिकाओंपर स्वयं ही वृत्ति लिखकर 'काव्यप्रकाश'की रचना की है यह मानना ही उचित है।

इसके अतिरिक्त चतुर्थ उल्लासमें जहाँ मम्मटाचार्यने रसका निरूपण किया है वहाँ "उक्तं हि भरतेन' लिखकर विशेषतः प्रमाणरूपसे भरतमुनिका उल्लेख किया है[1]। इससे भी यह सिद्ध होता है कि केवल वह अंश भरतमुनिका है। अन्य सब कारिकाभाग स्वयं मम्मटाचार्यका ही है। इसी प्रकार दशम उल्लासमें रूपकालङ्कारके निरूपणमें 'माला तु पूर्ववत्' यह कारिकाका भाग आया है। परन्तु इसके पूर्व किसी कारिकामें 'माला'का वर्णन नहीं आया है। हाँ, उपमालङ्कारके प्रसङ्गमें वृत्तिभागमें 'एकस्यैव बहूपमानोपादाने मालोपमा' यह पङ्क्ति अवश्य आयी है। 'मालारूपक'वाली कारिकामें वृत्तिभागके इसी अंशकी ओर सङ्केत किया गया है। यदि कारिकाएँ भरतमुनिकी होतीं तो इस वृत्तिभागका सङ्केत उसमें कैसे हो सकता था! इसलिए भी 'काव्यप्रकाश'के कारिकाभाग तथा वृत्तिभाग दोनों मम्मटाचार्यके बनाये हुए हैं यही बात मानना उचित एवं अधिक युक्तिसंगत है।

साहित्य-मीमांसाका विवेचन

हमने अपनी बनायी 'साहित्य-मीमांसा' नामक कारिका-रूपमें लिखी हुई अन्य पुस्तकमें इस विषयका विवेचन इस प्रकार किया है—

'काव्यप्रकाशनामा च मम्मटाचार्यनिर्मितः ।
ग्रन्थो लेभे परां ख्यातिं शते तु द्वादशे कृतः ॥१॥
"कृतः श्रीमम्मटाचार्यवर्यैः परिकरावधिः ।
ग्रन्थः सम्पूरितः शेषं विधायाल्लटसूरिणा ॥"
कारिका भरतस्यात्र वृत्तिर्मम्मटनिर्मिता ।
न एवं मेनिरे केचिन्मतं तेषामशोभनम् ॥२॥
कारिकाणां शते स्वे द्वाचत्वारिंशदुत्तरे ।
परं द्वयोः स्वातन्त्र्यं द्विता भरतकारिका ॥३॥[2]

१ सूत्र ४३, कारिका २७ की व्याख्या ।
२ 'साहित्य-मीमांसा' ६ ।

नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम्।
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति ॥१॥

[illegible] निर्माण करने जा रहे हैं। इसलिए उन्होंने वाङ्मयकी अधिष्ठातृ देवता और उसमें भी विशेषरूपसे कवि-भारतीका इष्टदेवताके रूपमें स्मरण करना उचित समझा है। अतएव 'भारती कवेर्जयति' [illegible] कवि-भारतीका [illegible] करते हुए वे लिखते हैं—

[पद्मत्वादिरूप असाधारण धर्म अथवा अदृष्ट या धर्माधर्मादिरूप] नियतिके द्वारा निर्धारित नियमोंसे रहित, केवल आनन्दमात्रस्वभावा, [कविकी प्रतिभाको छोड़कर] अन्य किसीके अधीन न रहनेवाली तथा [छः रसोंके स्थान पर] नौ रसों[के योग]से मनोहारिणी काव्य-सृष्टिकी रचना करनेवाली कविकी भारती [वाणी—सरस्वती] सर्वोत्कर्षशालिनी है ॥ १ ॥

कवि-सृष्टिकी विशेषताएँ

ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धनाचार्यने कविको स्वयं प्रजापति या ब्रह्मा और काव्यसंसारको उसकी सृष्टि कहा है—

[1]अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते ॥

इस अपार काव्यसंसारका निर्माता कवि है। उस कवि-प्रजापतिकी इच्छा और रुचिके अनुसार ही इस काव्य-संसारकी रचना होती है। यह कहकर आनन्दवर्धनाचार्यने कविके असाधारण महत्त्वका प्रतिपादन किया है, पर मम्मटाचार्य उससे भी एक पग आगे बढ़ गये हैं। उन्होंने कविकी सृष्टिको ब्रह्माकी सृष्टिसे भी उत्कृष्ट माना है और इस प्रकार कविकी सामर्थ्यको ब्रह्माके सामर्थ्योंसे अधिक महत्त्व प्रदान किया है। अपने इस मङ्गलाचरणमें ग्रन्थकारने अपने इष्ट-देवता 'कवि-भारती'-को सर्वोत्कर्षशालिनी सिद्ध करनेके लिए 'व्यतिरेकालङ्कार'का प्रयोग किया है। उपमानसे उपमेयका आधिक्य वर्णन करनेपर व्यतिरेकालङ्कार होता है। यहाँ ब्रह्माकी सृष्टिरूप उपमानकी अपेक्षा कवि-भारतीकी सृष्टि—निर्मिति—के उत्कर्षका प्रतिपादन कर ग्रन्थकारने उसके सर्वोत्कर्षशालित्वकी स्थापना की है। ब्रह्माकी सृष्टिकी अपेक्षा कविकी सृष्टिमें काव्यप्रकाशकारने चार प्रकारकी विशेषताओंका उल्लेख इस मङ्गल-श्लोकमें किया है। उनको इस प्रकार समझना चाहिये—

१. पहली विशेषता यह है कि ब्रह्माकी सृष्टि 'नियतिकृतनियमसहिता' है, परन्तु कविकी सृष्टि 'नियतिकृतनियमरहिता' है। 'नियति' शब्दके दो अर्थ हो सकते हैं। 'नियम्यन्ते सौरभादयो धर्मा अनया इति नियतिरसाधारणो धर्मः पद्मत्वादिरूपः' अर्थात् जिसके द्वारा सौरभ आदि धर्मोंका नियन्त्रण किया जाता है वे पद्मत्वादिरूप असाधारण धर्म 'नियति' पदसे कहे जाते हैं। उसके द्वारा किया गया नियम 'यत्र पद्मत्वं तत्र सौरभविशेषः' जहाँ पद्मत्व होता है वहाँ विशेष प्रकारका सौरभ रहता है इस प्रकारकी व्याप्तिको 'नियति-कृत नियम' कहा जा सकता है। ब्रह्माकी सृष्टि इस नियति-कृत नियमसे युक्त है। उसमें इस प्रकारकी व्याप्ति पायी जाती है कि विशेष प्रकारके सौरभ आदिका विशेष पदार्थोंके साथ ही सम्बन्ध होता है, परन्तु कविकी सृष्टिमें इस प्रकारका कोई नियम नहीं है। उसकी सृष्टिमें स्त्रीके मुखमें कमलकी सुगन्ध, उसकी आँखोंमें कमलका सौन्दर्य और उसके शरीरमें

[1] 'ध्वन्यालोक', पृष्ठ ४२२।

'पूर्वनिपात अनिवार्य होनेके कारण 'एकस्मात् ह्लादः एकह्लादः' यह रूप बनेगा, 'ह्लादैक' रूप नहीं बनेगा। इसलिए इस प्रकारका समास न करके पूर्वोक्त रीतिसे पहिले सङ्ख्येय वस्तु-वाचक 'एक' शब्दसे प्राचुर्यार्थमें अथवा प्रदीपकारके अनुसार स्वार्थमें मयट्-प्रत्यय करके 'एकमयी' शब्द बना लेनेके बाद उसका तृतीयान्त 'ह्लाद' शब्दके साथ 'ह्लादेन एकमयी ह्लादैकमयी' इस प्रकारका समास करना ही उचित है, जिसका अर्थ 'आनन्दमात्रस्वभावा' होता है। इससे ब्रह्माकी सृष्टिमें सत्त्वा-भिमत सुख-दुःख-मोहस्वभावत्वकी अपेक्षा कविकी सृष्टिमें आनन्दमात्रस्वभावत्व दिखलाकर ग्रन्थकारने कवि-सृष्टिके दूसरे उत्कर्षका प्रतिपादन किया है।

३. कविकी सृष्टिमें तीसरी विशेषता मम्मटाचार्यने 'अनन्य-परतन्त्राम्' इस पदसे प्रदर्शित की है। ब्रह्माकी सृष्टि प्रकृति अथवा समवायि असमवायि-निमित्तकारण आदिके बिना सम्भव न होनेके कारण उनके अधीन है परन्तु कविकी सृष्टिके लिए कविको अपनी प्रतिभाके अतिरिक्त अन्य किसी सामग्रीकी आवश्यकता नहीं होती। वह किसी दूसरेके अधीन न होनेसे 'अनन्य परतन्त्रा' है। इसलिए वह ब्रह्माकी सृष्टिकी अपेक्षा उत्कर्षशालिनी है।

अनन्य-परतन्त्रा पदमें 'परतन्त्र' पदका प्रयोग किया गया है, इसमें परतन्त्र शब्दका अर्थ अधीन है। परतन्त्रका पराधीन अर्थ न करके केवल अधीन अर्थ ही करना चाहिये। क्योंकि 'अनन्य पराधीना' यह अर्थ कुछ सङ्गत-सा नहीं होता है। इसलिए यहाँ 'परतन्त्र' शब्दका केवल 'अधीन' अर्थ ही लेना चाहिये।

"परतन्त्रः पराधीनः परवान्नाथवानपि।
अधीनो निघ्न आयत्तोऽस्वच्छन्दो गृह्यकोऽप्यसौ॥

'अमरकोश'के इस वचनके अनुसार 'परतन्त्र' शब्द केवल 'अधीन' का [illegible] वाचक भी माना गया है।

४. ब्रह्माकी सृष्टिकी अपेक्षा कविकी सृष्टिमें चौथी विशेषता यह दिखलाई है [illegible] सृष्टिमें मधुर, अम्ल, लवण, कटु, कषाय और तिक्त केवल ये छः प्रकारके रस पाये जाते [illegible]। [illegible] सब रस मनुष्यको प्रिय ही नहीं है, कटु रस अत्यन्त अप्रिय भी है। [illegible] उसका सेवन करनेसे आदमी घबड़ाता है। परन्तु कवि-सृष्टिके रसोंमें एक [illegible] उसमें छः रसोंके स्थानपर शृङ्गार, वीर, करुण आदि नौ रस होते हैं [illegible] चुका है, दूसरी विशेषता यह है कि वे सब रस केवल आनन्दमय ही होते [illegible]। [illegible] 'नवरसा' और 'रुचिरा' होनेके कारण भी ब्रह्माकी सृष्टि [illegible] अभिप्राय है।

'नवरस' पदमें 'नवानां रसानां समाहारः' इस प्रकार [illegible] उस दशामें 'अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियामिष्टः' इस [illegible] पञ्चमूली आदिके समान 'नवरसी' इस प्रकारका प्रयोग प्राप्त होता। [illegible] न करके 'नवानामथवा रसा यस्यां सा नवरसा' इस प्रकारका [illegible] 'नवरसा चासौ रुचिरा चेति नवरसरुचिरा' यह [illegible] अथवा 'नवावयवयोः रसाः' इस विग्रह [illegible] 'नवरसा' पद [illegible]

१ 'अमरकोश' ३-१-१६।

इस मङ्गलश्लोकमें उपमानभूत ब्रह्माकी सृष्टिकी अपेक्षा उपमेयभूत कवि-भारतीकी सृष्टिमें चार प्रकारका आधिक्य दिखलाया गया है इसलिए यहाँ व्यतिरेकालङ्कार है। व्यतिरेकालङ्कारका लक्षण 'काव्यप्रकाश'में इस प्रकार किया गया है—

"उपमानाद् यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः"[1]।

'भारती कवेर्जयति'में कविपदमें जो षष्ठीका प्रयोग हुआ है वह सम्बन्ध-सामान्यका सूचक है। 'कवेर्भारती' इसके दो अर्थ हो सकते हैं—एक कविकी भारती अर्थात् काव्य, और दूसरी कविकी भारती अर्थात् उसकी आराध्य-देवता सरस्वती। इन दोनोंमेंसे पहिले अर्थमें कविका, काव्य-रूप अपनी भारतीके साथ जन्य-जनक-भाव-सम्बन्ध होगा और देवतारूप दूसरे पक्षमें कविका भारतीके साथ आराध्य-आराधक-भाव-सम्बन्ध होगा।

'जयत्यर्थेन नमस्कार आक्षिप्यते' यहाँ 'जयति'का अर्थ उत्कर्षशालिनी होता है। इसलिए 'जयत्यर्थेन'का अर्थ 'उत्कर्षेण' होता है। उससे अपने अपकर्षज्ञानपूर्वक प्रह्वीभावरूप नमस्कारकी अभिव्यक्ति होती है। 'वैयाकरण-मञ्जूषामें' 'सुबर्थ'के प्रकरणमें 'नमः' शब्दका अर्थ "अपकृष्टत्वज्ञान-बोधनानुकूलो व्यापारः स्वरादिपठितनमःशब्दार्थः" इस प्रकार किया है। नमस्कार करनेवाला पुरुष नमस्कार्यकी अपेक्षा अपनेको छोटा समझकर ही नमस्कार करता है। इसलिए नमस्कार्य कविभारतीके 'जयति' पदसे सूचित उत्कर्षके द्वारा ग्रन्थकर्ताके नमस्कार या प्रह्वीभावकी सूचना मिलती है। अत-एव यहाँ 'जयति' कहनेसे 'मैं उस कवि-भारतीको नमस्कार करता हूँ' यह अर्थ ही प्रतीत होता है; यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है ॥१॥

अनुबन्धचतुष्टय

इस प्रकार प्रथम कारिकामें मङ्गलाचरण करनेके बाद ग्रन्थके विषय, प्रयोजन आदि रूप अनु-बन्धचतुष्टयका निरूपण करनेका अवसर आता है। किसी भी कार्यमें मनुष्य तभी प्रवृत्त होता है जब उसमें उसको इष्टसाधनता तथा कृतिसाध्यताका ज्ञान होता है। 'इदम्मदिष्टसाधनम्' यह कार्य मेरे लिए हितकर या मेरे अभीष्टका साधन है और 'इदं मत्कृतिसाध्यम्' मैं इस कार्यको भली प्रकार कर सकता हूँ इस प्रकार का ज्ञान होनेपर ही मनुष्य किसी कार्यमें प्रवृत्त हो सकता है अन्यथा नहीं। इस ज्ञानमें 'इदम्' अंशसे विषय, 'इष्ट' पदसे प्रयोजन, 'साधनम्' पदसे सम्बन्ध एवं 'मत्' पदसे अधिकारीका ज्ञान होता है। इस प्रकार इन चारोंका ज्ञान ही प्रवृत्तिका प्रयोजक होता है। इसलिए प्रवृत्तिप्रयोजकज्ञानविषयत्वम् अनुबन्धत्वम्' यह 'अनुबन्ध'का लक्षण किया गया है और अधिकारी, विषय, सम्बन्ध और प्रयोजन इन चारोंको 'अनुबन्ध' शब्दसे कहा जाता है। प्रत्येक ग्रन्थके आरम्भमें इन चारों अनुबन्धोंका निरूपण आवश्यक माना गया है—

सिद्धार्थं सिद्धसम्बन्धं श्रोतुं श्रोता प्रवर्तते।
शास्त्रादौ तेन वक्तव्यः सम्बन्धः सप्रयोजनः ॥

इन चार अनुबन्धोंमें विषय तथा प्रयोजन ये दो अनुबन्ध मुख्य हैं अतः इनका शब्दतः निरूपण आवश्यक होता है। शेष अधिकारी तथा सम्बन्ध इनकी अपेक्षा गौण हैं, इनकी सिद्धि शब्दतः कहे बिना अर्थतः भी हो जाती है। इसलिए अगली कारिकामें ग्रन्थकार अपने ग्रन्थके विषय और प्रयोजनका प्रतिपादन करेंगे।

---

[1] 'काव्यप्रकाश', दशम उल्लास, सूत्र १५८, कारिका १०५।

इस मङ्गलश्लोकमें उपमानभूत ब्रह्माकी सृष्टिकी अपेक्षा उपमेयभूत कवि-भारतीकी सृष्टिमें चार प्रकारका आधिक्य दिखलाया गया है इसलिए यहाँ व्यतिरेकालङ्कार है। व्यतिरेकालङ्कारका लक्षण 'काव्यप्रकाश'में इस प्रकार किया गया है—

"उपमानाद् यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः"[1]।

'भारती कवेर्जयति'में कविपदमें जो षष्ठीका प्रयोग हुआ है वह सम्बन्ध-सामान्यका सूचक है। 'कवेर्भारती' इसके दो अर्थ हो सकते हैं—एक कविकी भारती अर्थात् काव्य, और दूसरी कविकी भारती अर्थात् उसकी आराध्य-देवता सरस्वती। इन दोनोंमेंसे पहिले अर्थमें कविका, काव्य-रूप अपनी भारतीके साथ जन्य-जनक-भाव-सम्बन्ध होगा और देवतारूप दूसरे पक्षमें कविका भारतीके साथ आराध्य-आराधक-भाव-सम्बन्ध होगा।

'जयत्यर्थेन नमस्कार आक्षिप्यते' यहाँ 'जयति'का अर्थ उत्कर्षशालिनी होता है। इसलिए 'जयत्यर्थेन'का अर्थ 'उत्कर्षेण' होता है। उससे अपने अपकर्षज्ञानपूर्वक प्रह्वीभावरूप नमस्कारकी अभिव्यक्ति होती है। 'वैयाकरण-मञ्जूषामें' 'सुबर्थ'के प्रकरणमें 'नमः' शब्दका अर्थ "अपकृष्टत्वज्ञान-बोधनानुकूलो व्यापारः स्वरादिपठितनमःशब्दार्थः" इस प्रकार किया है। नमस्कार करनेवाला पुरुष नमस्कार्यकी अपेक्षा अपनेको छोटा समझकर ही नमस्कार करता है। इसलिए नमस्कार्य कविभारतीके 'जयति' पदसे सूचित उत्कर्षके द्वारा ग्रन्थकर्ताके नमस्कार या प्रह्वीभावकी सूचना मिलती है। अतएव यहाँ 'जयति' कहनेसे 'मैं उस कवि-भारतीको नमस्कार करता हूँ' यह अर्थ ही प्रतीत होता है; यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है ॥१॥

अनुबन्धचतुष्टय

इस प्रकार प्रथम कारिकामें मङ्गलाचरण करनेके बाद ग्रन्थके विषय, प्रयोजन आदि रूप अनुबन्धचतुष्टयका निरूपण करनेका अवसर आता है। किसी भी कार्यमें मनुष्य तभी प्रवृत्त होता है जब उसमें उसको इष्ट-साधनता तथा कृतिसाध्यताका ज्ञान होता है। 'इदम्मदिष्टसाधनम्' यह कार्य मेरे लिए हितकर या मेरे अभीष्टका साधन है और 'इदं मत्कृति-साध्यम्' मैं इस कार्यको भली प्रकार कर सकता हूँ इन प्रकार का ज्ञान होनेपर ही मनुष्य किसी कार्यमें प्रवृत्त हो सकता है अन्यथा नहीं। इस ज्ञानमें 'इदम्' अंशसे विषय, 'इष्ट' पदसे प्रयोजन, 'साधनम्' पदसे सम्बन्ध एवं 'मत्' पदसे अधिकारीका ज्ञान होता है। इस प्रकार इन चारोंका ज्ञान ही प्रवृत्तिका प्रयोजक होता है। इसलिए 'प्रवृत्तिप्रयोजकज्ञानविषयत्वम् अनुबन्धत्वम्' यह 'अनुबन्ध'का लक्षण किया गया है और अधिकारी, विषय, सम्बन्ध और प्रयोजन इन चारोंको 'अनुबन्ध' शब्दसे कहा जाता है। प्रत्येक ग्रन्थके आरम्भमें इन चारों अनुबन्धोंका निरूपण आवश्यक माना गया है—

सिद्धार्थं सिद्धसम्बन्धं श्रोतुं श्रोता प्रवर्तते।
शास्त्रादौ तेन वक्तव्यः सम्बन्धः सप्रयोजनः ॥

इन चार अनुबन्धोंमें विषय तथा प्रयोजन ये दो अनुबन्ध मुख्य हैं अतः इनका शब्दतः निरूपण आवश्यक होता है। शेष अधिकारी तथा सम्बन्ध इनकी अपेक्षा गौण हैं, इनकी सिद्धि शब्दतः कहे बिना अर्थतः भी हो जाती है। इसलिए अगली कारिकामें ग्रन्थकार अपने ग्रन्थके विषय और प्रयोजनका प्रतिपादन करेंगे।

---

१ 'काव्यप्रकाश', दशम उल्लास, सूत्र १०४, कारिका १०५।

विधान सदा शब्दप्रधान होते है। उनमें जो कुछ आज्ञा दी जाती है उसका अक्षरशः पालन अनिवार्य होता है। इसी प्रकार वेद-शास्त्र आदिमे जो उपदेश दिये गये है उनका अक्षरशः पालन करना ही अभीष्ट होता है। इसलिए वे शब्दप्रधान होनेसे राजाज्ञाके समान या प्रभुसम्मित उपदेश-शैलीमे अन्तर्भुक्त होते है।

दूसरी उपदेश-शैली इतिहास-पुराण आदिकी है। इनमे वेद-शास्त्र आदिके समान शब्दोकी प्रधानता नहीं होती है अपितु अर्थपर विशेष बल दिया जाता है। इसलिए उनका अक्षरशः पालन आवश्यक नहीं होता है अपितु उनके अभिप्रायका अनुसरण किया जाता है। इसको ग्रन्थकारने 'सुहृत्सम्मित' शैली कहा है। मित्र अपने मित्रको उचित कार्यका अनुष्ठान करने तथा अनुचित कामका परित्याग करनेका उपदेश करता है। परन्तु उसका उपदेश राजाज्ञाके समान शब्दप्रधान नहीं होता है। उसका तात्पर्य अर्थमे होता है। इसलिए अर्थमे तात्पर्य रखनेवाली इस दूसरे प्रकारकी उपदेश-शैलीको ग्रन्थकारने 'सुहृत्सम्मित' शैली कहा है। इतिहास-पुराण आदिका अन्तर्भाव इस शैलीके अन्तर्गत होता है।

काव्यकी उपदेश-शैली इन दोनोंसे भिन्न प्रकारकी होती है। उसमे न शब्दकी प्रधानता होती है और न अर्थकी। वहाँ शब्द तथा अर्थ दोनोका गुणीभाव होकर केवल रसकी प्रधानता होती है। इस शैलीको मम्मटने 'कान्तासम्मित' उपदेश-शैली नाम दिया है। स्त्री जब किसी काममे पुरुषको प्रवृत्त या किसी कार्यसे उसको निवृत्त करती है तब वह अपने सारे सामर्थ्यसे उसको सरस बनाकर ही उस प्रकारकी प्रेरणा करती है। इसलिए कान्तासम्मित-शैलीमे शब्द तथा अर्थ दोनोंका गुणीभाव होकर रसकी प्रधानता हो जाती है। इसलिए इसको रसप्रधान-शैली कहा जा सकता है। मम्मटाचार्यने काव्यकी उपदेश-शैलीको इस श्रेणीमे रखा है। काव्यके पढ़नेसे भी रामादिके समान आचरण करना चाहिये, रावण आदिके समान आचरण नहीं करना चाहिये इस प्रकारकी शिक्षा प्राप्त होती है। परन्तु उसमे शब्द या अर्थकी नहीं अपितु रसकी प्रधानता होती है। काव्यके रसास्वादनके साथ साथ कर्तव्य-अकर्तव्यका ज्ञान भी सहृदयको होता जाता है। यह शैली वेद शास्त्रकी शब्दप्रधान तथा इतिहास-पुराण आदिकी अर्थप्रधान दोनो शैलियोंसे भिन्न और सरसताके कारण अधिक उपादेय है। इसलिए काव्यके निर्माणमे प्रयत्न करना ही चाहिये, यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है।

काव्यसे यशकी प्राप्ति होती है इसको सिद्ध करनेके लिए ग्रन्थकारने कालिदासका उदाहरण दिया है, वह उचित ही है। अर्थप्राप्ति भी काव्यसे हो सकती है, इसके लिए ग्रन्थकारने धावकका [illegible] 'रत्नावली नाटिका' आदि जो ग्रन्थ पाये जाते हैं [illegible] बनाये हुए हैं। [illegible]

ही काव्यका सबसे मुख्य प्रयोजन है। इस आनन्दानुभूतिकी वेलामें पाठक संसारका और सब-कुछ भूलकर उसी काव्य जगत्में तल्लीन हो जाता है। इस तन्मयतामें ही उस अलौकिक आनन्दकी अभिव्यक्ति होती है। इसलिए ग्रन्थकारने उसके साथ 'विगलितवेद्यान्तरम्' तथा 'सकलप्रयोजनमौलिभूतम्' ये दो विशेषण जोड़े हैं।

इन प्रयोजनोंमें 'शिवेतरक्षति' अर्थात् अनिष्ट—अमङ्गलका निवारण भी एक प्रयोजन बतलाया गया है। इसके लिए ग्रन्थकारने 'मयूर' कविका उदाहरण दिया है। 'मयूर' कविका एकमात्र काव्य 'सूर्यशतक' मिलता है। इसमें सूर्यके स्तुति-परक १०० श्लोक हैं। कहते हैं कि इन श्लोकों द्वारा सूर्यकी स्तुति कर 'मयूर' कविने कुष्ठ-रोगसे छुटकारा पाया था। इसलिए ग्रन्थकारने उसे अनिष्ट-निवारणके उदाहरणरूपमें प्रस्तुत किया है। 'मयूर' कविके कुष्ठी होनेके विषयमें एक कथा प्रसिद्ध है। उसका भी इस प्रसङ्गमें उल्लेख कर देना उचित होगा। 'मेरुतुङ्गाचार्य'कृत 'प्रबन्ध चिन्तामणि' तथा 'यज्ञेश्वरभट्ट'कृत 'सूर्य-शतक'की टीकामें मयूरभट्टके कुष्ठी होने और उस दुष्टरोगसे मुक्त होनेकी कथा इस प्रकार दी गयी है—

मयूरभट्टका उपाख्यान

संवत् १०७८ या सन् १०२१ में मयूर कवि राजा भोजके सभारत्न थे और धारानगरीमें रहते थे। 'कादम्बरी' नामक प्रसिद्ध गद्य काव्यके निर्माता महाकवि 'बाणभट्ट' इनके भगिनी-पति अर्थात् बहनोई थे। वे भी उसी धारानगरीमें रहते थे। दोनो ही कवि थे इसलिए साले-बहनोईके इस सम्बन्धके अतिरिक्त भी उन दोनोंमें विशेष मैत्री-भाव था। दोनो अपनी नूतन रचनाएँ एक-दूसरेको सुनाते रहते थे।

एक दिनकी बात है कि बाणकी पत्नी किसी कारणसे बाणभट्टसे अत्यन्त अप्रसन्न हो गयी। बाणभट्टने उसको मनानेका बहुतेरा प्रयत्न किया पर उसमें उनको सफलता नहीं मिली। इस मान-मनौवलमें ही उनकी सारी रात बीत गयी और लगभग सबेरा हो आया, पर बाणभट्ट भी अपने प्रयत्नमें लगे हुए थे। वे अपनी पत्नीसे कह रहे थे—

गतप्राया रात्रिः कृशतनुशशी शीर्यत एव
प्रदीपोऽयं निद्रावशमुपगतो घूर्णित इव।
प्रणामान्तो मानस्त्यजसि न तथापि क्रुधमहो

"हे प्रिये, रात्रि समाप्त हो आयी है। चन्द्रमा अस्त होने जा रहा है और यह दीपक भी रातभर जागनेके कारण अब निद्राके वशीभूत होकर झोंके ले रहा है। यद्यपि प्रणामसे मानकी समाप्ति हो जाती है पर मेरे सिर नवानेपर भी तुम अपना क्रोध नहीं छोड़ रही हो—"

श्लोकके तीन चरण बन पाये थे और बाणभट्ट उन्हीं तीनोंको बार-बार दुहरा रहे थे। इसी समय मयूरभट्ट प्रातःकालके भ्रमण और काव्यचर्चाके निमित्त बाणभट्टको साथ ले जानेके लिए उनके घर आ पहुँचे। बाणभट्टको ऊपर लिखे श्लोकका पाठ करते हुए सुनकर वे बाहर ही रुक गये। थोड़ी देर सुननेके बाद उनसे चुप न रहा गया और उन्होंने श्लोकके चतुर्थ चरणकी इस प्रकार पूर्ति करके उसे जोरसे सुना ही दिया कि—

'कुचप्रत्यासत्त्या हृदयमपि ते चण्डि कठिनम्।'

बाणकी पत्नीने जब यह सुना तो उसे बड़ा क्रोध आया और उस क्रोधके आवेगमें उसने पूर्ति करनेवालेको पहिचाने बिना ही कुष्ठी हो जानेका शाप दे दिया। उसके पातिव्रत्यके प्रभावसे मयूरभट्टपर शापका प्रभाव पड़ा और वे कुष्ठी हो गये। इसके बाद मालूम होने तथा क्रोध शान्त होनेपर उसीने उनको शापके प्रभावसे मुक्त होनेका यह उपाय बतलाया कि तुम गङ्गाके किनारे जाकर सूर्यकी उपासना करो, उसीसे तुम इस रोगसे मुक्त हो सकोगे। तदनुसार मयूरभट्टने गङ्गाके किनारे एक वृक्षपर एक रस्सीका छींका लटकाकर और उसपर बैठकर सूर्यदेवकी उपासना प्रारम्भ की। वह प्रतिदिन सूर्यकी स्तुतिमें एक नया श्लोक बनाते थे और प्रतिदिन अपने छींकेकी एक रस्सी काटते जाते थे। छींकेकी सौ डोरियाँ कट जानेपर उनके गङ्गामें गिरनेके पूर्व ही सूर्यदेवकी कृपासे उनको आरोग्य-लाभ हो गया। इस प्रकार सूर्यकी स्तुतिमें मयूरकविने जिन सौ श्लोकोंकी रचना की, उन्हींका संग्रह 'सूर्यशतक' नामसे प्रसिद्ध है। इसी प्रसिद्ध कथाके आधारपर मम्मटाचार्यने 'शिवेतर-क्षति'की व्याख्यामें मयूरभट्टके नामका उल्लेख किया है।

वामनाभिमत काव्यके प्रयोजन

मम्मटाचार्यने काव्यके जिन छह प्रयोजनोंका निरूपण किया, लगभग उसी प्रकारके काव्य प्रयोजनोंका प्रतिपादन उनके पूर्ववर्ती आचार्योंने भी किया है। इनमेंसे 'वामन'कृत प्रयोजनोंका निरूपण [illegible] है। उन्होंने काव्यके केवल दो प्रयोजन माने हैं—एक कीर्ति और दूसरा प्रीति या आनन्द। उन्होंने लिखा है—

'काव्यं सद् दृष्टादृष्टार्थं प्रीतिकीर्तिहेतुत्वात्।

इनमें प्रीति अर्थात् आनन्दानुभूतिको काव्यका दृष्ट प्रयोजन तथा कीर्तिको काव्यका अदृष्ट प्रयोजन [illegible] किया है। उन्होंने इस विषयमें तीन श्लोक भी दिये हैं—

'प्रतिष्ठां काव्यबन्धस्य यशसः सरणिं विदुः।
अकीर्तिवर्तिनीं त्वेवं कुकवित्वविडम्बनाम्॥१॥
कीर्तिं स्वर्गफलामाहुरासंसारं विपश्चितः।
अकीर्तिं तु निरालोकनरकोद्देशदूतिकाम्॥२॥
तस्मात् कीर्तिमुपादातुमकीर्तिं च व्यपोहितुम्।
काव्यालङ्कारसूत्रार्थः प्रसाद्यः कविपुङ्गवैः॥३॥

भामह-प्रतिपादित काव्य-प्रयोजन

[illegible]

भामहके इन श्लोकोंको उत्तरवर्ती सभी आचार्योंने आदरपूर्वक अपनाया है। इसके अनुसार कीर्ति तथा प्रीतिके अतिरिक्त पुरुषार्थ-चतुष्टय, कला तथा व्यवहार आदिमें निपुणताकी प्राप्ति भी काव्यका प्रयोजन है।

कीर्तिको काव्यका मुख्य प्रयोजन बतलाते हुए जिस प्रकार वामनने तीन श्लोक लिखे थे, जो ऊपर दिये जा चुके हैं, उसी प्रकार भामहने भी कुछ श्लोक इसी अभिप्रायके लिखे हैं जो नीचे दिये जाते हैं।—

'उपेयुषामपि दिवं सन्निबन्धविधायिनाम्।
आस्त एव निरातङ्कं कान्तं काव्यमयं वपुः ॥६॥
रुणद्धि रोदसी चास्य यावत् कीर्तिरनश्वरी।
तावत् किलायमध्यास्ते सुकृती वैबुधं पदम् ॥७॥
अतोऽभिवाञ्छता कीर्तिं स्थेयसीमा भुवः स्थितेः।
यत्नो विदितवेद्येन विधेयः काव्यलक्षणे ॥८॥
सर्वथा पदमप्येकं न निगाद्यमवद्यवत्।
विलक्ष्मणा हि काव्येन दुःसुतेनेव निन्द्यते ॥११॥
नाकवित्वमधर्माय व्याधये दण्डनाय वा।
कुकवित्वं पुनः साक्षान्मृतिमाहुर्मनीषिणः ॥१२॥

अर्थात् उत्तम काव्योंकी रचना करनेवाले महाकवियोंके दिवङ्गत हो जानेके बाद भी उनका सुन्दर काव्य शरीर 'यावच्चन्द्रदिवाकरौ' अक्षुण्ण बना रहता है ॥६॥

और जबतक उनकी अनश्वर कीर्ति इस भू-मण्डल तथा आकाशमें व्याप्त रहती है तबतक वे सौभाग्यशाली पुण्यात्मा देवपदका भोग करते हैं ॥७॥

इसलिए प्रलयपर्यन्त स्थिर रहनेवाली कीर्तिके चाहनेवाले कविको, उसके उपयोगी समस्त विषयोंका ज्ञान प्राप्त कर उत्तम काव्यकी रचनाके लिए प्रयत्न करना चाहिये ॥८॥

काव्यमें एक भी अनुपयुक्त पद न आने पावे इस बातका ध्यान रखना चाहिये, क्योंकि बुरे काव्यकी रचनासे कवि उसी प्रकार निन्दाका भाजन होता है जिस प्रकार कुपुत्रसे पिताकी निन्दा होती है ॥११॥

[कु-कवि बननेकी अपेक्षा तो अ-कवि होना अच्छा है क्योंकि] अ-कवित्वसे न तो अधर्म होता है और न व्याधि या दण्डका भागी ही बनना पड़ता है परन्तु कु-कवित्वको विद्वान् लोग साक्षात् मृत्यु ही कहते हैं ॥१२॥

कुन्तक-प्रतिपादित काव्य-प्रयोजन

कुन्तकने अपने 'वक्रोक्तिजीवित'में इसको और भी अधिक स्पष्ट किया है। उन्होंने काव्यके प्रयोजनोंका निरूपण करते हुए लिखा है—

धर्मादिसाधनोपायः सुकुमारक्रमोदितः।
काव्यबन्धोऽभिजातानां हृदयाह्लादकारकः ॥३॥

१ भामह—'काव्यालङ्कार', प्रथम परिच्छेद।

२ 'वक्रोक्तिजीवितम्', प्रथम उन्मेष, ३–५ कारिका।

व्यवहारपरिस्पन्दसौन्दर्यं व्यवहारिभिः ।
सत्काव्याधिगमादेव नूतनौचित्यमाप्यते ॥४॥
चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम् ।
काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते ॥५॥

अर्थात् काव्यकी रचना अभिजात—श्रेष्ठ कुलमें उत्पन्न—राजकुमार आदिके लिए सुन्दर एवं सरस ढंगसे कहा गया; धर्म, अर्थ, काम और मोक्षकी सिद्धिका सरल मार्ग है ।

सत्काव्यके परिज्ञानसे ही व्यवहार करनेवाले सब प्रकारके लोगोंको अपने-अपने व्यवहारका पूर्ण एवं सुन्दर ज्ञान प्राप्त होता है ।

[और सबसे बड़ी बात यह है कि] उससे सहृदयोंके हृदयमें चतुर्वर्ग-फलकी प्राप्तिसे भी बढ़कर आनन्दानुभूतिरूप चमत्कार उत्पन्न होता है ।

कवि तथा पाठककी दृष्टिसे प्रयोजन-विभाग

इस प्रकार पूर्ववर्ती आचार्योंने जिन काव्य-प्रयोजनोंका प्रतिपादन किया था उनका और भी अधिक परिमार्जन करके काव्यप्रकाशकारने सबसे अधिक सुन्दर एवं विस्तृत रूपमें काव्यके प्रयोजनोंका निरूपण किया है । इनमेंसे तीनको मुख्यतः कवि-निष्ठ तथा तीनको मुख्यतः पाठक-निष्ठ प्रयोजन कहा जा सकता है । 'यशसे', 'अर्थकृते' तथा 'शिवेतरक्षतये' ये तीन मुख्यतः कविके उद्देश्यसे और 'व्यवहारविदे', 'सद्यः परनिर्वृतये' तथा 'कान्तासम्मिततया उपदेशयुजे' ये तीन मुख्यतः पाठककी दृष्टिसे विशेष महत्त्वपूर्ण प्रयोजन कहे जा सकते हैं । परन्तु प्राचीन आचार्योंने इस प्रकारका विभाजन नहीं किया है ।

भरतमुनिके काव्य-प्रयोजन

काव्यशास्त्रके आद्य आचार्य श्रीभरतमुनिने अपने 'नाट्यशास्त्र' [अ० १, श्लो० ११३–११५] में नाट्य अथवा काव्यके प्रयोजनोंका वर्णन इस प्रकार किया है—

उत्तमाधममध्यानां नराणां कर्मसंश्रयम् ।
हितोपदेशजननं धृति-क्रीडा-सुखादिकृत् ॥११३॥
दुःखार्तानां श्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम् ।
विश्रान्तिजननं काले नाट्यमेतद् भविष्यति ॥११४॥
धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्द्धनम् ।
लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति ॥११५॥

उत्तरवर्ती आचार्योंने इसीके आधारपर काव्यके प्रयोजनोंका निरूपण किया है ।

इस प्रकार अधिकांश आचार्योंने कीर्ति या यशको काव्यका मुख्य प्रयोजन माना है । कदाचित् इसीलिए मम्मटाचार्यने भी अपनी कारिकामें उसको सबसे पहिला स्थान दिया है । कविकी दृष्टिसे वह है भी सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण । परन्तु पाठककी दृष्टिसे सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण प्रयोजन 'सद्यः परनिर्वृति' अर्थात् अलौकिक आनन्दानुभूति है । इसलिए मम्मटाचार्यने उसको 'सकलप्रयोजनमौलिभूतम्' कहा है ॥ २ ॥

वामन-प्रतिपादित काव्यके हेतु

वामनने भी इसी प्रकार (१) लोक, (२) विद्या तथा (३) प्रकीर्ण इन तीनोंको काव्यका अङ्ग, काव्य-निर्माणकी क्षमता प्राप्त करनेका साधन बतलाया है।

[1]लोको विद्या प्रकीर्णञ्च काव्याङ्गानि। १, ३, १।

[2]लोकवृत्तं लोकः। १, ३, २।

[3]शब्दस्मृत्यभिधानकोश-छन्दोविचिति कला-कामशास्त्र दण्डनीतिपूर्वा विद्याः। १, ३, ३।

[4]लक्ष्यज्ञत्वमभियोगो वृद्धसेवावेक्षण प्रतिभानमवधानञ्च प्रकीर्णम्। १, ३, ११।

इस प्रकार वामनने काव्यके कारणोंका अधिक विस्तारके साथ विवेचन किया है। प्रथम अधिकरणके तीसरे अध्यायके २० सूत्र वामनने इन काव्याङ्गोंके निरूपण करनेमें व्यय किये हैं जिनको यहाँ मम्मटाचार्यने केवल एक कारिकामें कह दिया है। मम्मटने वामनके लोक तथा विद्या दोनोंको 'लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात् निपुणता'के अन्तर्गत कर लिया है। 'प्रकीर्ण'मेंसे 'शक्ति'को अलग कर दिया है और 'वृद्ध-सेवा'का 'काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास.'में अन्तर्भाव करके मम्मटने वामनके समान आठ काव्याङ्गोंका मुख्यरूपसे तीन काव्य साधनोंके रूपमें प्रतिपादन किया है।

भामह-प्रतिपादित काव्य-हेतु

वामनके पूर्ववर्ती आचार्य भामहने भी काव्य-साधनोंका निरूपण लगभग इसी प्रकारसे किया है। उन्होंने लिखा है—

[5]शब्दश्छन्दोऽभिधानार्था इतिहासाश्रया. कथा.।
लोको युक्ति. कलाश्चेति मन्तव्या काव्यगैरमी ॥ ९ ॥
शब्दाभिधेये विज्ञाय कृत्वा तद्विदुपासनाम्।
विलोक्यान्यनिबन्धांश्च कार्य. काव्यक्रियादर. ॥ १० ॥

इन काव्य-साधनोंकी तुलना करनेसे प्रतीत होता है कि काव्य-साधन सभी आचार्योंकी दृष्टिमें लगभग एक-से ही हैं। परन्तु भिन्न-भिन्न आचार्योंने उनके पौर्वापर्य अथवा विभाग आदिमें थोड़ा-बहुत भेद करके उनका अलग-अलग ढगसे निरूपण कर दिया है। तत्त्वत उनके विवेचनमें अधिक भेद नहीं है ॥ ३ ॥

१. मम्मटका काव्य-लक्षण

इस प्रकार द्वितीय कारिकामें काव्यके प्रयोजन तथा तृतीय कारिकामें काव्यके साधनोंका निरूपण कर चुकनेके बाद चतुर्थ कारिकामें ग्रन्थकार काव्यका लक्षण प्रस्तुत करने जा रहे हैं। किसी भी पदार्थका अव्याप्ति, अतिव्याप्ति तथा असम्भव—तीनों प्रकारके दोषोंसे रहित एकदम निर्दुष्ट लक्षण प्रस्तुत करना यों ही कठिन होता है, फिर काव्य जैसे दुर्बोध पदार्थका लक्षण करना और भी अधिक कठिन है। फिर भी काव्यप्रकाशकारने इस दिशामें जो प्रयत्न किया है वह प्रशंसनीय है। यद्यपि उत्तरवर्ती विश्वनाथ आदिने उनके लक्षणका बुरी तरहसे खण्डन किया है, परन्तु वास्तविक दृष्टिसे विचार किया जाय तो वह उतना दूषित लक्षण नहीं है जितना विरोधियोंने उसको चित्रित करनेका प्रयत्न किया है। उनके काव्य-लक्षणके गुण-दोषकी मीमांसा करनेसे पहिले उनके लक्षणोंको भली प्रकार समझ लेना चाहिये अन्यथा उसकी समालोचना और मीमांसा समझमें नहीं आ सकेगी।

१-४ वामन—'काव्यालङ्कारसूत्र' १, ३, १-२-३ और ११।
५ भामह—'काव्यालङ्कार' १, ९-१०।

एवमस्य कारणमुक्त्वा स्वरूपमाह—

[सूत्र १] तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि ।

दोषगुणालंकारा वक्ष्यन्ते । क्वापीत्यनेनैतदाह यत् सर्वत्र सालंकारौ क्वचित्तु स्फुटालंकारविरहेऽपि न काव्यत्वहानिः । यथा—

यः कौमारहरः स एव हि वरस्ता एव चैत्रक्षपा-
स्ते चोन्मीलितमालतीसुरभयः प्रौढाः कदम्बानिलाः ।
सा चैवास्मि तथापि तत्र सुरतव्यापारलीलाविधौ
रेवारोधसि वेतसीतरुतले चेतः समुत्कण्ठते ॥ १ ॥

'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि'

मम्मटाचार्यके अनुसार यह काव्यका लक्षण है। इस लक्षणमें सबसे पहिली बात यह है कि मम्मट शब्द तथा अर्थ दोनोंकी समष्टिको काव्य मानते हैं। अकेला शब्द या अकेला अर्थ इनमेंसे कोई भी काव्य नहीं है। 'तत्' यह सर्वनामपद पिछली 'काव्यं यशसे' इत्यादि कारिकामें प्रयुक्त हुए 'काव्य'पदका परामर्शक है। द्वितीय कारिकामें मुख्य संज्ञापद या 'काव्य'पदका प्रयोग करनेके बाद तीसरी तथा चौथी दोनों कारिकाओंमें ग्रन्थकारने 'तत्' इस सर्वनाम पदके प्रयोग द्वारा ही उसका निर्देश किया है। इसलिए यहाँ भी 'तत्' पद 'काव्य'का परामर्शक है। 'शब्दार्थौ तत्'का अर्थ 'शब्दार्थौ काव्यम्' यह हुआ। इसके अनुसार शब्द तथा अर्थ, ये दोनो मिलकर काव्य-पदवाच्य होते हैं, यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है।

इस 'शब्दार्थौ' पदके तीन विशेषण लक्षणमें प्रस्तुत किये गये हैं। वे शब्द और अर्थ दोनो किस प्रकारके होने चाहिये कि (१) 'अदोषौ', (२) 'सगुणौ' तथा (३) 'अनलङ्कृती पुनः क्वापि'। अर्थात् वे शब्द तथा अर्थ दोनो दोषरहित हों यह पहली बात है। दूसरी बात यह है कि वे दोनो 'सगुण' माधुर्य आदि काव्य-गुणोंसे युक्त होने चाहिये और तीसरी बात यह है साधारणतः वे अलङ्कार सहित भी होने चाहिये परन्तु जहाँ कहीं रसादिकी प्रतीति हो रही हो वहाँ उनके अलङ्कार-विहीन होनेपर भी काम चल सकता है। इस प्रकार इन तीन विशेषणोंसे युक्त शब्द तथा अर्थकी समष्टिका नाम काव्य है, यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है। यही बात आगे कहते हैं—

इस प्रकार इस [काव्य] के साधन बतलाकर [उसके] स्वरूपको कहते हैं—

[सू० १]—दोषोंसे रहित, गुण-युक्त और [साधारणतः अलङ्कार सहित परन्तु] कहीं-कहीं अलङ्कार-रहित शब्द और अर्थ [दोनोंकी समष्टि] काव्य [कहलाती] है।

दोष, गुण और अलङ्कार [किसको कहते हैं यह बात] आगे कहेंगे। ['अन-लङ्कृती पुनः क्वापि' इस वाक्यांशमें प्रयुक्त] 'क्वापि' इस पदसे [ग्रन्थकार] यह कहते हैं कि [साधारणतः] सब जगह अलङ्कारसहित [शब्द तथा अर्थ होने चाहिये] परन्तु कहीं [जहाँ व्यङ्ग्य या रसादिकी स्थिति विद्यमान हो वहाँ] स्पष्ट-रूपसे अलङ्कारकी सत्ता न होनेपर भी काव्यत्वकी हानि नहीं होती है। जैसे—

[जिन प्रियतम पतिदेवने विवाहके बाद प्रथम सम्भोग द्वारा मेरे कुमारी-भावके सूचक योनिच्छदका भङ्ग करके कौमार्यका हरण किया, चिर उपभुक्त, मेरे] कौमार्यका हरण करनेवाले वे ही पतिदेव हैं, और [आज फिर] वे ही चैत्र

१ 'शार्ङ्गधर-पद्धति'में यह श्लोक 'शिलाभट्टारिका'के नामसे दिया गया है।

अत्र स्फुटो न कश्चिदलंकारः । रसस्य च प्राधान्यान्नालंकारता ।

[मास] की [उज्ज्वल चाँदनीसे भरी हुई] रात है, खिली हुई मालतीकी [मालती-का अर्थ जाति-पुष्प या चमेली होता है परन्तु 'न स्याज्जाती वसन्ते' इत्यादि कवि-सम्प्रदायके अनुसार वसन्त ऋतुमें जाति-पुष्पका वर्णन करना वर्जित है, इसलिए यहाँ मालती पदसे वसन्तमें खिलनेवाली किसी लता-विशेषका ग्रहण करना चाहिये] सुगन्धसे भरी हुई और [वसन्त ऋतुमें कदम्ब भी नहीं खिलता है, वह वर्षा ऋतुमें खिलता है। इसलिए यहाँ कदम्ब शब्दसे वसन्तमें खिलनेवाले धूलि-कदम्ब नामक पुष्प-विशेषका ग्रहण करना चाहिये] धूलि-कदम्बकी उन्मादक [प्रौढ़ अत्यन्त कामो-त्तेजक] वायु वह रही है और मैं भी वही हूँ [सभी सामग्री पुरानी, चिर उपभुक्त होनेसे उसमें उत्कण्ठा होनेका कोई अवसर नहीं] फिर भी [न जाने क्यों आज] वहाँ नर्मदाके तटपर उस वेतके पेड़के नीचे [जहाँ अनेक बार अपने पतिदेवके साथ सम्भोग कर चुकी हूँ- सम्भोगकी] उन काम-केलियोंके [फिर-फिर करनेके] लिए चित्त उत्कण्ठित हो रहा है ॥ १ ॥

यहाँ कोई स्पष्ट अलङ्कार नहीं है और रसके प्रधान होनेसे [रसवदलङ्कारके रूपमें] उसको भी अलङ्कार नहीं कहा जा सकता है। [क्योंकि वह रसवदलङ्कार रसके गौण होनेपर ही होता है]।

इस उदाहरणकी विश्वनाथकृत आलोचना

जहाँ कोई स्पष्ट अलङ्कार नहीं है इस कथनका अभिप्राय यह है कि वैसे चाहें तो खींच-तान करके यहाँ अलङ्कार निकाला जा सकता है; जैसे कि साहित्यदर्पणकार विश्वनाथने इसमें 'विभावना' तथा 'विशेषोक्ति' अलङ्कार निकालनेका प्रयत्न किया है। 'विभावना' तथा 'विशेषोक्ति' ये दोनों अलङ्कार परस्पर विरोधीरूप हैं।

विभावना तु विना हेतुं कार्योत्पत्तिर्यदुच्यते।
सति हेतौ फलाभावो विशेषोक्तिस्तथा द्विधा।

जहाँ बिना कारणके कार्यका वर्णन किया जाय वहाँ 'विभावना' अलङ्कार होता है। इसके विपरीत जहाँ कारण होनेपर भी कार्यकी उत्पत्ति न हो वहाँ 'विशेषोक्ति' नामक दूसरा अलङ्कार होता है। साहित्यदर्पणकारका कहना यह है कि यहाँ उत्कण्ठारूप कार्यका वर्णन किया गया है परन्तु उसका कारण विद्यमान नहीं है। उत्कण्ठा सदा किसी नयी चीजकी प्राप्तिके लिए होती है। यहाँ कोई भी नयी चीज नहीं, सभी वस्तुएँ पहिले सैकड़ो बारकी भोगी हुई हैं। इसलिए उत्कण्ठाका कारण न होनेपर भी उत्कण्ठारूप कार्यका वर्णन होनेसे यहाँ 'विभावना' अलङ्कार है। इसी प्रकार यदि इसको उलट दिया जाय तो यहाँ 'विशेषोक्ति' अलङ्कार निकल सकता है। यहाँ सब ही वस्तुएँ उपभुक्त-चर हैं इसलिए उत्कण्ठा नहीं होनी चाहिये। अर्थात् उत्कण्ठाके अभावकी सारी सामग्री विद्य-मान है परन्तु उत्कण्ठाका अभावरूप कार्य नहीं है, उत्कण्ठा हो रही है। इस प्रकार उत्कण्ठाभावका कारण रहते हुए भी उत्कण्ठाभाव कार्यके न होनेसे यहाँ 'विशेषोक्ति' अलङ्कार भी पाया जाता है।

समाधान

इस प्रकार साहित्यदर्पणकार विश्वनाथने इस श्लोकमें 'विभावना' तथा 'विशेषोक्ति' दो अल-ङ्कारोंकी कल्पना करके और उनके सन्देह-सङ्कर अलङ्कारकी स्थिति सिद्ध करके मम्मट द्वारा 'अनलङ्कृती

[illegible] समासोक्ति [illegible] परन्तु [illegible] यदि इस श्लोकमें अलङ्कारके अभावका खण्डन किया है। परन्तु [illegible] विभावना विशेषोक्ति-मूलक सन्देहसङ्कर अलङ्कारको [illegible] की दृष्टिसे ओझल नहीं था। वे भी जानते थे कि [illegible] 'विभावना' या 'विशेषोक्ति' या दोनोंका सन्देह सङ्कर अलङ्कार निकाला जा सकता है। परन्तु [illegible] स्पष्ट नहीं निकलते हैं इसलिए वे स्पष्ट नहीं अपितु खींच-तानकर ही निकाले जा सकते हैं। इसीलिए तो मम्मटने इसे 'स्फुटालङ्कार-विरह'के उदाहरणरूपमें प्रस्तुत किया है। अतएव विश्वनाथने जो इस उदाहरणका खण्डन किया है वह युक्तिसङ्गत नहीं है।

विश्वनाथकी भावना

विश्वनाथने अपने 'साहित्यदर्पण'में मम्मटके इस काव्य लक्षणकी बुरी तरह छीछालेदर की है। उनकी दृष्टिमें तो 'काव्यप्रकाश'के इस काव्य-लक्षणमें 'पदसङ्ख्यातोऽपि भूयसी दोषाणां सङ्ख्या' जितने पद प्रयुक्त हुए हैं उनसे भी अधिक दोष उसमें हैं। 'साहित्यदर्पण'को पढ़नेसे तो ऐसा प्रतीत होता है कि विश्वनाथकी दृष्टिमें मम्मट साधारण आदमी हैं, वह साहित्यशास्त्रकी बारहखड़ी भी नहीं जानते हैं। उन्होंने अपने पाण्डित्यके प्रदर्शनका यही एकमात्र उपाय समझा है कि 'काव्यप्रकाश'का हर बातमें खण्डन किया जाय। कदाचित् इसलिए उन्होंने अपने ग्रन्थका नाम 'साहित्यदर्पण' रखा है। 'दर्पण'का कार्य 'प्रकाश'का प्रतिक्षेप करना ही है। दर्पणको यदि सूर्यके सामने दिखाया जाय तो उसपर जो सूर्यकी किरणें पड़ेंगी वे वहाँसे प्रतिबिम्बित होकर सामने खड़े हुए व्यक्तिकी आँखोंमें भीषण चकाचौंध उत्पन्न कर देंगी। इस प्रकार साहित्यदर्पणकार विश्वनाथके अपने 'दर्पण' द्वारा काव्य-प्रकाशकार मम्मटके 'प्रकाश'का प्रतिक्षेप कर साहित्यके विद्यार्थियोंकी दृष्टिमें चकाचौंध उत्पन्न कर दी है जिसके कारण विद्यार्थी उस समय अन्धा-सा हो जाता है और 'काव्यप्रकाश'में उसे कुछ भी तत्त्व नहीं दिखायी देता।

'अदोषौ' पदकी आलोचना

काव्यप्रकाशकारने अपने लक्षणमें 'शब्दार्थौ'के जो तीन विशेषण 'अदोषौ', 'सगुणौ' और 'अनलङ्कृती पुनः क्वापि' दिये हैं इन तीनोंका ही विश्वनाथने बुरी तरह खण्डन किया है। उनकी युक्तियोंका सार यह है कि यदि दोषरहित शब्दार्थको ही काव्य माना जाय तो इस प्रकारका नितान्त दोषरहित काव्य संसारमें मिल सकना ही कठिन है। इसलिए 'एवं काव्यं प्रविरलविषयं निर्विषयं वा स्यात्' अर्थात् ऐसी दशामें काव्य या तो संसारमें मिलेगा ही नहीं और यदि भूले-भटके कहीं मिल भी गया तो बहुत कम मिल सकेगा। इसके अतिरिक्त आगे चलकर 'न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयः' इत्यादि जिस श्लोकको ध्वनि-प्रधान होनेसे उत्तम काव्य माना गया है उसमें भी 'विधेयाविमर्श' दोषके विद्यमान होनेसे उसको उत्तम काव्य क्या, काव्य भी नहीं कहा जा सकेगा और यदि यह कहा जाय कि दोष तो उस श्लोकके थोड़े-से ही अंशमें है तो—

'यत्रांशे दोषः सोऽकाव्यत्वप्रयोजकः, यत्र ध्वनिः स उत्तमकाव्यत्वप्रयोजक इत्यंशाभ्यामुभयत आकृष्यमाणमिदं काव्यमकाव्यं वा किमपि न स्यात्'।

जिस अंशमें दोष है वह अकाव्यत्वका प्रयोजक होगा और जिस अंशमें ध्वनि है वह उत्तम काव्यत्वका प्रयोजक होगा। इस प्रकार दोनों अंशोंकी इस खींचा-तानीमें वह काव्य या अकाव्य कुछ भी सिद्ध नहीं होगा।

१ 'साहित्यदर्पण', प्रथम परिच्छेद।

समाधान

इस प्रकार साहित्यदर्पणकारने 'अदोषौ' पदके लक्षणमें रखे जानेका खण्डन किया है। परन्तु काव्यप्रकाशकारका 'अदोषौ' पदके रखनेका अभिप्राय यह है कि काव्यत्वके विघटक जो 'च्युतसंस्कार' आदि प्रबल दोष हैं उनसे रहित शब्द तथा अर्थ काव्य है। कोई भी दोष स्वरूपतः दोष नहीं होता, अपितु जब वह रसानुभूतिमें बाधक होता है तभी दोष कहा जाता है। जैसे 'दुःश्रवत्व' दोष करुण, शृंगार आदि कोमल रसोंकी अनुभूतिमें बाधक होता है इसलिए वहाँ उसे दोष कहा जाता है। परन्तु वीर, बीभत्स या भयानक रसमें वह 'दुःश्रवत्व' रसानुभूतिका बाधक नहीं, अपितु साधक हो जाता है इसलिए वहाँ दोष नहीं, अपितु गुण कहा जाता है। इसलिए जो दोष प्रबल होनेके कारण रसानुभूतिमें बाधक हों उन प्रबल दोषोंसे रहित शब्द तथा अर्थ काव्य है। यह काव्यप्रकाशकारका अभिप्राय है। अतः साधारण स्थितिके दुर्बल दोषके विद्यमान होनेपर भी काव्यत्वकी हानि नहीं होती है। स्वयं साहित्यदर्पणकारने भी साधारण दोषोंके रहते हुए भी काव्यमें काव्यत्व स्वीकार किया है।

कीटानुविद्धरत्नादिसाधारण्येन काव्यता।
दुष्टेष्वपि मता यत्र रसाद्यनुगमः स्फुटः॥

जैसे कीड़ोंने खाया हुआ प्रवाल आदि रत्न रत्न ही कहलाता है उसी प्रकार जिस काव्यमें रसादिकी अनुभूति स्पष्टरूपसे होती रहती है वहाँ दोषके होते हुए भी काव्यत्वकी हानि नहीं होती।

इस सिद्धान्तको साहित्यदर्पणकार भी स्वीकार करते हैं और काव्यप्रकाशकारने जो अपने काव्य-लक्षणमें 'अदोषौ' पदका समावेश किया है वह भी इसी अभिप्रायसे किया है कि रसानुभूतिके बाधक प्रबल दोषोंसे रहित शब्द तथा अर्थकी समष्टि काव्य कहलाती है अर्थात् जहाँ साधारण दोषके होते हुए भी रसानुभूतिमें बाधा नहीं होती है वह दोषयुक्त वाक्य भी काव्य ही है। ऐसी दशामें यहाँ 'प्रतिज्ञाविरोध' या 'निर्विषय' कुछ भी नहीं होता है, और न 'न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयः' इत्यादिमें साधारण 'विधेयाविमर्श' दोषके होनेसे अकाव्यत्व होता है। इसलिए विश्वनाथने इसके खण्डनमें जो कुछ लिखा है उसका 'पाण्डित्य प्रदर्शन'के अतिरिक्त और कोई मूल्य नहीं है।

'सगुणौ'की आलोचना

इसी प्रकार लक्षणमें दिये हुए 'सगुणौ' पदका भी विश्वनाथने खण्डन किया है। उनका कहना है कि गुण तो रसके धर्म होते हैं, रसमें रहते हैं। वे शब्द या अर्थके धर्म नहीं होते हैं इसलिए शब्द या अर्थमें नहीं रह सकते हैं। ऐसी दशामें रस ही 'सगुण' कहा जा सकता है, शब्द या अर्थको 'सगुण' नहीं कहा जा सकता। इसलिए काव्यप्रकाशकारने जो 'सगुणौ' पदको 'शब्दार्थौ'के विशेषणरूपसे प्रयुक्त किया है वह भी उचित नहीं किया है।'

[illegible] कि रसवादी आचार्य माना [illegible] बिल्कुल साधारण [illegible] कि गुण शब्द या अर्थके [illegible] नहीं है। पर ऐसी बात नहीं है, [illegible]

"आस्वादव्यञ्जकत्वस्योभयत्राप्यविशेषात् चमत्कारिबोधजनकज्ञानविषयतावच्छेदकधर्मत्वरूपस्यानुग्रहणीयकाव्यलक्षणस्य प्रकाशाद्युक्तलक्ष्यतावच्छेदकस्योभयवृत्तित्वाच्च काव्यं पठितम्, काव्यं श्रुतम्, काव्यं बुद्धमित्युभयविधव्यवहारदर्शनाच्च काव्यपदप्रवृत्तिनिमित्तं व्यासज्यवृत्ति। अत एव वेदत्वादेरुभयवृत्तित्वप्रतिपादक: 'तदधीते तद्वेद' ४,२,५९ इति सूत्रस्थो भगवान् पतञ्जलि: सङ्गच्छते। लक्षणगान्यतरस्मिन्नपि तत्त्वात् 'एको न द्वौ' इतिवत् न तदापत्तिः। तेनानुग्रहणीयकाव्यलक्षणं प्रकाशोक्तं निर्बाधम्।"

इसका अभिप्राय यह है कि काव्यत्वका प्रयोजक जो 'रसास्वादव्यञ्जकत्व' है वह शब्द तथा अर्थ दोनोंमें समानरूपसे रहता है। काव्यको पढ़ा, काव्यको सुना और काव्यको समझा इस प्रकारका व्यवहार भी दिखलायी देता है, इससे शब्द तथा अर्थ दोनोंकी काव्यता प्रतीत होती है, केवल शब्द या केवल अर्थकी नहीं और काव्यप्रकाशोक्त अनुग्रहणीय काव्यका नियामक 'चमत्कारिबोधजनकज्ञानविषयतावच्छेदकधर्मत्व' रूप काव्य-लक्षण शब्द तथा अर्थ दोनोंमें रहता है, एकमें नहीं। इसलिए काव्यत्वको 'व्यासज्य-वृत्ति' धर्म माननेमें कोई आपत्ति नहीं हो सकती। इसी दशामें, अर्थात् काव्यत्वको व्यासज्य वृत्ति धर्म माननेपर ही, 'तदधीते तद्वेद' इस पाणिनि-सूत्रके 'महाभाष्य'-के भाष्यकार पतञ्जलि मुनिने वेदत्व आदिको जो व्यासज्य-वृत्ति धर्म माना है उसकी सङ्गति लगती है। इस प्रकार काव्यत्व मुख्यरूपसे 'व्यासज्य वृत्ति' धर्म है परन्तु लक्षणामें केवल शब्द अथवा केवल [illegible] काव्य [illegible] जा सकता है। इसलिए 'एको न द्वौ' के समान 'श्लोकवाक्यं न काव्यम्' इस प्रकारके [illegible] कोई अवसर नहीं आता है। फलत 'काव्यप्रकाश' के अनुसार शब्द तथा अर्थ [illegible] नहीं है यह 'रसगङ्गाधर' के टीकाकार नागेशभट्टका अभिप्राय है।

[illegible] पण्डितराज जगन्नाथको छोड़कर प्राय: सभी आचार्योंने शब्द और [illegible] है। इस विषयमें विभिन्न आचार्योंके निम्नलिखित वचन उद्धृत किये [illegible]—

१ [illegible] [भामह १, १६]
२ [illegible] [वामन १, १]
[illegible] [रुद्रट—काव्यालङ्कार २, १]
[illegible] [[illegible] पृ० १६]
[illegible] [[illegible] पृ० १४]
३ [illegible] [विद्यानाथ—[illegible] पृ० [illegible]]
[illegible] [[illegible] पृ० १, १३]
[illegible]

'रसस्य च प्राधान्यान्नालङ्कारता' 'काव्यप्रकाश'की इस पंक्तिका अभिप्राय यह है कि—जहाँ रस स्वयं प्रधान न होकर अन्य किसीका अङ्ग बन जाता है वहाँ 'रसवत्' अलङ्कार माना जाता है। इस प्रकारके रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वि और समाहित ये चार अलङ्कार अलग माने गये हैं। इनमेंसे भी कोई अलङ्कार यहाँ नहीं है। क्योंकि यदि रस यहाँ प्रधान न होकर किसी अन्यका अङ्ग होता तब तो इसमें 'रसवत्'-अलङ्कार हो सकता था। परन्तु यहाँ तो रस किसी अन्यका अङ्ग नहीं अपितु स्वयं प्रधानरूपसे अनुभूत हो रहा है इसलिए 'रसवदलङ्कार' भी नहीं है। अतएव 'अनलङ्कृती पुनः क्वापि'का यह उदाहरण ठीक बन जाता है यह काव्यप्रकाशकारका अभिप्राय है।

२. भामहका काव्य-लक्षण

मम्मटके पूर्ववर्ती आचार्योंमेंसे साहित्यशास्त्रके भीष्मपितामह 'भामह'का काव्य-लक्षण सबसे अधिक प्राचीन है। उन्होंने—

'शब्दार्थौ सहितौ काव्यं गद्यं पद्यं च तद् द्विधा।' १, १६।

यह काव्यका लक्षण किया है। यह लक्षण जितना ही प्राचीन है उतना ही सरल है। उन्होंने शब्द और अर्थ दोनोंके सहभावको काव्य माना है। वे सहभाव या 'सहितौ' शब्दका क्या अर्थ लेते हैं इसकी व्याख्या भी उन्होंने नहीं की है। पर उनका अभिप्राय यह है कि जिस रचनामें रसादि भावके अनुरूप शब्दोंका प्रयोग हो या शब्दोंके अनुरूप अर्थका वर्णन हो। वे शब्द और अर्थ ही 'सहितौ' पदसे विवक्षित हैं। वही शब्द और अर्थका 'साहित्य' है।

३. दण्डीका काव्य-लक्षण

भामहके बाद 'काव्यादर्श'के निर्माता 'दण्डी'का स्थान माना जाता है। उन्होंने पूर्व आचार्योंका उल्लेख करते हुए लिखा है—

"अतः प्रजानां व्युत्पत्तिमभिसन्धाय सूरयः।
वाचां विचित्रमार्गाणां निबबन्धुः क्रियाविधिम्॥
तैः शरीरं च काव्यानामलङ्काराश्च दर्शिताः।"

अर्थात् प्रजाजनोंकी व्युत्पत्तिके ध्यानसे [illegible] भामह आदि प्राचीन विद्वानोंने [illegible] युक्त काव्यवाणीके रचनाके प्रकारोंका वर्णन किया है, जिसमें [illegible] अलङ्कारोंका वर्णन किया है।

यहाँतक [illegible] दण्डीने पूर्व आचार्योंके मतकी चर्चा की है। [illegible] स्पष्ट 'भामह'की ओर ही है। 'भामह'के 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' [illegible] शरीरका [illegible] और आगे [illegible] उसके अलङ्कारोंका [illegible] प्रकार 'तैः शरीरं च काव्यानामलङ्काराश्च दर्शिताः' [illegible] ही है। भामहके इस लक्षणमें आये हुए 'सहितौ' पदकी [illegible] दण्डीने किया है—

"शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली।"

यही दण्डीका काव्य-लक्षण है। [illegible] अर्थात् शब्द और [illegible] मिलकर ही [illegible] शरीर है। [illegible]

[illegible]

१-२ 'काव्यादर्श' १, ९, १०।

३. वामनका काव्य-लक्षण

दण्डीके बाद 'वामन'का नम्बर सामने आता है। वामनने भामह और दण्डीके द्वारा निर्मित शरीरमें प्राणप्रतिष्ठा करनेका प्रयत्न किया है। उन्होंने काव्यके शरीरकी विवेचना करके उसके आत्मा-का अनुसन्धान करनेका प्रयत्न किया है। 'रीतिरात्मा काव्यस्य' [काव्यालङ्कारसूत्र १, २, ६] यह उनका प्रसिद्ध सूत्र है। अर्थात् वे 'रीति'को काव्यकी 'आत्मा' मानते हैं और 'काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात्', 'सौन्दर्यमलङ्कारः' आदि सूत्रोंमें काव्यके सौन्दर्याधायक अलङ्कारोंको काव्यकी ग्राह्यता एवं उपादेयताका प्रयोजक मानते हैं।

४. आनन्दवर्धनका मत

भामह और दण्डीने काव्यके शरीरकी चर्चा की थी इसलिए आत्माका कोई प्रश्न उनके सामने न था। वामनने 'रीतिरात्मा काव्यस्य' लिखकर काव्यकी 'आत्मा' क्या है, एक नया प्रश्न उठा दिया है। इसलिए अगले विचारक आनन्दवर्धनाचार्यके सामने काव्यकी आत्माके निर्धारण करनेका प्रश्न, मुख्य प्रश्न बन गया। रीतियोंको वे केवल 'सङ्घटना' या अवयव संस्थानके समान ही मानते हैं, उनको काव्यकी 'आत्मा' वे नहीं मानते हैं। इसलिए उन्होंने 'ध्वनि'को काव्यकी आत्मा माना है और वह भी अपने मतसे ही नहीं, अपितु प्राचीन अविच्छिन्न परम्पराके आधारपर वे 'ध्वनि'को ही काव्यकी आत्मा माननेके पक्षमें हैं। इस विषयमें कुछ लोगोंने विप्रतिपत्ति उत्पन्न कर दी थी, उन्हींके निराकरणके लिए उन्हें 'ध्वन्यालोक' ग्रन्थ लिखनेकी आवश्यकता पड़ी।

'काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्व-
स्तस्याभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये।
केचिद्वाचां स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीयं
तेन ब्रूमः सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपम्॥[1]

इस प्रकार आनन्दवर्धनाचार्यके मतसे 'ध्वनि' ही काव्यका जीवनाधायक तत्त्व है। उसके बिना सुन्दर शब्द और अर्थ भी निर्जीव देहके समान त्याज्य हैं। ध्वनि रूप आत्माकी प्रतिष्ठा होनेपर ही शब्दार्थ काव्य होते हैं।

५. राजशेखरका मत

पिछले आचार्योंने काव्यके शरीर, आत्मा, अलङ्कार आदिका जो यह रूपक बाँधा था इसकी पृष्ठ-भूमिमें उन्होंने एक 'काव्यपुरुष'की कल्पना की थी जो बहुत स्पष्ट नहीं थी। आगे चलकर राजशेखरने इस 'काव्यपुरुष'की कल्पनाको एकदम स्पष्ट और मूर्त रूप प्रदान कर दिया। उन्होंने 'काव्यपुरुष'का वर्णन करते हुए लिखा है—

"शब्दार्थौ ते शरीरम्, संस्कृतं मुखम्, प्राकृतं बाहुः, जघनमपभ्रंशः, पैशाचं पादौ, उरो मिश्रम्। समः प्रसन्नो मधुर उदार ओजस्वी चासि। उक्तिचणं च ते वचः, रस आत्मा, रोमाणि छन्दांसि, प्रश्नोत्तर-प्रवह्लिकादिकं च वाक्केलिः, अनुप्रासोपमादयश्च त्वामलङ्कुर्वन्ति।"[2]

ध्वनिकारने ध्वनिको काव्यकी 'आत्मा' माना था। राजशेखरने उस आत्मतत्त्वको और अधिक निश्चितरूप देनेके लिए वस्तु-ध्वनि तथा अलङ्कार-ध्वनिको छोड़कर केवल रसको काव्यका आत्मा माना है।

---

१ 'ध्वन्यालोक', १, १।

२ 'काव्यमीमांसा', पृष्ठ १३-१४।

६. कुन्तकका काव्य-लक्षण

वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तकने इन सबकी अपेक्षा अधिक विस्तारपूर्वक और अधिक स्प
रूपमें काव्यका लक्षण इस प्रकार किया है।

> 'शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।
> बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि॥'

कुन्तकके इस लक्षणमें पूर्वोक्त सभी लक्षणोंका सारांश प्रायः आ जाता है। 'शब्दार्थौ सहि
काव्यम्' यह भामहका लक्षण कुन्तकके इस लक्षणमें स्पष्टरूपसे ही समाविष्ट हो गया है। 'तद्विदाह्ला
कारिणि बन्धे व्यवस्थितौ' में दण्डीकी 'इष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली' तथा वामनकी 'रीति' दोनोंका समा
वेश हो जाता है। 'वक्रकविव्यापारशालिनि' में ध्वन्यालोककारके व्यञ्जना-व्यापार-प्रधान 'ध्वनि' त
भट्टनायकके 'रस' दोनोंका अन्तर्भाव हो जाता है। इस प्रकार कुन्तकने मानो पूर्ववर्ती सभ
आचार्योंके काव्य-लक्षणोंका निचोड़ अपने इस लक्षणमें समाविष्ट कर दिया है। फिर भी अभी उनक
तृप्ति नहीं हुई है। क्योंकि 'सहितौ' पदका स्पष्टीकरण न भामहके लक्षणमें हुआ था और न यह
हुआ है। अतएव शब्द और अर्थके इस 'साहित्य'का स्पष्टीकरण करते हुए वे लिखते हैं—

> "शब्दार्थौ सहितावेव प्रतीतौ स्फुरतः सदा।
> सहिताविति तावेव किमपूर्वं विधीयते॥
> साहित्यमनयोः शोभाशालिता प्रति काप्यसौ।
> अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थितिः॥'

यहाँ पहिले यह शंका उठाती है कि शब्द और अर्थ तो प्रतीतिमें सदा साथ-साथ ही भासते है
फिर 'सहितौ' पदसे आप उनमें कौन-सी विशेषता दिखलाना चाहते हैं? इस शंकाका उत्तर देते हुए
कुन्तक यह कहते हैं कि शब्द और अर्थके 'साहित्य'का अभिप्राय काव्य सौन्दर्यके लिए उनकी 'न्यूनता
या अधिकतासे रहित' मनोहर स्थिति होना चाहिये। उसीको शब्द अर्थका 'साहित्य' कहते हैं।

इस प्रकार कुन्तकने काव्यलक्षणको अधिक विस्तारके साथ स्पष्ट करनेका प्रयत्न किया है।

७. क्षेमेन्द्रका मत

साहित्यशास्त्रके इतिहासमें जिस प्रकार वामन अपने 'रीति-सिद्धान्त'के लिए, आनन्दवर्धन
अपने 'ध्वनि सिद्धान्त'के लिए और कुन्तक अपने 'वक्रोक्ति सिद्धान्त'के लिए प्रसिद्ध हैं उसी प्रकार
क्षेमेन्द्र अपने 'औचित्य सिद्धान्त'के लिए प्रसिद्ध हैं। उन्होंने 'औचित्य'को ही काव्यका 'जीवित'
माना है। अपने 'औचित्यविचारचर्चा' ग्रन्थमें वे लिखते हैं—

> 'काव्यस्यालमलङ्कारैः किं मिथ्यागणितैर्गुणैः।
> यस्य जीवितमौचित्यं विचिन्त्यापि न दृश्यते॥
> अलङ्कारास्त्वलङ्कारा गुणा एव गुणाः सदा।
> औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्॥

८. विश्वनाथका काव्य-लक्षण

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ 'रसात्मक वाक्य'को काव्य मानते हैं। 'वाक्यं रसात्मक काव्यम्'
यह उनका काव्य लक्षण है।

---

१ 'वक्रोक्तिजीवित', १-७।
२ 'वक्रोक्तिजीवित', १-१६, १७।
३ 'औचित्यविचारचर्चा', ४, ५।

तद्भेदान् क्रमेणाह——

[सू० २] इदमुत्तममतिशयिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः ॥४॥

मम्मटके काव्य-लक्षणकी विशेषता

काव्यप्रकाशकार मम्मटका 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि' यह काव्य-लक्षण अन्य लक्षणोकी अपेक्षा अधिक परिमार्जित है। कुन्तकने जिस बातको कई कारिकाओमें कहा है मम्मटने इस आधी कारिकामे ही उसको समाविष्ट कर दिया है। उसके साथ ही 'अदोषौ' तथा 'सगुणौ' पद जोडकर उन्होने काव्य-लक्षणका नया दृष्टिकोण भी उपस्थित किया है, जिसका प्राचीन लक्षणोमे इतना स्पष्ट उल्लेख नहीं किया गया था। पूर्वलक्षणकारोने काव्यके शरीर 'शब्द तथा अर्थ', उसकी आत्मा रीति, रस या ध्वनि उसके अलङ्कारोकी चर्चा तो अपने लक्षणोमे की थी, परन्तु गुण-दोषकी चर्चा नहीं की थी। मम्मट इस दोष तथा गुणके प्रश्नको सामने लाये हैं और वह बड़ा आवश्यक प्रश्न है। कितना ही सुन्दर काव्य हो पर उसमे यदि एक भी उत्कट दोष आ जाता है तो वह उसके गौरवको कम कर देता है।

यो तो महाकवि कालिदासने—

'एको हि दोषो गुणसन्निपाते
निमज्जतीन्दो: किरणेष्विवाङ्कः।'

कहकर चन्द्रमाके सौन्दर्यके भीतर उसके कलङ्कके दब जानेकी बात कही है। उनके अनुसार चन्द्रमाका कलङ्क कितना ही दब गया हो परन्तु देखनेवालेको वह सबसे पहिले खटकता है। इसी प्रकार काव्यका दोष उसके गौरवको कम करनेवाला हो जाता है। इसलिए मम्मटने गुण और अलङ्कारोकी चर्चा करनेसे पहिले दोषकी चर्चा की है—

'दुर्जनं प्रथमं वन्दे सज्जनं तदनन्तरम्।
मुखप्रक्षालनात् पूर्वं गुदप्रक्षालनं यथा ॥'

शरीरके संस्कारमे भी पहिले दोषापनयनरूप संस्कार करनेके बाद ही गुणाधानरूप संस्कार किया जाता है, तब उसके बाद अलङ्कार आदिका नम्बर आता है। वह अगर न भी हो तो भी दोषापनयन तथा गुणाधानरूप संस्कार तो अपरिहार्य है। उनके बिना काम नहीं चलता है। इसी-लिए मम्मटने काव्यके शरीरभूत शब्दार्थके 'अदोषौ' तथा 'सगुणौ' विशेषणो द्वारा इस द्विविध संस्कारकी अपरिहार्यताका प्रतिपादन किया है और 'अनलङ्कृती पुनः क्वापि' लिखकर अलङ्कारकी गौणताको सूचित किया है। इस प्रकार थोड़े शब्दोमे भाव गाम्भीर्यके द्वारा मम्मटने अपने काव्य लक्षणको अत्यन्त सुन्दर एवं उपादेय बना दिया है।

काव्य-भेद : १. ध्वनि-काव्य

इस प्रकार काव्यका लक्षण करनेके बाद काव्यप्रकाशकार उसके मुख्य तीन भेदोका संक्षेपमे वर्णन करते है।

[काव्यके प्रयोजन, उसके साधन तथा उसके लक्षणके निरूपणके बाद अब] क्रमसे [अवसरप्राप्त] उसके भेदोको कहते है—

[सू० २]—वाच्य [अर्थ] की अपेक्षा व्यङ्ग्य [अर्थ] के अधिक चमत्कार युक्त होनेपर [इदं] काव्य उत्तम होता है और विद्वानोंने उसको 'ध्वनि' [-काव्य नामसे] कहा है ॥ ४ ॥

इदमिति काव्यम् । बुधैर्वैयाकरणैः प्रधानभूतस्फोटरूपव्यङ्ग्यव्यञ्जकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहारः कृतः । ततस्तन्मतानुसारिभिरन्यैरपि न्यग्भावितवाच्यव्यङ्ग्यव्यञ्जनक्षमस्य शब्दार्थयुगलस्य ।

'इदं' यह पद [यहाँ] काव्यका बोधक है। 'बुध' अर्थात् वैयाकरणोंने प्रधानभूत 'स्फोट' रूप व्यङ्ग्यकी अभिव्यक्ति करानेमें समर्थ शब्दके लिए 'ध्वनि' इस पदका प्रयोग किया था। उसके बाद उनके मतका अनुसरण करनेवाले अन्यों [अर्थात् साहित्यशास्त्रके आचार्यों] ने भी वाच्यार्थको गौण बना देनेवाले व्यङ्ग्यार्थकी अभिव्यक्ति करानेमें समर्थ शब्द तथा अर्थ दोनोंके लिए ['ध्वनि' पदका प्रयोग करना आरम्भ कर दिया]।

'ध्वनि' नामका मूल आधार

यहाँ ग्रन्थकारने जो पंक्तियाँ लिखी हैं उनसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि 'ध्वनि' शब्दका प्रयोग मुख्यरूपसे वैयाकरणोंने किया था और साहित्यशास्त्रमें आनन्दवर्धन आदि ध्वनिवादी आचार्योंने व्याकरणशास्त्रके इस 'ध्वनि' शब्दको अपना लिया है। इस शब्द-प्रयोगको अपना लेनेका कारण यह था कि व्याकरणशास्त्रमें प्रधानभूत 'स्फोट'की अभिव्यक्ति शब्दसे होती है इसलिए 'ध्वनति स्फोटं व्यनक्ति इति ध्वनिः' इस व्युत्पत्तिके अनुसार 'स्फोट'के अभिव्यञ्जक शब्दोंके लिए 'ध्वनि' पदका प्रयोग किया गया था। इसीके आधारपर ध्वनिवादी आचार्योंने भी वाच्यार्थको दबा सकनेमें समर्थ जो व्यङ्ग्य अर्थ उसको अभिव्यक्त करनेवाले शब्द तथा अर्थके लिए 'ध्वनि' इस पदका प्रयोग प्रारम्भ कर दिया।

यहाँ वैयाकरणोंके जिस 'ध्वनि' पदके प्रयोगकी ओर ग्रन्थकार संकेत कर रहे हैं वह महाभाष्यमें आया है। उसका प्रसङ्ग इस प्रकार है—

"अथ शब्दानुशासनम् ।" अथ गौरित्यत्र कः शब्दः । किं यत्तत् सास्ना-लाङ्गूल-ककुद-खुर-विषाण्यर्थरूपं स शब्दः ? नेत्याह, द्रव्यं नाम तत् ।" कस्तर्हि शब्दः । येनोच्चारितेन सास्ना-लाङ्गूल-ककुद-खुर-विषाणिनां सम्प्रत्ययो भवति स शब्दः । अथवा प्रतीतपदार्थको लोके 'ध्वनिः' शब्द इत्युच्यते । तद्यथा शब्दं मा कुरु, मा शब्दं कार्षीः, शब्दकार्ययं माणवकः इति । ध्वनिं कुर्वन्नेवमुच्यते । तस्माद् 'ध्वनिः' शब्दः ।[1]

इसमें 'ध्वनि'को शब्द कहा गया है। परन्तु स्फोटरूप व्यङ्ग्यके अभिव्यक्त करनेवाले शब्दके लिए ध्वनि पदका प्रयोग हुआ है यह बात इस पंक्तिसे नहीं निकलती है। फिर भी व्याकरणशास्त्रमें अन्य स्थानोंपर स्फोट-सिद्धान्तकी कल्पना की गयी है और उस 'स्फोट'की अभिव्यक्ति श्रोत्र-ग्राह्य-वर्ण या ध्वनिसे ही होती है। इसलिए ग्रन्थकारने उक्त आशयकी पंक्ति लिखी है। इस विषयको और अधिक स्पष्टरूपसे समझानेके लिए स्फोट-सिद्धान्तको समझना आवश्यक है। इसलिए संक्षेपमें उसका विवरण नीचे दे रहे हैं।

स्फोटवाद

'स्फोटवाद' वैयाकरणोंका प्रमुख सिद्धान्त है। 'स्फोट' शब्दकी व्युत्पत्ति 'स्फुटति अर्थः यस्मात् स स्फोटः' इस प्रकार की जाती है। अर्थात् जिससे अर्थकी प्रतीति हो उसको 'स्फोट' कहते हैं। यह 'स्फोट' पद-स्फोट, वर्ण-वाक्य-स्फोट आदि भेदसे आठ प्रकारका होता है। 'पदस्फोट'से पदार्थकी तथा

---

१ 'महाभाष्य', प्रथमाह्निक, पृष्ठ ७।

अत्र तदन्तिकमेव रन्तुं गतासीति प्राधान्येनाधमपदेन व्यज्यते ॥४॥

[सू० ३] अतादृशि गुणीभूतव्यङ्ग्यं व्यङ्ग्ये तु मध्यमम् ।

अतादृशि वाच्यादनतिशायिनि । यथा—

ग्रामतरुणं तरुण्या नववञ्जुलमञ्जरीसनाथकरम्
पश्यन्त्या भवति मुहुर्नितरां मलिना मुखच्छाया ॥३॥

अत्र वञ्जुललतागृहे दत्तसङ्केता नागतेति व्यङ्ग्यं गुणीभूतम्, तदपेक्षया वाच्यस्यैव चमत्कारित्वात् ।

यहाँ [कहनेवाली भी जानती है कि यह नायकके साथ भोग करके आयी है और जिससे कहा जा रहा है वह तो जानती ही है। इसलिए वक्ता तथा बोद्धाके वैशिष्ट्यसे तू] उसीके पास गयी थी, और रमण करनेके लिए ही गयी थी, यह बात विशेषकर 'अधम' पदसे अभिव्यक्त होती है। [इसमें वाच्यार्थकी अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थ अधिक चमत्कारयुक्त है इसलिए ग्रन्थकारने इसको उत्तम-काव्य या ध्वनि-काव्यके उदाहरणके रूपमें प्रस्तुत किया है] ॥ ४ ॥

काव्य-भेद : २. गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य

इस प्रकार ध्वनि-काव्यका लक्षण तथा उदाहरण दे चुकनेके बाद काव्यके 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' नामक दूसरे भेदका लक्षण करके उसका उदाहरण आगे देते हैं—

[सू० ३] उस प्रकारके [अर्थात् वाच्यसे अधिक चमत्कारी] व्यङ्ग्य [अर्थ] न होनेपर [गुणीभूतव्यङ्ग्य [नामक दूसरे प्रकारका काव्य] होता है जो मध्यम [काव्य कहा जाता] है।

[अतादृशि] वैसा न होनेपर अर्थात् [व्यङ्ग्यार्थके] वाच्यसे अधिक उत्तम न होनेपर [गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य होता है] जैसे—

वेतस-वृक्षकी ताजी तोड़ी हुई मञ्जरीको हाथमें लिये ग्रामके नवयुवकको देख-देखकर तरुणीके मुखकी कान्ति मलिन होती जा रही है ॥ ३ ॥

यहाँ अशोक या वेतसके [वञ्जुलः पुंसि तिनिशे वेतसाशोकयोरपि] लता-गृहमें [ग्राम-तरुणके साथ मिलनेका] संकेत देकर [घरके काममें लग जाने अथवा अन्य लोगोंकी उपस्थितिके कारण निकलनेका समय न मिलनेसे तरुणी नियत समयपर वहाँ] नहीं आयी [और ग्रामतरुण समयपर पहुँच गया, उसको देखकर तरुणीकी मुख-कान्ति मलिन हो रही है] यह व्यङ्ग्य, वाच्यके ही उस [व्यङ्ग्य] की अपेक्षा अधिक चमत्कारी होनेसे, गुणीभूत हो गया है। [इसलिए यह गुणीभूतव्यङ्ग्यका उदाहरण है] ॥ ३ ॥

'ग्रामतरुण' इस पदसे यह भी व्यक्त होता है कि ग्राममें एक ही तरुण है, अनेक युवतियों द्वारा प्रार्थ्यमान होनेसे उसका दुबारा जल्दी मिलना कठिन है। इसलिए पश्चात्तापका अतिशय सूचित होता है। यहाँ व्यङ्ग्य अर्थकी अपेक्षा वाच्य अर्थके ही अधिक चमत्कारी होनेसे गुणीभूतव्यङ्ग्यका यह उदाहरण दिया है।

वाच्य और व्यङ्ग्य दोनों जहाँ समान स्थितिमें हों, वहाँ भी व्यङ्ग्यके वाच्यातिशायी न होनेके कारण गुणीभूतव्यङ्ग्य ही होता है। उसका उदाहरण यहाँ नहीं दिया है। पञ्चम उल्लासमें जहाँ

[सू० ४] शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यङ्ग्यं त्ववरं स्मृतम् ॥५॥

चित्रमिति गुणालङ्कारयुक्तम्। अव्यङ्ग्यमिति स्फुटप्रतीयमानार्थरहितम्। अवरम् अधमम्। यथा—

स्वच्छन्दोच्छलदच्छकच्छकुहरच्छातेतराम्बुच्छटा-
मूर्च्छन्मोहमहर्षिहर्षविहितस्नानाह्निकाह्नाय वः।
भिद्यादुद्यदुदारदर्दुरदरी दीर्घादरिद्रद्रुम-
द्रोहोद्रेकमहोर्मिमेदुरमदा मन्दाकिनी मन्दताम् ॥४॥

'गुणीभूतव्यङ्ग्य का विस्तारके साथ विवेचन किया जायगा, वहाँ वाच्य तथा व्यङ्ग्य दोनोंके 'तुल्य-प्राधान्य'का उदाहरण भी दिया जायगा।

काव्य-भेद : ३. चित्र-काव्य

इस प्रकार काव्यके ध्वनि तथा गुणीभूतव्यङ्ग्यरूप उत्तम तथा मध्यम भेदोंके लक्षण एवं उदाहरण यहाँतक दिखलाये। आगे काव्यके तीसरे भेद 'चित्र-काव्य'का लक्षण तथा उदाहरण दिखलाते हैं—

[सू० ४]—व्यङ्ग्य [अर्थ] से रहित 'शब्द-चित्र' तथा 'अर्थ-चित्र' [दो प्रकारका] अधम [काव्य] कहा गया है ॥ ५ ॥

चित्र [नाम] गुण तथा अलङ्कारसे युक्त [होनेसे] है। अव्यङ्ग्य [का अभिप्राय] स्पष्टरूपसे [प्रतीयमान] व्यङ्ग्य अर्थसे रहित [काव्य] है। अवर [का अर्थ] अधम है। [शब्द-चित्र, अर्थ-चित्र—दोनोंके उदाहरण देते हैं] जैसे—

['मन्दाकिनी वः मन्दताम् अह्नाय भिद्यात्' यह इस श्लोकका मुख्य वाक्य है, शेष सब मन्दाकिनीके विशेषण हैं। इसलिए श्लोकका भावार्थ यह हुआ कि] गङ्गा तुम्हारी मन्दता अर्थात् अज्ञान या पापको अह्नाय अर्थात् झटिति तुरन्त ही दूर करे। [किस प्रकारकी मन्दाकिनी कि—] स्वच्छन्दरूपसे उछलती हुई, अच्छ अर्थात् निर्मल और [कच्छ-कुहर] किनारेके गड्ढोंमें [छात दुर्बल, छातेतर] अत्यन्त वेगसे प्रवाहित होनेवाली जो जलकी धारा [अम्बुच्छटा] उससे जिनके मोह अज्ञानका [मूर्च्छा] नाश हो गया है ऐसे महर्षियोंके द्वारा जिसमें आनन्दपूर्वक स्नान तथा आह्निक [सन्ध्या-वन्दन आदि] कार्य किये जा रहे हैं, [इस प्रकारकी मन्दाकिनी तुम्हारी मन्दता, अज्ञान अथवा पापादिको दूर करे। इस विशेषणसे मन्दाकिनीके महर्षिजन-सेव्यत्वका प्रतिपादन कर अन्य तीर्थोंकी अपेक्षा उसका महत्त्व प्रदर्शित किया है। आगे अन्य नदियोंसे उसकी श्रेष्ठता दिखलाते हैं। उद्यन्तः प्रकाशमाना उदारा महान्तो दर्दुरा भेका यासु एवंविधा दर्यः कन्दरा यस्यां सा] जिनमें बड़े-बड़े मेढ़क दिखलायी पड़ रहे हैं इस प्रकारकी कन्दराओंसे युक्त, और दीर्घकाय एवं अदरिद्र अर्थात् [बड़े ऊँचे तथा शाखा, पत्र-पुष्प आदिसे लदे हुए] जो वृक्ष उनके गिराने [द्रोह] के कारण ऊपर उठनेवाली बड़ी-बड़ी लहरोंमे [मेदुरमदा [अत्यन्त गर्वशालिनी गङ्गा तुम्हारे पाप या अज्ञान आदिको तुरन्त नष्ट करे। [इसमें कोई व्यङ्ग्यार्थ नहीं है केवल शब्दोंका अनुप्रासजन्य चमत्कार है। अतः चित्र-काव्य है] ॥ ४ ॥

यह 'शब्दचित्र'का उदाहरण है। अर्थचित्रका उदाहरण आगे देते हैं—

'विनिर्गतं मानदमात्ममन्दिराद् भवत्युपश्रुत्य यदृच्छयापि यम् ।
ससम्भ्रमेन्द्रद्रुतपातितार्गला निमीलिताक्षीव भियामरावती ॥५॥

इति काव्यप्रकाशे काव्यस्य प्रयोजन-कारण-स्वरूपविशेष-निर्णयो नाम
प्रथम उल्लासः

[शत्रूणां मानम् अभिमानम् द्यति खण्डयति, मित्रेभ्यो मानमादरं ददाति वा इति मानदः] शत्रुओंके अभिमानको चूर करनेवाले जिस [हयग्रीव] को यों ही घूमनेके लिए [युद्ध या अमरावतीपर विजय करनेके लिए नहीं] अपने महलसे निकला हुआ सुनकर भी घबड़ाये हुए इन्द्रके द्वारा जिसकी अर्गला डाल दी गयी है इस प्रकारकी [इन्द्रकी राजधानी] अमरावती [नगरीरूप नायिका] ने भयसे [द्वाररूप अपनी] आँखे बन्द-सी कर ली ।

यहाँ 'भिया निमीलिताक्षीव अमरावती जाता' अर्थात् अमरावतीने मानो डरके मारे आँखे बन्द कर ली हों यह उत्प्रेक्षा अलङ्कार है । इस उत्प्रेक्षामें ही कविका प्रधानरूपसे तात्पर्य है । इसलिए यद्यपि वीररसकी प्रतीति हो सकती है परन्तु उसमें कविका तात्पर्य न होनेसे इसको चित्र-काव्यमें स्थान दिया गया है । परन्तु अर्थचित्रका यह उदाहरण कुछ ठीक नहीं जँचता है । यहाँ वीररसकी प्रतीति होती है, जिसमें हयग्रीव स्वयं 'आलम्बन-विभाव', प्रतिपक्षी इन्द्रगत भय 'उद्दीपन-विभाव', मानका खण्डन 'अनुभाव' और यदृच्छा सञ्चरणसे गम्य धृति 'व्यभिचारिभाव' है । इसलिए यह व्यङ्ग्य-रहित अधम 'चित्र-काव्य'का उदाहरण नहीं हो सकता है । यदि उत्प्रेक्षासे वीररस अभिभूत हो जाता है यह कहा जाय, तो इसको गुणीभूत-व्यङ्ग्यके उदाहरणमें अन्तर्भूत किया जा सकता है । अधम-काव्यकी श्रेणीमें रखकर कदाचित् इस श्लोकके साथ न्याय नहीं किया गया है ।

सारांश

इस प्रकार इस प्रथम उल्लासमें ग्रन्थकारने (१) मङ्गलाचरण, उसके बाद (२) काव्यके प्रयोजन, (३) काव्यके साधन, (४) काव्यका लक्षण तथा (५) काव्यके भेदोंका वर्णन किया है । काव्यके भेदोंका वर्णन करते हुए उन्होंने मुख्यरूपसे काव्यके तीन भेद किये हैं—१. ध्वनि-काव्य, २. गुणीभूत-व्यङ्ग्य-काव्य और ३. चित्र-काव्य । इनमेंसे 'ध्वनि-काव्य' उसको कहते हैं जिसमें वाच्यार्थकी अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थ अधिक चमत्कारयुक्त हो । इसके विपरीत जहाँ व्यङ्ग्यार्थकी अपेक्षा वाच्यार्थ अधिक या उसके तुल्य चमत्कारजनक होता है उसको 'गुणीभूत-व्यङ्ग्य-काव्य' कहते हैं, और जहाँ व्यङ्ग्यका सर्वथा अभाव होता है उसको 'चित्र-काव्य' कहते हैं । इनमेंसे ध्वनि-काव्य उत्तम, गुणीभूत-व्यङ्ग्य काव्य मध्यम तथा चित्र-काव्य अधम श्रेणीमें गिना जाता है ।

काव्यप्रकाशमें काव्यके प्रयोजन, कारण तथा स्वरूप-विशेष
का निर्णय नामक प्रथम उल्लास समाप्त हुआ ।

श्रीमदाचार्य-विश्वेश्वर-सिद्धान्तशिरोमणिविरचितायां काव्यप्रकाशदीपिकायां
हिन्दीव्याख्यायां प्रथम उल्लासः समाप्तः ।

---

१ मेण्ठ-कवि-कृत 'हयग्रीववध-नाटक' ।

क्रमेण शब्दार्थयोः स्वरूपमाह—

[सू० ५] स्याद्वाचको लाक्षणिकः शब्दोऽत्र व्यञ्जकस्त्रिधा ।

अत्रेति काव्ये । एषां स्वरूपं वक्ष्यते ।

अथ काव्यप्रकाश-दीपिकायां द्वितीय उल्लासः

उल्लास-सङ्गति

प्रथम उल्लासमें काव्यका लक्षण करते हुए ग्रन्थकारने शब्द तथा अर्थ दोनोंकी समष्टिको काव्य बतलाया था। इसलिए काव्यके इस लक्षणको समझनेके लिए शब्द तथा अर्थके स्वरूपका ज्ञान आवश्यक है। इसलिए ग्रन्थकार इस द्वितीय उल्लासमें शब्द तथा अर्थके स्वरूपका परिचय करानेका प्रयत्न कर रहे हैं। इस दृष्टिसे उन्होंने अपने इस द्वितीय उल्लासका नाम 'शब्दार्थस्वरूपनिर्णय' रखा है। उन्होंने वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य तीन प्रकारके अर्थ माने हैं। उसीके अनुसार वाचक, लक्षक तथा व्यञ्जक तीन प्रकारके शब्द माने हैं। इन तीन प्रकारके शब्दोंसे तीनों प्रकारके अर्थोंकी प्रतीतिके लिए उन शब्दोंमें अभिधा, लक्षणा तथा व्यञ्जना नामक तीन प्रकारकी शब्द-शक्तियाँ मानी हैं। इस उल्लासमें ग्रन्थकार तीन प्रकारके अर्थ, तीन प्रकारके शब्द और तीन प्रकारकी शब्द-शक्तियोंका वर्णन करेंगे। सबसे पहले तीन प्रकारके शब्दोंका निरूपण करते हैं।

शब्दके तीन भेद

[काव्यका लक्षण हो जानेके बाद लक्षणमें आये हुए 'शब्दार्थों'का विवेचन करनेके लिए] क्रमसे [अवसरप्राप्त] शब्द तथा अर्थके स्वरूपको कहते हैं—

[सू० ५]—यहाँ [काव्यमें] वाचक, लाक्षणिक और व्यञ्जक [भेदसे] तीन प्रकारका शब्द होता है।

'यहाँ' इससे 'काव्यमें' [यह अर्थ लेना चाहिये]। इन [वाचक, लाक्षणिक और व्यञ्जक तीनों प्रकारके शब्दों] का स्वरूप [आगे] बतलाया जायगा।

अन्य शास्त्रोंमें वाचक तथा लक्षक दो प्रकारके शब्द तो प्रायः माने गये हैं परन्तु तीसरे व्यञ्जक शब्दका निरूपण साहित्यशास्त्रको छोड़कर अन्य शास्त्रोंमें नहीं किया गया है। इसलिए कारिकामें 'अत्र' शब्दका विशेषरूपसे प्रयोग किया गया है, जिसका अभिप्राय यह है कि यद्यपि अन्य शास्त्रोंमें व्यञ्जक-शब्द नहीं माना गया है परन्तु काव्यमें तो व्यञ्जक शब्दके बिना कोई चमत्कार ही न रह जायगा इसलिए यहाँ काव्यमें तीनों प्रकारके शब्द माने जाते हैं। इनमें वाचक शब्द मुख्यार्थका बोधक होता है इसलिए सबसे पहिले उसको रखा गया है। लाक्षणिक शब्द वाचक शब्दके ऊपर आश्रित रहता है इसलिए वाचकके बाद लाक्षणिक शब्दका स्थान आता है और व्यञ्जक शब्द इन दोनोंकी अपेक्षा रखता है इसलिए उसको तीसरे स्थानपर रखा गया है। उसमें भी विशेषरूपसे यह बात ध्यान देने योग्य है कि यह तीन प्रकारका विभाग केवल शब्दकी उपाधियोंका है, शब्दोंका नहीं, क्योंकि अमुक शब्द केवल वाचक है, अमुक शब्द केवल लक्षक है या अमुक शब्द केवल व्यञ्जक है इस प्रकार कोई निश्चित विभाग शब्दोंमें नहीं पाया जाता है। एक ही शब्द वाचक भी हो सकता है और लक्षक तथा व्यञ्जक भी। इसलिए यह तीन प्रकारका विभाग शब्दोंका नहीं, अपितु शब्दकी उपाधियोंका ही समझना चाहिये। जिस प्रकार एक ही व्यक्ति उपाधिके भेदसे कभी वाचक और कभी पाठक कहा जा सकता है, उसी प्रकार उपाधियोंके भेदसे एक ही शब्द कभी वाचक कभी लक्षक और कभी व्यञ्जक कहा जा सकता है।

[सू० ६] वाच्यादयस्तदर्थाः स्युः

वाच्य-लक्ष्य-व्यङ्ग्याः ।

[सू० ७] तात्पर्यार्थोऽपि केषुचित् ॥ ६ ॥

अर्थके तीन भेद

[जिस प्रकार वाचकादि भेदसे शब्द तीन प्रकारके होते हैं उसी प्रकार अर्थ भी तीन प्रकारके होते हैं । उनको कहते हैं]—

[सू० ६]—वाच्य [लक्ष्य तथा व्यङ्ग्य] आदि उन [वाचक, लक्षक तथा व्यञ्जक शब्दों] के अर्थ [भी तीन प्रकारके] होते हैं ।

[वाच्यादिका अर्थ है] वाच्य, लक्ष्य तथा व्यङ्ग्य ।

अर्थका चतुर्थ भेद—'तात्पर्यार्थ'

[सू० ७]—किन्हीं कुमारिलभट्टके अनुयायी पार्थसारथिमिश्र आदि 'अभिहितान्वयवादी' मीमांसकों] के मतमें [तीन प्रकारके वाच्यादि अर्थोंके अतिरिक्त चौथे प्रकारका] तात्पर्यार्थ भी होता है ॥६॥

भारतीय साहित्यमें शब्दबोधका विवेचन व्याकरण, न्याय तथा मीमांसा इन तीन शास्त्रोंमें विशेषरूपसे किया गया है । इनमेंसे व्याकरणशास्त्रमें पद-पदार्थोंका विवेचन है, इसलिए व्याकरणको 'पद-शास्त्र' कहते हैं । न्यायमें विशेषरूपसे प्रमाणोंका विवेचन किया गया है इसलिए न्यायको प्रमाण-शास्त्र' कहा जाता है । इसी प्रकार वाक्यार्थ बोधका विवेचन मीमांसामें विशेषरूपसे किया है, इसलिए मीमांसाको 'वाक्य शास्त्र' कहा जाता है । शाब्दबोधमें इन तीनों शास्त्रोंकी आवश्यकता पड़ती है इसलिए शाब्दबोधमें निष्णात इन तीनों शास्त्रोंके पण्डितको 'पद-वाक्य-प्रमाणज्ञः' इस गौरवपूर्ण उपाधिसे विभूषित किया जाता है । यहाँ ग्रन्थकारने अर्थविवेचनके प्रसङ्गमें मीमांसकोंके सिद्धान्तको प्रदर्शित करनेके लिए 'तात्पर्यार्थोऽपि केषुचित्' यह पङ्क्ति विशेषरूपसे लिखी है ।

मीमांसकोंमें भी वाक्यार्थके विषयमें कई मत पाये जाते हैं, जिनमें 'अभिहितान्वयवाद' तथा 'अन्विताभिधानवाद' दो मुख्य हैं । प्रसिद्ध मीमांसक विद्वान् कुमारिलभट्ट तथा उनके अनुयायी पार्थसारथिमिश्र आदि 'अभिहितान्वयवाद'के माननेवाले हैं । इसके विपरीत प्रभाकर-गुरु और उनके अनुयायी शालिकनाथमिश्र आदि 'अन्विताभिधानवाद'के माननेवाले हैं ।

अभिहितान्वयवाद

अभिहितान्वयवादका अभिप्राय यह है कि पहिले पदोंसे पदार्थोंकी प्रतीति होती है । उसके बाद उन पदार्थोंका परस्परसम्बन्ध, जो पदोंसे उपस्थित नहीं हुआ था, वाक्यार्थ मर्यादासे उपस्थित होता है । इसलिए पहिले पदोंके द्वारा पदार्थ अभिहित अर्थात् अभिधा शक्ति द्वारा बोधित होते हैं, बादमें वक्ताके तात्पर्यके अनुसार उनका परस्पर अन्वय या सम्बन्ध होता है जिससे वाक्यार्थकी प्रतीति होती है । इस प्रकार वाक्यार्थ बोधके लिए अभिहित पदार्थोंका अन्वय माननेके कारण कुमारिलभट्ट आदिका यह सिद्धान्त 'अभिहितान्वयवाद' कहा जाता है । इस मतमें पदार्थोंका परस्पर सम्बन्ध पदोंसे नहीं, अपितु वक्ताके तात्पर्यके अनुसार होता है, इसलिए उसको 'तात्पर्यार्थ' कहते हैं, वही वाक्यार्थ कहलाता है और उसकी बोधक शक्तिको 'तात्पर्याख्याशक्ति' भी कहा जाता है, जो पहिले बतलायी हुई तीनों शक्तियोंसे भिन्न चौथी शक्ति मानी जा सकती है । परन्तु मीमांसक व्यञ्जना-शक्ति नहीं मानते हैं इसलिए उनकी दृष्टिसे तो यह चौथी नहीं, तीसरी ही शक्ति है ।

आकाङ्क्षा-योग्यता-सन्निधिवशाद् वक्ष्यमाणस्वरूपाणां पदार्थानां समन्वये तात्पर्यार्थो विशेषवपुरपदार्थोऽपि वाक्यार्थः समुल्लसतीति 'अभिहितान्वयवादिनां' मतम् ।

ग्रन्थकारने 'अभिहितान्वयवाद'के इसी सिद्धान्तका परिचय इस प्रकार दिया है—

जिन [पदार्थों] का स्वरूप आगे कहा जायगा ऐसे [पदों द्वारा अभिहित केवल] पदार्थोंका आकांक्षा, योग्यता तथा सन्निधिके वलसे [समन्वय] परस्पर सम्बन्ध होनेमें पदोंसे प्रतीत होनेवाला अर्थ न होनेपर भी [तात्पर्यविषयीभूत अर्थ होनेके कारण] विशेष प्रकारका तात्पर्यार्थरूप वाक्यार्थ प्रतीत होता है यह 'अभिहितान्वयवादियों' [अर्थात् कुमारिलभट्टके अनुयायियो] का मत है।

एक तो 'अभिहितान्वयवाद'का सिद्धान्त दार्शनिक विषय होनेके कारण वैसे ही क्लिष्ट है उस-पर आचार्य मम्मटकी क्लिष्ट रचना-शैलीके कारण ये पक्तियाँ और भी कठिन एव दुरुह बन गयी हैं। 'आकाङ्क्षा-योग्यता-सन्निधिवशात्' इस वाक्य-खण्डको ग्रन्थकारने पहिले रखा है और 'वक्ष्यमाण-स्वरूपाणा पदार्थानाम्' इस वाक्यागको बादमे रखा है। यह वाक्य-रचना अर्थको समझनेमे कुछ कठि-नाई उपस्थित करती है। यदि इसके स्थानपर 'वक्ष्यमाणस्वरूपाणा पदार्थानाम् आकाङ्क्षा-योग्यता-सन्नि-धिवशात् समन्वये' इस प्रकारका पाठ रखते तो अर्थका समझना अपेक्षाकृत सरल हो जाता। पक्तियो-का आशय यह है कि पदार्थोंका परस्पर सम्बन्ध पदो द्वारा उपस्थित न होनेपर भी आकाक्षादिके बलसे भासता है। यही 'तात्पर्यार्थ' है और यही 'वाक्यार्थ' कहलाता है। इसीको पक्तिमें 'तात्पर्यार्थो विशेषवपुः अपदार्थोऽपि वाक्यार्थ. समुल्लसति' इन शब्दोसे कहा है।

इस अनुच्छेदमें आकाक्षा, योग्यता तथा सन्निधि शब्दोका प्रयोग हुआ है। ये नये शब्द हैं इसलिए इनका अर्थ समझ लेना आवश्यक है। इनमेसे 'आकाक्षा' वस्तुत. 'श्रोताकी जिज्ञासा-रूप' है। एक पदको सुननेके बाद वाक्यके अन्य पदोके सुने बिना पूरे अर्थका ज्ञान नहीं होता है, इसलिए वाक्यके अगले पदके सुननेकी इच्छा श्रोताके मनमे उत्पन्न होती है। इसीका नाम आकाक्षा है। जिन पदोके सुननेपर इस प्रकारकी आकाक्षा होती है उनके समुदायको ही वाक्य कहते हैं। आकाक्षासे रहित 'गौरश्वः पुरुषो हस्ती' आदि यो ही अनेक पद बोल देनेसे वाक्य नहीं बनता है। दूसरे 'योग्यता' पदका अभिप्राय 'पदार्थोंके परस्पर सम्बन्धमे बाधाका अभाव' है। जहाँ पदार्थोके परस्पर सम्बन्धमे बाधा होती है उस पद-समुदायको वाक्य नहीं कहा जाता और न उससे वाक्यार्थ-बोध होता है। जैसे 'वह्निना सिञ्चति' इस पद समुदायमे 'योग्यता' नहीं है अर्थात् अग्निसे सिंचाई नहीं की जा सकती है। इसलिए वह्नि तथा सिंचनके सम्बन्धमे बाधा होनेसे यहाँ योग्यताका अभाव है। इस कारण इसको वाक्य नहीं कहा जा सकता है। तीसरा 'सन्निधि' पद है, उसका अर्थ 'एक ही पुरुष द्वारा अविलम्बसे पदोका उच्चारण करना' है। यदि एक ही व्यक्ति द्वारा घटे-घटेभर बादमे पदोका अलग अलग उच्चारण किया जाय तो वे सब मिलकर वाक्य नहीं कहला सकते हैं, क्योंकि उनमें 'आसत्ति' या 'सन्निधि' नहीं है। इसलिए आकाक्षा, योग्यता और सन्निधिसे युक्त जो पदसमुदाय होता है वही वाक्य कहलाता है और उसीसे वाक्यार्थका बोध होता है। इसलिए यहाँ ग्रन्थकारने इन तीनोंका उल्लेख किया है। 'अभिहितान्वयवाद'मे पहिले पदोंसे केवल—अनन्वित—पदार्थ उपस्थित होते है उसके बाद पदोंकी आकाक्षा, योग्यता तथा सन्निधिके बलसे 'तात्पर्याख्या शक्ति' द्वारा उन पदार्थोंके परस्परसम्बन्धरूप वाक्यार्थका बोध होता है। यह 'अभिहितान्वयवादी' कुमारिलभट्टके मतका सारश ग्रन्थकारने यहाँ प्रस्तुत किया है।

वाच्य एव वाक्यार्थ इति 'अन्विताभिधानवादिनः' ।

अन्विताभिधानवाद

दूसरा सिद्धान्त 'अन्विताभिधानवाद' है। इस सिद्धान्तके प्रतिपादक प्रभाकर और उनके अनुयायी शालिकनाथमिश्र आदि हैं। इनका कहना यह है कि पहिले 'केवल' पदार्थ अभिहित होते हों और बादको उनका 'अन्वय' होता हो यह बात नहीं है, बल्कि पहिलेसे 'अन्वित' पदार्थोंका ही अभिधासे बोधन होता है। इसलिए इस सिद्धान्तका नाम 'अन्विताभिधानवाद' रखा गया है। इस मतमें पदार्थोंका 'अन्वय' पूर्वसे ही सिद्ध होनेके कारण, उसके करानेके लिए, 'तात्पर्याख्याशक्ति'की आवश्यकता नहीं होती है।

प्रभाकर अपने इस मतके समर्थनके लिए यह युक्ति देते हैं कि पदोंसे जो पदार्थोंकी प्रतीति होती है वह 'सङ्केतग्रह'के बाद ही होती है और उस सङ्केतका ग्रहण व्यवहारसे होता है। जैसे, छोटा बालक है, उसको यह ज्ञान नहीं होता है कि किस शब्दका क्या अर्थ है, कौन-सा शब्द किस अर्थके बोधनके लिए प्रयुक्त किया जाता है। वह अपने पिता आदिके पास बैठा है। पिता उसके बड़े भाई या नौकर आदि किसीको आज्ञा देता है कि 'जरा कलम उठा दो।' बालक न कलमको जानता है और न 'उठा दो'का अर्थ समझता है। परन्तु वह पिताके इस वाक्यको सुनता है और भाईके व्यापारको देखता है। इससे उसके मनपर उस समष्टि वाक्यके समष्टिभूत अर्थका एक संस्कार बनता है। उसके बाद पिता फिर कहता है 'कलम रख दो और दावात उठा दो।' बालक फिर इस वाक्यको सुनता और भाईको तदनुसार क्रिया करते देखता है। इस प्रकार अनेक बारके व्यवहारको देखकर बालक धीरे-धीरे कलम, दावात, उठाना, रखना आदि शब्दोंके अलग-अलग अर्थ समझने लगता है। इस प्रकार व्यवहारसे सङ्केत ग्रह होता है। यह सङ्केत-ग्रह 'केवल पदार्थमें नहीं, अपितु किसीके साथ 'अन्वित-पदार्थ'में ही होता है। इसलिए जब 'केवल' 'अनन्वित' पदार्थमें सङ्केत-ग्रह नहीं होता है तो 'केवल' या अनन्वित' पदार्थकी उपस्थिति भी नहीं होती है। अतएव 'अन्वित'का ही 'अभिधान' अर्थात् 'अभिधा'से बोधन होनेसे 'अन्विताभिधान' ही मानना उचित है, 'अभिहितान्वय'का मानना उचित नहीं है यह प्रभाकरके सिद्धान्तका सार है।

अगली पंक्तिमें अन्विताभिधानवादके सिद्धान्तको इस प्रकार दिखलाते हैं—

[पदोंके द्वारा अन्वित पदार्थोंकी ही उपस्थिति होती है इसलिए पदार्थोंका परस्पर समन्वयरूप] वाक्यार्थ वाच्य ही होता है। [तात्पर्याख्या शक्तिसे बादको प्रतीत नहीं होता है] यह 'अन्विताभिधानवादियों' [प्रभाकर आदि] का मत है।

प्रभाकरका परिचय

इस 'अन्विताभिधानवाद'के सिद्धान्तका प्रतिपादन करनेवाले प्रभाकर, वस्तुतः 'अभिहितान्वयवादी' कुमारिलभट्टके शिष्य हैं। पर उनका अनेक विषयोंमें अपने गुरुसे मतभेद रहा है। प्रभाकर अपने विद्यार्थी जीवनमें ही बड़े प्रभावशाली विद्यार्थी थे और अपने स्वतन्त्र विचारोंके लिए प्रसिद्ध थे। प्रत्येक विषयपर वे अपनी स्वतन्त्र प्रतिभा और स्वतन्त्र विचार शैलीसे विचार करते थे जिसके कारण कभी-कभी उनके गुरु कुमारिलभट्टको भी कठिनाईका सामना करना पड़ता था।

एक बारकी बात है कि कुछ विद्वानोंमें 'आतिवाहिक-पिण्ड'के सिद्धान्तपर विवाद छिड़ गया। आतिवाहिक पिण्डका अभिप्राय मृत्युके बाद दिये जानेवाले पिण्डसे है। एक पक्ष उसके दिये जानेका समर्थन करता था और उसकी एक विशेष विधिका प्रतिपादन करता था। दूसरा पक्ष उसका विरोधी

था। अन्तमें यह विवाद निर्णयके लिए कुमारिलभट्टके पास पहुँचा। कुमारिलभट्टने अपनी सम्मतिके अनुसार एक पक्षमें व्यवस्था दे दी। परन्तु यह व्यवस्था प्रभाकरको रुचिकर प्रतीत नहीं हुई और उन्होने उसका प्रतिवाद किया। बाहरके विद्वान् तो कुमारिलभट्टकी व्यवस्था लेकर चले गये परन्तु जो विवाद अबतक बाहर था वह अब घरमें प्रारम्भ हो गया। कुमारिलभट्टने अनेक प्रकारसे प्रभाकरको अपना सिद्धान्त समझानेका प्रयत्न किया परन्तु उसको सन्तोष न हुआ, या यो कहना चाहिये कि कुमारिलभट्ट अपनी युक्तियोंसे उसको चुप न कर सके। जैसे गान्धीजी अपने जीवन-कालमें जवाहरलालजीको अपने अहिंसा-सिद्धान्तको पूरी तरहसे समझा नहीं सके पर उनको यह विश्वास था कि मेरे सिद्धान्तका पालन करनेवाले 'जवाहर' ही होंगे, उसी प्रकार कुमारिलभट्टको यह विश्वास था कि इस 'आतिवाहिक-पिण्ड'के सिद्धान्तको प्रभाकर इस समय भले ही अपने इस तर्कके सामने न टिकने दे पर किसी दिन इस सिद्धान्तको मानेगा ही। इसलिए उस समय उन्होने इस विषयपर आगे चर्चा बन्द कर दी और प्रभाकरसे कह दिया कि फिर कभी इस सिद्धान्तका स्पष्टीकरण करेंगे।

बहुत दिन बीत गये। एक दिन सहसा कुमारिलभट्टकी मृत्युका समाचार सुनायी दिया। यद्यपि सहसा किसीको उनकी मृत्युका विश्वास न होता था पर जब सभीने उनके शरीरकी परीक्षा कर उसमे जीवनका कोई चिह्न न पाया तो फिर उसपर विश्वास करनेके अतिरिक्त और मार्ग ही क्या था। फलतः सब लोगोंने उनका अन्तिम संस्कार करनेकी तैयारी प्रारम्भ कर दी। इस अन्तिम संस्कारके प्रसङ्गमे जब 'आतिवाहिक-पिण्ड'का अवसर आया तो लोगोंने प्रभाकरकी ओर देखा। परन्तु उस समय प्रभाकरने बिना किसी सङ्कोचके कुमारिलभट्टकी व्यवस्थाके अनुसार ही सारी प्रक्रिया करवायी। सारी कारवाई पूर्ण हो जानेके बाद मृतक-यानके उठाये जानेके पूर्व कुमारिलभट्टके शरीरमें कुछ चेतनाका सञ्चार-सा प्रतीत हुआ और धीरे-धीरे थोड़ी देर बाद वे उठकर बैठ गये, जैसे सोकर उठे हों। उठनेके बाद सब लोगोंमें प्रसन्नताकी लहर दौड़ गयी और इस बीचमें क्या-क्या हुआ इस सबका समाचार उनको सुनाया गया। उस प्रसङ्गमें जब उनको यह मालूम हुआ कि आज प्रभाकरने मेरे 'आतिवाहिक-पिण्ड' सम्बन्धी सिद्धान्तको ही मान्य ठहराया था तब उनको भी प्रसन्नता हुई और उन्होने प्रभाकरको सम्बोधन करके कहा, 'प्रभाकर जितमस्माभि'—कहो प्रभाकर, हम जीते न। प्रभाकरने उत्तर दिया, 'भगवन् मृत्वा जितम्'—भगवन्, मरकर जीते। मुझे जीतनेके लिए आपको मरनेका छल करना पड़ा या दूसरा जन्म लेना पड़ा।

प्रभाकरको 'गुरु'की उपाधि

यह उन गुरु-शिष्यके शास्त्र-समरकी एक झाँकी है। पर एक और घटना इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। एक दिन कुमारिलभट्टके यहाँ विद्यार्थियोंके पाठ हो रहे थे। प्राचीन पाठशालाओंकी प्रणाली यह थी कि पाठके समय छोटे-बड़े सभी विद्यार्थी, गुरुजीके पास ही बैठकर सबके पाठ सुनते थे। इनमेंसे जो विद्यार्थी उस ग्रन्थको पहिले पढ़ चुके होते थे उनको उसका पाठ दुबारा-तिबारा सुननेसे दृढ़ और अधिक परिमार्जित हो जाता था और जिन्हें आगे चलकर वह ग्रन्थ पढ़ना होता था उनका कुछ प्रारम्भिक संस्कार बन जाता था जो आगे उनको सहायता देता था।

ऐसे ही पाठके प्रसङ्गमें सब विद्यार्थियोंके साथ बैठे हुए प्रभाकर, अपनेसे किसी उच्च कक्षाके विद्यार्थियोंका पाठ सुन रहे थे। पढ़ाते-पढ़ाते गुरुजी अकस्मात् रुक गये। कोई क्लिष्ट पंक्ति आ गयी थी जो लग नहीं रही थी। इसलिए गुरुजीने उस पाठको वहीं रोक दिया और दूसरा कल पढ़ानेको कह दिया।

[illegible] चले गये और गुरुजी अपने भोजन [illegible] प्रभाकरने आकर गुरुजीकी पुस्तक उठा ली और जहाँ गुरुजी अटक रहे थे [illegible] विचारने लगे। थोड़ी देर सोचनेके बाद उन्हें मालूम हो गया कि यह, 'ईश्वरकी [illegible]' [illegible] समान, लेखकके प्रमादका खेल है। [illegible] कोई [illegible] नहीं है। पुस्तकमें लेखकने प्रमादसे पाठ अशुद्ध लिख दिया था। इसलिए [illegible] पुस्तकमें लिखा हुआ था 'अत्रापि नोक्तं तत्रापि नोक्तम् इति पौनरुक्त्यम्'। इसका अर्थ यह होता था कि 'यहाँ भी नहीं कहा है और वहाँ भी नहीं कहा है इसलिए पुनरुक्ति है'। यही समझमें नहीं आती थी। पुनरुक्ति तो तब होती है जब एक ही बात दो बार कही जाय। जो बात न यहाँ कही गयी, न वहाँ कही गयी वह पुनरुक्त कैसे हो सकती है यह बात समझमें नहीं आ रही थी। प्रभाकरने कलम लेकर उस पाठको संशोधन करके इस प्रकार लिख दिया —

'अत्र तुना उक्तं तत्र अपिना उक्तम् इति पौनरुक्त्यम्।'

अर्थात् यहाँ जो बात 'तुना' अर्थात् 'तु' शब्दने कही है वही बात वहाँ अर्थात् दूसरे स्थानपर 'अपिना' अर्थात 'अपि' शब्दसे कही गयी है इसलिए पुनरुक्ति है।

'अत्र तुनोक्तं तत्रापिनोक्तम् इति पौनरुक्त्यम्।'

इस पाठमें जो पुनरुक्ति समझमें नहीं आ रही थी पाठका संशोधन कर देनेसे वह बिल्कुल स्पष्ट हो गयी। प्रभाकर चुप चाप पुस्तक रखकर चले आये। कुछ समय बाद जब कुमारिलभट्टने उस पाठको विचारनेके लिए पुस्तक उठायी तो सब कुछ हस्तामलकवत् स्पष्ट हो गया और यह समझनेमें भी उनको देर न लगी कि यह कार्य प्रभाकरका है। उनको अपने शिष्यकी प्रतिभापर पहिले ही बड़ा विश्वास था पर आज उसकी अपूर्व प्रतिभा देखकर उनको बड़ा आनन्द हुआ और वे गद्गद हो गये। विश्वविद्यालयीय वाग्वाडम्बरमय वातावरणके समान नहीं, अपितु विशुद्ध भावनासे अपने समस्त शिष्य-मण्डलके बीच आज उन्होंने अपने उस शिष्यको 'गुरु'की गौरवमयी उपाधि प्रदान की। तबसे आजतक प्रभाकर 'गुरु' नामसे प्रसिद्ध हैं और दार्शनिक ग्रन्थोंमें 'इति गुरुमतम्' कहकर अत्यन्त सम्मानपूर्वक उनके मतका उल्लेख किया जाता है।

तौतातिक मत

इसके विपरीत कुमारिलभट्टके मतका प्रायः 'इति तौतातिक मतम्' 'तौतातिक मत' नामसे उल्लेख किया जाता है। 'तौतातिक' शब्दका अर्थ 'तु शब्द: तातः शिक्षको यस्य स तुतातः, तस्येद तौतातिकम्' यह होता है। 'तु' शब्द जिसका 'तात' अर्थात् शिक्षक है वह तु-तात हुआ और उसका मत 'तौतातिक मत' हुआ। ऊपरकी घटनाके अनुसार 'तु' शब्दसे ही कुमारिलभट्टको यह शिक्षा मिली थी इसलिए वे ही 'तु तात' हुए, और उनका मत 'तौतातिक-मत' कहलाया जाने लगा।

इन तीनों अर्थोंका व्यञ्जकत्व

इस प्रकार ग्रन्थकारने वाचक, लक्षक तथा व्यञ्जक तीन प्रकारके शब्दों और उनके अनुसार वाच्य, लक्ष्य तथा व्यङ्ग्य तीन प्रकारके अर्थोंका विवेचन किया और उसके साथ 'अभिहितान्वय-वादियों'के मतमें 'तात्पर्यार्थ' भी होता है यह बात यहाँतक दिखलायी है। इसके बाद वे यह कह रहे हैं कि इन तीनों प्रकारके अर्थोंमें व्यञ्जकत्व भी रहता है अर्थात् वाच्यार्थ भी व्यञ्जक हो सकता है और लक्ष्यार्थ तथा व्यङ्ग्यार्थ भी, अर्थात् तीनों ही अर्थ व्यञ्जक हो सकते हैं। उन तीनों अर्थोंके व्यञ्जकत्वके उदाहरण क्रमशः देते हुए इसी बातको आगे कहते हैं—

[सू० ८] सर्वेषां प्रायशोऽर्थानां व्यञ्जकत्वमपीष्यते ।

तत्र वाच्यस्य यथा—

माए घरोवअरणं अज्ज हु णत्थि त्ति साहिअं तुमए ।
ता भण किं करणिज्जं एमेअ ण वासरो ठाइ ॥ ६ ॥
[मातर्गृहोपकरणमद्य खलु नास्तीति साधितं त्वया ।
तद्भण किं करणीयमेवमेव न वासरः स्थायी ॥
इति संस्कृतम्]

अत्र स्वैरविहारार्थिनीति व्यज्यते ।

लक्ष्यस्य यथा—

साहेन्ती सहि सुहअं खणे खणे दूमिआसि मज्झ कए ।
सब्भावणेहकरणिज्जसरिसअं दाव विरइअं तुमए ॥ ७ ॥
[साधयन्ती सखि सुभगं क्षणे क्षणे दूनासि मत्कृते ।
सद्भावस्नेहकरणीयसदृशकं तावद् विरचितं त्वया ॥
इति संस्कृतम्]

अत्र मत्प्रियं रमयन्त्या त्वया शत्रुत्वमाचरितमिति लक्ष्यम् । तेन च कामुकविषयं सापराधत्वप्रकाशनं व्यङ्ग्यम् ।

व्यङ्ग्यस्य यथा—

उअ णिच्चलणिप्पंदा भिसिणीपत्तम्मि रेहइ बलाआ ।
णिम्मलमरगअभाअणपरिट्ठिआ संखसुत्ति व्व ॥ ८ ॥
[पश्य निश्चलनिष्पन्दा बिसिनीपत्रे राजते बलाका ।
निर्मलमरकतभाजनपरिस्थिता शङ्खशुक्तिरिव ॥
इति संस्कृतम्] ।

अत्र निष्पन्दत्वेन आश्वस्तत्वम् । तेन च जनरहितत्वम् । अतः संकेतस्थानमेतदिति कयाचित् कंचित् प्रति उच्यते । अथवा मिथ्या वदसि न त्वमत्रागतोऽभूरिति व्यज्यते ॥

इस प्रकार वाच्यार्थ तथा लक्ष्यार्थके व्यञ्जकत्वके उदाहरण दिये गये हैं। आगे व्यङ्ग्यार्थके व्यञ्जकत्वका तीसरा उदाहरण देते हैं—

व्यङ्ग्य [अर्थके व्यञ्जकत्व] का [उदाहरण] जैसे—

देखो, कमलके पत्तेपर निश्चल और बिना हिले-डुले बैठी हुई बलाका [बगुलिया] निर्मल [हरे रंगकी] मरकत-मणिकी तश्तरी [भाजन] में रखी हुई शङ्ख-शुक्तिकी तरह विदित होती है ॥ ८ ॥

यहाँ [बलाकाके] निश्चल होनेसे उसकी निडरता [आश्वस्तता लक्षणासे सूचित होती है । [और उस [आश्वस्तत्वरूप लक्ष्यार्थ] से [स्थानका] जनरहित होना [व्यञ्जनासे सूचित होता है] । इसलिए यह संकेतस्थान है यह [बात पहिले व्यङ्ग्यार्थसे फिर व्यञ्जना द्वारा] कोई नायिका किसीसे [अर्थात् अपने कामुक प्रियसे] कह रही है । अथवा झूठ बोलते हो तुम यहाँ नहीं आये [अन्यथा यह बलाका ऐसी निश्चल-निष्पन्द नहीं रह सकती थी] यह [पहिले व्यङ्ग्यार्थसे] व्यञ्जना द्वारा सूचित होता है ।

यह पद्य 'हाल कवि'-विरचित 'गाथासप्तशती'के प्रथम शतकका चतुर्थ पद्य है। ग्रन्थकारने उसे व्यङ्ग्यार्थके व्यञ्जकत्वको दिखलानेवाले उदाहरणके रूपमें प्रस्तुत किया है। इसमें बलाका निष्पन्द अर्थात् बिना हिले डुले बैठी है यह वाच्य अर्थ है। इससे वह सर्वथा आश्वस्त है, उसको किसी प्रकारका भय नहीं है यह बात लक्षित होती है। इस आश्वस्तत्वसे यह स्थान विजन एकान्त-स्थान है यह व्यङ्ग्य निकलता है। इस व्यङ्ग्य अर्थसे यह 'सङ्केत'के लिए उचित स्थान है। यह दूसरा व्यङ्ग्यार्थ निकलता है, इसलिए यह व्यङ्ग्यार्थकी व्यञ्जकताका उदाहरण है।

यहाँ श्लोकमें निश्चल तथा निष्पन्द दो विशेषणोंका प्रयोग किया गया है। वैसे अनेक स्थानोंपर ये दोनों शब्द समानार्थक रूपमें प्रयुक्त होते हैं। परन्तु यहाँ यदि उनको समानार्थक माना जाय तो पुनरुक्ति होती है, इसलिए उनके अर्थमें जो सूक्ष्म भेद है, उसकी ओर ध्यान देना चाहिये। चलन शरीरकी स्थानान्तर-प्रापिका क्रिया है। अर्थात् चलनक्रिया शरीरमें होती है और उसके होनेपर चलनेवाला व्यक्ति एक स्थानसे दूसरे स्थानपर पहुँच जाता है। परन्तु स्पन्दन शरीरके अवयवोंकी क्रिया है जो स्थानान्तर-प्रापक नहीं होती है। अर्थात् अपने स्थानपर बैठे या खड़े हुए जो शरीरके अवयवोंका हिलाना डुलाना है वह 'स्पन्दन' कहा जाता है। 'स्पदि किञ्चिच्चलने' धातुका यही भावार्थ है। इसलिए इन दोनों शब्दोंके यह प्रयोगमें भी पुनरुक्ति नहीं होती है।

वाचकादीनां क्रमेण स्वरूपमाह—

[सू० ९] साक्षात्संकेतितं योऽर्थमभिधत्ते स वाचकः ॥ ७ ॥

इहागृहीतसंकेतस्य शब्दस्यार्थप्रतीतेरभावात् संकेतसहाय एव शब्दोऽर्थविशेषं प्रतिपादयतीति यस्य यत्राव्यवधानेन संकेतो गृह्यते स तस्य वाचकः ।

वाचक शब्दका स्वरूप

इस प्रकार तीन प्रकारके शब्द तथा अर्थोंका निरूपण कर चुकनेके बाद उन वाचक आदि तीनों प्रकारके शब्दोंके स्वरूपको कहते हैं ।

क्रमशः वाचक आदि [तीनों प्रकारके शब्दों] के स्वरूपका निरूपण करते हैं—

[सू० ९]—जो [शब्द] साक्षात् संकेतित अर्थको [अभिधा शक्तिके द्वारा] कहता है वह 'वाचक' [शब्द कहलाता] है ॥ ७ ॥

लोकव्यवहारमें [इह] बिना संकेत-ग्रहके शब्दसे अर्थकी प्रतीतिके न होनेसे संकेतकी सहायतासे ही शब्द अर्थविशेषका प्रतिपादन करता है [यह सिद्धान्त निश्चित होता है] इसलिए जिस [शब्द] का जहाँ [जिस अर्थमें] अव्यवधानसे संकेतका ग्रहण होता है वह [शब्द] उस [अर्थ] का 'वाचक' होता है ।

संकेतग्रहके उपाय

लोकव्यवहारसे छोटे बालकोंको संकेतग्रह किस प्रकार होता है यह हम अभी दिखला चुके हैं । उस प्रक्रियाको 'आवापोद्वाप'की प्रक्रिया कहते हैं क्योंकि उसमें पहिले उत्तमवृद्ध अर्थात् बालकके पिता आदिने मध्यमवृद्ध अर्थात् बालकके बड़े भाई या नौकर आदिको कलम उठानेकी आज्ञा दी थी । फिर कलम रखकर दावात उठानेकी आज्ञा दी थी और मध्यमवृद्धने उसीके अनुसार किया की थी । उस व्यवहारमें एक शब्दको हटाकर जो दूसरे शब्दका इसी प्रकार एक अर्थके स्थानपर दूसरे अर्थका निवेश किया गया इसीको आवाप-उद्वाप कहते हैं, इसलिए व्यवहारमें 'आवापोद्वाप' द्वारा संकेतका ग्रहण होता है यह बात स्पष्ट हो जाती है । यह लोकव्यवहार संकेतग्रहका प्रधान साधन है परन्तु उसके अतिरिक्त अन्य उपाय भी माने गये हैं जिनका संग्रह निम्नलिखित कारिकामें किया गया है—

'शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च ।
वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः ॥'

अर्थात् व्याकरण, उपमान, कोश, आप्तवाक्य, व्यवहार, वाक्यशेष, विवृति अर्थात् व्याख्या और सिद्ध—ज्ञात—पदके सान्निध्यसे भी शक्ति या संकेतका ग्रहण माना जाता है । इन सबमें मुख्य उपाय व्यवहार है, क्योंकि अधिकांश शब्दोंका और सबसे पहिले शक्तिग्रह व्यवहारसे ही होता है ।

इनमें 'भू सत्तायाम्' आदि धातुपाठसे अथवा 'साधकतमं करणम्' आदि सूत्रोंसे धातु तथा करण आदि पदोंका संकेतग्रह व्याकरणके द्वारा होता है । 'यथा गौस्तथा गवयः' यह उपमान प्रमाणका उदाहरण है । जो व्यक्ति गौको जानता है पर गवय [नील गाय] को नहीं जानता है, उसको गौके सदृश गवय होता है इस वाक्यकी सहायतासे गवय पदका संकेतग्रह हो जाता है । कोश तथा आप्तवाक्य अर्थात् पिता आदिके बतलानेसे भी नये पदार्थोंके नामोंका ज्ञान बालकको होता ही है । व्यवहारका उदाहरण ऊपर दे चुके हैं । विवृति अर्थात् व्याख्या भी संकेतग्रहका साधन है और 'वाक्यशेष' तथा सिद्ध पद अर्थात् ज्ञात अर्थवाले पदकी सन्निधिसे अज्ञात अर्थवाले पदका अर्थ भी ज्ञात हो जाता है । इस प्रकार ये सब संकेतग्रहके उपाय माने गये हैं ।

[सू० १०] संकेतितश्चतुर्भेदो जात्यादिर्जातिरेव वा ।

संकेतग्रहका विषय

यह शक्तिग्रह किसमें होता है, यह संकेतग्रहसे सम्बन्ध रखनेवाला महत्त्वपूर्ण प्रश्न है, जिसका अनेक विवेचकोंने अनेक प्रकारसे समाधान किया है। कोई जातिमें संकेतग्रह मानते हैं, कोई व्यक्तिमें और कोई जातिविशिष्ट व्यक्तिमें। यद्यपि साधारणरूपसे व्यवहार किसी व्यक्तिमें ही होता है इसलिए संकेतग्रह व्यक्तिमें ही होना चाहिये परन्तु व्यक्तिमें संकेतग्रह माननेसे 'आनन्त्य' तथा 'व्यभिचार' दो प्रकारके दोषोंकी सम्भावना रहती है। जिस शब्दका जिस अर्थमें संकेतग्रह होता है उस शब्दसे उसी अर्थकी प्रतीति होती है। बिना संकेतग्रहके अर्थकी प्रतीति नहीं होती। इसलिए यदि व्यक्तिमें संकेतग्रह माना जाय तो जिस व्यक्ति-विशेषमें संकेतग्रह हुआ है उस शब्दसे उस व्यक्ति-विशेषकी ही उपस्थिति होगी। अन्य व्यक्तियोंकी प्रतीतिके लिए प्रत्येक व्यक्तिमें अलग अलग संकेतग्रह मानना आवश्यक होगा। इस दशामें एक गो शब्दसे प्रतीत होनेवाली सभी गो-व्यक्तियोंमें अलग-अलग संकेतग्रह माननेमें अनन्त शक्तियोंकी कल्पना करनी होगी। यही 'आनन्त्य' दोषका अभिप्राय है। फिर व्यवहारसे तो वर्तमान देश और वर्तमान कालकी गो व्यक्तियोंमें ही संकेतग्रह हो सकता है, भूत-भविष्य और देशान्तर या कालान्तरकी सब गो-व्यक्तियोंमें संकेतग्रह सम्भव भी नहीं है इसलिए व्यक्तिमें संकेतग्रह नहीं माना जा सकता है।

इस 'आनन्त्य-दोष' अर्थात् अनन्त शक्तियोंकी कल्पनाके दोषको बचानेके लिए यदि यह कहा जाय कि अन्य सब व्यक्तियोंमें अलग-अलग शक्तिग्रहकी आवश्यकता नहीं होती है, दो-चार व्यक्तियोंमें व्यवहारसे संकेतग्रह हो जाता है, शेष व्यक्तियोंका बोध बिना संकेतग्रहके ही होता रहता है; तब 'व्यभिचार दोष' होगा। 'व्यभिचार' शब्दका अर्थ है 'नियमका उल्लङ्घन'। संकेतकी सहायतासे ही शब्द अर्थकी प्रतीति कराता है यह नियम है। अब यदि यह मान लिया जाता है कि गो-शब्दसे बहुत-सी गो-व्यक्तियोंका बोध बिना संकेतग्रहके होता है तो इस नियमका उल्लङ्घन होता है। इसलिए 'व्यभिचार दोष' आ जाता है। इस प्रकार व्यक्तिमें संकेतग्रह माननेमें 'आनन्त्य दोष' हो जाता है और उससे बचनेका प्रयत्न करनेपर 'व्यभिचार-दोष' आ जाता है। इसलिए व्यक्तिमें संकेतग्रह मानना सम्भव नहीं है।

दूसरी बात यह है कि 'महाभाष्यकार'ने 'चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः जातिशब्दाः, गुणशब्दाः, क्रियाशब्दाः यदृच्छाशब्दाश्चतुर्थाः' लिखकर जातिशब्द, गुणशब्द, क्रियाशब्द और यदृच्छा-शब्दरूपसे शब्दोंका चार प्रकारका विभाग किया है। व्यक्तिमें शक्ति माननेपर यह चारों प्रकारका शब्द-विभाग भी नहीं बन सकता है। क्योंकि जब व्यक्तिमें संकेतग्रह माना जायगा तो गौः, शुक्लः, चलः, डित्थः, आदि चारों शब्दोंसे व्यक्तिका ही बोध होगा। इसलिए गो-शब्द जातिवाचक है, शुक्ल पद गुणवाचक है, चल पद क्रियावाचक है और डित्थ पद उस व्यक्तिका नाम होनेसे यदृच्छाशब्द है इस प्रकारका विभाग नहीं बन सकता है। अतएव व्यक्तिमें शक्ति न मानकर व्यक्तिके उपाधिभूत जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छारूप धर्मोंमें ही संकेतग्रह मानना उचित है यह सिद्धान्त स्थिर होता है। इसी बात को ग्रन्थकारने इस प्रकार लिखा है—

[सू० १०]—संकेतित अर्थ जाति आदि [अर्थात् जाति, गुण, क्रिया तथा यदृच्छा] भेदोंसे चार प्रकारका होता है। अथवा [मीमांसकोंके मतमें] केवल जाति [रूप एक प्रकारका] ही [संकेतित अर्थ] होता है।

यद्यप्यर्थक्रियाकारितया प्रवृत्तिनिवृत्तियोग्या व्यक्तिरेव तथाप्यानन्त्याद् व्यभिचाराच्च तत्र संकेतः कर्तुं न युज्यत इति, 'गौः शुक्लः चलो डित्थः' इत्यादीनां विषयविभागो न प्राप्नोतीति च, तदुपाधावेव संकेतः ।

उपाधिश्च द्विविधः वस्तुधर्मो वक्तृयदृच्छासन्निवेशितश्च । वस्तुधर्मोऽपि द्विविधः, सिद्धः साध्यश्च । सिद्धोऽपि द्विविधः, पदार्थस्य प्राणप्रदो विशेषाधानहेतुश्च । तत्राद्यो जातिः। उक्तं हि वाक्यपदीये—"न हि गौः स्वरूपेण गौर्नाप्यगौः, गोत्वाभिसम्बन्धात्तु गौः।" इति।

द्वितीयो गुणः । शुक्लादिना हि लब्धसत्ताकं वस्तु विशिष्यते ।

साध्यः पूर्वापरीभूतावयवः क्रियारूपः ।

यद्यपि [आनयन, अपनयन आदिरूप] अर्थक्रियाका निर्वाहक होनेसे प्रवृत्ति-निवृत्ति [रूप व्यवहार] के योग्य व्यक्ति ही होता है [इसलिए व्यवहार द्वारा होनेवाला संकेतग्रह उस व्यक्तिमें ही होना चाहिये] फिर भी आनन्त्य तथा व्यभिचार [दोष] आ जानेके कारण उस [व्यक्ति] में संकेतग्रह मानना उचित नहीं है इसलिए. और सफेद रंगकी [शुक्लः], [चलः] चलती हुई, डित्थ नामक, गौ इत्यादि [गुणवाचक 'शुक्ल' पद, क्रियावाचक 'चल' पद, जातिवाचक 'गौ' पद तथा यदृच्छात्मक संज्ञारूप 'डित्थ' पद्—इन सब शब्दोंसे केवल व्यक्तिकी ही उपस्थिति होनेपर] का विषय-विभाग नहीं हो सकता है इसलिए भी [व्यक्तिमें नहीं अपितु] उसके उपाधि-[भूत धर्म जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा] में ही संकेतका ग्रहण होता है ।

उपाधिभेद द्वारा शब्दोंका चतुर्विध विभाग

यह उपाधि [मुख्यरूपसे] दो प्रकारकी होती है । १. वस्तुका [यथार्थ] धर्म और २. वक्ताके द्वारा अपनी इच्छासे [उस अर्थमें] सन्निवेशित । [इनमेंसे वक्ताकी यदृच्छासे सन्निवेशित उपाधि यदृच्छात्मक रूढ़ि शब्दोंमें रहती है] । वस्तु-धर्म भी दो प्रकारका होता है, एक सिद्धरूप और दूसरा साध्यरूप । [इनमें साध्यरूप वस्तु-धर्म 'क्रिया' कहलाता है] । सिद्ध [रूप, वस्तु-धर्म] भी दो प्रकारका होता है । एक पदार्थका प्राणप्रद या जीवनाधायक और दूसरा विशेषताका आधान करानेका कारण । इनमेंसे पहिला [अर्थात् वस्तुका प्राणप्रद सिद्ध धर्म] 'जाति' होता है । जैसा कि [भर्तृहरिने अपने] वाक्यपदीय [नामक ग्रन्थ] में कहा है कि—'गौ स्वरूपतः न गौ होती है न अगौ । गोत्व [जाति] के सम्बन्धसे ही गौ कहलाती है' । [इसलिए वस्तुका प्राणप्रद जीवनाधायक वस्तु-धर्म 'जाति' कहलाता है] ।

दूसरा [अर्थात् वस्तुका विशेषाधान-हेतु सिद्ध वस्तु-धर्म] 'गुण' होता है । क्योंकि शुक्ल आदि [गुणों] के कारणसे [ही] सत्ताप्राप्त वस्तु [अपने सजातीय अन्य पदार्थोंसे विशेष] भिन्नताको प्राप्त होती है । [गौ के साथ गुण-वाचक शुक्ल विशेषण अन्य गौओंकी अपेक्षा उसकी विशेषता या भेदको सूचित करता है] ।

साध्य [रूप वस्तुधर्म दाल आदिके पकानेमें चूल्हा जलाकर बटलोई रखनेसे लेकर उसके उतारने पर्यन्त आगे-पीछे किया जानेवाला] पूर्वापरीभूत [सारा व्यापार-कलाप] क्रियारूप [क्रिया शब्दसे वाच्य] होता है ।

डित्थादिशब्दानामन्त्यबुद्धिनिर्ग्राह्यं संहृतक्रमं स्वरूपं वक्त्रा यदृच्छया डित्थादिष्वर्थेषूपाधित्वेन सन्निवेश्यत इति सोऽयं संज्ञारूपो यदृच्छात्मक इति ।

'गौः शुक्लश्चलो डित्थः' इत्यादौ 'चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः' इति महाभाष्यकारः ।

डित्थ आदि [किसी व्यक्तिविशेषके वाचक रूढ़ि] शब्दोंका [स्फोटकी पूर्व-प्रदर्शित प्रक्रियाके अनुसार पूर्व-पूर्ववर्णानुभवजनितसंस्कारसहकृत चरम वर्णके श्रवणसे] अन्त्य-बुद्धि [चरमवर्णके श्रवण] से गृहीत होनेवाला [गकार, औकार, विसर्जनीय आदिके क्रमके] क्रमभेदसे रहित [बिना क्रमके बुद्धिमें एक साथ उपस्थित होनेवाला पदस्फोटरूप] स्वरूपको वक्ताकी अपनी स्वेच्छा द्वारा डित्थ आदि पदार्थोंमें [उसके वाचक] उपाधिरूपसे सन्निविष्ट किया जाता है। [अर्थात् किसी पदार्थ या व्यक्ति-विशेषका नाम रखनेवाला व्यक्ति रूढ़ संज्ञारूप शब्दका उस अर्थके साथ सम्बन्ध स्थापित कर देता है कि व्यक्ति इस नामसे बोधित होगा]। इस प्रकार यह [रूढ़] संज्ञारूप यदृच्छात्मक [शब्द होता] है।

इस प्रकार ग्रन्थकारने यहाँतक प्रतिपादन किया कि संकेतग्रह व्यक्तिमें नहीं होता है अपितु व्यक्तिके उपाधिभूत जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा आदि धर्मोंमें होता है। उसीके अनुसार शब्दोंका चार प्रकारका विभाग किया जाता है। अपने इस चतुर्विध विभागकी सम्पुष्टिमें महाभाष्यकार पतञ्जलि मुनिकी सम्मति प्रमाणरूपसे उपस्थित करते हैं कि—

'सफेद रंगकी 'चलती हुई', 'डित्थ' नामकी, 'गाय' इत्यादि [वाक्य] में [जाति-शब्दके रूपमें गौ पदका, गुण-शब्दके रूपमें शुक्ल पदका, क्रिया-शब्दके रूपमें चल पदका और यदृच्छा-शब्दके रूपमें डित्थ पदका प्रयोग होनेसे] शब्दोंकी प्रवृत्ति [या प्रवृत्ति-निमित्त] चार प्रकारकी होती है यह महाभाष्यकारने कहा है।

परम-अणु-परिमाणकी गुणोंमें गणना कैसे

इस विभाजनके अनुसार वस्तुके प्राणप्रद धर्मका नाम 'जाति' और उसके विशेषाधानहेतु धर्मको 'गुण' कहा जाना चाहिये। परन्तु 'वैशेषिक-दर्शन'में शुक्ल आदि 'रूप'के समान 'परिमाण'को भी गुण माना है। उसमें रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण आदि २४ गुणोंमें 'परिमाण'की भी गणना की गयी है। यह परिमाण मुख्यरूपसे 'अणु' तथा 'महत्' दो प्रकारका होता है। परन्तु उन दोनोंके साथ परम शब्दको जोड़कर उनका एक एक भेद और हो जाता है। अर्थात् अणु परिमाणके दो भेद हो गये—एक 'अणुपरिमाण' और दूसरा 'परम-अणुपरिमाण'। इसी प्रकार महत्-परिमाणके भी एक 'महत्-परिमाण' तथा दूसरा 'परममहत् परिमाण' दो भेद हो जाते हैं। इनमेंसे 'परम-अणु-परिमाण' केवल परमाणु-रूपक पदार्थ अर्थात् पृथिव्यादि द्रव्योंके सबसे सूक्ष्म और अविभाज्य अवयवमें रहता है। इस 'परम-अणु-परिमाण'के लिए 'पारिमाण्डल्य-परिमाण' शब्दका भी प्रयोग होता है। यह परम-अणु-परिमाण 'परमाणु'-रूप सूक्ष्मतम पदार्थका प्राणप्रद धर्म है, विशेषाधान हेतु नहीं। इसलिए आपकी परिभाषाके अनुसार परम-अणु-परिमाणके वाचक 'परमाणु-परिमाण' शब्दको जाति शब्द मानना चाहिये। परन्तु 'वैशेषिक-दर्शन'में उसका पाठ गुणोंमें किया गया है। इसका क्या कारण है? यह प्रश्न उपस्थित होता है। इस प्रश्नका उत्तर ग्रन्थकारने यह दिया है कि 'परम-अणु-परिमाण' वस्तुतः जाति वाचक शब्द ही है। परन्तु जैसे लोकमें अन्य अर्थोंमें प्रसिद्ध 'गुण', 'वृद्धि' आदि शब्दोंका व्याकरण शास्त्रमें विशेष अर्थमें प्रयोग होता है, उसी प्रकार वैशेषिक दर्शनमें परम अणु-परिमाणकी गणना गुणोंमें की गयी है।

परमाण्वादीनान्तु गुणमध्यपाठात् पारिभाषिकं गुणत्वम् ।
गुण-क्रिया-यदृच्छानां वस्तुत एकरूपाणामप्याश्रयभेदाद् भेद इव लक्ष्यते ।
यथैकस्य मुखस्य खड्ग-मुकुर-तैलाद्यालम्बनभेदात् ।

इसी बातको ग्रन्थकारने निम्नलिखित पंक्तिमें लिखा है—

परम-अणु [परिमाण तथा आदि शब्दसे परम-महत्-परिमाण] आदिका [उनके प्राणप्रद-धर्म होनेके कारण जाति-शब्द मानना उचित होनेपर भी 'वैशेषिकदर्शन'में उनका] गुणोंके बीच पाठ होनेसे [उस शास्त्रमें 'नदी', 'गुण', 'वृद्धि' आदि व्याकरणके विशेष संज्ञाशब्दोंकी भाँति] परिभाषासे निर्धारित गुणत्व है ।

गुण शब्द आदिमें दोषोंकी शङ्का और उसका निवारण

ऊपर ग्रन्थकारने यह कहा था कि व्यक्तिमें संकेतग्रह माननेसे 'आनन्त्य' तथा 'व्यभिचार' दोष आ जाते हैं इसलिए व्यक्तिमें संकेतग्रह न मानकर व्यक्तिके उपाधिभूत जाति, गुण आदि धर्मोंमें ही संकेतग्रह मानना चाहिये । गोत्व जाति सब गो-व्यक्तियोंमें एक ही है इसलिए उसमें संकेतग्रह माननेपर एक जगह संकेतग्रह हो जानेसे सब गो-व्यक्तियोंकी उपस्थिति हो सकती है । इसी प्रकार शुक्ल आदि गुण सर्वत्र एक ही हैं इसलिए एक बार संकेतग्रह हो जानेपर सब शुक्ल पदार्थोंका उससे बोध हो सकता है, अलग अलग शक्तिग्रहकी आवश्यकता नहीं है ।

इसपर यह शङ्का उपस्थित होती है कि शंख, दूध, कपड़ा आदि अनेक शुक्ल पदार्थोंमें रहनेवाला शुक्ल रूप भिन्न-भिन्न प्रकारका प्रतीत होता है । इसी प्रकार भातका पकाना, ईंटोंका पकाना आदि क्रियाओंमें पाक आदि क्रिया भी भिन्न-भिन्न ही होती है । इसलिए एक जगह शुक्ल पदका संकेतग्रह होनेसे काम नहीं चलेगा । जैसे भिन्न गो-व्यक्तियोंमेंसे एक व्यक्तिमें संकेतग्रह माननेमें 'आनन्त्य' तथा 'व्यभिचार' दोष आ जाते हैं उसी प्रकार शंख, दूध आदिमें आश्रित शुक्ल आदि गुणों तथा पाक आदि क्रियाओंमें भेद होनेसे भी 'आनन्त्य' और 'व्यभिचार' दोष आ सकते हैं । अतः एक जगह संकेतग्रह माननेसे काम नहीं चल सकता है ।

इस शङ्काका उत्तर ग्रन्थकारने यह दिया है कि शुक्ल आदि गुण और पाक आदि क्रियाओंका भिन्न-भिन्न पदार्थोंमें जो अलग-अलग रूप दिखलायी देता है उसका कारण उनका वास्तविक भेद नहीं, अपितु उपाधिका भेद है । जैसे एक ही मुखको समतल, नतोदर, उन्नतोदर आदि भिन्न-भिन्न प्रकारके दर्पणोंमें, अथवा तेल, पानी, तलवार आदिमें देखा जाय तो सब जगह उसका प्रतिबिम्ब अलग-अलग दिखलायी देता है; परन्तु मुखमें वस्तुतः भेद नहीं है, वह सब केवल उपाधिकृत भेद है । इसी प्रकार शुक्लादि गुण और पाकादि क्रियाएँ भिन्न-भिन्न पदार्थोंमें भिन्न प्रकारकी दिखलायी भले ही देती हों परन्तु उनका यह भेद पारमार्थिक नहीं, औपाधिक है । इसलिए गुण, क्रिया आदिमें संकेतग्रह माननेमें कोई दोष नहीं आता है । इसी बातको अगली पंक्तिमें इस प्रकार लिखा है—

[भिन्न-भिन्न पदार्थोंमें भिन्न रूपसे प्रतीत होनेवाले] गुण, क्रिया और यदृच्छाके एकरूप होनेपर भी आश्रयके भेदसे उनमें भेद-सा दिखलायी देता है [वह वास्तविक भेद नहीं है] । जैसे एक ही मुखका तलवार, दर्पण तथा तेल आदि आश्रयोंके भेदसे [प्रतिबिम्बोंमें भेद-सा प्रतीत होता है । वह वास्तविक नहीं, औपाधिक भेद है । इसी प्रकार गुण आदिमें प्रतीत होनेवाला भेद भी केवल औपाधिक भेद है । अतः गुण आदिमें संकेतग्रह माननेमें 'आनन्त्य', 'व्यभिचार' दोषोंके आनेकी सम्भावना नहीं है ।]

केवल 'जाति'में शक्ति माननेवाला मीमांसक-मत

'संकेतितश्चतुर्भेदो जात्यादिर्जातिरेव वा' इस कारिकाभागमें संकेतित अर्थके विषयमें १. 'जात्यादिः' और २. 'जातिरेव वा' ये दो पक्ष दिखलाये थे। इनमेंसे 'जात्यादि' यह पक्ष वैयाकरणों तथा उनके अनुगामी अलङ्कारशास्त्रियोंका है और 'जातिरेव वा' यह दूसरा पक्ष मीमांसकोंका है। 'जात्यादि' रूप प्रथम-पक्षके अनुसार जात्यादि अर्थात् १. जाति, २. गुण ३. क्रिया और ४. यदृच्छारूप वस्तुके उपाधिभूत इन चार धर्मोंमें संकेतग्रह होता है। इस पक्षका आधार 'चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः' यह महाभाष्यका वचन है। इसलिए ग्रन्थकारने इस प्रमाणको उद्धृत कर यहाँतक इन चारोंको शब्दका प्रवृत्ति-निमित्त माननेका उपपादन किया। अब 'जातिरेव वा' यह मीमांसकोंका दूसरा पक्ष रह जाता है, उसका उपपादन अगले अनुच्छेदमें करते हैं।

मीमांसकोंका सिद्धान्त यह है कि जाति आदि चारोंके स्थानपर केवल जातिमें ही शब्दकी शक्ति या संकेतग्रह होता है। अर्थात् केवल जातिको ही शब्दका प्रवृत्ति निमित्त मानना उचित है। जाति शब्दोंके समान गुण, क्रिया तथा यदृच्छा-शब्दोंमें भी जातिमें ही संकेतग्रह मानना चाहिये। अनुगत अर्थात् एकाकार प्रतीतिके कारणको 'सामान्य' या जाति कहते हैं। गुण, क्रिया और यदृच्छा-शब्दोंमें भी जातिका अनुसन्धान किया जा सकता है—जैसे शङ्ख, दुग्ध, बर्फ आदि अनेक [illegible] 'शुक्ल' शुक्लः यह अनुगत प्रतीति या एकाकार प्रतीति होती है इसका कारण '[illegible] सामान्य' ही है। 'जाति'का ही दूसरा नाम 'सामान्य' है। उसका लक्षण 'अनुवृत्तिप्रत्ययहेतु सामान्यम्' अनुगत— एकाकार प्रतीतिका हेतु 'सामान्य' कहलाता है, यह किया गया है। [illegible] घटः इस अनुवृत्ति-प्रत्यय अर्थात् एकाकार प्रतीतिका कारण 'घटत्व सामान्य' माना जाता है [illegible] प्रकार दस जगह रहनेवाले शुक्ल गुणमें जिसके कारण शुक्लः शुक्लः यह अनुगत [illegible] होती है वह 'शुक्लत्व सामान्य' है। इसी प्रकार गुड़, तण्डुल आदि अनेक पदार्थोंके [illegible] पाक क्रियामें पाकः पाकः इस अनुगतप्रतीतिका कारण 'पाकत्व सामान्य' है। [illegible] व्यक्तियों द्वारा उच्चरित यदृच्छा-शब्द और प्रतिक्षण परिणामके कारण भिन्नमान [illegible] सामान्यका अनुसन्धान किया जा सकता है। इसलिए जाति शब्दोंके समान [illegible] ही संकेतग्रह मानना चाहिये और जातिको ही उन शब्दोंका प्रवृत्ति निमित्त मानना चाहिये।

जाति या सामान्यके लक्षणमें दो बातें आवश्यक होती हैं। [illegible] अनुवृत्ति प्रत्यय अर्थात् एकाकार प्रतीतिका कारण होता है। दूसरी [illegible] अनेकमें समवेत धर्म होता है। 'नित्यत्वे सत्यनेकसमवेतत्व सामान्य' [illegible] लक्षण किया गया है। इसके अनुसार शुक्लत्वादिको 'सामान्य' [illegible] है, क्योंकि भिन्न भिन्न पदार्थोंमें रहनेवाले शुक्ल रूप भिन्न भिन्न [illegible] अन्तिम भागमें अनेक पदार्थोंमें रहनेवाले शुक्लादि गुणोंके [illegible] मीमांसक उस सिद्धान्तको नहीं मानते हैं। [illegible] व्यक्तिको अभिन्न मानना अनुभवके विपरीत है क्योंकि [illegible] भिन्न ही हैं और [illegible] प्रतीतिका कारण [illegible] पाक आदि क्रियाओंमें भी पारस्परिक भेद होनेसे [illegible] मानना ही उचित है। इसलिए [illegible] शब्दोंके समान [illegible] प्रवृत्ति निमित्त मानना [illegible] है

हिम-पयः-शङ्खाद्याश्रयेषु परमार्थतो भिन्नेषु शुक्लादिषु यद्वशेन शुक्लः शुक्ल इत्यभिन्नाभिधानप्रत्ययोत्पत्तिस्तत् शुक्लत्वादि सामान्यम् । गुडतण्डुलादिपाकादिष्वेवमेव पाकत्वादि । बालवृद्धशुकाद्युदीरितेषु डित्थादिशब्देषु च, प्रतिक्षणं भिद्यमानेषु डित्थाद्यर्थेषु वा डित्थत्वाद्यस्तीति सर्वेषां शब्दानां जातिरेव प्रवृत्तिनिमित्तमित्यन्ये ।

यदृच्छा-शब्दोंमें जातिका उपपादन

परन्तु सामान्य जातिके उक्त लक्षणमे 'अनेकसमवेतत्व'का समावेश होनेके कारण यदृच्छा-शब्दोमे जातिको प्रवृत्ति-निमित्त माननेमे थोडी कठिनाई प्रतीत हो सकती है। इसलिए उसके समाधानका विशेष मार्ग निकालना पड़ा है। कठिनाई यह उपस्थित होती है कि यदृच्छा शब्द तो अनेक व्यक्तियोके वाचक नही, अपितु केवल एक व्यक्ति-वाचक रूढ शब्द होते हैं। उनमे 'अनेकसमवेतत्व'के न रहनेसे जातिकी कल्पना कैसे की जाय। जाति तो अनेक व्यक्तियोंमे रहनेवाला—अनेकसमवेत—धर्म है और यदृच्छा-शब्दोमे स्फोट-रूप शब्द भी एक है और उसका वाच्यार्थ व्यक्ति-विशेष भी एक है तब उसमे जातिकी कल्पना कैसे की जाय।

यह एक शंका हो सकती है। इसका समाधान करनेके लिए मीमासकोंने उच्चारण करनेवाले व्यक्तियोके भेदसे शब्दोंमे और प्रतिक्षण होनेवाले वृद्धि वा ह्रासरूप परिवर्तनके आधारपर व्यक्तियोंमें भेदकी कल्पना की है। अर्थात् बाल-वृद्ध-शुक आदि द्वारा उच्चारण किये जानेवाले 'डित्थ' या देवदत्त आदि एक व्यक्ति वाचक शब्द-व्यक्तियोंमे अनेकत्व मानकर उनमे अनुगत-प्रतीति करानेवाली 'डित्थत्व' आदि जातिकी कल्पना की जा सकती है। इसी प्रकार "प्रतिक्षणपरिणामिनो हि सर्वे भावा ऋते चितिशक्तेः" एकमात्र चेतन आत्माको छोडकर सारे पदार्थोंमे प्रतिक्षण परिणाम, प्रतिक्षण परिवर्तन हो रहा है इस सिद्धान्तके अनुसार प्रतिक्षण परिवर्तनके कारण यदृच्छा-शब्दोंके वाच्यार्थ व्यक्तियोंमें भी भेदकी कल्पना करके उनमे अनुगत-प्रतीतिके कारणरूपमे जातिको माना जा सकता है। अतः यदृच्छा-शब्दोंका सकेतग्रह भी जातिमे ही मानना चाहिये।

इस प्रकार मीमासक जाति आदि चारके स्थानपर केवल एक जातिमे ही सकेतग्रह मानते हैं। मम्मटाचार्यने अपनी कारिकामे 'जातिरेव वा' लिखकर उसी मीमासक-मतका प्रदर्शन किया है। अगले अनुच्छेदमे उसी मीमासक सिद्धान्तका उपपादन करते हुए वे लिखते हैं कि—

बर्फ, दूध और शंख आदिमें रहनेवाले वास्तवमें भिन्न [अर्थात् प्रथम सिद्धान्तमे कहे अनुसार एकरूप नहीं] शुक्ल आदि गुणोंमें जिनके कारण शुक्लः शुक्लः इस प्रकारका एकाकार कथन और प्रतीतिकी उत्पत्ति होती है वह शुक्लत्व आदि सामान्य [जाति] है। गुड़ और तण्डुल आदिके पाकादिमें भी इसी प्रकार पाकत्व आदि 'सामान्य' [रहता] है। इसी प्रकार बालक, वृद्ध और तोता आदिके द्वारा उच्चारण किये जानेवाले 'डित्थ' आदि शब्दोंमे अथवा प्रतिक्षण भिद्यमान-परिवर्तन-शील-'डित्थ' आदि पदार्थोंमे डित्थत्व आदि [सामान्य] रहता है। इसलिए सब शब्दोंका प्रवृत्ति-निमित्त केवल एक जाति ही है। [अर्थात् वैयाकरणोंके पूर्वोक्त मतके अनुसार] जात्यादि चारको प्रवृत्ति-निमित्त न मानकर केवल जातिको ही प्रवृत्ति निमित्त मानना चाहिये और उसीमें संकेतग्रह मानना चाहिये यह अन्यों [अर्थात् मीमांसकों] का सिद्धान्त है।

[illegible]

तद्वानपोहो वा शब्दार्थः कैश्चिदुक्त इति ग्रन्थगौरवभयात् प्रकृतानुपयोगाच्च न दर्शितम् ।

संकेतग्रहविषयक नैयायिक-मत

इस प्रकार सङ्केतग्रहके विषयमें वैयाकरण, आलङ्कारिक और मीमांसकोंके मतका वर्णन किया जा चुका है । इनके अतिरिक्त नैयायिकों तथा बौद्ध आदि अन्य दार्शनिकोंने भी इस प्रश्नपर विचार किया है और उनके मत इन पूर्वप्रदर्शित मतोंसे भिन्न हैं । नैयायिकोंके मतमें न केवल जातिमें शक्तिग्रह माना जा सकता है और न केवल व्यक्तिमें । केवल व्यक्तिमें सकेतग्रह माननेसे आनन्त्य और व्यभिचार दोष आते हैं तो केवल जातिमें शक्तिग्रह माननेपर शब्दसे केवल जातिकी उपस्थिति होनेके कारण व्यक्तिका भान शब्दसे नहीं हो सकता है । जातिमें शक्ति मानकर यदि व्यक्तिका भान आक्षेपसे माना जाय तो उसका शाब्द-बोधमें अन्वय नहीं हो सकेगा । क्योंकि 'शाब्दी हि आकाङ्क्षा शब्देनैव पूर्यते' इस सिद्धान्तके अनुसार शब्द-शक्तिसे लभ्य अर्थका ही शाब्दबोधमें अन्वय हो सकता है । आक्षेप-लभ्य अर्थ शाब्द-बोधमें अन्वित नहीं हो सकता है । इसीलिए नैयायिकोंके मतानुसार केवल व्यक्ति या केवल जाति किसी एकमें शक्तिग्रह नहीं माना जा सकता । इसलिए 'व्यक्त्याकृतिजातयस्तु पदार्थः' [न्यायसूत्र २,२,६८] जाति तथा आकृतिसे विशिष्ट व्यक्ति पदका अर्थ होता है यह नैयायिक-सिद्धान्त है । इसे ग्रन्थकारने अगली पंक्तिमें 'तद्वान् पदार्थः' कहकर दिखलाया है । 'तद्वान्'का अर्थ जातिमान् है । अर्थात्, जातिविशिष्ट व्यक्तिमें सकेतग्रह मानना चाहिये, यह नैयायिक मत है ।

बौद्ध-मत

इसके अतिरिक्त बौद्ध-दार्शनिकोंका भी इस विषयमें अपना अलग मत है । उनके मतमें शब्दका अर्थ 'अपोह' होता है । 'अपोह'का अर्थ 'अतद्-व्यावृत्ति' या 'तद्भिन्नभिन्नत्व' है । दस घट-व्यक्तियोंमें 'घटः-घट ' इस प्रकारकी एकाकार प्रतीतिका कारण नैयायिक आदि 'घटत्व सामान्य'को मानते हैं । उनका 'सामान्य' एक नित्य पदार्थ है क्योंकि 'नित्यत्वे सति अनेकसमवेत सामान्यम्' यह सामान्यका लक्षण है । इसके अनुसार 'सामान्य' नित्य है । परन्तु बौद्धोंका पहिला सिद्धान्त 'क्षणभङ्गवाद' है । उनके मतसे सारे पदार्थ 'क्षणिक' हैं इसलिए वे 'सामान्य' जैसे किसी नित्य-पदार्थको नहीं मानते । उसके स्थानपर अनुगत प्रतीतिका कारण वे 'अपोह'को मानते हैं । 'अपोह' शब्द बौद्ध-दर्शनका पारिभाषिक शब्द है । उसका अर्थ 'अतद्-व्यावृत्ति' या 'तद्भिन्नभिन्नत्व' होता है । अर्थात् दस घट व्यक्तियोंमें जो 'घट. घट.' इस प्रकारकी अनुगत प्रतीति होती है उसका कारण 'अघट-व्यावृत्ति' या 'घटभिन्नभिन्नत्व' है । प्रत्येक घट अघट अर्थात् घटभिन्न सारे जगत्से भिन्न है । इसलिए उसमें 'घट. घट.' यह एक-सी प्रतीति होती है । इसलिए बौद्धोंके मतमें 'अपोह' ही शब्दका अर्थ होता है । उसीमें सकेतग्रह मानना चाहिये । इस बौद्धमतका सकेत ग्रन्थकारने 'अपोहो वा शब्दार्थ.' लिख कर किया है । इन सब पक्षोंका विस्तारपूर्वक विवेचन ग्रन्थगौरवके भयसे तथा प्रकृतमें विशेष उपयोग न होनेसे ग्रन्थकारने नहीं किया है । यही बात वे अगली पंक्तिमें दिखलाते हैं—

किन्हीं लोगोंने 'तद्वान्' [अर्थात् जातिविशिष्ट व्यक्ति] और 'अपोह' [अर्थात् अतद्-व्यावृत्ति या तद्भिन्नभिन्नत्व] शब्दका अर्थ है यह कहा है [ये दोनों मत क्रमशः नैयायिक तथा बौद्धोंके हैं] । ग्रन्थके बढ़ जानेके भयसे और प्रकृतमें उपयोग न होनेसे उनको [विस्तारपूर्वक] नहीं दिखलाया है ।

[सू० ११] **स मुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधोच्यते ॥८॥**
स इति साक्षात् संकेतितः । अस्येति शब्दस्य ।

मम्मटका सिद्धान्त मत

यहाँ संकेतग्रहके विषयमें जो तीन-चार मत दिखलाये हैं उनमेंसे पहिलेके साथ 'इति महाभाष्यकारः', दूसरेके साथ 'इत्यन्ये' और तीसरे तथा चौथेके साथ 'केश्चित्' शब्दका प्रयोग किया गया है। नरसिंह ठक्कुर आदि 'काव्यप्रकाश'के कुछ टीकाकारोंने इसका अर्थ यह लगाया है कि इनमेंसे कोई भी मत ग्रन्थकारको अभिमत नहीं है। इसलिए इन शब्दोंके द्वारा सब मतोंमें अपना अस्वरस प्रदर्शित किया है। नरसिंह ठक्कुरने तो यहाँतक लिख दिया है कि 'तस्माद् व्यक्तिपक्ष एव क्षोदक्षमः', अर्थात् 'इसलिए व्यक्तिपक्ष ही अधिक उचित होता है।' परन्तु यह कथन ठीक नहीं है, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, साहित्यशास्त्रमें प्रायः व्याकरणशास्त्रके दार्शनिक सिद्धान्तोंको अपनाया गया है। स्वयं काव्यप्रकाशकारने 'बुधैर्वैयाकरणैः' आदि लिखकर इस सिद्धान्तकी पुष्टि की है। इसलिए इस विषयमें भी साहित्यशास्त्रमें व्याकरण-सिद्धान्तके अनुसार 'जात्यादि' चारमें संकेतग्रह मानना ही अभीष्ट है। मम्मटाचार्य भी इसी सिद्धान्तको मानते हैं। उन्होंने यहाँ महाभाष्यकारके नामका उल्लेख अपने मतके समर्थनमें प्रमाण प्रस्तुत करनेके लिए ही किया है।

श्रीमम्मटाचार्यने इसी विषयपर 'शब्द व्यापार-विचारः' नामक एक और छोटा-सा प्रकरण-ग्रन्थ लिखा है। उसमें भी मीमांसक आदि अन्य मतोंका खण्डन करके उन्होंने वैयाकरण-सम्मत और महाभाष्यकार द्वारा अनुमोदित जात्यादि चारोंमें संकेतग्रह माननेके सिद्धान्तका ही प्रतिपादन किया है। उन्होंने उस ग्रन्थमें स्पष्टरूपसे लिखा है कि—

'तत्र मुख्यश्चतुर्भेदो ज्ञेयो जात्यादिभेदतः ।'

अर्थात् अभिधा-शक्तिसे प्रतिपादित होनेवाला 'मुख्य अर्थ जाति आदिके भेदसे चार प्रकारका समझना चाहिये'। अतः नरसिंह ठक्कुरका लेख भ्रममूलक है।

अभिधालक्षण

ऊपर अर्थके 'वाच्य', 'लक्ष्य' और 'व्यङ्ग्य' रूपसे तीन भेद बतलाये थे। इनमेंसे वाच्यार्थको मुख्यार्थ नामसे भी कहा जाता है। 'मुखमिव मुख्यः' इस विग्रहमें 'शाखादिभ्यो यः' [५-३-१०३] सूत्रसे य-प्रत्यय होकर मुख्य-शब्द सिद्ध होता है। जैसे शरीरके सारे अवयवोंमें मुख सबसे प्रधान है और सबसे पहिले दिखलायी देता है उसी प्रकार वाच्य, लक्ष्य तथा व्यङ्ग्य सब अर्थोंमें वाच्यार्थ सबसे प्रधान और सबसे पहिले उपस्थित होनेवाला अर्थ है इसलिए मुखके समान होनेसे उसको 'मुख्यार्थ' कहा जाता है। उस वाच्यार्थ या 'मुख्यार्थ'का बोधन करानेवाला जो शब्दका व्यापार है उसको 'अभिधा' व्यापार कहते हैं। आगे 'मुख्यार्थबाधे तद्योगे' तथा 'मुख्यशब्दाभिधानाल्लक्षणायाः को भेद.' इत्यादि अनेक स्थलोंपर ग्रन्थकार वाच्य अर्थ तथा वाचक शब्दके लिए मुख्यार्थ तथा मुख्य-शब्द पदका प्रयोग करेंगे। अतः यहाँ वाच्यार्थको ही मुख्यार्थ कहा जाता है। इस बातको ग्रन्थकार आगे कहते हैं—

[सू० ११]—वह [साक्षात् संकेतित अर्थ] मुख्य अर्थ [कहलाता] है, और उस [का बोधन कराने] में इस [शब्द] का जो व्यापार होता है वह अभिधा [व्यापार या अभिधा-शक्ति] कहलाता है ॥ ८ ॥

[कारिकामें प्रयुक्त] 'स' इस [पद] से साक्षात्-संकेतित [अर्थ लिया जाता है]। 'अस्य' इस [पद] से 'शब्दका' [यह अर्थ लिया जाता है] ॥ ८ ॥

[सू० १२] मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात् ।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत् सा लक्षणारोपिता क्रिया ॥९॥

लक्षणा-निरूपण

शब्दमें वाच्य या मुख्यार्थको बोधित करनेवाली अभिधा-शक्ति होती है और शब्द सबकी अपेक्षा सबसे पहिले अभिधा-शक्ति ही शब्दके अर्थ अर्थात् वाच्यार्थका बोध कराती है परन्तु जहाँ कहीं मुख्यार्थका ग्रहण करनेमें बाधा होती है क्योंकि वाक्यमें अन्वय होनेमें बाधा होती है अथवा उससे तात्पर्यकी उपपत्ति नहीं होती वहाँ रूढि अर्थात् प्रसिद्धिके कारण अथवा किसी विशेष प्रयोजनके प्रतिपादनके लिए, मुख्यार्थसे सम्बद्ध किसी अन्य अर्थकी प्रतीति हो सकती है। इस अन्य अर्थको 'लक्ष्यार्थ' और उसकी बोधिका शक्तिको 'लक्षणा शक्ति' कहा जाता है। लक्षणा-शक्तिके व्यापारके लिए, १. मुख्यार्थ बाध, २. लक्ष्यार्थका मुख्यार्थके साथ सम्बन्ध तथा ३. रूढि या प्रयोजनमेंसे अन्यतर, इन तीन कारणोंकी आवश्यकता होती है। इसी अभिप्रायसे लक्षणाका लक्षण करनेके लिए ग्रन्थकार अगली कारिका लिखते हैं—

[सू० १२]—१. मुख्यार्थका बाध [अर्थात् अन्वयकी अनुपपत्ति या तात्पर्यकी अनुपपत्ति] होनेपर, २. उस [मुख्यार्थ] के साथ [लक्ष्यार्थ या अन्य अर्थका] सम्बन्ध होनेपर, ३. रूढिसे अथवा प्रयोजन-विशेषसे जिस [शब्द-शक्ति] के द्वारा अन्य अर्थ लक्षित होता है वह [मुख्यरूपसे अर्थमें रहनेके कारण शब्दका] आरोपित व्यापार लक्षणा [कहलाता] है ॥ ९ ॥

इस कारिकामें 'लक्ष्यते यत् सा' इस स्थलपर जो 'यत्' शब्दका प्रयोग हुआ है उसकी दो प्रकारकी व्याख्या की जाती है। प्रथम व्याख्याके अनुसार 'यदिति यया इत्यर्थे इतकरण तृतीयान्तम-व्ययम्' 'यत्' पद 'यया' इस अर्थमें करण विभक्तिके लोप द्वारा बना हुआ तृतीयान्त अव्ययपद है। उसके अनुसार 'यया शब्दशक्त्या अन्योऽर्थो लक्ष्यते सा लक्षणा' जिस शब्दशक्तिसे अन्य अर्थ लक्षित होता है वह 'लक्षणा' कहलाती है, यह अर्थ होता है। दूसरी व्याख्याके अनुसार 'यत्' यह क्रियाविशेषण है 'यत् लक्ष्यते' अर्थात् 'यत् प्रतिपाद्यते' जो प्रतिपादित होता है वह 'लक्षणा' है। इन दोनों ही व्याख्याओंमें और विशेषकर दूसरी व्याख्यामें 'लक्ष्यते' यह पद णिजन्तसे बना हुआ आख्यातका रूप है। णिच् प्रत्ययका अर्थ प्रयोजक हेतुका व्यापार होता है, 'अन्योऽर्थो यत् लक्ष्यते'का अर्थ 'अन्यार्थ-प्रतिपत्तिहेतुः शब्दव्यापारो लक्षणा' यह होता है। परन्तु यह व्याख्या अधिक क्लिष्ट हो जाती है। इसलिए 'यत्' पदको 'यया'के अर्थमें इतकरण तृतीयान्त अव्यय मानना ही अधिक अच्छा है।

कुछ लोगोंने 'यत् लक्ष्यते यत् प्रतिपाद्यते सा प्रतिपत्तिरेव लक्षणा' इस प्रकारकी व्याख्या भी की है, परन्तु यह व्याख्या नितान्त असङ्गत है क्योंकि 'प्रतिपत्ति' अर्थात् ज्ञान 'लक्षणा' नहीं है अपितु शब्दकी शक्ति 'लक्षणा' है। प्रसिद्ध मीमांसक कुमारिलभट्टने अपने 'श्लोकवार्तिक'में 'अभिधेयाविना-भूतप्रतीतिर्लक्षणोच्यते' यह लिखा है। उसीके आधारपर इन व्याख्याकारोंने यहाँ भी 'यत् लक्ष्यते सा प्रतिपत्तिरेव लक्षणा' इस प्रकारकी व्याख्या कर दी है। परन्तु एक तो वह काव्यप्रकाशकारका सिद्धान्त-मत नहीं, अपितु मीमांसकोंका मत है, इसलिए उसके आधारपर व्याख्या उचित नहीं है। काव्य-प्रकाशकारको शब्द व्यापारको ही लक्षणा मानना अभिमत है अतः 'यया' अर्थमें ही 'यत्' अव्ययका प्रयोग समझना चाहिये। दूसरे, यहाँ भी 'प्रतीति' पदका अर्थ ज्ञान नहीं अपितु 'प्रतीतिका करणभूत व्यापार' किया जाता है। करणमें क्तिन्-प्रत्यय करके 'प्रतीयतेऽर्थोऽनया इति प्रतीतिः' यह विग्रह होता है।

[सू० १३] स्वसिद्धये पराक्षेपः परार्थं स्वसमर्पणम् ।
उपादानं लक्षणं चेत्युक्ता शुद्धैव सा द्विधा ॥१०॥

ग्रन्थकारने कारिकामें 'लक्ष्यते यत् सा' इस अंशमें 'यत्' पदका प्रयोग किया है। यह पद कुछ अस्पष्ट सा है इसलिए इसकी व्याख्यामें ऊपर लिखे अनेक मतभेद पाये जाते हैं। वृत्ति लिखते समय यदि वे अपने इस पदकी स्पष्ट व्याख्या कर देते तो अच्छा होता। परन्तु उन्होंने वृत्ति लिखते समय भी उसकी व्याख्या न करके फिर उसी 'यत्' शब्दका प्रयोग कर दिया है। इससे उसका अर्थ स्पष्ट नहीं हुआ और व्याख्याकारोंको अनेक प्रकारकी व्याख्या करनेका अवसर मिल गया है।

प्रयोजनवती-लक्षणाके उदाहरणरूपमें 'गङ्गायां घोषः' यह वाक्य यहाँ प्रस्तुत किया गया है। लक्षणाका यह उदाहरण साहित्यशास्त्रके सभी ग्रन्थोंमें दिया गया है, परन्तु यह उनका अपना बनाया हुआ उदाहरण नहीं है अपितु जिस प्रकार 'ध्वनि' शब्द तथा 'चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः' के सिद्धान्तको उन्होंने व्याकरणशास्त्रसे उधार लिया है उसी प्रकार यह उदाहरण भी उन्होंने व्याकरणशास्त्रसे ही लिया है। महाभाष्यकारने 'पुयोगादाख्यायाम्' [४-१-४८] सूत्रके महाभाष्यमें 'गङ्गायां घोषः' तथा 'कूपे गर्गकुलम्' ये दो लक्षणाके उदाहरण दिये हैं। वहाँसे ही साहित्यशास्त्रमें यह उदाहरण लिया गया है। यह भी साहित्यशास्त्रके व्याकरणानुगामी होनेका प्रमाण है।

लक्षणाके दो भेद

आगे ग्रन्थकार लक्षणाके 'उपादान लक्षणा' तथा 'लक्षण-लक्षणा' नामसे दो भेद करते हैं। जहाँ शब्द अपने अन्वयकी सिद्धिके लिए अन्य अर्थका आक्षेप कर लेता है और स्वयं भी बना रहता है उसको 'उपादान लक्षणा' कहते हैं। उसमें मुख्यार्थका भी उपादान या ग्रहण रहता है इसलिए उसकी 'उपादान-लक्षणा' यह अन्वर्थ संज्ञा है।

जैसे 'कुन्ताः प्रविशन्ति' या 'यष्टयः प्रविशन्ति' आदि उदाहरणोंमें 'कुन्त' और 'यष्टि' शब्द भाला और लाठी रूप अचेतन अर्थोंके वाचक हैं, उनमें प्रवेश-क्रियाका अन्वय नहीं हो सकता है इसलिए यहाँ मुख्यार्थका बाध होनेपर 'कुन्त' आदि शब्द अपने अन्वयकी सिद्धिके लिए 'पुरुष' पद या [illegible] आक्षेप कर लेते हैं। इस प्रकार 'कुन्त' शब्द 'कुन्तधारी पुरुष' का बोधक हो जाता [illegible] अन्वय होनेमें जो बाधा थी वह दूर हो जाती है। 'कुन्ताः प्रविशन्ति' का अर्थ 'कुन्तधारी पुरुष [illegible] आ रहे हैं' यह हो जाता है। कुन्तधारी पुरुषोंका बाहुल्य-सूचन ही लक्षणाका प्रयोजन है। इस प्रकार यह प्रयोजनवती उपादानलक्षणाका उदाहरण है।

इसके विपरीत जो वाक्यमें कोई शब्द वाक्यमें प्रयुक्त [illegible] शब्द [illegible] लिए अपने अर्थका परित्याग कर अन्य अर्थका बोधक हो जाता है वहाँ [illegible] जैसे 'गङ्गायां घोषः' इस उदाहरणमें वाक्यमें प्रयुक्त 'घोष' पदके [illegible] करनेके लिए 'गङ्गा' शब्द अपने 'जल प्रवाह' रूप मुख्यार्थका परित्याग कर [illegible] [illegible] अर्थको बोधित करता है इसलिए यह प्रयोजनवती [illegible] लक्षणाके इन्हीं दोनों भेदोंको ग्रन्थकार निम्नलिखित कारिकासे दिखलाते हैं।

[सू० १३]—[वाक्यमें प्रयुक्त किसी पदका] अपने अन्वयकी सिद्धिके लिए अन्य अर्थका आक्षेप करना 'उपादान' और दूसरेके [अन्वयकी सिद्धि] के लिए अपने [मुख्य अर्थ] का परित्याग [स्वसमर्पण] 'लक्षण' [कहलाता] है, इस प्रकार [illegible] लक्षणा ही दो प्रकारकी कही गयी है [गौणीके ये भेद नहीं होते हैं]। १०।

'कुन्ताः प्रविशन्ति', 'यष्टयः प्रविशन्ति' इत्यादौ कुन्तादिभिरात्मनः प्रवेशसिद्ध्यर्थं स्वसंयोगिनः पुरुषा आक्षिप्यन्ते । तत उपादानेनेयं लक्षणा ।

उपादान-लक्षणाके दो उदाहरण

'कुन्ताः प्रविशन्ति' 'भाले घुस रहे हैं' और 'यष्टयः प्रविशन्ति' 'लाठियाँ घुस रही हैं' इत्यादि [वाक्यों] में 'कुन्त' आदि [पदों] के द्वारा अपने [अचेतनरूपमें] प्रवेश [क्रिया] की सिद्धिके लिए अपनेसे संयुक्त [अर्थात् कुन्तधारी] पुरुषोंका आक्षेप [ज्ञान बोध] कराया जाता है। इसलिए [स्वार्थका परित्याग किये बिना अन्य अर्थके ग्रहणरूप अथवा स्वार्थके भी ग्रहणरूप] उपादानसे यह लक्षणा है। [अतः यह 'उपादान-लक्षणा' कहलाती है]।

कुमारिलके उपादान-लक्षणाके दो उदाहरण

[illegible]

यथा 'क्रियताम्' इत्यत्र कर्ता। 'कुरु' इत्यत्र कर्म।
'प्रविश', 'पिण्डीम्' इत्यादौ 'गृहम्', 'भक्षय' इत्यादि च।

जैसे [कोई यह कहे कि] 'क्रियताम्' [तुम] 'करो' [इसमें कोई क्रिया बिना कर्ताके नहीं हो सकती है इसलिए] इत्यादिमें ['कृतिः अर्थात् यत्नः साश्रया गुणत्वात्' इस अनुमानसे] कर्ता ['त्वया'का लाभ होता है]। 'करो' यहाँ ['कृतिः सविषया कृतित्वात्' इस अनुमानसे 'पाकम्' आदि] कर्म [का आक्षेपसे लाभ होता है]। 'प्रवेश करो' और 'पिण्डीको' [इन दोनोंके कहनेपर अविनाभावसे क्रमशः] घरमें [प्रवेश करो] और [पिण्डीको] 'खाओ' इत्यादि [की अविनाभावसे प्रतीति होती है. इनमेंसे किसी भी स्थलमें लक्षणा नहीं मानी जाती है। इसी प्रकार 'गौरनुबन्ध्यः' में भी किसी प्रकारकी लक्षणा नहीं है। अतः उसको उपादान-लक्षणाके उदाहरणके रूपमें प्रस्तुत नहीं करना चाहिये]।

यहाँ 'क्रियताम्', 'कुरु', 'प्रविश', 'पिण्डीम्' इत्यादि सब असम्पूर्ण वाक्य प्रयुक्त किये गये हैं। उनमें पूरकरूपसे जिन अन्य अंशोंकी अपेक्षा रहती है उनकी पूर्ति 'अध्याहार' या 'आक्षेप'के द्वारा की जाती है। अध्याहारके विषयमें मीमांसकोंमें दो प्रकारके सिद्धान्त पाये जाते हैं। कुमारिलभट्ट 'शब्दाध्याहारवाद'के माननेवाले हैं और उनके शिष्य प्रभाकर 'अर्थाध्याहारवाद'के समर्थक हैं। ऊपर जो अध्याहारके चार उदाहरण दिये गये हैं उनमेंसे पहिले दो अर्थाध्याहारवादी प्रभाकरके अभिप्रायसे और अन्तिम दो शब्दाध्याहारवादी भट्ट-मतके अभिप्रायसे दिये गये हैं। 'क्रियताम्' तथा 'कुरु' ये दोनों क्रियापद हैं। उनमें पहिली जगह कर्ता 'त्वया'की और दूसरी जगह कर्म 'पाकम्' आदिकी अपेक्षा है। इन दोनोंकी पूर्ति अध्याहार अथवा आक्षेपसे की जाती है। किन्तु यहाँ कर्ता तथा कर्म पदोंका अध्याहार न होकर उनके अर्थोंका अध्याहार किया जाता है इसलिए ये 'अर्थाध्याहारवाद'के पोषक उदाहरण हैं। इसके विपरीत 'प्रविश' तथा 'पिण्डीम्' इन दोनों उदाहरणोंमें अपेक्षित 'गृहम्' तथा 'भक्षय' इन पूरक अंशोंका शब्दरूपमें 'अध्याहार' किया जाता है। इसलिए ये दोनों शब्दाध्याहारके उदाहरण हैं। ग्रन्थकारने इन उदाहरणोंको इसलिए प्रस्तुत किया है कि जिस तरह यहाँ कर्ता या कर्मके बिना क्रिया पदोंका अन्वय सम्भव न होनेसे अविनाभाव द्वारा उन पदों या उनके अर्थोंका अध्याहार या आक्षेप किया जाता है उसी प्रकार 'गौरनुबन्ध्यः' आदि उदाहरणोंमें जातिके [illegible] इसलिए अविनाभाव द्वारा जातिसे व्यक्तिका अध्याहार या आक्षेप किया जाता [illegible]। [illegible] नहीं होता है। अतः उसको उपादान-लक्षणाके उदाहरण-रूपमें प्रस्तुत करना उचित नहीं है।

मुकुलभट्टका दूसरा उदाहरण, उसका खण्डन

[illegible]

'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इत्यत्र च रात्रिभोजनं न लक्ष्यते, श्रुतार्थापत्तेरर्थापत्तेर्वा तस्य विषयत्वात्।

'गङ्गायां घोषः' इत्यत्र तटस्य घोषाधिकरणत्वसिद्धये गङ्गाशब्दः स्वार्थमर्पयति इत्येवमादौ लक्षणेनैषा लक्षणा।

उभयरूपा चेयं शुद्धा, उपचारेणामिश्रितत्वात्।

अर्थापत्ति लक्षणा नहीं

मीमांसक लोग प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणोंके समान अर्थापत्तिको भी अलग प्रमाण मानते हैं और उसका लक्षण "अनुपपद्यमानार्थदर्शनात् तदुपपादकीभूतार्थान्तरकल्पनम् अर्थापत्तिः" इस प्रकार करते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि किसी अनुपपद्यमान अर्थको देखकर उसके उपपादक अर्थकी कल्पना जिस प्रमाणके द्वारा की जाती है उसको 'अर्थापत्ति' कहते हैं। जैसे 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' यहाँ 'देवदत्त मोटा है' यह अनुपपद्यमान अर्थ है और 'रात्रिभोजन' उसका उपपादकीभूत अर्थ है। यदि देवदत्त दिनमें न खाय और रात्रिमें भी न खाय तो वह मोटा नहीं हो सकता है। दिनमें न खानेवाला व्यक्ति रात्रिभोजनके बिना पीन नहीं हो सकता। इसलिए यहाँ अनुपपद्यमान अर्थ दिवा अभोजनमें पीनत्वको देखकर उसके उपपादक रात्रिभोजनकी कल्पना अर्थापत्तिके द्वारा होती है।

यह अर्थापत्ति दो प्रकारकी होती है—एक दृष्टार्थापत्ति और दूसरी श्रुतार्थापत्ति। जहाँ अनुपपद्यमान अर्थको स्वयं आँखोंसे देखकर उसके उपपादक अर्थकी कल्पना की जाती है वह दृष्टार्थापत्ति कहलाती है और जहाँ किसी अन्यके मुखसे अनुपपद्यमान अर्थको सुनकर उसके उपपादक अर्थकी कल्पना की जाती है वह श्रुतार्थापत्ति कहलाती है। 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' यही दोनों प्रकारकी अर्थापत्तियोंका उदाहरण बन सकता है।

यहाँ ग्रन्थकारने दृष्टार्थापत्तिके स्थानपर अर्थार्थापत्ति शब्दका प्रयोग किया है। यह प्रयोग मीमांसक अर्थाध्याहारवादकी दृष्टिसे किया गया है। श्रुतार्थापत्ति पक्षमें यहाँ रात्रिभोजनका ज्ञान "रात्रौ भुङ्क्ते" इस शब्दके अध्याहारसे होता है और अर्थार्थापत्ति पक्षमें शब्दका अध्याहार न करके साक्षात् रात्रिभोजनरूप अर्थका आक्षेपसे ज्ञान होता है। इस प्रकार इन दोनों मीमांसक सिद्धान्तोंकी दृष्टिसे ही यहाँ ग्रन्थकारने श्रुतार्थापत्ति तथा अर्थार्थापत्ति शब्दोंका प्रयोग किया है।

और 'देवदत्त मोटा हो रहा है परन्तु दिनमें नहीं खाता है' यहाँ रात्रि-भोजन लक्षणासे उपस्थित नहीं होता है। क्योंकि वह श्रुतार्थापत्ति अथवा अर्थार्थापत्तिसे सिद्ध होता है।

लक्षण-लक्षणाका उदाहरण

इस प्रकार मुकुलभट्ट द्वारा प्रस्तुत किये गये उपादान लक्षणाके दोनों उदाहरणोंका खण्डन ग्रन्थकारने यहाँतक कर दिया है। अपने मतके अनुसार उपादान लक्षणाके 'कुन्ताः प्रविशन्ति' आदि उदाहरण वे पहिले ही दे चुके हैं। इसलिए अब क्रमप्राप्त 'लक्षण लक्षणा'का 'गङ्गायां घोषः' यह उदाहरण देते हैं। 'लक्षण लक्षणा'का यही उदाहरण मुकुलभट्टने भी दिया है।

'गङ्गायां घोषः' इसमें [वाक्यके भीतर प्रयुक्त हुए] घोषके अधिकरणत्वकी सिद्धिके लिए 'गङ्गा' शब्द अपने [जलप्रवाहरूप मुख्य] अर्थका परित्याग कर देता है, इसलिए इस प्रकारके उदाहरणोंमें यह 'लक्षण-लक्षणा' होती है।

यह दोनों प्रकारकी [लक्षणा] उपचारसे मिश्रित न होनेके कारण शुद्धा है।

लक्षण-लक्षणाका अधिक स्पष्ट उदाहरण

मुकुलभट्टके मतमें तो फिर भी कुछ समाधान-सा हो सकता है परन्तु काव्यप्रकाशकारके मतमें उतना भी आधार नहीं मिलता, क्योंकि उन्होंने आगे मुकुलभट्टके इस सिद्धान्तका खण्डन करके 'गङ्गातीर' या गङ्गाके साथ अभेदसम्बन्धसे ही तटकी उपस्थिति मानी है। उस अवस्थामें गङ्गा शब्द अपने अर्थको छोड़कर केवल तटका बोध कराता है, यह बात और भी दुरूह-सी हो जाती है और साधारण विद्यार्थीकी बुद्धिमें नहीं बैठती है। इसलिए इस प्रकारका कोई दूसरा उदाहरण ऐसा होना चाहिये जिसमें यह स्पष्टरूपसे प्रतीत हो सके कि यहाँ शब्द अपने मुख्यार्थको छोड़कर केवल लक्ष्यार्थका ही बोध करा रहा है। काव्यप्रकाशकारने आगे चतुर्थ उल्लासके आरम्भमें सू० २९ में लक्षणामूल ध्वनिके, 'अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य' नामक भेदका जो उदाहरण दिया है वह इस दृष्टिसे 'लक्षण लक्षणा' या 'जहत्स्वार्था लक्षणा'का बहुत सुन्दर उदाहरण हो सकता है। वह उदाहरण निम्नलिखित प्रकार है—

> "उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते सुजनता प्रथिता भवता परम्।
> विदधदीदृशमेव सदा सखे सुखितमास्स्व ततः शरदां शतम्॥"[1]

किसी अत्यन्त अपकार करनेवाले व्यक्तिके प्रति उसके अपकारसे पीड़ित व्यक्तिकी यह उक्ति है। इसमें 'आपने बड़ा उपकार किया' यह 'उपकृतम्' शब्दका मुख्यार्थ बाधित होता है। इसलिए उपकृत शब्द अपने अर्थको छोड़कर 'अपकृतम्' अर्थको 'लक्षण-लक्षणा' या 'जहत्स्वार्था लक्षणा'से बोधित करता है। इसी प्रकार 'सुजनता', 'सखे', 'सुखितमास्स्व' आदि शब्द भी अपने अर्थोंको छोड़कर अपनेसे विपरीत 'दुर्जनता', 'शत्रो', 'दुःखः म्रियस्व' आदि अर्थोंको लक्षणासे बोधित करते हैं और अपकारातिशय व्यङ्ग्य होता है। इस प्रकार 'लक्षण लक्षणा' या 'जहत्स्वार्था लक्षणा'का यह उदाहरण बिल्कुल स्पष्ट है। 'गङ्गायां घोषः' यह उदाहरण उतना स्पष्ट नहीं है।

शुद्धा तथा गौणी लक्षणाविषयक मम्मटमत

इस प्रकार उपादान-लक्षणा तथा लक्षण लक्षणाके नामसे जो दो प्रकारकी लक्षणा दिखलायी गयी है इसे मम्मट तथा मुकुलभट्ट दोनोंने शुद्धा लक्षणा माना है। शुद्धासे भिन्न लक्षणाका दूसरा भेद गौणी-लक्षणा नामसे कहा जाता है। इन शुद्धा तथा गौणी लक्षणाओंका परस्पर भेदक धर्म क्या है इसके विषयमें भी मुकुलभट्ट तथा मम्मटका मतभेद है। जैसा कि ऊपरकी मूल ग्रन्थकी पङ्क्तिसे प्रतीत होता है, मम्मटाचार्य 'उपचार'को 'शुद्धा' तथा 'गौणी'का भेदक धर्म मानते हैं। 'उभयरूपा चेयं शुद्धा, उपचारेण अमिश्रितत्वात्' इस पङ्क्तिसे विदित होता है कि मम्मटके मतमें उपचारसे रहित लक्षणा 'शुद्धा' तथा उपचारसे युक्त लक्षणा 'गौणी' कही जाती है। उपचारका लक्षण 'उपचारो हि नाम अत्यन्त विशकलितयोः पदार्थयोः सादृश्यातिशयमहिम्ना भेदप्रतीतिस्थगन-मात्रम्' यह किया गया है। इसका अभिप्राय यह है कि अत्यन्त भिन्न दो पदार्थोंमें अतिशय सादृश्यके कारण उनके भेदकी प्रतीतिका न होना 'उपचार' कहलाता है। जैसे किसी पुरुष या बालकमें शौर्य, क्रौर्य आदिके सादृश्यातिशयके कारण 'सिंहो माणवकः' 'यह बच्चा शेर है' आदि प्रयोग उपचार-मूलक होते हैं, इसलिए गौण प्रयोग कहे जाते हैं। इन सबमें गौणी लक्षणा होती है और जहाँ सादृश्य-सम्बन्धके अतिरिक्त सामीप्य आदि रूप कोई अन्य सम्बन्ध लक्षणाका प्रयोजक होता है वहाँ शुद्धा-लक्षणा होती है। इस प्रकार मम्मटाचार्यने उपचारके अभिश्रण तथा मिश्रणको शुद्धा तथा गौणी लक्षणाका भेदक धर्म माना है।

---

१ 'सुभाषितावली'में यह पद्य रविगुप्तके नामसे दिया गया है।

शुद्धा तथा गौणीविषयक मुकुलभट्टका मत

परन्तु मुकुलभट्टका मत इससे भिन्न है। वे 'उपचार'को 'शुद्धा' तथा 'गौणी'का भेदक धर्म नहीं मानते हैं। उनके मतमें उपचारका मिश्रण शुद्धामें भी होता है और गौणीमें भी। इसलिए उन्होंने 'शुद्धोपचार' तथा 'गौणोपचार' भेदसे उपचारमिश्रा लक्षणाके दो भेद करके फिर उनके 'सारोपा' तथा 'साध्यवसाना' दो भेद किये हैं। इस प्रकार उपचारमिश्रा-लक्षणाके चार भेद तथा शुद्धा-लक्षणाके उपादान लक्षणा एवं लक्षण-लक्षणा दो भेद कुल मिलाकर लक्षणाके छह भेद किये हैं।

[1]"द्विविध उपचारः शुद्धो गौणश्च। तत्र शुद्धो यत्र मूलभूतस्योपमानोपमेयभावस्याभावेनोपमानगतगुणसदृशगुणयोगलक्षणासम्भवात् कार्यकारणभावादिसम्बन्धाल्लक्षणया वस्त्वन्तरे वस्त्वन्तरमुपचर्यते। यथा 'आयुर्घृतम्' इति। अत्र ह्यायुषः कारणे घृते तद्गतकार्यकारणभावलक्षणापूर्वकत्वेनायुष्कार्यं तच्छब्दश्चेत्युभयमुपचरितम्। तस्माच्छुद्धोऽयमुपचारः।

गौणः पुनरुपचारो यत्र मूलभूतोपमानोपमेयभावसमाश्रयेणोपमानगत-गुणसदृशगुणयोगलक्षणा पुरःसरीकृत्योपमेये उपमानशब्दस्तदर्थश्चाध्यारोप्यते। स हि गुणेभ्य आगतत्वाद् गौणशब्देनाभिधीयते। यथा 'गौर्वाहीकः' इति। अत्र हि गोगतजाड्य-मान्द्यादिगुणसदृशजाड्यमान्द्यादियोगाद् वाहीके गोशब्दगोत्वयोरुपचारः।

केचित्तु उपचारे शब्दोपचारमेव मन्यन्ते नार्थोपचारम्। तदयुक्तम्, शब्दोपचारस्यार्थोपचाराविनाभावित्वात्। एवमयमुपचारः शुद्ध-गौणभेदेन द्विविधोऽभिहितः।'

इस प्रकार मुकुलभट्टने उपचारके शुद्धोपचार तथा गौणोपचार रूपसे दो भेद किये हैं। उनके यहाँ उपचारका अर्थ अन्यके लिए अन्य शब्दका प्रयोग है। जहाँ अन्यके लिए अन्यके वाचक शब्दका प्रयोग सादृश्यके कारण होता है वहाँ 'गौण उपचार' होता है और जहाँ सादृश्यसे भिन्न कार्यकारण भाव आदिके कारण अन्यके लिए अन्य शब्दका प्रयोग होता है वहाँ 'शुद्धोपचार' होता है। जैसे 'आयुर्घृतम्' इस उदाहरणमें आयुके कारणभूत घृतके लिए आयु शब्दका प्रयोग किया गया है यह शुद्धोपचारका उदाहरण है। और 'गौर्वाहीकः'में वाहीकदेशवासी पुरुषमें गौके सदृश जाड्य, मान्द्य आदि गुणोंका योग होनेसे गोशब्दका प्रयोग किया गया है। यह वाहीकके लिए गोशब्दका प्रयोग गुणोंके सादृश्यके कारण होनेसे 'गौण' उपचार कहलाता है। इस प्रकार उपचारके भी शुद्ध और गौण रूप होनेसे उपचारको शुद्धा तथा गौणीका भेदक नहीं माना जा सकता है।

इसलिए मुकुलभट्टने उपचारके स्थानपर 'ताटस्थ्य' अर्थात् लक्ष्यार्थ तथा लक्षकार्थके भेदको शुद्धा तथा गौणीका भेदक धर्म माना है। अर्थात् मुकुलभट्टके मतानुसार गौणी लक्षणामें सादृश्यातिशयके कारण लक्ष्य तथा लक्षकका अभेद प्रतीत होता है, जैसे 'गौर्वाहीक'में गो तथा वाहीक अर्थोंका अभेद प्रतीत होता है। तभी उन दोनों पदोंका समानाधिकरण प्रयोग किया जाता है। परन्तु शुद्धा लक्षणाके भेद उपादान लक्षणा तथा लक्षण लक्षणामें लक्ष्य तथा लक्षकका अभेद नहीं, अपितु भेद या ताटस्थ्य होता है। उपादान लक्षणाके 'कुन्ताः प्रविशन्ति' और लक्षण लक्षणाके 'गङ्गायां घोषः' इन दोनों उदाहरणोंमें लक्ष्य तथा लक्षक अर्थोंका अभेद नहीं, अपितु भेदरूप 'ताटस्थ्य' प्रतीत होता है। इसलिए मुकुलभट्टके सिद्धान्तमें—'तटस्थे लक्षणा शुद्धा'—शुद्धा लक्षणा तटस्थमें होती है। [illegible]

[illegible]

१. [illegible], पृष्ठ [illegible]।

अनयोर्लक्ष्यस्य लक्षकस्य च न भेदरूपं ताटस्थ्यम् । तटादीनां हि गङ्गादिशब्दैः प्रतिपादने तत्त्वप्रतिपत्तौ हि प्रतिपिपादयिषितप्रयोजनसम्प्रत्ययः । गङ्गासम्बन्धमात्रप्रतीतौ तु 'गङ्गातटे घोषः' इति मुख्यशब्दाभिधानाल्लक्षणायाः को भेदः ।

[सू० १४] सारोपान्या तु यत्रोक्तौ विषयी विषयस्तथा ।

आरोप्यमाणः आरोपविषयश्च यत्रानपह्नुतभेदौ सामानाधिकरण्येन निर्दिश्येते सा लक्षणा सारोपा ।

[सू० १५] विषय्यन्तःकृतेऽन्यस्मिन् सा स्यात् साध्यवसानिका ॥११॥

विषयिणारोप्यमाणेनान्तःकृते निगीर्णे अन्यस्मिन्नारोपविषये सति साध्यवसाना स्यात् ।

मुकुलभट्टके 'ताटस्थ्य'-सिद्धान्तका निराकरण

परन्तु मम्मटाचार्य इससे सहमत नहीं हैं । इसलिए अगले अनुच्छेदमें उन्होंने मुकुलभट्टके इस सिद्धान्तका खण्डन करते हुए लिखा है कि—

[शुद्धा-लक्षणाके उपादान-लक्षणा तथा लक्षण-लक्षणा] इन दोनों भेदोंमें लक्ष्य [अर्थ] और लक्षक [अर्थ] का [अर्थात् गङ्गाके जल-प्रवाहरूप लक्षक अर्थ तथा तीररूप लक्ष्यार्थका] भेद-प्रतीतिरूप 'ताटस्थ्य' नहीं [माना जा सकता] है । [क्योंकि लक्ष्यरूप] तट आदि [अर्थों] के गङ्गा आदि शब्दोंसे प्रतिपादन करनेमें [तत्त्व अर्थात् गङ्गात्वकी अथवा लक्ष्य तथा लक्षक, तीर तथा जलप्रवाहके] अभेद-की प्रतीति होनेपर ही [शैत्य-पावनत्वादि धर्मोंके अतिशयरूप] अभीष्ट प्रयोजनोंकी प्रतीति हो सकती है । [यदि तटमें तत्त्व अर्थात् गङ्गात्व अथवा गङ्गाशब्दके मुख्यार्थ जलप्रवाहके साथ अभेदकी प्रतीति न होकर] केवल गङ्गाका सम्बन्धमात्र प्रतीत होनेपर ['गङ्गायां घोषः' इस लाक्षणिक शब्दके स्थानपर 'गङ्गातटे घोषः'] 'गङ्गाके किनारे घोष है' इस मुख्य शब्दसे कथन करनेसे लक्षणाका क्या भेद होगा ।

शुद्धा तथा गौणी लक्षणाके दो-दो भेद

इस प्रकार शुद्धाके उपादान लक्षणा तथा लक्षण-लक्षणा इन दो भेदोंके करनेके बाद अब ग्रन्थकार शुद्धा और गौणी दोनों लक्षणाके सारोपा तथा साध्यवसाना ये दो-दो भेद करके चार भेद दिखलायेंगे और उन चारोंके साथ आदिके उपादान-लक्षणा तथा लक्षण-लक्षणा इन दोनों भेदोंको जोड़कर लक्षणाके कुल छः भेद सिद्ध करेंगे । पहिले सारोपा तथा साध्यवसाना ये दो भेद करते हैं—

[सू० १४]—जहाँ आरोप्यमाण [उपमान] तथा आरोपविषय [उपमेय] दोनों शब्दतः कथित होते हैं वह दूसरी [गौणी] सारोपा लक्षणा होती है ।

आरोप्यमाण [उपमान] तथा आरोप-विषय [उपमेय] जहाँ दोनों, स्वरूपका अपह्नव किये बिना, [शब्दतः] सामानाधिकरण्यसे निर्दिष्ट किये जाते हैं वह सारोपा लक्षणा होती है ।

[सू० १५]—और विषयी [अर्थात् आरोप्यमाण, उपमान] के द्वारा दूसरे [अर्थात् आरोप-विषयरूप उपमेय] का [अपने भीतर] अन्तर्भाव कर लिये जाने-पर वह साध्यवसानिका लक्षणा हो जाती है ॥ ११ ॥

विषयी अर्थात् आरोप्यमाण [उपमान] के द्वारा अन्य अर्थात् आरोपके विषय [उपमेय] के निगीर्ण कर लिये जानेपर साध्यवसाना लक्षणा होती है ।

[सू० १६] भेदाविमौ च सादृश्यात् सम्बन्धान्तरतस्तथा ।
गौणौ शुद्धौ च विज्ञेयौ ।

इमौ आरोपाध्यवसानरूपौ सादृश्यहेतू भेदौ 'गौर्वाहीकः' इत्यत्र 'गौरयम्' इत्यत्र च ।

अत्र हि स्वार्थसहचारिणो गुणा जाड्यमान्द्यादयो लक्ष्यमाणा अपि गो-शब्दस्य परार्थाभिधाने प्रवृत्तिनिमित्तत्वमुपयान्ति इति केचित् ।

सारोपा तथा साध्यवसानाके शुद्धा और गौणी दो भेद

[सू० १६]—ये [सारोपा तथा साध्यवसानारूप] दोनों भेद सादृश्यसे तथा [सादृश्यको छोड़कर] अन्य सम्बन्धसे [सम्पन्न] होनेपर [क्रमशः] गौण तथा शुद्ध [लक्षणाके] भेद समझने चाहिये।

गौणी सारोपा तथा साध्यवसानाके उदाहरण

ये सारोपा तथा साध्यवसानारूप भेद सादृश्य-हेतुक होनेपर 'गौर्वाहीकः' 'वाहीक देशका वासी पुरुष गौ है' और 'यह गौ है' इनमें हैं। [और सादृश्यमूलक होनेसे वे गौणी लक्षणाके भेद कहलाते हैं]।

यहाँ ग्रन्थकारने 'गौर्वाहीकः' सारोपा लक्षणाके और 'गौरयम्' साध्यवसाना लक्षणाके उदाहरणरूपमें प्रस्तुत किया है। लक्षणाके अन्य उदाहरणोंके समान ये दोनों भी ग्रन्थकारने "पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्" ... 'गादाख्यायाम्' सूत्रके महाभाष्यमेंसे उद्धृत किये हैं। वाहीक किसी देशका नाम था। ऐसा जान पड़ता है, भारतकी उत्तरी सीमाके परे 'अपगान स्थान' अफगानिस्तान आदि देश उन दिनों वाहीक नामसे व्यवहृत होते थे। अन्य लोग 'बहिर्भवो वाहीकः' व्युत्पत्तिके आधारपर शास्त्रीय आचारका पालन न करनेवालेको 'वाहीक' कहते हैं। 'बहिषष्टिलोपो यञ्च' 'ईकक् च' इन दो वार्तिकोंके द्वारा बहिः शब्दके टि-भागका लोप और ईकक्-प्रत्यय करके 'बवयोरभेदः' के सिद्धान्तके अनुसार ब-वका अभेद मानकर 'वाहीक' शब्द सिद्ध होता है। इसलिए उसकी दोनों प्रकारकी व्याख्या की जा सकती है। यहाँ गौ आरोप्यमाण [उपमान] और वाहीक आरोपविषय [उपमेय] है। दोनोंका सामानाधिकरण्यसे शब्दतः प्रतिपादन इस वाक्यमें है। इसलिए दोनोंके स्वरूपके अनपह्नुत होनेके कारण यह सारोपा लक्षणाका उदाहरण है। इसके विपरीत 'गौरयम्'में आरोपविषय वाहीकका शब्दत उपादान नहीं है, वह आरोप्यमाण गौके द्वारा निगीर्ण हो गया है। इसलिए वह साध्यवसाना लक्षणाका उदाहरण है। सादृश्यमूलक होनेके कारण दोनो गौणी लक्षणाके उदाहरण हैं। 'गौरयम्'में 'अयम्' पदसे आरोपविषयका सङ्केत मिल जानेसे वह साध्यवसानाका ठीक उदाहरण नहीं बनता है। उसके स्थानपर 'गौर्जल्पति' उदाहरण अधिक अच्छा है।

गौणी साध्यवसानाविषयक तीन मत

'गौर्जल्पति' आदि गौणी साध्यवसानाके उदाहरणोंमें लक्षणा-वृत्तिसे बोध्य—लक्ष्य—अर्थ क्या है इस विषयमें मम्मटने तीन पक्षोंको निम्नलिखितरूपमें प्रस्तुत किया है—

१—यहाँ ['गौरयम्' आदि उदाहरणोमे गो-शब्दके] अपने अर्थके सहचारी जाड्य, मान्द्य [मूर्खता, आलस्य] आदि गुण, लक्षणा द्वारा बोधित होकर भी, गो-शब्दके [द्वारा वाहीकरूप] दूसरे अर्थको अभिधासे बोधित करनेमें प्रवृत्ति-निमित्त बन जाते हैं यह कोई [विवेचक] मानते हैं।

---

१. 'अष्टाध्यायी' ४, १, ४८।

२ 'अष्टाध्यायी' ४, १, ८५ पर वार्तिक।

स्वार्थसहचारिगुणाभेदेन परार्थगता गुणा एव लक्ष्यन्ते न परार्थोऽभिधीयत इत्यन्ये। साधारणगुणाश्रयत्वेन परार्थ एव लक्ष्यत इत्यपरे ।

२—[गो-शब्दके] अपने अर्थके सहचारी [जाड्य, मान्द्य आदि] गुणोंसे अभिन्न रूपमें वाहीक-गत गुण ही लक्षित होते हैं [परन्तु वे वाहीक अर्थके अभिधया बोधनमें प्रवृत्ति-निमित्त नहीं होते हैं] यह अन्य मानते हैं।

३—[गौ तथा वाहीक दोनोंके] समान गुणोंके आश्रयरूपसे वाहीक अर्थ ही लक्षणासे उपस्थित होता है यह अन्य लोग [मुकुलभट्ट और मीमांसक] मानते हैं।

'स्वीयाः' व्याख्याका विवेचन

यहाँ ग्रन्थकारने तीन मतोंका उल्लेख किया है। परन्तु वे किन-किन आचार्यों या सम्प्रदायोंके मत हैं इसका कोई निर्देश नहीं किया है और इन मतोंकी खण्डन-मण्डनात्मक अपनी कोई टिप्पणी भी नहीं दी है। परन्तु उनके टीकाकारोंने अन्तिम मतको उनका अपना मत कहा है। अन्तिम मतके साथ ग्रन्थकारने 'इत्यपरे' इस पदका प्रयोग किया है। टीकाकारोंने इस 'अपरे' पदका 'न परे इति अपरे' इस प्रकारका समास करके उसका अर्थ 'स्वीयाः' किया है। इस प्रकार इस मतको 'स्वीय' अर्थात् अपने लोगोंका मत टीकाकारोंने बतलाया है। परन्तु यह व्याख्या उचित प्रतीत नहीं होती है। जैसा पहिले कहा जा चुका है, मम्मट तथा अन्य साहित्यशास्त्रियोंने अधिकांश दार्शनिक सिद्धान्त व्याकरणशास्त्रसे ही लिये हैं। इसलिए उनके 'स्वीय' वैयाकरण ही हो सकते हैं। पर काव्यप्रकाश-कारने इस अन्तिम मतके समर्थनके लिए आगे 'अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणोच्यते' आदि जो कारिका उद्धृत की है वह कुमारिलभट्टकी अर्थात् मीमांसकोंकी कारिका है। उसके यहाँ उद्धृत करनेसे यह स्पष्ट है कि यह मत मीमांसकोंका है। 'अपरे' पदकी 'स्वीयाः' व्याख्या करनेवालोंने 'स्वोक्तेऽर्थे पूर्वमीमांसकसम्मतिमाह' लिखकर इस मतका समर्थन मीमांसक-मतके द्वारा कराया है। परन्तु जब मम्मट अन्य जगह वैयाकरणोंके सिद्धान्तका अनुसरण करते रहे हैं तो यहाँ उसको छोड़कर मीमांसक-मतका अनुसरण क्यों कर रहे हैं इस बातकी सङ्गति नहीं लगती है। इसलिए 'अपरे'की 'स्वीयाः' व्याख्या करना ठीक नहीं जँचता है। अतः अन्तिम मतको मीमांसकोंका मत मानना चाहिये।

मम्मटने अपने शक्तिविवेचनके प्रकरणमें मुकुलभट्टकी 'अभिधावृत्तिमातृका'का बहुत अधिक उपयोग किया है। उन्होंने पहिले मुकुलभट्टकी 'अभिधावृत्तिमातृका'का खण्डन करनेके लिए 'शब्द-व्यापारविचार' नामक अपने एक छोटेसे प्रकरण-ग्रन्थकी रचना की थी जिसमें मुकुलभट्टके मतसे जिन अंशोंमें वे सहमत नहीं थे उनका खण्डन किया था। शेष जिन अंशोंमें उनका मतभेद नहीं था उनका मुकुलभट्टके आधारपर अपने ग्रन्थमें विवेचन कर दिया था। 'काव्यप्रकाश'में यह जो शक्तियोंके विवेचनका प्रकरण चल रहा है वह सब मम्मटके उसी 'शब्दव्यापारविचार'के आधारपर लिखा गया है। अधिकांश पंक्तियाँ ज्योंकी त्यों 'शब्दव्यापारविचार'से उद्धृत कर दी गयी हैं। इसलिए लक्षणाके इस विवेचनमें भी 'काव्यप्रकाश'पर मुकुलभट्टकी छाया पड़ी है। ऊपर उपादानलक्षणाके मुकुलभट्ट द्वारा दिये गये दो उदाहरणोंका ग्रन्थकारने जो खण्डन किया है उससे भी यह प्रमाणित होता है कि इस प्रकरणके लिखते समय मुकुलभट्टका ग्रन्थ उनकी दृष्टिमें था और उसकी छाया उनके इस विवेचनपर भी पड़ रही है। इसलिए यद्यपि उन्होंने यहाँ मुकुलभट्टका न नाम लिया है और न ठीक उनके शब्दोंमें उनके मतको उपस्थित किया है फिर भी यह उनके मतका ही उल्लेख प्रतीत होता है। परन्तु यहाँ मम्मटने उनके मतको अपना लिया है। अतः वह उनका भी मत बन गया है।

मुकुलभट्टने इस विषयकी विवेचना करते हुए लिखा है।

"अत्र हि गोगतजाड्यमान्द्यादिसदृशजाड्यमान्द्यादियोगाद्वाहीके गोशब्द-गोत्वयोरुपचारः। केचित्तु शब्दोपचारमेव मन्यन्ते नार्थोपचारम्। तदयुक्तम्। शब्दोपचारस्यार्थोपचाराविनाभावित्वात्'।

इसका अर्थ यह हुआ कि गो-गत जाड्य, मान्द्य आदि गुणोंके सदृश जाड्य, मान्द्य आदि गुण वाहीकमें भी पाये जाते हैं इसलिए वाहीकमें 'गोशब्द' तथा गो-शब्दके अर्थ 'गोत्व' दोनोंका उपचारसे प्रयोग होता है। कुछ लोग केवल गोशब्दका उपचार या आरोप वाहीकमें मानते हैं, उनका सिद्धान्त मुकुलभट्टकी दृष्टिमें उचित नहीं है, क्योंकि अर्थका आरोप किये बिना शब्दका आरोप नहीं किया जा सकता। इसलिए गोगत जाड्य, मान्द्य आदि गुणोंके सदृश गुणोंका वाहीकमें योग होनेसे उसमें गो-शब्द तथा गो-अर्थ 'गोत्व' दोनोंका आरोप होता है।

मुकुलभट्टकी इस पंक्ति तथा तीसरे मतका प्रतिपादन करनेवाली 'काव्यप्रकाश'की पंक्तिमें अत्यन्त समानता है। मुकुलभट्टके 'गोगतजाड्यमान्द्यादिसदृश-जाड्यमान्द्यादियोगात्'के स्थानपर मम्मटने 'साधारणगुणाश्रयत्वेन' पदका प्रयोग किया है और 'वाहीके गोशब्द-गोत्वयोरुपचारः'के स्थानपर 'परार्थ एव लक्ष्यते' इस वाक्यकी रचना की है। इन दोनों वाक्योंकी तुलना करनेपर यह स्पष्ट हो जाता है कि इस पंक्तिमें मम्मट अपनी संक्षेप लेखनशैलीमें मुकुलभट्टके मतका ही अनुवाद कर रहे हैं।

जैसा कि 'गौरनुबन्ध्य' तथा 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इन उदाहरणोंके विवेचनके प्रसङ्गमें दिखलाया जा चुका है, मुकुलभट्टने अपने विषयके प्रतिपादनमें प्रायः मीमांसासे सहायता ली है। मम्मट आदिने जहाँ अपने विवेचनमें उदाहरण आदि वैयाकरणोंसे लिये हैं और उन्हींके मतको अपनाया है वहाँ मुकुलभट्टने अपने विवेचनमें प्रायः मीमांसकोंके सिद्धान्तों तथा उदाहरण आदिको अपनाया है। इस दृष्टिसे विचार किया जाय तो भी 'काव्यप्रकाश'में जो मीमांसकाभिमत मत दिया गया है वह मुकुलभट्टका ही मत होना चाहिये। उसकी सङ्गति भी मुकुलभट्टके विवेचनके साथ मिल जाती है। क्योंकि यही नहीं, अपितु गौण उपचारका निरूपण करते हुए मुकुलभट्टने जो लिखा है उसकी छाया भी 'काव्यप्रकाश'की इस पंक्तिपर स्पष्ट दिखलायी देती है।

"गौणः पुनरुपचारो यत्र कल्पितोपमानोपमेयभावसमाश्रयेणोपमानगतगुणसदृशगुणयोगलक्षणां पुरःसरीकृत्योपमेये उपमानशब्दस्तदर्थश्चाध्यारोप्यते। स हि गुणेभ्य आगतत्वात् गौणशब्देनाभिधीयते। यथा 'गौर्वाहीक' इति।

इसमें दो बातें ध्यान देने योग्य हैं—एक तो 'सदृशगुणयोगलक्षणां पुरःसरीकृत्य' शब्दका प्रयोग और दूसरा 'गुणेभ्य आगतत्वात् [illegible]' इस व्युत्पत्तिका प्रदर्शन। मम्मटने तीसरे मतके प्रदर्शनमें 'साधारणगुणाश्रयत्वेन परार्थ एव लक्ष्यते' यह जो लिखा है उसका 'सदृशगुणयोगलक्षणां पुरःसरीकृत्य' [illegible] [illegible] पाया जाता है। दूसरे इस मतके समर्थनमें जो कुमारिलभट्टकी [illegible] मम्मटने उद्धृत की है उसके उत्तरार्द्ध [illegible] [illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

उक्तं चान्यत्र—

"अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणोच्यते ।
लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद् वृत्तेरिष्टा तु गौणता ॥" इति ।

अविनाभावोऽत्र सम्बन्धमात्रं न तु नान्तरीयकत्वम् । तत्त्वे हि 'मञ्चाः क्रोशन्ति' इत्यादौ न लक्षणा स्यात् । अविनाभावे चाक्षेपेणैव सिद्धेर्लक्षणाया नोपयोग इत्युक्तम् ।

'आयुर्घृतम्' 'आयुरेवेदम्' इत्यादौ च सादृश्यादन्यत् कार्यकारणभावादि सम्बन्धान्तरम् । एवमादौ च कार्यकारणभावादिलक्षणपूर्वे आरोपाध्यवसाने ।

दूसरी जगह (अर्थात् कुमारिलभट्टके 'श्लोकवार्तिक' नामक ग्रन्थमें) कहा भी है—

'मानान्तरविरुद्धे हि मुख्यार्थस्य परिग्रहे' यह इससे पहिला कारिका-भाग है । इसका अर्थ है कि 'मुख्यार्थके अन्य प्रमाणोंसे बाधित होनेपर' । इस अंशको मिलाकर ही कारिकाको उद्धृत करना उचित था । क्योंकि उसके बिना अर्थ स्पष्ट नहीं हो पाता है । उसको मिलाकर अर्थ इस प्रकार होगा कि—

[मुख्यार्थका अन्य प्रमाणोंसे बाध होनेपर] अभिधेय [मुख्यार्थ] से सम्बद्ध [अविनाभूत] अर्थकी प्रतीति [करानेवाली शक्ति] 'लक्षणा' कहलाती है और लक्ष्यमाण [जाड्य-मान्द्य आदि] गुणोंके [वाहीकमें रहने रूप] योगसे [इस लक्षणा] वृत्तिकी गौणता हो जाती है [अर्थात् 'गुणेभ्य आगतत्वाद् गौणी' लक्षणा कहलाती है]।

[कारिकामें प्रयुक्त] 'अविनाभाव' शब्दसे यहाँ सम्बन्धमात्र समझना चाहिये, नान्तरीयकत्व अर्थात् व्याप्ति नहीं। क्योंकि व्याप्ति या नान्तरीयकत्व अर्थ लेनेपर [तत्त्वे] 'मचान पुकारते हैं' इत्यादिमें [मञ्च पदकी मञ्चस्थ पुरुषके अर्थमें] लक्षणा नहीं होगी और अविनाभाव [व्याप्ति] होनेपर तो आक्षेप [अनुमान] से ही [लक्ष्यमाण अर्थके] सिद्ध हो जानेसे लक्षणाकी आवश्यकता ही नहीं रहेगी ।

इस अन्तिम मतके उपपादनमें जो अन्य मतोंकी अपेक्षा अधिक रुचि मम्मटने दिखलायी है, इससे यह प्रतीत होता है कि इस मतमें उनको विशेष सार दिखलायी देता है। इसलिए इस विषयमें उन्होंने मुकुलभट्टके मतको अपना लिया है । अर्थात् मुकुलभट्टका मत उनका अपना मत कहा जा सकता है, यदि वे उससे सहमत न होते तो उसका खण्डन अवश्य करते ।

शुद्धा सारोपा-साध्यवसाना लक्षणाके उदाहरण

इस प्रकार गौणी-सारोपा तथा साध्यवसाना लक्षणाके उदाहरण देनेके बाद शुद्धा-सारोपा तथा शुद्धा-साध्यवसाना लक्षणाके उदाहरण देते हैं ।

'घी आयु है' अथवा 'यह [घी] आयु ही है' इत्यादिमें सादृश्यसे भिन्न कार्य-कारण-भाव आदि अन्य सम्बन्ध [लक्षणाके प्रयोजक] हैं। इस प्रकारके उदाहरणोंमें कार्य-कारणभाव सम्बन्धपूर्वक आरोप तथा अध्यवसान होते हैं। [अर्थात् 'आयुर्घृतम्'में आरोप्यमाण आयु तथा आरोप-विषय घृत दोनोंके अनपह्नुत-स्वरूप अर्थात् शब्दतः उपात्त होनेसे शुद्धा-सारोपा तथा 'आयुरेवेदम्'में आरोप-विषय घृतके शब्दतः उपात्त न होने अर्थात् अपह्नुत-स्वरूप होनेसे साध्यवसाना-लक्षणा होती है]।

'आयुरेवेदम्'में 'इद' सर्वनामसे आरोपविषयका संकेत हो ही जाता है। अतः यह 'साध्यवसाना का ठीक उदाहरण नहीं बनता है । 'आयु पिबामि' यह अधिक अच्छा उदाहरण है ।

सा च—

[सू० १८] व्यङ्ग्येन रहिता रूढौ सहिता तु प्रयोजने ।

प्रयोजनं हि व्यञ्जन-व्यापारगम्यमेव ।

[सू० १९] तच्च गूढमगूढं वा ।

तच्चेति व्यङ्ग्यम् ।

'साहित्यदर्पण' में लक्षणाके सोलह भेद

साहित्यदर्पणकारने 'तेन षोडशभेदिता' लिखकर यहाँतक ही लक्षणाके छह भेदोंके स्थानपर सोलह भेद करके दिखला दिये हैं । वे सोलह भेद इस प्रकार होते हैं—पहिले रूढि-लक्षणा तथा प्रयोजनवती लक्षणा ये दो भेद हुए । फिर उन दोनोंके उपादान लक्षणा तथा लक्षण-लक्षणाके भेदसे, दो-दो भेद होकर चार भेद हुए । फिर उन चारों भेदोंके सारोपा तथा साध्यवसाना रूपसे दो-दो भेद होकर कुल आठ भेद हुए । फिर उन आठों भेदोंके शुद्धा तथा गौणी भेदसे दो दो भेद होकर कुल सोलह भेद हुए । इस प्रकार साहित्यदर्पणकारने यहाँतक लक्षणाके सोलह भेद कर दिये हैं । मम्मट और मुकुलभट्टने यहाँतक केवल छह भेद ही किये हैं । इस अन्तरका कारण यह है कि मम्मट और मुकुल-भट्ट दोनोंने 'उपादान-लक्षणा' और 'लक्षण लक्षणा' ये दोनों भेद केवल 'शुद्धा'के माने हैं, 'गौणी'के नहीं । विश्वनाथने 'गौणी'के भी ये दोनों भेद माने हैं । उनको मम्मटके ६ भेदोंमें मिला देनेसे ८ भेद बन जाते हैं । विश्वनाथने इनके रूढि तथा प्रयोजनसे दो भेद करके १६ भेद बनाये हैं । मम्मट और मुकुलभट्टने ये भेद नहीं किये हैं । इसलिए उनके यहाँ भेदोंकी सख्या केवल ६ रह गयी है ।

लक्षणासे लक्षणामूला व्यञ्जनाकी ओर

'गौर्वाहीकः' आदिके विवेचनमें जो तृतीय मत मम्मटने दिखलाया था वह मूलतः मुकुलभट्टका मत था, परन्तु मम्मट भी उससे सहमत थे इसलिए उन्होंने उसका अपने मतके समान विस्तारपूर्वक और सप्रमाण उपपादन करनेका प्रयत्न किया है । यह बात हम पहिले लिख चुके हैं । वहाँसे यहाँतक मुकुलभट्टके साथ उनका विशेष मतभेद नहीं है इसलिए उसी पद्धतिपर उन्होंने विषयका विवेचन किया है । परन्तु आगे उनका मुकुलभट्टके साथ मतभेद है और वह मतभेद व्यञ्जनाके विषयमें है । मुकुलभट्ट व्यञ्जनाको अलग वृत्ति नहीं मानते हैं परन्तु काव्यप्रकाशकार इस विषयमें ध्वनिवादी आचार्योंके अनुयायी हैं । ध्वन्यालोककारने प्रयोजनवती लक्षणामें प्रयोजनको व्यञ्जनागम्य ही माना है । इसलिए मम्मट भी लक्षणाके विवेचनके साथ ही लक्षणा मूला व्यञ्जनाका भी विवेचन करना चाहते हैं । अतएव यहाँसे आगे उनकी शैली मुकुलभट्टसे भिन्न हो जाती है । लक्षणा-मूला व्यञ्जनाके विवेचनकी भूमिका बाँधते हुए वे लिखते हैं—

और वह [लक्षणा]—

[सू० १८]—रूढ़ि [गत भेदों] में व्यङ्ग्यसे रहित तथा प्रयोजन [मूलक भेदों] में [व्यङ्ग्यके] सहित होती है ।

क्योंकि प्रयोजन व्यञ्जना-व्यापारसे ही जाना जा सकता है [प्रयोजनवती लक्षणामें व्यङ्ग्य प्रयोजन अवश्य रहता है । अतएव वह व्यङ्ग्य-सहित ही होती है] ।

[सू० १९]—और वह [व्यङ्ग्य प्रयोजन कहीं] गूढ [दुर्ज्ञेय, सहृदयैकगम्य और कहीं] अगूढ [स्पष्ट, सर्वजनसंवेद्य] होता है ।

वह अर्थात् व्यङ्ग्य ['तत्' सर्वनाम इस पूर्व-प्रयुक्त व्यङ्ग्यका परामर्शक है] ।

गूढं यथा—

मुखं विकसितस्मितं वशितवक्रिम प्रेक्षितं
समुच्छलितविभ्रमा गतिरपास्तसंस्था मतिः ।
उरो मुकुलितस्तनं जघनमंसबन्धोद्धुरं
बतेन्दुवदनातनौ तरुणिमोद्गमो मोदते ॥९॥

अगूढं यथा—

श्रीपरिचयाज्जडा अपि भवन्त्यभिज्ञा विदग्धचरितानाम् ।
उपदिशति कामिनीनां यौवनमद एव ललितानि ॥१०॥

अत्रोपदिशतीति ।

गूढ़ [व्यङ्ग्यका उदाहरण है] जैसे—

मुखपर मुस्कराहट खिल रही है, बाँकपन दृष्टिका दास हो रहा है, चलनेमें हाव-भाव छलक रहे हैं, बुद्धि मर्यादाका अतिक्रमण कर [अत्यन्त तीव्र हो] रही है। छातीपर स्तनोंकी कलियाँ निकल रही हैं। जाँघें अवयवोंके बन्धसे उभर रही हैं। बड़ी प्रसन्नताकी बात है कि उस चन्द्रवदनीके शरीरमें यौवनका उभार किलोल कर रहा है ॥९॥

यहाँ मुखमें स्मित—मुस्कराहट—के खिलनेका वर्णन किया गया है। परन्तु विकास या खिलना तो फूलोंका धर्म है, मुखमें उसका सम्बन्ध लक्षणासे ही किया जा सकता है। उस लक्षणासे [illegible] सम्बन्ध द्वारा स्मितका अतिशय लक्षित होता है और मुखके सौरभ आदि व्यङ्ग्य हैं। चेतनके धर्म 'वशीकरण'के प्रेक्षितमें सम्बन्धसे वक्रभावकी स्वाधीनता लक्षित होती है और उसकी [illegible] और प्रवृत्ति व्यङ्ग्य होती है। किसी मूर्त द्रव पदार्थके धर्म 'छलकने'का गतिमें सम्बन्ध होनेसे विभ्रमोंका बाहुल्य लक्षित होता है और स्फुट मनोहारित्व व्यङ्ग्य है। 'मर्यादाके त्याग' रूप चेतन धर्मका मतिके साथ जो सम्बन्ध दिखलाया गया है उससे अधीरता लक्षित होती है और अनुराग [illegible] व्यङ्ग्य है। 'मुकुलितत्व' रूप पुष्पके धर्मका स्तनके साथ सम्बन्ध दिखलानेसे स्तनोंका काठिन्य या उभार लक्षित होता है और आलिङ्गनयोग्यत्व व्यङ्ग्य है। [illegible] 'उद्धुरत्व'के जघनके साथ सम्बन्धसे समर्थत्व लक्षित होता है और [illegible] व्यङ्ग्य है। [illegible] लक्षित होता है और स्पृहणीयत्व व्यङ्ग्य है।

इस प्रकार इस श्लोकमें जो व्यङ्ग्य अर्थ है वह सर्वजनवेद्य नहीं है अपितु केवल [illegible] इसलिए इसको गूढव्यङ्ग्यके उदाहरणरूपमें प्रस्तुत किया गया है।

अगूढ़ [व्यङ्ग्यका उदाहरण] जैसे—

लक्ष्मीकी प्राप्ति हो जानेपर मूर्ख [मनुष्य] भी चतुरोंके व्यवहारमें [illegible] हो जाते हैं। [इसी बातका [illegible] इसका समर्थन करते हैं कि जैसे] [यौवनका मद ही कामिनियोंको ललितोंका उपदेश कर देता है। ['अनाचार्योपदेश [illegible]' [illegible] 'ललित' कहलाता है] ॥१०॥

यहाँ 'उपदिशति' पद [में अगूढव्यङ्ग्य] है। [illegible] द्वारा [illegible] 'उपदेश' [illegible] धर्म है वह [illegible] सम्भव नहीं है। इसलिए [illegible]

[सू० २०] तदेषा कथिता त्रिधा ॥१३॥

अव्यङ्ग्या, गूढव्यङ्ग्या अगूढव्यङ्ग्या च ।

[सू० २१] तद्भूर्लाक्षणिकः ।

'शब्दः' इति सम्बध्यते । तद्भूस्तदाश्रयः ।

[सू० २२] तत्र व्यापारो व्यञ्जनात्मकः ।

[सू० २०]-इस प्रकार यह [लक्षणा व्यङ्ग्यकी दृष्टिसे] तीन प्रकारकी कही गयी है ॥१३॥

१. [रूढिगत] व्यङ्ग्य-रहित [लक्षणा], २. गूढव्यङ्ग्या तथा ३. अगूढव्यङ्ग्या ।

इस प्रकार यहाँतक लक्षणाके भेदोंका निरूपण करके पिछले प्रसङ्गके साथ इसकी सङ्गति दिखलानेके लिए इस उल्लासकी सबसे पहिली 'स्याद् वाचको लाक्षणिकः शब्दोऽत्र व्यञ्जकस्त्रिधा' आदि सूत्रसंख्या ५ का स्मरण दिलाते हैं। उस सूत्रमें वाचक, लाक्षणिक तथा व्यञ्जक तीन प्रकारके शब्दोंका निर्देश किया था। उनमेंसे वाचक शब्दका प्रतिपादन पहिले किया जा चुका है। लक्षणाका विवेचन हो जानेके बाद उस लक्षणाका आश्रयभूत शब्द जो 'लाक्षणिक शब्द' कहलाता है, उसका लक्षण आगे करते हैं—

[सू० २१] उस [लक्षणा] का आश्रयभूत [शब्द] लाक्षणिक [शब्द कहलाता] है।

'शब्द' यह [पद इस उल्लासकी प्रथम कारिका सू० ५ से 'मण्डूक-प्लुति-न्याय' से यहाँ] सम्बद्ध होता है। तद्भू [का अर्थ] उस [लक्षणा] का आश्रय है।

[सू० २२] उस [व्यङ्ग्यरूप प्रयोजनके विषय] में [लाक्षणिक शब्दका लक्षणासे भिन्न] व्यञ्जनात्मक व्यापार होता है।

प्रयोजन-प्रतीतिमें व्यञ्जनाकी अपरिहार्यता

मुकुलभट्टने अपनी दशम कारिकामें रूढि तथा प्रयोजनको लक्षणाका प्रयोजक हेतु माना है। 'रूढेः प्रयोजनाद्वापि व्यवहारे विलोक्यते' इस कारिका-भागकी व्याख्या करते हुए—

"अत्र च लक्षणायाः प्रयोजनं तटस्य गङ्गातटेकार्थसमवेतविज्ञातपदपुण्यत्वमनोहरत्वादिप्रतिपादनम्। न हि तत् पुण्यत्वमनोहरत्वादि स्वशब्दैः स्प्रष्टुं शक्यते।'[1]

यह लिखकर पुण्यत्व-मनोहरत्वादिके प्रतिपादनको लक्षणाका प्रयोजन माना है और यह भी लिखा है कि उनकी प्रतीति स्व शब्दसे अभिधा द्वारा नहीं हो सकती है। ध्वनिवादी आचार्य उस प्रयोजनकी प्रतीति व्यञ्जना द्वारा मानते हैं। परन्तु मुकुलभट्ट उस व्यञ्जनाको स्वीकार नहीं करते। इसका अर्थ यह हुआ कि वे उस प्रयोजनकी प्रतीति भी लक्षणा वृत्तिसे ही मानते हैं। यदि लक्षणा द्वारा ही प्रयोजनकी प्रतीति मानी जाय तो उसके दो रूप हो सकते हैं—एक तो यह कि उस प्रयोजनको लक्ष्यार्थ माना जाय और दूसरा पक्ष यह हो सकता है कि यदि प्रयोजन लक्ष्यार्थसे भिन्न है तो प्रयोजनविशिष्ट तट आदिकी उपस्थिति लक्षणासे मानी जाय। मुकुलभट्टको इनमेंसे कौन सा पक्ष अभीष्ट है इसका कोई विवेचन उन्होंने अपने ग्रन्थमें नहीं किया है। फिर भी—

"अत्र हि गङ्गाशब्दाभिधेयस्य स्रोतोविशेषस्य घोषाधिकरणत्वानुपपत्त्या इत्यत्र गङ्गातीरे ... सोऽसौ सामीप्यसामीपिभावात्मकः सम्बन्धस्तद्रूपेण तटं लक्षयति।

१ 'अभिधावृत्तिमातृका', पृ० १७।

२ 'अभिधावृत्तिमातृका', पृ० १७।

कुत इत्याह—

[सू० २३] यस्य प्रतीतिमाधातुं लक्षणा समुपास्यते ॥१४॥
फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यञ्जनान्नापरा क्रिया ।

प्रयोजनप्रतिपिपादयिषया यत्र लक्षणया शब्दप्रयोगस्तत्र नान्यतस्तत्प्रतीतिरपि तु तस्मादेव शब्दात् । न चात्र व्यञ्जनादृतेऽन्यो व्यापारः ।

तथाहि—

[सू० २४] नाभिधा समयाभावात् ।

'गङ्गायां घोषः' इत्यादौ ये पावनत्वादयो धर्मास्तटादौ प्रतीयन्ते न तत्र गङ्गादि-शब्दाः संकेतिताः ।

इस लेखसे यह स्पष्ट हो जाता है कि वह तटको लक्ष्यार्थ मानते हैं। इसलिए प्रयोजनको लक्ष्यार्थ माननेकी सम्भावना नहीं रहती है। उस दशामें व्यञ्जनाका आश्रय लिये बिना पुण्यत्व, मनोहरत्व आदि प्रयोजनोंकी गङ्गा-शब्दसे प्रतीति होनेका केवल एक ही मार्ग शेष रह जाता है कि प्रयोजन-विशिष्ट तटकी उपस्थिति लक्षणासे मानी जाय। यही सम्भवतः मुकुलभट्टका भी अभिप्राय है। परन्तु उन्होंने इसका स्पष्ट निर्देश नहीं किया है। इसलिए काव्यप्रकाशकारके लिए इस विषयमें सम्भावित दोनों मतोंकी आलोचना करना अनिवार्य हो गया है। इसीलिए उन्होंने अगली १६–१८ तक तीन कारिकाओंमें इन दोनों सम्भावित पक्षोंकी आलोचना की है। १६वीं कारिका तथा १७ वीं कारिकाके पूर्वार्द्धमें उन्होंने प्रयोजनको लक्ष्यार्थ माननेकी सम्भावनाका निराकरण किया है और १७ वीं कारिकाके उत्तरार्द्ध तथा १८ वीं कारिकामें प्रयोजन विशिष्ट तीरमें लक्षणा माननेका खण्डन किया है। इस खण्डनका अभिप्राय यह है कि जब मुकुलभट्ट प्रयोजनको लक्षणाका प्रयोजक मानते हैं तो उस प्रयोजनकी प्रतीति अभिधा या लक्षणासे होनेका कोई मार्ग न होनेके कारण उसकी प्रतीतिके लिए उन्हें व्यञ्जना भी अवश्य माननी चाहिये। इसी अभिप्रायसे ग्रन्थकार आगे लिखते हैं कि—

प्रयोजनकी वाच्यताका निराकरण

[व्यञ्जनाव्यापार ही] क्यों [होता है] यह कहते हैं—

[सू० २३]—जिस [प्रयोजनविशेषकी] प्रतीति करानेके लिए [लक्षणा अर्थात्] लाक्षणिक शब्द [वृत्तिमें 'लक्षणया शब्दप्रयोगः' इस प्रकारकी व्याख्या होनेसे यहाँ 'लक्षणा' शब्दका अर्थ 'लाक्षणिक शब्द' ही करना उचित है] का आश्रय लिया जाता है [अनुमान आदिसे नहीं अपितु] केवल शब्दसे गम्य उस फल [प्रयोजन] के विषयमें व्यञ्जनाके अतिरिक्त [शब्दका] और कोई व्यापार नहीं हो सकता है ॥१४॥

प्रयोजनविशेषका प्रतिपादन करनेकी इच्छासे जहाँ लक्षणासे [लाक्षणिक] शब्द-का प्रयोग किया जाता है वहाँ [अनुमान आदि] अन्य किसी [साधन या उपाय] से उस प्रयोजनरूप अर्थ] की प्रतीति नहीं होती है अपितु उसी शब्दसे होती है। और उस [के बोधन] में [शब्दका] व्यञ्जनाके अतिरिक्त और कोई व्यापार नहीं [होता] है।

इसी बातको स्पष्ट करनेके लिए कहते हैं] क्योंकि—

[सू० २४]—संकेतग्रह न होनेसे अभिधावृत्ति [प्रयोजनकी बोधिका] नहीं है।

'गङ्गायां घोषः' इत्यादिमें जो पावनत्व आदि धर्म तटमें प्रतीत होते हैं उनमें गङ्गा आदि शब्दोंका संकेतग्रह नहीं है [अतः अभिधासे उनका ज्ञान नहीं हो सकता है]।

[सू० २५] हेत्वभावान्न लक्षणा ॥ १५ ॥
मुख्यार्थबाधादित्रयं हेतुः ।

प्रयोजनकी लक्ष्यताका निराकरण

[सू० २५]—[लक्षणाके प्रयोजक मुख्यार्थबाध आदि] हेतुओंके न होनेसे लक्षणा [भी प्रयोजनकी बोधिका] नहीं हो सकती है।

[१.] मुख्यार्थका बाध [और उसके साथ-साथ २. मुख्यार्थसे सम्बन्ध तथा ३. रूढ़ि एवं प्रयोजनमेंसे कोई एक] आदि [लक्षणाके] तीन कारण है। [वे तीनो यहाँ नहीं पाये जाते है। अतः प्रयोजक सामग्रीके न होनेसे प्रयोजनका बोध लक्षणासे भी नहीं हो सकता है]।

लक्षणाके हेतुओंका अभाव

२५वें सूत्रमे अभी कहा है कि प्रयोजनके बोधनमें मुख्यार्थबाध आदि लक्षणाके प्रयोजक हेतुओंमेंसे कोई भी हेतु नहीं है। इसलिए लक्षणासे उसका बोध नही हो सकता है। अगली कारिकामे इन्हीं हेतुओके अभावका उपपादन करेंगे। उसका आशय यह है कि गङ्गा पदसे तटरूप अर्थकी प्रतीति होनेके बाद जो शैत्य-पावनत्व आदि धर्मोंकी प्रतीति होती है, उसको यदि लक्ष्यार्थ माना जाय तो उससे पूर्व उपस्थित होनेवाला तटरूप अर्थ मुख्यार्थ होना चाहिये। परन्तु वह लक्ष्यार्थ है, मुख्यार्थ नहीं हो सकता है। फिर यदि उनको कथञ्चित् मुख्यार्थ ही मान लिया जाय तो लक्षणा होनेके पूर्व उसका बाध होना चाहिये। वह बाध भी नहीं होता है क्योंकि तटपर घोष रहता ही है। इसलिए भी लक्षणा नहीं हो सकती है। इस प्रकार अगली कारिकाके 'लक्ष्य न मुख्यम्' 'नाप्यत्र बाधः' इस प्रथम चरणसे मुख्यार्थबाधरूप लक्षणाके प्रथम कारणका अभाव प्रदर्शित किया।

लक्षणाका दूसरा कारण लक्ष्यार्थका मुख्यार्थके साथ सम्बन्ध है। यदि शैत्य-पावनत्व आदि धर्मोंको लक्ष्यार्थ माना जाय तो तटको मुख्यार्थ मानना होगा। उस दशामें मुख्यार्थरूप तटके साथ लक्ष्यार्थरूप शैत्य-पावनत्व आदिका सम्बन्ध होना चाहिये। परन्तु शैत्य-पावनत्वका सम्बन्ध तो जलप्रवाहके साथ है, तटके साथ नहीं, इसलिए मुख्यार्थके साथ साक्षात् सम्बन्धरूप दूसरा हेतु भी नहीं है। यह बात अगली कारिकाके 'योगः फलेन नो' इस द्वितीय चरणके भागसे प्रतिपादित की है। उसका अभिप्राय यह है कि आपके मतानुसार लक्ष्यार्थरूपमें कल्पित किये जानेवाले शैत्य-पावनत्व आदि फलके साथ मुख्यार्थस्थानीय तटका सम्बन्ध भी नहीं है। इसलिए लक्षणाके दूसरे हेतुका भी अभाव होनेसे लक्षणा नहीं हो सकती है।

लक्षणाका प्रयोजक तीसरा कारण रूढि और प्रयोजनमेंसे किसी एककी स्थिति है। इन दोनोंमेंसे कोई भी यहाँ नहीं बन सकता है। शैत्य-पावनत्वादि प्रयोजनको यदि लक्ष्यार्थ मानें तो फिर उसमें किसी अन्यको प्रयोजन मानना होगा, परन्तु इस फलमें और कोई प्रयोजन नहीं माना जा सकता है और यदि माननेका आग्रह ही करेंगे तो फिर उस प्रयोजनका भी प्रयोजन और फिर उसका भी प्रयोजन खोजना होगा, इस प्रकार 'अनवस्था' होगी। अतः प्रयोजनका प्रयोजन मानना उचित नहीं है और रूढिसे शैत्य-पावनत्व आदिका बोध तो हो ही नहीं सकता है। इसलिए रूढि और प्रयोजनमेंसे किसी एककी उपस्थितिरूप तृतीय कारणका भी अभाव होनेसे लक्षणा नहीं हो सकती है। यह बात कारिकाके उत्तरार्द्धके 'न प्रयोजनमेतस्मिन्' इस भागमें कही है। यह १६ वीं कारिकाके आदिके तीन चरणोंका अभिप्राय है।

तथा च—

[सू० २६] लक्ष्यं न मुख्यं नाप्यत्र बाधो योगः फलेन नो ।
न प्रयोजनमेतस्मिन् न च शब्दः स्खलद्गतिः ॥१६॥

यहाँतक तो कारिका क्लिष्ट होनेपर भी स्पष्ट है । परन्तु कारिकाका अन्तिम चरण और उसका वृत्तिभाग दोनो अत्यन्त अस्पष्ट है । जहाँ कारिका-भागमे क्लिष्टता आ गयी थी उसकी वृत्ति लिखते समय वृत्तिकारको उस विषयका विस्तारके साथ स्पष्टीकरण करना चाहिये था, परन्तु दुर्भाग्यसे मम्मटने यह नहीं किया है । इस स्थलपर उनकी व्याख्या मूलसे भी अधिक क्लिष्ट हो गयी है । यहाँ उनकी स्थिति उन टीकाकारोके समान हो गयी है जो स्पष्ट स्थलोका तो खूब विस्तार करते है, परन्तु अस्पष्ट स्थलोको शब्द-जालमे ही उडा देते है । 'न च शब्दः स्खलद्गति.' इसकी व्याख्यामे 'नापि गङ्गाशब्दस्तटमिव प्रयोजनं प्रतिपादयितुमसमर्थः' यह जो पक्ति मम्मटने लिखी है वह 'मघवा मूल विडौजा टीका'का उदाहरण बन रही है । उसका पाठ 'प्रयोजन प्रतिपादयितुमसमर्थ.' होना चाहिये या 'समर्थ.' इसका निर्णय करनेमे भी टीकाकार चक्करमे पडे हुए है । पता नही, इतना भ्रामक पाठ और इतनी अस्पष्ट वृत्ति मम्मटने इस स्थलपर क्यो लिखी है । क्या वे स्वय अपनी लिखी पक्तिकी भी स्पष्ट व्याख्या नही कर सकते थे । अस्तु, 'स्थितस्य गतिश्चिन्तनीया'के सिद्धान्तके अनुसार हमको उसकी गति सोचनी चाहिये ।

इसका भाव यह है कि यदि प्रयोजनको लक्ष्यार्थ माना जाय तो उसके विषयमे शब्दका 'स्खलद्गति' होना आवश्यक है । अर्थात् मुख्यार्थबाध आदिके बाद ही उस अर्थका बोधन होना चाहिये । मुख्यार्थबाध आदि लक्षणाके प्रयोजक हेतुओके बिना उस शब्दसे अर्थकी प्रतीति सम्भव न हो, तब उस अर्थको लक्ष्यार्थ कहा जा सकता है । जैसे गङ्गा शब्दका लक्ष्यार्थ तट है । मुख्यार्थबाध आदिके बिना गङ्गा शब्द तटका प्रतिपादन करनेमे असमर्थ है । इसलिए वह उस तटरूप अर्थके बोधनमे स्खलद्गति है । इसलिए उसको लक्षणासे बोधित करता है । परन्तु शैत्य पावनत्वादि प्रयोजनके विषयमे गङ्गा आदि लाक्षणिक शब्द 'स्खलद्गति' नही होते है । अर्थात् मुख्यार्थबाध आदिके बाद ही वे शैत्यादिका बोध नहीं कराते है । अपितु, मुख्यार्थबाधके बाद तो वे तटका बोध कराते है और शैत्य-पावनत्वादि धर्म तो बिना मुख्यार्थबाधके भी अविनाभूत होनेसे गङ्गा शब्दके अर्थके साथ स्वत ही उपस्थित हो जाते है । इसलिए गङ्गा शब्द मुख्यार्थबाध आदिके बिना भी उस शैत्यादि अर्थके प्रतिपादनमे असमर्थ नही, समर्थ है । अत वह उस अर्थके विषयमे 'स्खलद्गति' नहीं है । अत शैत्य पावनत्व आदि प्रयोजनोका बोध लक्षणासे नही हो सकता है । उसके लिए व्यञ्जना व्यापारके माननेके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नही है यह इस वाक्यका अभिप्राय है । इसी बातको अगली कारिकामे कहते है—

[सू० २६] [तटरूप] लक्ष्यार्थ मुख्य अर्थ नही है, न उसका यहाँ बाध होता है, और न उसका [शैत्यपावनत्वादि] फलके साथ सम्बन्ध है, और न इस [प्रयोजनको लक्ष्यार्थ मानने] मे कोई प्रयोजन है और न [प्रयोजनके विषयमे लाक्षणिक] शब्द स्खलद्गति [अर्थात् मुख्यार्थबाधादिके बिना प्रयोजनके प्रतिपादनमे असमर्थ या मुख्यार्थबाध आदिके बाद ही प्रयोजनके प्रतिपादनमे समर्थ] है ॥१६॥

[illegible]

[illegible]

[illegible]

यथा गङ्गाशब्दः स्रोतसि सबाध इति तटं लक्षयति, तद्वत् यदि तटेऽपि सबाधः स्यात् तत् प्रयोजनं लक्षयेत् । न च तटं मुख्योऽर्थः । नाप्यत्र बाधः, न च गङ्गाशब्दार्थस्य तटस्य पावनत्वाद्यैर्लक्षणीयैः सम्बन्धः । नापि प्रयोजने लक्ष्ये किञ्चित् प्रयोजनम् । नापि गङ्गाशब्दस्तटमिव प्रयोजनं प्रतिपादयितुमसमर्थः ।

[सू० २७] एवमप्यनवस्था स्याद् या मूलक्षयकारिणी ।

एवं प्रयोजनं चेल्लक्ष्यते तत् प्रयोजनान्तरेण, तदपि प्रयोजनान्तरेणेति प्रकृताप्रतीतिकृत् अनवस्था भवेत् ॥

जैसे गङ्गा शब्द ['गङ्गायां घोषः' इस उदाहरणमें घोषका आधार बननेके लिए] जलप्रवाह अर्थमें बाधित होता है इसलिए [लक्षणासे] तट [रूप लक्ष्यार्थ] का बोध कराता है, उसी प्रकार यदि तट [गङ्गा शब्दका मुख्यार्थ हो और उसमें घोषका आधार बननेकी योग्यताके न होनेसे उस] में भी बाधित हो, तब वह प्रयोजनको लक्षणासे बोधित कर सकता है, परन्तु न तो तट [गङ्गा शब्दका] मुख्य अर्थ है और न उसका बाध होता है। [इसलिए मुख्यार्थबाधरूप प्रथम लक्षणा-हेतुका अभाव सिद्ध होता है और यदि गङ्गा शब्दका मुख्यार्थ तट ही मान लिया जाय तो भी] गङ्गा शब्दके [उस कल्पित मुख्य] अर्थ तटका [जिनका आप लक्षणासे बोध कराना चाहते हैं उन] लक्षणीय पावनत्वादिके साथ सम्बन्ध भी नहीं है [पावनत्व आदि धर्मोंका सम्बन्ध तो जलकी धारासे है, तटसे नहीं। इसलिए मुख्यार्थके साथ लक्ष्यार्थका सम्बन्धरूप लक्षणाका जो दूसरा हेतु बतलाया गया है उसका भी यहाँ अभाव है और तीसरा लक्षणाका हेतु, रूढ़ि तथा प्रयोजनमेंसे किसी एककी स्थितिका होना है उसका भी खण्डन करते हैं कि] और न प्रयोजनको लक्ष्यार्थ माननेमें कोई अन्य प्रयोजन ही है [और उस प्रयोजनको इसलिए भी लक्ष्यार्थ नहीं माना जा सकता है कि] गङ्गा शब्द तटके समान प्रयोजनका प्रतिपादन करनेमें असमर्थ [स्खलद्गति] भी नहीं है। [इसलिए भी प्रयोजनका बोध लक्षणासे नहीं हो सकता है] ॥१६॥

इस प्रकार प्रयोजनको लक्ष्यार्थ मानना सम्भव नहीं है यह बात इस सोलहवीं कारिकामें भली प्रकार सिद्ध कर दी गयी है। फिर भी यदि व्यञ्जनाविरोधी प्रयोजनको लक्ष्यार्थ ही मानना चाहें और उसके लिए प्रयोजनमें भी कोई अन्य प्रयोजन सिद्ध करनेका प्रयत्न करें तो भी यह उचित नहीं होगा, क्योंकि उस दशामें यह दूसरा प्रयोजन भी लक्ष्य होगा, इसलिए उसके लिए तीसरे प्रयोजनकी आवश्यकता होगी। फिर उस तीसरे प्रयोजनके लिए चौथे आदि प्रयोजनोंकी आवश्यकता होनेसे 'अनवस्था-दोष' होगा। यह अनवस्था दोष मूलका ही नाश कर देनेवाला होता है। इसलिए अनवस्थाभयसे भी प्रयोजनको लक्ष्यार्थ नहीं माना जा सकता है। इसी बातको आगे कहते हैं—

[सू० २७]—इस प्रकार भी अनवस्था दोष आ जायगा जो मूलका ही नाश करनेवाला होता है।

इस प्रकार यदि प्रयोजन लक्षित होता है [यह माना जाय] तो उसे अन्य प्रयोजनसे और उसे भी अन्य प्रयोजनसे [लक्षित मानना होगा] इस प्रकार [प्रयोजनकी अविश्रान्त परम्पराकी कल्पनाके कारण मूलभूत प्रथम प्रयोजनरूप] प्रस्तुत अर्थ-प्रतीतिमें भी बाधा डालनेवाली [मूलक्षयकारिणी] अनवस्था होगी।

प्रयोजन-विशिष्टमें लक्षणाका निराकरण

इस प्रकार यहाँतक ग्रन्थकारने यह सिद्ध किया है कि प्रयोजनका बोध लक्षणासे नहीं हो सकता है इसलिए उस प्रयोजनके बोधनके लिए व्यञ्जना-वृत्ति मानना आवश्यक है। परन्तु अभी विशिष्टमें लक्षणा माननेवाला दूसरा पक्ष शेष रह जाता है। विशिष्ट-लक्षणाका अर्थ यह है कि तट आदि लक्ष्यार्थके बोधके साथ-ही-साथ शैत्य-पावनत्वादि प्रयोजनोंका भी बोध हो जाता है। अर्थात् लक्षणा केवल तटका नहीं, अपितु शैत्य-पावनत्वादि प्रयोजन-विशिष्ट तटका बोध कराती है इसलिए उनके बोधके लिए लक्षणा-मूला व्यञ्जना माननेकी आवश्यकता नहीं है। इस विशिष्ट-लक्षणावादका खण्डन ग्रन्थकारने १७ वीं कारिकाके उत्तरार्द्ध तथा १८ वीं कारिकामें किया है। इस प्रसंगमें उन्होंने विशिष्ट-लक्षणावादके खण्डनके लिए जो युक्ति दी है उसका अभिप्राय यह है कि ज्ञानका विषय तथा ज्ञानका फल, ये दोनों अलग-अलग होते हैं। उनको एक साथ मिलाया नहीं जा सकता है। लक्षणाजन्य ज्ञानका विषय तट आदि है और उसका फल शैत्य-पावनत्व आदिका बोध है। इसलिए इन दोनोंका एक साथ न मिलाकर अलग-अलग ही उनकी प्रतीति माननी होगी। क्योंकि विषय तथा फलमें कार्य-कारण-भाव होता है। ज्ञानका विषय ज्ञानका कारण होता है और ज्ञानका फल ज्ञानका कार्य होता है। इसलिए उनकी समकालीन उत्पत्ति नहीं हो सकती है।

ज्ञानका विषय और ज्ञानका फल दोनों अलग-अलग होते हैं। इस बातको सिद्ध करनेके लिए ग्रन्थकारने न्याय तथा मीमांसाकी दार्शनिक प्रक्रियाकी चर्चा की है। उस दार्शनिक सिद्धान्तको समझे बिना इस कारिकाका मौलिक रहस्य समझमें नहीं आ सकता है। इसलिए नैयायिक तथा मीमांसकोंके इस सिद्धान्तको, जिसकी यहाँ चर्चा की गयी है, भली प्रकार समझ लेना आवश्यक है। घट, पट आदि विषयोंका जो ज्ञान होता है उसके विषय घट, पट आदि होते हैं और वे ज्ञानके प्रति कारण होते हैं इसलिए उनकी सत्ता ज्ञानसे पहिले रहती है। सभी दार्शनिक इस सिद्धान्तको मानते हैं। परन्तु ज्ञानका फल क्या होता है इस विषयमें न्याय तथा मीमांसा दर्शनके सिद्धान्तोंमें मतभेद है।

न्यायका अनुव्यवसाय-सिद्धान्त

न्याय-सिद्धान्तके अनुसार पहिले विषयसे उसका ज्ञान उत्पन्न होता है। घट या नील आदि विषयोंका ज्ञान तो प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे हो जाता है। परन्तु ज्ञानका ज्ञान कैसे होता है इस प्रश्नके समाधानके लिए नैयायिक 'अनुव्यवसाय'की कल्पना करते हैं। अनुव्यवसायका अर्थ 'ज्ञानका ज्ञान' है। पहिले 'अयं घटः' इस प्रकारका ज्ञान होता है, उसके बाद 'घटज्ञानवानहम्' या 'घटमहं जानामि' इस प्रकारका ज्ञान होता है। इनमेंसे 'यह घट है' इस प्रकारका पहिला ज्ञान 'व्यवसाय' [illegible] 'मैं घटको जानता हूँ' या 'मुझे घटका ज्ञान हुआ है', यह दूसरा ज्ञान 'अनुव्यवसाय' [illegible] इस प्रकार [illegible] ज्ञानका विषय घट होता है और 'घटमहं [illegible]

[illegible]

ननु पावनत्वादिधर्मयुक्तमेव तटं लक्ष्यते । 'गङ्गायास्तटे घोषः' इत्यतोऽधिकस्यार्थस्य प्रतीतिश्च प्रयोजनमिति विशिष्टे लक्षणा । तत्किं व्यञ्जनयेत्याह—

[सू० २८] प्रयोजनेन सहितं लक्षणीयं न युज्यते ॥१७॥

मीमांसकोंका ज्ञातता-सिद्धान्त

मीमांसकोंका सिद्धान्त इससे थोड़ा भिन्न है । नैयायिकोंने 'अयं घटः' इस ज्ञानके होनेके बाद उससे 'घटज्ञानवानहम्' या 'घटमहं जानामि' इत्यादि रूप 'अनुव्यवसाय'की उत्पत्ति मानी है । परन्तु मीमांसक 'अनुव्यवसाय'के स्थानपर 'ज्ञातता' धर्मकी उत्पत्ति मानते हैं । उनका कहना यह है कि 'अयं घटः' इस प्रकारका ज्ञान होनेके बाद 'ज्ञातो मया घटः' इस प्रकारकी प्रतीति होती है । इस प्रतीतिमें घटमें रहनेवाला 'ज्ञातता' नामक धर्म भासता है । यह धर्म ज्ञानसे पहिले घटमें नहीं था । ज्ञान होनेके बाद आया है । इसलिए वह ज्ञानसे उत्पन्न हुआ है । ज्ञान उसका कारण है । कारणके बिना कार्य उत्पन्न नहीं होता इसलिए ज्ञानके बिना 'ज्ञातता' धर्म भी घटमें उत्पन्न नहीं हो सकता था । परन्तु 'ज्ञातता' धर्म घटमें उत्पन्न हुआ है और 'ज्ञातो मया घटः' इस प्रतीतिमें भास रहा है इसलिए उसका कारण ज्ञान अवश्य होना चाहिये । इस प्रकार 'ज्ञातता'की 'अन्यथा अनुपपत्ति' होनेके कारण 'ज्ञातता'से ज्ञानका ग्रहण होता है, यह मीमांसकोंका सिद्धान्त है ।

अनुव्यवसाय और ज्ञातताका भेद

नैयायिकोंके मतमें ज्ञानका ग्रहण 'अनुव्यवसाय'से होता है और मीमांसकोंके मतमें ज्ञानका ग्रहण 'ज्ञातता'से होता है । नैयायिकका 'अनुव्यवसाय' भी 'अयं घटः' इस ज्ञानसे उत्पन्न होता है और मीमांसकोंकी 'ज्ञातता' भी 'अयं घटः' इस ज्ञानसे ही उत्पन्न होती है । फिर इन दोनोंमें मौलिक अन्तर क्या है जिसके कारण इन दोनोंका अलग सिद्धान्त माना जाय । इस प्रश्नका उत्तर यह है कि नैयायिकका 'अनुव्यवसाय' आत्मामें रहनेवाला धर्म है और मीमांसककी 'ज्ञातता' घट आदि विषयमें रहनेवाला धर्म है । इस भेदके कारण इन दोनोंको अलग सिद्धान्त माना जाता है ।

प्रकृतमें इस सारी चर्चाका प्रयोजन यह है कि जब यह सिद्धान्त मान लिया जाता है कि ज्ञानका विषय और उसका फल अलग अलग होते हैं तब लक्षणाजन्य ज्ञानका विषय तट और उसका फल पुण्यत्व मनोहरत्व या शैत्य पावनत्वादि भी अलग-अलग मानने होंगे और उनकी उत्पत्ति समकालमें मानना सम्भव नहीं होगा । अतएव 'विशिष्ट लक्षणा'का सिद्धान्त भी नहीं माना जा सकता है ।

इसी बातको अगली कारिकामें कहते हैं—

[पूर्वपक्ष]—अच्छा पावनत्व आदि धर्मसे युक्त ही तट लक्षणासे उपस्थित होता है [यह माना जाय तो क्या हानि है ?] और गङ्गाके तटपर घोष है' इससे अधिक [पावनत्वादि विशिष्ट तीर] अर्थकी प्रतीति [इस लक्षणाका] प्रयोजन है । इस प्रकार [पावनत्वादि] विशिष्टमें लक्षणा हो सकती है । तब व्यञ्जना [मानने] से क्या लाभ ? [अर्थात् विशिष्टमें लक्षणा मान लेनेसे ही काम चल जाता है तब अलग व्यञ्जनावृत्तिका मानना व्यर्थ है । [यह पूर्वपक्ष हुआ] इसका उत्तर [अगले सूत्रमें] कहते हैं—

[सूत्र २८]—प्रयोजनके सहित [अर्थात् शैत्य-पावनत्वादि विशिष्ट तीरको] लक्ष्यार्थ [लक्षणीय] मानना सङ्गत नहीं है ॥१७॥

अभिधामूलं त्वाह—

[सू० ३२] अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते ।
संयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृद् व्यापृतिरञ्जनम् ॥१९॥

"संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता ।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः ॥
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः ।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः ॥"

इत्युक्तदिशा

अभिधामूला [व्यञ्जना]

इस प्रकार मीमांसकोंके व्यञ्जना-विरोधी मतका खण्डन करके ग्रन्थकारने व्यञ्जनाको अलग वृत्ति माननेके सिद्धान्तका उपपादन किया। यह व्यञ्जना-वृत्ति 'शाब्दी व्यञ्जना' तथा 'आर्थी व्यञ्जना' भेदसे दो प्रकारकी मानी गयी है। इनमेंसे शाब्दी व्यञ्जनाके भी 'अभिधामूला' तथा 'लक्षणामूला' व्यञ्जना ये दो भेद किये गये हैं। लक्षणाके प्रसङ्गमें प्रयोजनके लिए व्यञ्जनाकी आवश्यकता अनुभवमें आयी इसलिए लक्षणामूला-व्यञ्जनाका निरूपण भी ग्रन्थकारने उसीके साथ कर दिया है। शाब्दी-व्यञ्जनाके दूसरे भेद अभिधामूला-व्यञ्जनाका निरूपण अगली कारिकामें करते हैं—

[सू० ३२]—संयोग आदिके द्वारा अनेकार्थक शब्दोंके वाचकत्वके [किसी एक अर्थमें] नियन्त्रित हो जानेपर [उससे भिन्न] अवाच्य अर्थकी प्रतीति करानेवाला [शब्द-का] व्यापार व्यञ्जना [अर्थात् अभिधामूला-व्यञ्जना कहलाता है] ॥१९॥

एकार्थनियामक हेतु

अनेकार्थक शब्दका एक अर्थमें संयोगादिके द्वारा नियन्त्रण हो जानेपर भी उससे जो अन्य अर्थकी प्रतीति होती रहती है उस प्रतीतिका करानेवाला शब्द व्यापार 'अभिधामूला-व्यञ्जना' नामसे कहा जाता है। यह अभिधामूला-व्यञ्जनाका लक्षण हुआ। अब यहाँ यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि अनेकार्थक शब्दका एकार्थमें नियन्त्रण करनेवाले संयोगादिका क्या अभिप्राय है। इस जिज्ञासाकी निवृत्तिके लिए ग्रन्थकारने अपने व्याकरणानुगत सिद्धान्तके अनुसार भर्तृहरि प्रणीत व्याकरणशास्त्रके प्रसिद्ध ग्रन्थ 'वाक्यपदीय'से दो कारिकाएँ उद्धृत की हैं। जिनका अर्थ निम्नलिखित प्रकार है—

अभिधामूला [व्यञ्जना] को तो कहते हैं—

१ संयोग, २ विप्रयोग, ३ साहचर्य, ४ विरोधिता, ५ अर्थ, ६ प्रकरण, ७ लिङ्ग, ८ अन्य शब्दकी सन्निधि, ९ सामर्थ्य, १० औचित्य, ११ देश, १२ काल, १३ [पुल्लिङ्ग-स्त्रीलिङ्ग आदि रूप] व्यक्ति और १४ स्वर आदि [अनेकार्थक] शब्दके अर्थका निर्णय न होनेपर विशेष अर्थमें निर्णय करानेके कारण होते हैं।

[भर्तृहरि द्वारा प्रतिपादित] इस मार्गसे [निम्नलिखित उदाहरणोंमें अनेकार्थ शब्दोंका एक अर्थमें नियन्त्रण किया जा सकता है]।

भर्तृहरिकी इन कारिकाओंके आधारपर अनेकार्थक शब्दोंका एकार्थमें नियन्त्रण करनेके ये १४ कारण दिखलाये हैं इन सबके उदाहरण दिखलाते हुए आगे उनकी व्याख्या करेंगे। उनमें पहिले 'संयोग' और 'वियोग'के उदाहरण देते हैं—

'सशंखचक्रो हरिः', 'अशंखचक्रो हरिः' इति अच्युते ।
'राम-लक्ष्मणौ' इति दाशरथौ । 'रामार्जुनगतिस्तयोः' इति भार्गव-कार्तवीर्ययोः ।
'स्थाणुं भज भवच्छिदे' इति हरे । 'सर्वं जानाति देवः' इति युष्मदर्थे ।

संयोग और विप्रयोगकी नियामकता

यमानिलेन्द्रचन्द्रार्कविष्णुसिंहांशुवाजिषु ।
शुकाहिकपिभेकेषु हरिर्ना कपिले त्रिषु ॥

अर्थात् पुल्लिङ्गमें प्रयुक्त हरि शब्द यम, अनिल, इन्द्र, चन्द्रमा, सूर्य, विष्णु, सिंह, रश्मि, घोड़ा, तोता, सर्प, बन्दर और मेढकका वाचक होता है और कपिल अर्थात् पीले अर्थमें 'हरि' शब्दका तीनों लिङ्गोंमें प्रयोग हो सकता है ।

इस कोशके अनुसार हरि शब्दके अनेक अर्थ हो सकते हैं परन्तु उसके साथ जब शंख-चक्रके संयोग या विप्रयोगका वर्णन हो तो उन दोनों ही दशाओंमें 'हरि' शब्द विष्णुका ही वाचक होगा । क्योंकि शंख-चक्रका योग तथा वियोग उन्हींके साथ हो सकता है । इसलिए—

'शंख-चक्र सहित हरि' [यहाँ संयोगसे] और 'शंख-चक्रसे रहित हरि' [यहाँ विप्रयोगसे] यह [हरि शब्द] अच्युत में नियन्त्रित होता है] ।

साहचर्य-विरोधकी नियामकता

रामः पशुविशेषे स्याज्जामदग्न्ये हलायुधे ।
राघवे चासिते श्वेते मनोज्ञेऽपि च वाच्यवत् ॥

इस प्रकार राम शब्दके अनेक अर्थ होते हुए भी जब लक्ष्मणके नामके साथ 'रामलक्ष्मणौ' इस रूपमें राम पदका प्रयोग किया जाता है तब साहचर्यके कारण उससे दशरथ-पुत्र रामका ही ग्रहण होता है और जब 'रामार्जुनौ' इस प्रकारका प्रयोग होता है तब परशुराम तथा कार्तवीर्य अर्जुनका विरोध होनेसे विरोधिताके द्वारा उसका परशुराम अर्थमें नियन्त्रण हो जाता है ।

'राम-लक्ष्मण' इस [प्रयोग] में [साहचर्यके कारण राम और लक्ष्मण दोनों शब्दोंका] दशरथके पुत्रमें [नियन्त्रण होता है] और 'रामार्जुनगतस्तयोः' [प्रयोग] में ['राम' और 'अर्जुन' इन दोनों शब्दोंका विरोधिताके कारण क्रमशः] परशुराम तथा कार्तवीर्य अर्जुन अर्थमें [नियन्त्रण होता है] ।

अर्थ और प्रकरणकी नियामकता

इसी प्रकार 'स्थाणु' शब्दके कोशमें निम्नलिखित प्रकार अनेक अर्थ दिखलाये हैं—

स्थाणुर्वाना ध्रुवः शंकुः । स्थाणू रुद्र उमापतिः ।

अर्थात् 'स्थाणु' शब्दके वृक्षका ठूंठ या स्थिर खड़ा हुआ खूँटा तथा शिव आदि अनेक अर्थ होते हैं परन्तु जब उसका प्रयोग संसारसे पार उतारनेकी प्रार्थनामें किया जाय तो वह 'अर्थ' या कार्य केवल शिवसे ही सिद्ध हो सकता है इसलिए उस दशामें 'अर्थ' अर्थात् प्रयोजनके कारण 'स्थाणु' पद शिवका वाचक होगा ।

'संसारसे पार उतरनेके लिए स्थाणुका भजन कर' । यहाँ [स्थाणु शब्द प्रयोजन-रूप अर्थके कारण] शिवमें [नियन्त्रित हो जाता है] ।

[इसी प्रकार] 'देव सब जानते हैं' यहाँ [प्रकरणसे अनेकार्थक 'देव' शब्द] 'आप' [अर्थ] में [नियन्त्रित हो जाता है] ।

'कुपितो मकरध्वजः' इति कामे। 'देवस्य पुरारातेः' इति शम्भौ। 'मधुना मत्तः कोकिलः' इति वसन्ते। 'पातु वो दयितामुखम्' इति साम्मुख्ये। 'भात्यत्र परमेश्वरः' इति राजधानीरूपाद् देशाद्राजनि। 'चित्रभानुर्विभाति' इति दिने रवौ रात्रौ वह्नौ। 'मित्रं भाति' इति सुहृदि। 'मित्रो भाति' इति रवौ।

इन्द्रशत्रुरित्यादौ वेद एव न काव्ये स्वरो विशेषप्रतीतिकृत्।

[इसी प्रकार मकरध्वज पद समुद्र, ओषधि विशेष और कामदेव आदि अनेक अर्थोंका वाचक है। परन्तु] 'मकरध्वज कुपित हो रहा है' यहाँ [लिङ्ग अर्थात् कोप-रूप चिह्नसे मकरध्वज पद] कामदेवमें [नियन्त्रित हो जाता है]।

'पुरारि देवका' यहाँ [अनेकार्थक 'देव' शब्द पुराराति रूप अन्य शब्दके सन्नि-धानके कारण] 'शम्भु' अर्थमें [नियन्त्रित हो जाता है]।

'कोकिल मधुसे मत्त हो रहा है' यहाँ [कोकिलाको मत्त करनेका सामर्थ्य केवल वसन्तमें होनेसे 'मधु' शब्द सामर्थ्य-वश] 'वसन्त' अर्थमें [नियन्त्रित हो जाता है]।

'पत्नीका मुख तुम्हारी रक्षा करे' इसमें [अनेकार्थक 'मुख' शब्द औचित्यके कारण 'साम्मुख्य' अर्थात्] 'आनुकूल्य' अर्थमें [नियन्त्रित हो जाता है]।

'यहाँ परमेश्वर शोभित होते हैं' इसमें राजधानीरूप देशके कारण [अनेका-र्थक 'परमेश्वर' शब्द] 'राजा' अर्थमें [नियन्त्रित हो जाता है]।

'चित्रभानु चमक रहा है' यहाँ [अनेकार्थक चित्रभानु शब्द] दिनमें 'सूर्य' अर्थमें, और रात्रिमें 'अग्नि' अर्थमें [कालके कारण नियन्त्रित हो जाता है]।

'मित्रं भाति' 'मित्रशोभित होता है' यह [नपुंसकलिङ्गमें प्रयुक्त हुआ अनेकार्थक 'मित्र' शब्द 'व्यक्ति' अर्थात् लिङ्गके कारण] 'सुहृत्' अर्थमें [नियन्त्रित हो जाता है]।

'मित्रो भाति' [पुल्लिङ्गमें प्रयुक्त हुआ अनेकार्थक 'मित्र' शब्द लिङ्गके ही सामर्थ्यसे] सूर्य अर्थमें [नियन्त्रित हो जाता है। सुहृत्का वाचक मित्र शब्द नपुंसक-लिङ्गमें और सूर्यका वाचक मित्रशब्द पुल्लिङ्गमें प्रयुक्त होता है]।

ऊपर भर्तृहरिकी जो कारिकाएँ उद्धृत की थीं उनमें अनेकार्थ शब्दका एकार्थमें नियन्त्रण करनेवाले संयोगादि १४ हेतु बतलाये थे। उनमें १३ के उदाहरण दिखला दिये गये। [illegible] हेतु 'स्वर' कहा गया है। यह उदात्त आदि स्वरोंका भेद वेदमें ही अर्थभेदका नियामक होता है काव्यमें नहीं। इसलिए यहाँ उसका उदाहरण नहीं दिया गया है। इस बातको कहते हैं—

'इन्द्रशत्रु' आदिमें वेदमें ही स्वर अर्थविशेषका बोधक होता है, काव्यमें नहीं [इसलिए उसके लौकिक उदाहरण नहीं दिये हैं]।

स्वरभेदका प्रभाव

'इन्द्रशत्रु' यह स्वरका [illegible] प्रयोग [illegible] अर्थभेद [illegible] यह भी उन्होंने [illegible] परम्पराके [illegible] व्याकरणके [illegible] महाभाष्यमें व्याकरणके [illegible] १४ प्रयोजन बतलाये हैं। [illegible] भी व्याकरणका एक प्रयोजन [illegible] गया है। [illegible]

"दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥

आदिग्रहणात्—

एद्दहमेत्तत्थणिआ एद्दहमेत्तेहि अच्छिवत्तेहि ।
एद्दहमेत्तावत्था एद्दहमेत्तेहि दिअएहिं ॥ ११ ॥
[एतावन्मात्रस्तनिका एतावन्मात्राभ्यामक्षिपत्राभ्याम् ।
एतावन्मात्रावस्था एतावन्मात्रैर्दिवसैः ॥ इति संस्कृतम्]

इत्यादावभिनयादयः ।

इत्थं संयोगादिभिरर्थान्तराभिधायकत्वे निवारितेऽप्यनेकार्थस्य शब्दस्य यत् क्वचिदर्थान्तरप्रतिपादनम्, तत्र नाभिधा नियमनात् तस्याः । न च लक्षणा मुख्यार्थ-बाधाद्यभावात् । अपितु अञ्जनं व्यञ्जनमेव व्यापारः । यथा—

इस श्लोकमे 'इन्द्रशत्रु' सम्बन्धी जिस घटनाका सकेत किया गया है उस कथाका उल्लेख तैत्तिरीयसहिताके द्वितीय काण्डके पञ्चम प्रपाठकमे पाया जाता है, जिसका साराश यह है कि—त्वष्टाका पुत्र विश्वरूप, जो असुरोका भानजा भी होता था, देवताओका पुरोहित था । वह प्रत्यक्षरूपसे देवताओका कार्य करता था परन्तु परोक्षरूपसे असुरोका भी कार्य करता रहता था । इसलिए इन्द्रने क्रुद्ध होकर वज्रसे उसका सिर काट दिया । उसके मारे जानेपर त्वष्टाने इन्द्रको मारनेवाले दूसरे पुत्रको उत्पन्न करनेके लिए यज्ञका आरम्भ किया । उस यज्ञमे उसने 'इन्द्रशत्रुर्वधस्व' आदि मन्त्रका 'ऊह' करके पाठ किया । उसका अभिप्राय यह था कि 'इन्द्रके मारनेवाले पुत्रकी वृद्धि हो' । 'शत्रु' शब्द यहाँ 'शातयिता' मारनेवालेके अर्थमे प्रयुक्त हुआ है । 'इन्द्रशत्रु' पदमे दो प्रकारके समास हो सकते हैं । एक 'इन्द्रस्य शत्रुः शातयिता इन्द्रशत्रु' अर्थात् इन्द्रका मारनेवाला इस अर्थमे षष्ठीतत्पुरुष समास हो सकता है और दूसरा 'इन्द्रः शत्रुः शातयिता यस्य स इन्द्रशत्रुः' 'इन्द्र जिसको मारनेवाला है' इस विग्रहमे बहुव्रीहि समास हो सकता है । इन दोनो समासोसे शब्दका अर्थ बिलकुल उल्टा हो जाता है । एक जगह षष्ठीतत्पुरुष समासमे 'इन्द्रको मारने वालेपुत्रकी वृद्धि हो' यह अर्थ होता है और दूसरी ओर बहुव्रीहि समासमे 'इन्द्र जिसको मारे' अर्थात् जिसकी मृत्यु इन्द्रके हाथसे हो उस पुत्रकी उत्पत्ति हो, यह अर्थ हो जाता है । इनमेसे षष्ठीतत्पुरुष समासवाला अर्थ यजमानको अभीष्ट था । उस षष्ठीतत्पुरुष समासमे 'अन्तोदात्त' स्वरका प्रयोग होना चाहिये था, परन्तु मन्त्र पढते समय उसने 'इन्द्रशत्रु' शब्दका 'आद्युदात्त' उच्चारण किया, जिससे प्रार्थनाका अर्थ ही उल्टा हो गया । इस प्रकार अन्तोदात्त और आद्युदात्त स्वरके भेदसे अनेकार्थक वेदमे ही 'इन्द्रशत्रु' शब्द-का भिन्न-भिन्न अर्थोमे नियन्त्रण होता है । अतः यहाँ स्वरके उदाहरण नहीं दिये हैं ।

संकेतकी नियामकता

कारिकामे आदि [पदके] ग्रहण किये जानेसे—

इतने बड़े स्तनोंवाली, इतनी बड़ी आँखोंसे [उपलक्षित वह तरुणी] इतने दिनोंमें ऐसी हो गयी ॥११॥

इत्यादिमें अभिनय आदि [इतनसकेत एकार्थमें नियन्त्रण करनेवाले होते हैं]।

इस प्रकार संयोग आदिके द्वारा अन्य अर्थके बोधकत्वका निवारण हो जानेपर भी अनेकार्थ जो कहीं दूसरे अर्थका प्रतिपादन करता है, वहाँ अभिधा नहीं हो सकती है, क्योंकि उसका नियन्त्रण हो चुका है और मुख्यार्थबाध आदिके न होनेसे लक्षणा भी नहीं हो सकती है । अपितु अञ्जन अर्थात् व्यञ्जनाव्यापार ही होता है । जैसे—

भद्रात्मनो दुरधिरोहतनोर्विशालवंशोन्नतेः कृतशिलीमुखसंग्रहस्य ।
यस्यानुपप्लुतगतेः परवारणस्य दानाम्बुसेकसुभगः सततं करोऽभूत् ॥१२॥

[सू० ३३] तद्युक्तो व्यञ्जकः शब्दः ।

तद्युक्तो व्यञ्जनयुक्तः ।

[सू० ३४] यत् सोऽर्थान्तरयुक् तथा ।
अर्थोऽपि व्यञ्जकस्तत्र सहकारितया मतः ॥२०॥

तथेति व्यञ्जकः ।

इति काव्यप्रकाशे शब्दार्थस्वरूपनिर्णयो नाम द्वितीय उल्लासः ।

निम्नलिखित श्लोकमें किसी राजाकी स्तुति की जा रही है। इसलिए उसमें जितने अनेकार्थक शब्द आये हैं उन सबका प्रकरणसे एक अर्थमें नियन्त्रण हो जाता है। फिर भी उसमें हाथी-परक दूसरे अर्थ और उसके साथ उपमानोपमेयभावकी भी प्रतीति होती है। राजाके सारे विशेषण हाथीके पक्षमें भी लगते हैं। वह दूसरी प्रतीति अभिधामूला व्यञ्जनासे ही होती है इस बातके प्रतिपादनके लिए यह उदाहरण है।

सुन्दर रूपवाले, दूसरोंसे अनभिभवनीय शरीरसे युक्त, उच्च कुलमें उत्पन्न, जिसने बाणोंका संग्रह [दृढ़ अभ्यास] कर रखा है, जिसकी गति [अथवा ज्ञान अनुपप्लुत अर्थात्] अबाधित है और जो [पर अर्थात्] शत्रुओंका निवारण करनेवाला है उस राजाका हाथ [हाथीके सूँड़के समान] सदा दानके [संकल्प पढ़कर छोड़े जानेवाले] जलसे सुन्दर रहता था।

इस प्रकार राजा-परक अर्थ हो जानेपर हाथी-परक दूसरा अर्थ इस प्रकार प्रतीत होता है—

भद्र जातिवाले, जिसके ऊपर चढ़नेमें कठिनाई होती है [अर्थात् बहुत ऊँचे], जिसकी पीठकी हड्डी [वंश] बहुत विशाल और उन्नत है, जिसकी गति [अनुपप्लुत अर्थात्] धीर है और जिसने [अपने मद-जलके कारण बहुत-से] भ्रमरोंका संग्रह कर रखा है इस प्रकारके [परवारण अर्थात्] उत्तम हाथीकी [कर अर्थात्] सूँड़ [के समान राजाका हाथ] मद-जलके बहनेसे सदा सुन्दर मालूम होती है ॥ १२ ॥

शाब्दी व्यञ्जनामें अर्थका सहयोग

इस प्रकार शब्द-व्यञ्जनाके लक्षणामूला तथा अभिधामूला दोनों भेदोंका निरूपण हो जानेके बाद उसमें अर्थकी सहकारिताका प्रतिपादन करते हैं—

[सू० ३३]—उस [व्यञ्जना-व्यापार] से युक्त शब्द व्यञ्जक [शब्द कहलाता] है।

उससे युक्त अर्थात् व्यञ्जना-व्यापारसे युक्त।

[सू० ३४]—और क्योंकि वह [व्यञ्जक शब्द] दूसरे अर्थके योगसे [अर्थात् अपने मुख्यार्थको बोधन करनेके बाद] उस प्रकारका [अर्थात् दूसरे अर्थका व्यञ्जक] होता है, इसलिए उसके साथ सहकारी रूपमें अर्थ भी व्यञ्जक होता है।

काव्यप्रकाशमें शब्द और अर्थके स्वरूपका निरूपण नामक
द्वितीय उल्लास समाप्त हुआ

श्रीमदाचार्य-विश्वेश्वरसिद्धान्तशिरोमणि विरचितायां काव्यप्रकाशदीपिकायां
हिन्दी-व्याख्यायां द्वितीय उल्लासः समाप्तः ।

क्रमेणोदाहरणानि—

अइपिहुलं जलकुंभं घेत्तूण समागदम्हि सहि तुरिअम् ।
समसेअसलिलणीसासणीसहा वीसमामि खणम् ॥१३॥
[अतिपृथुलं जलकुम्भं गृहीत्वा समागतास्मि सखि त्वरितम् ।
श्रमस्वेदसलिलनिःश्वासनिःसहा विश्राम्यामि क्षणम् । इति संस्कृतम्]

अत्र चौर्यरतगोपनं व्यज्यते ।

ओण्णिद्दं दोव्वल्लं चिंता अलसत्तणं सणीससिअम् ।
मह मंदभाइणीए केरं सहि तुह वि अहह परिहवइ ॥१४॥
[औन्निद्र्यं दौर्बल्यं चिन्तालसत्वं सनिःश्वसितम् ।
मम मन्दभागिन्याः कृते सखि त्वामपि अहह परिभवति ॥ इति संस्कृतम्]

अत्र दूत्यास्तत्कामुकोपभोगो व्यज्यते ।

[आर्थी व्यञ्जनाके उन दसों प्रकारोंके] क्रमशः उदाहरण [देते हैं]—

१. वक्ताके वैशिष्ट्यमें व्यञ्जनाका उदाहरण

हे सखि, मैं बड़ा भारी पानीका घड़ा लेकर भागी चली आ रही हूँ। परिश्रमके कारण पसीना और निःश्वाससे परेशान हो गयी हूँ, इसलिए थोड़ी देर [यहाँ बैठकर] सुस्ताऊँगी ॥१३॥

इसमें [वक्ताके वैशिष्ट्यसे] चौर्यरत छिपानेकी प्रतीति होती है।

इसका अभिप्राय यह है कि कोई स्त्री पानी भरनेके बहाने उपनायकके पास गयी और उसके साथ सम्भोग करके आ रही है। छिपकर किये गये इस सुरतके चिह्नरूप पसीना आदि उसके मुखपर स्पष्टरूपसे व्यक्त हो रहे हैं। उनको देखकर शायद सखी चौर्यरतकी शङ्का कर बैठे, इसलिए कहने-वाली स्त्री उस शङ्काके निवारणके लिए पहिले ही कह देती है कि पानीका घड़ा लेकर और जल्दी जल्दी चलकर आनेके कारण यह सब हो रहा है। अर्थात् इस प्रकार वह अपने चौर्यरतको छिपानेका प्रयत्न कर रही है, यह बात वक्ताके वैशिष्ट्यसे व्यङ्ग्य है।

२. बोद्धव्यके वैशिष्ट्यमें व्यञ्जनाका उदाहरण

आगे बोद्धव्यके वैशिष्ट्यमें व्यञ्जनाका उदाहरण देते हैं—

हे सखि, मुझ मन्दभागिनीके कारण नींदका न आना, दुर्बलता, चिन्ता, आलस्य, निःश्वास आदि तुमको भी भोगने पड़ रहे हैं, यह बड़े खेदकी बात है ॥१४॥

इसमें दूतीका उस [नायिका] के कामुकके साथ भोग व्यङ्ग्य है।

हिन्दीके निम्नलिखित पद्यको वक्ता तथा बोद्धव्य दोनोंके वैशिष्ट्यमें विशेष अर्थकी व्यञ्जनाके उदाहरणके रूपमें प्रस्तुत किया जा सकता है—

यहि अवसर निज कामना निज पूरन करि लेहु ।
ये दिन फिर ऐहैं नहीं यह क्षण भंगुर देहु ॥

दोहेका अर्थ स्पष्ट है। यदि इसका वक्ता या बोद्धव्य कोई कामुक व्यक्ति है तो उससे विषय-वासनाकी पूर्ति व्यङ्ग्य होगी और यदि उसका वक्ता या बोद्धव्य कोई विरक्त पुरुष है तो उससे धर्म-साधना या मोक्ष प्राप्ति व्यङ्ग्य होगी। इस प्रकार यह एक ही दोहा वक्ता और बोद्धव्य दोनोंके वैशिष्ट्यमें होनेवाली आर्थी व्यञ्जनाका उदाहरण है।

तथाभूतां दृष्ट्वा नृपसदसि पाञ्चालतनयां
वने व्याधैः सार्धं सुचिरमुषितं वल्कलधरैः ।
विराटस्यावासे स्थितमनुचितारम्भनिभृतं
गुरुः खेदं खिन्ने मयि भजति नाद्यापि कुरुषु ॥१५॥

अत्र मयि न योग्यः खेदः कुरुषु तु योग्य इति काक्वा प्रकाश्यते ।

---

३. काकुके वैशिष्ट्यमें व्यञ्जनाका उदाहरण

इस प्रकार वक्ता तथा बोद्धव्यके वैशिष्ट्यमें 'आर्थी व्यञ्जना'के दो उदाहरण देनेके बाद 'काकु' द्वारा व्यञ्जनाका तीसरा उदाहरण देते हैं। 'काकु' शब्दका अर्थ विशेष प्रकारकी कण्ठध्वनि, अर्थात् बोलनेका विशेष प्रकारका लहजा होता है। उस बोलनेके विशेष ढंगसे भी अर्थकी व्यञ्जना होती है। इसके प्रतिपादनके लिए 'वेणीसंहार' नाटकके प्रथम अङ्कमेंसे भीमकी उक्तिको उदाहरणरूपमें प्रस्तुत किया गया है। इस प्रसङ्गमें भीम और सहदेवका संवाद हो रहा है। भीमके क्रोधको देखकर सहदेव भीमसे कहते हैं कि आपके इस प्रकारके व्यापारको सुनकर 'कदाचित् खिद्यते गुरुः' शायद गुरु अर्थात् युधिष्ठिर नाराज हों। उसके उत्तरमें भीमसेन कह रहे हैं कि 'गुरुः खेदमपि जानाति' अच्छा, गुरु अर्थात् युधिष्ठिर नाराज होना भी जानते हैं तो फिर—

उस राजसभामें पाञ्चाली [द्रौपदी] की उस प्रकारकी [बाल तथा वस्त्र खींचे जानेकी] अवस्थाको देखकर [गुरु नाराज नहीं हुए, उनको क्रोध नहीं आया] फिर वनमें वल्कल धारण कर चिरकाल [बारह वर्ष] तक व्याधोंके साथ रहते रहे [तब भी उनको क्रोध नहीं आया] फिर विराटके घरमें [रसोइया आदिके] अनुचित कार्योंको करके छिपकर जो रहते रहे [उस समय भी गुरुको क्रोध नहीं आया] और आज भी उनको कौरवोंपर तो क्रोध नहीं आ रहा है। पर मैं कौरवोंपर क्रोध करता हूँ तो मेरे ऊपर नाराज होते हैं ॥१५॥

यहाँ मेरे ऊपर नाराज होना उचित नहीं है। कौरवोंपर नाराज होना उचित है यह 'काकु'से प्रकाशित होता है।

काक्वाक्षिप्तकी ध्वनिरूपतामें शङ्का-समाधान

यहाँ एक शङ्का यह हो सकती है कि आगे चलकर पञ्चम उल्लासमें गुणीभूतव्यङ्ग्य [illegible] के आठ भेदोंकी गणना करायी है, उनमें 'वाच्यसिद्ध्यङ्गव्यङ्ग्य' और 'काक्वाक्षिप्तव्यङ्ग्य' नामसे गुणीभूतव्यङ्ग्यके दो भेद गिनाये गये हैं और वहाँ भी 'वेणीसंहार'से ली गयी भीमकी इसी प्रकारकी निम्नलिखित उक्तिको काक्वाक्षिप्तव्यङ्ग्यके उदाहरणरूपमें प्रस्तुत किया गया है—

मथ्नामि कौरवशतं समरे न कोपात्
दुःशासनस्य रुधिरं न पिबाम्युरस्तः ।
सञ्चूर्णयामि गदया न सुयोधनोरू
सन्धिं करोतु भवतां नृपतिः पणेन ॥

[illegible]

न च वाच्यसिद्ध्यङ्गमत्र काकुरिति गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वं शङ्क्यम् । प्रश्नमात्रेणापि काकोर्विश्रान्तेः ।

तइआ मह गंडत्थलणिमिअं दिट्ठिं ण णेसि अण्णत्तो ।
एण्हिं सच्चेअ अहं ते अ कवाला ण सा दिट्ठी ॥१६॥
[तदा मम गण्डस्थलनिमग्नां दृष्टिं नानैषीरन्यत्र ।
इदानीं सैवाहं तौ च कपोलौ न सा दृष्टिः ॥ इति संस्कृतम्]

अत्र मत्सखीं कपोलप्रतिबिम्बितां पश्यतस्ते दृष्टिरन्यैवाभूत । चलितायां तु तस्यां अन्यैव जातेत्यहो प्रच्छन्नकामुकत्वं ते, इति व्यज्यते ।

करके ही रहूँगा । यहाँ 'काकु'से आक्षिप्त अर्थ होनेसे इसे गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य माना गया है । 'तथा भूताम्' इत्यादि प्रकृत उदाहरण भी उसी प्रकारका है, इसलिए इसे भी काक्वाक्षिप्त होनेसे अथवा वाच्य-सिद्धिका अङ्ग होनेसे गुणीभूतव्यङ्ग्य ही मानना उचित है । फिर उसे ध्वनि काव्यके उदाहरणरूपमें कैसे प्रस्तुत किया गया है ? यह शङ्का हो सकती है ? उसके निवारणके लिए ग्रन्थकार कहते हैं कि—

यहाँ काकु [से लभ्य अर्थ] वाच्यकी सिद्धिका अङ्ग है, इसलिए गुणीभूतव्यङ्ग्य [काव्य] है [ध्वनिकाव्य नहीं है] यह शङ्का नहीं करनी चाहिये। क्योंकि प्रश्नमात्रसे भी काकुकी विश्रान्ति हो सकती है । [अर्थात् यहाँ काकु केवल प्रश्नमात्रमें ही विश्रान्त हो जाती है । उससे व्यङ्ग्यार्थ आक्षिप्त नहीं होता है ।]

इसका अभिप्राय यह है कि काकुसे एक तो यह प्रश्न निकलता है कि गुरु मेरे ऊपर नाराज हो गये हैं, कौरवोंपर नहीं ? और दूसरी बात प्रतीत होती है कि युधिष्ठिरका मुझपर क्रोध करना उचित नहीं है, इनको मेरे स्थानपर कौरवोंपर क्रोध करना चाहिये था । यह दूसरी बात व्यङ्ग्य अर्थ है । परन्तु वह काकुसे जो प्रश्न सूचित होता है उसकी सिद्धिका अङ्ग प्रतीत होता है, इसलिए वाच्यसिद्धिका अङ्ग होनेसे यह गुणीभूतव्यङ्ग्य होना चाहिये यह पूर्वपक्षका भाव है । ग्रन्थकार उसके उत्तरमें कहते हैं कि इस व्यङ्ग्य अर्थको काकुका अङ्ग माननेकी आवश्यकता नहीं है । क्योंकि यह काकुकी विश्रान्ति तो प्रश्नमात्रमें ही हो सकती है, उससे व्यङ्ग्यार्थ आक्षिप्त नहीं होता है । इसलिए यहाँ व्यङ्ग्य अर्थ न काक्वाक्षिप्त ही है और न वाच्यकी सिद्धिका अङ्ग ही है । अतः यह ध्वनिकाव्यका उदाहरण हो सकता है । गुणीभूतव्यङ्ग्य नहीं है । वैसे तो यह ध्वनिकाव्यके उदाहरणरूपमें नहीं, केवल काकुकी व्यञ्जकताका उदाहरण दिया गया है । काकुसे व्यङ्ग्य वह अर्थ, चाहे गुणीभूत हो या प्रधान, इससे प्रकृत उदाहरणमें कोई अन्तर नहीं पडता है ।

हिन्दीमें 'सोह कि कोकिल विपिन करीरा' यह पद्यांश 'काकु'की व्यञ्जनाका सुन्दर उदाहरण है । उसे पढते ही स्पष्ट हो जाता है कि करीरके वनमें कोकिल शोभित नहीं हो सकता है ।

४. वाक्यवैशिष्ट्यमें व्यञ्जनाका उदाहरण

उस समय मेरे गालपर गड़ायी हुई [अपनी] दृष्टिको कहीं और नहीं ले जा रहे थे । अब मैं वही हूँ, मेरे गाल भी वे ही हैं, किन्तु तुम्हारी वह [मेरे गालपर ही गड़ी रहनेवाली] दृष्टि नहीं है ॥१६॥

यहाँ मेरे गालपर प्रतिबिम्बित मेरी सखीको देखते हुए तुम्हारी दृष्टि कुछ और ही प्रकारकी थी, उसके चले जानेपर कुछ और ही हो गयी है इसलिए तुम्हारे कामु-कत्वपर आश्चर्य होता है । यह [अर्थ नायिकाके वाक्यसे] व्यक्त होता है ।

उद्देशोऽयं सरसकदलीश्रेणिशोभातिशायी
कुञ्जोत्कर्षाङ्कुरितरमणीविभ्रमो नर्मदायाः ।
किञ्चैतस्मिन् सुरतसुहृदस्तन्वि ते वान्ति वाता
येषामग्रे सरति कलिताकाण्डकोपो मनोभूः ॥१७॥

अत्र रतार्थं प्रविशेति व्यङ्ग्यम् ।

---

५. वाच्यवैशिष्ट्यमें व्यञ्जनाका उदाहरण

हे तन्वि [इस विशेषणसे मदनवेदना-ग्रस्तत्व सूचित होता है], सरस हरी-हरी केलोंकी पंक्तिसे अत्यन्त सुन्दर लगनेवाला और कुञ्जोंके उत्कर्षके कारण रमणियोंके हाव-भावोंको अङ्कुरित कर देनेवाला नर्मदा [केवल सामान्य नदीमात्र नहीं अपितु 'नर्म रतिसुखं ददाति इति नर्मदा' जो असाधारण रतिसुखका प्रदान करनेवाली है उसी] का ऊँचा प्रदेश है और वहाँ सुरतके मित्र [पुनः-पुनः सुरतके लिए उत्तेजना देनेवाले] वे वायु बहते हैं जिनके आगे [वसन्त आदि रूप] अवसरके न होनेपर भी चाप धारण किये हुए [अत्यन्त उग्र रूपमें उत्तेजना देनेवाला] कामदेव चलता है ॥१७॥

यहाँ सुरतके लिए [कुञ्जके] भीतर चलो यह [वाच्यवैशिष्ट्यसे] व्यङ्ग्य है ।

यहाँ नर्मदाके उन्नत प्रदेशरूप स्थानविशेष तथा उसके विशेषणीभूत वायु, कुञ्ज आदि रूप वाच्यके वैशिष्ट्यसे उक्त व्यङ्ग्यकी प्रतीति होती है, इसलिए यह वाच्यवैशिष्ट्यका उदाहरण दिया गया है।

वाक्य और वाच्य वैशिष्ट्यका अन्तर

वक्ता और बोद्धव्यके वैशिष्ट्यमे जैसे आर्थी-व्यञ्जनाके दो भेद अलग-अलग कहे गये हैं, उसी प्रकार 'वाक्य' और 'वाच्य'के वैशिष्ट्यकृत भेदसे भी आर्थी-व्यञ्जनाके दो अलग-अलग भेद माने गये है । इन भेदोमे भी एक ही उदाहरण दोनो भेदोका बन सकता है । उनमें केवल प्राधान्य-अप्राधान्यकी विवक्षासे ही अन्तर हो जाता है । जब 'वक्ता'का प्राधान्य विवक्षित हो तब वही पद्य वक्तृ-वैशिष्ट्यका उदाहरण बन जाता है और जब 'बोद्धव्य'का प्राधान्य विवक्षित हो तब वही पद्य बोद्धव्य-वैशिष्ट्यका उदाहरण बन सकता है । इसी प्रकार जहाँ 'वाक्य'का प्राधान्य विवक्षित हो वहाँ वही पद्य 'वाक्य-वैशिष्ट्य'का उदाहरण हो सकता है और जहाँ उसके 'वाच्य' अर्थका प्राधान्य विवक्षित हो वहाँ वही वाच्य-वैशिष्ट्यका उदाहरण बन सकता है। यह केवल विवक्षाके ऊपर आश्रित भेद है ।

दोनोंका एक हिन्दी उदाहरण

हिन्दीमें बिहारीका निम्नलिखित दोहा वाक्य-वैशिष्ट्य तथा वाच्य-वैशिष्ट्य दोनोंमें होनेवाली आर्थी-व्यञ्जनाका सुन्दर उदाहरण है—

घाम घरीक निवारिये कलित-ललित अलिपुञ्ज ।
जमुना तीर तमाल तरु मिलति मालती-कुञ्ज ॥

यह स्वय रमणोत्सुका नायिकाकी उक्ति है। इसका अर्थ यह है कि यमुनाके किनारे तमाल-वृक्षके पास घनी मालतीके कुञ्जमें भ्रमरगण मनोहर गुञ्जार कर रहे है, वहाँ तनिक देर बैठकर धूपसे बचकर आराम कर लो । इसमे रमणके लिए इस मालती-कुञ्जमें प्रवेश करो, यह अर्थ वाक्य तथा वाच्य दोनोंमे व्यङ्ग्य है। अत वाक्य-वैशिष्ट्य और वाच्य-वैशिष्ट्य दोनोंमे होनेवाली व्यञ्जनाका यह एक ही उदाहरण है । प्रस्ताव, देश और अन्यसन्निधिके वैशिष्ट्यमें भी यह पद्य उदाहरण बन सकता है ।

णोल्लेइ अणोल्लमणा अत्ता मं घरभरम्मि सअलम्मि ।
खणमेत्तं जइ संझाइ होइ ण व होइ वीसामो ॥१८॥

[नुदत्यनार्द्रमनाः श्वश्रूर्मां गृहभरे सकले ।
क्षणमात्रं यदि सन्ध्याया भवति न वा भवति विश्रामः ॥ इति संस्कृतम्]

अत्र सन्ध्या सङ्केतकाल इति तटस्थं प्रति कयाचिद् द्योत्यते ।

सुव्वइ समागमिस्सदि तुज्झ पिओ अज्ज पहरमेत्तेण ।
एमे अ कित्ति चिट्ठसि ता सहि सज्जेसु करणिज्जम् ॥१९॥

[श्रूयते समागमिष्यति तव प्रियोऽद्य प्रहरमात्रेण ।
एवमेव किमिति तिष्ठसि तत् सखि सज्जय करणीयम् ॥ इति संस्कृतम्]

अत्रोपपतिं प्रत्यभिसर्तुं प्रस्तुता न युक्तमिति कयाचिन्निवार्यते ।

अन्यत्र यूयं कुसुमावचायं कुरुध्वमत्रास्मि करोमि सख्यः ।
नाहं हि दूरं भ्रमितुं समर्था प्रसीदतायं रचितोऽञ्जलिर्वः ॥२०॥

अत्र विविक्तोऽयं देश इति प्रच्छन्नकामुकस्त्वयाभिसार्यतामिति आश्वस्तां प्रति कयाचिन्निवेद्यते ।

---

६. अन्यसन्निधिके वैशिष्ट्यमें व्यञ्जनाका उदाहरण

निर्दय [अनार्द्रमनाः] सास घरके सारे काम मुझसे ही कराती है इसलिए कभी मिलता है तो शामके समय थोड़ा-सा विश्राम मिल जाता है नहीं तो कभी वह भी नहीं मिलता है ॥१८॥

यहाँ सन्ध्याका समय सङ्केतकाल है यह बात [गुरुजन आदिकी सन्निधिके वैशिष्ट्यसे दूत आदिरूप किसी] तटस्थके प्रति [नायिका] के द्वारा सूचित की जा रही है ।

यहाँ अन्य लोगोंके पासमें उपस्थित होनेके कारण स्पष्टरूपसे सङ्केतकाल आदिके विषयमें बात करना सम्भव न होनेसे इस प्रकारसे तटस्थ दूत आदिको सन्ध्याके समय मिलनेका अवसर निकल सकता है यह बात व्यञ्जनासे सूचित की गयी है ।

७. प्रस्तावके वैशिष्ट्यमें व्यञ्जनाका उदाहरण

हे सखि, सुनते हैं कि तुम्हारे प्रिय आज पहरभरके भीतर आ जायँगे । तो ऐसे ही क्यों बैठी हो [उनके लिए भोजन या अपने शृङ्गार आदि] करने योग्य कार्योंकी तैयारी करो ॥१९॥

यहाँ उपपतिके पास जानेके लिए उद्यत किसी [अभिसारिका] को उसकी सखी मना कर रही है कि [अब] यह [अभिसार करना] उचित नहीं है ।

८. देशके वैशिष्ट्यमें व्यञ्जनाका उदाहरण

हे सखियो, तुम कहीं और जाकर फूल तोड़ो, यहाँ मैं तोड़ रही हूँ । मैं दूर चलनेमें समर्थ नहीं हूँ । इसलिए तुम्हारे हाथ जोड़ती हूँ मुझपर कृपा करो [और आप और कहीं जाकर अपना काम करो । यहाँ मुझे अपना काम करने दो] ॥२०॥

यहाँ यह एकान्त-स्थान है इसलिए प्रच्छन्न कामुकको तुम यहाँ भेज दो यह अपनी किसी विश्वस्त सहेलीके प्रति कोई कह रही है ।

गुरुअणपरवस पिअ किं भणामि तुह मंदभाइणी अहकम् ।
अज्ज पवासं वच्चसि वच्च सअं जेव्व सुणसि करणिज्जम् ॥२१॥
[गुरुजनपरवश प्रिय किं भणामि तव मन्दभागिनी अहकम् ।
अद्य प्रवासं व्रजसि व्रज स्वयमेव श्रोष्यसि करणीयम् ॥ इति संस्कृतम्]

अत्राद्य मधुसमये यदि व्रजसि तदाहं तावत न भवामि, तव तु न जानामि गतिमिति व्यज्यते ।

आदिग्रहणाच्चेष्टादेः । तत्र चेष्टाया यथा—

द्वारोपान्तनिरन्तरे मयि तया सौन्दर्यसारश्रिया
प्रोल्लास्योरुयुगं परस्परसमासक्तं समासादितम् ।
आनीतं पुरतः शिरोऽशुकमधः क्षिप्ते चले लोचने
वाचस्तत्र निवारितं प्रसरणं सङ्कोचिते दोर्लते ॥२२॥

अत्र चेष्टया प्रच्छन्नकान्तविषय आकूतविशेषो ध्वयन्ते ।

---

९. कालके वैशिष्ट्यमें व्यञ्जनाका उदाहरण

इस प्रकार देशके वैशिष्ट्यमें व्यञ्जकत्वका उदाहरण देनेके बाद अब कालके वैशिष्ट्यमें व्यञ्जकत्वका उदाहरण आगे देते हैं—

गुरुजनोंके परवश हे प्रिय ! मैं मन्दभागिनी तुमसे क्या कहूँ [वस्तुतः तो न तुम जाना चाहते हो और न मैं भेजना चाहती हूँ । परन्तु माता-पिता आदि गुरुजनोंकी आज्ञाके कारण] आज [इस वसन्तकालमें] यदि जा रहे हो तो जाओ, [आगे] क्या करना चाहिये यह बात [मेरी मृत्युके बाद] तुमको स्वयं सुननेको मिल जायगी ॥२१॥

यहाँ आज वसन्तके समय यदि तुम जाते हो तो मैं तो जीवित न रहूँगी, तुम्हारी क्या गति होगी यह मैं नहीं जानती । यह व्यक्त होता है ।

हिन्दीमें निम्नलिखित सवैया कालकी व्यञ्जकताका सुन्दर उदाहरण हो सकता है—

भूमि हरी पै प्रवाह बह्यो जल मोर नचै गिरि पै मतवारे ।
चञ्चला त्यों चमकै 'लखिराम' चढे चहुँ ओरन ते घन कारे ॥
जान दे वीर विदेस उन्हें कछु बोल न बोलिये पावस प्यारे ।
आइहैं ऊबि घरीमें घरै घनघोर सों जीवन मूरि हमारे ॥

यह सवैया वस्तुतः पूर्वश्लोकके भावको लेकर ही लिखा गया है । इसमें पावसका वर्णन है । इस ऋतुमें नायक अपनी प्रियतमाको छोडकर विदेश नहीं जा सकता है इस बातको मानती हुई नायिकाकी यह उक्ति है । उसमें कामोद्दीपक-भाव व्यक्त हो रहा है ।

१०. आदि पदसे ग्राह्य चेष्टाका व्यञ्जकत्व

[कारिकामें आये हुए] आदि पदके ग्रहणसे चेष्टा आदिका [ग्रहण करना चाहिये] । उनमेंसे चेष्टा [के वैशिष्ट्यमें व्यञ्जकत्व] का [उदाहरण] जैसे—

मेरे दरवाजेके समीप पहुँचनेपर उस अनिन्द्य सुन्दरीने अपनी दोनों जाँघोंको फैलाकर एक-दूसरेसे चिपटा लिया । सिरपर घूँघट डाल लिया, आँखें नीची कर लीं, बोलना बन्द कर दिया और अपनी भुजाएँ सिकोड़ लीं ॥२२॥

यहाँ चेष्टासे प्रच्छन्न [रूपमें स्थित] कान्ताविषयक अभिप्रायविशेष व्यङ्ग्य है ।

निराकांक्षत्वप्रतिपत्तये प्राप्तावसरतया च पुनः पुनरुदाह्रियते । वक्त्रादीनां मिथः-संयोगे द्विकादिभेदेन ।

अनेन क्रमेण लक्ष्यव्यङ्ग्ययोश्च व्यञ्जकत्वमुदाहार्यम् ।

[सू० ३८] शब्दप्रमाणवेद्योऽर्थो व्यनक्त्यर्थान्तरं यतः ।
अर्थस्य व्यञ्जकत्वे तच्छब्दस्य सहकारिता ॥२३॥

शब्देति । नहि प्रमाणान्तरवेद्योऽर्थो व्यञ्जकः ।

इति काव्यप्रकाशे अर्थव्यञ्जकतानिर्णयो नाम तृतीय उल्लासः ।

इतने उदाहरण देनेके कारण

इस प्रकार यहाँ ग्रन्थकारने आर्थी व्यञ्जनाके दसों भेदोंके उदाहरण अलग-अलग दिये हैं । वैसे दो-तीन या अधिक भेदोंको एक जगह मिलाकर एक या दो उदाहरणोंमें इन सबकी व्यञ्जकता दिखलायी जा सकती थी, परन्तु अलग-अलग भेदोंके विषयमें—

निराकांक्षता [अर्थात् जिज्ञासाकी निवृत्ति]के लिए और अवसर होनेसे बार-बार [सब भेदोंके अलग-अलग] उदाहरण दिये हैं । वक्ता आदिके परस्पर संयोगसे दो-दो तीन-तीन आदिके भेदसे [मिलकर भी इनके उदाहरण समझ लेने चाहिये] ।

लक्ष्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ भी व्यञ्जक होते हैं

आर्थी व्यञ्जनामें इन सब उदाहरणोंमें वाच्य अर्थकी ही व्यञ्जकता दिखलायी गयी है परन्तु वाच्यके समान लक्ष्य तथा व्यङ्ग्य अर्थ भी व्यञ्जक हो सकते हैं । यह बात आगे कहते हैं—

इसी क्रमसे लक्ष्य तथा व्यङ्ग्य अर्थोंके व्यञ्जकत्वके उदाहरण भी समझ लेने चाहिये ।

आर्थी व्यञ्जनामें शब्दका सहयोग

शाब्दी व्यञ्जनाके अन्तमें यह कहा था कि शाब्दी-व्यञ्जनामें शब्द मुख्यरूपसे व्यञ्जक होता है उसके साथ अर्थ उसका सहकारी होता है । इसी प्रकार आर्थी व्यञ्जनामें अर्थके मुख्यरूपसे व्यञ्जक होनेपर शब्दकी सहकारिता आगे दिखलाते हैं—

[सू० ३८]—क्योंकि शब्दप्रमाणसे गम्य अर्थ ही अर्थान्तरको व्यक्त करता है इसलिए अर्थके व्यञ्जकत्वमें शब्द भी सहकारी होता है ॥२३॥

शब्द [प्रमाणसे गम्य अर्थ, अर्थान्तरको व्यक्त करता है] इससे [यह सूचित किया गया है कि अनुमान आदि] अन्य प्रमाणोंसे वेद्य अर्थ व्यञ्जक नहीं होता है ।

सारांश

इस प्रकार इस तृतीय उल्लासमें वक्ता बोद्धव्य आदिके वैशिष्ट्यसे आर्थी व्यञ्जनाके दस भेद करके उनका उदाहरण सहित विवेचन किया है । शाब्दी व्यञ्जनाका निरूपण द्वितीय उल्लासमें कर चुके हैं । अतः व्यञ्जनाके दोनों भेदोंके निरूपणके साथ, ध्वनिकाव्यका सामान्य निरूपण समाप्त हुआ । आगे गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्यका विवेचन करेंगे ।

काव्यप्रकाशमें अर्थ-व्यञ्जकता-निर्णय नामक तृतीय उल्लास समाप्त हुआ ।

श्रीमदाचार्य-विश्वेश्वर-सिद्धान्तशिरोमणिविरचितायां काव्यप्रकाशदीपिकायां

हिन्दीव्याख्यायां तृतीय उल्लासः समाप्तः ।

चतुर्थ उल्लासः

यद्यपि शब्दार्थयोर्निर्णये कृते दोष गुणालङ्काराणां स्वरूपमभिधानीयम्, तथापि धर्मिणि प्रदर्शिते धर्माणां हेयोपादेयता ज्ञायत इति प्रथमं काव्यभेदानाह—

अथ काव्यप्रकाश-दीपिकायां चतुर्थ उल्लासः

उल्लास-सङ्गति

प्रथम उल्लासमें ग्रन्थकारने "तददोषौ शब्दार्थौ सगुणौ अनलङ्कृती पुनः क्वापि' इस प्रकार काव्यका लक्षण दिया है। इस लक्षणमें 'शब्दार्थौ' यह विशेष्य पद है और 'अदोषौ', 'सगुणौ' तथा 'अनलंकृती पुनः क्वापि' ये तीन उसके विशेषणरूपमें प्रयुक्त हुए हैं। लक्षणके स्पष्टीकरणार्थ लक्षण-घटक इन चारों पदों की व्याख्याके लिए ही ग्रन्थके शेष भागकी रचना हुई है। इसलिए सबसे पहिले द्वितीय उल्लासमें ग्रन्थकारने शब्द तथा अर्थका स्वरूपनिर्णय करनेका प्रयत्न किया है। उसी प्रसङ्गमें वाचक, लक्षक, व्यञ्जक शब्द तथा अर्थके वाच्य, लक्ष्य, व्यङ्ग्य आदि भेदोंका निरूपण करनेके बाद द्वितीय उल्लासके अन्तमें 'शाब्दी व्यञ्जना'के भेदोंका और फिर तृतीय उल्लासमें 'आर्थी व्यञ्जना'का प्रतिपादन किया है। इस प्रकार तीसरे उल्लासतक लक्षणके विशेष्य भाग 'शब्दार्थौ' की व्याख्या पूरी हो जाती है। अब इसके बाद क्रमशः 'अदोषौ' आदि विशेषणोंकी व्याख्या प्रारम्भ करनी चाहिये थी, परन्तु 'अदोषौ' 'सगुणौ' आदि विशेषणोंके घटक उन दोष, गुण आदिका निरूपण न करके इस चतुर्थ उल्लासमें ग्रन्थकार ध्वनिकाव्यके भेदोंका निरूपण प्रारम्भ कर रहे हैं। यह जो क्रमभेद उन्होंने किया है उसका स्पष्टीकरण देना आवश्यक हो जाता है उसे आगे देते हैं।

इस क्रमभेदका कारण यह है कि गुण, दोष, अलङ्कार आदि सब काव्यके 'धर्म' हैं। काव्य 'धर्मी' है। जबतक 'धर्मी' रूप काव्यका पूर्ण ज्ञान न हो जाय तबतक उसके धर्मोंका स्वरूप या हेयता, उपादेयता आदिका ज्ञान भी ठीक तरहसे नहीं हो सकता है। इसलिए गुण, दोष आदिके निरूपणके पूर्व भेदोपभेद-सहित काव्यका सम्पूर्ण चित्र उपस्थित कर देना आवश्यक है। काव्यका लक्षण और उसके ध्वनि, गुणीभूत-व्यङ्ग्य तथा चित्रकाव्य नामक तीन मुख्य भेद तो प्रथम उल्लासमें बतलाये जा चुके हैं, परन्तु उनके अवान्तर भेदका निरूपण करना शेष है। इस कार्यको ग्रन्थकार अगले ४ से ६ तक तीन उल्लासोंमें करेंगे। इनमेंसे इस चतुर्थ उल्लासमें ध्वनिकाव्यके अवान्तर भेदोंका सविस्तार वर्णन किया जा रहा है। पञ्चम उल्लासमें गुणीभूतव्यङ्ग्यके भेदोंका और छठे उल्लासमें चित्रकाव्यके भेदोंका निरूपण किया जायगा। इस प्रकार इन तीन उल्लासोंमें काव्यके भेदोपभेदोंका निरूपण कर चुकनेके बाद सातवें उल्लाससे दोष, गुण, अलङ्कार आदिका विवेचन आरम्भ करेंगे और दशम उल्लासतक काव्यलक्षणकी व्याख्या पूर्ण हो जायेगी।

स्वाभाविक क्रममें इस प्रकारके परिवर्तन करनेके इसी कारणको दिखलाते हुए ग्रन्थकार इस चतुर्थ उल्लासका आरम्भ इस प्रकार करते हैं—

यद्यपि [काव्यलक्षणके विशेष्यभाग] शब्द तथा अर्थका निर्णय करनेके बाद [स्वाभाविकरूपसे] दोष, गुण तथा अलङ्कारोंके स्वरूपका कथन करना चाहिये था, परन्तु धर्मी [मुख्यभूतकाव्य]का निरूपण करनेपर ही [दोष, गुण आदि] धर्मोंकी हेयता या उपादेयताका ज्ञान हो सकता है इसलिए [दोष आदिका निरूपण छोड़कर] [पहले धर्मी रूप] काव्यके भेदोंको कहते हैं—

**[सू० ३९] अविवक्षितवाच्यो यस्तत्र वाच्यं भवेद् ध्वनौ ।
अर्थान्तरे संक्रमितमत्यन्तं वा तिरस्कृतम् ॥२४॥**

लक्षणामूलगूढव्यङ्ग्यप्राधान्ये सत्येव अविवक्षितं वाच्यं यत्र सः 'ध्वनौ' इत्यनुवादाद् ध्वनिरिति ज्ञेयः । तत्र च वाच्यं क्वचिदनुपयुज्यमानत्वादर्थान्तरे परिणमितम् ।

विगतका स्मरण

यहाँ ग्रन्थकारने एकदम ध्वनिकाव्यके विभेद करने प्रारम्भ कर दिये हैं, इससे पाठक जरा कठिनाईमें पड़ जाता है । बिना अवतरणिकाके विषय एकदम सामने आ जानेसे उसे प्रसङ्ग समझनेके लिए विशेष प्रयत्न करना पड़ता है । वह इस विचारमें पड़ जाता है कि यह क्या प्रारम्भ हो गया है । इस जिज्ञासाकी निवृत्तिके लिए प्रथम उल्लासमें पहले किये हुए काव्यके भेदोंका स्मरण कर लेना आवश्यक है । उससे विषयके हृदयङ्गम करनेमें सुविधा होगी । ग्रन्थकार काव्यके ध्वनि, गुणीभूतव्यङ्ग्य तथा चित्रकाव्य नामसे तीन प्रकारके भेद कर चुके हैं । इन तीनों मुख्य भेदोंके भी फिर और अवान्तर भेद होते हैं । इन सब भेदोपभेदोंका आगे यथाक्रम निरूपण किया जायगा । इसी प्रसङ्गसे सबसे पहिले ध्वनिकाव्यके अवान्तर भेदोंका विभाजन इस चतुर्थ उल्लासमें किया जा रहा है ।

अविवक्षितवाच्य लक्षणामूल ध्वनिके दो भेद

जैसा कि इसी उल्लासमें आगे स्पष्ट होगा—ध्वनिकाव्यके भेदोपभेदोंका भी बहुत अधिक विस्तार इस शास्त्रमें किया गया है । परन्तु उसके मुख्य दो भेद हैं—एक 'अविवक्षितवाच्य ध्वनि' और दूसरा 'विवक्षितवाच्य ध्वनि' । 'अविवक्षितवाच्य ध्वनि'का दूसरा नाम 'लक्षणामूल ध्वनि' तथा 'विवक्षितवाच्य ध्वनि'का दूसरा नाम 'अभिधामूल ध्वनि' भी है । लक्षणामूल ध्वनिमें वाच्य विवक्षित नहीं होता है इसलिए उसका नाम 'अविवक्षितवाच्य ध्वनि' रखा गया है । इसके भी फिर दो अवान्तर भेद होते हैं । एक 'अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य' और दूसरा 'अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य' । 'अविवक्षितवाच्य' या 'लक्षणामूल ध्वनि'के इन दोनों भेदोंके लक्षण तथा उदाहरण दिखलानेके लिए ग्रन्थकार लिखते हैं—

[सू० ३९]—अविवक्षितवाच्य [अर्थात् लक्षणामूल] जो [ध्वनिभेद] है उस ध्वनि [भेद] में वाच्य या तो अर्थान्तरमें संक्रमित [हो जाता है] या अत्यन्त तिरस्कृत हो जाता है । [इस प्रकार अविवक्षित वाच्य ध्वनिके 'अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य' और 'अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य' दो भेद होते हैं] ॥२४॥

[अविवक्षितवाच्य ध्वनिका दूसरा नाम लक्षणामूल ध्वनि भी है । इसलिए] लक्षणामूल गूढव्यङ्ग्यकी प्रधानता होनेपर ही जहाँ वाच्य अविवक्षित होता है वह [अविवक्षितवाच्य ध्वनि भेद कहलाता है । यद्यपि कारिकामें 'अविवक्षितवाच्यो ध्वनिः' इस प्रकार विशेष्य-भूत प्रथमान्त ध्वनि पदका प्रयोग नहीं किया गया है अपितु उसीका 'ध्वनौ' यह सप्तम्यन्त रूप प्रयुक्त हुआ है । उसीसे पहले ध्वनि इस प्रथमान्त पदका भी आक्षेप कर लेना चाहिये, इस बातको वृत्तिकार कहते हैं ।] 'ध्वनौ' इस [पद] के द्वारा [पूर्वकथित 'ध्वनि' के] अनुवादसे [पूर्ववाक्यमें] 'ध्वनिः' इस [प्रथमान्त विशेष्य पदके अध्याहार] को भी समझ लेना चाहिये । उस अविवक्षितवाच्य-[ध्वनि-भेद] में कहीं वाच्य [यथाश्रुत रूपमें अन्वित होनेमें] अनुपयुक्त होनेसे [अपने किसी विशेष भेदरूप] अर्थान्तरमें परिणत हो जाता है । उसे 'अर्थान्तरसंक्रमित-वाच्य ध्वनि' कहते हैं ।]

[सू० ४०] विवक्षितं चान्यपरं वाच्यं यत्रापरस्तु सः ।

अन्यपरं व्यङ्ग्यनिष्ठम् । एष च–

[सू० ४१] कोऽप्यलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो लक्ष्यव्यङ्ग्यक्रमः परः ॥२५॥

जिस व्यक्तिके साथ उसके किसी मित्रने अत्यन्त अपकार किया है उस अपकारी मित्रके प्रति उस सताये गये अर्थात् अपकृत व्यक्तिकी यह उक्ति है। उसमें 'उपकृतम्' आदि शब्दोंके मुख्य अर्थकी कोई भी सङ्गति नहीं लग सकती है। इसलिए विपरीत लक्षणा अर्थात् वैपरीत्य सम्बन्ध-मूलक लक्षणासे उन शब्दोंका एकदम उलटा अर्थ हो जाता है। इस प्रकार वाच्य अर्थका अत्यन्त तिरस्कार करके 'उपकृत' आदि शब्द 'अपकृत' आदि अर्थके बोधक बन जाते हैं। तब उस विपरीत-लक्षणासे इस श्लोकका अर्थ बदलकर निम्नलिखित प्रकारका हो जाता है—

तुमने बड़ा धोखा दिया, बड़ा अपकार किया है, उसकी कहाँतक निन्दा की जाय थोड़ी है। तुमने वास्तवमें अत्यन्त दुष्टताका परिचय दिया है। अरे मित्रद्रोही, अपकार करनेवाले, तेरे जैसा व्यक्ति जितनी जल्दी इस संसारको छोड़ दे उतना ही अच्छा है।

विवक्षितवाच्य या अभिधामूल ध्वनिके भेद

इस प्रकार 'अविवक्षितवाच्यध्वनि' या 'लक्षणामूलध्वनि'के दो भेद और उन दोनोंके उदाहरण दिखला दिये। अब ध्वनिकाव्यका जो दूसरा मुख्य भेद 'विवक्षितवाच्यध्वनि' या 'अभिधामूलध्वनि' बतलाया था उसके भेद आगे दिखलायेंगे। इस 'अभिधामूल' या 'विवक्षितवाच्य ध्वनि'के भी पहले 'असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य' और 'संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य' दो भेद होते हैं, जिनमें 'असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य' रसादिध्वनिको कहते हैं। इसके यदि अवान्तर भेद किये जायँ तो उनकी गणना करना ही कठिन हो जायगा। इसलिए 'असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य'के भेदोंका अधिक विस्तार न करके गणनाके लिए उसका एक ही भेद मान लिया गया है। दूसरे 'संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य' नामक भेदके फिर १. शब्दशक्त्युत्थ, २. अर्थशक्त्युत्थ और ३ उभयशक्त्युत्थ इस प्रकार तीन अवान्तर उपभेद किये गये हैं। इनमेंसे शब्दशक्त्युत्थ ध्वनिके फिर वस्तुध्वनि तथा अलङ्कारध्वनिरूप दो अवान्तर उपभेद अर्थशक्त्युत्थ ध्वनिके १२ अवान्तर उपभेद तथा उभयशक्त्युत्थका एक भेद, कुल १५ संलक्ष्यक्रमके और एक असंलक्ष्यक्रमका १६ भेद मिलाकर अभिधामूलके किये गये हैं। इस प्रकार 'अविवक्षितवाच्य' अर्थात् 'लक्षणामूल' ध्वनिके दो भेद और 'विवक्षितवाच्य' या 'अभिधामूल' ध्वनिके १६, कुल मिलाकर ध्वनिकाव्यके २ + १६ = १८ भेद होते हैं। इनमेंसे लक्षणामूल ध्वनिके दो भेद पहले दिखलाये जा चुके हैं। अब 'अभिधामूल' या 'विवक्षितवाच्य' ध्वनिके १६ भेदोंका वर्णन करेंगे।

[सू० ४०]—जहाँ वाच्य अर्थ विवक्षित [अर्थात् वाच्यतावच्छेदकरूपसे अन्वय-योग्य] होनेपर भी अन्यपर [अर्थात् व्यङ्ग्यनिष्ठ] होता है, वह [ध्वनिकाव्यका अभिधामूल ध्वनि या] विवक्षितान्यपरवाच्य नामक दूसरा भेद होता है।

अन्यपर [शब्दका अर्थ] व्यङ्ग्यनिष्ठ है। और यह—

[सू० ४१]—[इस विवक्षितान्यपरवाच्य या अभिधामूल ध्वनिके भी दो भेद होते हैं। एक तो] कोई [अनिर्वचनीय अनुभवैकगोचर रसध्वनिरूप] अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य [जिसमें वाच्य और व्यङ्ग्य अर्थोंके क्रमकी प्रतीति नहीं होती है इस प्रकारका] और दूसरा संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य [जिसमें वाच्य तथा व्यङ्ग्य अर्थोंका क्रम लक्षित होता है इस प्रकारका ध्वनिकाव्य] होता है ॥२५॥

अलक्ष्येति । न खलु विभावानुभावव्यभिचारिण एव रसः, अपि तु रसस्तैरित्यस्ति क्रमः स तु लाघवान्न लक्ष्यते ।

तत्र—

[सू० ४२] रसभावतदाभासभावशान्त्यादिरक्रमः ।
भिन्नो रसाद्यलङ्कारादलङ्कार्यतया स्थितः ॥२६॥

आदिग्रहणाद् भावोदयभावसन्धिभावशबलत्वानि । प्रधानतया यत्र स्थितो रसादिस्तत्रालङ्कार्यः, यथोदाहरिष्यते । अन्यत्र तु प्रधाने वाक्यार्थे यत्राङ्गभूतो रसादिस्तत्र गुणीभूतव्यङ्ग्ये रसवत्प्रेयऊर्जस्विसमाहितादयोऽलङ्काराः । ते च गुणीभूतव्यङ्ग्याभिधाने उदाहरिष्यन्ते ।

अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य रसादिध्वनि

यहाँ अभिधामूल ध्वनिके असलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य तथा सलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य दो भेद किये हैं । इनमें असलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि रसादि-ध्वनिको कहते हैं । यहाँ विशेषरूपसे यह बात ध्यान देने योग्य है कि ग्रन्थकारने उसको 'अक्रमव्यङ्ग्य' न कहकर 'अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य' ध्वनि कहा है । इसका अभिप्राय यह होता है कि उसमें वाच्य और व्यङ्ग्यकी प्रतीतिका क्रम होता तो अवश्य है, परन्तु शीघ्रताके कारण वह क्रम दिखलायी नहीं देता । विभाव, अनुभाव आदिकी प्रतीति ही रस नहीं है अपितु उनकी प्रतीति रसप्रतीतिका कारण है । विभावादिकी प्रतीति होनेके बाद रसादिकी प्रतीति होती है । इसलिए रसादिकी प्रतीतिमें क्रम अवश्य रहता है, परन्तु जैसे कमलके सौ पत्तोंको एक साथ रखकर उनमें सुई चुभायी जाय तो वह उन पत्रोंका भेदन तो क्रमसे ही करती है परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि वह एक साथ सौ पत्तोंके पार पहुँच गयी है । इसी प्रकार रसकी अनुभूतिमें विभावादिकी प्रतीतिका क्रम होनेपर भी उसकी प्रतीति न होनेसे उसको 'अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य' ध्वनि कहा गया है ।

अलक्ष्य [क्रमव्यङ्ग्य] इससे [यह सूचित किया है कि] विभाव आदि [की प्रतीति ही रस नहीं है अपितु उन [विभावादिकी प्रतीति] से रस [उत्पन्न या अभिव्यक्त] होता है। इसलिए [रसकी प्रतीतिमें भी] क्रम तो है परन्तु शीघ्रताके [अतिशयके] कारण उसका अनुभव नहीं होता है।

उन [अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य-ध्वनिके अनेकों भेदों] मेंसे—

[सू० ४२]—रस, भाव, तदाभास [अर्थात् रसाभास तथा भावाभास] और भावशान्ति आदि [अर्थात् १. भावोदय, २. भावशान्ति, ३. भावसन्धि एवं ४. भावशबलता] अलक्ष्यक्रम [ध्वनि प्रधान होनेके कारण] अलङ्कार्य होनेसे 'रसवत्' आदि [अर्थात् रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्विन्, समाहित इन चारों] अलङ्कारोंसे भिन्न है ॥२६॥

आदि [पदके] ग्रहणसे १. भावोदय, २. भावसन्धि और ३. भावशबलत्व [का भी ग्रहण होता है]। जहाँ रस आदि प्रधानरूपसे स्थित होते हैं वहाँ ये अलङ्कार्य कहलाते हैं, जैसे कि [उनके] उदाहरण आगे देंगे और जहाँ अन्य [वस्तु या अलङ्कार आदिरूप] वाक्यार्थके प्रधान होनेपर रसादि [उन वस्तु या अलङ्कार आदिके] अङ्ग होते हैं उनमें [रसादिके] गुणीभूतव्यङ्ग्य होनेपर १. रसवत्, २. प्रेय, ३. ऊर्जस्विन् और ४. समाहित आदि [चार प्रकारके] अलङ्कार होते हैं। गुणीभूतव्यङ्ग्यके निरूपणके प्रसङ्गमें उनके उदाहरण देंगे।

तत्र रसस्वरूपमाह—

[सू० ४३] कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च ।
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः ॥२७॥
विभावा अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः ।
व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः ॥२८॥

इस प्रकार 'अभिधामूल' या 'विवक्षितान्यपरवाच्य' ध्वनिके 'असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य' तथा 'संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य' नामक दो भेद प्रदर्शित किये गये हैं। उनमेंसे १. रस, २. भाव, ३. रसाभास, ४. भावाभास, ५. भावोदय, ६. भावसन्धि, ७. भावशबलता और ८. भावशान्ति ये आठों जब काव्यमें प्रधानरूपसे स्थित होते हैं तब रसादिरूप असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि काव्य कहलाता है। और जब ये रस या भावादि किसी अन्यके अङ्ग बन जाते हैं तब गुणीभूतव्यङ्ग्य नामक काव्यका दूसरा भेद हो जाता है। यहाँ असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यके स्वरूपका सामान्यरूपसे निरूपण किया है। इनमेंसे सबसे प्रधान रस है इसलिए आगे रसका निरूपण करेंगे।

रस-निरूपण

[सू० ४३]—लोकमें रति आदिरूप स्थायी भावके जो कारण, कार्य और सहकारी होते हैं, वे यदि नाटक या काव्यमें [प्रयुक्त] होते हैं तो क्रमशः विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव कहलाते हैं और उन विभाव [आलम्बन या उद्दीपन] आदि [रूप कारण, कार्य तथा सहकारियोंके योग] से व्यक्त वह [रति आदिरूप] स्थायी भाव 'रस' कहलाता है ॥२७, २८॥

इन कारिकाओंमें विभाव, अनुभाव, व्यभिचारिभाव तथा स्थायिभावसे रसकी निष्पत्तिका वर्णन किया गया है और यह बतलाया है कि रति आदिकी उत्पत्तिके जो कारण हैं वे विभाव शब्दसे, कार्य अनुभाव शब्दसे और सहकारी व्यभिचारिभाव नामसे कहे जाते हैं। इनमेंसे रति आदिके कारणका नाम 'विभाव' है। रति आदिके कारण दो प्रकारके होते हैं, एक आलम्बनरूप और दूसरे उद्दीपनरूप। सीता, राम आदि एक दूसरेकी प्रीतिके आलम्बनरूप कारण होते हैं। क्योंकि सीताको देखकर रामके मनमें और रामको देखकर सीताके मनमें प्रेम या रतिकी उत्पत्ति होती है। इसलिए ये दोनों आलम्बन विभाव कहलाते हैं और परस्पर रति या प्रेमकी उत्पत्तिके प्रति कारण होते हैं। इस प्रीति या रतिको उद्बुद्ध करनेवाली चाँदनी, उद्यान, नदीतीर आदि सामग्रीको उद्दीपन विभाव कहा जाता है, क्योंकि ये पूर्वोत्पन्न रति आदिको उद्दीप्त करनेवाले हैं। इस प्रकार आलम्बन और उद्दीपन दोनों मिलकर स्थायी भावको व्यक्त करते हैं।

१. स्थायिभाव

रसकी प्रक्रियामें आलम्बन तथा उद्दीपन विभावको रसका बाह्य कारण समझना चाहिये। रसानुभूतिका आन्तरिक और मुख्य कारण स्थायिभाव है। स्थायिभाव मनके भीतर स्थिररूपसे रहनेवाला प्रसुप्त संस्कार है जो अनुकूल आलम्बन तथा उद्दीपन रूप उद्बोधक सामग्रीको प्राप्त कर अभिव्यक्त हो उठता है और हृदयमें एक अपूर्व आनन्दका सञ्चार कर देता है। इस स्थायिभावकी अभिव्यक्ति ही रसास्वादजनक या रस्यमान होनेसे रस शब्दसे बोध्य होती है। इसलिए 'व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः' आदि कहा गया है।

अर्थात् उन पूर्वोक्त विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभावोंसे संयोग [illegible] स्थायिभावको रस कहते हैं।

इनकी वासनाओंमें मनुष्यको भिन्न भिन्न प्रकारकी अनुभूति होती है [illegible] प्रायः आठ प्रकारके स्थायिभाव साहित्यशास्त्रमें माने गये हैं। काव्यप्रकाशकारने उनकी गणना इस प्रकार की है—

[सू० ४५] रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा।
जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावाः प्रकीर्तिताः॥

अर्थात् १. रति, २. हास, ३. शोक, ४. क्रोध, ५. उत्साह, ६. भय, ७. जुगुप्सा या घृणा और ८. विस्मय ये आठ स्थायिभाव कहलाते हैं। इनके अतिरिक्त ९. निर्वेदको भी नौवाँ स्थायिभाव माना गया है। काव्यप्रकाशकारने लिखा है—

[सू० ४७]—निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः।

इस प्रकार नौ स्थायिभाव और उनके अनुसार ही १. शृङ्गार, २. हास्य, ३. करुण, ४. रौद्र, ५. वीर, ६. भयानक, ७. बीभत्स, ८. अद्भुत और ९. शान्त ये नौ रस माने गये हैं।

ये नौ स्थायिभाव मनुष्यके हृदयमें स्थायी रूपसे सदा विद्यमान रहते हैं इसलिये 'स्थायिभाव' कहलाते हैं। सामान्यरूपसे ये अव्यक्तावस्थामें रहते हैं, किन्तु जब जिस स्थायिभावके अनुकूल विभावादि सामग्री प्राप्त हो जाती है तब वह व्यक्त हो जाता है और रस्यमान या आस्वाद्यमान होकर रसरूपताको प्राप्त हो जाता है।

मनोविज्ञान और स्थायिभाव

स्थायिभावोंका जो यह निरूपण साहित्यशास्त्रमें किया गया है वह विशुद्ध मनोवैज्ञानिक आधारपर किया गया है। मनोविज्ञानके मूल सिद्धान्त आजके समान पूर्वकालमें भी ज्ञात थे। केवल उनकी अभिव्यक्तिकी शैलीमें भेद है। आधुनिक मनोविज्ञान जिनको मूल प्रवृत्तियोंसे सम्बद्ध 'मन-संवेग' कहता है उन्हींको साहित्यशास्त्रमें 'स्थायिभाव' नामसे कहा गया है। नवीन मनोविज्ञानके 'मनःसंवेग' और प्राचीन साहित्यशास्त्रके 'स्थायिकरण' एक ही तत्त्वके विभिन्न नाम हैं।

प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक मैगडूगलने १४ प्रकारकी मूल प्रवृत्तियाँ और उनसे सम्बद्ध १४ मनःसंवेग माने हैं। मूल प्रवृत्तिकी परिभाषा करते हुए उन्होंने लिखा है—

'मूल-प्रवृत्ति वह प्रकृति-प्रदत्त शक्ति है जिसके कारण प्राणी किसी विशेष प्रकारके पदार्थकी ओर ध्यान देता है और उसकी उपस्थितिमें विशेष प्रकारके संवेग या मनःक्षोभका अनुभव करता है।'

मैगडूगलने जो चौदह प्रकारकी मूल प्रवृत्तियाँ मानी हैं, उनकी तथा उनके साथ सम्बद्ध मन-संवेगोंकी तालिका भी उन्होंने प्रस्तुत की है। मैगडूगलकी बनायी हुई तालिकामें पहला स्थान मूल प्रवृत्तियोंको दिया गया है और दूसरा स्थान सम्बद्ध मनःसंवेगोंको। परन्तु जब वह मनोविज्ञानके विषयका विवेचन कर रहे हैं तब उन्हें मनोधर्म या मनःसंवेगोंको ही प्रधानता देनी चाहिये थी। इसका अभिप्राय यह है कि उन्हें अपनी तालिकामें मूल प्रवृत्तियोंके बजाय मन-संवेगोंको प्रथम स्थान देना चाहिये था और उसके बाद मनःसंवेगोंसे सम्बद्ध मूल प्रवृत्तियोंका निर्देश करना चाहिये था, क्योंकि मूल प्रवृत्तियोंके कारण, मूल प्रवृत्तियोंको प्रेरणा देनेवाली शक्ति, मनःसंवेग ही है। इसी दृष्टिसे हमने उस तालिकाके क्रममें परिवर्तन कर मनःसंवेगको पहिले तथा मूल प्रवृत्तिको पीछे कर दिया है। तदनुसार मैगडूगलके चौदह मनःसंवेगों तथा मूल प्रवृत्तियोंकी सूची और उनके साथ स्थायिभावों तथा रसोंका समन्वय करके दोनोंकी तुलनात्मक सूची नीचे प्रस्तुत कर रहे हैं।

इन दोनों देशोंके मनोविज्ञानोंके मनःसंवेगात्मक नव्य विभाजन और स्थायिभावात्मक प्राचीन विभाजनमें विस्मयजनक समता प्रतीत होगी।

मनःसंवेगों और स्थायिभावोंका तुलनात्मक चित्र

नव्य मनोविज्ञानके अनुसार		प्राचीन साहित्यशास्त्रके अनुसार	
मनःसंवेग	मूल प्रवृत्तियाँ	स्थायिभाव	रस
१. भय	पलायन तथा आत्मरक्षा	भय	भयानक-रस
२. क्रोध	युयुत्सा	क्रोध	रौद्र-रस
३. घृणा	निवृत्ति, वैराग्य	जुगुप्सा	बीभत्स रस
४. करुणा, दुःख	शरणागति	शोक	करुण रस
५. काम	कामप्रवृत्ति	रति	शृङ्गार-रस
६. आश्चर्य	कौतूहल, जिज्ञासा	विस्मय	अद्भुत-रस
७. हास	आमोद	हास	हास्य रस
८. दैन्य	आत्महीनता	निर्वेद	शान्त-रस
९. आत्मगौरव, उत्साह	आत्माभिमान	उत्साह	वीर-रस
१०. वात्सल्य, स्नेह	पुत्रैषणा	वात्सल्य, स्नेह	वात्सल्य रस

इनके अतिरिक्त १. भोजनान्वेषणकी प्रवृत्ति, २. संग्रहकी प्रवृत्ति, ३. सामूहिकताकी प्रवृत्ति, ४. विधायकता या रचनाकी प्रवृत्ति इन चार प्रकारकी मूल-प्रवृत्तियोंका भी उल्लेख मेग्डूगलने किया है। परन्तु उनका सम्बन्ध रससे नहीं है और उनको मौलिक मनःसंवेग कहना भी उचित नहीं प्रतीत होता है। प्राचीन भारतीय आचार्योंने मौलिकरूपसे नौ प्रकारके मनःसंवेग मानकर साहित्यशास्त्रमें नौ रसों या नौ प्रकारके स्थायिभावोंकी ही स्थापना की है। इस प्रकार स्थायिभावोंका सिद्धान्त प्राचीन मनोविज्ञानके सिद्धान्तपर आधारित है।

चार मौलिक रसोंका सिद्धान्त

अधिक सूक्ष्म विवेचन करनेवाले धनिक तथा धनञ्जय आदि आचार्योंने नौ मौलिक मनःसंवेगों अथवा स्थायिभावोंके स्थानपर केवल चार स्थायिभाव या चार रस माननेका भी निर्णय किया है और शेष रसोंकी उत्पत्ति उन चारसे ही मानी है। उनका कहना है कि रसानुभूतिके कालमें चित्तकी विकास, विस्तार, विक्षोभ तथा विक्षेपरूप चार प्रकारकी ही अवस्थाएँ होती हैं इसलिए चार ही रस मानने चाहिये। दशरूपककारने इस विषयका विवेचन करते हुए लिखा है—

विकासविस्तरक्षोभविक्षेपैः स चतुर्विधः ॥
शृङ्गारवीरबीभत्सरौद्रेषु मनसः क्रमात् ।
हास्याद्भुतभयोत्कर्षकरुणानां त एव हि ॥

अर्थात् काव्यके परिशीलनसे आत्मामें आनन्दकी अनुभूतिका नाम स्वाद या रसास्वाद है। यह आत्मानन्द चित्तके विकास, विस्तार, विक्षोभ तथा विक्षेपरूपसे चार प्रकारका होता है। चित्तकी यह चार प्रकारकी अवस्था क्रमशः शृङ्गार, वीर, बीभत्स तथा रौद्र रसमें होती है। शेष हास्य, अद्-भुत, भयानक तथा करुण रसमें भी चित्तकी ये ही अवस्थाएँ होती हैं—

[illegible] ॥
शृङ्गाराद्धि भवेद्धास्यो रौद्राच्च करुणो रसः ।
वीराच्चैवाद्भुतोत्पत्तिर्बीभत्साच्च भयानकः ॥

अर्थात् शृङ्गाररससे हास्यकी उत्पत्ति होती है और रौद्ररससे करुणरस उत्पन्न होता है। इसी प्रकार वीररससे अद्भुत तथा बीभत्सरससे भयानकरसकी उत्पत्ति होती है। अर्थात् हास्य आदि अन्तिम चार रसोंकी उत्पत्ति शृङ्गार आदि पहिले चार रसोंसे होती है। इसलिए चार ही मुख्य रस हैं, इस प्रकारका अवधारण किया जा सकता है।

इस प्रकार प्राचीन साहित्यशास्त्रियोंने जो रस और उनसे सम्बद्ध स्थायिभावोंकी कल्पना की थी वह पूर्णतः मनोवैज्ञानिक आधारपर ही की थी। आजके मनोविज्ञानके सिद्धान्तोंके आधारपर भी उनकी मनोवैज्ञानिकताका समर्थन किया जा सकता है।

२. विभाव

जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, रसानुभूतिके कारणोंको 'विभाव' कहते हैं। वे दो प्रकारके होते हैं—एक 'आलम्बन-विभाव' और दूसरा 'उद्दीपन-विभाव'। जिसको आलम्बन करके रसकी उत्पत्ति होती है उसको 'आलम्बन-विभाव' कहते हैं। जैसे सीताको देखकर रामके मनमें और रामको देखकर सीताके मनमें रतिकी उत्पत्ति होती है और उन दोनोंको देखकर सामाजिकके भीतर रसकी अभिव्यक्ति होती है। इसलिए सीता, राम आदि शृङ्गार रसके 'आलम्बन-विभाव' कहलाते हैं। चाँदनी, उद्यान एकान्त स्थान आदिके द्वारा उस रतिका उद्दीपन होता है। इसलिए उनको शृङ्गाररसके 'उद्दीपन-विभाव' कहा जाता है। प्रत्येक रसके आलम्बन तथा उद्दीपन-विभाव अलग-अलग होते हैं।

३. अनुभाव

'स्थायिभाव' रसानुभूतिका प्रयोजक अन्तरङ्ग या आभ्यन्तर कारण है। आलम्बन तथा उद्दीपन विभाव उसके बाह्य या बहिरङ्ग कारण हैं। इसी प्रकार अनुभाव तथा व्यभिचारिभाव उस आन्तर रसानुभूतिसे उत्पन्न, उसकी बाह्याभिव्यक्तिके प्रयोजक शारीरिक तथा मानसिक व्यापार हैं। इनको रसका कारण, कार्य तथा सहकारी कहा जाता है। साहित्यदर्पणकारने अनुभावका लक्षण इस प्रकार किया है—

उद्बुद्धं कारणैः स्वैर्बहिर्भावं प्रकाशयन् ।
लोके यः कार्यरूपः सोऽनुभावः काव्यनाट्ययोः ॥ ३, १३२ ।

अर्थात् अपने-अपने आलम्बन या उद्दीपन कारणोंसे, सीता-राम आदिके भीतर उद्बुद्ध रति आदिरूप स्थायिभावको बाह्यरूपमें जो प्रकाशित करता है वह रत्यादिका कार्यरूप, काव्य और नाट्यमें 'अनुभाव'के नामसे कहा जाता है।

भरतमुनिने अनुभावका लक्षण निम्नलिखित प्रकार किया है—

वागङ्गाभिनयेनेह यतस्त्वर्थोऽनुभाव्यते ।
शाखाङ्गोपाङ्गसंयुक्तस्त्वनुभावस्ततः स्मृतः ॥ ७. ५ ।

अर्थात् जो वाचिक या आङ्गिक अभिनयके द्वारा रत्यादि स्थायिभावकी आन्तर अभिव्यक्तिरूप अर्थका बाह्यरूपमें अनुभव कराता है उसको 'अनुभाव' कहते हैं।

भरत-नाट्यशास्त्रके अनुसार अनुभावोंका विशेष उपयोग अभिनयकी दृष्टिसे ही होता है। किसी रसकी बाह्य अभिव्यक्तिके लिए अलग-अलग अभिनय-शैलीका अवलम्बन किया जाता है। अलग-अलग रसको प्रकाशित करनेवाले स्मित आदि बाह्य व्यापार 'अनुभाव' कहलाते हैं और वे प्रत्येक रसमें अलग-अलग होते हैं। वैसे अनुकार्यकी दृष्टिसे भी वे उसकी रसानुभूतिके बाह्य प्रदर्शक होते हैं।

उक्तं हि भरतेन—

"विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः" इति ।

एतद्विवृण्वते—

अर्थात् जो रसोंमें नानारूपसे विचरण करते हैं और रसोंको पुष्ट कर आस्वादके योग्य बनाते हैं उनको 'व्यभिचारिभाव' कहते हैं। इन व्यभिचारिभावोंकी संख्या ३३ मानी गयी है। ये ३३ व्यभिचारिभाव सब रसोंमें मिलकर होते हैं। अलग अलग रसोंके हिसाबसे इनका वर्गीकरण नहीं किया गया है। भरतमुनिने व्यभिचारिभावोंकी गणना इस प्रकार की है-

'निर्वेदग्लानिशङ्काख्यास्तथासूया मदः श्रमः ।
आलस्यं चैव दैन्यं च चिन्ता मोहः स्मृतिर्धृतिः ॥ १८ ॥
व्रीडा चपलता हर्ष आवेगो जडता तथा ।
गर्वो विषाद औत्सुक्यं निद्रापस्मार एव च ॥ १९ ॥
सुप्तं विबोधोऽमर्षश्चाप्यवहित्थमथोग्रता ।
मतिर्व्याधिस्तथोन्मादस्तथा मरणमेव च ॥ २० ॥
त्रासश्चैव वितर्कश्च विज्ञेया व्यभिचारिणः ।
त्रयस्त्रिंशदमी भावाः समाख्यातास्तु नामतः ॥ २१ ॥

भरतमुनिका रससूत्र

रसकी निष्पत्तिका सर्वप्रथम उल्लेख भरतमुनिने अपने नाट्यशास्त्रमें किया है। वही सारे रस-सिद्धान्तकी आधार-भित्ति है। भरतमुनिके 'रससूत्र'की व्याख्यामें ही उत्तरवर्ती आचार्योंने अपनी शक्ति लगायी है और उसके परिणामस्वरूप १. उत्पत्तिवाद, २. अनुमितिवाद, ३. भुक्तिवाद और ४. अभिव्यक्तिवाद इन चार सिद्धान्तोंका विकास हुआ है। विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभावोंके सयोगसे रसकी निष्पत्ति होती है इस भरत-सूत्रमें जो 'निष्पत्ति' शब्द आया है उसके भी चार अर्थ होते हैं। भट्टलोल्लटके मतमें 'निष्पत्ति'का अर्थ 'उत्पत्ति', शङ्कुकके मतमें 'अनुमिति', भट्टनायकके मतमें 'भुक्ति' और अभिनवगुप्तके मतमें 'निष्पत्ति' शब्दसे अभिव्यक्तिका ग्रहण होता है।

'विभाव-अनुभाव-व्यभिचारि-सयोगाद् रसनिष्पत्तिः' विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभावके सयोगसे रसकी निष्पत्ति होती है। यह भरतमुनिका सूत्र है। इस सूत्रकी अनेक प्रकारकी व्याख्या उनके टीकाकारोंने की है जिनमेंसे १. भट्टलोल्लट, २. शङ्कुक, ३. भट्टनायक तथा ४. अभिनवगुप्त मुख्य व्याख्याकार हैं। इन चार आचार्यों द्वारा की गयी व्याख्या यहाँ काव्यप्रकाशकार मम्मटने भी उद्धृत की है। इन चारो आचार्यों द्वारा की जानेवाली यह व्याख्या अभिनवगुप्त-रचित भरतनाट्य-शास्त्रकी 'अभिनवभारती' नामक टीकाओंमेंसे ली गयी है। 'अभिनवभारती' में यह सब प्रकरण बहुत लम्बा तथा कठिन है। मम्मटने उसका साराश सक्षितरूपमें उपस्थित कर दिया है, इतना ही अन्तर है। 'अभिनवभारती'के आधारपर ही आगे ग्रन्थकार भरतके रससूत्र और उसकी चार प्रकारकी व्याख्याको प्रस्तुत करेंगे। वे पहले रससूत्र देते हैं।

[जैसा कि] भरतमुनिने कहा भी है—

'विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभावोंके संयोगसे रसकी निष्पत्ति होती है'।

[पूर्ववर्ती १. भट्टलोल्लट, २. शंकुक, ३. भट्टनायक और ४. अभिनवगुप्त] इसकी [इस प्रकार] व्याख्या करते हैं—

---

1 'नाट्यशास्त्र' ६, १८-२१

विभावैर्ललनोद्यानादिभिरालम्बनोद्दीपनकारणैः रत्यादिको भावो जनितः, अनुभावैः कटाक्षभुजाक्षेपप्रभृतिभिः कार्यैः प्रतीतियोग्यः कृतः, व्यभिचारिभिर्निर्वेदादिभिः सहकारिभिरुपचितो मुख्यया वृत्त्या रामादावनुकार्ये तद्रूपतानुसन्धानान्नर्त्तकेऽपि प्रतीयमानो रस इति भट्टलोल्लटप्रभृतयः ।

भट्टलोल्लटका उत्पत्तिवाद

भरत-सूत्रके व्याख्याकारोंमें भट्टलोल्लट उत्पत्तिवादके माननेवाले हैं। उनके मतमें विभाव, अनुभाव आदिके संयोगसे अनुकार्य राम आदिमें रसकी उत्पत्ति होती है। उनमें भी विभाव सीता आदि कारणरूपसे रसके उत्पादक होते हैं। अनुभाव उस उत्पन्न हुए रसको बोधित करनेवाले होते हैं और व्यभिचारिभाव उस उत्पन्न रसके परिपोषक होते हैं। अतः स्थायिभावके साथ विभावोंका उत्पाद्य-उत्पादकभाव, अनुभावोंका गम्य-गमकभाव और व्यभिचारिभावोंका पोष्य-पोषकभाव सम्बन्ध होता है। इसलिए भरत सूत्रमें जो 'संयोग' शब्द आया है भट्टलोल्लटके मतमें उसके भी तीन अर्थ हैं। विभावोंके साथ संयोग अर्थात् उत्पाद्य-उत्पादक-भावसम्बन्ध अनुभावोंके साथ गम्य-गमकभाव सम्बन्ध तथा व्यभिचारिभावोंके साथ पोष्य-पोषकभावरूप सम्बन्ध 'संयोग' शब्दका अर्थ होता है। इसी बातको आगे कहते हैं—

विभावों [अर्थात् रसके आलम्बन तथा उद्दीपनके कारणभूत] ललना [आलम्बन-विभाव] और उद्यान आदि [उद्दीपन-विभावों] से रति आदि [स्थायी] भाव उत्पन्न हुआ, [रति आदिकी उत्पत्तिके] कार्यभूत कटाक्ष, भुजाक्षेप आदि अनुभावोंसे प्रतीतिके योग्य किया गया और सहकारीरूप निर्वेद आदि व्यभिचारिभावोंसे पुष्ट किया गया मुख्यरूपसे अनुकार्यरूप राम आदिमें और उनके स्वरूपका अनुकरण करनेसे नटमें प्रतीयमान [अर्थात् आरोप्यमाण रत्यादि स्थायिभाव ही] रस [कहलाता] है। यह भट्टलोल्लट आदिका मत है।

यह जो भट्टलोल्लट आदिका मत दिखलाया है इसमें स्थायिभावके साथ विभावोंका 'संयोग' अर्थात् उत्पाद्य उत्पादकभाव सम्बन्ध, अनुभावोंके साथ गम्य-गमकभाव सम्बन्ध तथा व्यभिचारि-भावोंके साथ पोष्य पोषकभाव सम्बन्ध 'संयोग'से अभिप्रेत है ऐसा मान कर ही व्याख्यामें क्रमश 'जनितः', 'प्रतीतियोग्यः कृत' तथा 'उपचितः' इन पदोंका प्रयोग किया गया है। दूसरी बात यह है कि इस मतमें रस मुख्यरूपसे अनुकार्य राम आदिमें रहता है और उनका अनुकर्ता होनेके कारण गौणरूपसे नटमें भी रसकी स्थिति मानी जाती है। परन्तु सामाजिकमें रसकी उत्पत्ति नहीं होती है। तीसरी बात यह है कि जैसे भरत-सूत्रमें आये हुए 'संयोग' शब्दके तीन अर्थ यहाँ माने गये हैं उसी प्रकार भरत सूत्रमें आये हुए 'निष्पत्ति' शब्दके भी तीन अर्थ समझने चाहिये। विभावके साथ स्थायिभावका 'संयोग' अर्थात् उत्पाद्य-उत्पादकभाव सम्बन्ध होनेपर रसकी 'निष्पत्ति' अर्थात् 'उत्पत्ति' होती है। यहाँ 'निष्पत्ति' शब्दका अर्थ 'उत्पत्ति' होता है। अनुभावोंके साथ 'संयोग' अर्थात् गम्य-गमकभाव सम्बन्ध होनेपर रसकी 'निष्पत्ति' अर्थात् 'प्रतीति' होती है। यहाँ 'निष्पत्ति' शब्दका अर्थ 'प्रतीति' होता है और व्यभिचारिभावोंके साथ पोष्य पोषकभाव सम्बन्ध होनेसे रसकी निष्पत्ति तथा 'पुष्टि' होती है। यहाँ 'निष्पत्ति' शब्दका अर्थ पुष्टि होता है। यह इस व्याख्याका अभिप्राय है।

इस व्याख्याको टीकाकारोंने मीमांसा सिद्धान्तके अनुसार की गयी व्याख्या बतलाया है। 'मीमांसा'से यहाँ उत्तर मीमांसा' अर्थात् 'वेदान्त'का ग्रहण करना चाहिये। वेदान्तमें ब्रह्मकी

'राम एवायम् अयमेव राम इति' न रामोऽयमित्यौत्तरकालिके बाधे रामोऽयमिति, रामः स्याद्वा न वाऽयमिति, रामसदृशोऽयमिति, च सम्यङ्मिथ्यासंशयसादृश्यप्रतीतिभ्यो विलक्षणया चित्रतुरगादिन्यायेन रामोऽयमिति प्रतिपत्त्या ग्राह्ये नटे—

'सेयं ममाङ्गेषु सुधारसच्छटा सुपूरकर्पूरशलाकिका दृशोः ।
मनोरथश्रीर्मनसः शरीरिणी प्राणेश्वरी लोचनगोचरं गता ॥ २५ ॥

आध्यासिक प्रतीति मानी गयी है। जैसे रज्जुमें सर्पकी आध्यासिक या आरोपित प्रतीतिके समय सर्पके विद्यमान न होनेपर भी सर्पकी प्रतीति और उससे भयादि कार्योंकी उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार अभिनयादिके समय रामादिगत सीताविषयिणी अनुरागादिरूपा रतिके विद्यमान न होनेपर भी नटमें विद्यमानरूपसे उसकी प्रतीति और उसके द्वारा सहृदयोंमें चमत्कारानुभूति आदि कार्योंकी उत्पत्ति होती है। इसी सादृश्यके कारण इस सिद्धान्तको 'मीमांसा' अर्थात् 'उत्तर-मीमांसा' या 'वेदान्त'का अनुगामी सिद्धान्त कहा जा सकता है। इस व्याख्याके करनेवाले भट्टलोल्लट मीमांसक पण्डित थे।

भट्टलोल्लटके मतकी न्यूनता

भट्टलोल्लटकी इस व्याख्यामें सबसे बड़ी कमी यह प्रतीत होती है कि इसमें मुख्यरूपसे अनुकार्य तथा गौणरूपसे नटमें तो रसकी उत्पत्ति, अभिव्यक्ति और पुष्टि आदि मानी गयी है, परन्तु सामाजिकको रसानुभूति क्यों होती है इस समस्यापर कोई ध्यान नहीं दिया गया है। दूसरी बात यह है कि अनुकार्य सीता-राम आदि तो अब इस जगत्में नहीं हैं। अतः इस समय किये जानेवाले अभिनयमें उनमें रसकी उत्पत्ति नहीं बन सकती है। इसलिए उनके अनुकर्ता नटमें भी रसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है। ये दो इस व्याख्याके मुख्य दोष हैं। इसलिए यह व्याख्या अन्य आचार्योंको रुचिकर प्रतीत नहीं हुई।

शंकुकका अनुमितिवाद

इसलिए न्याय-सिद्धान्तके अनुयायी भरत-सूत्रके दूसरे टीकाकार शंकुकने इस सूत्रकी दूसरे प्रकारसे व्याख्या उपस्थित की है। उसमें उन्होंने सामाजिकके साथ रसका सम्बन्ध दिखलानेका प्रयत्न किया है। इस व्याख्याके अनुसार नट कृत्रिमरूपसे अनुभाव आदिका प्रकाशन करता है। परन्तु उनके सौन्दर्यके बलसे उनमें वास्तविकता-सी प्रतीत होती है। उन कृत्रिम अनुभाव आदिको देखकर सामाजिक नटमें वस्तुतः विद्यमान न होनेपर भी, उसमें रसका अनुमान कर लेता है और अपनी वासनाके वशीभूत होकर उस अनुमीयमान रसका आस्वादन करता है। शंकुककी इस व्याख्याको काव्यप्रकाशकारने निम्नलिखित प्रकारसे उपस्थित किया है—

१. 'यह राम ही है' अथवा 'यह ही राम है' [इस प्रकारकी सम्यक् प्रतीति], २. 'यह राम नहीं है' इस प्रकार उत्तरकालमें बाधित होनेवाली 'यह राम है' [इस प्रकारकी मिथ्याप्रतीति], ३ 'यह राम है या नहीं' [इस प्रकारकी संशयरूप प्रतीति] और ४ 'यह रामके समान है' [इस प्रकारकी सादृश्य-प्रतीति], इन १ सम्यक् प्रतीति, २ मिथ्याप्रतीति, ३ संशयप्रतीति तथा ४ सादृश्यप्रतीतियोंसे भिन्न प्रकारकी 'चित्र-तुरग-न्याय'से होनेवाली [पाँचवें प्रकारकी] प्रतीतिसे ग्राह्य नटमें—

मेरे अंगोंमें सुधारसके समान [आनन्ददायिनी], आँखोंके लिए कपूरकी शलाकाके समान [शीतलतादायक] और मनके लिए शरीर-धारिणी मनोरथश्रीके समान वह प्राणेश्वरी मुझे अब दिखायी दे रही है ॥ २५ ॥

'बाष्पेण तया चपलायतनेत्रया वियुक्तश्च ।
अविरलविलोलजलदः कालः समुपागतश्चायम् ॥' २६ ॥

इत्यादिकाव्यानुसन्धानबलाच्छिक्षाभ्यासनिर्वर्तितस्वकार्यप्रकटनेन च नटेनैव प्रकाशितैः कारणकार्यसहकारिभिः कृत्रिमैरपि तथाऽनभिमन्यमानैर्विभावादिशब्दव्यपदेश्यैः 'संयोगात्' गम्यगमकभावरूपात्, अनुमीयमानोऽपि वस्तुसौन्दर्यबलाद्रसनीयत्वेनान्यानुमीयमानविलक्षणः स्थायित्वेन सम्भाव्यमानो रत्यादिर्भावस्तत्रासन्नपि सामाजिकानां वासनया चर्व्यमाणो रस इति श्रीशङ्कुकः ।

देवान् मैं चञ्चल, बड़ी-बड़ी आँखोंवाली उस [प्रियतमा] से आज ही अलग हुआ और [आज ही] निरन्तर उमड़ते हुए मेघोंसे युक्त यह [सन्तापकारी वर्षाका] काल आ गया ॥ २६ ॥

इत्यादि काव्योंके अनुशीलनसे तथा शिक्षाके अभ्याससे सिद्ध किये हुए अपने [अनुभाव इत्यादि] कार्यसे नटके ही द्वारा प्रकाशित किये जानेवाले, कृत्रिम होनेपर भी कृत्रिम न समझे जानेवाले, विभाव आदि शब्दसे व्यवहृत होनेवाले, कारण, कार्य और सहकारियोंके साथ 'संयोग' अर्थात् गम्य-गमकभावरूप सम्बन्धसे, अनुमीयमान होनेपर भी, वस्तुके सौन्दर्यके कारण तथा आस्वादका विषय होनेसे अन्य अनुमीयमान अर्थोंसे विलक्षण स्थायीरूपसे सम्भाव्यमान रति आदि भाव वहाँ [अर्थात् नटमें वास्तवरूपमें] न रहते हुए भी सामाजिकके संस्कारोंसे [स्वात्मगतत्वेन] आस्वाद किया जाता हुआ 'रस' कहलाता है। यह श्रीशंकुकका मत है। [इस मतमें भरत-सूत्रके 'निष्पत्ति' शब्दका अर्थ 'अनुमिति' और 'संयोग' शब्दका अर्थ गम्य-गमकभाव सम्बन्ध है।]

श्रीशङ्कुकके मतका विश्लेषण किया जाय तो उसमें निम्नलिखित बातें विशेष ध्यान देने योग्य पायी जाती हैं—

१—शङ्कुकने नटमें रसको अनुमेय माना है। अनुमानकी सामग्रीमें, नटमें 'चित्रतुरग न्याय'से राम-बुद्धिका प्रतिपादन किया है। जैसे घोड़ेके चित्रको देखकर 'यह घोड़ा है' इस प्रकारका व्यवहार होता है, परन्तु इस प्रतीतिको १. न सत्य कहा जा सकता है, २. न मिथ्या, ३. न संशयरूप कहा जा सकता है और ४. न सादृश्यरूप प्रतीति ही माना जा सकता है। चित्रस्थ तुरगमें होनेवाली बुद्धि इन चारों प्रकारकी बुद्धियोंसे भिन्न होती है। इसी प्रकार नटमें जो राम-बुद्धि होती है वह १. सम्यक्, २. मिथ्या, ३. संशय तथा ४. सादृश्य इन चारों प्रकारकी प्रतीतियोंसे विलक्षण होती है।

२—रसकी अनुमितिमें राम-सीता आदि विभावोंकी प्रतीति तो चित्रतुरग-न्यायसे होती ही है, इसके अतिरिक्त जिन अनुभाव तथा व्यभिचारिभावरूप लिङ्गोंसे उनमें 'इयं सीता रामविषयकरतिमती तस्मिन् विलक्षणस्मितकटाक्षादिमत्त्वात्' इस प्रकारका अनुमान होता है, वे लिङ्ग भी यथार्थ नहीं हैं। यथार्थ स्मित-कटाक्षादि अनुभाव तो यथार्थ सीता राम आदिमें ही रहे होंगे। पर यहाँ चित्रतुरग-न्यायसे उपस्थित सीता रामरूप नटमें यथार्थ स्मित-कटाक्षादि नहीं हैं। नट अपने शिक्षा और अभ्याससे कृत्रिम स्मित कटाक्षादिका प्रदर्शन करता है। इस प्रकार कृत्रिम आलम्बनरूप सीता राम आदिमें नटों द्वारा कृत्रिमरूपसे प्रकाशित स्मित कटाक्षादिसे 'इयं सीता रामविषयकरतिमती' या 'अयं रामः सीताविषयकरतिमान् तत्र विलक्षणस्मितकटाक्षादिमत्त्वात्' इस प्रकार आनुमानिक रसकी प्रतीति होती है।

'न ताटस्थ्येन नात्मगतत्वेन रसः प्रतीयते, नोत्पद्यते, नाभिव्यज्यते अपितु काव्ये

स्थिति 'तटस्थ' राम या नट आदिमें न मानकर 'आत्मगत' अर्थात् सामाजिकगत मानी है। सामाजिकमें भी रसकी 'उत्पत्ति' या 'अनुमिति' न मानकर उसकी अभिव्यक्ति मानी है। परन्तु भट्टनायकके मतमें यह 'अभिव्यक्तिवाद' भी ठीक नहीं है, क्योंकि अभिव्यक्ति सदा पूर्वसे विद्यमान वस्तुकी ही होती है। रस अनुभूतिस्वरूप है। अनुभूतिकालसे पहिले या पीछे उसकी सत्ता नहीं है। 'अभिव्यक्त' होनेवाली वस्तुका अस्तित्व अभिव्यक्तिके पहले भी रहता है और बादको भी। परन्तु रसकी यह स्थिति नहीं है। रस अनुभूतिकालमें ही रहता है, उसके आगे या पीछे नहीं। इसलिए रसकी अभिव्यक्ति माननेवाला सिद्धान्त भी ठीक नहीं है। 'आत्मगतत्वेन नाभिव्यज्यते' आत्मगत अर्थात् सामाजिकगत रूपसे रस अभिव्यक्त भी नहीं होता है। इस प्रकार भट्टनायकने 'उत्पत्तिवाद', 'अनुमितिवाद' और 'अभिव्यक्तिवाद' तीनोंका खण्डन करके अपने 'भुक्तिवाद'की स्थापना की है और उसीको रसानुभूतिकी समस्याका सबसे सुन्दर समाधान माना है।

भट्टनायकने अपने 'भुक्तिवाद'की स्थापना करनेके लिए शब्दमें स्वीकृत अभिधा और लक्षणा शक्तिके अतिरिक्त 'भावकत्व' तथा 'भोजकत्व'रूप दो नये व्यापारोंकी कल्पना की है। उनके मतानुसार अभिधा या लक्षणासे काव्यका जो अर्थ उपस्थित होता है उसको शब्दका 'भावकत्व' व्यापार परिष्कृत कर सामाजिकके उपभोगके योग्य बना देता है। काव्यसे जो अर्थ अभिधा द्वारा उपस्थित होता है वह एक विशेष नायक और विशेष नायिकाकी प्रेमकथा आदिके रूपमें व्यक्तिविशेषसे सम्बद्ध होता है। इस रूपमें सामाजिकके लिए उसका कोई उपयोग नहीं होता है। शब्दका 'भावकत्व' व्यापार उस कथामें परिष्कार कर उसमेंसे व्यक्तिविशेषके सम्बन्धको हटाकर उसका 'साधारणीकरण' कर देता है। इस 'साधारणीकरण'के बाद सामाजिकका उस कथाके साथ सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। अपनी रुचि या संस्कारके अनुरूप सामाजिक उस कथाका एक पात्र स्वयं बन जाता है। इस प्रकार असली नायक-नायिका आदिकी जो स्थिति उस कथामें थी, 'साधारणीकरण' व्यापारके द्वारा सामाजिकको उस तरहका स्थान मिल जाता है। यह शब्दके 'भावकत्व' नामक दूसरे व्यापारका प्रभाव हुआ।

भट्टनायकके अनुसार इस 'भावकत्व' व्यापारसे काव्यार्थका 'साधारणीकरण' हो जाता है तब शब्दका 'भोजकत्व' नामक तीसरा व्यापार सामाजिकको रसका साक्षात्कारात्मक 'भोग' कराता है। यही भट्टनायकका 'भोजकत्व' सिद्धान्त है जो 'भुक्तिवाद' कहलाता है। इस प्रकार भट्टनायकने शब्दके अभिधा, लक्षणा आदिके अतिरिक्त 'भावकत्व' तथा 'भोजकत्व' रूप दो नवीन व्यापारोंकी कल्पना कर रसानुभूतिकी समस्याका समाधान करनेका प्रयत्न किया है। मम्मटने उनके सिद्धान्तका उल्लेख संक्षेपमें इस प्रकार किया है—

न ताटस्थ्येन [अर्थात् नटगत या अनुकार्यगतरूपसे] रसकी प्रतीति [अर्थात् अनुमिति] होती है और न उत्पत्ति होती है, [क्योंकि नटगत रसकी उत्पत्ति या अनुमिति माननेसे सामाजिकको रसका आस्वादन नहीं हो सकता है] और न आत्मगतत्वेन रूपसे [आत्मगतत्वेन रसकी] अभिव्यक्ति होती है [क्योंकि 'अभिव्यक्ति' सदा पूर्वसे विद्यमान वस्तुकी होती है। रस केवल अनुभूतिरूप ही है। अनुभूतिसे भिन्न कालमें उसकी स्थिति नहीं है।] इस प्रकार 'नोत्पद्यते'से उत्पत्तिवाद, 'न प्रतीयते'से अनुमितिवाद तथा 'नाभिव्यज्यते' पदसे आगे लिखे जानेवाले अभिव्यक्तिवादका [illegible] ही निराकरण कर दिया गया है। तब भट्टनायक

नाट्ये चाभिधातो द्वितीयेन विभावादिसाधारणीकरणात्मना भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानः स्थायी, सत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयसंविद्विश्रान्तिसतत्त्वेन भोगेन भुज्यते' इति भट्टनायकः।

मतमें सामाजिकको रसास्वादन कैसे होता है यह आगे बतलाते हैं]। अपितु काव्य अथवा नाट्यमें [शब्दके] अभिधा [तथा लक्षणा] से भिन्न विभावादिके साधारणीकरणस्वरूप 'भावकत्व' नामक व्यापारसे [विशेष सीता-राम आदिके सम्बन्धके बिना 'भाव्यमानः' अर्थात्] साधारणीकृत [रत्यादि] स्थायिभाव [योगाभ्यास आदि कालमें] सत्त्व [गुण] के उद्रेकसे [ब्रह्मानन्दसदृश] प्रकाश और आनन्दमय अनुभूतिकी [वेद्यान्तर-सम्पर्क-शून्यरूपसे] स्थितिके सदृश [अर्थात् ब्रह्मसाक्षात्कार-जन्य आनन्दानुभूतिके सदृश] भोगसे [अर्थात् शब्दके 'भोजकत्व' नामक व्यापारसे 'भुज्यते' अर्थात्] आस्वादित किया जाता है यह भट्टनायकका मत है। [इस मतमें सूत्रके 'निष्पत्ति' शब्दका अर्थ 'भुक्ति' है और 'संयोग'का अर्थ 'भोज्य-भोजकभाव सम्बन्ध' है]।

भट्टनायकके इस 'भुक्तिवाद'को व्याख्याकारोंने सांख्यमतानुयायी सिद्धान्त माना है। इस सिद्धान्तको सांख्य-सिद्धान्तका अनुगामी इस रूपमें कहा जा सकता है कि जैसे सांख्यमें सुख-दुःख आदि वस्तुतः अन्तःकरणके धर्म हैं, आत्माके धर्म नहीं, परन्तु पुरुषका अन्तःकरणके साथ सम्बन्ध होनेसे पुरुषमें उनकी औपाधिक प्रतीति होती है, उसी प्रकार सामाजिकमें न रहनेवाले रसका भोग उसको होता है इस सादृश्यके आधारपर ही इस सिद्धान्तको सांख्य-सिद्धान्तका अनुगामी कहा जा सकता है।

भट्टनायकके मतकी न्यूनता

भट्टनायकने अपनी इस प्रक्रिया द्वारा सामाजिकगत रसानुभूतिके उपपादनका अच्छा प्रयत्न किया है। पर उसमें उन्होंने शब्दमें 'भावकत्व' तथा 'भोजकत्व' नामक जिन दो नवीन व्यापारोंकी कल्पना की है वे अनुभवसिद्ध नहीं हैं और जिस स्थायिभावका 'भोग' बतलाया है वह राम-सीतादि-गत स्थायिभाव है या नटगत या सामाजिकगत, इसका भी स्पष्टीकरण नहीं हुआ है। इसलिए मुख्य-रूपसे अप्रामाणिक 'भोजकत्व' व्यापारपर आश्रित होनेसे भट्टनायकका 'भुक्तिवाद' विद्वानोंमें आदर प्राप्त न कर सका।

अभिनवगुप्तका अभिव्यक्तिवाद

इसलिए भरत-नाट्यशास्त्रके चतुर्थ किन्तु सर्वप्रमुख व्याख्याकार अभिनवगुप्तने 'अभिव्यक्ति-वाद'की स्थापना की है। जिस प्रकार भट्टलोल्लटने उत्तरमीमांसाके, श्रीशंकुकने न्यायके और भट्टनायकने सांख्यके आधारपर अपने-अपने मतोंकी स्थापना की है, उसी प्रकार अभिनवगुप्तने अपने पूर्ववर्ती अलङ्कारशास्त्रके प्रमुख ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्धनके आधारपर अपने 'अभिव्यक्तिवाद'-का प्रतिपादन किया है इसलिए उनका मत आलङ्कारिक मत कहा गया है। उन्होंने स्पष्टरूपसे सामाजिकगत रसानुभूतिके उपपादनके लिए दूसरे मार्गका अवलम्बन किया है। उसमें पहली बात तो उन्होंने यह स्पष्ट कर दी है कि सामाजिकगत स्थायिभाव ही रसानुभूतिका निमित्त होता है। मूल मन संवेग अर्थात् वासना या संस्काररूपमें रति आदि स्थायिभाव सामाजिककी आत्मामें स्थित रहता है। वह साधारणीकृतरूपसे उपस्थित विभावादि सामग्रीसे अभिव्यक्त या उद्बुद्ध हो जाता है और तन्मयीभावके कारण वेद्यान्तरके सम्पर्कसे शून्य ब्रह्मास्वादके सदृश परमानन्दरूपमें अनुभूत होता है।

लोके प्रमदादिभिः स्थाय्यनुमानेऽभ्यासपाटववतां काव्ये नाट्ये च तैरेव कारणत्वादिपरिहारेण विभावनादिव्यापारवत्त्वादलौकिकविभावादिशब्दव्यवहार्य्यैर्ममैवैते, शत्रोरेवैते, तटस्थस्यैवैते, न ममैवैते, न शत्रोरेवैते, न तटस्थस्यैवैते, इति सम्बन्धविशेषस्वीकारपरिहारनियमानध्यवसायात् साधारण्येन प्रतीतैरभिव्यक्तः सामाजिकानां वासनात्मकतया स्थितः स्थायी रत्यादिको नियतप्रमातृगतत्वेन स्थितोऽपि साधारणोपायबलात् तत्कालविगलितपरिमितप्रमातृभाववशोन्मिषितवेद्यान्तरसम्पर्कशून्यापरिमितभावेन प्रमात्रा सकलसहृदयसंवादभाजा साधारण्येन स्वाकार इवाभिन्नोऽपि गोचरीकृतश्चर्व्यमाणतैकप्राणः,

इस मतमें भट्टनायकके समान शब्दमें 'भावकत्व' तथा 'भोजकत्व' रूप दो व्यापारोंकी कल्पना नहीं की गयी है, परन्तु 'भावकत्व' व्यापारके स्थानपर 'साधारणीकरण' व्यापार, अभिधा तथा लक्षणाके साथ शब्दकी 'व्यञ्जना' नामक तृतीय वृत्ति अवश्य मानी गयी है। अभिनवगुप्तके इस सिद्धान्तको ग्रन्थकारने यहाँ निम्नलिखितरूपमें प्रस्तुत किया है—

लोकमें प्रमदा आदि [अर्थात् प्रमदा, उद्यान, कटाक्ष आदि विभाव, अनुभावादिके देखने] से [उन प्रमदादिमें रहनेवाले रति आदिरूप] स्थायी [भावों] के अनुमान करनेमें निपुण सहृदयोंका, काव्य तथा नाटकमें कारणत्व [कार्यत्व तथा सहकारित्व] आदिको छोड़कर विभावन आदि व्यापार [रत्यादीनां आस्वादयोग्यतानयनरूपाविर्भावनं विभावनम् अर्थात् रत्यादिको आस्वादयोग्य रूप प्रदान करना 'विभावन व्यापार' कहलाता है आदि पदसे 'अनुभावन' तथा 'व्यभिचारण' व्यापारका भी संग्रह होता है। इस प्रकारके आस्वादयोग्य रत्यादिको अनुभवविषयीकरणमनुभावनम्, अनुभवका विषय बनाना 'अनुभावन' तथा 'काये विशेषेण अभितः रत्यादीनां सञ्चारणं व्यभिचारणम्' शरीरमें रति आदिके प्रभावका सञ्चारण 'व्यभिचारण' व्यापार है] से युक्त होनेसे विभावादि शब्दोंसे व्यवहार्य उन्हीं [प्रमदादि रूप कारण, कार्य, सहकारियों] से [जो] 'ये मेरे ही हैं' या 'शत्रुके ही हैं' या 'तटस्थके ही हैं' अथवा 'ये न मेरे ही हैं', 'न शत्रुके ही हैं' और 'न तटस्थके ही हैं' इस प्रकारके सम्बन्धविशेषको स्वीकार अथवा परिहार करनेके नियमका निश्चय न होनेसे साधारण [अर्थात् विशेष व्यक्तिके सम्बन्धसे रहित] रूपसे प्रतीत होनेवाले [उन विभावादि] से ही अभिव्यक्त होनेवाला और सामाजिकोंमें वासनारूपसे विद्यमान रति आदि स्थायी [भाव] नियत प्रमाता [अर्थात् विशिष्ट एक सामाजिक] में स्थित होनेपर भी साधारणोपाय [अर्थात् व्यक्तिविशेषके सम्बन्धके बिना प्रतीत होनेवाले विभावादि] के बलसे उसी [रसानुभवके] कालमें [मैं ही इसका आस्वादनकर्ता हूँ, या ये विभावादि मेरे ही हैं, इस प्रकारके व्यक्तिगत भावनाओं रूप] परिमित प्रमातृभावके नष्ट हो जानेसे वेद्यान्तरके सम्पर्कसे शून्य और अपरिमित प्रमातृभाव जिसमें उदित हो गया है इस प्रकारके [प्रमाता] सामाजिकके द्वारा, समस्त [सामाजिकों] सहृदयोंके साथ समानरूपसे [व्यक्तिविशेषके सम्बन्धसे रहित साधारणरूपसे], अपनी आत्माके समान [आस्वादसे] अभिन्न होनेपर भी, [आस्वादका] विषय होकर, [अर्थात् जैसे अद्वैत वेदान्तमें नित्यरूपसे अभिन्न आत्माको भी साक्षात्कारका 'विषय' माना जाता है इसी प्रकार रसानुभूतिमें अनुभूतिसे अभिन्न होनेपर भी रसको 'विषय' कहा जा

चर्वणानिष्पत्त्या तस्य निष्पत्तिरुपचरितेति कार्योऽप्युच्यताम्। लौकिकप्रत्यक्षादि-प्रमाणताटस्थ्यावबोधशालिमितयोगिज्ञानवेद्यान्तरसंस्पर्शरहितस्वात्ममात्रपर्यवसितपरिमितेतरयोगिसंवेदनविलक्षणलोकोत्तरस्वसंवेदनगोचर इति प्रत्येयोऽप्यभिधीयताम्।

जाते हैं यह प्रश्न करो तो [हमारा उत्तर यह है कि] कहीं नहीं पाये जाते हैं यह बात तो अलौकिकत्वकी सिद्धिका भूषण है, दूषण नहीं [इसलिए रस वस्तुतः न 'कार्य' है और न 'ज्ञाप्य'। वह 'अलौकिक' है]।

आस्वादकी उत्पत्ति होनेसे उपचारसे उसकी भी उत्पत्ति कही जा सकती है इसलिए [रसको उपचारसे] 'कार्य' भी कहा जा सकता है और १. लौकिक प्रत्यक्षादि [से भिन्न], तथा २. बिना प्रमाणोंकी सहायताके [प्रमाणताटस्थ्य] से होनेवाले 'मित-योगि-ज्ञान' [अर्थात् बिना प्रमाणोंकी सहायताके योगजसामर्थ्यसे सिद्ध युञ्जान योगियोंके ज्ञानसे भिन्न] तथा ३. वेद्यान्तरके संस्पर्शसे रहित, स्वात्म [साक्षात्कार] मात्रमें पर्यवसित, परिमितसे भिन्न योगियों [अर्थात् युक्त योगियों] के ज्ञानसे भिन्न, [लौकिक प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे जन्य लौकिक प्रत्यक्ष तथा युञ्जान एवं युक्त दोनों प्रकारके योगियोंके ज्ञानसे विलक्षण] लोकोत्तर अनुभूतिका विषय होता है इसलिए [रसको उपचारसे] 'ज्ञेय' भी कहा जाता है [परन्तु वस्तुतः वह न 'कार्य' है और न 'ज्ञाप्य', अपितु अलौकिक है]।

ऊपर ग्रन्थकारने यह कहा था कि लौकिक पदार्थ 'कार्य' या 'ज्ञाप्य' दोनोमेसे किसी एक वर्गमे अवश्य आते है, किन्तु रस इन दोनोंमेंसे किसी भी वर्गमे नहीं आता है। इसलिए वह लौकिक पदार्थोंसे भिन्न है। इस विषयमे एक और भी युक्ति इसी अनुच्छेदके भीतर आ गयी है। वह यह है कि हम लौकिक प्रत्यक्षज्ञानको तीन भागोंमे विभक्त कर सकते हैं—एक अस्मदादिका प्रत्यक्ष, दूसरा मित-योगी अर्थात् अपरिपक्व सविकल्पक समाधिमे स्थित युञ्जान योगियोका ज्ञान और तीसरा परिमितेतर योगी अर्थात् परिपक्व या युक्त योगियोका ज्ञान। अस्मदादिका साक्षात्कारात्मक ज्ञान प्रत्यक्षादि प्रमाणोकी सहायतासे ही होता है। मित योगियोका ज्ञान प्रत्यक्षादि प्रमाणोकी सहायताके बिना [प्रमाणताटस्थ्य] योगज-सामर्थ्यसे ही हो जाता है। और तीसरा परिमितेतर योगी अर्थात् परिपक्व निर्विकल्पक समाधिमे स्थित योगीका ज्ञान वेद्यान्तरके स्पर्शसे रहित केवल आत्मानुभूतिमात्र होता है। रसकी अनुभूति इन तीन प्रकारके ज्ञानोसे विलक्षण है। वह न तो अस्मदादिके प्रत्यक्षके समान प्रत्यक्षादि प्रमाणोसे उत्पन्न होती है, न 'प्रमाणताटस्थ्य'वाले मित-योगि-ज्ञानका विषय है और न निर्विकल्पक समाधिमें स्थित योगियोंकी वेद्यान्तर-स्पर्शरहित आत्मानुभूतिरूप ही है। इस प्रकार इन तीनो प्रकारकी अनुभूतियोंसे विलक्षण होनेके कारण वह अलौकिक ही है।

इस अनुच्छेदकी इस बातको कहनेवाली पंक्तिको बहुत ध्यानसे समझनेकी आवश्यकता है। उसमे १. 'प्रत्यक्षादि', २. 'प्रमाणताटस्थ्यावबोधशालिमित योगि-ज्ञान' और ३. 'वेद्यान्तरसंस्पर्शरहित-स्वात्ममात्रपर्यवसित परिमितेतर-योगि संवेदन' ये तीनो वाक्यांश विशेषरूपसे ध्यान देने योग्य है। रसकी प्रतीति इन तीनो प्रकारके साक्षात्कारात्मक ज्ञानसे विलक्षण है। यह भी उसकी अलौकिकताका एक प्रमाण है। यह ग्रन्थकारका आशय है।

रसकी अलौकिकताकी तीसरी युक्ति

विगत प्रकरणमे रसको 'कार्य' तथा 'ज्ञाप्य' और उसके हेतुको कारक तथा ज्ञापक दोनोंसे भिन्न सिद्ध करके उसकी अलौकिकताका उपपादन किया था। अगले अनुच्छेदमे इसीकी सिद्धिके लिए

तद्ग्राहकं च[1] न निर्विकल्पकं विभावादिपरामर्शप्रधानत्वात्। नापि सविकल्पकं चर्व्यमाणस्यालौकिकानन्दमयस्य स्वसंवेदनसिद्धत्वात्। उभयाभावस्वरूपस्य चोभयात्मकत्वमपि पूर्ववल्लोकोत्तरतामेव गमयति न तु विरोधमिति श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तपादाः।

अभिनवगुप्तने तीसरी युक्ति यह दिखलायी है कि उसका ग्रहण न 'सविकल्पक-ज्ञान'से हो सकता है और न 'निर्विकल्पक-ज्ञान'से, इसलिए भी वह 'अलौकिक' है। 'सविकल्पक-ज्ञान' उसको कहते हैं, जिसमें पदार्थके स्वरूपके अतिरिक्त उसके नाम, उसकी जाति आदिका भी भान होता है। 'नामजात्यादियोजनासहितं ज्ञानं सविकल्पकम्।' जैसे घट, पट आदि पदार्थोंके ज्ञानमें उनके स्वरूपके साथ वस्तुके नाम, जाति आदिका भी भान होता रहता है। इसलिए 'घटः पटः' आदि ज्ञानको 'सविकल्पक-ज्ञान' कहते हैं। वह शब्द-व्यवहारका विषय होता है। परन्तु रसानुभूति तो स्वसंवेदनमात्ररूप होती है, शब्द-व्यवहारका विषय नहीं होती है, इसलिए उसमें नामजात्यादिके भानका कोई अवसर नहीं है। अतएव रसको 'सविकल्पक-ज्ञान'से ग्राह्य नहीं कह सकते हैं।

'सविकल्पक-ज्ञान'से भिन्न दूसरा 'निर्विकल्पक-ज्ञान' होता है। नामजात्यादि योजनासहित ज्ञानको 'सविकल्पक-ज्ञान' कहते हैं तो नाम, जाति, विशेषण-विशेष्यभाव आदिसे रहित केवल वस्तुमात्रका अवगाहन करनेवाला ज्ञान 'निर्विकल्पक-ज्ञान' कहलाता है। इस 'निर्विकल्पक-ज्ञान'को समझनेके लिए बालक तथा मूक पुरुषके ज्ञानको उदाहरणरूपमें प्रस्तुत किया जाता है। 'बालमूकादिविज्ञानसदृशं निर्विकल्पकम्'। उदाहरणके लिए, एक घड़ी बालकके सामने रखी है। बालकको उस घड़ीका ज्ञान उसी प्रकारका होता है जिस प्रकारका किसी बड़े आदमीको। उसका गोल डायल, उसपर बने हुए अङ्क और लगी हुई सुइयाँ आदि हमारी ही तरह बालकको भी प्रतीत होती हैं। अन्तर केवल इतना है कि बालक उसके नाम, उपयोग आदिको नहीं जानता है और बड़ा व्यक्ति इन सबको जानता है इसलिए बालकका ज्ञान नाम, जाति आदिकी योजनासे रहित होनेसे 'निर्विकल्पक ज्ञान' कहलाता है और बड़े व्यक्तियोंका ज्ञान 'सविकल्पक-ज्ञान' कहलाता है। बड़े व्यक्तियोंका जो 'सविकल्पक-ज्ञान' होता है वह भी प्रथम क्षणमें 'निर्विकल्पक ज्ञान' ही होता है। शब्दव्यवहारके आ जानेसे वह अत्यन्त शीघ्रतासे सविकल्पक-ज्ञानके रूपमें परिणत हो जाता है। इसलिए उसका निर्विकल्पक स्वरूप अनुभवमें नहीं आता है। रसकी प्रतीतिमें विभावादिकी प्रतीति भी होती रहती है इसलिए स्वरूपालम्बनात्मक-ज्ञान होनेसे निर्विकल्पक-ज्ञान भी उसका ग्राहक नहीं हो सकता है और न वह सविकल्पकका विषय होता है। यह भी रसकी अलौकिकताका प्रमाण है। इस बातको ग्रन्थकारने अपने अनुच्छेदमें इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

[रसकी प्रतीतिमें] विभावादिके परामर्शकी प्रधानता होनेसे निर्विकल्पक-ज्ञान उसका ग्राहक नहीं हो सकता है और आस्वाद्यमान अलौकिक आनन्दमय [रस]के स्वसंवेदनसिद्ध होनेसे सविकल्पक-ज्ञान भी उसका ग्राहक नहीं हो सकता है। तथा उभयाभावस्वरूपता [अर्थात् निर्विकल्पक तथा सविकल्पक दोनोंसे भिन्न इस स्वरूप] उभयात्मकत्व [अर्थात् सविकल्पकत्व और निर्विकल्पकत्व] भी पहिलेके समान ही लोकोत्तरताको ही सूचित करता है विरोधको नहीं। यही श्रीमान् आचार्य अभिनवगुप्तपादका मत है।

१. [illegible]

व्याघ्रादयो विभावा भयानकस्येव वीराद्भुतरौद्राणाम्, अश्रुपातादयोऽनुभावाः शृङ्गारस्येव करुणभयानकयोः, चिन्तादयो व्यभिचारिणः शृङ्गारस्येव वीरकरुणभयानकानामिति पृथगनैकान्तिकत्वात् सूत्रे मिलिता निर्दिष्टाः।

विपदलिमलिनाम्बुगर्भमेघं मधुकरकोकिलकूजितैर्दिशां श्रीः।
धरणिरभिनवाङ्कुराङ्कटङ्का प्रणतिपरे दयिते प्रसीद मुग्धे ॥२७॥

इत्यादौ

'काव्यप्रकाश'का यह प्रकरण साहित्यशास्त्रके इतिहासमें सामाजिकगत रसनिष्पत्तिके सिद्धान्तका द्योतक है। भरतसूत्रकी व्याख्यामें जो अनेक मत पाये जाते हैं उनका संग्रह काव्यप्रकाशकारने बड़ी सुन्दरताके साथ किया है। यह प्रकरण यद्यपि काव्यप्रकाशकारने 'अभिनवभारती'से लिया है, परन्तु उन्होंने 'अभिनवभारती'के अत्यन्त विस्तृत एवं जटिल विवेचनको संक्षिप्त एवं अपेक्षाकृत सरल रूपमें प्रस्तुत करनेका यत्न किया है। इन मतोंमेंसे अभिनवगुप्तपादाचार्य द्वारा प्रतिपादित मत ही काव्यप्रकाशकारका अभिमत सिद्धान्तपक्ष है।

सूत्रमें विभावादिका सम्मिलित निर्देश क्यों ?

सूत्रकी व्याख्यामें एक बात और रह जाती है कि सूत्रकारको प्रत्येक रसके विभाव, अनुभाव, व्यभिचारिभाव आदिको अलग अलग दिखलाना चाहिये था। उन्होंने ऐसा न कर सबका इकट्ठा निर्देश क्यों कर दिया है ? इस प्रश्नका उत्तर ग्रन्थकार अगले अनुच्छेदमें यह देते हैं कि—

व्याघ्र आदि विभाव भयानकरसके समान वीर, अद्भुत तथा रौद्र [रस] के [भी हो सकते हैं], अश्रुपात आदि अनुभाव शृङ्गारके समान करुण तथा भयानक रसके [भी हो सकते हैं]; चिन्ता आदि व्यभिचारिभाव शृङ्गारके समान वीर, करुण तथा भयानकके [भी हो सकते हैं], इसलिए उनके अलग-अलग अनैकान्तिक होनेसे [अर्थात् किसी एक ही रसके साथ निश्चित न होनेसे] सूत्रमें [उनको] सम्मिलित रूपसे ही निर्दिष्ट किया गया है।

विभावादिके अनुक्त होनेपर आक्षेप द्वारा बोध

इसके बाद एक और शङ्काका समाधान करनेके लिए ग्रन्थकारने अगले प्रकरणकी अवतारणा की है। प्रश्न यह है कि रसकी उत्पत्तिमें जब विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभावोंकी सम्मिलितरूपसे कारणताका प्रतिपादन सूत्रकारने किया है तब जहाँ इन तीनोंका इकट्ठा वर्णन न होकर किसी एकका या किन्हीं दोका ही वर्णन हो, वहाँ रसकी निष्पत्ति किस प्रकार होगी ? इस शङ्काको प्रस्तुत करनेके लिए ग्रन्थकारने आगे तीन श्लोक उद्धृत किये हैं। इनमेंसे पहिले श्लोकमें केवल वर्षाकालरूप उद्दीपन-विभावका, दूसरे श्लोकमें वियोगिनी नायिकाके केवल अनुभावोंका और तीसरे श्लोकमें केवल औत्सुक्य आदि व्यभिचारिभावोंका वर्णन किया गया है। इन तीनों श्लोकोंको उद्धृत करनेके बाद शङ्काका स्पष्टीकरण करके उसका निराकरण किया गया है। श्लोकोंका अर्थ इस प्रकार है—

हे मुग्धे ! आकाश भौंरोंके समान काले-काले, जलसे भरे हुए मेघोंसे आच्छादित हो रहा है, भौंरों एवं कोयलोंके कूजनसे दिशाएँ शोभायमान हो रही हैं और पृथ्वी [सन्तापदायक होनेसे पत्थर काटनेवाली छोटेकी] टाँकियोंके समान अंकुरोंवाली हो रही है। [ऐसी दशामें तुम्हारा मान अधिक देरतक टिकनेवाला नहीं है] इसलिए प्रियतमके प्रणाम करनेपर मान जाओ [अपने हठको छोड़ दो] ॥ २७ ॥

परिमृदितमृणालीम्लानमङ्गं प्रवृत्तिः
कथमपि परिवारप्रार्थनाभिः क्रियासु ।
कलयति च हिमांशोर्निष्कलङ्कस्य लक्ष्मी-
मभिनवकरिदन्तच्छेदकान्तः कपोलः ॥ २८ ॥

इत्यादौ

दूरादुत्सुकमागते विवलितं सम्भाषिणि स्फारितं
संश्लिष्यत्यरुणं गृहीतवसने किंचाञ्चितभ्रूलतम् ।
मानिन्याश्चरणानतिव्यतिकरे बाष्पाम्बुपूर्णेक्षणं
चक्षुर्जातमहो प्रपञ्चचतुरं जातागसि प्रेयसि ॥ २९ ॥

इत्यादौ च

इत्यादिमें [केवल मुग्धा दयितारूप आलम्बन-विभाव और वर्षा ऋतुके मेघरूप उद्दीपन-विभावका ही वर्णन है। शेष अनुभाव, व्यभिचारिभाव आदिका आक्षेपसे बोध होता है]।

यहाँ वर्षा ऋतुका वर्णन है, उसके भीतर भ्रमरों और कोकिलोंके कूजनकी भी चर्चा की गयी है। साधारणतः वर्षामें कोकिलोंका वर्णन उचित नहीं समझा जाता है। इसलिए कुछ व्याख्याकारोंने इसकी यह व्याख्या की है कि सखीने मुग्धा नायिकाको भयभीत करनेके लिए ही यहाँ कोकिलोंका उल्लेख कर दिया है। दूसरे व्याख्याकारोंने मधुकरोंपर कोकिलका आरोप कर 'मधुकरा एव कोकिलाः मधुकरकोकिलाः' इस प्रकारकी व्याख्या की है। तीसरे व्याख्याकारोंका मत यह है कि वर्षा ऋतुमें भी कोकिलोंका वर्णन अस्वाभाविक नहीं है।

'परिमृदितमृणाली' इत्यादि अगला श्लोक 'मालतीमाधव' नामक नाटकसे लिया गया है। प्रथमाङ्कमें मालतीकी दशाके वर्णनमें यह उक्ति आयी है। उसमें अङ्गम्लानि, पाण्डुता आदि केवल अनुभावोंका वर्णन है, शेष दोका आक्षेप द्वारा बोध होता है।

उस [मालती]का शरीर मसली हुई मृणालीके समान मलिन हो रहा है, [भोजन आदि जीवनोपयोगी क्रियाओंमें भी] सखियोंकी प्रार्थनापर जैसे-तैसे प्रवृत्ति होती है और तुरन्त काटे गये हाथीदाँतके टुकड़ेके समान सुन्दर [और पीला पड़ा हुआ] गाल निष्कलङ्क चन्द्रमाकी-सी कान्तिको धारण कर रहा है ॥ २८ ॥

इत्यादिमें [केवल अङ्गम्लानि आदि अनुभावोंका वर्णन किया गया है]।

अगला श्लोक 'अमरुकशतक'से लिया गया है। उसमें [illegible] केवल औत्सुक्य आदि व्यभिचारिभावोंका वर्णन किया गया है। शेषका आक्षेप द्वारा बोध होता है।

दूरसे [नायकको आता हुआ देखकर] उत्सुकतापूर्ण, [परन्तु समीप] आनेपर [कहीं इन्होंने मेरी उत्सुकताको भाँप तो नहीं लिया है, इस लज्जासे] नीचे की हुई, बात करनेपर प्रसन्नतासे खिली हुई, आलिङ्गन [करनेका यत्न] करनेपर [क्रोधसे] लाल हुई, वस्त्र पकड़नेपर तनिक भृकुटी चढ़ाये हुए और चरणोंमें नमस्कार करनेपर आँसुओंसे भरी हुई मानिनीकी आँखें प्रियतमके [परस्त्री-समागमरूप] अपराध करनेपर [illegible] प्रपञ्च रचनामें चतुर हो गयी हैं ॥ २९ ॥

इत्यादिमें [केवल औत्सुक्य आदि व्यभिचारिभावोंका वर्णन किया गया है]।

यद्यपि विभावानाम्, अनुभावानाम्, औत्सुक्यव्रीडाहर्षकोपासूयाप्रसादानां च व्यभिचारिणां केवलानामत्र स्थितिः, तथाप्येतेषामसाधारणत्वमित्यन्यतमद्वयाक्षेपकत्वे सति नानैकान्तिकत्वमिति ॥

तद्विशेषानाह—

[सू० ४४] शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः ।
बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः॥२९॥

यद्यपि यहाँ [इन तीनों श्लोकोंमेंसे पहिले श्लोकमे मुग्धा दयितारूप आलम्बन और वर्षारूप उद्दीपन] विभावोकी, [दूसरे श्लोकमें अङ्गम्लानि आदि] अनुभावोकी और [तीसरे श्लोकमें] औत्सुक्य, लज्जा, प्रसन्नता, कोप, असूया तथा प्रसादरूप केवल व्यभिचारिभावोंकी ही स्थिति है। फिर भी इनके [प्रकृत रतिके बोधमें] असाधारण [लिङ्ग] होनेसे [उनके द्वारा] शेष दोका आक्षेप हो जानेपर [विभाव आदि तीनोके संयोगसे रसनिष्पत्तिके सिद्धान्तका] व्यभिचार नहीं होता है।

उस [रस] के [आठ] भेदोंका वर्णन करते हैं—

[सूत्र ४४]—१. शृङ्गार, २. हास्य, ३. करुण, ४. रौद्र, ५ वीर, ६. भयानक, ७. बीभत्स और ८. अद्भुत—नाट्यमे ये आठ रस माने जाते हैं ॥२९॥

रसोंका यह विशेष क्रम क्यों ?

यह कारिका मूलरूपसे भरतमुनिके नाट्यशास्त्रकी कारिका है। मम्मटने उसे भरत-नाट्यशास्त्र अ. ६-१६ से ज्योंका त्यों उतार लिया है। इसमे विशेषतः नाट्यगत आठ रसोका क्रमशः उद्देश अर्थात् नाममात्रसे कथन किया है। भरतमुनिने इन आठों रसोका जो इस विशेष क्रमसे कथन किया है उसका विशेष प्रयोजन है। इस प्रकारका उपपादन करते हुए 'अभिनवभारती' में अभिनवगुप्तने लिखा है—

तत्र कामस्य सकलजातिसुलभतयात्यन्तपरिचितत्वेन सर्वान् प्रति हृद्यतेति पूर्वं शृङ्गारः। तदनुगामी च हास्यः। निरपेक्षभावत्वात् तद्विपरीतस्ततः करुणः। ततस्तन्निमित्त रौद्रः। स चार्थप्रधानः। ततः कामार्थयोर्धर्ममूलत्वाद्वीरः। स हि धर्मप्रधानः। तस्य च भीताभयप्रदानसारत्वात्। तदनन्तरं भयानकः। तद्विभावसाधारण्यसम्भावनात्ततो बीभत्सः। वीरस्य पर्यन्तेऽद्भुतः। यद्वीरेण आक्षिप्त फलमित्यनन्तरं तदुपादानम्। तथा च वक्ष्यते—'पर्यन्ते कर्त्तव्यो नित्यं रसोऽद्भुतः' इति। ततस्त्रिवर्गात्मकप्रवृत्तिधर्मविपरीतनिवृत्तिधर्मात्मको मोक्षफलः शान्तः। तत्र स्वात्मावेशेन रसचर्वणा।

अर्थात् रति या काम न केवल मनुष्य जातिमे अपितु सभी जातियोमे मुख्य प्रवृत्तिके रूपमे पाया जाता है और सबको उसके प्रति आकर्षण होता है, इसलिए सबसे पहिले शृङ्गारको स्थान दिया गया है। हास शृङ्गारका अनुगामी है, इसलिए शृङ्गारके बाद हास्यरसको स्थान दिया गया है। सम्भोगशृङ्गारमें नायक नायिकाका मिलन होता है इसलिए एक-दूसरेकी अपेक्षा रहती है। विप्रलम्भशृङ्गारमें भी दोनोको मिलनकी आशा रहती है, अतः वे दोनो सापेक्ष—आशामय—रस हैं।

हास्यसे विपरीत स्थिति करुणरसकी है। इसलिए हास्यके बाद करुणरसको स्थान दिया गया है। अपने प्रियतम बन्धुके वास्तविक विनाश या भ्रमवश ही उसके विनाशका निश्चय हो जानेके बाद करुणरसकी सीमा प्रारम्भ होती है, उसमे पुनर्मिलनकी आशा नहीं रहती है। अतएव करुणरस नैराश्यमय होनेसे निरपेक्ष रस माना जाता है। भवभूतिने 'तटस्थं नैराश्यात्' कहकर करुणरसमें

विनाशात्मक स्वरूपका सूचित किया है। इस आधारपर यहाँ, भाग [illegible] निरपेक्षरूप होनेसे शृङ्गार और उसके अनुगामी हास्यके बाद करुणरसको रखा गया है। करुणरस की सीमा मरणके बाद प्रारम्भ होती है। मरणका सम्बन्ध प्रायः रौद्ररससे होता है। इसलिए करुणरसका निमित्तरूप होनेसे करुणके बाद उससे सम्बद्ध रौद्ररसको स्थान दिया गया है। यह रौद्ररस अर्थप्रधान होता है। काम और अर्थके धर्ममूलक होनेसे रौद्ररसके बाद वीररस रखा गया है। यह धर्मप्रधान होता है। वीररसका मुख्य कार्य भयभीतोंको अभय प्रदान करना है। इसलिए वीरके साथ उसके विरोधी भयानकरसको स्थान दिया गया है। उस भयानकरसके समान ही बीभत्सरसके विभाव होते हैं। क्योंकि वीररसके प्रभावसे ही बीभत्स दृश्य उपस्थित होते हैं, इसलिए भयानकके बाद बीभत्सरसको रखा गया है। वीरके बादमें अद्भुत होता है। इसीलिए आगे कहा जायगा कि अन्तमें सदा अद्भुतरसको स्थान देना चाहिये। इसलिए वीरके बाद अद्भुतरसको रखा गया है। उसके बाद धर्म-अर्थ-काम-रूप त्रिवर्गके साधनभूत प्रवृत्तिधर्मोंसे विपरीत निवृत्तिधर्मप्रधान और मोक्षफलवाला शान्तरस आता है। यद्यपि शान्तरसकी गणना यहाँ नहीं की गयी है, परन्तु काव्यमें शान्तरस भी माना जाता है। इसलिए सबसे अन्तमें उसको स्थान दिया जा सकता है।

शान्तरसकी स्थिति

शान्तरसकी स्थितिके विषयमें न केवल आधुनिक विद्वानोंमें, किन्तु प्राचीन विद्वानोंमें, भी मतभेद पाया जाता है। इस मतभेदका मुख्य आधार भरतमुनिका यह 'अष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः' [६–१६] श्लोक ही है। उसीको यहाँ काव्यप्रकाशकारने भी रसोंकी सङ्ख्याका निरूपण करते हुए उद्धृत किया है। भरतके इसी वचनके आधारपर प्राचीन आचार्योंमें महाकवि कालिदास, अमरसिंह, भामह और दण्डी आदिने भी नाटकके आठ ही रसोंका उल्लेख किया है तथा शान्त-रसका प्रतिपादन नहीं किया है। इसके विपरीत उद्भट, आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्तने स्पष्टरूपसे शान्तरसका प्रतिपादन किया है। बड़ौदासे प्रकाशित 'अभिनवभारती' व्याख्यासे युक्त भरत-नाट्य शास्त्रके द्वितीय संस्करणके सम्पादक श्रीरामस्वामी शास्त्री शिरोमणिने लिखा है कि शान्तरसकी स्थापना सबसे पहिले भरत-नाट्यशास्त्रके टीकाकार उद्भटने अपने 'काव्यालङ्कारसंग्रह' नामक ग्रन्थमें की है। उसके बाद आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्त आदिने उनका समर्थन किया है। उद्भटके पहिले शान्तरसकी कोई सत्ता नहीं मानी जाती थी। भरत-नाट्यशास्त्रके छठे अध्यायमें भी शान्तरसका वर्णन पाया जाता है, परन्तु उसके विरोधमें उक्त सम्पादक महोदयका मत है कि वह प्रक्षिप्त या बादका बढ़ाया हुआ है। इस अंशको प्रक्षिप्त माननेके लिए उन्होंने दो हेतु दिये हैं। पहिला हेतु तो यह है कि भरतमुनिने पहिले आठ ही रसोंका उल्लेख किया है तब बादमें नवम रसका वर्णन उनके ग्रन्थमें नहीं होना चाहिये था। अतः यह अंश प्रक्षिप्त है। उनकी दूसरी युक्ति यह है कि शान्तरसवाला यह प्रकरण 'नाट्यशास्त्र'की कुछ पाण्डुलिपियोंमें नहीं पाया जाता है। इसलिए वे इसको प्रक्षिप्त मानते हैं और शान्तरसकी सत्ता न माननेवाले पक्षके समर्थक हैं।

प्राचीन आचार्योंमें शान्तरसके सबसे प्रबल विरोधी धनञ्जय और धनिक हैं। 'दशरूपक तथा उसकी टीका, दोनोंमें बड़ी प्रौढ़ताके साथ शान्तरसका खण्डन किया गया है। उनके मतमें नाट्यमें आठ ही रस होते हैं। इसका अर्थ यह है कि नाट्यमें शान्तरस होता ही नहीं है। शान्त-रसको नाट्यमें स्थान न दिये जानेका कारण उसका अनभिनेयत्व है। जैसा कि अभी कहा है, शान्त रस निवृत्तिप्रधान है। अभिनयमें प्रवृत्तिका प्राधान्य होता है। निवृत्तिका अभिनय नहीं किया जा

सकता है। इसलिए अभिनयके उपयोगी न होनेसे अभिनयप्रधान नाट्यमें शान्तरसको स्थान नहीं दिया जाता है। इसकी चर्चा करते हुए 'दशरूपक'के टीकाकारने कुछ विस्तारके साथ इस प्रकार विवेचन किया है—

> 'शममपि केचित् प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य।
> निर्वेदादिरताद्रूप्यादस्थायी स्वदते कथम्।
> वैरस्यायैव तत्पोषस्तेनाष्टौ स्थायिनो मताः॥'

'इह शान्तरसं प्रति वादिनामनेकविधा विप्रतिपत्तयः। केचिदाहुः,—नास्त्येव शान्तो रसः, तस्याचार्येण विभावाद्यप्रतिपादनाल्लक्षणाकरणात्। अन्ये तु वस्तुतस्तस्याभावं वर्णयन्ति, अनादिकालप्रवाहायातरागद्वेषयोरुच्छेत्तुमशक्यत्वात्। अन्ये तु वीरबीभत्सादावन्तर्भावं वर्णयन्ति। एवं वा तावदस्तु। सर्वथा नाटकादावभिनयात्मनि स्थायित्वमस्माभिः शमस्य निषिध्यते। तस्य समस्तव्यापारप्रविलयरूपस्याभिनयायोगात्।

यत्तु कैश्चिन्नागानन्दादौ शमस्य स्थायित्वमुपवर्णितम्, तत्तु मलयवत्यनुरागेण आप्रबन्धप्रवृत्तेन विद्याधरचक्रवर्तित्वप्राप्त्या च विरुद्धम्। न ह्येकानुकार्यविभावालम्बनौ विषयानुरागापरागावुपलब्धौ। अतो दयावीरोत्साहस्यैव तत्र स्थायित्वम्।

विरुद्धाविरुद्धाविच्छेदित्वस्य निर्वेदादीनामभावादस्थायित्वम्। अत एव ते चिन्तादयः [illegible] व्यभिचार्यन्तरिता अपि परिपोषं नीयमाना वैरस्यमावहन्ति।' [दशरूपक ४।३५, ३६]

इसका अभिप्राय यह है कि शान्तरसको रस अथवा उसके स्थायिभाव शमको [illegible] माननेमें कई प्रकारके मतभेद पाये जाते हैं। उनमें एक मत यह है कि भरतमुनिने उसके [illegible] आदिका वर्णन नहीं किया है तथा उसका लक्षण नहीं किया है अतः शान्तरस [illegible]। दूसरा मत यह है कि वास्तवमें शान्तरस बन ही नहीं सकता है। क्योंकि अनादि कालसे [illegible] राग-द्वेषके संस्कारोंका सर्वथा नाश नहीं किया जा सकता है। इसलिए निर्वेदरूप स्थायिभाव [illegible] उसका उपपादन नहीं किया जा सकता है। तीसरे विचारकोंका मत है कि वीर, [illegible] उसका अन्तर्भाव किया जा सकता है। इन तीन मतोंका उल्लेख करनेके [illegible] कि इनमें कोई मत भी ठीक हो, हम उसका विचार नहीं करना [illegible] नाट्यमें शमको स्थायिभाव नहीं माना जा सकता, क्योंकि समस्त [illegible] अभिनय नहीं किया जा सकता है, इसलिए अभिनयप्रधान नाट्यमें शान्तरस [illegible] जा सकता है।

कुछ लोग यह कहते हैं कि यदि नाटकमें शान्तरसका [illegible] शान्तरसप्रधान 'नागानन्द' आदि नाटकोंकी रचना [illegible] दिया है कि 'नागानन्द'में शान्तरस मानना उचित नहीं [illegible] अनुरागका वर्णन सारे नाटकमें पाया जाता है और [illegible] अवसर प्राप्त होता है। इसलिए 'नागानन्द' [illegible] इसलिए उसका स्थायिभाव [illegible] उसका स्थायिभाव [illegible] धर्मके प्रति भी [illegible] 'नागानन्द' [illegible]

[illegible]

उपासिता [illegible]

अवस्थामें जब कि आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त, दोनोंने बड़े विस्तारके साथ शान्तरसकी स्थापना की है। 'अभिनवभारती'में अभिनवगुप्तने लगभग सौ पृष्ठोंमें अत्यन्त विस्तारके साथ शान्तरसका विवेचन किया है। आनन्दवर्धनने भी 'ध्वन्यालोक', पृष्ठ ४६० [हिन्दी-संस्करण]में 'महाभारत' का मुख्य रस शान्तरस माना है। इस प्रकार इन दोनों आचार्योंने शान्तरसका प्रबल समर्थन किया है। इसके अतिरिक्त भरतसूत्रके टीकाकार भट्टनायकने भी शान्तरसकी सत्ता स्वीकार की है। इसका परिचय 'अभिनवभारती'के प्रथम श्लोककी व्याख्याके प्रसङ्गमें भट्टनायककृत व्याख्याके उद्धृत भागसे प्राप्त होता है। पृष्ठ ३५ [हिन्दी-संस्करण] पर 'शान्तरसोपयोगोऽत्र भविष्यति' यह भट्टनायकका वचन अभिनवगुप्तने उद्धृत किया है।

इन लेखोंसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि भरत नाट्यशास्त्रके भट्टोद्भट, भट्टनायक तथा अभिनवगुप्त आदि सभी टीकाकार शान्तरसकी स्थिति मानते हैं। ऐसी दशामें रामस्वामी शास्त्रीका यह कहना कि भरत-नाट्यशास्त्रमें जो शान्तरसका प्रकरण आया है वह प्रक्षिप्त है, सर्वथा अनुचित प्रतीत होता है। प्राचीन टीकाकारोंके अनुसार भरतमुनि शान्तरसको मानते हैं। 'अष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः' इस वचनका आशय केवल नाट्यमें आठ रसोंका प्रतिपादन करना है। काव्यमें शान्तरस भी हो सकता है। इसीलिए भरतमुनिने आगे चलकर शान्तरसका भी प्रतिपादन किया है। उसको प्रक्षिप्त कहना या न मानना उचित नहीं है। अतः काव्यप्रकाशकारने आगे चलकर 'निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः।' लिखकर शान्तरसका भी प्रतिपादन किया है।

भक्तिरस

इन नौ रसोंके अतिरिक्त कुछ लोग भक्तिरसको भी अलग रस मानते हैं। इसकी स्थापना साहित्यिक क्षेत्रमें न होकर धार्मिक क्षेत्रमें हुई है। साहित्यशास्त्रमें इसकी गणना देवादिविषयक रतिके रूपमें भावोंमें की गयी है। उसे रस नहीं माना है। किन्तु गौडीय वैष्णव इसको अलग रस ही नहीं, अपितु सर्वश्रेष्ठ रस मानते हैं। रूपगोस्वामीने अपने 'भक्तिरसामृतसिन्धु' तथा 'उज्ज्वलनीलमणि' नामक ग्रन्थोंमें भक्तिरसका प्रतिपादन बडे विस्तारके साथ किया है। वे देवताविषयक रतिको तो साहित्यशास्त्रियोंके समान 'भाव' ही कहते हैं, किन्तु भक्तिरसका स्थायिभाव केवल श्रीकृष्णविषयक रतिको मानते हैं। श्रीकृष्ण देवता नहीं अपितु साक्षात् भगवान् हैं। इसलिए तद्विषयक रति देवविषयक रतिसे सर्वथा भिन्न है। इसीलिए 'भक्तिरस' 'भाव'के अन्तर्गत नहीं अपितु स्वतन्त्र रस है, ऐसा उनका मत है। उसके आलम्बन केवल [राम या] कृष्ण, उद्दीपन भक्तोंका समागम, तीर्थसेवन, नदी या एकान्त पवित्र स्थल आदि, भगवान्के नाम तथा लीलाका कीर्तन, गद्गद हो जाना, अश्रु-प्रवाह, कभी नाचना, कभी हँसना या कभी रोना आदि अनुभाव तथा मति, ईर्ष्या, वितर्क आदि व्यभिचारिभाव हैं। भक्तिरसके उदाहरणरूपमें 'पद्माकर'के निम्नलिखित पद्यको प्रस्तुत किया जा सकता है—

> व्याधहूँ ते बेहद असाधु हौं अजामिल लौं,
> ग्राह ते गुनाही, कैसे तिनको गिनाओगे,
> स्योरी हौं न शूद्र, नहीं केवट कहीं को त्यौं,
> न गौतमी-तिया जापै पग धरि आओगे,
> रामसों कहत पद्माकर पुकारि पुनि,
> मेरे महा पापन को पार हू न पाओगे।
> झूठो ही कलंक सुनि सीता जैसी सती तजी नाथ,
> हौं तो साँचो ही कलङ्की ताहि कैसे अपनाओगे।

इसमें भक्त भगवान्‌के सामने अपने अपराधोंको स्वीकार करता है और क्षमाकी याचनाके भावसे विनती कर रहा है। भगवान् राम आलम्बन विभाव हैं तथा भगवद्विषयक रति स्थायिभाव है।

वात्सल्यरस

इसके अतिरिक्त कुछ लोग 'वात्सल्यरस'को भी अलग रस मानते हैं। साहित्यशास्त्रके आचार्योंमें साहित्यदर्पणकार विश्वनाथने विशेषतया स्वतन्त्र रसके रूपमें वात्सल्यरसको प्रतिष्ठित किया है। हिन्दी कवियोंमें तुलसी तथा सूरकी रचनाओंमें इस रसका विशेष प्रभाव दिखलायी देता है। इसके उदाहरणके रूपमें निम्नलिखित पद्य प्रस्तुत किया जा सकता है—

> कबहूं ससि मांगत आरि करै, कबहूं प्रतिबिम्ब निहारि डरै,
> कबहूं करताल बजाइके नाचत, मातु सबै मन मोद भरै।
> कबहूं रिसिआय कहै हठिकै, पुनि लेत वही जेहि लागि अरै,
> अवधेसके बालक चारि सदा, तुलसी मन मन्दिरमें विहरै॥

छोटोंके प्रति स्नेह इसका स्थायिभाव है। छोटे बालक आलम्बन-विभाव, बालकोंकी तोतली बोली, सौन्दर्य, क्रीडा आदि उद्दीपन और स्नेहसे गोदमें ले लेना, आलिङ्गन, चुम्बन आदि व्यभिचारिभाव हैं।

किन्तु अभिनव साहित्यशास्त्रके आचार्य भक्ति और वात्सल्य इन दोनोंको अलग रस नहीं मानते, क्योंकि उनके आधारभूत स्थायिभाव कोई मौलिक स्थायिभाव नहीं है। वे सब स्नेहके ही रूपान्तरमात्र हैं। विभिन्नलिङ्गक और समवयस्क व्यक्तियोंका परस्पर स्नेह 'रति' कहलाता है। उत्तम या बड़ेका छोटेके प्रति स्नेह 'वात्सल्य' और छोटेका बड़ेके प्रति स्नेह 'भक्ति' या 'श्रद्धा' कहलाता है। इसी प्रकार समलिङ्ग या समवयस्क व्यक्तियोंका स्नेह 'मैत्री' और चेतनका अचेतनके प्रति स्नेह 'लोभ' कहलाता है। यह सब रतिके ही नामान्तर हैं। अलग तात्त्विक मूल स्थायिभाव नहीं है। इसलिए साहित्यशास्त्रियोंने 'भक्ति' तथा 'वात्सल्य'को अलग रस नहीं माना है, अपितु उनकी गणना भावोंमें की है। देवादिविषयक रतिको 'भाव' कहते हैं। इसलिए साहित्यशास्त्रके अनुसार 'भक्ति' एवं 'वात्सल्य' दोनों 'भाव' हैं, रस नहीं। उनको भक्ति-भाव तथा वात्सल्य-भाव कहना चाहिये, रस नहीं कहना चाहिये।

मूलरस

यद्यपि इस प्रकार विभिन्न आचार्योंने आठसे लेकर ग्यारहतक रसोंकी संख्या मानी है, किन्तु इनमें भी अनेक आचार्योंने प्रधानता और अप्रधानताकी दृष्टिसे अलग-अलग मूल रसोंकी कल्पना की है। स्वयं भरतमुनि आठ रसोंमेंसे शृङ्गार, रौद्र, वीर तथा बीभत्स इन चार रसोंको प्रधान मानकर शेष चार रसोंकी उत्पत्ति इन चार रसोंसे ही होती है इस बातका प्रतिपादन करते हुए लिखते हैं—

> शृङ्गाराद्धि भवेद्धास्यो रौद्राच्च करुणो रसः।
> वीराच्चैवाद्भुतोत्पत्तिः बीभत्साच्च भयानकः॥
> शृङ्गारानुकृतिर्या तु स हास्यस्तु प्रकीर्तितः।
> रौद्रस्यैव च यत्कर्म स ज्ञेयः करुणो रसः॥
> वीरस्यापि च यत्कर्म सोऽद्भुत परिकीर्तितः।
> बीभत्सदर्शनं यच्च ज्ञेयः स तु भयानकः॥

एकरसवाद

इनके अतिरिक्त अपनी-अपनी दृष्टिसे किसी एक ही विशेष रसको मुख्य माननेकी प्रवृत्ति भी साहित्यशास्त्रमें पायी जाती है। इस विषयमें निम्नलिखित श्लोकोंको उद्धृत किया जा सकता है।

(१) महाकवि भवभूतिने करुणरसको एकमात्र रस बतलाते हुए अपने करुणरसप्रधान नाटक 'उत्तररामचरित'में लिखा है—

एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद्
भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान्।
आवर्तबुद्बुदतरङ्गमयान् विकारान्
अम्भो यथा सलिलमेव हि तत्समस्तम्॥

(२) भोजराजने [१२ वीं शता०] अपने 'शृङ्गारप्रकाश' नामक ग्रन्थमें शृङ्गाररसको ही एकमात्र मूलरस बतलाते हुए लिखा है—

शृङ्गारवीरकरुणाद्भुतरौद्रहास्य-
बीभत्सवत्सलभयानकशान्तनाम्नः।
आम्नासिषुर्दश रसान् सुधियो वयं तु
शृङ्गारमेव रसनाद् रसमामनामः॥

(३) साहित्यदर्पणकार विश्वनाथने अपने पूर्वज नारायणपण्डितके केवल अद्भुतरसको ही मूल रस माननेका उल्लेख करते हुए लिखा है—

रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते।
तच्चमत्कारसारत्वात् सर्वत्राप्यद्भुतो रसः॥
तस्मादद्भुतमेवाह कृती नारायणो रसम्।

(४) अभिनवगुप्तने शान्तरसको ही एकमात्र मूलरस प्रतिपादन करते हुए 'अभिनवभारती'में लिखा है—

स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्ताद् भावः प्रवर्तते।
पुनर्निमित्तापाये च शान्त एवोपलीयते॥

आगे ग्रन्थकार इन सारे रसोंके उदाहरण देंगे। इन उदाहरणोंके साथ उस रसका परिचय देनेके लिए उसके लक्षण आदिका वर्णन कर दिया जाता तो अच्छा होता, परन्तु काव्य-प्रकाशकारने उसको बिलकुल छोड़कर उदाहरणमात्र दे दिये हैं। 'साहित्यदर्पण'में नाट्यशास्त्रके आधारपर रसोंका अच्छा परिचय दे दिया है।

रसोंकी सुख-दुःखरूपता

रसोंकी अलौकिकताके साथ उनकी सुख-दुःखरूपताका प्रश्न भी प्राचीन साहित्यशास्त्रियोंके लिए एक विवेचनीय प्रश्न रहा है। इस विषयमें प्रायः तीन प्रकारके मत पाये जाते हैं। धनिक, धनञ्जय और विश्वनाथ आदि, सभी रसोंको नितान्त सुखरूप मानते हैं। इन लोगोंने करुणरसको भी सर्वथा सुखात्मक रस माना है। विश्वनाथने इसका प्रतिपादन करते हुए लिखा है—

करुणादावपि रसे जायते यत्परं सुखम्।
सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम्॥
किञ्च तेषु यदा दुःखं न कोऽपि स्यात् तदुन्मुखः।
तथा रामायणादीनां भविता दुःखहेतुता॥ सा० द० ३-४, ५॥

तत्र शृङ्गारस्य द्वौ भेदौ, सम्भोगो विप्रलम्भश्च । तत्राद्यः परस्परावलोकनालिङ्गनाधरपानपरिचुम्बनाद्यनन्तभेदत्वादपरिच्छेद्य इत्येक[1] एव गण्यते ।

विश्वनाथ आदिके सुखात्मतावादके विपरीत अभिनवगुप्तने प्रत्येक रसको उभयात्मक रस माना है, अर्थात् प्रत्येक रसमें सुख और दुःख दोनोंका समावेश रहता है, किन्तु इनमेंसे शृङ्गार, हास्य, वीर तथा अद्भुत इन चार रसोंमें सुखकी प्रधानताके साथ दुःखका अनुवेध रहता है। इनके विपरीत रौद्र, भयानक, करुण तथा बीभत्स इन चार रसोंमें दुःखकी प्रधानताके साथ सुखका [illegible] अनुवेध रहता है। केवल शान्तरसको उन्होंने सर्वथा सुखात्मक रस माना है। इस विषयका प्रतिपादन अभिनवगुप्तने 'अभिनवभारती' ग्रन्थके प्रथम अध्यायमें विस्तारपूर्वक किया है।

रसोंके विषयमें नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र-गुणचन्द्रका मत इन दोनोंसे भिन्न प्रकारका है। उसे हम 'विभक्तवादी' मत कह सकते हैं। विश्वनाथने सभी रसोंको सुखात्मक रस माना है। अभिनवगुप्तने सभी रसोंको उभयात्मक रस माना है। किन्तु रामचन्द्र-गुणचन्द्रने न सब रसोंको सुखात्मक ही माना है और न सब रसोंमें सुख-दुःख दोनोंका समावेश ही माना है। उन्होंने रसोंको अलग-अलग दो विभागोंमें विभक्त कर दिया है, जिनमेंसे शृङ्गार, हास्य, वीर, अद्भुत और शान्त इन पाँच रसोंको सर्वथा सुखात्मक और करुण, रौद्र, बीभत्स तथा भयानक इन चार रसोंको [illegible] दुःखात्मक बतलाते हुए उन्होंने लिखा है—

'तत्रेष्टविभावादिप्रथितस्वरूपसम्पत्तयः शृङ्गारहास्यवीराद्भुतशान्ताः पञ्च सुखात्मानः [illegible]
अपरे पुनरनिष्टविभावाद्युपनीतात्मानः करुणरौद्रबीभत्सभयानकाश्चत्वारो दुःखात्मानः ।

यही नहीं बल्कि उन्होंने अभिनवगुप्तके उभयात्मकतावाद और [illegible] सिद्धान्तका खण्डन भी स्पष्टरूपसे किया है। एकान्त सुखात्मकतावादका खण्डन [illegible] लिखा है—

'यत् पुनः सर्वरसानां सुखात्मकत्वमुच्यते तत् प्रतीतिबाधितम् । [illegible] पचितः, नाट्याभिनयोपनीतविभावोपचितोऽपि भयानको बीभत्सः करुणो रौद्रो वा [illegible] अनाख्येयां कामपि क्लेशदशामुपनयति । अत एव भयानकादिभिः [illegible] सुखास्वादादुद्वेगो घटते ।'- 'नाट्यदर्पण' पृ० १५९ ।

अर्थात् जो लोग सब रसोंको नितान्त सुखात्मक मानते हैं [illegible] हो जाता है। [illegible] विभावोंसे उत्पन्न भयानक आदि [illegible] निश्चितरूपसे क्लेशदायक, दुःखात्मक होते ही हैं] [illegible] भयानक, बीभत्स, करुण या रौद्र रस भी उसी [illegible] दशाको उत्पन्न कर देते हैं। इसीलिए भयानक आदि रसोंसे [illegible] यदि ये भयानक आदि रस सुखात्मक होते तो [illegible] दुःखात्मक ही हैं, सुखात्मक नहीं।

शृङ्गाररस और उसके भेद

इन रसोंमेंसे शृङ्गारके दो भेद होते हैं—(१) सम्भोग [illegible] विप्रलम्भ। इनमेंसे पहिला [अर्थात् सम्भोगशृङ्गार] परस्पर [illegible] अधरपान, चुम्बन आदि अनन्त प्रकारका [illegible] भेदोंकी गणना असम्भव [illegible] एक ही गिना जाता है।

१ [illegible]

यथा—

शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छनै-
र्निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम् ।
विस्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीं
लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता ॥ ३० ॥

तथा—

त्वं मुग्धाक्षि विनैव कञ्चुलिकया धत्से मनोहारिणीं
लक्ष्मीमित्यभिधायिनि प्रियतमे तद्वीटिकासंस्पृशि ।
शय्योपान्तनिविष्टसस्मितसखीनेत्रोत्सवानन्दितो
निर्यातः शनकैरलीकवचनोपन्यासमालीजनः ॥ ३१ ॥

[पतिके बराबर अलग पलंगपर लेटी हुई नवोढ़ा नायिकाने] वासगृह [अर्थात् अपने लेटनेके कमरे] को शून्य [अर्थात् सखियोंसे खाली] देखकर अपनी खाटपरसे तनिक-सा उठकर और नींदका बहाना करके लेटे हुए पतिके मुखको बहुत देरतक देखकर [ये सो रहे हैं ऐसा समझकर] निश्शङ्क भावसे चुम्बन कर लेनेसे [उसके] पतिके कपोलपर [प्रसन्नताजन्य] रोमाञ्च देखकर [नायिका यह समझ गयी कि वे जग रहे थे । इसलिए उसका मुख लज्जासे झुक गया । उस] लज्जासे नम्र-मुखवाली बालाको [पकड़कर] हँसते हुए प्रियतम [नायक] ने बहुत देरतक चुम्बन किया ॥ ३० ॥

यह सम्भोगशृङ्गाररसका उदाहरण है । नायक इसका आलम्बन है, शून्य वासगृह उद्दीपन-विभाव है । मुख-निर्वर्णन, चुम्बनादि अनुभाव तथा लज्जा, हास तथा उससे व्यङ्ग्य हर्षादि व्यभिचारिभाव हैं । रति स्थायिभाव है । उससे सामाजिकको रसकी चर्वणा होती है । साहित्यशास्त्रमें पहिले नारीके अनुरागका वर्णन उचित माना गया है । [पूर्वं रक्ता भवेन्नारी पुमान् पश्चात्तदिङ्गितैः] इसी सिद्धान्तके अनुसार यहाँ सम्भोगशृङ्गारका यह उदाहरण दिया गया है, इसमें नायिकाकी प्रथम अनुरक्ति दिखलायी गयी है ।

मम्मटने यह पद्य 'अमरुकशतक'से उद्धृत किया है । हिन्दीके महाकवि बिहारीलालने अमरुकके इस पद्यका छायानुवाद एक दोहेमें इस प्रकार किया है—

हौं मिसहा सोयो समुझि मुख चूम्यो ढिग जाय ।
हस्यौ, खिसानी, गर गह्यो, रही गरे लपटाय ॥

अमरुकके इस लम्बे पद्यके भावको दोहेके छोटेसे कलेवरमें भरकर बिहारीने अपने अद्भुत कौशलका परिचय दिया है । इसीलिए बिहारीके दोहेके विषयमें कहा गया है—

सतसैयाके दोहरे ज्यों नावकके तीर ।
देखनमें छोटे लगें घाव करें गम्भीर ॥

नायककी अनुरक्तिका प्रदर्शन करनेवाला दूसरा उदाहरण आगे देते हैं—

हे सुन्दर नेत्रोंवाली प्रियतमे ! तुम तो बिना कञ्चुकी धारण किये हुए ही बड़ी सुन्दर मालूम होती हो, ऐसा कहकर नायकको उसके बटनको खोलनेके लिए छूते देख शय्याके पास बैठी हुई, मुस्कराती हुई सखीके नेत्रोंकी प्रसन्नतासे आनन्दित हुई अन्य सखियाँ [किसी आवश्यक कामका] झूठा बहाना करके धीरे-धीरे कमरेसे निकल गयीं ॥ ३१ ॥

अपरस्तु अभिलापविरहेर्ष्याप्रवासशापहेतुक इति पञ्चविधः ।

यह श्लोक भी 'अमरुकशतक' से लिया गया है। सम्पूर्णरूपसे आलिङ्गन करनेका लोभी अत एव व्यवधान करनेवाली कञ्चुकीको हटानेमें तत्पर नायकका वर्णन है। यहाँ मुग्धाक्षी आलम्बन-विभाव है। नयन-सौन्दर्य, अङ्ग-शोभा आदि उद्दीपन-विभाव हैं। आभाषण और वीटिका-सस्पर्श अनुभाव तथा उनकी तुल्यकालतासे अवगत उत्कण्ठा आदि व्यभिचारिभाव हैं। इन सब सामग्रीके द्वारा सामाजिकको रसकी अनुभूति होती है।

हिन्दीके महाकवि बिहारीने पूर्व पद्यके समान अमरुकके इस पद्यका भी अनुवाद अपने इस दोहेमें किया है—

पति रतिकी बतियाँ कही सखी लखी मुसकाय।
कै कै सबै टला-टली अली चलीं सुख पाय ॥

अमरुकके लम्बे शार्दूलविक्रीडित छन्दके सम्पूर्ण भावको दोहेके छोटेसे कलेवरमें भर देनेका बिहारीका कौशल यहाँ भी प्रशस्य है।

संस्कृतमें मङ्खक-कविने भी अमरुकके इस पद्यका भावानुवाद अपने 'श्रीकण्ठचरित' १५-१५ में इस प्रकार किया है—

सख्योऽथ पक्ष्मलदृशा तदवेक्ष्य तन्त्रं
स्मेराननार्पितकर शनकैर्निरीयु ।
तत्कर्पटाञ्चलसमीरविधूयमानो
दीपोऽपि निर्जिगमिषुत्वमिवाललम्बे ॥

अमरुकके मूल पद्यमें सखियोंकी उपस्थितिमें नायक वीटिका सस्पर्श, बटन खोलनेतक पहुँच गया है। यह कुछ अच्छा नहीं लगता है। सभ्यताकी मर्यादाका अतिक्रमण सा और अस्वाभाविक सा प्रतीत होता है। इसलिए मङ्खक-कविने उस सबके स्थानपर 'तदवेक्ष्य तन्त्रं' लिखकर तन्त्र शब्दसे ही सब-कुछ कह दिया है और बिहारीने भी 'पति रतिकी बतियाँ' कहींमें उस सबका समाधान करके अपनी 'सुरुचि' का प्रदर्शन किया है।

सम्भोगशृङ्गारके इन दोनों उदाहरणोंमेंसे पहिलेमें नायिका और दूसरेमें नायकका अनुराग दिखलाया गया है। नीचेके हिन्दी पद्यमें सीता और राम दोनोंके युगपत् अनुरागका सुन्दर वर्णन पाया जाता है—

दोऊ जने दोऊको अनूप रूप निरखत,
पावत कहूँ न छबि सागरको छोर हैं।
चिन्तामणि केलिकी कलानिके विलासनि सों,
दोऊ जने दोऊनके चित्तनके चोर हैं।
दोऊ जने मन्द मुसकानि सुधा बरसत,
दोऊ जने छके मोद, मद दोऊ ओर हैं।
सीता जू के नैन रामचन्द्रके चकोर भये
रामनैन सीतामुख चन्द्रके चकोर हैं।

इस प्रकार सम्भोगशृङ्गारके दो उदाहरण देकर आगे विप्रलम्भशृङ्गारका वर्णन करते हैं—

दूसरा [अर्थात् विप्रलम्भशृङ्गार] अभिलाप, ईर्ष्या, विरह, प्रवास तथा शाप [रूप पाँच प्रकारके हेतुओं] से होनेके कारण पाँच प्रकारका होता है।

अन्यत्र व्रजतीति का खलु कथा नाप्यस्य तादृक् सुहृद्
यो मां नेच्छति नागतश्च हहहा कोऽयं विधेः प्रक्रमः ।
इत्यल्पेतरकल्पनाकवलितस्वान्ता　　निशान्तान्तरे
बाला वृत्तविवर्तनव्यतिकरा नाप्नोति निद्रां निशि ॥३३॥

एषा विरहोत्कण्ठिता ।

सा पत्युः प्रथमापराधसमये सख्योपदेशं विना
नो जानाति सविभ्रमाङ्गवलनावक्रोक्तिसंसूचनम् ।
स्वच्छैरच्छकपोलमूलगलितैः　पर्यस्तनेत्रोत्पला
बाला केवलमेव रोदिति लुठल्लोलालकैरश्रुभिः ॥ ३४ ॥

यह विप्रलम्भशृङ्गारके अभिलाष या पूर्वरागभेदका उदाहरण है। इसके बाद विरह या समागमके बाद गुरुजनोंकी लज्जा आदिके कारण समागममें विलम्ब होनेपर विकलताके प्रदर्शन करानेवाला उदाहरण देते हैं। इसमें रातको नायकके आगमनकी प्रतीक्षामें खाटपर लेटी हुई नायिकाकी विकलावस्था या विरहका वर्णन किया गया है। नायिका कह रही है—

वे कहीं और [किसी अन्य स्त्रीके पास) चले गये हैं, यह तो (कुत्सित कथा] कुविचार है। [ऐसा तो कभी सम्भव हो ही नहीं सकता है। शायद किसी मित्रके कहनेसे कहीं चले गये हों यह शङ्का भी नहीं बनती है क्योंकि] उनका ऐसा कोई मित्र भी नहीं है जो मुझको न चाहता हो [अर्थात् मेरा अहितचिन्तन करता हो और उनको बहकाकर कहीं ले जाय], फिर भी वे [अबतक] आये नहीं, यह भाग्यका कैसा खेल है ' इस प्रकारकी अनेक कल्पनाओंके हृदयमें व्याप्त हो जानेसे वह विचारी [बाला] करवटें बदलती हुई [वृत्तः सञ्जातः विवर्तानां पार्श्वपरिवर्तनानां व्यतिकरः सम्बन्धः समूहो वा यस्याः सा वृत्तविवर्तनव्यतिकरा] रातको सो नहीं पा रही है ॥ ३३ ॥

[अधिक राततक गुरुजन आदिके पास बैठे रहनेके कारण, सङ्कोचवश उसका पति उसके पास नहीं आ रहा है। इसलिए] यह विरहोत्कण्ठिता है।

आगे ईर्ष्याहेतुक विप्रलम्भशृङ्गारका तीसरा उदाहरण 'अमरुकशतक' मेंसे देते हैं। इसमें किसी नवोढाकी सखी उसकी अवस्थाको किसी अन्य सखीको सुनाकर कह रही है—

वह पतिके [अन्यस्त्रीप्रसङ्गरूप] प्रथम अपराधके समय सखियोंके बतलाये बिना हाव-भावसे अङ्गको चलाकर वक्रोक्तियोंसे उलाहना देना नहीं जानती है। इसलिए खुले हुए और चञ्चल अलकोंसे उपलक्षित और [पर्यस्तनेत्रोत्पला परितः अस्ते क्षिप्ते नेत्रोत्पले यया सा पर्यस्तनेत्रोत्पला अर्थात्] आँखोंको इधर-उधर करती हुई वह विचारी [बाला] स्वच्छ गालोंके किनारेसे आँसू टपकाती हुई केवल रोती ही रहती है ॥ ३४ ॥

नायकके परस्त्रीके सम्बन्धको देखकर उत्पन्न ईर्ष्याके कारण यह विप्रलम्भशृङ्गारका उदाहरण दिया गया है। आगे प्रवासहेतुक विप्रलम्भशृङ्गारका उदाहरण देते हैं। यह श्लोक भी 'अमरुकशतक' से लिया गया है। किसी स्त्रीका पति गुरुजनोंके आदेश आदिके कारण दीर्घ-प्रवासपर विदेश जा रहा है। यह समाचार सुनकर वह अपने जीवनको सम्बोधन करके कह रही है—

हा मातस्त्वरितासि कुत्र किमिदं हा देवताः क्वाऽऽशिषः
धिक् प्राणान् पतितोऽशनिर्हुतवहस्तेऽङ्गेषु दग्धे दृशौ ।
इत्थं घर्घरमध्यरुद्धकरुणाः पौराङ्गनानां गिर-
श्चित्रस्थानपि रोदयन्ति शतधा कुर्वन्ति भित्तीरपि ॥३८॥

यह हास्यरसका उदाहरण दिया गया है। विष्णुशर्माकी दशाको देखकर सहसा हँसी आती है।

बहुत बे आबरू होकर तेरे कूचेसे हम निकले।

यहाँ विष्णुशर्मा आलम्बन विभाव है। रोदन उद्दीपन विभाव है। स्मित, हसित [illegible] आदि अनुभाव हैं। हास स्थायिभाव है।

हिन्दी साहित्यमें पद्माकरका निम्नलिखित पद हास्यरसका सुन्दर उदाहरण है—

हँसि हँसि भाजै देखि दूलह दिगम्बरको,
पाहुनी जे आवैं हिमाचलके उछाह में।
कहैं 'पद्माकर' सु काहूसों कहै को कहा
जोई जहाँ देखै सो हँसोई तहाँ राह में।
मगन भएई हँसे नगन महेस ठाढ़े,
और हँसे वेऊ हँसि हँसिके उमाह में।
सीसपर गंगा हँसे, भुजनि भुजंगा हँसे,
हास ही को दंगा भयो नंगाके विवाह में॥

यहाँ महादेवके विवाहका प्रसङ्ग है। हास स्थायिभाव है। महा[illegible] नंगा रूप उद्दीपन-विभाव है। गंगा और साँपोंका हँसना अनुभाव है। [illegible] लोगोंकी उत्सुकता आदि व्यभिचारिभाव है। इन सबसे मिलकर हास्यरसकी [illegible]

करुणरसका उदाहरण

आगे करुणरसका उदाहरण देते हैं। यह श्लोक [illegible] जयन्तभट्टके अनुसार काश्मीरकी राजमाताके मरनेपर [illegible] महेश्वरका यह कथन है कि महाकालके जल कर मर जानेपर यह पुर[illegible]

हे मातः! इतनी जल्दी हमको छोड़कर कहाँ चली गयीं। [illegible] स्वरूप] यह क्या हुआ। [देवताओंकी हमनी पूजा करने वाली [illegible] और देवता उसको बचा नहीं सके इसलिए] हा देवता [illegible] हे प्राणो, [आप प्रतिदिन [illegible] आपके] आशीर्वाद कहाँ चले गये। [illegible] करनेवाले हमारे इन] प्राणोंको धिक्कार है। [illegible] वज्र बनकर तुम्हारे शरीरपर गिरा और तुम्हारे [शरीरके [illegible] दयासे पूर्ण] नेत्र भी भस्म हो गये। इस प्रकार [illegible] बीच-बीचमें रुक जाती हुई पुरवासिनी स्त्रियोंकी [illegible] आदि]को भी [illegible] भित्तियों [illegible]

यहाँ मृत राजमाता आलम्बन विभाव, उसका दाहादि उद्दीपन विभाव, रुदन अनुभाव, दैन्य, ग्लानि, मूर्च्छा आदि व्यभिचारिभाव हैं। इन सब सामग्रीके द्वारा अभिव्यक्त होकर करुणरस सामाजिकके आस्वादका विषय होता है।

हिन्दीमें श्रीपति-कविका निम्नलिखित पद करुणरसके उदाहरणके रूपमें प्रस्तुत किया जा सकता है—

मातुको मोह, न द्रोह विमातुको, सोच न तातके गात दहेको।
प्रानको छोभ न, बन्धु बिछोह न, राजको लोभ न, मोद रहेको।
एते पै नेक न मानत 'श्रीपति', एते मे सीय वियोग सहेको।
ता रनभूमि मे राम कह्यो, मोहि सोच विभीषण भूप कहेको॥

यह लक्ष्मणजीके शक्ति लगनेपर रामचन्द्रजीके विलापका प्रसङ्ग है। लक्ष्मणके लिए विलाप करनेसे शोक स्थायिभाव है। लक्ष्मणका निश्चेष्ट शरीर तथा उनका विपुल पराक्रम आदि उद्दीपन-विभाव हैं। लक्ष्मण आलम्बन-विभाव है। रामचन्द्रका विलाप करना अनुभाव है। ऐसी दशामें भी विभीषणको राजा बनानेका ध्यान होनेसे मति स्मृति, वितर्क विषादादि सञ्चारिभाव हैं।

करुण तथा विप्रलम्भशृङ्गारका भेद

करुण तथा विप्रलम्भशृङ्गारकी स्थितिके विषयमें कभी-कभी भ्रम हो जाता है। उनकी सीमा अलग-अलग है। भ्रमकी सम्भावना मुख्यतः प्रेमियोंके वियोगकी अवस्थाओंमें रहती है। प्रेमियोंका वियोग दो प्रकारका हो सकता है—१. स्थायी वियोग, २. अस्थायी वियोग। दोनों प्रेमियोंके जीवनकालमें जो वियोग किसी भी कारणसे होता है वह अस्थायी वियोग होता है और वह विप्रलम्भ-शृङ्गारकी सीमामें आता है। किन्तु दोनों प्रेमियोंमेंसे किसी एककी मृत्यु हो जानेपर जो वियोग होता है, उसमें मिलनेकी कोई आशा या सम्भावना नहीं रहती है। इसीलिए वह स्थायी वियोग होता है। वह करुणरसकी सीमामें आता है। इस प्रकार जहाँतक प्रेमियोंके वियोगका सम्बन्ध है, उसमें विप्रलम्भशृङ्गार तथा करुणरसकी सीमारेखा 'मृत्यु' है। मृत्युसे पूर्वतक विप्रलम्भशृङ्गार और मृत्युके बाद करुणरसका क्षेत्र होता है।

संस्कृत काव्यों तथा नाटकोंमें ऐसे कथाप्रसङ्ग भी पाये जाते हैं जहाँ दो प्रेमियोंमेंसे किसी एककी मृत्यु हो जानेपर भी फिर उसका मिलन हो जाता है। कुछ इस प्रकारके उदाहरण भी पाये जाते हैं जिनमें वस्तुतः किसीकी मृत्यु होती तो नहीं है, परन्तु समझ ली जाती है। ये दोनों प्रकारके स्थल भी करुणरसके क्षेत्रमें माने जाते हैं। कुछ लोगोंने मृत्युके बाद फिर समागम होनेकी स्थितिमें करुणविप्रलम्भ नामसे विप्रलम्भके एक अलग भेदकी कल्पना की है, जैसा कि साहित्यदर्पणकारने लिखा है—

यूनोरेकतरस्मिन् गतवति लोकान्तरं पुनर्लभ्ये।
विमनायते यदैकस्तदा भवेत् करुणविप्रलम्भः॥

इस प्रकारका उदाहरण 'कादम्बरी'में पुण्डरीक तथा महाश्वेताके वृत्तान्तमें मिलता है। पुण्डरीकके मर जानेके बाद महाश्वेता और कपिञ्जल आदि विलाप कर रहे हैं। इसी बीचमें कोई दिव्य ज्योति आकर पुण्डरीकके मृत शरीरको उठा ले जाती है और महाश्वेताको आश्वासन दे जाती है कि तुम्हारा इससे फिर मिलन होगा। इसमें आकाशवाणीके पूर्वका महाश्वेता आदिका जो विलाप है वह स्पष्ट ही करुणरस है। उसके बाद मिलनकी आशा हो जानेसे विप्रलम्भ कहा जा सकता है। इसीलिए

इसके लिए 'करुण-विप्रलम्भ' नामका प्रयोग इन लोगोंने किया है।

'किन्त्वाकाशसरस्वतीभाषानन्तरमेव शृङ्गारः, सङ्गमप्रत्याशया रतेरुद्भावात्। प्रथमन्तु करुण एव इत्यभियुक्ता मन्यन्ते।'

परन्तु मम्मट आदि अन्य आचार्योंने 'करुणविप्रलम्भ' नामक शृङ्गारका कोई भेद नहीं माना है। उनके मतमें यह करुणरसकी सीमाके ही अन्तर्गत है। हाँ, आकाशवाणीके पश्चात् उसे कथञ्चित् विप्रलम्भ माना जा सकता है। परन्तु यह उदाहरण केवल कविकी कल्पनामात्र है। यथार्थमें तो अन्ततक करुण ही रह सकता है। क्योंकि व्यवहारमें ऐसा तभी हो सकता है जब वास्तवमें मृत्यु न हुई हो, पर समझ ली गयी हो। ऐसे स्थलपर पुनर्मिलन एकदम अप्रत्याशितरूपसे ही होता है इसलिए करुणरसकी मर्यादा रहती है और आकस्मिक पुनर्मिलनपर अद्भुतरसका उदय हो जाता है।

इस प्रकारके उदाहरण, जिनमें मृत्यु नहीं हुई है परन्तु मृत्यु समझ ली गयी है, संस्कृत-साहित्यमें अनेक पाये जाते हैं और वे सब करुणरसके क्षेत्रमें आते हैं। महाकवि भवभूतिका 'उत्तर-रामचरित' नाटक इसका सबसे सुन्दर उदाहरण है। रामचन्द्रके आदेशसे लक्ष्मण गर्भवती सीताको वाल्मीकिके आश्रमके पास जङ्गलमें छोड आये हैं। उसके बाद रामचन्द्रने, उनको जङ्गली जानवरोंने खा डाला होगा, ऐसा समझ लिया है। 'उत्तररामचरित'के करुणरसको सर्वोत्तम स्वरूप प्रदान करनेवाला रामचन्द्रका वह करुण विलाप है, जिसने पत्थरोंको भी रुलाया है—'अपि ग्रावा रोदिति दलति वज्रस्य हृदयम्'। ये सब उसी धारणापर अवलम्बित हैं और इसीलिए 'उत्तररामचरित' करुण-रसप्रधान नाटक माना गया है। पहिले सीताहरणके बाद भी सीता और रामका वियोग हुआ था, पर वह करुण नहीं अपितु विप्रलम्भका ही उदाहरण है, क्योंकि उसमें रामचन्द्रको सीतासे मिलनेकी आशा थी। 'उत्तररामचरित'में रामचन्द्रने स्वयं इन दोनों वियोगोंका अन्तर इस प्रकारसे बतलाया है—

'उपायानां　　　भावादविरलविनोदव्यतिकरैः
विमर्दैर्वीराणां　　　जनितजगदत्यद्भुतरसः।
वियोगो मुग्धाक्ष्याः स खलु रिपुघातावधिरभूत्
कटुस्तूष्णीं सह्यो निरवधिरयं तु प्रविलयः॥'[1]

पहिला वियोग रिपुघातपर्यन्त रहनेवाला था इसलिए वह विप्रलम्भशृङ्गारका उदाहरण था, पर यह दूसरी बारका वियोग 'निरवधिरयं तु प्रविलयः' है इसलिए यह करुणरसका उदाहरण है।

करुण तथा विप्रलम्भशृङ्गारका भेद दिखलाते हुए साहित्यदर्पणकारने लिखा है—

'शोकस्थायितया भिन्नो विप्रलम्भादयं रसः।
विप्रलम्भे रतिः स्थायी पुनः सम्भोगहेतुकः॥'[2]

अर्थात् करुणरसका स्थायिभाव 'शोक' होता है और विप्रलम्भ शृङ्गारका स्थायिभाव [illegible] होता है, क्योंकि उसमें पुनर्मिलनकी आशा बनी रहती है।

भरतमुनिने विप्रलम्भको 'सापेक्ष' अर्थात् आशायुक्त और करुणको 'निरपेक्ष' [illegible] रस कहकर उनका भेद दिखलाया है—

'[3]करुणस्तु शापक्लेशविनिपतितेष्टजनविभवनाशवधबन्धसमुत्थो 'निरपेक्षभावः' [illegible] चिन्तासमुत्थः 'सापेक्षभावो' विप्रलम्भकृतः। एवमन्यः करुणोऽन्यश्च विप्रलम्भ इति।'

---

१ उत्तररामचरित, ३-४४।
२ साहित्यदर्पण, ३, २२८।
३ भरतनाट्यशास्त्र, [illegible]।

क्षुद्राः संत्रासमेते विजहत हरयः क्षुण्णशक्रेभकुम्भा
युष्मद्देहेषु लज्जां दधति परमभी सायका निष्पतन्तः।
सौमित्रे तिष्ठ पात्रं त्वमसि नहि रुषां नन्वहं मेघनादः
किञ्चिद्भ्रूभङ्गलीलानियमितजलधिं राममन्वेषयामि ॥४०॥

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible] ॥

वीररसका उदाहरण

वीररसके बाद आगे 'उत्साह'के स्थायी भावसे वीररसका उदाहरण देते हैं। लङ्का-युद्धके समय इन्द्रजित्की यह उक्ति है।

अरे क्षुद्र बन्दरो, तुम मत डरो, [क्योंकि इन्द्रके हाथी] ऐरावतके गण्डस्थलका भेदन करनेवाले [मेरे] ये बाण तुम्हारे शरीरपर गिरनेमें लज्जाका अनुभव करते हैं [इसलिए तुम मत डरो, तुम्हारे ऊपर इनका प्रहार नहीं होगा], हे लक्ष्मण तुम भी हट जाओ, तुम [मेरे] क्रोधके [योग्य] पात्र नहीं हो, [जानते हो] मैं मेघनाद हूँ, [मैं तुम लोगोंसे क्या लड़ूँगा] मैं तो तनिक-सी भौंहें टेढ़ी करनेमात्रसे समुद्रको वशमें कर लेनेवाले रामको खोज रहा हूँ ॥४०॥

यहाँ राम आलम्बन विभाव है, उनके द्वारा किया हुआ समुद्रबन्धन उद्दीपन-विभाव, क्षुद्र वानर आदिकी उपेक्षा और परम प्रतापशाली रामका अन्वेषण अनुभाव, ऐरावतके गण्डस्थलके भेदनकी स्मृति और 'बाण लज्जित होते हैं' इससे गम्य गर्व व्यभिचारिभाव है। रामसे लड़नेका 'उत्साह' स्थायिभाव है।

हिन्दीमें निम्नलिखित पद्यको वीररसके उदाहरण रूपमें प्रस्तुत किया जा सकता है—

क्रुद्ध दसानन बीस भुजानि सो लै कपि रीछ अनी सर बट्टत।
लच्छन तच्छन रत्त किये दृग लच्छ विपच्छनके सिर कट्टत॥
मार पछार पुकार दुहूँ दल, रुण्डि झपट्टि दपट्टि लपट्टत।
रुण्ड लरै भट मत्थनि लुट्टत जोगिनि खप्पर ठट्टनि ठट्टत॥

यहाँ लङ्काके युद्धमें रीछ-वानरोंकी सेना देखकर रावणके लड़नेका वर्णन है। रावणके हृदयका उत्साह स्थायिभाव है। रीछ तथा वानर आलम्बन हैं। वानरोंकी नाना क्रीडाएँ तथा लीलाएँ उद्दीपन-विभाव हैं। नेत्रोंका लाल होना, शत्रुओंके सिरोंका काटना अनुभाव है। उग्रता, अमर्ष आदि सञ्चारिभाव हैं।

कुछ आचार्योंने युद्धवीर, दानवीर और दयावीर भेदसे वीर रसके तीन भेद किये हैं।

ग्रीवाभङ्गाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने बद्धदृष्टिः
पश्चार्द्धेन प्रविष्टः शरपतनभयाद् भूयसा पूर्वकायम् ।
दर्भैरर्द्धावलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा
पश्योदग्रप्लुतत्वाद्वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति ॥४१॥

'स च वीरो दानवीरो धर्मवीरो युद्धवीरो दयावीरश्चेति चतुर्विध.' लिखकर साहित्य-दर्पणकारने तीनके स्थानपर चार प्रकारका वीररस माना है। उनमेसे दानवीर बलि आदि, दयावीर जीमूतवाहन आदि और धर्मवीर युधिष्ठिर आदि प्रसिद्ध हैं। दूसरे लोगोंका मत है कि वीर पदका प्रयोग केवल युद्धवीरके लिए ही होता है इसलिए वीररसके अन्य भेद नहीं करने चाहिये।

भयानकरसका उदाहरण

आगे शकुन्तला नाटकके प्रथम अङ्कसे भयानक रसका उदाहरण देते हैं। राजा दुष्यन्त शिकारके लिए निकले हैं। एक मृगके पीछे उनका रथ दौड रहा है और भयके कारण वह मृग अपनी सारी शक्तिसे आगे-आगे भाग रहा है। उस समय राजा दुष्यन्त अपने सारथिसे मृगके भागनेका वर्णन कर रहे हैं—

सुन्दरताके साथ गर्दन घुमाकर पीछे आते हुए [हमारे] रथपर बार-बार दृष्टि डालता हुआ, और बाण लगनेके भयसे अपने पीछेके आधे शरीरको अगले शरीरमें घुसेड़ते हुए थक जानेसे [हाँफते हुए] खुले हुए मुखसे आधे खाये हुए तृणोंको पृथिवीपर गिराता हुआ, देखो, यह हरिण [लम्बी-लम्बी छलाँगे मारनेके कारण मानो] आकाशमें अधिक और पृथिवीपर कम चलता है ॥४१॥

यहाँ पीछा करनेवाला राजा या उसका रथ आलम्बन, बाण लगनेका भय और अनुसरण उद्दीपन, गर्दन मोड़ना और भागना आदि अनुभाव और त्रास, श्रम आदि व्यभिचारिभाव हैं। 'शरपतनभयात्'में भय पदका उपादान करनेसे स्थायिभावकी स्वशब्दवाच्यताका दोष नहीं आता है, क्योंकि शरपतन-भय यहाँ स्थायिभाव नहीं, केवल उद्दीपन है। रथसे या राजामें उत्पन्न भय स्थायिभाव है।

हिन्दीसे निम्नलिखित पद्यको भयानकरसके उदाहरणरूपमें प्रस्तुत किया जा सकता है—

गली अकुलानी भय डाटन परानी जाहि
सकें न विलोकि बेष केसरी किसोरको।
मींजि-मींजि हाथ धुनि माथ दसमाथ तिय
'तुलसी' तिलौ न भयो बाहिर अगारको।
सब असबाब डाढ़ो मैं न काढ़ो तैं न काढ़ो
जियकी परी सँभार, सहन भँडारको।
खीझति मँदोवै सविषाद देखि मेघनाद
बयो लुनियत सब याही दाढ़ीजारको॥

हनुमानजी [illegible] है। लङ्काका जलती देखकर [illegible] स्थायिभाव है। [illegible] है। [illegible] [illegible]

एषां स्थायिभावानाह—

[सू० ४५] रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा।
जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावाः प्रकीर्त्तिताः ॥३०॥

स्पष्टम्।

हिन्दीमें पद्माकरका निम्नलिखित पद्य अद्भुतरसका सुन्दर उदाहरण है—

गोपी ग्वालबाल जुरे आपसमें कहैं आली
कोऊ जसुदाको अवतरो इन्द्रजाली है।
कहै 'पद्माकर' करै को यो उताली, जापै
रहन न पावै कहूँ एको फन खाली है।
देखे देवताली भई विधिकै खुस्याली, कूदि
किलकति काली हेरि हँसत कपाली है।
जनमको चाली एरी अद्भुत है ख्याली, आजु,
कालीकी फनाली पै नचत बनमाली है॥

श्रीकृष्ण भयानक कालियनागके सिरपर नाच रहे हैं। ऐसे भयानक दृश्यको देखकर ग्वालबाल चकित रह जाते हैं। यही विस्मय स्थायिभाव है। कालियनागको नाथकर यमुनासे बाहर लादेउना आलम्बन है, कृष्णका उसके सिरपर नाचना उद्दीपन है। ग्वालबालोंकी विचित्र लीलाएँ अनुभाव हैं। अतः पूर्ण अद्भुतरस है।

इस प्रकार ग्रन्थकारने सम्भोगशृङ्गारके दो, विप्रलम्भशृङ्गारके पाँच और शेष रसोंमेंसे प्रत्येकका एक-एक, कुल मिलाकर सब रसोंके चौदह उदाहरण यहाँ दिये हैं।

स्थायिभाव

[अब आगे] इन [रसों] के स्थायिभावोंको कहते हैं—

[सू० ४५]—१. रति, २. हास, ३. शोक, ४. क्रोध, ५. उत्साह, ६. भय, ७. जुगुप्सा तथा ८. विस्मय [ये आठ, आठों रसोंके क्रमशः] स्थायिभाव कहलाते हैं ॥ ३० ॥

[कारिकाका अर्थ] स्पष्ट है।

काव्यप्रकाशकारने यहाँ स्थायिभावोंके केवल नामोंका उल्लेख कर दिया है, उनके लक्षण आदि नहीं किये हैं। साहित्यदर्पणकारने इन सब स्थायिभावोंके लक्षण निम्नलिखित प्रकार किये हैं—

रतिर्मनोऽनुकूलेऽर्थे मनसः प्रवणायितम्।
वागादिवैकृतैश्चेतोविकासो हास इष्यते ॥ १७६ ॥
इष्टनाशादिभिश्चेतोवैक्लव्यं शोकशब्दभाक्।
प्रतिकूलेषु तैक्ष्ण्यस्यावबोधः क्रोध इष्यते ॥ १७७ ॥
कार्यारम्भेषु संरम्भः स्थेयानुत्साह उच्यते।
रौद्रशक्त्या तु जनितं चित्तवैक्लव्यदं भयम् ॥ १७८ ॥
दोषेक्षणादिभिर्गर्हा जुगुप्सा विषयोद्भवा।
विविधेषु पदार्थेषु लोकसीमातिवर्तिषु ॥ १७९ ॥
विस्फारश्चेतसो यस्तु स विस्मय उदाहृतः।
शमो निरीहावस्थायां स्वात्मविश्रामजं सुखम् ॥ १८० ॥

एषां स्थायिभावानाह—

[सू० ४५] रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा।
जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावाः प्रकीर्तिताः ॥३०॥

स्पष्टम्।

हिन्दीमें पद्माकरका निम्नलिखित पद्य अद्भुतरसका सुन्दर उदाहरण है—

गोपी ग्वालबाल जुरे आपसमें कहें आली
कोऊ जसुदाको अवतर्यो इन्द्रजाली है।
कहें 'पद्माकर' करे को यों उताली, जापे
रहन न पावे कहूँ एको फन खाली है।
देखे देवताली भई विधिके खुशाली, कूदि
किलकति काली हेरि हँसत कपाली है।
जनमको चाली एरी अद्भुत दे ख्याली, आज,
कालीकी फनाली पै नचत बनमाली है॥

श्रीकृष्ण भयानक कालियनागके सिरपर नाच रहे हैं। ऐसे भयानक दृश्यको देखकर ग्वालबाल चकित हो जाते हैं। यही विस्मय स्थायिभाव है। कालियनागको नाथकर यमुनासे बाहर खदेड़ना आलम्बन है, कृष्णका उसके सिरपर नाचना उद्दीपन है। ग्वालबालोंकी विचित्र लीलाएँ अनुभाव हैं। अतः पूर्ण अद्भुतरस है।

इस प्रकार ग्रन्थकारने सम्भोगशृङ्गारके दो, विप्रलम्भशृङ्गारके पाँच और शेष रसोंमेंसे प्रत्येकका एक-एक, कुल मिलाकर सब रसोंके चौदह उदाहरण यहाँ दिये हैं।

स्थायिभाव

[अब आगे] इन [रसों] के स्थायिभावोंको कहते हैं—

[सू० ४५]—१. रति, २. हास, ३. शोक, ४. क्रोध, ५. उत्साह, ६. भय, ७. जुगुप्सा तथा ८. विस्मय [ये आठ, आठों रसोंके क्रमशः] स्थायिभाव कहलाते हैं ॥ ३० ॥

[कारिकाका अर्थ] स्पष्ट है।

काव्यप्रकाशकारने यहाँ स्थायिभावोंके केवल नामोंका उल्लेख कर दिया है, उनके लक्षण आदि नहीं किये हैं। साहित्यदर्पणकारने इन सब स्थायिभावोंके लक्षण निम्नलिखित प्रकार किये हैं—

रतिर्मनोनुकूलेऽर्थे मनसः प्रवणायितम्।
वागादिवैकृतैश्चेतोविकासो हास इष्यते ॥ १७६ ॥
इष्टनाशादिभिश्चेतोवैक्लव्यं शोकशब्दभाक्।
प्रतिकूलेषु तैक्ष्ण्यस्यावबोधः क्रोध इष्यते ॥ १७७ ॥
कार्यारम्भेषु संरम्भः स्थेयानुत्साह उच्यते।
रौद्रशक्त्या तु जनितं चित्तवैक्लव्यदं भयम् ॥ १७८ ॥
दोषेक्षणादिभिर्गर्हा जुगुप्सा विषयोद्भवा।
विविधेषु पदार्थेषु लोकसीमातिवर्तिषु ॥ १७९ ॥
विस्फारश्चेतसो यस्तु स विस्मय उदाहृतः।
शमो निरीहावस्थायां स्वात्मविश्रामजं सुखम् ॥ १८० ॥

व्यभिचारिणो ब्रूते—

[सू० ४६] निर्वेदग्लानिशङ्काख्यास्तथाऽसूयामदश्रमाः ।
आलस्यं चैव दैन्यं च चिन्ता मोहः स्मृतिर्धृतिः ॥३१॥
व्रीडा चपलता हर्ष आवेगो जड़ता तथा ।
गर्वो विषाद औत्सुक्यं निद्राऽपस्मार एव च ॥३२॥
सुप्तं प्रबोधोऽमर्षश्चाप्यवहित्थमथोग्रता ।
मतिर्व्याधिस्तथोन्मादस्तथा मरणमेव च ॥३३॥
त्रासश्चैव वितर्कश्च विज्ञेया व्यभिचारिणः ।
त्रयस्त्रिंशदमी भावाः समाख्यातास्तु नामतः ॥३४॥

व्यभिचारिभाव

[स्थायिभावोंके निरूपणके बाद] व्यभिचारिभावोंको कहते हैं—

[सूत्र ४६]—१. निर्वेद, २. ग्लानि, ३. शङ्का, ४. असूया, ५. मद, ६. श्रम, ७. आलस्य, ८. दैन्य, ९. चिन्ता, १० मोह, ११. स्मृति, १२. धृति—

१३. व्रीडा, १४ चपलता, १५. हर्ष, १६. आवेग, १७. जड़ता, १८. गर्व, १९. विषाद, २०. औत्सुक्य, २१. निद्रा और २२. अपस्मार—

२३. सुप्त, २४ जागना, २५ क्रोध, २६ अवहित्था [अर्थात् लज्जा आदिके कारण [illegible]], २७ उग्रता, २८. मति, २९. व्याधि, ३०. उन्माद, ३१. मरण, ३२. [illegible] और ३३ [illegible] ये नामसे गिनाये हुए ३३ व्यभिचारिभाव [कहलाते] ॥ ३१—३४ ॥

व्यभिचारियोंके लक्षण

[illegible]

अमुना चोत्तमः शेते मध्यो हसति गायति ।
अधमप्रकृतिश्चापि परुषं वक्ति रोदिति ॥१४७॥
अप्रतिपत्तिर्जडता स्यादिष्टानिष्टदर्शनश्रुतिभिः ।
अनिमिषनयननिरीक्षणतूष्णीम्भावादयस्तत्र ॥१४८॥
शौर्यापराधादिभवं भवेच्चण्डत्वमुग्रता ।
तत्र स्वेदशिरःकम्पतर्जनाताडनादयः ॥१४९॥
मोहो विचित्तता भीतिदुःखावेगानुचिन्तनैः ।
मूर्च्छनाज्ञानपतनभ्रमणादर्शनादिकृत् ॥१५०॥
निद्रापगमहेतुभ्यो विबोधश्चेतनागमः ।
जृम्भाङ्गभङ्गनयनमीलनाङ्गावलोककृत् ॥१५१॥
स्वप्नो निद्रामुपेतस्य विषयानुभवस्तु यः ।
कोपावेगभयग्लानिसुखदुःखादिकारकः ॥१५२॥
मनःक्षेपस्त्वपस्मारो ग्रहाद्यावेशनादिजः ।
भूपातकम्पप्रस्वेदफेनलालादिकारकः ॥१५३॥
गर्वो मदः प्रभावश्रीविद्यासत्कुलतादिजः ।
अवज्ञासविलासाङ्गदर्शनाविनयादिकृत् ॥१५४॥
शराद्यैर्मरणं जीवत्यागोऽङ्गपतनादिकृत् ।
आलस्यं श्रमगर्भादेर्जाड्यं जृम्भासितादिकृत् ॥१५५॥
निन्दाक्षेपापमानादेरमर्षोऽभिनिविष्टता ।
नेत्ररागशिरःकम्पभ्रूभङ्गोत्तर्जनादिकृत् ॥१५६॥
चेतःसम्मीलनं निद्रा श्रमक्लममदादिजा ।
जृम्भाक्षिमीलनोच्छ्वासगात्रभङ्गादिकारणम् ॥१५७॥
भयगौरवलज्जादेर्हर्षाद्याकारगुप्तिरवहित्था ।
व्यापारान्तरसक्त्यन्यथावभाषणविलोकनादिकरी ॥१५८॥
इष्टानवाप्तेरौत्सुक्यं कालक्षेपासहिष्णुता ।
चित्ततापत्वरास्वेददीर्घनिःश्वसितादिकृत् ॥१५९॥
चित्तसम्मोह उन्मादः कामशोकभयादिभिः ।
अस्थानहासरुदितगीतप्रलपनादिकृत् ॥१६०॥
परक्रौर्यात्मदोषाद्यैः शङ्काऽनर्थस्य तर्कणम् ।
वैवर्ण्यकम्पवैस्वर्यपार्श्वालोकास्यशोषकृत् ॥१६१॥
[illegible] ।
स्मृतिः पूर्वानुभूतार्थविषयज्ञान[illegible] ॥१६२॥
नीतिमार्गानुसृत्यादेरर्थनिर्धारणं मतिः ।
स्मेरता [illegible] ॥१६३॥
व्याधिः सन्निपाताद्यैः [illegible] ।
[illegible]

[सू० ४८] रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाऽञ्जितः ॥३५॥
भावः प्रोक्तः ।

आदिशब्दान्मुनिगुरुनृपपुत्रादिविषया, कान्ताविषया तु व्यक्ता शृङ्गारः ।

उदाहरणम्—

कण्ठकोणविनिविष्टमीश ते कालकूटमपि मे महामृतम् ।
अप्युपात्तममृतं भवद्वपुर्भेदवृत्ति यदि मे न रोचते ॥४५॥

हरत्यघं सम्प्रति हेतुरेष्यतः शुभस्य पूर्वाचरितैः कृतं शुभैः ।
शरीरभाजां भवदीयदर्शनं व्यनक्ति कालत्रितयेऽपि योग्यताम् ॥४६॥

'भाव' शब्दकी व्युत्पत्ति 'भवन्तीति भावाः' तथा 'भावयन्तीति भावाः' दो प्रकारसे की है। उसका लक्षण इस प्रकार किया है—

विभावैराहृतो योऽर्थो ह्यनुभावैस्तु गम्यते ।
वागङ्गसत्त्वाभिनयैः स भाव इति संज्ञितः ॥
वागङ्गमुखरागेण सत्त्वेनाभिनयेन च ।
कवेश्चान्तर्गतं भावं भावयन् भाव उच्यते ॥
नानाभिनयसम्बद्धान् भावयन्ति रसानिमान् ।
यस्मात्तस्मादमी भावा विज्ञेया नाट्ययोक्तृभिः ॥ ७, १—३ ॥

प्रकृत 'भाव' पदार्थ उससे भिन्न है। काव्यप्रकाशकार उसका लक्षण निम्नलिखित प्रकार करते हैं—

[सू० ४८]—देव आदि विषयक रति [आदि सभी स्थायिभाव], और व्यङ्ग्य व्यभिचारिभाव 'भाव' कहलाते हैं।

आदि शब्दसे मुनि, गुरु, राजा और पुत्रादिविषयक [रतिका संग्रह होता है। पुरुष तथा स्त्रीविषयक रतिको छोड़कर अन्योंके प्रति जो रति है वह सब 'भाव' पद-वाच्य है]। स्त्रीविषयक रति व्यक्त होनेपर शृङ्गार [कहलाती] है।

[भावविषयक] उदाहरण [निम्नलिखित श्लोक है]—

हे भगवान् [महादेव], आपके कण्ठमें सन्निविष्ट कालकूट [विष] भी मेरे लिए महामृतके समान है और आपके शरीरसे भिन्न [अलग रहनेवाला] प्राप्त अमृत भी मुझे अच्छा नहीं लगता ॥ ४५ ॥

श्री उत्पलपादाचार्य-विरचित 'परमेश्वरस्तोत्रावलि'में तेरहवें स्तोत्रमें यह पद्य आया है। इसमें महादेव आलम्बन हैं। ईश पदसे वाच्य अव्याहत ऐश्वर्य उद्दीपन, स्तव अनुभाव, धृति एवं माहात्म्य का स्मरण आदि व्यभिचारिभाव हैं। इनसे स्तावककी रतिका अनुमान कर सकनेवाले सामाजिकोंको 'भाव' रूप रतिका अनुभव होता है। यह पूर्ण रूपसे परिपुष्ट न होनेसे रसरूपताको प्राप्त नहीं होती है इसलिए 'भाव' पद वाच्य होती है।

यह उदाहरण देवविषयक रतिका दिया था। अगला उदाहरण मुनिविषयक रतिका 'शिशुपालवध' नामक काव्यके प्रथम सर्गसे देते हैं। नारदजीके आनेपर कृष्णजी उनका स्वागत करते समय उनकी प्रशंसा करते हुए कह रहे हैं—

आपका दर्शन प्राणियोंकी [वर्तमान, भविष्यत् तथा भूत] तीनों कालोंमें

एवमन्यदप्युदाहार्यम् ।

अञ्जितव्यभिचारी यथा—

जाने कोपपराङ्मुखी प्रियतमा स्वप्नेऽद्य दृष्टा मया
मा मां संस्पृश पाणिनेति रुदती गन्तुं प्रवृत्ता पुरः ।
नो यावत् परिरभ्य चाटुशतकैराश्वासयामि प्रिया
भ्रातस्तावदहं शठेन विधिना निद्रादरिद्रीकृतः ॥४७॥

अत्र विधिं प्रत्यसूया ।

[सू० ४९] तदाभासा अनौचित्यप्रवर्तिताः ।

तदाभासा रसाभासा भावाभासाश्च ।

योग्यताको प्रकट करता है। [क्योंकि] वह वर्तमानकालमें पापका नाश करता है, भविष्य-में प्राप्त होनेवाले कल्याणका कारण होता है और पूर्वके पुण्यसे प्राप्त हुआ है ॥४६॥

इस प्रकार [गुरु, राजा, पुत्र आदि विषयक रति आदिके] अन्य उदाहरण भी समझ लेने चाहिये।

[भावके दूसरे भेद] व्यङ्ग्यव्यभिचारी [का उदाहरण] जैसे—

ओ भाई, आज मैंने क्रोधके कारण स्वप्नमें पराङ्मुखी प्रियतमाको देखा था। 'नहीं-नहीं, मुझे हाथसे मत छूओ', यह कहकर वह रोती हुई चल दी। [illegible] आलिङ्गन करके नाना प्रकारकी खुशामदके द्वारा उसको मनानेका यत्न करता। तबतक धूर्त विधाताने मेरी निद्रा भङ्ग कर दी ॥४७॥

यहाँ विधाताके प्रति 'असूया' [रूप व्यभिचारी-व्यङ्ग्य है। [illegible] दूसरे भेदका उदाहरण है]

रसाभास, भावाभासोंका वर्णन

इस प्रकार रस तथा भावोंका निरूपण कर चुकनेके बाद [illegible] का निरूपण करते हैं।

[सू० ४९]—उन [रस तथा भावोंका] अनुचित रूपसे वर्णन [illegible] 'भावाभास' [कहलाता है]।

तदाभास [का अर्थ] रसाभास तथा भावाभास [है]।

शृङ्गार आदि रसों तथा भावोंका अनुचित [illegible] कहलाता है। [illegible] अनौचित्य [illegible] अनुसार ही [illegible] जैसे, रति [illegible] पतिके प्रति प्रेम उचित है, परन्तु [illegible] हो तो वह अनुचित होनेसे 'रसाभास' [illegible]

[illegible]

तत्र रसाभासो यथा—

स्तुमः कं वामाक्षि ! क्षणमपि विना यं न रमसे
विलेभे कः प्राणान् रणमखमुखे यं मृगयसे ।
सुलग्ने को जातः शशिमुखि ! यमालिङ्गसि बलात्
तपःश्रीः कस्यैषा मदननगरि ! ध्यायसि तु यम् ॥४८॥

अत्रानेककामुकविषयमभिलाषं तस्याः 'स्तुमः' इत्याद्यनुगतं बहुव्यापारोपादानं व्यनक्ति ।

भावाभासो यथा—

राकासुधाकरमुखी तरलायताक्षी
सा स्मेरयौवनतरङ्गितविभ्रमाङ्गी ।
तत्किं करोमि विदधे कथमत्र मैत्री
तत्स्वीकृतिव्यतिकरे क इवाभ्युपायः ॥४९॥

अत्र चिन्ता अनौचित्यप्रवर्तिता । एवमन्येऽप्युदाहार्याः ।

इसी प्रकार गुरु आदिको आलम्बन बनाकर हास्यरसका प्रयोग, अथवा वीतरागको आलम्बन बनाकर करुण आदिका प्रयोग, माता-पिता-विषयक रौद्र तथा वीररसका प्रयोग, वीरपुरुषगत भयानकका वर्णन, यज्ञीय पशु आदिको आलम्बन मानकर बीभत्सका, ऐन्द्रजालिक आदि विषयक अद्भुत और चाण्डाल आदि विषयक शान्तरसका प्रयोग भी अनुचित माना गया है, इसलिए ये सब रसाभासके अन्तर्गत होते हैं।

उनमेंसे रसाभास [बहुनायकविषयक रतिका उदाहरण], जैसे—

हे सुन्दर नेत्रवाली, जिसके बिना तुमको क्षणभर चैन नहीं पड़ता है ऐसा कौन [भाग्यशाली] है, जिसकी हम [उसके सौभाग्यके लिए] प्रशंसा करें, किसने युद्धरूप यज्ञमें अपने प्राणों [की आहुति] दी है जिसको तुम खोज रही हो, ऐसा कौन [भाग्यशाली] शुभ मुहूर्तमें उत्पन्न हुआ है जिसका तुम गाढ़ालिङ्गन करती हो, हे मदन-नगरि, तुम जिसका ध्यान करती रहती हो ऐसी किसकी तपःसम्पत्ति है ॥४८॥

यहाँ 'स्तुमः' इत्यादिसे अनुगत अनेक व्यापारोंका वर्णन उस [परकीया या वेश्या नायिका] के अनेक-कामुक-विषय अभिलापको व्यक्त करता है [इसलिए यह रसाभासका उदाहरण है]।

भावाभास [चिन्ताके अनौचित्य प्रवर्तित होनेका उदाहरण], जैसे—

वह पूर्णिमाके चन्द्रमाके समान [सुन्दर] मुखवाली, चञ्चल और बड़ी-बड़ी आँखोंसे युक्त और उभरते नव-यौवन से उद्भूत हावभावोंसे इठला रही है, सो अब मैं क्या करूँ। उसके साथ किस प्रकार मैत्री-सम्बन्ध स्थापित करूँ और उसकी स्वीकृति प्राप्त करनेका क्या उपाय है [यह सीताको लक्ष्य करके रावणकी उक्ति है] ॥४९॥

यहाँ [रावणकी सीताके प्रति] चिन्ता अनौचित्य प्रवर्तित है] अतः भावाभास है]। इसी प्रकार अन्य उदाहरण भी समझ लेने चाहिये।

[सू० ५०] भावस्य शान्तिरुदयः सन्धिः शबलता तथा ॥३६॥

क्रमेणोदाहरणम् ।

तस्याः सान्द्रविलेपनस्तनतटप्रश्लेषमुद्राङ्कितं
किं वक्षश्चरणानतिव्यतिकरव्याजेन गोपाय्यते ।
इत्युक्ते क्व तदित्युदीर्य सहसा तत्सम्प्रमार्ष्टुं मया
साऽऽश्लिष्टा रभसेन तत्सुखवशात्तन्व्या च तद्विस्मृतम् ॥५०॥

अत्र कोपस्य ।

एकस्मिन् शयने विपक्षरमणीनामग्रहे मुग्धया
सद्यो मानपरिग्रहग्लपितया चाटूनि कुर्वन्नपि ।
आवेगादवधीरितः प्रियतमस्तूष्णीं स्थितस्तत्क्षणं
मा भूत्सुप्त इवेत्यमन्दवलितग्रीवं पुनर्वीक्षितः ॥५१॥

भावाभासके इस उदाहरणमें चिन्तारूपी व्यभिचारिभावको अनौचित्य-प्रवर्तित माना है । इसका आशय यह है कि पहिले स्त्रीके अनुरागका वर्णन होना चाहिये । यह कामशास्त्र तथा कवि-सम्प्रदायका नियम है । परन्तु यहाँ पहिले पुरुषानुरागका वर्णन किया गया है । इसलिए अननुरक्ता सीताके प्रति यह चिन्ताका प्रदर्शन अनौचित्यमय है । अतः यह 'भावाभास'का उदाहरण है ।

भावशान्ति आदि चार

यहाँतक ग्रन्थकारने रस, रसाभास, भाव तथा भावाभासोंका वर्णन किया है । भावाभासके साथ ही भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि और भावशबलता इन चारका आगे निरूपण करते हैं—

[सू० ५०]—भावकी शान्ति, भावका उदय, भावसन्धि तथा भावशबलता [ये चार भी भावोंके साथ गिने जाने चाहिये ॥३६॥

भावशान्तिका उदाहरण

क्रमशः [उनके] उदाहरण [आगे देते हैं]—

यह श्लोक 'अमरुकशतक'से लिया गया है । इसमें कोई शठनायक अपनी पत्नीकी कोप-शान्तिका वर्णन अपने मित्रसे कह रहा है ।

उस [अन्यस्त्री] के गाढ़-विलेपनवाले स्तनोंके अग्रभागकी मुद्रासे अङ्कित अपनी छातीको चरणोंमें झुकनेके बहानेसे क्यों छिपा रहे हो [कुपित सपत्नीके द्वारा] ऐसा कहे जानेपर, 'वह [स्तनाग्रकी मुद्रा मेरे वक्षःस्थलपर] कहाँ है ?' यह कहकर उस [अन्य स्त्रीके आलिङ्गनके चिह्न] को मिटानेके लिए मैंने एकदम जोरसे उस [सपत्नी] का आलिङ्गन कर लिया और उसके सुखके कारण वह [तन्वी] भी उसको भूल गयी ॥५०॥

यहाँ कोप [रूप भाव]की [शान्ति प्रदर्शित की गयी है] ।

भावोदयका उदाहरण

अगला उदाहरण भावोदयका है । यह पद्य भी अमरुकशतकसे लिया गया है ।

एक ही पलङ्गपर [नायकके साथ] लेटी हुई और [नायिकाके सम्बोधन करनेपर उसके अपने नामके स्थानपर उसकी विरोधिनी] सपत्नीका नाम लेनेपर तुरन्त

अत्रौत्सुक्यस्य ।

उत्सिक्तस्य तपःपराक्रमनिधेरभ्यागमादेकतः
सत्सङ्गप्रियता च वीररभसोत्फालश्च मां कर्षतः ।
वैदेहीपरिरम्भ एष च मुहुश्चैतन्यमामीलय-
न्नानन्दी हरिचन्दनेन्दुशिशिरः स्निग्धो रुणद्धयन्यतः ॥५२॥

अत्रावेगहर्षयोः ।

रूठी हुई [नायिका] ने, खुशामद करते हुए प्रियतमको भी क्रोधावेशमें फटकार दिया। और [जब] वह चुपचाप हो गया [तो] उसी समय कहीं सो न जाय, इसलिए खूब गर्दन मोड़कर फिर उसको देखने लगी ॥५१॥

यहाँ [सुरतविषयक] औत्सुक्य [के उदय] का [वर्णन है]।

यद्यपि इसमें कोपशान्ति भी लक्षित होती है, परन्तु सुरतौत्सुक्यकी प्रधानरूपसे अभिव्यक्ति हो रही है, इसलिए यह भावशान्तिका नहीं, अपितु भावोदयका ही उदाहरण माना गया है।

भावसन्धिका उदाहरण

आगे भावसन्धिका उदाहरण देंगे। भावसन्धिका यह उदाहरण 'महावीरचरित' नाटकके द्वितीय अङ्कमें सीताका आलिङ्गन करनेके लिए प्रस्तुत रामकी, परशुरामके आकस्मिक आगमनपर, उक्तिरूपमें है। इसमें आवेग और हर्षकी सन्धिका वर्णन किया गया है—

[प्रसिद्ध] अभिमानशाली, तप तथा पराक्रमके निधिस्वरूप [परशुरामजी] के आगमनसे उनके सत्सङ्गका प्रेम और वीररसका आवेग मुझे [उनकी ओर] खींच रहे हैं। दूसरी ओर हरिचन्दनके समान शीतल और स्निग्ध आनन्ददायक वैदेहीका यह आलिङ्गन चैतन्यको विलुप्त-सा करता हुआ [वहाँ जानेसे] रोक रहा है ॥५२॥

यहाँ आवेग और हर्षकी [सन्धि] है।

ऊपर भावसन्धि तथा भावशबलता, ये दो भेद दिखलाये हैं। इनमेंसे जहाँ केवल दो भावोंका योग होता है वहाँ 'भावसन्धि' मानी जाती है और जहाँ दोसे अधिक भावोंका योग होता है वहाँ 'भावशबलता' मानी जाती है। ऊपरके उदाहरणमें 'आवेग' तथा 'हर्ष' दो भावोंका योग होनेसे उसे 'भावसन्धि'के उदाहरणरूपमें प्रस्तुत किया गया है। अगले श्लोकमें अनेक व्यभिचारिभावोंका योग है इसलिए यह 'भावशबलता'के उदाहरणरूपमें प्रस्तुत किया जा रहा है।

'क्वाकार्यं शशलक्ष्मणः क्व च कुलम्' इत्यादि श्लोक कहाँका है इस विषयमें 'काव्यप्रकाश'के टीकाकारोंमें दो प्रकारके मत पाये जाते हैं। श्रीवत्सलाञ्छन, कमलाकर, वैद्यनाथ, भीमसेन आदि अनेक टीकाकारोंने इसे शुक्राचार्यकी कन्याको देखनेपर राजा ययातिकी उक्ति माना है। अन्य व्याख्याकारोंने इसे 'विक्रमोर्वशीय' नाटकके चतुर्थ अङ्कमें उर्वशीको देखकर राजा पुरूरवाकी उक्ति बतलाया है। आज 'विक्रमोर्वशीय' नाटकके जो मुद्रित संस्करण उपलब्ध होते हैं उनमें यह श्लोक नहीं पाया जाता है, परन्तु, सन् १८५७ के मुद्रित संस्करणके पृष्ठ १२० पर अधिक पाठके रूपसे यह श्लोक पाया जाता है। इसमें आठ व्यभिचारिभावोंका इकट्ठा सम्मिश्रण पाया जाता है इसलिए यह 'भावशबलता'का उदाहरण है। इन आठों व्यभिचारिभावोंको अलग अलग दिखलाते हुए इसका अर्थ निम्नलिखित प्रकार किया जा सकता है—

क्वाकार्यं शशलक्ष्मणः क्व च कुलं भूयोऽपि दृश्येत सा
दोषाणां प्रशमाय नः श्रुतमहो कोपेऽपि कान्तं मुखम् ।
किं वक्ष्यन्त्यपकल्मषाः कृतधियः स्वप्नेऽपि सा दुर्लभा
चेतः स्वास्थ्यमुपैहि कः खलु युवा धन्योऽधरं धास्यति ॥५३॥

अत्र वितर्कौत्सुक्यमतिस्मरणशङ्कादैन्यधृतिचिन्तानां शबलता ।
भावस्थितिरुक्ता उदाहृता च ।

१. कहाँ यह अनुचित कार्य और कहाँ चन्द्रमाका वंश [तर्क],
२. क्या वह फिर कभी देखनेको मिलेगी [औत्सुक्य],
३. मैंने दोषोंपर विजय प्राप्तिके लिए ही शास्त्रोंका अध्ययन किया है [मति],
४. क्रोधमें भी [उसका] मुख कैसा सुन्दर लगता था [स्मरण],
५. [इस व्यवहारसे] विद्वान् एवं धर्मात्मा लोग मुझे क्या कहेंगे ? [शंका],
६. वह तो अब स्वप्नमें भी दुर्लभ हो गयी [दैन्य],
७. अरे मनुआ [हे मन], धीरज रखो [धृति],
८. न जाने कौन सौभाग्यशाली युवक उसके अधरामृतका पान करेगा
[चिन्ता] ॥५३॥

यहाँ १. वितर्क, २. औत्सुक्य, ३. मति, ४. स्मरण, ५. शङ्का, ६. दैन्य, ७ धृति, ८. चिन्ता [इन आठ व्यभिचारिभावोंका योग होनेसे उन भावों] की शबलता होती है।

ध्वन्यालोककारका दृष्टिकोण

यह श्लोक 'ध्वन्यालोक' तृतीय उद्योत [पृ० ३०१] में उद्धृत हुआ है। परन्तु वहाँ इसे विरोधी रसाङ्गोंके बाध्यत्वेन कथनके उदाहरणरूपमें प्रस्तुत किया गया है। इसमें सम संख्यावाले अर्थात् २. औत्सुक्य, ४ स्मरण, ६. दैन्य और ८. चिन्ता ये चार शृङ्गाररसके व्यभिचारिभाव हैं और विषम संख्यावाले अर्थात् १. वितर्क, ३. मति, ५. शङ्का, ७. धृति ये चार शान्तरसके व्यभिचारिभाव हैं। इस प्रकार इस एक ही श्लोकमें शान्त तथा शृङ्गार इन दोनों विरोधी रसोंका वर्णन पाया जाता है। परन्तु शान्त तथा शृङ्गाररसका आलम्बन ऐक्यमें तथा नैरन्तर्यमें दोनों प्रकारसे विरोध माना गया है। यहाँ उन दोनोंका आलम्बन ऐक्य भी है और नैरन्तर्य भी, इसलिए इन दोनोंका एक साथ सन्निवेश दोषाधायक है, यह शङ्का उठ सकती है। इसके समाधानके लिए ध्वन्यालोककारने यह सिद्धान्त स्थिर किया है कि विरोधी रसोंके अङ्गोंके बाध्यत्वेन वर्णित होनेमें दोष नहीं होता है। उसी सिद्धान्तका समन्वय दिखानेके लिए यह उदाहरण दिया गया है। इसमें शान्तरसके व्यभिचारिभावोंका शृङ्गाररसके व्यभिचारिभावोंसे बाध हो जाता है, अर्थात् १ वितर्कका २. औत्सुक्यसे बाध हो जाता है। फिर जब शान्तरसका व्यभिचारिभाव ३. मति आता है तब उसका ४. स्मरणसे बाध हो जाता है, फिर शान्तरसके ५. शङ्कारूप व्यभिचारिभावके आनेपर ६. दैन्यसे उसका बाध हो जाता है। इसी प्रकार शान्तरसके सातवें व्यभिचारिभाव धृतिका शृङ्गाररसके व्यभिचारिभाव ८. चिन्तासे बाध हो जाता है। विरोधी रसाङ्गोंका बाध्यत्वेन सन्निवेश होनेसे यहाँ कोई दोष नहीं है। यह ध्वन्यालोककारका अभिप्राय है।

[सू० ५१] मुख्ये रसेऽपि तेऽङ्गित्वं प्राप्नुवन्ति कदाचन ।
ते भावशान्त्यादयः । अङ्गित्वं राजानुगतविवाहप्रवृत्तभृत्यवत् ।

यहाँ एक शङ्का यह हो सकती है कि आपने भावोदय, भावशान्ति, भावसन्धि, भावशबलता आदि सबके उदाहरण दिये, इसी प्रकार भावस्थितिका भी उदाहरण देना चाहिए था। इसका समाधान करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि—

भावस्थिति

भावस्थिति तो ['व्यभिचारी तथाञ्जितः' इस ४८ वें सूत्रमें] कह चुके हैं और ['जाने कोपपराङ्मुखी' आदि ४९ वें श्लोक द्वारा उसका] उदाहरण भी दे चुके हैं।

रसवदलङ्कार

इस प्रकार रस, रसाभास, भाव, भावाभास तथा भावशान्ति आदिका निरूपण करनेके बाद अब यह दिखलाना चाहते हैं कि कहीं मुख्य रसके रहते हुए भी इन भावशान्ति आदिकी प्रधानता हो जाती है। उस दशामें ये सब 'रसवदलङ्कार' कहलाते हैं।

[सूत्र ५१]—मुख्य रसके विद्यमान होनेपर भी कहीं-कहीं वे [भावशान्ति आदि अङ्गित्व अर्थात्] प्रधानताको प्राप्त हो जाते हैं।

वे अर्थात् भावशान्ति आदि राजासे अनुगत विवाहके लिए जाते हुए भृत्यके समान [अङ्गित्व अर्थात्] प्रधानताको [प्राप्त हो जाते हैं]।

इसका यह अभिप्राय हुआ कि जैसे यदि कभी राजाके किसी कृपापात्र भृत्यका विवाह हो और उसकी बारातमे राजा भी सम्मिलित हो तो उस समय राजाकी नहीं अपितु वररूपमें स्थित भृत्यकी ही प्रधानता होती है। इसी प्रकार जहाँ विभाव आदिसे व्यक्त स्थायिभावके उद्रेकसे आस्वादन होता है वहाँ रस या रसध्वनि होती है और रसका प्राधान्य होता है और जहाँ अपने अनुभावो द्वारा व्यक्त व्यभिचारिभावोके उद्रेकसे आस्वाद होता है वहाँ भावध्वनि होती है। इसी प्रकार जहाँ वस्तु या अलङ्कारकी प्रधानता हो जाती है वहाँ वस्तुध्वनि या अलङ्कारध्वनि मानी जाती है। राजानुगत भृत्यका जो उदाहरण दिया है उसका आशय यह है कि कुछ समयके लिए 'आपाततः' भृत्यकी प्रधानता प्रतीत होते हुए भी जैसे पारमार्थिक प्रधानता राजाकी रहती है, उसी प्रकार रसके सम्पर्कसे 'आपाततः' भावशान्ति आदिकी प्रधानता होते हुए भी अन्तिम प्रधानता तो रसकी ही रहती है।

संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य-ध्वनि

यहाँतक असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यका निरूपण किया। अब आगे संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य-ध्वनिके १५ भेदोका वर्णन करेंगे। इस चतुर्थोल्लासमें ध्वनिका निरूपण प्रारम्भ किया था। उसमे पहिले ध्वनिके दो भेद किये थे—एक 'अविवक्षितवाच्य-ध्वनि' अर्थात् लक्षणामूलध्वनि और दूसरा 'विवक्षितान्यपरवाच्य-ध्वनि' अर्थात् अभिधामूलध्वनि। इनमेसे 'अविवक्षितवाच्य-ध्वनि' अर्थात् लक्षणामूलध्वनि'के 'अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य' तथा 'अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य' ये दो भेद किये थे और 'विवक्षितान्यपरवाच्य' 'अभिधामूलध्वनि'के 'असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य' तथा 'संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य' ये दो भेद किये थे। इनमेसे रसादि ध्वनि असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य कहलाता है। रसादि अर्थात् रस और उनके समान विशेषरूपसे आस्वाद योग्य—२. रसाभास, ३. भाव, ४. भावाभास, ५. भावशान्ति, ६. भावोदय, ७. भावसन्धि और ८. भावशबलता भी इस असंलक्ष्यक्रम ध्वनिके अन्तर्गत है। इसलिए उन सबका निरूपण यहाँतक किया। अब अभिधामूलध्वनिके दूसरे भेद 'संलक्ष्यक्रमध्वनि'के और भेद करेंगे।

[सू० ५२] अनुस्वानाभसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्थितिस्तु यः ॥३७॥
शब्दार्थोभयशक्त्युत्थस्त्रिधा स कथितो ध्वनिः ।

शब्दशक्तिमूलानुरणनरूपव्यङ्ग्यः, अर्थशक्तिमूलानुरणनरूपव्यङ्ग्यः, उभयशक्तिमूलानुरणनरूपव्यङ्ग्यश्चेति त्रिविधः ।

तत्र—

[सू० ५३] अलङ्कारोऽथ वस्त्वेव शब्दाद्यत्रावभासते ॥३८॥
प्रधानत्वेन स ज्ञेयः शब्दशक्त्युद्भवो द्विधा ।

वस्त्वेवेति अनलङ्कारं वस्तुमात्रम् । आद्यो यथा—

संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यको 'अनुस्वानाभध्वनि' भी कहते हैं। इस अनुस्वानाभ या संलक्ष्यक्रम ध्वनिके तीन मुख्य भेद होते हैं—१. 'शब्दशक्त्युत्थ', २. 'अर्थशक्त्युत्थ' और ३. 'उभयशक्त्युत्थ'। इनमेंसे 'शब्दशक्त्युत्थ'के दो भेद, 'अर्थशक्त्युत्थ'के बारह भेद और 'उभयशक्त्युत्थ'का एक भेद, कुल मिलाकर संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यके पन्द्रह भेद हो जाते हैं। इन भेदोंको आगे दिखलाते हैं।

[सू० ५२]—और [अभिधामूल विवक्षितान्यपरवाच्य-ध्वनिका] जो अनुस्वानाभ संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य-ध्वनि भेद है वह १. शब्दशक्त्युत्थ, २. अर्थशक्त्युत्थ और ३. उभयशक्त्युत्थ होनेसे तीन प्रकारका कहा गया है ॥ ३७ ॥

१. शब्दशक्तिमूल अनुरणन-रूप [संलक्ष्यक्रम] व्यङ्ग्य, २. अर्थशक्तिमूल अनुरणनरूप [संलक्ष्यक्रम] व्यङ्ग्यध्वनि और ३. उभयशक्तिमूल अनुरणनरूप व्यङ्ग्य इस प्रकार [संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि] तीन तरहका होता है।

शब्दशक्त्युत्थ ध्वनिके दो भेद

उनमेंसे—

[सू० ५३]—जहाँ शब्दसे वस्तु अथवा अलङ्कार प्रधानरूपसे प्रतीत होते हैं वह दो प्रकारका शब्दशक्त्युत्थध्वनि [क्रमशः वस्तुध्वनि तथा अलङ्कारध्वनि नामसे] कहलाता है।

वस्तु [ध्वनि] इससे अलङ्काररहित केवल वस्तु [का ग्रहण होता है]।

उपमालङ्कारध्वनिका उदाहरण

[उनमेंसे] पहिला [अर्थात् अलङ्कारध्वनिका उदाहरण] जैसे—

यह श्लोक किसी राजाकी स्तुतिमें लिखा गया है। इसमें कविने राजाकी इन्द्रके साथ तुलना की है। इन्द्र जैसे मेघोंका उदय कर उनके द्वारा जलधाराओंसे दावानलके रूपमें वनोंमें प्रज्वलित अग्निको बुझा देता है उसी प्रकार उस राजाने अपने 'काल' अर्थात् काली रश्मियोंवाली अथवा कालायसलौह अर्थात् फौलादसे बनी हुई अथवा कालरूप करवाल अर्थात् तलवाररूप अम्बुवाह अर्थात् मेघको [अम्बुवाह शब्दका यौगिक अर्थ पानीको वहन करनेवाला होता है। तलवारमें भी एक प्रकारका 'पानी' माना जाता है। इसलिए पानीदार तलवारकी मेघके साथ उपमा भी अच्छी बन पड़ी है। इस प्रकार अपने करवालरूप महान् अम्बुवाहको] उठाकर कठोर एवं वेगवान् गर्जन करनेवाले राजाने समरमें शत्रुओंके प्रदीप्त प्रतापको बुझा दिया है। इस रूपमें कविने राजाका वर्णन किया है। श्लोकका अर्थ इस प्रकार है—

उल्लास्य कालकरवालमहाम्बुवाहं
देवेन येन जठरोर्जितगर्जितेन ।
निर्वापितः सकल एव रणे रिपूणां
धाराजलैस्त्रिजगति ज्वलितः प्रतापः ॥ ५४ ॥

अत्र वाक्यस्यासम्बद्धार्थाभिधायकत्वं मा प्रसाङ्क्षीदिति प्राकरणिकाप्राकरणिकयोरुपमानोपमेयभावः कल्पनीय इत्यत्रोपमालङ्कारो व्यङ्ग्यः ।

तिग्मरुचिरप्रतापो विधुरनिशाकृद्विभो मधुरलीलः ।
मतिमानतत्त्ववृत्तिः प्रतिपदपक्षाग्रणीर्विभाति भवान् ॥ ५५ ॥

कठोर एवं उच्चतर गर्जन करनेवाले जिस [इन्द्रदेवसदृश] आपने कालरूप महान् [पानीदार] तलवारको उठाकर शत्रुओंके तीनो लोकोंमें प्रदीप्त प्रतापको [अपने खड्गके] धारा-जलसे रण-भूमिमें बिलकुल बुझा दिया ॥ ५४ ॥

यहाँ [इन्द्र-पक्ष तथा राज-पक्षमें] वाक्यकी असम्बद्धार्थकता न हो जाय, इसलिए प्राकरणिक [राज-पक्ष] और अप्राकरणिक [इन्द्र-पक्ष] के उपमान-उपमेय-भावकी कल्पना की जाती है, इसलिए यहाँ उपमालङ्कार व्यङ्ग्य है ।

शब्दशक्त्युत्थ विरोधाभास अलङ्कारध्वनिके दो उदाहरण

अगले श्लोकमे 'तिग्मरुचि' अर्थात् सूर्य और 'अप्रतापः' अथात् प्रतापरहित ये दोनो विरोधी विशेषण है । परन्तु जब इनका अर्थ यह किया जाता है कि शत्रुओके प्रति तिग्म अर्थात् तीक्ष्ण प्रतापवाले और मित्रोके प्रति रुचिर अर्थात् मनोहर प्रतापवाले राजा, तब उस विरोधका परिहार हो जाता है । इसी प्रकार 'विधुः' और 'अनिशाकृत्'मे आपाततः विरोध प्रतीत होता है । 'विधुः'का अर्थ चन्द्रमा है, उसे निशाकर या निशाकृत् भी कहा जाता है । परन्तु यहाँ कवि उस 'विधु'को 'अनिशाकृत्' कह रहा है । इसलिए इनमें विरोध उपस्थित होता है । परन्तु जब उसका 'विधुरो अर्थात् शत्रुओका निशाके समान नाश करनेवाला राजा' यह अर्थ किया जाता है तब उस विरोधका परिहार हो जाता है । इसी प्रकार 'मधुरलीलः'मे, 'अलीलः', लीलारहित 'मधु.' अथात् वसन्त यह अर्थ करनेपर विरोध होता है । परन्तु 'मधुर अर्थात् आनन्ददायक लीला अर्थात् चेष्टाओमे युक्त राजा' यह अर्थ करनेपर विरोधका परिहार हो जाता है । इसी प्रकार 'मतिमान् अतत्त्ववृत्तिः' जो बुद्धिमान् होनेपर भी 'अतत्त्ववृत्ति' तत्त्वको न ग्रहण करनेवाला है यह अर्थ परस्पर विरुद्ध प्रतीत होता है । परन्तु जब 'मति अर्थात् प्रतिभा तथा मान अर्थात् प्रमाणोंसे तत्त्वका निर्णय करनेवाला राजा' यह अर्थ किया जाता है तब उस विरोधका परिहार हो जाता है । इसी प्रकार प्रतिपद् अर्थात् प्रतिपदा तिथि और वह अपक्षाग्रणी शुक्ल पक्ष या कृष्णपक्षकी अग्रणी नहीं है यह अर्थ परस्पर विरोधी प्रतीत होता है । परन्तु 'प्रतिपद अर्थात् प्रत्येक स्थानपर पक्ष अर्थात् अपने पक्षके लोगोका अग्रणी अर्थात नेता' यह अर्थ करनेपर उस विरोधका परिहार हो जाता है । इसलिए यहाँ विरोधाभास अलङ्कार व्यङ्ग्य है । अर्थ इस प्रकार है

[शत्रुओंके प्रति] तीव्र तथा [मित्रोंके प्रति] मनोहर प्रतापवाले, [विधुर अर्थात्] शत्रुओंके संहारकर्त्ता, मधुर चेष्टाओंवाले, प्रतिभा तथा प्रमाणोंसे तत्त्वका निश्चय करनेवाले और प्रत्येक स्थानपर अपने लोगोंका नेतृत्व करनेवाले हे प्रभो, [राजन] आप [अत्यन्त] शोभित होते हैं ॥ ५५ ॥

अत्रैकैकस्य पदस्य द्विपदत्वे **विरोधाभासः** ।

अमितः समितः प्राप्तैरुत्कर्षैर्हर्षद ! प्रभो !
अहितः सहितः साधुयशोभिरसतामसि ॥ ५६ ॥

अत्रापि **विरोधाभासः** ।

निरुपादानसम्भारमभित्तावेव तन्वते ।
जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलाश्लाघ्याय शूलिने ॥ ५७ ॥

अत्र **व्यतिरेकः** ।

यहाँ [निरस्तरुचिरप्रतापः इत्यादि] एक-एक पदके [विच्छेद द्वारा निरस्तरुचि-अप्रतापः इस प्रकार] दो-दो पद बना देनेपर [विरोधरूपसे प्रतीत होनेसे] विरोधाभास [अलङ्कार व्यङ्ग्य] होता है ।

इसी प्रकार विरोधाभास अलङ्कारका एक और उदाहरण देते हैं ।

हे आनन्ददायक राजन्, [समितः] युद्धसे प्राप्त उत्कर्षोंसे अपरिमित [उत्कर्ष-शाली] आप सुन्दर कीर्तिसमूहसे युक्त [साधुयशोभिः सहितः होनेपर भी] दुष्टोंके [असतां] शत्रु [अहितः] हैं ॥ ५६ ॥

यहाँ भी ['अमितः' तथा 'समितः' पदोंमें एवं 'अहितः' तथा 'सहितः'] पदमें विरोधाभास व्यङ्ग्य है ।

यहाँ केवल 'अमितः'–'समितः' तथा 'अहितः'–'सहितः' पदोंमें विरोधाभास पाया जाता है । आपाततः, जो 'अमितः' है वह 'समितः' कैसे हो सकता है अथवा जो 'अहितः' [illegible] कैसे हो सकता है । इस प्रकारका विरोध यहाँ प्रतीत होता है । परन्तु [illegible] अर्थ यहाँ 'युद्ध' विवक्षित होता है । उसका पञ्चमी विभक्तिका रूप 'समितः' है । [illegible] अर्थात् युद्धसे प्राप्त उत्कर्षोंसे 'अमितः' अर्थात् अपरिमित उत्कर्षशाली [illegible] हो जाता है । इसी प्रकार 'अहितः सहितः' में विरोधका भी परिहार [illegible] 'अहितः असि' इस प्रकारका [illegible] हो जाता है । [illegible] व्यङ्ग्य होनेसे और उसीका प्राधान्य विवक्षित होनेसे [illegible]

शब्दशक्त्युत्थ व्यतिरेकालङ्कारध्वनिका उदाहरण

अलङ्कारध्वनिके तीन उदाहरण [illegible]

[तूलिका आदि चित्र निर्माणकी] सामग्रीके बिना और [भित्ति] [illegible] भित्तिके बिना ही नानाकार जगद्रूप चित्रका निर्माण करनेवाले [illegible] कलासे विलक्षण, परन्तु [illegible] [चित्रकारशिल्प] कलामें प्रशंसनीय [शिल्पकला [illegible]] उन [illegible] नमस्कार है ॥ ५७ ॥

यहाँ व्यतिरेकालङ्कार [व्यङ्ग्य है] ।

[illegible]

अत्र यद्युपभोगक्षमोऽसि तथा आस्स्वेति व्यज्यते ।

> शनिरशनिश्च तमुच्चैर्निहन्ति कुप्यसि नरेन्द्र यस्मै त्वम् ।
> यत्र प्रसीदसि पुनः स भात्युदारोऽनुदारश्च ॥ ५९ ॥

अत्र विरुद्धावपि त्वदनुवर्त्तनार्थमेकं कार्यं कुरुत इति ध्वन्यते ।

यह तो इस श्लोकका वाच्यार्थमात्र है । पर उसका व्यङ्ग्य अर्थ यह है कि हे पथिक, पत्थरके समान मूढ़ पुरुषोंके इन ग्राममें अन्य स्त्रीके सम्भोगको निषेध आदि करनेवाला कोई शास्त्र नहीं है, इसलिए यदि तुम मेरे या मेरी सखीके उन्नत उरोजोंको देखकर रहना चाहो तो रह सकते हो ।

यहाँ यदि तुममें [इस उठते यौवनके] उपभोगकी क्षमता हो तो ठहर जाओ [यह वस्तु व्यक्त होती है । इसलिए यह वस्तुध्वनिका उदाहरण है] ।

वस्तुध्वनिका दूसरा उदाहरण आगे देते हैं—

हे राजन्, आप जिसपर नाराज हो जाते हैं उसको शनि [ग्रह] और [अशनि] वज्र दोनों नष्ट कर देते हैं और जिसपर आपकी कृपादृष्टि हो जाती है वह महान् दाता [उदार] और स्त्रियोंसे युक्त [अनुदार दारावाले अनुगत] शोभित होता है ॥ ५९ ॥

यहाँ विरुद्ध [स्वभाववाले शनि तथा अशनि] तुम्हारी प्रसन्नताके लिए [तुम्हारे कोपभाजन व्यक्तिके हननरूप] एक कार्यको करते हैं यह [वस्तुमात्र] ध्वनित होता है ।

इस श्लोकके केवल पूर्वार्द्धमें वस्तुध्वनि मानी जाती है । श्लोकके उत्तरार्द्धमें विरोधालङ्कार-ध्वनि ही मानी जाती है ।

हिन्दीमें बिहारीका निम्नाङ्कित दोहा भी शब्दशक्त्युत्थ वस्तुध्वनिका सुन्दर उदाहरण है—

> चिर जीवौ जोरी जुरै क्यों न सनेह गँभीर ।
> को घटि ये वृषभानुजा वे हलधरके बीर ॥

इस दोहेमें कवि राधा और कृष्णकी 'युगल-जोड़ी'के 'मिलन' और गम्भीर 'स्नेह'के औचित्यका प्रतिपादन शब्दशक्त्युत्थ-ध्वनिके द्वारा कर रहा है । राधा राजा वृषभानुकी पुत्री, और कृष्ण हलधर बलरामके भाई हैं । इसलिए दोनोंके उच्चकुलीन होनेके कारण उनकी जोड़ी [illegible] है । इसलिए उनका गम्भीर 'स्नेह' और परस्पर 'मिलन' सब प्रकार सुन्दर है । यह इस दोहेका [illegible] है । उसके समर्थनके लिए कविने 'वृषभानुजा' और 'हलधरके बीर' शब्दोंका प्रयोग [illegible] से किया है । वृषभानुजाका अर्थ वृषभकी अनुजा अर्थात् बैलकी बहिन [illegible] और 'हलधरके बीर' अर्थात् हलको धारण करनेवाले बैलका भाई अर्थात् [illegible] है । [illegible] 'मिलन' और उनके गम्भीर स्नेहका होना उचित ही है । इस प्रकार यहाँ '[illegible]' और 'हलधरके बीर' शब्दोंका विशेष महत्त्व है । इसलिए यह शब्दशक्त्युत्थ वस्तुध्वनिका सुन्दर उदाहरण कहा जा सकता है ।

इस प्रकार [illegible] शब्दशक्त्युत्थ [illegible] रूप दोनों भेदोंको मिलाकर इन उदाहरणोंको ग्रन्थकारने [illegible] । [illegible]

अर्थशक्त्युत्थ-ध्वनिके बारह भेद

[illegible]

[सू० ५४] अर्थशक्त्युद्भवोऽप्यर्थो व्यञ्जकः सम्भवी स्वतः ॥३९॥
प्रौढोक्तिमात्रात्सिद्धो वा कवेः तेनोम्भितस्य वा ।
वस्तु वाऽलङ्कृतिर्वेति षड्भेदोऽसौ व्यनक्ति यत् ॥ ४० ॥
वस्त्वलङ्कारमथ वा तेनायं द्वादशात्मकः ।

स्वतःसम्भवी न केवलं भणितिमात्रनिष्पन्नो यावद्बहिरप्यौचित्येन सम्भाव्यमानः । कविना प्रतिभामात्रेण बहिरसन्नपि निर्मितः, कविनिबद्धेन वक्त्रेति वा द्विविधोऽपर इति त्रिविध । वस्तु वाऽलङ्कारो वाऽसाविति षोढा व्यञ्जकः । तस्य वस्तु वाऽलङ्कारो वा व्यङ्ग्य इति द्वादशभेदोऽर्थशक्त्युद्भवो ध्वनिः ।

भेदोंमें वस्तुध्वनि तथा अलङ्कारध्वनि दो भेद होकर ३ × २ = ६ भेद हो जाते हैं। ये छह भेद व्यङ्ग्य और व्यञ्जक, दोनो होनेसे द्विगुण होकर ६ × २ = १२ भेद बन जाते हैं। जैसे कि—

१. स्वतःसम्भवीमें

१. वस्तुसे वस्तु व्यङ्ग्य — २. वस्तुसे अलङ्कार व्यङ्ग्य
३. अलङ्कारसे वस्तु व्यङ्ग्य — ४. अलङ्कारसे अलङ्कार व्यङ्ग्य

२. कविप्रौढोक्तिसिद्धमें

१. वस्तुसे वस्तु व्यङ्ग्य — २. वस्तुसे अलङ्कार व्यङ्ग्य
३. अलङ्कारसे वस्तु व्यङ्ग्य — ४. अलङ्कारसे अलङ्कार व्यङ्ग्य

३. कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धमें

१. वस्तुसे वस्तु व्यङ्ग्य — २. वस्तुसे अलङ्कार व्यङ्ग्य
३. अलङ्कारसे वस्तु व्यङ्ग्य — ४. अलङ्कारसे अलङ्कार व्यङ्ग्य

अगली कारिकामें ग्रन्थकार इन बारह भेदोंका निरूपण कर यथाक्रम उनके उदाहरण प्रस्तुत करेंगे ।

[सू० ५४] अर्थशक्त्युद्भव व्यञ्जक अर्थ भी १. स्वतःसम्भवी [अर्थात् लोकमें पाया जानेवाला], २. [केवल] कविकी प्रौढोक्तिमात्रसे सिद्ध अथवा ३. उस [कवि] के द्वारा निबद्ध [वक्ता] की [प्रौढोक्तिमात्र] से [सिद्ध अर्थात् लोकमें न पाया जानेपर भी केवल कविकी कल्पनामात्रसे काव्यमें वर्णित] होता है। वही तीन प्रकारका भी वस्तु तथा अलङ्काररूप [दो प्रकारका होने ३ × २ = ६] से छह प्रकारका होता है और क्योंकि वह वस्तु अथवा अलङ्कार [दोनोंको] व्यक्त करता है इसलिए वह अर्थशक्त्युद्भव [ध्वनि ६ × २ = १२] बारह प्रकारका होता है ॥ ३९–४१ ॥

स्वतःसम्भवी [का अर्थ यह है कि वह] केवल [कविके] कथनमात्रसे ही सिद्ध नहीं होता है अपितु उचितरूपसे बाहर संसारमें भी पाया जाता है और बाहर संसारमें न होनेपर भी कविके द्वारा [अपनी] प्रतिभामात्रसे निर्मित अथवा कविनिबद्ध वक्ताके द्वारा [प्रतिभामात्रसे निर्मित] दो प्रकारका और इस प्रकार [कुल मिलाकर] तीन प्रकारका [अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि होता है।] वह [तीनों प्रकारका] व्यञ्जक अर्थ वस्तु अथवा अलङ्काररूप होता है इसलिए [३ × २ = ६] छह प्रकारका हुआ। उसके वस्तु अथवा अलङ्कार [ये दो] व्यङ्ग्य होते हैं। इस प्रकार अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि [६ × २ = १२] बारह प्रकारका होता है ।

रूपेणोदाहरणम् ।

अलसशिरोमणि धुत्ताणं अग्गिमो पुत्ति धणसमिद्धिमओ ।
इअ भणिएण णअङ्गी पप्फुल्लविलोअणा जाआ ॥ ६० ॥
[अलसशिरोमणिर्धूर्तानामग्रिमः पुत्रि धनसमृद्धिमयः ।
इति भणितेन नताङ्गी प्रफुल्लविलोचना जाता ॥ इति संस्कृतम्]

अत्र ममैवोपभोग्य इति वस्तुना वस्तु व्यज्यते ।

धन्याऽसि या कथयसि प्रियसङ्गमेऽपि
विस्रब्धचाटुकशतानि रतान्तरेषु ।
नीवीं प्रति प्रणिहिते तु करे प्रियेण
सख्यः ! शपामि यदि किञ्चिदपि स्मरामि ॥ ६१ ॥

अत्र त्वमधन्या अहं तु धन्येति **व्यतिरेकालङ्कारः ।**

स्वतःसम्भवीके चार उदाहरण : १. वस्तुसे वस्तु व्यङ्ग्य

क्रमशः उनके उदाहरण देते हैं—

हे पुत्रि, [यह तुम्हारा प्रस्तावित वर] बड़ा आलसी, धूर्तोंमें अग्रणी और धन-समृद्धिसे युक्त है । ऐसा कहनेसे उस नताङ्गीकी आँखें खिल उठीं ॥६०॥

यहाँ 'वह मेरे ही उपभोगके योग्य है' यह वस्तु [प्रफुल्लविलोचनत्वरूप कथित] वस्तुसे व्यङ्ग्य होती है ।

यहाँ नायिकाके प्रसन्न होनेका यह कारण है कि आलसी होनेके कारण ये घरसे निकलकर कहीं नहीं जायँगे इसलिए हर समय उनके साथ रहनेका अवसर मिलेगा । 'धूर्तानाम् अग्रिमः'का अभिप्राय यह है कि वे मूर्ख या साधु नहीं हैं अपितु सब कलाओंको जानते हैं इसलिए उनका सहवास बड़ा आनन्ददायक होगा । 'धनसमृद्धिमय' इस विशेषणने उसकी जीवनयात्राकी चिन्ताओं-से मुक्तिकी सूचना द्वारा उसकी प्रसन्नताकी ओर भी वृद्धि कर दी है । इसीलिए इन तीनों विशेषणों द्वारा अपने भावी प्रियतमका परिचय प्राप्तकर उसकी आँखें प्रसन्नतासे खिल उठीं । यहाँ नायकके विशेषणश्रवणसे जनित प्रफुल्लविलोचनत्वरूप वस्तुसे, 'यह केवल मेरे ही उपभोग्य है' यह वस्तु अभिव्यक्त होती है ।

२. स्वतःसम्भवी वस्तुसे अलङ्कार व्यङ्ग्य

वस्तुसे अलङ्कार व्यङ्ग्यका उदाहरण आगे देते हैं । यह पद्य 'विज्जिका' नामक कवियित्रीका है, यह बात शार्ङ्गधरपद्धतिमें लिखी है । इसमें अपने-अपने रति सम्भोगकी आलोचना करनेवाली सखियोंमेंसे कोई एक सखी अपनी दूसरी सखीका उपहास करते हुए कह रही है कि—

तुम धन्य [व्यङ्ग्यसे अधन्य] हो जो प्रियके साथ सङ्गम होनेपर भी और सुरतके समय भी नाना प्रकारकी विश्वासयुक्त चापलूसीकी बातें कह लेती हो । हे सखि, सौगन्ध खाकर कहती हूँ कि प्रियके द्वारा [मेरे] नारेकी ओर हाथ बढ़ाते ही मुझे तो कुछ भी स्मरण नहीं रहता है ॥६१॥

यहाँ तुम तो धन्य नहीं अपितु मैं धन्य हूँ यह [दूसरी सखीकी अपेक्षा आधिक्य दिखलानेसे] व्यतिरेकालङ्कार व्यङ्ग्य है ।

दशम उल्लासमें विरोधालङ्कारका लक्षण निम्नलिखित प्रकार किया गया है—

[सू० १६६] विरोधः सोऽविरोधेऽपि विरुद्धत्वेन यद्वचः ।

[सू० १६७] जातिश्चतुर्भिर्जात्याद्यैर्विरुद्धा स्याद् गुणैस्त्रिभिः ॥

क्रिया द्वाभ्यामपि द्रव्यं द्रव्येणैवेति ते दश ।

जातिवाचक, गुणवाचक, क्रियावाचक और द्रव्यवाचक [यदृच्छा-शब्द] चार प्रकारके शब्द और तदनुसार उनके चार अर्थ माने गये हैं। इन अर्थोंका परस्पर विरोध न होनेपर भी जहाँ उनका विरोध सा वर्णन किया जाय वहाँ विरोधालङ्कार या विरोधाभासअलङ्कार होता है। जातिका जात्यादि चारोंके साथ, गुणोंका गुण आदि तीनके साथ, क्रियाका क्रिया और द्रव्य दोके साथ तथा द्रव्यका द्रव्यके साथ, इस प्रकार [४ + ३ + २ + १ = १०] दस प्रकारका विरोध सम्भव होनेसे विरोधाभास अलङ्कारके दस भेद हो जाते हैं।

तुल्ययोगिता अलङ्कारका लक्षण दशम उल्लासमें निम्नलिखित प्रकार दिया है—

[सू० १५८] नियतानां सकृद्धर्मः सा पुनस्तुल्ययोगिता ।

नियत अर्थात् केवल प्राकरणिक अथवा केवल अप्राकरणिक अनेक अर्थोंमें एक धर्मका अभिसम्बन्ध होनेपर तुल्ययोगिता अलङ्कार होता है।

यहाँ ग्रन्थकारने विरोधालङ्कारसे तुल्ययोगिता अलङ्कार व्यङ्ग्य माना है। इसमें ओष्ठदशन और रशनामोचनरूप क्रियाओंमें परस्पर विरोध होनेसे विरोधालङ्कार व्यञ्जक अलङ्कार है और उससे स्वाधरदशन तथा शत्रुव्यापादनरूप दो प्राकरणिक अर्थोंमें एककालिकत्वरूप एक धर्मका सम्बन्ध होनेसे तुल्ययोगिता अलङ्कार व्यङ्ग्य है। यह ग्रन्थकारकी ऊपरकी पंक्तियोंका अभिप्राय है।

'प्रदीपकार'की व्याख्या

यहाँ वृत्तिग्रन्थमें ग्रन्थकारने विरोधालङ्कारसे तुल्ययोगिता अलङ्कारको व्यङ्ग्य माना है परन्तु 'काव्यप्रकाश'के अनेक टीकाकारोंने 'विरोध' और 'तुल्ययोगिता' अलङ्कारोंकी यहाँ किसी प्रकार सङ्गति नहीं मानी है। उदाहरणके लिए प्रदीपकारादि कहते हैं कि—

विरोधालङ्कारेण इत्यस्य विरोधाभासालङ्कारेण इत्यर्थस्तु न। विरोधस्यासम्भवात्। किन्तु विरोधगर्भितोऽलङ्कारस्तेनेत्यर्थः। कार्यकारणयोः पौर्वापर्यविपर्ययरूपातिशयोक्त्यलङ्कारेणेति यावत्। स्वाधरदशनस्य कारणस्य वैरिवधूजनोष्ठदशनरशनामोचनस्य कार्यस्य च समकालतया निर्दिष्टत्वात्। तुल्ययोगितेति पदस्यापि तुल्ययोगितालङ्कार इत्यर्थस्तु न, 'नियतानां सकृद्धर्मः सा पुनस्तुल्ययोगिता' इति १५८ सूत्रेण लक्षितायाः प्रकृतानामप्रकृतानां वा एकधर्मसम्बन्धरूपतुल्ययोगितायाः प्रकृतेऽसम्भवात्। तुल्ययोगितायां धर्मस्य गुणक्रियान्यतररूपस्यैव ग्रहणात्। किन्तु तुल्ययोगिपदस्य अधरो निर्दष्टः शत्रवो व्यापादिताश्चेति तुल्यकाले योगः ययोस्तौ तुल्ययोगिनौ तयोर्भावस्तुल्ययोगितेति व्युत्पत्त्या समुच्चयालङ्कार इत्यर्थः। अधरनिर्दशनवैरिव्यापादनक्रिययोर्यौगपद्यप्रतीतेरिति।

इसका अभिप्राय यह है कि प्रदीपकार आदिने यहाँ वृत्तिग्रन्थके 'विरोध' तथा 'तुल्ययोगिता' दोनों पदोंको मुख्यरूपसे उस नामके अलङ्कारोंका वाचक न मानकर उनका यौगिक अर्थ करनेका प्रयत्न किया है और विरोधालङ्कार शब्दसे विरोधगर्भित कार्य-कारणके पौर्वापर्यविपर्ययरूप अतिशयोक्ति अलङ्कारका तथा तुल्ययोगिता शब्दसे ओष्ठदशन तथा शत्रुव्यापादनके तुल्यकालमें होनेसे समुच्चयालङ्कारका ग्रहण किया है।

[केशेषु बलात्कारेण तेन च समरे जयश्रीर्गृहीता ।
यथा कन्दराभिर्विधुरास्तस्य दृढं कण्ठे संस्थापिताः ॥ इति संस्कृतम्]

अत्र केशग्रहणावलोकनोद्दीपितमदना इव कन्दरास्तद्विधुरान् कण्ठे गृह्णन्ति इत्युत्प्रेक्षा । एकत्र संग्रामे विजयदर्शनात्तस्यारयः पलाय्य गुहासु तिष्ठन्तीति काव्यहेतुरलङ्कारः । न पलाय्य गतास्तद्वैरिणोऽपितु ततः पराभवं सम्भाव्य तान् कन्दरा न त्यजन्तीत्यपह्नुतिश्च ॥

---

६. कविप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तुसे अलङ्कार व्यङ्ग्य

उस [स्तूयमान राजा] ने युद्धक्षेत्र [सुरतभूमि] में बलात् केशोंको पकड़कर जयश्रीका इस प्रकार आलिङ्गन किया, जिससे [उसकी रति-क्रीड़ाको देखकर मदनोन्मत्त] कन्दराओंने उसके शत्रुओंको गलेमें जोरसे लिपटकर रोक लिया ॥६५॥

यहाँ [राजाके द्वारा विजयश्रीके] केशग्रहणके अवलोकन [रूप वस्तु] से मदनोन्मत्त-सी होकर कन्दराएँ [मानो] उसके शत्रुओंके गलेमें लिपट-सी रही हैं यह १. उत्प्रेक्षा [अलङ्कार व्यङ्ग्य है]। अथवा [एकत्र अर्थात्] एक स्थानपर संग्राममें उस [राजा] की विजय [रूप वस्तु] को देखकर, उसके शत्रु भागकर गुफाओंमें रहने लगे इस प्रकार [वस्तुसे] २. काव्यलिङ्ग अलङ्कार [व्यङ्ग्य] है। अथवा शत्रु भागकर [कन्दराओंमें] नहीं गये अपितु उससे हार जानेके डरसे कन्दराएँ [पूर्वसे विद्यमान] उनको नहीं जाने देती हैं यह ३. अपह्नुति [अलङ्कार वस्तुसे] व्यङ्ग्य है।

यहाँ कविप्रौढोक्तिसिद्ध केशग्रहणरूप वस्तुसे १. उत्प्रेक्षा, २. काव्यलिंग तथा ३ अपह्नुति तीन अलङ्कार व्यङ्ग्य माने हैं। इनके लक्षण तथा उनका समन्वय निम्नलिखित प्रकार होता है—

[सू० १३७] 'सम्भावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत्।' प्रकृत उपमेयका 'सम' अर्थात् उपमानके साथ सम्भावना अर्थात् 'उत्कटैककोटिक संशयको' 'उत्प्रेक्षा' कहते हैं। यहाँ भयके कारण शत्रुओंसे निरन्तर कन्दराओंमें घुसे रहने रूप प्रकृत अर्थकी, कन्दराओंने मानो उन शत्रुओंको गलेमें लिपटकर रोक लिया है, इस प्रकारके सम्भावनके कारण उत्प्रेक्षालङ्कार व्यङ्ग्य है।

[सू० १७४] 'काव्यलिङ्गं हेतोर्वाक्यपदार्थता।' जहाँ वाक्यार्थ अथवा पदार्थको अन्यके हेतुरूपमें वर्णित किया जाय वहाँ 'काव्यलिङ्ग' अलङ्कार होता है। इस दूसरे पक्षमें राजाने विजयलक्ष्मीको अपने वशमें कर लिया है, इसी कारण शत्रु भागकर कन्दराओंमें घुस गये हैं, इस प्रकार प्रथम वाक्यार्थ द्वितीय वाक्यार्थके कारणरूपमें प्रस्तुत किया गया है। इसलिए यहाँ केशग्रहणरूप वस्तुसे काव्यलिङ्ग अलङ्कार व्यङ्ग्य माना गया है।

[सू० १४१] 'प्रकृतं यन्निषिध्यान्यत् साध्यते सा त्वपह्नुतिः।' जहाँ प्रकृत अर्थात् उपमेयको असत्य बतलाकर अन्य अर्थात् उपमानको सत्यतया स्थापित किया जाता है वहाँ 'अपह्नुति' अलङ्कार होता है। इस तीसरी स्थितिमें भयके मारे भागकर कन्दराओंमें चले गये हैं इस प्रकृत अर्थको असत्य ठहराकर कन्दराएँ पहिलेसे ही अपने भीतर बैठे हुए शत्रुओंको उसके भयके कारण बाहर नहीं आने देती हैं यह अन्य अर्थकी स्थापना की जा रही है अतः अपह्नुति अलङ्कार व्यङ्ग्य है। यही बात ग्रन्थकारने ऊपरकी पंक्तियोंमें लिखी है।

गाढालिगणरहसुज्जुअम्मि दइए लहुं समोसरइ ।
माणंसिणीण माणो पीलणभीअ व्व हिअआहि ॥६६॥
[गाढालिङ्गनरभसोद्यते दयिते लघु समपसरति ।
मनस्विन्या मानः पीडनभीत इव हृदयात् ॥ इति संस्कृतम्]

अत्रोत्प्रेक्षया प्रत्यालिङ्गनादि तत्र विजृम्भते इति वस्तु ।

जा ठेरं व हसन्ती कइवअणंवुरुहवद्धविणिवेसा
दावेइ भुअणमंडलमण्णं विअ जअइ सा वाणी ॥६७॥
[या स्थविरमिव हसन्ती कविवदनाम्बुरुहवद्धविनिवेशा ।
दर्शयति भुवनमण्डलमन्यदिव जयति सा वाणी ॥ इति संस्कृतम्]

अत्रोत्प्रेक्षया चमत्कारैककारणं नवं नवं जगद् अजडासनस्था निर्मिमीते इति व्यतिरेकः ।

एषु कविप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नो व्यञ्जकः ।

---

७. कविप्रौढोक्तिसिद्ध अलङ्कारसे वस्तु व्यङ्ग्य

प्रियतमके इस [नायिकाके] गाढ़ आलिङ्गनके लिए उद्यत होते ही [कहीं इन दोनोंके गाढालिङ्गन करते समय मैं बीचमें ही पिस न जाऊँ इस] दब जानेके डरसे मानो मानिनीका मान उसके हृदयसे झट निकल भागा ॥६६॥

यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कारसे प्रत्यालिङ्गन आदि वस्तु व्यङ्ग्य हो रही है ।

८. कविप्रौढोक्तिसिद्ध अलङ्कारसे अलङ्कार व्यङ्ग्य

कविके मुखकमलमें बैठी हुई जो वाणी [नवीन वस्तुके निर्माणमें असमर्थ और जड कमलके ऊपर बैठे हुए] बूढ़े [ब्रह्मा] का उपहास करती हुई-सी समस्त भुवन-मण्डलको अन्य प्रकारका-सा [अलौकिक चमत्कारजनक] दिखलाती है वह [कविवाणी ब्रह्माकी अपेक्षा] सर्वोत्कर्षयुक्त है ॥६७॥

यहाँ [स्थविरमिव हसन्ती इस] उत्प्रेक्षा [अलङ्कार] से, अत्यन्त चमत्कारजनक [प्रतिक्षण] नये-नये जगत्को चेतन [कविमुखरूप] आसनपर बैठी हुई [कविवाणी] बनाती है । इस प्रकार [जड कमलपर बैठे हुए और नीरस जगत्को उत्पन्न करनेवाले बूढ़े ब्रह्माकी अपेक्षा कविवाणी उत्कृष्ट है यह] व्यतिरेकालङ्कार व्यङ्ग्य है ।

इन [चारों उदाहरणों] में व्यञ्जक [अर्थ] कविप्रौढोक्तिमात्रसे सिद्ध हैं ।

इस प्रकार अर्थशक्त्युद्भव ध्वनिके स्वतःसम्भवी तथा कविप्रौढोक्तिसिद्ध, दो भेदोंके चार-चार अवान्तर भेद दिखला देनेके बाद अब कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध नामक तृतीय भेदके भी इसी प्रकारके चार अवान्तर भेद आगे दिखलाये जायेंगे । यद्यपि कविनिबद्ध वक्ताकी प्रौढोक्ति भी [illegible] [illegible] कविप्रौढोक्तिसिद्धि [illegible] [illegible] कविनिबद्ध [illegible] आश्रय होनेसे [illegible] [illegible] है ।

जे लंकागिरिमेहलासु खलिआ संभोगखिण्णोरई-
फारुप्फुल्लफणावलीकवलणे पत्ता दरिद्दत्तणम् ।
ते एह्नि मलआनिला विरहणीणीसाससंपक्किणो
जादा झत्ति सिसुत्तणे वि बहला तारुण्णपुण्णा विअ ॥६८॥
[ये लङ्कागिरिमेखलासु स्खलिताः सम्भोगखिन्नोरगी-
स्फारोत्फुल्लफणावलीकवलने प्राप्ता दरिद्रत्वम् ।
त इदानीं मलयानिला विरहिणीनिःश्वाससम्पर्किणो
जाता झटिति शिशुत्वेऽपि बहलास्तारुण्यपूर्णा इव ॥ इति संस्कृतम्]

अत्र निःश्वासैः प्राप्तैश्वर्या वायवः किं किं न कुर्वन्तीति वस्तुना वस्तु व्यज्यते ।

सहि विरइऊण माणस्य मज्झ धीरत्तणेण आसासम् ।
पिअदंसणाविहलंखलखणम्मि सहसत्ति तेण ओसरिअम् ॥६९॥
[सखि विरचय्य मानस्य मम धीरत्वेनाश्वासम् ।
प्रियदर्शनविशृङ्खलक्षणे सहसेति तेनापसृतम् ॥ इति संस्कृतम्]

अत्र वस्तुनाऽकृतेऽपि प्रार्थने **प्रसन्नेति विभावना,** प्रियदर्शनाय सौभाग्यबलं धैर्येण सोढुं न शक्यते **इत्युत्प्रेक्षा** वा ।

---

९. कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तुसे वस्तु व्यङ्ग्य

[लङ्कागिरि] हेमकूट पर्वतकी तलहटियोंमें [सर्पोंके डरसे] मन्दगतिसे चलनेवाले [स्खलिताः] जो वायु, सम्भोगसे थकी हुई [अतएव प्यासी] सर्पिणियोंकी फैली हुई और ऊपर उठी हुई फणावलीके द्वारा भक्षण कर लिये जानेके कारण, स्वल्पताको प्राप्त हो गये थे, वे मलयानिल आज [इस वसन्तके समय] शैशवावस्था [वसन्तके आरम्भ] में ही विरहिणियोंके निःश्वासोंका सम्पर्क प्राप्तकर तारुण्यमय [प्रबल] तथा प्रचुरताको प्राप्त हो गये हैं । [यह 'कर्पूरमञ्जरी'में वसन्तवर्णनका श्लोक है] ॥ ६८ ॥

यहाँ निःश्वासों [के सम्पर्क] से शक्ति [ऐश्वर्य] प्राप्तकर मलयानिल क्या-क्या न कर डालेंगे यह वस्तु [श्लोकोक्त वस्तुसे व्यक्त होती] है ।

१०. कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तुसे अलङ्कार व्यङ्ग्य

हे सखि, [तेरे द्वारा दिलाया हुआ] धैर्य, मेरे मानको [हे मान, तुम डटे रहना, भागना नहीं, मैं तुम्हारी सहायता करूँगा, इस प्रकार] आश्वासन देकर प्रियतमके दर्शन होनेपर [मानके पैरोंके] डगमगाते ही [उसकी सहायताका दम भरनेवाला धैर्य न जाने कहाँ] सहसा भाग गया ॥ ६९ ॥

यहाँ [श्लोकमें प्रतिपादित] वस्तुसे, प्रार्थना या मनाने] के बिना ही [नायिका या मैं] प्रसन्न हो गयी इस प्रकार [बिना कारणके कार्यके वर्णनरूप] विभावना अलङ्कार, अथवा प्रियतमके दर्शनसे प्राप्त सौभाग्यके बलको धैर्य सहन नहीं कर सकता है यह उत्प्रेक्षा अलङ्कार [व्यङ्ग्य] है ।

ओल्लोल्लकरअरअणक्खएहिं तुह लोअणेसु मह दिण्णम् ।
रत्तंसुअं पसाओ कोवेण पुणो इमे ण अक्कमिआ ।।७०।।
[आर्द्रार्द्रकरजरदनक्षतैस्तव लोचनयोर्मम दत्तम् ।
रक्तांशुकं प्रसादः कोपेन पुनरिमे नाक्रान्ते ।। इति संस्कृतम्]

अत्र किमिति लोचने कुपिते वहसि **इत्युत्तरालङ्कारेण** न केवलमार्द्रनखक्षतानि गोपायसि यावत्तेषामहं प्रसादपात्रं जातेति वस्तु ।।

महिलासहस्सभरिए तुह हिअए सुहअ सा अमाअन्ती ।
अणुदिणमणण्णकम्मा अंगं तणुअं वि तणुएइ ।।७१।।
[महिलासहस्रभरिते तव हृदये सुभग सा अमान्ती ।
अनुदिनमनन्यकर्मा अङ्गं तन्वपि तनयति ।। इति संस्कृतम्]

अत्र **हेत्वलङ्कारेण** तनोस्तनूकरणेऽपि तव हृदये न वर्तते इति **विशेषोक्तिः** ।

---

११. कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध अलङ्कारसे वस्तु व्यङ्ग्य

तुम्हारे इस [शरीरपर प्रतिनायिकाके सम्भोगकालमें प्रदत्त] बिलकुल ताजे नखक्षत तथा दन्तक्षतोंने [प्रसन्नतासे] लाल रंगका आवरण-पट पुरस्कारमें मेरे नेत्रोंको प्रदान किया है [इसलिए उसको धारण करनेसे ये लाल प्रतीत होते हैं ।] परन्तु ये क्रोधसे आक्रान्त नहीं हैं ॥ ७० ॥

यहाँ तुम आँखें लाल क्यों कर रही हो, इस [प्रश्नके उत्तररूपमें इस श्लोकके उक्त होनेसे] उत्तरालङ्कारसे, तुम केवल अपने ताजे नखक्षतोंको ही नहीं छिपा रहे हो बल्कि मेरे ऊपर भी उनकी कृपा हो गयी है [क्योंकि उनके छिपानेके लिए ही तुम मेरा आलिङ्गन आदि कर रहे हो] यह वस्तु [ध्वनित होती है] ।

[सू० १८८] उत्तरश्रुतिमात्रतः ।
प्रश्नस्योन्नयनं यत्र क्रियते तत्र वा सति ।
असकृद् यद् असम्भाव्यमुत्तरं स्यात् तदुत्तरम् ॥

अर्थात् जहाँ प्रतिवचनके श्रवणमात्रसे पूर्व प्रश्नवाक्यकी कल्पना कर ली जाय वह 'उत्तरालङ्कार' होता है और जहाँ प्रश्नके होनेपर किसी अर्थकी लोकोत्तरता या दुर्लभता दिखलानेके लिए अनेक बार असम्भाव्य उत्तर दिया जाय वह भी 'उत्तरालङ्कार'का दूसरा भेद होता है । यह 'उत्तरालङ्कार'का लक्षण है ।

१२. कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध अलङ्कारसे अलङ्कार व्यङ्ग्य

हे सुभग, अगणित महिलाओंसे भरे हुए तुम्हारे हृदयमें न समा सकनेके कारण वह तन्वी प्रतिदिन सब कामोंको छोड़कर अपने दुबले शरीरको और भी पतला कर रही है ॥ ७१ ॥

यहाँ हेत्वलङ्कार [अर्थात् काव्यलिङ्ग अलङ्कार] से शरीरको कृश करनेपर भी तुम्हारे हृदयमें नहीं समा पाती है [इस प्रकार कारणके होनेपर भी कार्यके न होनेसे] यह विशेषोक्ति [अलङ्कार व्यङ्ग्य] है ।

एषु कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरो व्यञ्जकः ।

एवं द्वादश भेदाः ।

[सू० ५५] शब्दार्थोभयभूरेकः ।

यथा—

> अतन्द्रचन्द्राभरणा समुद्दीपितमन्मथा ।
> तारकातरला श्यामा सानन्दं न करोति कम् ॥७२॥

अत्रोपमा व्यङ्ग्या ।

[सू० ५६] भेदा अष्टादशास्य तत् ॥४१॥

अस्येति ध्वनेः ।

इन [चारों] में व्यञ्जक [अर्थ] कविनिबद्ध वक्ताकी प्रौढोक्तिमात्रसे सिद्ध है।

इस प्रकार [अर्थशक्त्युत्थध्वनिमें] बारह भेद होते हैं।

उभयशक्त्युत्थध्वनिका भेद

इस प्रकार यहाँ संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यके अर्थशक्त्युत्थध्वनिके बारह भेदोंका तथा शब्दशक्त्युत्थके दो भेदोंका पहिले, कुल १२ + २ = १४ भेदोंका निरूपण कर चुकनेके बाद अब उभयशक्त्युत्थ-ध्वनिके एक [संलक्ष्यक्रमके पन्द्रहवें] भेदका निरूपण आगे करते हैं—

[सू० ५५]—[संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य-ध्वनिका] शब्द और अर्थ [उभय] की शक्तिसे सिद्ध [उभयशक्त्युत्थ] एक भेद होता है। जैसे—

[मेघ आदिके आवरणसे रहित] चमकते हुए चन्द्रमासे विभूषित [श्यामा शब्द श्लिष्ट है। उसके दो अर्थ हैं, एक रात्रि और दूसरा षोडशवर्षीया नायिका, इस दूसरे पक्षमें उज्ज्वल चन्द्रके आकारवाले सिरके आभूषणको धारण करनेवाली श्यामा अर्थात् षोडशवर्षीया नायिका] कामदेवको उद्दीप्त करनेवाली [श्यामा रात्रि तथा षोडशवर्षीया नायिका] किसको आनन्दित नहीं करती है ॥७२॥

यहाँ [उक्त विशेषणोंसे विशिष्ट श्यामा रात्रिके समान उक्त विशेषणोंसे विशिष्ट षोडशवर्षीया नायिका यह] उपमा अलङ्कार व्यङ्ग्य है।

ध्वनिके अठारह मुख्य भेद

[सू० ५६]—इस प्रकार उस [ध्वनि] के १८ भेद होते हैं।

इसके [अर्थात्] ध्वनिके [१८ भेद होते हैं]।

यहाँ ध्वनिके अठारह भेद बतलाये गये हैं। इनमेंसे संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यके २ शब्दशक्त्युत्थ + १२ अर्थशक्त्युत्थ + १ उभयशक्त्युत्थ = १५ भेद पहिले गिनाये हैं। [illegible] इन १५ भेदोंके साथ असंलक्ष्यक्रम एक भेदको मिला देनेसे १५ + १ = १६ भेद तो अभिधामूल या विवक्षितान्यपर-वाच्य ध्वनिके होते हैं। इनके साथ अविवक्षितवाच्य या लक्षणामूल ध्वनिके [illegible] वाच्य तथा अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य इन दोनों भेदोंको मिलाकर ध्वनिके १६ + २ = १८ भेद हो जाते हैं। इन्हीं अठारह भेदोंकी [illegible] यहाँ दिखलायी है।

ननु रसादीनां बहुभेदत्वेन कथमष्टादशेत्यत आह—

[सू० ५७] रसादीनामनन्तत्वाद् भेद एको हि गण्यते ।

अनन्तत्वादिति । तथा हि नवरसाः । तत्र शृङ्गारस्य द्वौ भेदौ, सम्भोगो विप्रलम्भश्च । सम्भोगस्यापि परस्परावलोकनालिङ्गनपरिचुम्बनादिकुसुमोच्चयजलकेलिसूर्यास्तमयचन्द्रोदयषड्ऋतुवर्णनादयो बहवो भेदाः । विप्रलम्भस्य अभिलापादय उक्ताः । तयोरपि विभावानुभावव्यभिचारिवैचित्र्यम् । तत्रापि नायकयोरुत्तममध्यमाधमप्रकृतित्वम् । तत्रापि देशकालावस्थादिभेदाः । इत्येकस्यैव रसस्यानन्त्यम् । का गणना त्वन्येषाम् । असंलक्ष्यक्रमत्वन्तु सामान्यमाश्रित्य रसादिध्वनिभेद एक एव गण्यते ।

रसादि असंलक्ष्यक्रमध्वनिका एक ही भेद माना है

[प्रश्न]-अच्छा, रस आदिके बहुत भेद होनेसे [ध्वनिके] अठारह भेद कैसे होते हैं ? इस [शङ्काके समाधान]के लिए कहते हैं—

[सू० ५७]—रस आदिके अनन्त होनेसे केवल एक ही भेद गिना जाता है। [अर्थात् उनका और अधिक विस्तार नहीं किया जाता है]।

[रसादिके] अनन्त होनेसे [इसकी व्याख्या करते हैं—] जैसे कि [मुख्यरूपसे] नौ रस हैं। उनमेंसे शृङ्गारके दो भेद हैं, एक सम्भोग और दूसरा विप्रलम्भ। सम्भोगके भी परस्पर अवलोकन, आलिङ्गन, चुम्बन आदि, जलकेलि, सूर्यास्तमय, चन्द्रोदय, तथा षड्ऋतु-वर्णन आदि बहुत-से भेद [हो सकते] हैं। विप्रलम्भके अभिलाप [ईर्ष्या, विरह, प्रवास, शाप] आदि [हेतुक पाँच भेद] बतला चुके हैं। [अनेक उपभेदों सहित] उन दोनोंमें भी विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभावोंका वैचित्र्य [होनेसे अनेक भेद] है। उनमें भी फिर [सम्भोग तथा विप्रलम्भ दोनों प्रकारके शृङ्गारोंमें नायिका-नायकोंमें उत्तम, मध्यम, अधम प्रकृति [होनेसे भेद हो सकते] हैं। उनमें भी फिर देश, काल, अवस्था आदि [के भेदसे] भेद होते हैं। इस प्रकार एक ही [शृङ्गार] रसके अनन्त भेद हो जाते हैं। अन्य सबकी गिनती करनेकी तो बात ही क्या है। [इन सबमें] असंलक्ष्यक्रमत्वकी समानताको लेकर रसादिध्वनिको एक ही भेद माना जाता है। [इस प्रकार ध्वनिके अठारह भेद होते हैं]।

अठारह ध्वनिभेदोंका विस्तार

अब ध्वनिके इन मुख्य अठारह भेदोंका आगे और भी विस्तार होता है। इन मुख्य अठारह भेदोंमें एक उभयशक्त्युत्थ भेद तो केवल वाक्यमें ही रहता है, परन्तु शेष १७ के पदगत तथा वाक्यगत भेद होनेसे १७ × २ = ३४ भेद हो जाते हैं। और उनमेंसे अर्थशक्त्युत्थके जो १२ भेद गिनाये थे उनके प्रबन्धमें भी होनेसे १२ भेद और हो सकते हैं। उनको और उभयशक्त्युत्थके एक भेदको भी मिला देनेसे १ + ३४ = ३५ + १२ = ४७ भेद होते हैं। इनके अतिरिक्त असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यके १. पदांश, २. वर्ण, ३. रचना तथा ४. प्रबन्धगत होनेसे चार भेद और जोड़कर ध्वनिके ४७ + ४ = ५१ भेद हो जाते हैं। ध्वनिके पूर्वोक्त १८ भेद करनेके बाद अब आगे ५१ भेदोंकी गणनाकी दृष्टिसे इन भेदोंका आगे विभाजन दिखलाते हैं—

[सू० ५८] वाक्ये द्व्युत्थः ।

द्व्युत्थ इति शब्दार्थोभयशक्तिमूलः ।

[सू० ५९] पदेऽप्यन्ये ।

अपिशब्दाद्वाक्येऽपि ।

एकावयवस्थितेन भूषणेन कामिनीव पदद्योत्येन व्यङ्ग्येन वाक्यव्यङ्ग्याऽपि भारती भासते ।

तत्र पदप्रकाश्यत्वे क्रमेणोदाहरणानि—

यस्य मित्राणि मित्राणि शत्रवः शत्रवस्तथा ।
अनुकम्प्योऽनुकम्प्यश्च स जातः स च जीवति ॥ ७३ ॥ [१]

अत्र द्वितीयमित्रादिशब्दा आश्वस्तत्वनियन्त्रणीयत्वस्नेहपात्रत्वादिसंक्रमितवाच्याः[1] ॥

[सू० ५८]—उभयशक्त्युत्थ [ध्वनि केवल] वाक्यमें [होता है] ।

द्व्युत्थ [अर्थात्] शब्दार्थोभयशक्तिमूल [ध्वनि, इसका केवल वाक्यगत एक ही भेद होता है]।

[सू० ५९]—अन्य [सत्रह भेद वाक्यके अतिरिक्त] पदमें भी [होते हैं] ।

'अपि' शब्दसे [अन्य १७ भेद] वाक्यमें भी होते हैं । [इस प्रकार उन सत्रह भेदोंके पदगत तथा वाक्यगत दो भेद होकर १७×२=३४ भेद हो जाते हैं] ।

[पदद्योत्य ध्वनिसे काव्यका क्या उपकार हो सकता है इसको उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं]—जैसे एक ही अवयवमें धारण किये हुए आभूषणसे कामिनी शोभित होती है इसी प्रकार पदसे द्योत्य व्यङ्ग्यसे [श्रोत्रग्राह्य] वाक्य द्वारा व्यङ्ग्य [कविकी स्फोटरूप] वाणी भी शोभित होती है ।

पदद्योत्य लक्षणामूल ध्वनिके १७ उदाहरण

उनमेंसे पदप्रकाश्य [सत्रह भेदों] के [सत्रह] उदाहरण क्रमसे देते हैं—

सबसे पहिले अविवक्षितवाच्य या लक्षणामूल ध्वनिके अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य तथा अत्यन्त-तिरस्कृतवाच्य-ध्वनि दोनोंके पदद्योत्य उदाहरण क्रमशः देते हैं—

जिसके मित्र [आश्वस्तत्व आदि धर्मयुक्त] मित्र और शत्रु [दण्डभाजनत्वादि धर्मयुक्त वास्तविक] शत्रु हैं और जिसके कृपापात्र [स्नेहपात्रत्वादि धर्मयुक्त वस्तुतः] कृपापात्र हैं वही [सौभाग्यशाली पुरुष] उत्पन्न हुआ है और वही जीता है ॥ ७३ ॥ [१ लक्षणामूल पदद्योत्य अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य] ।

यहाँ [पुनरुक्ति-भयसे] द्वितीय मित्र आदि शब्द [क्रमशः] १ आश्वस्तत्व, २ नियन्त्रणीयत्व तथा स्नेहपात्रत्व आदि [रूप अर्थान्तरमें] संक्रमितवाच्य हैं ।

हिन्दीमें निम्नलिखित पद्य पदद्योत्य अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य-ध्वनिका उदाहरण हो सकता है—

राधा अति गुन आगरी स्वर्न वरन तनु रंग ।
मोहन तू मोहन भयो परसत जाके अङ्ग ॥

१. स्नेहपात्रत्वादिभिरर्थान्तरसंक्रमितवाच्याः ।

अत्र भीताननेति । एतेन हि नीचैःशंसनविधानस्य युक्तता गम्यते ।

नहीं आवेंगे। उनके वशीकरणके लिए तो] मान करो, धैर्य रखो [अर्थात् जल्दी मान भङ्ग न करना] और प्रियतमके प्रति इस सरलताको छोड़ दो। सखीके द्वारा इस प्रकार समझाये जानेपर भयभीत मुखमुद्रासे [उत्तर देती हुई] उससे बोली कि हे सखि, धीरे बोलो, नहीं तो मेरे हृदयमें बैठे प्राणेश्वर सुन लेंगे ॥ ७६ ॥ [३ ख]

यहाँ 'भीतानना' [यह व्यञ्जक-पद है]। इससे धीरे बोलनेका विधान करनेकी युक्तता प्रतीत होती है। [यह अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य पदद्योत्य सम्भोगशृङ्गारका उदाहरण है]।

यह श्लोक 'अमरुकशतक'से लिया गया है। असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यके ये दो उदाहरण पदद्योत्य ध्वनिके प्रदर्शनके लिए दिये गये हैं। इनमेंसे पहिला उदाहरण विप्रलम्भशृङ्गारका और दूसरा उदाहरण सम्भोगशृङ्गारका है। इसी दृष्टिसे इस भेदके दो उदाहरण दिये हैं।

हिन्दीके महाकवि बिहारीलालने 'अमरुकशतक'के इस पद्यका भी अनुवाद अपने दोहेमें बड़ी स्पष्टताके साथ इस प्रकार किया है—

सखी सिखावत मान विधि, सैननि बरजति बाल ।
हरए कहु मो हिय बसत, सदा बिहारीलाल ॥

बिहारीका काव्यकौशल यहाँ भी बड़े सुन्दर रूपमें प्रकट हो रहा है। अमरुकके लम्बे-लम्बे ढाई चरणोंके भावको बिहारीने केवल 'सखी सिखावत मान विधि' इन चार शब्दोंमें रखकर अपने अद्भुत चातुर्यका परिचय दिया है। सखीकी सिखायीहुई मानविधिको सुनकर अमरुककी नायिका 'प्रतिवचन्तामाह भीतानना' भयभीत होकर कहती है। पर बिहारीकी नायिका मुँहसे नहीं बोलती है। मुँहसे कही बात तो हृदयमें स्थित प्राणेश्वर सुन ही लेंगे। इसलिए बिहारीकी नायिका 'सैननि बरजति बाल' आँखके इशारेसे ही मना कर रही है। 'सैननि बरजति बाल'ने दोहेमें एक अपूर्व चमत्कार उत्पन्न कर दिया है जिसके कारण यहाँ सहृदयतामें बिहारी अमरुकसे कहीं आगे निकल गये हैं। पर इससे भी अधिक चमत्कार 'मो हिय बसत सदा बिहारीलाल'में है। अमरुककी नायिकाके 'प्राणेश्वर' उसके हृदयमें बैठे हैं। ठीक है, यह नायिकाका गौरव है। पर बिहारीकी नायिकाने उन 'बिहारी'जीको बाँधा है, जिनका काम ही सदा 'विहार' करना है। जो एक जगह बँधकर रहते नहीं उन्हीं 'बिहारीलाल'को सदाके लिए बाँध लेनेमें और भी गौरव है। सब मिलाकर बिहारीका यह छोटा सा दोहा अमरुकके विशालकाय श्लोकसे कहीं आगे निकल गया है।

दीरघ दोहा अरथके आखर थोरे आहि ।
ज्यों रहीम नट कुण्डली सिमिटि कूदि चढि जाहि ॥

रहीमने दोहेकी प्रशंसामें जो यह बात कही है वह बिहारीके दोहेपर बिल्कुल ठीक बैठती है।

'बिहारी सतसई'के अनुकरणमें लिखी गयी 'रामसतसई' या 'शृङ्गारसतसई'में रचयिताने भी इस श्लोकके भावको अपने दोहेमें भरनेका यत्न किया है। 'शृङ्गारसतसई'का दोहा निम्नलिखित प्रकार है—

हिय लोचननमें भरि रहे सुन्दर नन्दकिशोर ।
चलत सयान न बावरी मान धरों किहि ठौर ॥

पर बिहारीके दोहेके सामने यह जम नहीं रहा है।

भावादीनां पदप्रकाश्यत्वेऽधिकं न वैचित्र्यमिति न तदुदाह्रियते ।

रुधिरविसरप्रसाधितकरवालरुचिरभुजपरिघः ।

झटिति भ्रुकुटिविटङ्कितललाटपट्टो विभासि नृप ! भीम ॥ ७७ ॥ [४]

अत्र भीषणीयस्य भीमसेन उपमानम् ।

भुक्तिमुक्तिकृदेकान्तसमादेशनतत्परः ।

कस्य नानन्दनिस्यन्दं विदधाति सदागमः ॥ ७८ ॥ [५]

काचित् सङ्केतदायिनमेवं मुख्यया वृत्त्या शंसति ।

भाव आदिके पदप्रकाश्यत्वमें अधिक वैचित्र्य नहीं होता है, इसलिए उनके उदाहरण नहीं दिये हैं ।

पदद्योत्य संलक्ष्यक्रम शब्दशक्त्युत्थ ध्वनिके दो उदाहरण

इस प्रकार असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य पदद्योत्य ध्वनिके उदाहरण देनेके बाद अब संलक्ष्यक्रम-व्यङ्ग्यके शब्दशक्तिमूल भेदमें पदप्रकाश्य वस्तुसे अलङ्कार ध्वनिका उदाहरण देते हैं—

रुधिरसमूहसे सजी हुई तलवारके द्वारा [शत्रु तथा मित्रोंके लिए क्रमशः] भयङ्कर और मनोहर [शत्रुओंकी विजयके निरोधक] भुजार्गलसे युक्त और तुरन्त ही भ्रुकुटिसे अङ्कित ललाटपट्टवाले हे भयङ्कर [भीम] राजन् ! आप [भीमसेनके समान] सुशोभित हो रहे हैं ॥ ७७ ॥ [४]

यहाँ [भीषणीय पदमें 'कृत्यल्युटो बहुलम्' इस सूत्रसे कर्तामें अनीयर प्रत्यय [illegible] इसलिए उसका अर्थ] भयङ्कर [राजा]का भीमसेन उपमान है [illegible] भीम पदसे ध्वनित होती है । इसलिए यह पदद्योत्य वस्तुसे अलङ्कार [illegible] हुआ] ।

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

तुह वल्लहस्स गोसम्मि आसि अहरो मिलाणकमलदलो ।
इअ णववहुआ सोऊण कुणइ वअणं महिसँमुहम् ॥८३॥ [९]
[तव वल्लभस्य प्रभाते आसीदधरो म्लानकमलदलम् ।
इति नववधूः श्रुत्वा करोति वदनं महीसम्मुखम् ॥ इति संस्कृतम्]

अत्र रूपकेण त्वयाऽस्य मुहुर्मुहुः परिचुम्बनं तथा कृतं येन म्लानत्वमिति मिलाणादिपदद्योत्यं काव्यलिङ्गम् ।

एषु स्वतःसम्भवी व्यञ्जकः ।

राईसु चंदधवलासु ललिअमप्फालिऊण जो चावम् ।
एकच्छत्तं विअ कुणइ भुअणरज्जं विजंभंतो ॥ ८४ ॥ [१०]
[रात्रीषु चन्द्रधवलासु ललितमास्फाल्य यश्चापम् ।
एकच्छत्रमिव करोति भुवनराज्यं विजृम्भमाणः ॥ इति संस्कृतम्]

अत्र वस्तुना येषां कामिनामसौ राजा स्मरस्तेभ्यो न कश्चिदपि [illegible] इति जाग्रद्भिरुपभोगपरैरेव तैर्निशाऽतिवाह्यत इति भुअणरज्जपदद्योत्यं वस्तु प्रकाश्यते ।

निशितशरधियाऽर्पयत्यनङ्गो दृशि सुदृशः स्वबलं वयस्यराले ।
दिशि निपतति यत्र सा च तत्र व्यतिकरमेत्य समुन्मिषन्त्यवस्थाः ॥८५॥[११]

सबेरे तुम्हारे पतिका अधरोष्ठ मुरझाये हुए कमलदलके समान हो रहा था । [सखीके मुखसे] यह सुनकर नववधूने मुख नीचा कर लिया ॥ ८३ ॥ [९]

यहाँ [ओष्ठ कमलदल था इस] रूपकसे तुमने बार-बार इसका [illegible] किया जिससे वह म्लान हो गया, यह म्लानादि-पदद्योत्य काव्यलिङ्ग [illegible] है ।

इन [चारों उदाहरणों] में स्वतःसम्भवी व्यञ्जक है ।

अर्थशक्त्युत्थ कविप्रौढोक्तिसिद्ध पदद्योत्य ध्वनिका उदाहरण

चन्द्रमासे उज्ज्वल धवलवर्ण रात्रियोंमें प्रकट होता हुआ [illegible] [कामदेव बाण आदिका प्रयोग किये बिना केवल] धनुषकी [illegible] पर एकच्छत्र राज्य-सा करता है ॥ ८४ ॥ [१०]

यहाँ जिन कामी [स्त्री पुरुषों] का कामदेव राजा [illegible] आज्ञाका उल्लङ्घन नहीं कर सकता है । और वे सब [सारी रात] [illegible] उपभोग करते हुए ही सारी रात बिताते [illegible] [illegible] द्योत्य है ।

कामदेव नवयौवनवती [illegible] कामिनियोंके [illegible] बाण मानकर [illegible] [illegible] [illegible] कामकी] सब [illegible] प्रकट हो जाती [illegible] ॥ ८५ ॥ [११]

अत्र वस्तुना युगपदवस्थाः परस्परविरुद्धा अपि प्रभवन्तीति व्यतिकरपदद्योत्यो विरोधः ।

वारिज्जंतो वि पुणो सन्दावकदत्थिएण हिअएण ।
थणहरवअस्सएण विसुद्धजाई ण चलइ से हारो ॥ ८६ ॥ [१२]
[वार्यमाणोऽपि पुनः सन्तापकदर्थितेन हृदयेन ।
स्तनभरवयस्येन विशुद्धजातिर्न चलत्यस्या हारः ॥ इति संस्कृतम्]

अत्र विशुद्धजातित्वलक्षणहेत्वलङ्कारेण हारोऽनवरतं कम्पमान एवास्ते इति ण चलइपदद्योत्यं वस्तु ।

यहाँ [श्लोकवर्णित] वस्तुसे परस्पर विपरीत [हँसना, रोना आदि कामकी उपर्युक्त] अवस्थाएँ एक साथ प्रकट हो जाती हैं यह 'व्यतिकर' पदसे द्योत्य विरोध [अलङ्कार व्यङ्ग्य] है।

कामकी दस अवस्थाएँ निम्नलिखित मानी गयी है—

दृङ्मनःसङ्गसङ्कल्पा जागरः कृशताऽरतिः ।
ह्रीत्यागोन्मादमूर्च्छान्ता इत्यनङ्गदशा दश ॥

कविप्रौढोक्तिमात्रसिद्ध पदद्योत्य अलङ्कारसे वस्तुव्यङ्ग्यका उदाहरण देते हैं—

विपरीत सुरतके कालमें नायिकाके वक्षःस्थलपर स्तनस्पर्शप्रतिबन्धक हारके कारण जब स्तनोंका पूर्ण स्पर्श नहीं हो पाता है, सन्तापसे खिन्न होकर नायक उसको बार-बार बीचमेंसे हटानेका प्रयत्न करता है, परन्तु वह हार फिर उसके स्तनोंके ही ऊपर आ जाता है, मानो मित्र स्तनोंकी अतिपीडनसे रक्षा करनेके लिए ही उच्च शुद्ध जातिके मोतियोंसे बना हुआ हार अपने मित्रोंको छोड़कर नहीं जाता है और स्तनोंके ऊपर निरन्तर हिल रहा है, यह इस श्लोकका भाव है। शब्दार्थ इस प्रकार है—

[स्तनके स्पर्शमें निरन्तर बाधा पड़नेके कारण] सन्तापसे व्याकुलहृदय [नायक]के द्वारा हटाया जानेपर भी विशुद्ध जाति [के मोतियों]का [बना हुआ इस विपरीत सुरतमें प्रवृत्त नायिकाका] हार अपने मित्र स्तनोंसे [स्तनोंको छोड़कर] नहीं हटता है। [बराबर स्तनोंपर ही झूल रहा] ॥ ८६ ॥ [१२]

यहाँ विशुद्धजातित्वरूप हेतु [होनेके कारण काव्यलिङ्ग] अलङ्कारसे हार [हटानेपर भी निरन्तर स्तनोंके ऊपर] झूल रहा है। यह 'न चलइ'-पदद्योत्य वस्तु व्यक्त होती है।

यहाँ 'स्तनभरवयस्येन न चलति' इस वाक्यांशमें 'वयस्येन'में साधारणतः तृतीयाके स्थानपर पञ्चमी विभक्तिका प्रयोग होना चाहिये था। परन्तु कविने 'अपादान'में पञ्चमीके स्थानमें ही यहाँ तृतीयाका प्रयोग किया है। इसलिए 'वयस्येन न चलति'का अर्थ 'वयस्यात् न चलति' होता है। इस प्रकारके प्रयोगका समर्थन पाणिनिके '[illegible] तृतीयायां' [illegible] इस सूत्रके आधार [illegible] किया जा सकता है। इस सूत्रमें 'अपादान'का अर्थ '[illegible]' है। इस '[illegible]' आदि [illegible] [illegible] किया गया है, इसलिए यहाँ भी 'अपादान' अर्थमें '[illegible]' [illegible] प्रयोगका [illegible] किया जा सकता है।

सो मुद्धसामलंगो धम्मिल्लो कलिअललिअणिअदेहो ।
तीए खंधाहि बलं गहिअ सरो सुरअसंगरे जअइ ॥ ८७ ॥ [१३]
[स मुग्धश्यामलाङ्गो धम्मिल्लः कलितललितनिजदेहः ।
तस्याः स्कन्धाद्बलं गृहीत्वा स्मरः सुरतसङ्गरे जयति ॥ [इति संस्कृतम्]

अत्र रूपकेण मुहुर्मुहुराकर्षणेन तथा केशपाशः स्कन्धयोः प्राप्तः यथा रतिविरतावप्यनिवृत्ताभिलाषः कामुकोऽभूदिति स्कंधपदद्योत्या **विभावना ।**

एषु कविप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरः ।

यह कविप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्न अलङ्कारसे अलङ्कारव्यङ्ग्यका उदाहरण दिया गया है। यहाँ रूपकालङ्कारसे विभावना अलङ्कार व्यङ्ग्य बतलाया है। इसमें सुरतसङ्गर पदसे सुरतके ऊपर 'सङ्गर' अर्थात् युद्धका आरोप किया गया है। इसलिए नायिकाके स्कन्ध अर्थात् कन्धेपर सेनाके 'स्कन्ध' अर्थात् छावनीका आरोप किया गया है। यह 'स्कन्ध' शब्द छावनी तथा कन्धा दोनों अर्थोंका वाचक होनेसे और 'बल' पद शक्ति तथा सेना दोनोंका वाचक होनेसे श्लिष्ट है। जैसे युद्धमें पराजित होनेके कारण लौटते हुए सेनापतिको यदि किसी अन्य स्कन्धावार या छावनीसे सेनाकी कुमक मिल जाती है तो वह फिर युद्धके लिए उद्यत हो जाता है, इसी प्रकार नायिकाका सुन्दर और श्यामल रूपवाला जो धम्मिल्ल अर्थात् केशपाश है वही 'स्मर' कामदेव है। सुरतकी पूर्वावस्थामें बार-बार आकर्षणके कारण खुलकर वह केशपाश नायिकाके कन्धोंके ऊपर गिर गया है। उससे नायकको वह नायिका और भी सुन्दर लगने लगती है और थोड़ी देरमें उसका सुरताभिलाप पुनः उद्दीप्त हो उठता है। मानो स्मर उस स्कन्धावारसे नवीन बल या सैन्य प्राप्त कर फिर युद्धके लिए उद्यत हो जाता है। इस प्रकार उस नायिकाके स्कन्धोंसे बलको प्राप्त करके नायिकाका केशपाशरूप स्मर सुरतसंग्राममें विजयी या सर्वोत्कर्षशाली प्रतीत होता है। यह इस श्लोकका भाव है। शब्दार्थ निम्नलिखित है—

[एक बारके सुरत-सम्भोगके बाद दुबारा फिर] अपने सुन्दर स्वरूपको प्राप्त सुन्दर और श्यामल [नायिकाका] वह केशपाश [रूप कामदेव] उस [नायिका] के स्कन्धसे बल प्राप्तकर सुरतसमरमें सर्वोत्कर्षको ? प्राप्त होता है ॥८७॥ [१३]

यहाँ [धम्मिल्ल-रूप कामदेव इस] रूपक [अलङ्कार]से, बार-बार खींचे जानेसे, केशपाश इस सुन्दर रूपसे कन्धोंपर गिरा है कि जिससे [एक बार] सुरतके समाप्त हो जानेपर भी कामुकका [सम्भोगका] अभिलाष पूर्ण नहीं हुआ [वह पुनः सम्भोगके लिए तैयार है] यह 'स्कन्ध' पदसे विभावना अलङ्कार द्योतित होता है।

इन [चारों श्लोकों]में [व्यञ्जक अर्थ] कविकी प्रौढोक्तिमात्रसे निष्पन्न है।

कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध पदद्योत्य ध्वनिके चार उदाहरण

आगे कविनिबद्ध वक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध पदद्योत्य वस्तुसे वस्तुव्यङ्ग्यका उदाहरण देते हैं—

दूसरा परवधूपर अनुरक्त अपने पतिके प्रति खण्डिता नायिकाकी यह उक्ति है। जैसे पूर्णिमाका चन्द्रमा जब निकलता है उस समय रात्रिके प्रारम्भमें थोड़ी देरके लिए रक्तवर्ण होता है फिर बादको उस प्रकारका रक्तवर्ण नहीं रहता है। इसी प्रकार यह नायक भी क्षणिक अनुराग रखनेवाला है। इसलिए नायिका उसको उलाहना देती हुई कह रही है।

पविसन्ती घरवारं विवलिअवअणा विलोइऊण पहम् ।
खंधे घेत्तूण घडं हा हा णट्ठोत्ति रुअसि सहि कि ति ॥९०॥ [१६ क]
[प्रविशन्ती गृहद्वारं विवलितवदना विलोक्य पन्थानम् ।
स्कन्धे गृहीत्वा घटं हा हा नष्ट इति रोदिषि सखि किमिति ॥ इति संस्कृतम्]

अत्र हेत्वलङ्कारेण सङ्केतनिकेतनं गच्छन्तं दृष्ट्वा यदि तत्र गन्तुमिच्छसि तदा अपरं घटं गृहीत्वा गच्छेति वस्तु कि तिपदद्योत्यम् ।

यथा वा—

विहलंखलं तुमं सहि दट्ठूण कुडेण तरलतरदिट्ठिम् ।
वारप्फंसमिसेण अ अप्पा गुरुओत्ति पाडिअ विहिण्णो ॥९१॥[१६ ख]
[विशृङ्खलां त्वा सखि दृष्ट्वा कुटेन तरलतरदृष्टिम् ।
द्वारस्पर्शमिषेण चात्मा गुरुक इति पातयित्वा विभिन्नः ॥इति संस्कृतम्]

आगे कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध अलङ्कारसे वस्तुकी व्यञ्जनाका उदाहरण देते हैं। जल भरनेके बहाने सङ्केतस्थानको जाकर भी वहाँ प्रच्छन्न कामुकको न पाकर वापिस आयी नायिका जब अपने घरके दरवाजेके भीतर घुसने लगी तब उसने प्रच्छन्न कामुकको सङ्केतस्थानकी ओर जाते हुए देखा तो जान बूझकर घड़ेको गिराकर फोड़ दिया ताकि उसे दुबारा पानी लानेके लिए जानेका अवसर मिल जाय और दिखलानेके लिए रोने लगी कि हाय मेरा घड़ा फूट गया। उसकी सखी इस बातको ताड़ गयी। वह उससे कहती है कि तुम रोती क्यों हो। जाओ, दूसरा घड़ा लेकर [illegible] पानी भर लाओ। मैं तुम्हारे घरवालोंसे दुबारा जानेका समाधान कर दूँगी। यह इस श्लोकका [illegible] अभिप्राय है। शब्दार्थ इस प्रकार है—

कन्धेपर घड़ा लिये हुए घरके दरवाजेमें घुसते हुए और मुख फेरकर मार्गको देखते हुए [घड़ेको गिराकर] 'हाय-हाय, घड़ा फूट गया' ऐसा कहकर क्यों रो रही है ॥९०॥ [१६ क]

यहाँ [घड़ा फूट गया इसलिए रो रही है इस प्रकारके कार्यकारणभावरूप] काव्यलिङ्ग [हेतु] अलङ्कारसे, यदि [दुबारा फिर] वहाँ जाना चाहती हो तो दूसरा घड़ा लेकर चली जाओ यह 'कि ति' [किमिति] इस पदसे द्योत्य है।

ग्रन्थकारने इसको 'पदद्योत्य' कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध अलङ्कारसे वस्तु [illegible] रूपमें प्रस्तुत किया है। परन्तु यह सब अर्थ केवल [illegible] ही सिद्ध [illegible] भी उस प्रकारका व्यवहार पाया जाता है। इसलिए इसको पदद्योत्य [illegible] उदाहरण भी माना जा सकता है। [illegible] यह उदाहरण ठीक नहीं है। [illegible] इस उदाहरणके सम्बन्धमें उठायी जा सकती है। इसलिए [illegible] अलङ्कारसे वस्तुव्यञ्जनाका दूसरा उदाहरण भी आगे दिया है।

अथवा जैसे—

हे सखि, तुमको व्याकुल और अत्यन्त चञ्चलदृष्टि देखकर [illegible] भारी [अतएव तुम्हारे लिए कष्टदायक] मानकर द्वारके स्पर्शके बहानेसे [illegible] आपको गिराकर फोड़ डाला [तुमने नहीं फोड़ा है]।९१। [१६ ख]

अत्र नदीकूले लतागहने कृतसङ्केतमप्राप्तं गृहप्रवेशावसरे पश्चादागतं दृष्ट्वा पुनर्नदीगमनाय द्वारोपघातव्याजेन बुद्धिपूर्वं व्याकुलतया[1] त्वया घटः स्फोटित इति मया चिन्तितम्, तत्किमिति नाश्वसिपि, तत्समीहितसिद्धये व्रज, अहं ते श्वश्रूनिकटे सर्वं समथयिष्ये इति द्वारस्पर्शनव्याजेन **इत्यपह्नुत्या** वस्तु ।

जोहाइ महुरसेण अ विइण्णतारुण्णउत्सुअमणा सा ।
वुड्ढा वि णवोढव्विअ परवहुआ अहह हरइ तुह हिअअम् ॥९२॥[१७]
ज्योत्स्नया मधुरसेन च वितीर्णतारुण्योत्सुकमनाः सा ।
वृद्धापि नवोढेव परवधूरहह हरति तव हृदयम् ।।इति संस्कृतम्]

अत्र **काव्यलिङ्गेन** वृद्धां परवधूं त्वमस्मानुज्झित्वाऽभिलपसीति त्वदीयमाचरितं वक्तुं न शक्यमित्याक्षेपः परवधूपदप्रकाश्यः ।

एपु कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरः । वाक्यप्रकाश्ये तु पूर्वमुदाहृतम् । शब्दार्थोभयशक्त्युद्भवस्तु पदप्रकाश्यो न भवतीति पञ्चत्रिंशद्भेदाः ।

यहाँ नदीके किनारे लताकुञ्जमे सङ्केतस्थान नियत करके [समयपर वहाँ] न पहुँचनेवाले [बादमे नायिकाके वहाँ प्रतीक्षा करनेके बाद वापिस आ जानेपर] घरमे घुसते समय पीछे-पीछे आते हुए [उपपति] को देखकर फिर नदीपर जानेके लिए व्याकुल होनेके कारण तुमने जान-बूझकर घड़ा फोड़ दिया यह मैं समझ गयी [मया चिन्तितम्], किन्तु तुम घबड़ाती क्यो हो, अपने कार्यकी सिद्धिके लिए निश्चिन्त होकर जाओ। तुम्हारी सासके सामने मैं सब समाधान कर दूँगी यह [वस्तु] द्वारके स्पर्शके वहानेसे, इस अपह्नुति [अलङ्कार] से व्यक्त होती है।

यहाँ अचेतन घटमे 'अपने आपको गिराकर फोड दिया' इस प्रकार चेतनधर्मका अध्यारोप किया गया है। अतः तन्मूलक अपह्नुतिकी प्रौढोक्तिसिद्धता होनेसे यह कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध अलङ्कारसे वस्तुव्यङ्ग्यका उदाहरण है। अलङ्कारसे अलङ्कारकी व्यक्तिका उदाहरण आगे देते है—

चाँदनी और मधु [अर्थात् वसन्त तथा मद्य] के रससे जिसमें तारुण्यकी उमङ्ग आ गयी है वह वृद्धा परवधू भी नवोढाके समान तुम्हारे [मन] को हरण कर रही है यह बड़े आश्चर्यकी वात है ॥९२॥ [१७]

यहाँ [परवधू होने मात्रसे ही वह तुम्हारे हृदयको हरण कर रही है इस] काव्य-लिङ्ग अलङ्कारसे तुम हमको [अर्थात् हमारी सरीखी नवयौवनाको] छोड़कर बूढ़ी परवधूको चाह रहे हो, तुम्हारे इस आचरणको क्या कहा जाय यह समझमें नहीं आता है, यह आक्षेप [अलङ्कार] 'परवधू' पदसे प्रकाशित होता है।

इन [चारों उदाहरणोंमे व्यञ्जक अर्थ] कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिमात्रसे सिद्ध है। [इस प्रकार ध्वनिकाव्यके सत्रह भेदोंके पदद्योत्य सत्रह उदाहरण यहाँ दिये गये है] वाक्यमे प्रकाश्य [इन सत्रह भेदों] के उदाहरण पहिले दिये जा चुके है। [इस प्रकार यहाँ तक ३४ प्रकारके ध्वनिकाव्यके उदाहरण दिये जा चुके है] शब्द

---

[1] व्याकुलता।

[६०] प्रबन्धेऽप्यर्थशक्तिभूः ॥४२॥

यथा गृध्रगोमायुसंवादादौ—

अलं स्थित्वा श्मशानेऽस्मिन्गृध्रगोमायुसङ्कुले ।
कङ्कालबहुले घोरे सर्वप्राणिभयङ्करे ॥९३॥
न चेह जीवितः कश्चित्कालधर्ममुपागतः ।
प्रियो वा यदि वा द्वेष्यः प्राणिनां गतिरीदृशी ॥९४॥

इति दिवा प्रभवतो गृध्रस्य पुरुषविसर्जनपरमिदं वचनम् ।

तथा अर्थ उभयकी शक्तिसे उत्थित [ध्वनि तो केवल वाक्यसे द्योतित होनेके कारण] पदप्रकाश्य नहीं होता है इसलिए [उक्त ३४ भेदोंके साथ इसके एक भेदको और बढ़ा देनेसे ध्वनिके] ३५ भेद होते हैं ।

अर्थशक्त्युत्थ-ध्वनिके प्रबन्धगत बारह भेद

ध्वनिकाव्यके ५१ मुख्य भेद दिखलाने हैं । उनमेंसे यहाँतक पैंतीस भेदोंका विस्तार दिखलाया गया है । आगे उसका और विस्तार दिखलायेंगे । ये जो पैंतीस भेद दिखलाये हैं इनमेंसे अर्थशक्त्युत्थ-ध्वनिके १२ वाक्यद्योत्य तथा १२ पदद्योत्य भेद दिखलाये जा चुके, इनके अतिरिक्त उसके १२ प्रबन्धद्योत्य भेद भी होते हैं । इनको मिलाकर ३५ + १२ = ४७ भेद हो जाते हैं । प्रबन्धगत १२ भेदोंको आगे कहते हैं—

[सू० ६०]—अर्थशक्त्युत्थ [ध्वनि] के प्रबन्धमें भी [बारह भेद और] होते हैं ।

जैसे [महाभारतके शान्तिपर्व अ० १५३ मे दिये हुए] गिद्ध और शृगालके संवाद आदिमें [प्रबन्धगत अर्थशक्त्युत्थ-ध्वनि इस प्रकार पाया जाता है]—

'महाभारत के शान्तिपर्वके १५३ वे अध्यायमें मरे बालकको देखकर, दिनमे ही मृतमासके भक्षणमें समर्थ गिद्ध, उस बालकके सम्बन्धियोको बालकको छोडकर घर लौट जानेकी प्रेरणा करता हुआ कह रहा है—

गिद्धों तथा सियारोंसे भरे हुए, ठठरियोंसे परिपूर्ण, बीभत्स और सब प्राणियोंके लिए भयङ्कर श्मशानमें ठहरना व्यर्थ है ॥९३॥

[कालधर्म अर्थात्] मृत्युको प्राप्त हुआ कोई व्यक्ति वह चाहे [किसीका प्रिय] मित्र हो या शत्रु हो, फिर जीवित नहीं हो सकता है [या नहीं हुआ है], सब प्राणियोंकी [एक दिन] यही गति [होनी] है ॥ ९४ ॥

[केवल] दिनमें [देखने और उस मांसभक्षणमें] समर्थ गिद्धका [मृत बालकके सम्बन्धी] पुरुषोंको विदा करने-परक यह वचन है ।

इसके विपरीत रात्रिमें देख सकने और गिद्ध आदिके विघ्नोंसे रहित निश्चिन्त होकर भक्षण करनेमें समर्थ शृगाल यह चाहता है कि ये लोग अभी सूर्यास्त होनेतक यहाँ बैठे रहें ताकि उनके रहनेसे गिद्ध आदि इस बालकके मृत शरीरको न खा सकें और सूर्यास्तके बाद गिद्ध आदिके असमर्थ हो जानेसे साराका सारा मुर्दा निश्चिन्त होकर खानेको मिल जाये । इसलिए वह उस मृत बालकके सम्बन्धियोंको समझाता हुआ कह रहा है—

आदित्योऽयं स्थितो मूढाः स्नेहं कुरुत साम्प्रतम् ।
बहुविघ्नो मुहूर्त्तोऽयं जीवेदपि कदाचन ॥९५॥
अमुं कनकवर्णाभं बालमप्राप्तयौवनम् ।
गृध्रवाक्यात् कथं मूढास्त्यजध्वमविशङ्किताः ॥९६॥

इति निशि विजृम्भमाणस्य गोमायोर्जनव्यावर्त्तननिष्ठं च वचनमिति प्रबन्ध एव प्रथते । अन्ये त्वेकादश भेदा ग्रन्थविस्तरभयान्नोदाहृताः । स्वयन्तु लक्षणतोऽनुसर्त्तव्याः । अपिशब्दात् पदवाक्ययोः ।

[६१] पदैकदेशरचनावर्णेष्वपि रसादयः ।

अरे मूर्खो [अभीसे क्यों भागे जा रहे हो] ठहरो, अभी सूर्य स्थित है। अभी इसको प्रेम करो। यह मुहूर्त बहुत से विघ्नोंसे पूर्ण है। [इस विघ्नमय मुहूर्तके टल जानेपर] कदाचित् यह फिर जी उठे ॥९५॥

सोनेके समान वर्णवाले और यौवनको [भी] न पहुँचे हुए इस बालकको गिद्धके कहनेसे हे मूर्खो, तुम निःशङ्क होकर कैसे छोड़ जाते हो ॥ ९६ ॥

[विशेष रूपसे] रात्रिमें समर्थ होनेवाले शृगालका [मृत बालकके सम्बन्धी] लोगोंको रोकने परक यह वचन है। यह [इस प्रकारका अर्थशक्त्युद्भव-ध्वनि] प्रबन्धमें भी प्रतीत होता है। [प्रकृत अर्थशक्त्युद्भव-ध्वनिके बारह भेदोंमेंसे यहाँ केवल एक भेदका उदाहरण दिया है] ग्रन्थके विस्तारके भयसे शेष ग्यारह भेदोंके उदाहरण नहीं दिये गये हैं। लक्षणके अनुसार स्वयं समझ लेने चाहिये। ['प्रबन्धेऽप्यर्थशक्तिभूः' इस सूत्रमें आये हुए] 'अपि' शब्दसे [यह सूचित होता है कि अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि] पद तथा वाक्यमें भी [होता है]।

[illegible]वर्णादिमें रसादि ध्वनिके चार भेद

रइकेलिहिअणिअसणकरकिसलअरुद्धणअणजुअलस्स ।
रुद्दस्स तइअणअणं पव्वईपरिचुंबिअं जअइ ॥९७॥
[रतिकेलिहृतनिवसनकरकिसलयरुद्धनयनयुगलस्य ।
रुद्रस्य तृतीयनयनं पार्वतीपरिचुम्बितं जयति ॥ इति संस्कृतम्]

अत्र जयतीति न तु शोभते इत्यादि । समानेऽपि हि स्थगनव्यापारे लोकोत्तरेणैव व्यापारेणास्य पिधानमिति तदेवोत्कृष्टम् ।

यथा वा–

प्रेयान् सोऽयमपाकृतः सशपथं पादानतः कान्तया
त्रिाण्येव पदानि वासभवनाद्यावन्न यात्युन्मनाः ।
तावत्प्रत्युत पाणिसंपुटगलन्नीवीनिबन्धं धृतो
धावित्वैव कृतप्रणामकमहो प्रेम्णो विचित्रा गतिः ॥९८॥

रतिक्रीडाके समय [पार्वतीके] वस्त्रका अपहरण [कर उनको नंगी] करनेवाले और [पार्वतीके द्वारा] करकिसलयोंसे मूँदी हुई आँखोंवाले शिवका पार्वतीके द्वारा परिचुम्बित [करके ढका गया] तीसरा नेत्र सर्वोत्कर्षयुक्त है ॥९७॥

यहाँ जयति यह [जि धातुका प्रयोग रसका विशेषरूपसे व्यञ्जक है। इसलिए कविने उसीका प्रयोग किया है, न कि उसके समानार्थक] शोभते आदि [का प्रयोग, क्योंकि वह रसका व्यञ्जक] नहीं है। [यहाँ शिवजीके तीनो नेत्रोंके] बन्द करनेका व्यापार समान होनेपर भी [चुम्बनरूप] लोकोत्तर व्यापारसे इस [तृतीय-नेत्र]को बन्द किया गया है यही उसका [अन्योंकी अपेक्षा] उत्कृष्टत्व है। [इसीके कारण यहाँ 'जयति' पदका प्रयोग किया गया है। यह धातुरूप प्रकृतिके व्यञ्जकत्वका उदाहरण है]।

प्रातिपदिक द्वारा रसकी व्यञ्जकता

पदैकदेशके रूपमें तिङन्त पदके एकदेश अर्थात् जि धातुके द्वारा रसव्यञ्जकत्वका उदाहरण 'रतिकेलि' आदि अभी दिया था। अब सुबन्त पदके एकदेश अर्थात् प्रातिपदिकके व्यञ्जकत्वका उदाहरण आगे देते हैं। इसमें 'पदानि' इस पदके एकदेश 'पद' इन प्रातिपादिकरूप अंशसे सम्भोग-शृङ्गारकी विशेषरूपसे अभिव्यक्ति होती है।

अथवा जैसे [प्रातिपादिकरूप प्रकृतिके व्यञ्जकत्वका दूसरा उदाहरण]—

नायिकाने [मैं सत्य कहता हूँ कि मैं अब कभी किसी अन्य स्त्रीके पास नहीं जाऊँगा इस प्रकारकी] शपथपूर्वक [पूर्वापराधकी क्षमाप्राप्तिके लिए नायिकाके] पैरों-पर झुके हुए उस अत्यन्त प्रेमास्पद प्रियतमको फटकार दिया, जिससे खिन्न होकर [बिचारा चल दिया परन्तु] जबतक दो-तीन पग भी न जा पाया था कि तबतक [सम्भोगके उत्कट अभिलाषके कारण] खुली जा रही नीवी [लँहगेकी गाँठ] को [प्रणाम करनेके लिए जोड़े हुए] हाथोंसे थामे हुए और प्रणाम करते हुए दौड़कर उसको रोक लिया। अहो प्रेमकी बड़ी विचित्र गति है ॥ ९८ ॥

अत्र पदानीति न तु द्वाराणि ।
तिङ्सुपोर्यथा—

> पथि पथि शुकचञ्चूचारुराभाङ्कुराणां
> दिशि दिशि पवमानो वीरुधां लासकश्च ।
> नरि नरि किरति द्राक् सायकान् पुष्पधन्वा
> पुरि पुरि विनिवृत्ता मानिनीमानचर्चा ॥९९॥

अत्र किरतीति किरणस्य साध्यमानत्वम्, निवृत्तेति निवर्त्तनस्य सिद्धत्वं तिङा सुपा च । तत्रापि क्तप्रत्ययेनाऽतीतत्वं द्योत्यते ।

यहाँ [दो-तीन] 'पग' न कि [दो-तीन] द्वार, इस [कथन] से [नायिकाके उत्कट सम्भोगाभिलाष और उसके द्वारा सम्भोगशृङ्गार रसकी अभिव्यक्ति होती है, इसलिए यह प्रातिपदिकरूप पदैकदेश या प्रकृतिकी रसव्यञ्जकताका उदाहरण है]।

प्रत्ययांश द्वारा सम्भोगशृङ्गारकी व्यञ्जकता

यहाँ पदैकदेशकी रसव्यञ्जकताके उदाहरण दे रहे हैं। पदका लक्षण पाणिनि मुनिने 'सुप्तिङन्तं पदम्' [illegible] सुबन्त और तिङन्तको पद कहते हैं इस प्रकारका किया है। इन दोनों प्रकारके सुबन्त [illegible] प्रकृतिभाग अर्थात् धातु तथा प्रातिपदिककी रसव्यञ्जकताके दो उदाहरण दिखा [illegible] प्रत्ययभागकी रसव्यञ्जकताका उदाहरण आगे देते हैं।

तिङ् और सुप [रूप प्रत्ययोंके व्यञ्जकत्व] का [उदाहरण] जैसे—

[वसन्त ऋतुके कारण] प्रत्येक मार्गमें तोतोंकी चोंचके समान [लाल लाल नवीन] उगे हुए अङ्कुरोंकी सुन्दर कान्ति [दिखलायी दे रही] है, [illegible] और लताओंको नचानेवाला वायु [बह रहा] है, कामदेव हर एक पुरुषके ऊपर बाणोंका प्रहार कर रहा है और प्रत्येक नगरमें मानिनियोंके मानकी चर्चा समाप्त हो गयी है ॥ ९९ ॥

यहाँ 'किरति' इसमें [तिङन्त क्रियापदमें क्रियाके साध्य [illegible]] [illegible] प्रत्ययके द्वारा कामदेवके बाणोंके [किरण अर्थात्] [illegible] साध्यमानता और 'निवृत्ता' इस [कृदन्तपद] से [मानिनियोंकी मानचर्चाकी] समाप्ति [illegible] [illegible] तिङ् [illegible] सुप प्रत्ययसे [illegible] और उसमें भी 'निवृत्ता' [illegible] प्रत्ययसे [मानचर्चा की] अतीतता [illegible] है।

यथा वा—

लिखन्नास्ते भूमिं बहिरवनतः प्राणदयितो
निराहाराः सख्यः सततरुदितोच्छूननयनाः ।
परित्यक्तं सर्वं हसितपठितं पञ्जरशुकै-
स्तवावस्था चेयं विसृज कठिने मानमधुना ॥१००॥

अत्र लिखन्निति न तु लिखतीति तथा आस्ते इति, न त्वासित इति अपि तु प्रसादपर्यन्तमास्ते इति भूमिमिति न तु भूमाविति न हि बुद्धिपूर्वकमपरं किञ्चिल्लिखतीति तिङ्सुब्विभक्तीनां व्यङ्ग्यत्वम् ।

सम्बन्धस्य यथा—

गामारुहम्मि गामे वसामि णअरट्ठिइं ण जाणामि ।
णाअरिआणं पइणो हरेमि जा होमि सा होमि ॥१०१॥

प्रत्ययोंके द्वारा विप्रलम्भशृङ्गारकी व्यञ्जना

सुप् तथा तिङ् रूप प्रत्ययों द्वारा सम्भोगशृङ्गारकी व्यञ्जनाका उदाहरण दिया था। अब विप्रलम्भशृङ्गारकी अभिव्यक्तिका उदाहरण देते हैं। यह श्लोक 'अमरुकशतक'का है। उसमें बहुत दिनोंसे नायकसे रूठी हुई नायिकाको मनानेके लिए उसकी सखी उसको समझाते हुए कह रही है कि—

अथवा [प्रत्यय द्वारा विप्रलम्भशृङ्गारकी व्यञ्जकता] जैसे—

तुम्हारे प्राणप्रिय बाहर सिर झुकाये [निरुद्देश्यभावसे] भूमिको कुरेद रहे हैं [उनके दुःखसे दुःखी तुम्हारी सारी] सखियाँ भोजन भी त्याग बैठी हैं और हर समय रोते रहनेसे उनकी आँखें सूज गयी हैं [न केवल हम लोगोंकी यह अवस्था है अपितु] पिंजड़ेके तोतोंने हँसना और पढ़ना सब-कुछ छोड़ दिया है [तुम्हारे सारे प्रिय सम्बन्धियोंकी तो तुम्हारे मानके कारण यह दुर्दशा हो रही है] और तुम्हारी यह अवस्था है [कि तुम मान छोड़नेका नाम ही नहीं ले रही हो]। हे कठोरहृदये, अब तो मानको छोड़ दो ॥ १०० ॥

यहाँ 'लिखन्' यह [कहा है] न कि 'लिखति' यह [लिखन् इस शतृप्रत्ययसे लिखन् क्रियाकी अप्रधानतासे उसके अतात्पर्यविषयत्व तथा अबुद्धिपूर्वकत्वकी सूचना मिलती है। अर्थात् कुछ लिख नहीं रहा है अपितु किंकर्त्तव्यविमूढ़ अवस्थामें यों ही बैठा हुआ जमीन कुरेद रहा है] उसी प्रकार 'आस्ते' बैठा हुआ है यह [कहा है] न कि 'आसित' बैठ गया यह [कहा है, इससे प्रारब्ध कामकी असमाप्तताके बोधक वर्तमान-कालिक तिङ् प्रत्ययसे] तुम्हारे प्रसन्न होनेतक इसी प्रकार बैठा रहेगा यह बात ध्वनित होती है। और 'भूमिम्' भूमिको यह [कहा है] न कि 'भूमौ' अर्थात् भूमिपर यह [इससे यों ही जमीनको कुरेद रहा है] बुद्धिपूर्वक और कुछ [विशेष बात] नहीं लिख रहा है। यह तिङ्-सुप् विभक्तियोंसे व्यङ्ग्य है।

सम्बन्ध[अर्थात् षष्ठी विभक्तिके रसव्यञ्जकत्व]का [उदाहरण] जैसे—

[ग्रामरुहास्मि ग्रामे वसामि नगरस्थितिं न जानामि ।
नागरिकाणां पतीन् हरामि या भवामि सा भवामि ॥ इति संस्कृतम्] अत्र नागरिकाणामिति षष्ठ्याः ।

'रमणीयः क्षत्रियकुमार आसीत्' इति कालस्य । एषा हि भग्नमहेश्वरकार्मुकं दाशरथिं प्रति कुपितस्य भार्गवस्योक्तिः ।

वचनस्य यथा—

ताणँ गुणग्गहणाणं ताणुक्कंठाणं तस्स पेम्मस्स ।
ताणँ भणिआणं सुन्दर ! एरिसिअँ जाअमवसाणम् ॥१०२॥
[तेषां गुणग्रहणानां तासामुत्कण्ठानां तस्य प्रेम्णः ।
तासां भणितीनां सुन्दरेदृशं जातमवसानम् ॥ इति संस्कृतम्]

अत्र गुणग्रहणादीनां बहुत्वं प्रेम्णश्चैकत्वं द्योत्यते ।

मैं ग्राममें पैदा हुई हूँ, गाँवमें रहती हूँ, इसलिए नगरकी चातुर्यभरी बातें नहीं जानती हूँ, परन्तु नागरिकाओंके पतियोंको वशमें कर लेती हूँ; मैं तो जो हूँ सो हूँ ही ॥ १०१ ॥

यहाँ 'नागरिकाणां पतीन्' इस सम्बन्धसे नागरिकाओंसे पतियोंके चातुर्यका और उनको भी अपने वशमें कर लेनेसे अपने चातुर्यातिशयका बोधन व्यङ्ग्य है । 'षष्ठी चानादरे' २–३–६८ सूत्रसे अनादरार्थमें षष्ठी होनेसे तुम्हारी सरीखी नागरिकताका दम भरनेवालियोंके सामने उनके देखते देखते उनके पतियोंको अपने वशमें कर लेती हूँ इस प्रकार अपना उत्कर्ष व्यङ्ग्य है ।

यहाँ 'नागरिकाणां' इस षष्ठी विभक्तिकी [रसव्यञ्जकता है] ।

प्रत्ययांश द्वारा रौद्ररसकी अभिव्यक्ति

ये दो उदाहरण प्रत्ययांशकी शृङ्गाररसव्यञ्जकताके लिये हैं । आगे प्रत्ययांश द्वारा रौद्ररसकी व्यञ्जकताका उदाहरण देते हैं—

'क्षत्रियकुमार [रामचन्द्र] सुन्दर था' । यहाँ ['आसीत्' पदसे सूचित भूत] कालकी [रौद्ररसव्यञ्जकता है] । यह 'महावीरचरित' नामक नाटकमें] शिव-धनुषको तोड़ चुके रामचन्द्रके प्रति कुपित हुए परशुरामका वचन है ।

[illegible]

वचनकी व्यञ्जकताका उदाहरण

वचन [विभक्ति प्रत्ययरूप अंशकी व्यञ्जकता] का [उदाहरण] जैसे—

हे सुन्दर ! उन [पूर्वोक्त] गुणग्रहणोंकी, उन उत्कण्ठाओंकी, उस प्रेमकी और [उन भाषणोंकी] उन वचनोंकी आज इस प्रकारकी परिसमाप्ति हो गई है ॥ १०२ ॥

[illegible]

पुरुषव्यत्ययस्य यथा—

> रे रे चञ्चललोचनाञ्चितरुचे ! चेतः ! प्रमुच्य स्थिर-
> प्रेमाणं महिमानमेणनयनामालोक्य किं नृत्यसि ।
> किं मन्ये विहरिष्यसे बत हतां मुञ्चान्तराशामिमा-
> मेषा कण्ठतटे कृता खलु शिला संसारवारांनिधौ ॥१०३॥

अत्र प्रहासः ।

पूर्वनिपातस्य यथा—

> येषां दोर्बलमेव दुर्बलतया ते सम्मतास्तैरपि
> प्रायः केवलनीतिरीतिशरणैः कार्यं किमुर्वीश्वरैः ।
> ये क्ष्माशक्र ! पुनः पराक्रमनयस्वीकारकान्तक्रमा-
> स्ते स्युर्नैव भवादृशास्त्रिजगति द्वित्राः पवित्राः परम् ॥१०४॥

अत्र पराक्रमस्य प्राधान्यमवगम्यते ।

[प्रत्ययांशरूप] पुरुषके परिवर्तनका [रसव्यञ्जकत्वका उदाहरण] जैसे—

[किसी सुन्दरीको देखकर कुछ कालके लिए क्षुब्ध हुए किसी विरक्त पुरुषकी अपने मनके प्रति यह उपहासपरक उक्ति है। वह अपने मनका सम्बोधन करके कह रहा है कि—] चपलनयना सुन्दरीकी इच्छा करनेवाले अरे दुष्ट मन ! [परमात्माके] स्थिर प्रेमको छोड़कर इस अत्यन्त चञ्चल मृगनयनीको देखकर क्यों नाच रहा है ? क्या तू सोचता है कि मैं इसके साथ विहार करूँगा ? अरे अभागे, इस आन्तरिक अभिलाषको छोड़ दे। यह [स्त्री अथवा सम्भोगकी इच्छा] संसारसागरमें [डुबानेके लिए] गलेमें बाँधी गयी पत्थरकी शिला है ॥१३॥

यहाँ [पुरुषव्यत्ययसे] प्रहास [व्यङ्ग्य है]।

श्लोकके तृतीय चरणमें 'किं मन्ये विहरिष्यसे' यह प्रयोग है। इसका अभिप्राय 'त्वं मन्यसे अहं विहरिष्ये' होता है। यहाँ 'त्वम्' मध्यम पुरुषके साथ 'मन्ये' इस उत्तम पुरुषका और 'अहं' इस उत्तम पुरुषके साथ 'विहरिष्यसे' इस मध्यम पुरुषकी क्रियाका प्रयोग किया गया है। साधारण नियमके अनुसार 'त्वम् मन्यसे' 'अहं विहरिष्ये' इस प्रकारका प्रयोग होना चाहिये था। परन्तु पाणिनि मुनिने 'प्रहासे च मन्योपपदे मन्यतेरुत्तमैकवच्च' १–४–१०६ सूत्रसे प्रहासके द्योत्य होनेपर 'मन्यति' अर्थात् मन धातुके उपपद रहते पुरुषव्यत्ययका विधान कर मध्यम पुरुषके स्थानपर उत्तम पुरुषका और उत्तम पुरुषके स्थानपर मध्यम पुरुषका प्रतिपादन भी किया है। इसीके अनुसार यहाँ पुरुषका व्यत्यय किया गया है और उस पुरुषव्यत्ययसे प्रहास व्यङ्ग्य है।

पूर्वनिपातकी [रसव्यञ्जकताका उदाहरण] जैसे—

हे राजन ! जिन [राजाओं]के पास केवल बाहुबल ही है [नीतिबल नहीं है] वे भी दुर्बल माने जाते हैं, और केवल नीतिमार्गका अवलम्बन करनेवाले [बाहुबलसे रहित] उन [दूसरे प्रकारके] राजाओंसे भी क्या लाभ [केवल नीतिबलपर आश्रित

विभक्तिविशेषस्य यथा—

> प्रधनाध्वनि धीर धनुर्ध्वनिभृति
> विधुरैरयोधि तव दिवसम् ।
> दिवसेन तु नरप भवानयुद्ध
> विधिसिद्धसाधुवादपदम् ॥१०५॥

अत्र 'दिवसेन' इति अपवर्गतृतीया फलप्राप्तिं द्योतयति ।

रहनेवाले राजा भी श्रेष्ठ नहीं कहे जा सकते हैं] किन्तु हे पृथ्वीन्द्र, पराक्रम और नीति [दोनों] को स्वीकार कर सुन्दररूपसे आचरण करनेवाले [जो राजा होते हैं वे ही राजा प्रशंसाके योग्य होते हैं परन्तु] संसारमें आपके समान पवित्र वे राजा दो-तीनसे अधिक नहीं निकलेंगे ॥१०४॥

यहाँ [पूर्वनिपात] से पराक्रमका प्राधान्य सूचित होता है।

यहाँ 'पराक्रमनयस्वीकारकान्तक्रमा' इस समस्त पदमें 'पराक्रम' तथा 'नय' पदोंमेंसे 'नय' पदके अल्पाच्तर अर्थात् कम स्वर वर्णवाला होनेके कारण 'अल्पाच्तरम्' २-२-३४ इस सूत्रसे पूर्वनिपात होकर 'नय-पराक्रम' पद बनना चाहिये था। परन्तु 'अभ्यर्हितञ्च' इस वार्तिकसे पराक्रमको अभ्यर्हित अर्थात् श्रेष्ठ मानकर उसका पूर्वनिपात किया गया है। इसलिए यहाँ पराक्रम शब्दके पूर्वनिपातसे उसका *अभ्यर्हितत्व अर्थात् प्राधान्य व्यङ्ग्य है।*

विभक्तिकी व्यञ्जकताका उदाहरण

विभक्तिविशेष [की रसव्यञ्जकता]का [उदाहरण] जैसे—

हे धीर राजन्, धनुषोंकी टङ्कारसे युक्त समरमार्गमें तुम्हारे [विधुरैः] शत्रुओंने सारे दिन युद्ध किया [पर विजय नहीं मिली], किन्तु ब्रह्मा और सिद्धगणोंके साधुवादके साथ आपने एक ही दिनमें [विजय कर] युद्ध समाप्त कर दिया ॥१०५॥

यहाँ 'दिवसेन' यह अपवर्ग-तृतीया फलप्राप्तिको सूचित करती है।

यहाँ पूर्वार्द्धमें तव 'विधुरैः दिवसम् अयोधि' और उत्तरार्द्धमें 'भवान् दिवसेन अयुद्ध' ये प्रयोग किये गये हैं। इनमेंसे 'दिवसम् अयोधि'में 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' २-३-५ इस सूत्रसे अत्यन्त-संयोगमें द्वितीया विभक्ति हुई है। इसलिए उससे शत्रुओंका युद्धमें दिवसभरका अत्यन्त संयोग अर्थात् सारे दिन युद्धमें लगे रहनेपर भी विजय प्राप्त न कर सकना सूचित होता है। दूसरी ओर 'दिवसेन-अयुद्ध'में 'अपवर्गे तृतीया' २-३-६ इस सूत्रसे अपवर्ग अर्थात् फलप्राप्ति अर्थमें तृतीया विभक्ति हुई है। इसलिए यहाँ तृतीया विभक्तिसे विजयरूप फलकी प्राप्ति सूचित होती है। इसलिए यह श्लोक विभक्तिरूप पदैकदेशकी रसव्यञ्जकताका उदाहरण है।

आगे क-रूप तद्धित-प्रत्ययकी रसव्यञ्जकताका उदाहरण देते हैं। यह श्लोक 'मालतीमाधव' नाटकके प्रथम अङ्कसे लिया गया है। 'कथितमेव नो मालतीधात्र्या लवङ्गिकया' इस गद्यांशके बाद निम्नलिखित श्लोक दिया गया है। इसके अन्तमें 'अङ्गकैर्म्लायतीति' यह वाक्यांश आया है। उसमें 'अङ्गकैः' पदमें जो क प्रत्ययरूप तद्धितका प्रयोग हुआ है वह अनुकम्पा अर्थमें हुआ है। इसलिए यहाँ अनुकम्पाके द्योतक क प्रत्ययरूप तद्धितसे विप्रलम्भशृङ्गाररस व्यक्त होता है। इस अभिप्रायसे ग्रन्थकारने यह उदाहरण दिया है। श्लोकका अर्थ निम्नलिखित प्रकार है—

भूयो भूयः सविधनगरीरथ्यया पर्यटन्तं
दृष्ट्वा दृष्ट्वा भवनवलभीतुङ्गवातायनस्था ।
साक्षात् कामं नवमिव रतिर्मालती माधवं यद्
गाढोत्कण्ठाललितलुलितैरङ्गकैस्ताम्यतीति ॥१०६॥

अत्र अनुकम्पावृत्तेः क-रूपतद्धितस्य ।

परिच्छेदातीतः सकलवचनानामविषयः
पुनर्जन्मन्यस्मिन्ननुभवपथं यो न गतवान् ।
विवेकप्रध्वंसादुपचितमहामोहगहनो
विकारः कोऽप्यन्तर्जडयति च तापं च कुरुते ॥१०७॥

अत्र प्र-शब्दस्योपसर्गस्य ।

कृतं च गर्वाभिमुखं मनस्त्वया
किमन्यदेवं निहताश्च नो द्विषः ।
तमांसि तिष्ठन्ति हि तावदंशुमान
न यावदायात्युदयाद्रिमौलिताम् ॥१०८॥

[वलभी] छज्जेपरके ऊँचे झरोखोंमें खड़ी होकर पासकी, नगरीकी सड़कपर बार-बार घूमते हुए साक्षात् कामदेवके समान माधवको देख-देखकर गाढ़ उत्कण्ठाके कारण अत्यन्त खिन्न [मालती] अनुकम्पनीय अङ्गोंसे मुरझायी जा रही है ॥ १०६ ॥

यहाँ अनुकम्पासूचक क-रूप तद्धित [विप्रलम्भशृङ्गारका व्यञ्जक] है।

उपसर्गकी व्यञ्जकता

प्रकृतिके एकदेश उपसर्गकी विप्रलम्भशृङ्गारव्यञ्जकताका उदाहरण आगे देते हैं, यह श्लोक भी 'मालतीमाधव' नाटकके प्रथम अङ्कसे लिया गया है। इसमें माधव अपने मित्र मकरन्दसे अपनी काम अवस्थाका वर्णन करते हुए कहता है कि—

कोई उद्भुत [प्रकारका कामज] विकार, जिसकी व्यापकता [अथवा समाप्ति]का कोई ठिकाना नहीं है, जो किसी प्रकार शब्दों द्वारा नहीं कहा जा सकता है, जो इस जन्ममें और कभी अनुभवमें नहीं आया, और विवेकका समूल नाश करके महान् अज्ञानको बढ़ाकर दुर्लंघ्य हो गया है इस प्रकारका कोई अनिर्वचनीय [कामज] विकार अन्तःकरणको विवेकशून्य [जड़] बना रहा है और सन्ताप दे रहा है ॥ १०७ ॥

यहाँ [प्रध्वंस पदमें] प्र शब्दरूप उपसर्ग [विप्रलम्भ-व्यञ्जक है]।

निपातकी व्यञ्जकता

आगे निपातकी रसव्यञ्जकताका उदाहरण देते हैं—

[हे राजन्] आपने अहङ्कारकी ओर मुख किया नहीं कि अधिक क्या कहें उसके साथ ही हमारे शत्रु मारे गये। अन्धकार [संसारमें] तभीतक रहता है जबतक सूर्य उदयाचलके शिखरपर नहीं आता है ॥ १०८ ॥

अत्र इमनिज्-अव्ययीभाव-कर्मभूताधाराणां स्वरूपस्य ।

तरुणत्वे इति, धनुषः समीपे इति, मौलौ वसतीति त्वादिभिस्तुल्ये एषां वाचकत्वे अस्ति कश्चित्स्वरूपस्य विशेषो यश्चमत्कारकारी स एव व्यञ्जकत्वं प्राप्नोति ।

एवमन्येषामपि बोद्धव्यम् ।

वर्णरचनानां व्यञ्जकत्वं गुणस्वरूपनिरूपणे उदाहरिष्यते अपिशब्दात्प्रबन्धेषु नाटकादिषु ।

यहाँ [तरुणिमनिमें] इमनिच् [प्रत्यय, 'अनुमदनधनुः' इस पदमें 'मदनधनुषः समीपे इति अनुमदनधनुः' इस प्रकारका] अव्ययीभाव [समास और 'मौलिं' इस पदमें] कर्मभूत आधार [इन तीनों] के स्वरूपका शृङ्गारव्यञ्जकत्व] है ।

[तरुणिमनि इस इमनिच्-प्रत्यायान्तके स्थानपर] 'तरुणत्वे' इस [प्रयोगमें], ['अनुमदनधनुः' इस अव्ययीभाव समासके स्थानपर] धनुषः समीपे [धनुषके पास], इस [प्रयोगमें] और ['मौलिमधिवसति' इसमें 'उपान्वध्याङ्वसः सूत्रसे आधारकी कर्मसंज्ञा करके उसमें द्वितीया विभक्तिका प्रयोग करनेके स्थानपर] 'मौलौ वसति' इस [प्रयोग] में [किये गये] 'त्व' आदि [प्रत्ययोंके] साथ (इमनिज्-प्रत्यय, अव्ययीभाव पदसे जो अर्थ प्रतीत होता है वही अर्थ 'तरुणत्वे' पदसे भी प्रतीत हो सकता है फिर भी इन प्रयोगोंमें] स्वरूपकी कुछ विशेषता है, जिससे उनमें [अधिक] चमत्कार प्रतीत होता है । वही व्यञ्जकत्वको प्राप्त होता है ।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि 'तरुणिमनि' पदके स्थानपर उसके समानार्थक होनेसे 'तरुणत्वे' पदका भी प्रयोग किया जा सकता था, परन्तु कविने उसका प्रयोग न करके उसके स्थानपर 'तरुणिमनि' पदका प्रयोग किया है । इसका कारण यह है कि 'इमनिज्'-प्रत्ययसे पदमें सुकुमारता प्रतीत होती है, इसलिए उस पदसे नायिकाके तारुण्यमें भी सौकुमार्यकी अभिव्यक्ति होती है । इसके विपरीत 'तरुणत्वे' पदके अक्षरोंमें सुकुमारताके स्थानपर प्रौढता पायी जाती है इसलिए उसके प्रयोगसे नायिकाके यौवनमें कुछ कठोरताकी अभिव्यक्ति होने लगती है । इस कारण कविने तारुण्यमें भी सौकुमार्यातिशयके बोधनके लिए 'तरुणिमनि' इस 'इमनिज्' प्रत्ययान्त पदका प्रयोग किया है ।

इसी प्रकार 'अनुमदनधनुः' इस पूर्वपदार्थप्रधान अव्ययीभाव समासमें उत्तरपदरूप मदनधनुकी अप्रधानताके प्रकाशन द्वारा भ्रूलताके वशीकरणसामर्थ्यके अतिशयकी अभिव्यक्ति होती है । इसी प्रकार 'मौलिमधिवसति' इस कर्मविभक्तिके प्रयोगसे कर्मीभूत समस्त ललनाओंकी अभिव्याप्तिके सूचन द्वारा नायिकाके सौन्दर्यातिशयकी अभिव्यक्ति होती है । 'मौलौ' इस प्रकारका सप्तम्यन्त प्रयोग करनेपर एक देशमें आधारता सम्भव होनेसे भी सकलललनाओंकी व्याप्ति सूचित नहीं हो सकती है । इस प्रकार यहाँ इमनिज् प्रत्यय, कर्मविभक्ति तथा अव्ययीभावसमास आदिके द्वारा काव्यमें विशेष चमत्कार आ गया है । इसलिए यहाँ उनकी ही व्यञ्जकता मानी गयी है ।

इसी प्रकार [प्रकृति-प्रत्यय आदि] अन्योंकी भी [व्यञ्जकता] समझ लेनी चाहिये ।

वर्णों तथा रचनाके व्यञ्जकत्वके उदाहरण गुणोंके स्वरूपके निरूपणके अवसर-पर [अष्टम उल्लासमें] देंगे । [सूत्र ६१ में] 'अपि' शब्दके प्रयोगसे नाटकादि प्रबन्धोंमें [भी रसादि-व्यञ्जकता समझनी चाहिये] ।

एवं रसादीनां पूर्वगणितभेदाभ्यां सह षड्भेदाः ।

[सूत्र ६२] **भेदास्तदेकपञ्चाशत् ।**

व्याख्याताः ।

इस प्रकार रस आदि [ध्वनि] के पहले गिनाये हुए [पदप्रकाश्य तथा वाक्यप्रकाश्यरूप] दो भेदोंके साथ, [१. पदांश, २. वर्ण, ३. रचना तथा ४. प्रबन्धगत चार 'पदैकदेशरचनावर्णेष्वपि' भेदोंको मिलाकर कुल] छः भेद होते हैं ।

ध्वनिभेदोंका उपसंहार

[सू० ६२]—इस प्रकार [ध्वनिकाव्यके] इक्यावन भेद होते हैं ।

[इन इक्यावन भेदोंकी] व्याख्या की जा चुकी है ।

ध्वनिकाव्यके इन मुख्य ५१ भेदोंकी गणना इस प्रकार की गयी है । सबसे पहले ध्वनिके 'अविवक्षितवाच्य' तथा 'विवक्षितान्यपरवाच्य' अर्थात् लक्षणामूल तथा अभिधामूल ये दो भेद होते हैं । इनमेंसे 'अविवक्षितवाच्य' अर्थात् 'लक्षणामूल' ध्वनिके भी 'अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य' 'अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य' ये दो भेद हो जाते हैं ।

'विवक्षितान्यपरवाच्य' या 'अभिधामूल' ध्वनिसे भी पहले असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य तथा संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य दो भेद होते हैं । इनमेंसे असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यके अनेक भेद हो सकनेके कारण आगे उनका विस्तार न करके एक ही भेद माना गया है । इस प्रकार यहाँतक लक्षणामूल ध्वनिके १. अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य और २ अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य तथा अभिधामूलका ३ असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ये तीन भेद होते हैं ।

अभिधामूलके संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य भेदके पहिले शब्दशक्त्युत्थ, अर्थशक्त्युत्थ तथा उभयशक्त्युत्थ ये तीन भेद किये गये हैं । उनमेंसे शब्दशक्त्युत्थके वस्तुध्वनि तथा अलङ्कारध्वनि ये दो भेद किये गये हैं । अर्थशक्त्युत्थके स्वतःसम्भवी चार भेद, कविप्रौढोक्तिसिद्ध चार भेद तथा कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध चार भेद, कुल मिलाकर बारह भेद किये गये हैं । और उभयशक्त्युत्थ ध्वनिका एक भेद, कुल मिलाकर संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यके २ + १२ + १ = १५ भेद किये गये हैं । इनके साथ पिछले तीन भेदोंको मिला देनेसे ध्वनिके यहाँतक १५ + ३ = १८ भेद हो जाते हैं ।

इन १८ भेदोंमेंसे एक उभयशक्त्युत्थ भेद है । वह तो केवल वाक्यमें रहता है, शेष १७ भेद पदगत तथा वाक्यगत दो प्रकारके होनेसे १७ × २ = ३४ बन जाते हैं । उनके भीतर जो अर्थशक्त्युत्थके बारह भेद हैं वे पद तथा वाक्यके अतिरिक्त प्रबन्धगत भी हो सकते हैं इसलिए उनको और जोड़ देनेसे ३४ + १२ = ४६ तथा एक उभयशक्त्युत्थको मिलाकर ३४ + १२ + १ = ४७ भेद हो जाते हैं ।

इन [illegible] भेदोंमें असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यभेद एक ही माना गया है । वह पदगत तथा वाक्यगत रूपमें तो इन गणनामें आ चुका है । परन्तु उसके अतिरिक्त वह १ पदांश, २ वर्ण, ३ रचना, [illegible] ४ प्रबन्धमें भी हो सकता है । इसलिए [illegible] ४७ भेदोंके साथ इन चार भेदोंको और [illegible] ४७ + ४ = ५१ [illegible]

[illegible]

ध्वनिभेदोंका सङ्कर तथा संसृष्टि

[illegible]

[सूत्र ६३] **तेषां चान्योन्ययोजने ॥४३॥**

सङ्करेण त्रिरूपेण संसृष्ट्या चैकरूपया ।

न केवलं शुद्धा एवैकपञ्चाशद्भेदा भवन्ति, यावत्तेषां स्वप्रभेदैरेकपञ्चाशता संशयास्पदत्वेन, अनुग्राह्यानुग्राहकतया, एकव्यञ्जकानुप्रवेशेन चेति त्रिविधेन सङ्करेण, परस्परनिरपेक्षरूपया एकप्रकारया संसृष्ट्या चेति चतुर्भिर्गुणने—

[सूत्र ६४] **वेदखाब्धिवियच्चन्द्राः (१-०-४-०-४)**

शुद्धभेदैः सह—

[सूत्र ६५] **शरेषुयुगखेन्दवः (१-०-४-५-५) ॥४४॥**

सङ्करकृत और भेद भी हो सकते हैं। 'मिथोऽनपेक्षतयैषां स्थितिः संसृष्टिरुच्यते' अर्थात् इनमेसे किन्हीं दो या अधिक भेदोंकी एक ही उदाहरणमें परस्पर निरपेक्षरूपसे तिल तण्डुल-न्यायसे स्थितिको 'संसृष्टि' कहते हैं और अनेक भेदोंकी परस्पर सापेक्षरूपसे स्थितिको 'सङ्कर' कहते हैं। यह सङ्कर तीन प्रकारसे होता है—एक अङ्गाङ्गिभाव सङ्कर, दूसरा एकाश्रयानुप्रवेश-सङ्कर और तीसरा सन्देहसङ्कर। इस प्रकार इन शुद्ध ५१ भेदोंको परस्पर मिलानेपर तीन प्रकारके सङ्कर तथा एक प्रकारकी संसृष्टिसे उनकी संख्याका और भी अधिक विस्तार हो सकता है। उस विस्तारको ग्रन्थकार आगे दिखलाते हैं—

[सू० ६३]—उन [शुद्ध इक्यावन भेदों] को एक-दूसरेके साथ मिलानेपर तीन प्रकारके सङ्कर तथा एक प्रकारकी संसृष्टिसे [और भी भेद हो सकते हैं]।

[ध्वनिकाव्यके] न केवल शुद्ध इक्यावन भेद ही होते हैं अपितु अपने इक्यावन भेदोंके साथ [मिलनेपर] [१] सन्देहास्पद होनेसे [सन्देह सङ्कर], [२] अनुग्राह्य-अनुग्राहकरूपसे [अङ्गाङ्गिभाव-सङ्कर] और [३] एक व्यञ्जकमें अनुप्रवेश होनेसे [एकाश्रयानुप्रवेश-सङ्कर] इस प्रकार तीन तरहके सङ्कर और परस्पर निरपेक्षरूप [स्थितिसे] एक प्रकारकी संसृष्टि इस तरह [५१×५१ = २६०१ को] चारसे गुणा करने पर—

[सू० ६४]-[५१ × ५१ = २६०१ × ४ =] १०४०४ [भेद होते हैं]

शुद्ध [५१] भेदोंके साथ [सङ्कर तथा संसृष्टिकृत] इन १०४०४ भेदोको जोड़नेसे—

[सू० ६५]—१०४०४+५१ = १०४५५ भेद हो जाते हैं।

यहाँ 'वेदखाब्धिवियच्चन्द्राः', इस ६४वें सूत्रमें वेद आदि पद संख्याविशेषके बोधक हैं। वेद चार हैं इसलिए वेद पद ४ संख्याका, ख अर्थात् आकाश शून्य संख्याका, अब्धि अर्थात् सागर चार होनेसे अब्धि पद चार संख्याका, वियत् अर्थात् आकाश शून्य संख्याका और चन्द्र पद एक संख्याका बोधक माना जाता है। इस प्रकार वेद [४] ख [०] अब्धि [४] वियत् [०] चन्द्र [१] पदोंसे ४०४०१ यह संख्या उपस्थित होती है। परन्तु 'अङ्कानां वामतो गतिः' इस सिद्धान्तके अनुसार संख्याके अङ्कोंकी गणना बायीं ओरसे की जाती है। अर्थात् हिन्दी वर्णमालाकी लिखावट दाहिनी ओरसे बायीं ओरको चलती है। परन्तु संस्कृतमें इस प्रकार सङ्केतों द्वारा निर्दिष्ट अङ्कोंको बायीं ओरसे दाहिनी ओरको लिखा जाता है। इसलिए वेद [४] ख [०] अब्धि [४] वियत् [०] चन्द्र [१]

पदोसे बोधित [४०४०१] सख्याको जब अङ्कोंमे लिखा जायगा तब उसकी लिखावट बार्यी ओरसे होकर दाहिनी ओरको चलेगी। इसलिए 'वेदखाब्धिवियच्चन्द्राः'वाली सख्याको इस प्रकारसे अङ्कोंमे लिखनेपर यह सख्या १०४०४ बनती है।

इसी प्रकार ६५वे सूत्रमे शर अर्थात् कामदेवके पॉच बाण होनेसे शर पद ५ अङ्कका, इसी प्रकार शर अर्थात् बाणका ही वाचक इषु पद ५ अङ्कका, सतयुग आदि चार युग होनेसे युग पद ४ अङ्कका, ख पद ० अङ्कका और इन्दु पद १ अङ्कका बोधक होता है। इसलिए शर [५] इषु [५] युग [४] ख [०] और इन्दु [१] से १०४५५ सख्या उपस्थित होती है।

इस प्रकार 'काव्यप्रकाश' के अनुसार ध्वनिके सङ्कर, ससृष्टि तथा शुद्ध सब भेदोको मिलाकर कुल १०४५५ भेद बनते हैं।

लोचनकारके अनुसार ध्वनिके ३५ भेदोंकी गणना

'ध्वन्यालोक'की 'लोचन' टीकामे द्वितीय उद्योतकी ३१वीं कारिका तथा तृतीय उद्योतकी ततीसवीं कारिकाकी व्याख्या करते हुए अभिनवगुप्तने दो जगह ध्वनिके प्रभेदोकी गणना की है। पहली जगह 'एवं ध्वनिप्रभेदान् प्रतिपाद्य' इस मूल ग्रन्थकी व्याख्या करते हुए ध्वनिके पैतीस भेदोकी गणना इस प्रकार की है—

'अविवक्षितवाच्यो विवक्षितान्यपरवाच्यश्चेति द्वौ मूलभेदौ। आद्यस्य द्वौ भेदौ, अत्यन्ततिरस्कृतवाच्योऽर्थान्तरसंक्रमितवाच्यश्च। द्वितीयस्य द्वौ भेदौ, अलक्ष्यक्रमोऽनुरणनरूपश्च। प्रथमोऽनन्तभेदः। द्वितीयो द्विविधः, शब्दशक्तिमूलोऽर्थशक्तिमूलश्च। पश्चिमस्त्रिविधः कविप्रौढोक्तिकृतशरीरः, कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिकृतशरीरः, स्वतःसम्भवी च। ते च प्रत्येकं व्यङ्ग्यव्यञ्जकयोरुक्तभेदनयेन चतुर्धेति द्वादशविधोऽर्थशक्तिमूलः। आद्याश्चत्वारो भेदा इति षोडश मुख्यभेदाः। ते च पदवाक्यप्रकाशत्वेन प्रत्येक द्विविधा वक्ष्यन्ते। अलक्ष्यक्रमस्य तु वर्ण-पद-वाक्य-सङ्घटना-प्रबन्धप्रकाश्यत्वेन पञ्चत्रिंशद् भेदाः।'

अर्थात् ध्वनिके अविवक्षितवाच्य [लक्षणामूल] और विवक्षितान्यपरवाच्य [अभिधामूल] ये दो मूल भेद हैं। उनमेंसे प्रथम अर्थात् अविवक्षितवाच्यके अर्थान्तरसक्रमितवाच्य और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ये दो भेद होते है। द्वितीय अर्थात् विवक्षितान्यपरवाच्य [अभिधामूल] ध्वनिके असलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य और सलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ये दो भेद होते है। इनमेंसे प्रथम असलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य [रसादि-ध्वनि] के अनन्त भेद हो सकते है, इसलिए वह सब एक ही माना जाता है। दूसरे अर्थात् सलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यके शब्दशक्तिमूल और अर्थशक्तिमूल इस प्रकार दो भेद होते है। इनमेसे अन्तिम अर्थात अर्थशक्त्युद्भव-ध्वनिके स्वतःसम्भवी, कविप्रौढोक्तिसिद्ध तथा कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध ये तीन भेद होते है। इन तीनो भेदोंमेसे प्रत्येक, व्यङ्ग्य और व्यञ्जक दोनोमे उक्त भेद [वस्तु और अलङ्कार] नीतिसे चार भेद होकर कुल बारह प्रकारके अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि भेद होते हैं। इन बारह भेदोंमेंसे पहिले चार भेद अर्थात् अविवक्षितवाच्यके दो भेद, तीसरा असलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य और चौथा शब्दशक्त्युत्थ भेद मिला देनेसे बारह और चार मिलकर सोलह भेद हुए। ये सब पदगत और वाक्यगत होनेसे दो प्रकारके होकर ३२ भेद हुए। असलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य पद और वाक्यके अतिरिक्त वर्ण, सङ्घटना तथा प्रबन्धमें भी प्रकाश्य होनेसे तीन भेद और जुडकर ध्वनिके कुल ३५ भेद हो जाते है। इनमें जहॉ 'व्यङ्ग्यव्यञ्जकयोरुक्तभेदनयेन चतुर्धेति' लिखा है वहॉ कुछ पाठ भ्रष्ट हो गया जान पडता है।

'लोचन' तथा 'काव्यप्रकाश'के भेदोंकी तुलना

ऊपर दिये हुए विवरणके अनुसार 'लोचन'मे ध्वनिके ३५ शुद्ध उपभेद दिखलाये है और 'काव्यप्रकाश' तथा 'साहित्यदर्पण' आदिमे उनके स्थानपर ५१ भेद दिखलाये है। इस प्रकार 'लोचन' तथा 'काव्यप्रकाश' आदिके भेदोंमे १६ भेदोंका अन्तर है अर्थात् 'काव्यप्रकाश' आदिमे 'लोचन'से सोलह भेद अधिक दिखलाये गये है। यह सोलहो भेदोंका अन्तर विवक्षितान्यपरवाच्य अर्थात् अभिधामूल ध्वनिके भेदोंमे ही हुआ है, जिनमेंसे मुख्य भेद तो अर्थशक्त्युद्भव-ध्वनिके भेदोंमे है। लोचनकारने अर्थशक्त्युद्भव-ध्वनिके बारह भेद दिखलाकर उनके पद और वाक्यगत भेद दिखलाये है। इस प्रकार अर्थशक्त्युद्भव-ध्वनिके २४ भेद हो जाते है। काव्यप्रकाशकारने पद और वाक्यके अतिरिक्त प्रबन्धमे भी अर्थशक्त्युद्भव ध्वनिके बारह भेद माने है, जो लोचनकारने नही दिखलाये है। इस प्रकार 'लोचन'के मतमे अर्थशक्त्युद्भव ध्वनिके २४ भेद और 'काव्यप्रकाश'के अनुसार ३६ भेद होते है अर्थात् बारह भेदोंका अन्तर तो इसमे है। इसके अतिरिक्त शब्दशक्त्युत्थ-ध्वनिके लोचनकारने केवल पदगत और वाक्यगत ये दो ही भेद किये है, वस्तु और अलङ्कार व्यङ्ग्यके भेदसे भेद नही किये है। 'काव्यप्रकाश'मे शब्दशक्त्युत्थके वस्तु और अलङ्कार व्यङ्ग्य भेदसे दो भेद करके फिर उनके पदगत तथा वाक्यगत भेद किये है। अतः 'काव्यप्रकाश'मे शब्दशक्त्युत्थके चार भेद होते है और 'लोचन'मे केवल दो भेद। अतः दो भेदोंका अन्तर यहाँ आता है। इसके अतिरिक्त 'लोचन'मे उभयशक्त्युत्थ नामका कोई भेद परिगणित नही किया है। 'काव्यप्रकाश'मे उभयशक्त्युत्थको भी एक भेद माना गया है। इसलिए 'काव्यप्रकाश'मे एक भेद यह बढ जाता है। इस प्रकार शब्दशक्त्युत्थके वस्तु तथा अलङ्कारके दो भेद, अर्थशक्त्युत्थके प्रबन्धगत बारह भेद और उभयशक्त्युत्थका एक भेद यह सब मिलाकर २ + १२ + १ = १५ भेद तो संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यके अन्तर्गत 'काव्यप्रकाश'मे अधिक दिखलाये है और सोलहवाँ भेद असंलक्ष्यक्रमकी गणनामे अधिक है। असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य रस आदि ध्वनिका वैसे तो 'लोचन' तथा 'काव्यप्रकाश' दोनो जगह एक ही भेद माना है। परन्तु 'लोचन'मे उस असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यके १. पद, २. वाक्य, ३. वर्ण, ४. सङ्घटना तथा ५. प्रबन्धमें व्यङ्ग्य होनेसे पाँच भेद माने जाते है। 'काव्यप्रकाश'मे इन पाँचोंके अतिरिक्त पदैकदेश अर्थात् प्रकृति प्रत्ययादिगत एक भेद और माना है। अतः 'काव्यप्रकाश'मे असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यके भेदोंमे भी एक भेद अधिक होनेसे 'लोचन'की अपेक्षा कुल सोलह भेद अधिक हो जाते है। इसलिए जहाँ 'लोचन'मे ध्वनिके शुद्ध ३५ भेद दिखाये है, वहाँ 'काव्यप्रकाश'मे ध्वनिके शुद्ध ५१ भेद दिखलाये गये है। 'काव्यप्रकाश' तथा लोचनकारकी ध्वनिभेदोंकी गणनामे यह मुख्य भेद है।

संसृष्टि तथा सङ्करभेदसे लोचनकारकी गणना

न केवल इन शुद्ध भेदोंकी गणनामे ही यह अन्तर पाया जाता है अपितु उन शुद्ध भेदोंका संसृष्टि तथा सङ्करभेदसे जब विस्तार किया जाता है तो उस विस्तारमे भी 'लोचन' तथा साहित्यशास्त्रके विविध ग्रन्थोंसे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भेद पाया जाता है। लोचनकारने गुणीभूतव्यङ्ग्य, अलङ्कार तथा ध्वनिके अपने भेदोंके साथ ध्वनिभेदोंकी संसृष्टि तथा सङ्करसे ध्वनिके ७४२० भेद दिखलाये है। काव्यप्रकाशकारने केवल ध्वनिके इक्यावन शुद्ध भेदोंकी संसृष्टि तथा सङ्करसे १०४०४ भेद किये है। और साहित्यदर्पणकारने सङ्कर तथा संसृष्टिकृत ५३०४ तथा ५१ शुद्ध भेदोंको जोडकर ५३५५ भेद दिखलाये है। लोचनकारने अपने मतानुसार ७४२० ध्वनिभेदोंकी गणना इस प्रकार करायी है—

पूर्वं ये पञ्चत्रिंशद्भेदा उक्तास्ते गुणीभूतव्यङ्ग्यस्यापि मन्तव्याः। स्वप्रभेदास्तावन्तः। अलङ्कार इत्येकसप्ततिः। तत्र सङ्करत्रयेण संसृष्ट्या च गुणने द्वे शते चतुरशीत्यधिके [२८४]। पञ्चत्रिंशतो मुख्यभेदानां गुणने सप्त सहस्राणि चत्वारि शतानि विंशत्यधिकानि [७४२०] भवन्ति।

लोचन० उद्योत ३, का. ४३

काव्यप्रकाशकारने १०४५५ ध्वनिभेदोंका प्रतिपादन इस प्रकार किया है—

भेदास्तदेकपञ्चाशत् तेषां चान्योन्ययोजने।
सङ्करेण त्रिरूपेण संसृष्ट्या चैकरूपया॥

वेदखाब्धिवियच्चन्द्राः [१०४०४] शरेषुयुगखेन्दवः [१०४५५]

काव्यप्रकाश, चतुर्थोल्लास, सू० ६२-६५

साहित्यदर्पणकारने ध्वनिभेदोंका वर्णन इस प्रकार किया है—

तदेवमेकपञ्चाशद्भेदास्तस्य ध्वनेर्मताः।
सङ्करेण त्रिरूपेण संसृष्ट्या चैकरूपया॥

वेदखाग्निशराः [५३०४] शुद्धैरिषुबाणाग्निसायकाः [५३५५]

साहित्यदर्पण, चतुर्थ परिच्छेद, १२

इन तीनोंमें यद्यपि लोचनकार सबसे अधिक प्राचीन और सबसे अधिक प्रामाणिक हैं, परन्तु इस विषयमें उनकी गणना सबसे अधिक चिन्त्य है। उन्होंने ध्वनिके शुद्ध ३५ भेद, उतने ही [३५ ही] गुणीभूतव्यङ्ग्यके और अलङ्कारोंको मिलाकर एक भेद, इस प्रकार कुल ७१ भेदोंकी संसृष्टि तथा सङ्कर दिखलानेके लिए ७१ को चारसे गुणाकर ७१ × ४ = २८४ भेद किये हैं और फिर उनको शुद्ध पैंतीस भेदोंसे गुणा करके २८४ × ३५ = ७४२० भेद दिखलाये हैं। इसमें सबसे बड़ी त्रुटि तो यही दिखलायी देती है कि २८४ और ३५ का गुणा करनेसे गुणनफल ९९४० होता है, परन्तु लोचनकार उसके स्थानपर केवल ७४२० लिख रहे हैं। यह गणनाकी प्रत्यक्ष दिखलायी देनेवाली त्रुटि है। इसके अतिरिक्त और भी विशेष बात इस प्रसङ्गमें चिन्तनीय है।

'लोचन'की एक और चिन्त्य गणना

लोचनकारने 'पूर्वं ये पञ्चत्रिंशद्भेदा उक्तास्ते गुणीभूतव्यङ्ग्यस्यापि मन्तव्याः' लिखकर जितने ध्वनिके भेद होते हैं उतने ही भेद गुणीभूतव्यङ्ग्यके भी माने हैं। परन्तु 'काव्यप्रकाश'ने इस विषयका प्रतिपादन कुछ भिन्न प्रकारसे किया है। वे लिखते हैं—

'एषां भेदा यथायोगं वेदितव्याश्च पूर्ववत्।

यथायोगमिति—

व्यज्यन्ते वस्तुमात्रेण यदालङ्कृतयस्तदा।
ध्रुवं ध्वन्यङ्गता तासां काव्यवृत्तेस्तदाश्रयात्॥

[ध्व०—२, ३०]

इति ध्वनिकारोक्तदिशा वस्तुमात्रेण यत्रालङ्कारो व्यज्यते न तत्र गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वम्' सू० ६७

तथाहि— स्वतःसम्भवि-कविप्रौढोक्तिसिद्ध-कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धवस्तुव्यङ्ग्यालङ्काराणां पदवाक्यप्रबन्धगतत्वेन त्रिरूपतया वस्तुव्यङ्ग्यालङ्कारस्य नवविधत्वमिति ध्वनिप्रभेदसङ्ख्यापञ्चाशतो नवन्यूनेन [५१ − ९ = ४२] अष्टानां भेदानां प्रत्येकं द्विचत्वारिंशद् [४२] विधत्वमिति मिलित्वा ४२ × ८ = ३३६। गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य षट्त्रिंशदधिकत्रिशतभेदाः [३३६]

काव्यप्रकाश टीका [सू० ६७]

इसके अनुसार काव्यप्रकाशकारने ध्वनिके अर्थशक्त्युद्भव भेदके अन्तर्गत वस्तु अलङ्कार व्यञ्जकके स्वतःसम्भवी, कविप्रौढोक्तिसिद्ध तथा कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध ये तीन भेद, और उनमेंसे प्रत्येकके पद, वाक्य तथा प्रबन्धगत होनेसे [३ × ३ = ९] वस्तुसे अलङ्कार व्यङ्ग्यके कुल नौ भेद दिखलाये थे। इन नौ प्रकारोंमें केवल ध्वनि ही होता है, गुणीभूतव्यङ्ग्य नहीं, जैसा कि 'ध्वन्यालोक'-की ऊपर उद्धृत कारिकासे सिद्ध होता है। अतः ध्वनिके ५१ भेदोंमेंसे इन नौको कम करके [५१ − ९ =] ४२ भेद होते हैं। इसलिए कुल मिलाकर ४२ × ८ = ३३६ गुणीभूतव्यङ्ग्यके शुद्ध भेद होते हैं। यह काव्यप्रकाशकारका आशय है।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि काव्यप्रकाशकारने 'ध्वन्यालोक'की ऊपर उद्धृत की हुई [२,२९] कारिकाके आधारपर वस्तुसे अलङ्कार व्यङ्ग्यके नौ भेदोंको कम करके गुणीभूतव्यङ्ग्यके भेद माने हैं। क्योंकि जहाँ वस्तुसे अलङ्कारव्यञ्जन होता है, वहाँ 'ध्वन्यालोक'की उक्त कारिकाके अनुसार 'ध्रुव ध्वन्यङ्गता' ध्वनि ही होती है, गुणीभूतव्यङ्ग्य नहीं। लोचनकारने इस ओर ध्यान नहीं दिया है। न केवल इस गणनामें अपितु वस्तु तथा अलङ्कारव्यङ्ग्यके भेदसे गणना करनेका ध्यान भी उनको नहीं रहा है। इसलिए अर्थशक्त्युद्भवके जो बारह भेद उन्होंने दिखलाये हैं, उनमें भी त्रुटि रह गयी है। उभयशक्त्युद्भवको भी जो लोचनकार छोड़ गये हैं वह सब चिन्त्य है।

'काव्यप्रकाश' तथा 'साहित्यदर्पण'की गणनाका भेद

काव्यप्रकाशकारने ध्वनिके ५१ शुद्ध भेदोंकी संसृष्टि तथा सङ्करके द्वारा १०४०४ भेद बनाये हैं। परन्तु साहित्यदर्पणकारने उन्हीं ५१ भेदोंके संसृष्टि तथा सङ्करके द्वारा केवल ५३०४ भेद तथा शुद्ध भेदोंको मिलाकर ५३५५ भेद बनाये हैं। साहित्यदर्पणकारने लिखा है—

> तदेवमेकपञ्चाशद्भेदास्तस्य ध्वनेर्मताः।
> सङ्करेण त्रिरूपेण संसृष्ट्या चैकरूपया॥
> वेदखाग्निशराः [५३०४] शुद्धैरिषुबाणाग्निसायकाः [५३३५]

अर्थात् ध्वनिके ५१ भेदोंके तीन प्रकारके सङ्कर तथा एक प्रकारकी संसृष्टिके द्वारा ५३०४ भेद होते हैं। उनके साथ शुद्ध ५१ भेदोंको मिला देनेसे ५३५५ भेद होते हैं अर्थात् 'काव्यप्रकाश'में जहाँ ध्वनिके १०४५५ भेद किये हैं वहाँ साहित्यदर्पणकारने केवल ५३५५ भेद माने हैं।

इस संख्याभेदका कारण

'साहित्यदर्पण' तथा 'काव्यप्रकाश'की गणनामें जो इतना भेद पाया जाता है उसका कारण उनकी गणनाप्रक्रियाका भेद है। साहित्यदर्पणकारने सङ्कलनप्रक्रियाका अवलम्बन किया है और काव्यप्रकाशकारने गुणनप्रक्रियाका अवलम्बन किया है। इस प्रक्रियाभेदके कारण ही उनकी गणनामें इतना भेद आ गया है।

गुणनप्रक्रिया

काव्यप्रकाशकारने यहाँ जो ध्वनिभेदोंकी गणना की है वह गुणनप्रक्रियाके अनुसार की है। गुणनप्रक्रियाका अभिप्राय यह है कि ध्वनिके शुद्ध ५१ भेद जब एक दूसरेके साथ मिलते हैं तो उस मिलनेसे उनमेंसे प्रत्येकके इक्यावन-इक्यावन भेद हो जाते हैं। इस प्रकार इक्यावन भेदोंमेंसे प्रत्येकके ५१ भेद होनेसे उनकी एक प्रकारकी संसृष्टिके ५१ × ५१ = २६०१ भेद हो जाते हैं। तीन प्रकारके

ङ्कर तथा एक प्रकारकी संसृष्टिको मिलाकर चारसे इस २६०१ को गुणा कर देनेपर २६०१ × ४ = ०४०४ संख्या आती है। इस प्रकार गुणनप्रक्रियाका अवलम्बन कर काव्यप्रकाशकारने यहाँ वनिके १०४०४ भेद तथा उनके साथ शुद्ध ५१ भेदोंको जोड़कर कुल १०४०४ + ५१ = १०४५५ वनिभेद माने हैं।

सङ्कलनप्रक्रिया

परन्तु साहित्यदर्पणकारने इस गुणनप्रक्रियाका अवलम्बन न करके सङ्कलनप्रक्रियाका अवलम्बन किया है। उनका आशय यह है कि ५१ शुद्ध भेदोंको परस्पर मिलानेसे प्रत्येक भेदके इक्यावन-क्यावन भेद हो जाते हैं। परन्तु उनकी कुल संख्या निकालते समय ५१-५१ का गुणा करना उचित हीं है। क्योंकि पहले भेदका अन्य भेदोंके साथ मिश्रण करनेपर जो इक्यावन भेद बनते हैं उनमें ौर दूसरे भेदका अन्य भेदोंके साथ मिश्रण करनेपर जो ५१ भेद बनते हैं उनमेंसे एक भेद दोनों गह समान रहता है। जैसे—अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यके संसृष्टिकृत जो ५१ भेद बनेंगे उनमें अर्थान्तर-क्रमितवाच्य तथा अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यके सम्मिश्रणसे एक भेद बनेगा। इसी प्रकार फिर जब त्यन्ततिरस्कृतवाच्यका अन्य भेदोंके साथ सम्मिश्रण होगा तब उन भेदोंमें अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य तथा र्थान्तरसंक्रमितवाच्यके सम्मिश्रणसे एक भेद बनेगा। यह भेद अभी पहली गणनामें आ चुका । इसलिए सम्पूर्ण ध्वनिभेदोंकी गणना करते समय इस भेदकी दुबारा गणना न हो जाय इसलिए स भेदको निकालकर द्वितीय प्रकारके भेदकी संसृष्टिमें ५१ के स्थानपर केवल ५० ही भेद मानने ाहिये। इस पद्धतिसे आगे चलनेपर तृतीय भेदकी संसृष्टिके ४९, चौथे भेदकी संसृष्टिके ४८ भेद ोंगे। इस क्रमसे एक-एक भेदका ह्रास होते हुए अन्तिम ५१वें भेदकी संसृष्टिके ५१ भेदोंमेंसे केवल क भेद गणनामें सम्मिलित करने योग्य रह जायगा। अन्य सब भेदोंका अन्तर्भाव पहिले भेदोंकी ंसृष्टिके भेदोंमें हो चुका है। इस प्रकार संसृष्टिके कुल भेदोंकी गणनाके लिए ५१-५१ का गुणा करके एकसे लेकर इक्यावनतककी संख्याओंका जोड़ या सङ्कलन करना चाहिये। एकसे क्यावनतककी संख्याओंका जोड़ १३२६ होता है। इसलिए साहित्यदर्पणकारने सङ्कलनप्रक्रियाका वलम्बन कर, ध्वनिके एकसे इक्यावनतकके जोड़ १३२६ को संसृष्टिकृत तथा उससे तिगुने अर्थात् ९७८ सङ्करकृत भेद, कुल मिलाकर [१३२६ + ३९७८ =]५३०४ ध्वनिभेद माने हैं।

सङ्कलनकी लघु प्रक्रिया

एको राशिर्द्विधा स्थाप्य एकमेकाधिकं कुरु।
समार्धेनासमो गुण्य एतत् सङ्कलितं लघु॥

अर्थात् एकसे लेकर जहाँतकका जोड़ लगाना हो उस अन्तिम एक राशिको दो जगह लिखो। उसमेंसे एकमें एक संख्या और जोड़ दो। ऐसा करनेसे उनमेंसे एक सम और दूसरी विषम संख्या बन जायगी। इनमें सम संख्याको आधा करके उससे विषम संख्याको गुणा कर देनेसे एकसे लेकर उस संख्यातकका योगफल निकल आवेगा। जैसे, यहाँ १ से लेकर ५१ तकका जोड़ करना है तो क्यावनको ५१-५१ दो जगह रखकर और उनमें एकमें १ संख्याको जोड़कर ५१ ५२ संख्याएँ हुई। नमें सम संख्या ५२ को आधा करके ५२ ÷ २ = २६ अर्थात् २६ से विषम संख्या अर्थात् ५१ का ुणा कर देनेसे एकसे इक्यावनतकका जोड़ ५१ × २६ = १३२६ आता है। यह सङ्कलनकी लघु प्रक्रिया कहलाती है। इससे किसी भी संख्यातकका जोड़ सरलतासे निकल जाता है।

तत्र दिङ्मात्रमुदाह्रियते—

खणपाहुणिआ देअर जाआए सुहअ किंपि दे भणिआ ।
रुअइ पडोहरवलहीघरम्मि अणुणिज्जउ वराई ॥१११॥
[क्षणप्राघुणिका देवर जायया सुभग किमपि ते भणिता ।
रोदिति गृहपश्चाद्भागवलभीगृहेऽनुनीयतां वराकी ॥ इति संस्कृतम्]

अत्रानुनयः किमुपभोगलक्षणेऽर्थान्तरे संक्रमितः किमनुरणनन्यायेनोपभोगे एव व्यङ्ग्ये व्यञ्जक इति सन्देहः ।

स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतो वेल्लद्बलाका घनाः
वाताः शीकरिणः पयोदसुहृदामानन्दकेकाः कलाः ।
कामं सन्तु दृढं कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहे
वैदेही तु कथं भविष्यति ह हा हा देवि धीरा भव ॥११२॥

अत्र लिप्तेति पयोदसुहृदामिति च अत्यन्ततिरस्कृतवाच्ययोः संसृष्टिः । ताभ्यां सह रामोऽस्मीत्यर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यस्यानुग्राह्यानुग्राहकभावेन, रामपदलक्षणैकव्यञ्जकानुप्रवेशेन चार्थान्तरसंक्रमितवाच्यरसध्वन्योः सङ्करः ।

[इस प्रकार ध्वनिकाव्यके भेदोंका विस्तारपूर्वक निरूपण करनेके बाद उनमेंसे] दिग्दर्शन करानेके लिए कुछ उदाहरण देते हैं—

हे देवर, तुम्हारी पत्नीने [क्षण] उत्सवकी पाहुनी [अर्थात् नगरके किसी उत्सवके अवसरपर अतिथिरूपमें आयी हुई] से कुछ कह दिया है [जिससे दुःखी होकर] वह एकान्त [शून्य] पिछवाड़ेके वलभीगृहमें रो रही है। उस बिचारीको मना लो ॥ १११ ॥

यहाँ 'अनुनय' [यह शब्द] क्या उपभोगरूप अर्थान्तरमें संक्रमित [होनेसे यह लक्षणामूल अविवक्षितवाच्यध्वनिका भेद] है, अथवा संलक्ष्यक्रम [अनुरणन न्याय]की रीतिसे [रोदननिवर्तक अनुनय ही वाच्यार्थ है और उससे] उपभोगरूप व्यङ्ग्यमें ही व्यञ्जक [होनेसे अभिधामूलध्वनि] है यह सन्देह [होनेसे सन्देहसङ्कर] है।

स्निग्ध एवं श्यामल कान्तिसे आकाशको व्याप्त करनेवाले और बलाका [बकपंक्ति] जिनके पास विहार कर रही है ऐसे सघन मेघ [भले ही आवें], छोटे-छोटे जलकणोंसे युक्त [शीतल मन्द] समीर [भले ही बहे] और मेघोंके प्रिय मयूरोंकी आनन्दभरी कूकें भी चाहे जितनी ही [श्रवणगोचर] हों, मैं तो कठोरहृदय राम हूँ, सब-कुछ सह लूँगा। परन्तु [अति सुकुमारी वियोगिनी] सीताकी क्या दशा होगी। हा देवि धैर्य रखना ॥ ११२ ॥

यहाँ 'लिप्त' और 'पयोदसुहृदाम्' इन दोनोंमें अत्यन्ततिरस्कृतवाच्योंकी संसृष्टि है। इन दोनोंके साथ 'रामोऽस्मि' इस अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यका अनुग्राह्यानुग्राहकभावसे [सङ्कर] तथा 'राम' पदरूप एक व्यञ्जक [पद]में अनुप्रवेशके कारण अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य तथा रसध्वनिका [एकव्यञ्जकानुप्रवेशरूप] सङ्कर है।

एवमन्यदप्युदाहार्यम् ।

इति काव्यप्रकाशे ध्वनिनिर्णयो नाम चतुर्थोल्लासः ।

और 'लिप्त' लिपा हुआ अर्थका वाचक शब्द है । परन्तु कान्तिमें लीपना नहीं होता, इसलिए लिप्तपद अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य होकर 'व्याप्त' अर्थको बोधन करता है । इसी प्रकार चेतन-धर्म 'सौहार्द' अर्थात् 'मित्रता' का अचेतन मेघोंमें सम्भव न होनेसे वह भी अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यरूपसे 'सुखदायक' अर्थ व्यक्त करता है । अतः अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनिके दो स्थानोंपर निरपेक्षरूपसे स्थित होनेसे उन दोनोंकी संसृष्टि होती है । 'रामोऽस्मि'में राम पद अत्यन्तदुःखसहिष्णुत्वरूप अर्थान्तरमें संक्रमित है । इसका अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि-भेदोंके साथ अङ्गाङ्गिभावसङ्कर है । और उसी अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य-ध्वनिका रसध्वनिके साथ एकाश्रयानुप्रवेशरूप सङ्कर पाया जाता है ।

इसी प्रकार [संसृष्टि, सङ्कर आदिके] अन्य उदाहरण भी समझने चाहिये ।

इसके पूर्व सूत्रमें त्रिविध सङ्कर और एक प्रकारकी संसृष्टि द्वारा ध्वनिभेदोंके विस्तारका वर्णन किया था । उसीकी दृष्टिसे ध्वनिभेदोंकी संसृष्टि और त्रिविध सङ्करके उदाहरण दिखलानेके लिए १. 'खणपाहुणिआ' तथा २. 'स्निग्धश्यामल' आदि १११ वाँ तथा ११२ वाँ दो श्लोक यहाँ उद्धृत किये हैं । इनमेंसे प्रथम श्लोकमें दो ध्वनिभेदोंका सन्देहसङ्कर दिखलाया गया है और दूसरे श्लोकमें १. 'अङ्गाङ्गिभावसङ्कर' २. एकाश्रयानुप्रवेशसङ्कर तथा ३. संसृष्टि इन तीनके उदाहरण दिखलाये गये हैं । इस प्रकार इन दो श्लोकोंमें ही त्रिविध सङ्कर और एक प्रकारकी संसृष्टि, चारोंके उदाहरण दिखला दिये गये हैं ।

इनमेंसे प्रथम श्लोकमें लक्षणामूल अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य तथा अभिधामूल संलक्ष्यक्रम वस्तुसे व्यङ्ग्य ध्वनि, इन दोनों ध्वनिभेदोंमेंसे कौन-सा भेद माना जाय इसका कोई विनिगमक न होनेसे दो ध्वनिभेदोंका 'सन्देहसङ्कर' है ।

'स्निग्धश्यामल' आदि दूसरे श्लोकमें 'लिप्त' तथा 'पयोदसुहृदा' इन दोनों पदोंमें अत्यन्त-तिरस्कृतवाच्यध्वनि परस्पर निरपेक्षभावसे स्थित है । अतः उन दोनों भेदोंकी संसृष्टि है । 'रामोऽस्मि' इस पदमें 'राम' पद अत्यन्तदुःखसहिष्णुत्व आदि रूप अर्थान्तरमें संक्रमित है । 'लिप्त' तथा 'पयोद-सुहृदा' पदोंकी अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि इस 'रामोऽस्मि'के अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनिकी उप-कारक है । इसलिए यहाँ पूर्वोक्त दो अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनियोंका इस तीसरे अर्थान्तरसंक्रमित-वाच्यध्वनिके साथ अनुग्राह्य अनुग्राहकभाव अथवा अङ्गाङ्गिभाव सङ्कर है । इसी अर्थान्तरसंक्रमित 'राम' पदमें दुःखपात्रताकी लक्षणा द्वारा व्यज्यमान राज्यत्याग, जटा वल्कलधारण, पितृशोकादिसे व्यञ्जना द्वारा प्रतीत होनेवाले शोक, आवेश, धैर्य, निर्वेदादि व्यभिचारिभावोंसे परिपुष्ट विप्रलम्भ प्रकाशित होता है । इसलिए 'राम' पदमें अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि तथा रसध्वनिका 'एकाश्रयानु-प्रवेश' सङ्कर है । इस प्रकार इन दो श्लोकों द्वारा ग्रन्थकारने ४ भेदोंके उदाहरण संक्षेपमें प्रस्तुत किये हैं ।

काव्यप्रकाशमें 'ध्वनिनिर्णय' नामक चौथा उल्लास समाप्त हुआ ।

श्रीमदाचार्य-विश्वेश्वर-सिद्धान्तशिरोमणिविरचितायां काव्यप्रकाशदीपिकायां

हिन्दीव्याख्यायां चतुर्थ उल्लासः समाप्तः ।

एवं ध्वनौ निर्णीते गुणीभूतव्यङ्ग्यप्रभेदानाह—

[सूत्र ६६] अगूढमपरस्याङ्गं वाच्यसिद्ध्यङ्गमस्फुटम् ।
सन्दिग्धतुल्यप्राधान्ये काक्वाक्षिप्तमसुन्दरम् ॥४५॥
व्यङ्ग्यमेवं गुणीभूतव्यङ्ग्यस्याष्टौ भिदाः स्मृताः

अथ काव्यप्रकाशदीपिकायां पञ्चम उल्लासः

उल्लाससङ्गति

प्रथम उल्लासमें काव्यके तीन भेद बतलाये थे—१. ध्वनिकाव्य, २. गुणीभूतव्यङ्ग्य और ३. चित्रकाव्य। इनमेंसे जहाँ वाच्यार्थकी अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थ अधिक चमत्कारी होता है उसको ध्वनिकाव्य कहा जाता है और वह सबसे उत्तम काव्य माना जाता है। इस ध्वनिकाव्यका भेदोपभेद-सहित विस्तारपूर्वक निरूपण गत चतुर्थ उल्लासमें किया जा चुका है। अब इस पञ्चम उल्लासमें काव्यके दूसरे भेद अर्थात् गुणीभूतव्यङ्ग्यरूप मध्यम काव्यके भेदोंका निरूपण प्रारम्भ करते हैं।

गुणीभूतव्यङ्ग्यके आठ भेद

इस प्रकार [चतुर्थ उल्लासमें] ध्वनि [काव्यरूप उत्तम काव्य] का निरूपण हो जानेपर [अब उसके बाद काव्यके दूसरे भेद] गुणीभूतव्यङ्ग्यके भेदोंको कहते हैं—

गुणीभूतव्यङ्ग्यके आठ भेद माने गये हैं। अगले सूत्रमें इन आठों भेदोंके नाम गिनाते हैं—

[सूत्र ६६]—१. अगूढ़ [व्यङ्ग्य], २. इतरका अङ्ग [भूत व्यङ्ग्य], ३. वाच्यसिद्धिका अङ्ग [भूत व्यङ्ग्य], ४. अस्फुट [अर्थात् गूढ़ व्यङ्ग्य], ५. सन्दिग्धप्राधान्य, ६. तुल्यप्राधान्य [व्यङ्ग्य], ७. काकुसे आक्षिप्त [व्यङ्ग्य] और ८ असुन्दर [व्यङ्ग्य] इस प्रकार गुणीभूतव्यङ्ग्य [रूप मध्यम काव्य] के आठ भेद बतलाये गये हैं।

व्यङ्ग्यका चमत्कार कहाँ ?

ये जो गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्यके आठ भेद गिनाये हैं इनमें अगूढव्यङ्ग्य अर्थात् स्फुटव्यङ्ग्य और अस्फुटव्यङ्ग्य अर्थात् गूढव्यङ्ग्य दोनों ही प्रकारके काव्योंकी गणना गुणीभूतव्यङ्ग्यमें की गयी है। इसका कारण यह है कि ध्वनि तथा गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्योंका भेद सहृदयोंके अनुभवके आधार पर किया जाता है। [illegible]

[illegible]

कामिनीकुचकलशवद् गूढं चमत्करोति, अगूढं तु स्फुटतया वाच्यायमानमिति गुणीभूतमेव ।

अगूढं यथा—

यस्यासुहृत्कृततिरस्कृतिरेत्य तप्त-
सूचीव्यधव्यतिकरेण युनक्ति कर्णौ ।
काञ्चीगुणग्रथनभाजनमेष सोऽस्मि
जीवन्न सम्प्रति भवामि किमावहामि ॥ ११३ ॥ [१ क]

अत्र 'जीवन्' इत्यर्थान्तरसंक्रमितवाच्यस्य ।

अर्थात् न तो आन्ध्र देशकी स्त्रियोंके कुचकलशके समान अत्यन्त स्पष्टरूपसे प्रकाशमान अगूढ व्यङ्ग्य शोभा देता है, और न गुजराती स्त्रीके स्तनोंके समान अत्यन्त अप्रकाशित बिलकुल छिपा ही न देनेवाला गूढ व्यङ्ग्य चमत्कारजनक होता है। किन्तु महाराष्ट्र देशकी स्त्रीके कुचकलशके समान न बहुत अस्पष्ट और न बहुत स्पष्ट, केवल सहृदयमात्रसंवेद्य व्यङ्ग्यार्थ ही शोभित होता है। इस उपमाको ध्यानमें रखकर ही मम्मट कहते हैं कि—

[महाराष्ट्रकी] कामिनीके कुचकलशके समान [अंशतः] गूढ [व्यङ्ग्य] चमत्कारजनक होता है इसलिए [आन्ध्री स्त्रीके कुचके समान] अगूढ़ [व्यङ्ग्य] तो अत्यन्त स्पष्ट होनेसे वाच्य-सा प्रतीत होनेके कारण गुणीभूतव्यङ्ग्य ही होता है।

१. अगूढव्यङ्ग्य [का प्रथम उदाहरण] जैसे—

शत्रुओं द्वारा की जानेवाली [पाण्डु-पुत्रोंकी तिरस्कृति] निन्दा [कानोंमें] आकर गरम की हुई सुइयोंके समान जिसके कानोंमे चुभती है, वह मैं [अर्जुन] आज [बृहन्नला-रूपमें] करधनी गूँथनेका काम कर रहा हूँ। मैं तो इस समय [जीवित रहते हुए भी] मृतकल्प हूँ, क्या करूँ, [कुछ कर नहीं सकता हूँ। शत्रुओंके मुखसे पाण्डवोंकी निन्दा सुनता हूँ, पर एक वर्ष तो अज्ञातवासमें काटना ही है इसलिए यह सब सुनकर भी कुछ कर नहीं पाता हूँ] ॥११३॥ [१ क]

प्राचीन टीकाकारोंने इस श्लोकका अर्थ भिन्न प्रकारसे किया है। 'सुधासागर' नामक टीकाके लेखकने लिखा है कि कीचकके द्वारा किये गये पराभवका निवेदन करनेवाली द्रौपदीके प्रति बृहन्नलाके रूपमें अर्जुनकी यह उक्ति है। उद्योतकारका कहना है कि बृहन्नलाकी दशामें किसीने अर्जुनसे यह कहा है कि तुम अपने अभ्युदयके लिए यत्न क्यों नहीं करते हो, उसके उत्तरमें अर्जुनकी यह उक्ति है। उन लोगोंके अनुसार श्लोकका अर्थ इस प्रकार है—

जिस [अर्जुन] का शत्रु [उसके डरके कारण] स्वयं अपनेको धिक्कारता हुआ [कृततिरस्कृति और शरणमें] आकर [अपने अपराधके प्रायश्चित्तरूपमें] गरम सुईसे अपने कानोंको छेद लेता था वही मैं आज करधनी गूँथनेका काम कर रहा हूँ। इसलिए मैं आज बड़ा निन्दित जीवन व्यतीत कर रहा हूँ। पर कर क्या सकता हूँ।

इस अर्थके अनुसार श्लोकके पूर्वार्धमें अर्जुनने अपनी पूर्वावस्थाका वर्णन किया है कि पूर्वावस्थामें जिसके शत्रु भी उसकी शरणमें आकर गरम शलाकाओंसे अपने कान छेदकर प्रायश्चित्त करते थे। शरणागतका तप्त शलाकाओंसे स्वयं कर्णवेधन करना उस समयका आचार था यह उन

उन्निद्रकोकनदरेणुपिशङ्गिताङ्गा
गायन्ति मञ्जु मधुपा गृहदीर्घिकासु ।
एतच्चकास्ति च रवेर्नवबन्धुजीव-
पुष्पच्छदाभमुदयाचलचुम्बि बिम्बम् ॥ ११४ [१ ख]

अत्र चुम्बनस्यात्यन्ततिरस्कृतवाच्यस्य ।

अत्रासीत् फणिपाशबन्धनविधिः शक्त्या भवद्देवरे
गाढं वक्षसि ताडिते हनुमता द्रोणाद्रिरत्राहृतः ।
दिव्यैरिन्द्रजिदत्र लक्ष्मणशरैर्लोकान्तरं प्रापितः
केनाप्यत्र मृगाक्षि ! राक्षसपतेः कृत्ता च कण्ठाटवी ॥ ११५ ॥ [१ ग]

टीकाकारोका अभिप्राय है । परन्तु दूसरे व्याख्याकारोंने इसकी व्याख्यामे शत्रुओंके कर्णवेधनकी बात नहीं लिखी है और न उसमें अर्जुनकी पूर्वावस्थाका वर्णन माना है । द्रौपदीने जब कीचकके द्वारा किये जानेवाले अपने अपमानकी चर्चा अर्जुनसे की तो उसको सुनकर वृहन्नलारूपधारी अर्जुनको ऐसा दुःख हुआ मानो किसीने गरम शलाका उनके कानोंमे घुसेड दी हो । परन्तु प्रतिज्ञाबद्ध होनेके कारण वह कुछ कर नहीं सकता था । अपनी इसी विवशताका प्रदर्शन अर्जुनने इस श्लोकमे किया है ।

यहाँ 'जीवन्' यह [पद निन्दित जीवनरूप] अर्थान्तरमें संक्रमितवाच्य [ध्वनिके अत्यन्त अगूढ़ होनेसे गुणीभूतव्यङ्ग्य] का [उदाहरण है] ।

अगूढव्यङ्ग्यका दूसरा उदाहरण

लक्षणामूलध्वनिके अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य भेदके गुणीभूत होनेका उदाहरण दिया है । अब इसी लक्षणामूलध्वनिके अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य नामक भेदके गुणीभूत होनेका उदाहरण देते हैं—

खिले हुए लाल कमलोंके परागसे पीले अङ्गवाले भौंरे घरकी बावड़ियोंमें मधुर स्वरमें गा रहे हैं और गुड़हल [या दुपहरिया] के फूलके समान [अत्यन्त रक्तवर्ण] उदयाचलका स्पर्श करनेवाला सूर्यका यह बिम्ब शोभित हो रहा है ॥११४॥ [१ ख]

यहाँ 'उदयाचलचुम्बि बिम्बम्'में सूर्यमे वक्त्रसंयोगव्यापाररूप चुम्बनके बाधित होनेसे 'चुम्बि' पद सामान्यसंयोगरूप अर्थका बोधक हो जाता है, अतः अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य चुम्बनका [स्पष्ट होनेसे अगूढव्यङ्ग्यत्व है] ।

अगूढव्यङ्ग्यका तीसरा उदाहरण

इस प्रकार लक्षणामूलध्वनिके दोनो भेदोके अगूढव्यङ्ग्यके दो उदाहरण देकर आगे अभिधामूलध्वनिके अर्थशक्तिमूल भेदमे अगूढव्यङ्ग्यका ही तीसरा उदाहरण देते हैं । 'बालरामायण'मे अयोध्याको लौटते समय रामचन्द्रजी सीताके प्रति कह रहे हैं—

[हे सीते!] यहाँ नागपाशसे हम [दोनों भाइयोंको] बाँधा गया था । और [उसी युद्धभूमिके दूसरे स्थलपर] यहाँ तुम्हारे देवर [लक्ष्मण] के वक्षःस्थलपर शक्तिके लगनेपर हनुमान् द्रोणाचलको लाये थे। यहाँ लक्ष्मणके दिव्य बाणोंने मेघनादको दूसरे [लोक यमपुर पहुँचाया] था । और हे मृगाक्षि ! यहाँ [युद्धभूमिके चौथे स्थलमें] किसीने राक्षसपति [रावण] के कण्ठवनको काटा था ॥११५ [१ग]

अत्र 'केनाप्यत्र' इत्यर्थशक्तिमूलानुरणनरूपम्। 'तस्याप्यत्र' इति युक्तः पाठः।
अपरस्य रसादेर्वाच्यस्य वा वाक्यार्थीभूतस्य अङ्गं रसादि अनुरणनरूपं वा।

यथा—

अयं स रशनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दनः।

नाभ्यूरुजघनस्पर्शी नीवीविस्रंसनः करः ॥११६॥ [२क]

अत्र शृङ्गारः करुणस्य।

यहाँ 'केनापि' किसीने इस अर्थशक्तिमूल [अनुरणनरूप] संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यका [निगूढ होनेसे गुणीभाव है। इसलिए] यहाँ ['केनाप्यत्र'के स्थानपर] 'तस्याप्यत्र' यह पाठ होना उचित था।

२. अपराङ्ग-रूप गुणीभूतव्यङ्ग्यके आठ उदाहरण

इस प्रकार यहाँतक गुणीभूतव्यङ्ग्यके प्रथम भेद अगूढव्यङ्ग्यके तीन उदाहरण दिये। इस प्रथम भेदका निरूपण समाप्त करनेके बाद इसी गुणीभूतव्यङ्ग्यके दूसरे भेद 'अपराङ्गव्यङ्ग्य'के आठ उदाहरण देते हैं। अपराङ्गव्यङ्ग्यका अभिप्राय यह है कि जहाँ वाक्यका तात्पर्यविषयीभूत प्रधान अर्थ अन्य रसादि या वाच्यादि अर्थ हो और दूसरा व्यङ्ग्य रसादि अथवा संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य वस्तु या अलङ्कारादि व्यङ्ग्य उसका अङ्ग हो उसको अपराङ्गव्यङ्ग्यरूप गुणीभूतव्यङ्ग्य कहा जाता है। इस प्रकारके आठ उदाहरण आगे देते हैं। इनमेंसे पहिले उदाहरणमें वाक्यार्थीभूत प्रधान रस करुण है और उसका अङ्ग शृङ्गाररस है। अतः उसमें शृङ्गाररस गुणीभूत है। अतः यह 'अपराङ्गव्यङ्ग्य'का उदाहरण है।

[अपरस्य अर्थात्] अन्य रसादिका अथवा वाक्यके तात्पर्यविषयीभूत अन्य वाच्यका अङ्ग रसादि अथवा संलक्ष्यक्रम [अनुरणनरूप वस्तु अलङ्कार आदि] होनेपर [अपराङ्ग नामक गुणीभूतव्यङ्ग्यका द्वितीय भेद होता है] जैसे—

प्रथम उदाहरण

यह [मेरी रशना] करधनीको खींचनेवाला, पीन स्तनोंका मर्दन करनेवाला, नाभि, ऊरु तथा जघनस्थलका स्पर्श करनेवाला तथा नीवी [नारे] को खोलनेवाला [मेरे पतिका अत्यन्त प्रिय] हाथ है ॥११६॥ [२क]

यहाँ शृङ्गार [रस] करुण [रस] का [अङ्ग है]।

यह श्लोक 'महाभारत'के स्त्रीपर्वके २४वें अध्यायमेंसे लिया गया है। उसमें रणभूमिमें कटकर गिरे हुए भूरिश्रवाके हाथको देखकर विलाप करती हुई उसकी पत्नी कह रही है। इसलिए इस श्लोकका मुख्य रस तो करुणरस है। परन्तु उसमें वह स्त्री रतिकालमें होनेवाले उस हाथके विविध कार्योंका स्मरण कर रही है इसलिए उससे शृङ्गाररस भी अभिव्यक्त होता है। परन्तु वह स्मर्यमाण शृङ्गार-प्रसङ्ग प्रकृत करुणरसका अङ्ग ही है। अतः यह अपराङ्गरूप गुणीभूतव्यङ्ग्यका उदाहरण है।

द्वितीय उदाहरण

इस प्रकार जहाँ एक रस दूसरे रसका अङ्ग है इस प्रकारका उदाहरण दिया गया है। अब आगे इस प्रकारका उदाहरण देते हैं जिसमें रस भावका अङ्ग होनेसे गुणीभूत हो गया है। अगले

कैलासालयभाललोचनरुचा निर्वर्तितालक्तक-
व्यक्तिः पादनखद्युतिर्गिरिभुवः सा वः सदा त्रायताम् ।
स्पर्धाबन्धसमृद्धयेव सुदृढं रूढा यया नेत्रयोः
कान्तिः कोकनदानुकारसरसा सद्यः समुत्सार्यते ॥११७॥ [२ ख]

अत्र भावस्य रसः ।

श्लोकका भाव यह है कि रूठी हुई पार्वतीको मनानेके लिए शिवजी उनके चरणोंपर झुक रहे हैं। उस समय उनके मस्तकपर स्थित तृतीय नेत्रकी कान्ति पार्वतीके चरणोंपर पड़कर महावरका काम कर रही है। और क्रोधके कारण अत्यन्त लाल होनेसे उसके साथ स्पर्धा करनेवाली पार्वतीके नेत्रोंकी लाल कान्ति उससे पराजित होकर मानो तुरन्त ही भाग जाती है। अर्थात् शिवजीको पादावनत देखकर पार्वतीका क्रोध एकदम दूर भाग जाता है। इसमें कविकी पार्वतीविषयक भक्ति प्रधान अर्थ है। देवविषयक रति होनेके कारण 'रतिर्देवादिविषया भाव.' इस लक्षणके अनुसार वह भक्ति या रति 'भाव' रूप है। श्लोकमें शृङ्गाररसका भी वर्णन है परन्तु वह प्रधान नहीं अपितु भक्ति 'भाव'का अङ्ग है। इसलिए यह अपराङ्गव्यङ्ग्यका दूसरा उदाहरण है। श्लोकका शब्दार्थ इस प्रकार है।

कैलासवासी [शिवजी]के ललाटस्थ [तृतीय] नेत्रकी कान्तिसे महावरकी [व्यक्तता या] शोभा जिसमें सम्पादित की गयी है इस प्रकारकी पार्वतीके चरणोंके नाखूनोंकी वह द्युति, तुम्हारी सदा रक्षा करे [पार्वतीके क्रोधसे आरक्त नेत्रोंकी आरक्तताको जीतनेके लिए स्पर्धाबन्ध] शर्त बदनेके कारण और भी अधिक बढ़ी हुई जिस [पादनखद्युति]के द्वारा [पार्वतीके क्रोधसे] आरक्त नेत्रोंकी लाल कमल [कोकनद]का अनुकरण करनेवाली सरस कान्ति [पराजित कर दी जानेसे] तुरन्त भगा दी जाती है। [अर्थात् पार्वतीके मानापनोदनके लिए चरणोंपर झुके हुए शिवजीके तृतीय नेत्रकी द्युतिसे और भी आरक्त हुई पार्वतीकी नखद्युतिसे मानो पराजित होकर क्रोधसे आरक्त नेत्रोंकी लाल कान्ति तुरन्त भाग जाती है। अर्थात् पार्वतीका क्रोध शान्त हो जाता है] ॥११७॥ [२ख]।

यहाँ [पार्वतीविषयक भक्तिरूप] 'भाव'का [महादेवनिष्ठ पार्वतीविषयक सम्भोग-शृङ्गाररूप] रस [अङ्ग है]।

इसका अभिप्राय यह है कि इस श्लोकका मुख्य वाक्य 'गिरिभुवः सा पादनखद्युतिर्वः सदा त्रायताम्' यह है। इससे कविके पार्वतीविषयक भक्तिरूप 'भाव'की अभिव्यक्ति होती है। वह प्रधान 'भाव' है। उसके साथ पार्वतीके मानापनोदनके लिए शिवजीके जिस व्यापारका वर्णन है वह सम्भोगशृङ्गारका अभिव्यञ्जक है। उससे अभिव्यक्त शृङ्गाररस यहाँ प्रधानभूत भक्ति 'भाव'का अङ्गमात्र है, प्रधान नहीं। अतः रसके 'भाव'का अङ्ग होनेके कारण यह श्लोक अपराङ्गरूप गुणीभूत-व्यङ्ग्यका उदाहरण हो जाता है।

तृतीय उदाहरण

इस द्वितीय उदाहरणमें यह दिखलाया गया था कि 'रस' 'भाव'का अङ्ग हो गया। अगला तृतीय उदाहरण इस प्रकारका दिखलाते हैं, जिसमें एक 'भाव' दूसरे 'भाव'का अङ्ग होता है। जयन्त-भट्टारककृत 'दीपिका' टीकामें यह श्लोक 'पद्माकर' नामक कविके द्वारा भोजराजकी स्तुतिमें लिखा हुआ बतलाया गया है। श्लोकका अर्थ निम्नलिखित प्रकार है—

अत्युच्चाः परितः स्फुरन्ति गिरयः स्फारास्तथाम्भोधयः
स्तानेतानपि बिभ्रती किमपि न क्लान्तासि तुभ्यं नमः।
आश्चर्येण मुहुर्मुहुः स्तुतिमिति प्रस्तौमि यावद् भुवः
स्तावद्बिभ्रदिमां स्मृतस्तव भुजो वाचस्ततो मुद्रिताः ॥११८॥ [२ ग]

अत्र भूविषयो रत्याख्यो भावो राजविषयरतिभावस्य ।

बन्दीकृत्य नृपद्विषां मृगदृशस्ताः पश्यतां प्रेयसां
श्लिष्यन्ति प्रणमन्ति लान्ति परितश्चुम्बन्ति ते सैनिकाः ।
अस्माकं सुकृतैर्दृशोर्निपतितोऽस्यौचित्यवारांनिधे
विध्वस्ता विपदोऽखिलास्तदिति तैः प्रत्यर्थिभिः स्तूयसे ॥११९॥ [२ घ]

अत्र भावस्य रसाभासभावाभासौ प्रथमार्धद्वितीयार्धद्योत्यौ ।

चारों ओर बड़े ऊँचे-ऊँचे पहाड़ और विस्तीर्ण सागर दिखलायी पड़ते हैं। उन [इतने भयङ्कर] इन [भारी वस्तुओं] को [अपने ऊपर] धारण करती हुई भी [हे पृथ्वि !] तुम थकती नहीं हो, ऐसी [अद्भुत माहात्म्यमयी] तुमको [श्रद्धाभावसे मेरा] नमस्कार है। इस प्रकार आश्चर्यसे [अभिभूत हुआ] मैं जबतक बार-बार पृथिवीकी यह स्तुति कर रहा था तबतक इस [पृथिवी] को भी धारण करनेवाले तुम्हारे [राजा भोजके] भुजकी याद आ गयी [जो इनको भी भारको धारण किये हुए है] तब [पृथिवीकी स्तुतिपरक मेरी] वाणी बन्द हो गयी ॥ ११८ ॥ [२ ग]

यहाँ पृथिवीविषयक [कविनिष्ठ] रतिरूप 'भाव' [कविनिष्ठ] राजविषयक रति-रूप [दूसरे] 'भाव' का [अङ्ग है। इसलिए यह अपराङ्गव्यङ्ग्यका उदाहरण है]।

चतुर्थ उदाहरण

इस प्रकार इस तृतीय उदाहरणमें एक 'भाव' दूसरे 'भाव' का अङ्ग है यह दिखलाया था। अगला उदाहरण इस प्रकार देते हैं कि जिसमें राजविषयक रतिरूप 'भाव' प्रधान है और श्लोकके पूर्वार्द्धसे द्योत्य 'रसाभास' तथा उत्तरार्द्धसे द्योत्य 'भावाभास' उसके अङ्ग हैं।

हे राजन् ! आपके सैनिक शत्रुओंकी स्त्रियोंको बन्दी बनाकर [उनके] पतियोंके सामने [उनकी पर्वाह न करके] उनका [बलात्] आलिङ्गन करते हैं, [सैनिकोंकी इस धृष्टतापर स्त्रियोंके नाराज होनेपर उनको प्रसन्न करनेके लिए] प्रणाम करते हैं, [उनसे बचनेके लिए स्त्रियोंके इधर-उधर हटनेपर] उनको चारों ओरसे पकड़ लेते हैं, और [धृष्टतापूर्वक बलात् उनका] चुम्बन करते हैं। और तुम्हारे शत्रु इस प्रकार [कहकर] तुम्हारी स्तुति करते हैं कि हे औचित्यके वारिधि ! [उचित कार्यके करने-वाले हे राजन् !] हमारे [पूर्वजन्मके] पुण्योंसे हमें आपके दर्शन हुए हैं इसलिए [अब आपके दर्शनसे] हमारी सारी विपत्तियाँ मिट गयी हैं ॥ ११९ ॥ [२ घ]

यहाँ पूर्वार्द्ध [में सैनिकोंका अननुरक्त परस्त्रीविषयक शृङ्गाराभास] और उत्तरार्द्ध [में शत्रुनिष्ठ राजविषयक रतिरूप भावाभास] से द्योत्य रसाभास तथा भावाभास [कविनिष्ठ राजविषयक रतिरूप] भावके [अङ्ग हैं]।

अविरलकरवालकम्पनैर्भ्रुकुटीतर्जनगर्जनैर्मुहुः ।
ददृशे तव वैरिणां मदः स गतः क्वापि तवेक्षणे क्षणात् ॥१२०॥ [२ङ]

अत्र भावस्य भावप्रशमः ।

साकं कुरङ्गकदृशा मधुपानलीलां कर्तुं सुहृद्भिरपि वैरिणि ते प्रवृत्ते ।
अन्याभिधायि तव नाम विभो ! गृहीतं केनापि तत्र विषमामकरोदवस्थाम्॥१२१॥[२च]

अत्र त्रासोदयः ।

इसका अभिप्राय यह है कि श्लोकके पूर्वार्द्धमें राजाके सैनिकोंका शत्रुकी स्त्रियोंके साथ जो शृङ्गारका वर्णन है वह अनौचित्यसे प्रवर्तित होनेके कारण रसाभास है, क्योंकि अनुरक्त स्त्रीके प्रति रतिसे तो रसनिष्पत्ति हो सकती है, किन्तु अननुरक्त शत्रुकी स्त्रियोंके प्रति प्रदर्शित रतिसे यहाँ 'रसाभास' ही व्यक्त होता है, रस नहीं।

इसी प्रकार श्लोकके उत्तरार्धमें शत्रु लोग प्रकृत राजाकी स्तुति करते हुए बतलाये गये हैं। किसी शत्रुकी अपने प्रति रति या उसके द्वारा की जानेवाली स्तुतिको भी अनौचित्यसे प्रवर्तित होनेके कारण 'भावाभास' ही कहा जा सकता है।

परन्तु इस श्लोकमें 'रसाभास' तथा 'भावाभास' दोनों ही अप्रधान या अङ्गभूत हैं। अङ्गी या प्रधानभूत यहाँ कविनिष्ठ राजविषयक रति है। कवि राजाकी स्तुति कर रहा है। इसलिए कविकी राजाविषयक रति ही यहाँ मुख्य है। शेष उपरिनिर्दिष्ट रसाभास तथा भावाभास, दोनों उसके अङ्ग हैं। इसलिए यह अपराङ्गव्यङ्ग्यरूप गुणीभूतव्यङ्ग्यका उदाहरण है।

पञ्चम उदाहरण

आगे भावशान्तिके भावका अङ्ग होनेका उदाहरण देते हैं—

[हे राजन् ! तुम्हारी अनुपस्थितिमें] निरन्तर तलवार चलाने, भौंहे चढाकर डराने और बार-बार गरजनेके द्वारा तुम्हारे वैरियोंका बड़ा अभिमान दिखलायी देता था, परन्तु तुम्हें देखते ही वह [मद] पलभरमें न जाने कहाँ उड़ गया ॥१२०॥ [२ ङ]

यहाँ [वैरियोंके मदरूप] भावका प्रशम [भावशान्ति कविनिष्ठ राजविषयक रतिरूप] 'भाव'का [अङ्ग है। इसलिए यह भी अपराङ्गव्यङ्ग्यका पाँचवाँ उदाहरण है]।

षष्ठ उदाहरण

आगे भावोदयकी अङ्गताका उदाहरण देते हैं—

हे राजन् ! तुम्हारा शत्रु मित्रों सहित मृगनयनीके साथ जैसे ही मद्यपानकी लीलामें प्रवृत्त हुआ कि [श्लेषसे] अन्य अर्थका वाचक तुम्हारा नाम किसीने ले लिया जिससे वहाँ [उस मधुपानगोष्ठीमें] बड़ी विषम अवस्था हो गयी। [तुम्हारे नामको सुनकर सब लोग घबड़ा गये, इधर-उधर भागने लगे] ॥१२१॥ [२ च]

यहाँ त्रास [रूप भाव] का उदय [कविनिष्ठ राजविषयक रतिरूप 'भाव' का अङ्ग है। इसलिए यह भी अपराङ्गव्यङ्ग्यरूप गुणीभूतव्यङ्ग्यका छठा उदाहरण हुआ।

सप्तम उदाहरण

[illegible] अङ्गताका उदाहरण देते हैं। [illegible]
[illegible]
[illegible]

असोढा तत्कालोल्लसदसहभावस्य तपसः
कथानां विश्रम्भेष्वथ च रसिकः शैलदुहितुः ।
प्रमोदं वो दिश्यात्कपटवटुवेषापनयने
त्वराशैथिल्याभ्यां युगपदभियुक्तः स्मरहरः ॥ ११२ ॥ [२ छ]

अत्रावेगधैर्ययोः सन्धिः ।

पश्येत्कश्चिच्चल चपल रे का त्वराऽहं कुमारी
हस्तालम्बं वितर ह ह हा व्युत्क्रमः क्वासि यासि ।
इत्थं पृथ्वीपरिवृढ ! भवद्विद्विषोऽरण्यवृत्तेः
कन्या कञ्चित्फलकिसलयान्याददानाऽभिधत्ते ॥ १२३ ॥ [२ ज]

है कि क्यों न मैं इसके सामने अपने कपटवेषको हटाकर अपने-आपको प्रकट कर दूँ कि मैं ही तो वह शिव हूँ जिसके लिए तुम तपस्या कर रही हो। दूसरी ओर फिर अज्ञातरूपमें अपने प्रति पार्वतीकी अनुरागभरी बातें सुननेकी इच्छासे वह अपने सङ्कल्पको रोक लेते हैं। इस प्रकार शिवजीके त्वरा और शैथिल्यरूप भावोंकी सन्धि है। और यह भावसन्धि कविनिष्ठ शिवभक्तिरूप 'भाव'का अङ्ग हो गयी है इसलिए यह अपराङ्गव्यङ्ग्यका सातवाँ उदाहरण है। श्लोकका अर्थ इस प्रकार है—

[पार्वतीकी कोमल अवस्थाके] उस कालमें [पार्वती द्वारा की जानेवाली] तपकी कठोरता [असहभाव असहनीयता] को [देखकर द्रवीभूत हुए अतएव] न सह सकनेवाले [अर्थात् तुरन्त इच्छापूर्तिके लिए उद्यत] साथ ही पार्वतीकी [शिवानुरागपरक] विश्वस्तरूपसे की जानेवाली बातों [कथानां] का रस लेनेवाले [अतएव पार्वतीके तपकी दुःसहताको देखकर अपने] कपटपूर्ण ब्रह्मचारीके वेषके छोड़नेके लिए त्वरा और [उस अनुरागचर्चाके रसास्वादके कारण उस वेषके परित्याग करनेके लिए] शैथिल्यसे एक साथ ही अभियुक्त हुए [स्मरहर] शिवजी तुम्हें आनन्द प्रदान करें ॥११२॥ [२ छ]

यहाँ आवेग [त्वरा] और धैर्य [शैथिल्य] की सन्धि [कविनिष्ठ शिवविषयक रतिरूप 'भाव'का अङ्ग है। अतः यह अपराङ्गव्यङ्ग्यका सातवाँ उदाहरण है।

अष्टम उदाहरण

आगे 'भावशबलता'के भावाङ्ग होनेपर अपराङ्गव्यङ्ग्यरूप गुणीभूतव्यङ्ग्यका आठवाँ उदाहरण देते हैं। इस उदाहरणमें किसी राजाकी स्तुति करता हुआ कवि जङ्गलमें रहनेवाले उसके शत्रुकी कन्याकी अवस्थाका वर्णन कर रहा है। वह कन्या वनमें फल-फूल बीनने गयी थी। वहाँ किसी कामुकसे उसका सम्बन्ध हो गया। उस समयकी कन्याकी बातोंका वर्णन करते हुए कवि कहता है कि—

१. [कामुक पुरुष एकान्तमें उसको पकड़ना चाहता है तो कन्या उससे मना करती हुई कहती है] अरे कोई देख लेगा। [शङ्का]

२ [फिर भी कामुक पास आ जाता है तो कन्या कहती है] अरे चपल, यह क्या [इससे रागानुविद्ध असूया सूचित होती है]। [असूया]

३. [कहीं निराश होकर चला ही न जाय इसलिए कन्या कहती है] इतनी जल्दी क्या है [इतने अधीर क्यों हो रहे हो]। [धृति]

यद्यपि भावोदयभावसन्धिभावशबलत्वानि नालङ्कारतया उक्तानि, तथाऽपि कश्चिद् ब्रूयादित्येवमुक्तम् ।

यद्यपि स नास्ति कश्चिद्विषयः, यत्र ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्ययोः स्वप्रभेदादिभिः सह सङ्करः संसृष्टिर्वा नास्ति तथाऽपि 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' इति क्वचित्केनचिद् व्यवहारः ।

माना जा सकता है, क्योंकि उनमें भी परोत्कर्षरूप अलङ्कारका लक्षण पाया जाता है। इसलिए कोई व्याख्याकार यह भी कह सकते हैं कि इन तीनोंकी भी रसवदादि अलङ्कारोंमें गणना की जानी चाहिये। उनका यह कथन नितान्त निराधार नहीं कहा जा सकता है इसलिए हमने उनके भी उदाहरण यहाँ दे दिये हैं। अपने इसी भावको ग्रन्थकार अगली पङ्क्तिमें इस प्रकार व्यक्त करते हैं—

यद्यपि [मतिभट्ट या भामह आदि प्राचीन आचार्योंने] भावोदय, भावसन्धि और भावशबलत्वको [रसवदादि] अलङ्कार नहीं कहा है फिर भी [अन्य रसवदादि अलङ्कारोंके समान इनसे भी अन्यका उत्कर्ष होता है, इसलिए लक्षणकी समानता से] कोई [व्याख्याकार उनको भी समाहित अलङ्कारके अन्तर्गत रसवदाद्यलङ्कार] कह सकता है [लक्षणकी समानताके कारण यह कथन निराधार नहीं होगा] इसलिए [हमने यहाँ रसवदादि अलङ्कारोंके प्रसङ्गमें उन तीनोंको भी] कहा है।

प्राधान्येन व्यपदेश

ऊपर ध्वनि तथा गुणीभूतव्यङ्ग्यके जो भेद दिखलाये हैं उनमें अन्य भेदोंका सङ्कर [नीर-क्षीरन्यायसे मिश्रण] या संसृष्टि [तिलतण्डुलन्यायसे मिश्रण] भी प्रायः रहती है, परन्तु उन सङ्कीर्ण या संसृष्ट भेदोंमेंसे जिसकी प्रधानता होती है उसी नामसे उस भेदका निर्देश किया जाता है। जो कम चमत्कारजनक या गौण होता है उसके नामसे नहीं। इसी बातको ग्रन्थकार अगली पङ्क्तिमें कहते हैं—

यद्यपि ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलेगा जिसमें ध्वनि या गुणीभूतव्यङ्ग्यका अपने प्रभेदादिके साथ [नीरक्षीरन्यायसे मिश्रणरूप अङ्गाङ्गिभाव, एकाश्रयानुप्रवेश या सन्देहरूप त्रिविध] सङ्कर अथवा [तिलतण्डुलन्यायसे मिश्रणरूप] संसृष्टि न हो, फिर भी प्रधानताके अनुसार नामकरण किया जाता है इस [नियम] के अनुसार कहीं किसी विशेष [नाम]से व्यवहार होता है [अर्थात् दो या अधिक भेदोंके एक उदाहरणमें होनेपर भी जो प्रधान या अधिक चमत्कारजनक होता है उसके अनुसार उसका नामकरण या व्यवहार होता है]।

शब्दशक्तिमूल अलङ्कारध्वनिकी वाच्याङ्गताका उदाहरण

यहाँतकके उदाहरणोंमें एक असंलक्ष्यक्रम रसादि ध्वनि दूसरे व्यङ्ग्य भावादि ध्वनिका अङ्ग हो रहा है। अतः ये रसवदलङ्कारोंके उदाहरण थे। रसवदलङ्कारोंके विशेष महत्त्वके कारण ही उनके उदाहरण इतने विस्तारके साथ दिये गये हैं। अब आगे इसी अपराङ्गव्यङ्ग्यके दो उदाहरण ग्रन्थकार और दे रहे हैं। इनमें क्रमशः संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य अलङ्कारध्वनि तथा वस्तुध्वनि, वाच्यके अङ्ग हो रहे हैं। वस्तुध्वनि यों तो व्यङ्ग्य है, परन्तु वह वाच्यका अङ्ग बन गया है इसलिए ये दोनों अपराङ्गव्यङ्ग्यरूप गुणीभूतव्यङ्ग्यके उदाहरण हैं।

इनमें पहिले उदाहरणमें कवि किसी भिक्षुकके मुखसे रामचन्द्रजीके साथ उसके साम्यका वर्णन करा रहा है। इसमें उपमालङ्कार व्यङ्ग्य है, साथमें श्लेषालङ्कार भी है। श्लेषमुखसे भिक्षुक कहता है कि—

जनस्थाने भ्रान्तं कनकमृगतृष्णान्धितधिया
वचो वैदेहीति प्रतिपदमुदश्रु प्रलपितम् ।
कृतालङ्काभर्तुर्वदनपरिपाटीषु घटना ।
मयाऽऽप्तं रामत्वं कुशलवसुता न त्वधिगता ॥ १२४ ॥ [२ ञ]

अत्र शब्दशक्तिमूलानुरणनरूपो रामेण सहोपमानोपमेयभावो वाच्याङ्गतां नीतः ।

[रामचन्द्रजी कनकमृगकी तृष्णामें जनस्थानमें उसके पीछे घूमने फिरे थे तो उनके समान मैं भी कनक] सोनेकी मृगतृष्णामें [धनकी प्राप्तिके लिए] विवेकशून्य होकर जनस्थान [अर्थात् नगरोंमें और रामचन्द्रके पक्षमें दण्डकारण्यके स्थान-विशेष] में मारा-मारा फिरा और [धनाढ्योंके सामने धनकी याचना करते हुए] आँखोंमें आँसू भरे हुए पग-पगपर बार-बार [कुछ धन] 'दीजिये' यह [वै] निश्चयपूर्वक बकता फिरा। [रामचन्द्रजी भी सीताहरणके बाद रोते हुए और बार-बार पग-पगपर वैदेहीका नाम लेकर पुकारते फिरते थे] और [काभर्तुः] धूर्त धनिकोंके मुखकी भावभङ्गियों [वदनपरिपाटीषु, इशारों] पर [उनके इच्छानुसार घटना अलं अत्यर्थं] सारा व्यवहार किया। [रामचन्द्रजीने भी लङ्काभर्त्तुः रावणकी वदनपरिपाटी दश-मुखोंकी पंक्तिपर इषुघटना बाणोंका प्रयोग किया था। इस प्रकार रामके समान सारे कार्य करके] मैंने रामत्व [रामसदृशत्व] को तो प्राप्त कर लिया, परन्तु कुशल-वसुता [कुशलं प्रचुरं वसु धनं यस्य तस्य भावः कुशल-वसुता] बड़ा धनिकत्व [रामचन्द्रके पक्षमें कुशलवौ सुतौ यस्याः सा कुशलव-सुता जानकी] को प्राप्त नहीं कर सका ॥१२४॥ [२ ञ]

यहाँ रामके साथ [भिक्षुकका] उपमानोपमेयभाव शब्दशक्तिमूल संलक्ष्यक्रम-व्यङ्ग्य है [उसको 'मयाप्तं रामत्वं' कहकर] वाच्यार्थका अङ्ग बना दिया गया है [इस-लिए यह वाच्यसिद्ध्यङ्गव्यङ्ग्यरूप गुणीभूतव्यङ्ग्यका उदाहरण बन गया है]।

इस श्लोकमें भिक्षुकका रामचन्द्रके साथ उपमानोपमेयभाव शब्दशक्तिके द्वारा व्यङ्ग्यरूपसे स्वयं ही प्रतीत हो रहा है। परन्तु कविने अन्तिम चरणमें 'मयाप्त रामत्व' कहकर उस व्यङ्ग्य उपमानोपमेयभावको वाच्य 'मयाप्त रामत्व' अङ्ग बना दिया है। इसलिए यह श्लोक गुणीभूत-व्यङ्ग्यका उदाहरण बन गया है अन्यथा यह उत्तम ध्वनिकाव्य होता।

क्षेमेन्द्रकृत 'कविकण्ठाभरण'में यह पद्य भट्ट वाचस्पतिके पद्यके रूपमें उद्धृत हुआ है। यद्यपि यह पद्य हनुमत्कविके बनाये 'हनुमन्नाटक'के दशम अङ्कमें भी पाया जाता है, परन्तु इससे इस पद्यको भट्ट वाचस्पतिका पद्य माननेमें कोई बाधा नहीं होती है, क्योंकि 'हनुमन्नाटक'के लेखकने अपने नाटकमें अन्य कवियोंके पद्य भी अनेक स्थानोंपर दे दिये हैं। उदाहरणके लिए, कालिदासके 'अभिज्ञानशाकुन्तल'के प्रथमाङ्कका 'ग्रीवाभङ्गाभिरामं', राजशेखरकृत 'बालरामायण'के षष्ठ अङ्कका 'सद्यः पुरीपरिसरेऽपि' तथा मुरारिकविके 'अनर्घराघव'के तृतीयाङ्कका 'समन्तादुत्ताल. मुरमहत्तरी' इत्यादि पद्य भी 'हनुमन्नाटक'में हैं।

अर्थशक्तिमूल वस्तुध्वनिकी वाच्याङ्गताका उदाहरण

ऊपर शब्दशक्तिमूल संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य अलङ्कारध्वनिकी वाच्याङ्गताका उदाहरण दिया था, अब अर्थशक्तिमूल संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य वस्तुध्वनिकी वाच्याङ्गताका उदाहरण आगे देते हैं—

आगत्य सम्प्रति वियोगविसंष्ठुलाङ्गी-
मम्भोजिनीं क्वचिदपि क्षपितत्रियामः ।
एतां प्रसादयति पश्य शनैः प्रभाते
तन्वङ्गि ! पादपतनेन सहस्ररश्मिः ॥१२५॥ [२ ञ]

अत्र नायकवृत्तान्तोऽर्थशक्तिमूलो वस्तुरूपो निरपेक्षरविकमलिनीवृत्तान्ताध्यारोपेणैव स्थितः ।

हे तन्वङ्गि ! कहीं और [सूर्यपक्षमें द्वीपान्तरमें और नायकपक्षमें दूसरी प्रेयसीके घर] रात बिताकर आनेवाला यह सहस्ररश्मि [सूर्य] अब सवेरेके समय आकर वियोगसे संकुचित देहवाली इस कमलिनीको पादपतन [सूर्यपक्षमें किरणोंके संस्पर्श और नायकपक्षमें प्रणाम] के द्वारा प्रसन्न [सूर्यपक्षमें विकसित और नायकपक्षमें चाटुकारिता द्वारा प्रसन्न] कर रहा है ॥ १२५ ॥ [२ ञ]

यहाँ अर्थशक्तिमूल वस्तुध्वनिरूप नायकव्यवहार [वाच्यभूत] निरपेक्ष रवि तथा कमलिनीके व्यवहारपर अध्यारोप द्वारा ही स्थित होता है।

इसका अभिप्राय यह है कि यहाँ रवि-कमलिनीका व्यवहार तो वाच्यभूत है और नायक-नायिकाका व्यवहार व्यङ्ग्य है। वह वाच्यभूत रवि कमलिनी व्यवहारपर आरोपित होकर ही स्थित होता है, उसके बिना नहीं बन सकता है। अतः यह वस्तुभूतव्यङ्ग्य अर्थ वाच्यका अङ्ग होता है। इसलिए यह भी गुणीभूतव्यङ्ग्यका उदाहरण है।

वाच्याङ्ग और वाच्यसिद्ध्यङ्गव्यङ्ग्यका भेद

यहाँतक ग्रन्थकारने गुणीभूतव्यङ्ग्यके 'अपराङ्गव्यङ्ग्य' नामक द्वितीय भेदके दस उदाहरण दिये हैं। इनमेंसे अन्तिम दो उदाहरणोंमें क्रमशः अलङ्कारध्वनि तथा वस्तुध्वनि वाच्यके अङ्ग हो रहे हैं, यह बात दिखलायी है। इसलिए इन दोनोंको वाच्याङ्गव्यङ्ग्यका उदाहरण माना है। अभी 'वाच्यसिद्ध्यङ्गव्यङ्ग्य' नामसे गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्यका जो तीसरा भेद माना गया है उसके दो उदाहरण आगे देंगे। यहाँ शङ्का होती है कि 'वाच्याङ्गव्यङ्ग्य' और 'वाच्यसिद्ध्यङ्गव्यङ्ग्य' में क्या अन्तर है? ग्रन्थकारने इसे स्पष्ट नहीं किया है और न उनके टीकाकारोंने इस ओर ध्यान दिया है। परन्तु इस अन्तरको दिखलाना आवश्यक है, उसके बिना पाठककी जिज्ञासा शान्त नहीं होती है।

यह अन्तर वस्तुतः वाच्यार्थकी निरपेक्षता और सापेक्षताके ऊपर निर्भर है। यदि वाच्यार्थको अन्य किसीकी अपेक्षा न होनेपर भी व्यङ्ग्यार्थ उसका अङ्ग बन जाता है तो वह निरपेक्ष वाच्यका अङ्ग होनेसे केवल 'वाच्याङ्गव्यङ्ग्य' कहलायेगा। यदि वाच्य सापेक्ष है, उसे अपनी सिद्धिके लिए दूसरे अर्थकी अपेक्षा है तो जो व्यङ्ग्य अर्थ सापेक्ष वाच्यार्थकी आवश्यकताकी पूर्तिके लिए उसका अङ्ग बनता है, वह वाच्यसिद्धिका अङ्ग होनेसे 'वाच्यसिद्ध्यङ्गव्यङ्ग्य' कहलाता है। यह बात काव्यप्रकाशकारने इस १२५ वें श्लोककी वृत्तिमें प्रयुक्त 'निरपेक्ष' पदसे सूचित की है। इस श्लोकमें सूर्य तथा कमलिनीके वृत्तान्तका वर्णन है। वह वाच्यार्थ है। उसके साथ नायक-नायिकाव्यवहारकी प्रतीति भी व्यङ्ग्यरूपसे हो रही है। परन्तु उसके आधारपर नायक-नायिका यहाँ नहीं हैं इसलिए वह प्रतीति व्यङ्ग्य होनेपर भी मुख्य नहीं है। इधर रवि कमलिनीव्यवहार वाच्यरूप और पूर्ण है, उसे किसी अन्यकी आवश्यकता नहीं है। फिर भी व्यङ्ग्य नायक-नायिकाव्यवहारसे उस वाच्यार्थमें चमत्कारकी वृद्धि हो जाती है, इसलिए यह वाच्याङ्गताका उदाहरण है।

अत्र परिचुम्बितुमैच्छदिति किं प्रतीयमानं किं वा विलोचनव्यापारणं वाच्यं प्रधानमिति सन्देहः ।

तुल्यप्राधान्यं यथा—

ब्राह्मणातिक्रमत्यागो भवतामेव भूतये
जामदग्न्यस्तथा मित्रमन्यथा दुर्मनायते ॥ १३० ॥ [६]

अत्र जामदग्न्यः सर्वेषां क्षत्रियाणामिव रक्षसां क्षणात्क्षयं करिष्यतीति व्यङ्ग्यस्य वाच्यस्य च समं प्राधान्यम् ।

काक्वाक्षिप्तं यथा—

मथ्नामि कौरवशतं समरे न कोपाद्
दुःशासनस्य रुधिरं न पिबाम्युरस्तः ।
सञ्चूर्णयामि गदया न सुयोधनोरू
सन्धिं करोतु भवतां नृपतिः पणेन ॥१३१॥ [७]

अत्र मथ्नाम्येवेत्यादि व्यङ्ग्यं वाच्यनिषेधसहभावेन स्थितम् ।

यहाँ [शिवजी पार्वतीके मुखका] चुम्बन करना चाहते थे यह व्यङ्ग्य [प्रधान है] अथवा वाच्यरूप नेत्रोंका व्यापार [अर्थात् देखना प्रधान है] यह सन्देहास्पद है। [इसलिए यह सन्दिग्धप्राधान्य-व्यङ्ग्यका उदाहरण है]

६. तुल्यप्राधान्य गुणीभूतव्यङ्ग्यका उदाहरण

तुल्यप्राधान्य [रूप गुणीभूतव्यङ्ग्यका उदाहरण] जैसे—

ब्राह्मणके अपमान [करनेके स्वभाव अथवा क्रिया]का परित्याग करना आपके ही लिए कल्याणकारक है। क्योंकि ऐसा करनेसे [जामदग्न्य] परशुराम तुम्हारे मित्र बने रहेंगे अन्यथा [वह परशुराम तुमसे] नाराज हो जायँगे ॥१३०॥ [६]

'महावीरचरित' नाटकके द्वितीयाङ्कमें रावणको लक्ष्यमें रखकर रावणके मन्त्री माल्यवानके पास परशुरामने जो सन्देश भेजा है उसमें यह श्लोक दिया गया है।

यहाँ [नाराज हो जानेपर] परशुराम [ने जैसे सारे क्षत्रियोंका नाश कर दिया था। उसी प्रकार] सारे क्षत्रियोंके समान राक्षसोंका भी क्षणभरमें नाश कर देगा, इस व्यङ्ग्यका और वाच्य [नाराज हो जायँगे] का समान ही प्राधान्य है। [इसलिए यह तुल्यप्राधान्य गुणीभूतव्यङ्ग्यका उदाहरण है।

७. काक्वाक्षिप्त व्यङ्ग्यका उदाहरण

काकुसे आक्षिप्त [गुणीभूतव्यङ्ग्यका उदाहरण] जैसे—

यदि आपका [अर्थात् मेरा नहीं] राजा किसी शर्तपर [कौरवोंके साथ] सन्धि कर ले तो क्या मैं क्रोधसे युद्धभूमिमें समस्त कौरवोंका नाश नहीं करूँगा? [अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार] दुःशासनकी छातीसे [उसका] रक्तपान न करूँगा? और [अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार] गदासे दुर्योधनकी जाँघें नहीं तोड़ूँगा? [अर्थात् युधिष्ठिर भले ही सन्धि कर लें, पर मैं तो कौरवोंका नाश अवश्य करूँगा] ॥१३१॥ [७]

यहाँ 'अवश्य नाश करूँगा' यह व्यङ्ग्य काकुसे आक्षिप्त होनेके कारण वाच्य-निषेध [न मथ्नामि] के साथ-साथ ही प्रतीत [स्थित] होता है।

असुन्दरं यथा—

वाणीरकुडंगुड्डीणसउणिकोलाहलं सुणन्तीए ।
घरकम्मवावडाए वहुए सीअन्ति अंगाइं ॥ १३२ ॥
[वानीरकुञ्जोड्डीन-शकुनिकोलाहलं शृण्वन्त्याः ।
गृहकर्मव्यापृताया वध्वाः सीदन्त्यङ्गानि ॥ इति संस्कृतम्] [८]

अत्र दत्तसङ्केतः कश्चिल्लतागहनं प्रविष्ट इति व्यङ्ग्यात् सीदन्त्यङ्गानीति वाच्यं सचमत्कारम् ।

[सू० ६७] एषां भेदा यथायोगं वेदितव्याश्च पूर्ववत् ॥ ४६ ॥

---

८. असुन्दर व्यङ्ग्यका उदाहरण

[गुणीभूतव्यङ्ग्यके आठवें भेद] असुन्दर व्यङ्ग्य [का उदाहरण] जैसे—

बेत [वानीरकी लताओं] के कुञ्जमें उड़ते हुए पक्षियोंके कोलाहलको सुनकर घरके काममें लगी हुई वधूके अङ्ग शिथिल हो रहे हैं ॥१३२॥ [८]

यहाँ [जिसके साथ कुञ्जमें मिलनेका समय निश्चित किया था उस प्रकारका] 'दत्तसङ्केत कोई [अर्थात् प्रेमी पुरुष नियत समयपर] लतागृहमें प्रविष्ट हो गया' इस व्यङ्ग्यसे 'वधूके अङ्ग शिथिल हो रहे हैं' यह वाच्य अधिक चमत्कारजनक है। [अतः यह गुणीभूतव्यङ्ग्यके असुन्दर व्यङ्ग्य नामक आठवें भेद का उदाहरण है]।

गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्यके भेदोंका विस्तार

इस प्रकार गुणीभूतव्यङ्ग्यके आठ भेद बतलाये गये हैं। ऊपर 'ध्वनिकाव्यके ५१ भेद दिखलाये गये हैं। ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्यका भेद वस्तुतः व्यङ्ग्यकी प्रधानता और अप्रधानताके कारण ही होता है अर्थात् जहाँ व्यङ्ग्य अर्थका प्राधान्य होता है वहाँ 'ध्वनिकाव्य' अर्थात् उत्तमकाव्य और जहाँ उसका अप्राधान्य होता है वहाँ 'गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य' या मध्यमकाव्य [illegible] है। इसलिए जैसे व्यङ्ग्यके प्रधान होनेपर ध्वनिकाव्यरूप उत्तमकाव्यके ५१ भेद [illegible] थे उसी प्रकार गुणीभूतव्यङ्ग्यरूप मध्यमकाव्यके भी वे ५१ भेद होने चाहिये। [illegible] अलङ्कार व्यङ्ग्य होता है, वहाँ वस्तुकी अपेक्षा अलङ्कारका सदा प्राधान्य होनेसे [illegible] गुणीभूत व्यङ्ग्य नहीं माना जाता है। उसको सदा ध्वनिकाव्य ही माना जाता है। [illegible] करनेके लिए ग्रन्थकारने 'ध्वन्यालोक'की कारिका आगे उद्धृत की है। [illegible] पहिले १. स्वतःसम्भवी, २. कविप्रौढोक्तिसिद्ध तथा [illegible] [illegible] किये थे। फिर उनके पदगत, वाक्यगत प्रबन्धगत तीन भेद [illegible] ३ × ३ = ९ भेद, ध्वनिकाव्यके ५१ शुद्ध भेदोंमेंसे कम कर देनेसे गुणीभूत [illegible] ४२ भेद रह जाते हैं।

इसी बातको ग्रन्थकारने इस प्रकार कहा है—

[सू० ६७] इनके [अर्थात् गुणीभूतव्यङ्ग्यके मुख्य भेदोंके] अवान्तर भेद यथासम्भव पहिले [कहे हुए ध्वनिभेदों] के समान समझ लेने चाहिये ॥४६॥

'यथायोग' का आशय यह है कि गुणीभूत [illegible] जो भेद [illegible] हैं उनको तो ध्वनिभेदोंके समान बना लेना चाहिए और जिन भेदों [illegible] हैं उनको छोड़ देना चाहिए। ध्वनिके प्रकरण [illegible]

अत्र परिचुम्बितुमैच्छदिति किं प्रतीयमानं किं वा विलोचनव्यापारणं वाच्यं प्रधानमिति सन्देहः ।

तुल्यप्राधान्यं यथा—

ब्राह्मणातिक्रमत्यागो भवतामेव भूतये
जामदग्न्यस्तथा मित्रमन्यथा दुर्मनायते ॥ १३० ॥ [६]

अत्र जामदग्न्यः सर्वेषां क्षत्रियाणामिव रक्षसां क्षणात्क्षयं करिष्यतीति व्यङ्ग्यस्य वाच्यस्य च समं प्राधान्यम् ।

काकाक्षिप्तं यथा—

मथ्नामि कौरवशतं समरे न कोपाद्
दुःशासनस्य रुधिरं न पिबाम्युरस्तः ।
सञ्चूर्णयामि गदया न सुयोधनोरू
सन्धिं करोतु भवतां नृपतिः पणेन ॥१३१॥ [७]

अत्र मथ्नाम्येवेत्यादि व्यङ्ग्यं वाच्यनिषेधसहभावेन स्थितम् ।

यहाँ [शिवजी पार्वतीके मुखका] चुम्बन करना चाहते थे यह व्यङ्ग्य [प्रधान है] अथवा वाच्यरूप नेत्रोंका व्यापार [अर्थात् देखना प्रधान है] यह सन्देहास्पद है। [इसलिए यह सन्दिग्धप्राधान्य-व्यङ्ग्यका उदाहरण है]

६. तुल्यप्राधान्य गुणीभूतव्यङ्ग्यका उदाहरण

तुल्यप्राधान्य [रूप गुणीभूतव्यङ्ग्यका उदाहरण] जैसे—

ब्राह्मणके अपमान [करनेके स्वभाव अथवा क्रिया]का परित्याग करना आपके ही लिए कल्याणकारक है। क्योंकि ऐसा करनेसे [जामदग्न्य] परशुराम तुम्हारे मित्र बने रहेंगे अन्यथा [वह परशुराम तुमसे] नाराज हो जायँगे ॥१३०॥ [६]

'महावीरचरित' नाटकके द्वितीयाङ्कमें रावणको लक्ष्यमें रखकर रावणके मन्त्री माल्यवान्के पास परशुरामने जो सन्देश भेजा है उसमें यह श्लोक दिया गया है।

यहाँ [नाराज हो जानेपर] परशुराम [ने जैसे सारे क्षत्रियोंका नाश कर दिया था। उसी प्रकार] सारे क्षत्रियोंके समान राक्षसोंका भी क्षणभरमें नाश कर देगा, इस व्यङ्ग्यका और वाच्य [नाराज हो जायँगे] का समान ही प्राधान्य है। [इसलिए यह तुल्यप्राधान्य गुणीभूतव्यङ्ग्यका उदाहरण है।

७. काकाक्षिप्त व्यङ्ग्यका उदाहरण

काकुसे आक्षिप्त [गुणीभूतव्यङ्ग्यका उदाहरण] जैसे—

यदि आपका [अर्थात् मेरा नहीं] राजा किसी शर्तपर [कौरवोंके साथ] सन्धि कर ले तो क्या मैं क्रोधसे युद्धभूमिमें समस्त कौरवोंका नाश नहीं करूँगा? [अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार] दुःशासनकी छातीसे [उसका] रक्तपान न करूँगा? और [अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार] गदासे दुर्योधनकी जाँघें नहीं तोड़ूँगा? [अर्थात् युधिष्ठिर भले ही सन्धि कर लें, पर मैं तो कौरवोंका नाश अवश्य करूँगा] ॥१३१॥ [७]

यहाँ 'अवश्य नाश करूँगा' यह व्यङ्ग्य काकुसे आक्षिप्त होनेके कारण वाच्य-निषेध [न मथ्नामि] के साथ-साथ ही प्रतीत [स्थित] होता है।

अमुन्दरं यथा—

वाणीरकुडंगुड्डीणसउणिकोलाहलं सुणन्तीए ।
घरकम्मवावडाए वहूए सीअन्ति अंगाइं ॥ १३२ ॥
[वानीरकुञ्जोड्डीनशकुनिकोलाहलं शृण्वन्त्याः ।
गृहकर्मव्यापृताया वध्वाः सीदन्त्यङ्गानि ॥ इति संस्कृतम्] [८]

अत्र दत्तसङ्केतः कश्चिल्लतागहनं प्रविष्ट इति व्यङ्ग्यात् सीदन्त्यङ्गानीति वाच्यं सचमत्कारम् ।

[सू० ६७] एषां भेदा यथायोगं वेदितव्याश्च पूर्ववत् ॥ ४६ ॥

८. असुन्दर व्यङ्ग्यका उदाहरण

[गुणीभूतव्यङ्ग्यके आठवें भेद] असुन्दर व्यङ्ग्य [का उदाहरण] जैसे—

बेंत [वानीरकी लताओं] के कुञ्जमें उड़ते हुए पक्षियोंके कोलाहलको सुनकर घरके काममें लगी हुई वधूके अङ्ग शिथिल हो रहे हैं ॥१३२॥ [८]

यहाँ [जिसके साथ कुञ्जमें मिलनेका समय निश्चित किया था इस प्रकारका] 'दत्तसङ्केत कोई [अर्थात् प्रेमी पुरुष नियत समयपर] लतागृहमें प्रविष्ट हो गया' इस व्यङ्ग्यसे 'वधूके अङ्ग शिथिल हो रहे हैं' यह वाच्य अधिक चमत्कारजनक है। [अतः यह गुणीभूतव्यङ्ग्यके असुन्दर व्यङ्ग्य नामक आठवें भेद का उदाहरण है]।

गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्यके भेदोंका विस्तार

इस प्रकार गुणीभूतव्यङ्ग्यके आठ भेद बतलाये गये हैं। ऊपर ध्वनिकाव्यके ५१ भेद दिखलाये गये थे। ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्यका भेद वस्तुतः व्यङ्ग्यकी प्रधानता और अप्रधानताके कारण ही होता है अर्थात् जहाँ व्यङ्ग्य अर्थका प्राधान्य होता है वहाँ 'ध्वनिकाव्य' अर्थात् उत्तमकाव्य, और जहाँ उसका अप्राधान्य होता है वहाँ 'गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य' या मध्यमकाव्य कहा जाता है। इसलिए जैसे व्यङ्ग्यके प्रधान होनेपर ध्वनिकाव्यरूप उत्तमकाव्यके ५१ भेद दिखलाये गये थे उसी प्रकार गुणीभूतव्यङ्ग्यरूप मध्यमकाव्यके भी वे ५१ भेद होने चाहिये। परन्तु जहाँ वस्तुसे अलङ्कार व्यङ्ग्य होता है, वहाँ वस्तुकी अपेक्षा अलङ्कारका सदा प्राधान्य होनेके कारण उसको गुणीभूत व्यङ्ग्य नहीं माना जाता है। उसको सदा ध्वनिकाव्य ही माना जाता है। इस बातका समर्थन करनेके लिए ग्रन्थकारने 'ध्वन्यालोक'की कारिका आगे उद्धृत की है। वस्तुसे अलङ्कार व्यङ्ग्यके पहिले १. स्वतःसम्भवी, २. कविप्रौढोक्तिसिद्ध तथा ३. कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध तीन भेद किये थे। फिर उनके पदगत, वाक्यगत प्रबन्धगत तीन भेद होकर वस्तुसे अलङ्कार व्यङ्ग्यके ३ × ३ = ९ भेद, ध्वनिकाव्यके ५१ शुद्ध भेदोंमेंसे कम कर देनेसे गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्यके ५१–९ = ४२ भेद रह जाते हैं।

इसी बातको ग्रन्थकारने इस प्रकार कहा है—

[सू० ६७] इनके [अर्थात् गुणीभूतव्यङ्ग्यके मुख्य भेदोंके] अवान्तर भेद यथासम्भव पहिले [कहे हुए ध्वनिभेदों] के समान समझ लेने चाहिये ॥४६॥

'यथायोग' का आशय यह है कि गुणीभूतव्यङ्ग्यमें जिन भेदोंके बननेमें कोई कठिनाई नहीं है उनको तो ध्वनिभेदोंके समान बना लेना चाहिये और जिन भेदोंके बननेमें बाधा उपस्थित होती है उनको छोड़ देना चाहिये। ध्वनिके प्रकरणमें ध्वनिके मुख्य ५१ भेद किये थे। उसी शैलीसे

यथायोगमिति—

'व्यज्यन्ते वस्तुमात्रेण यदालङ्कृतयस्तदा ।
ध्रुवं ध्वन्यङ्गता तासां काव्यवृत्तेस्तदाश्रयात् ॥'

इति ध्वनिकारोक्तदिशा वस्तुमात्रेण यत्रालङ्कारो व्यज्यते न तत्र गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वम् ।

यदि गुणीभूतव्यङ्ग्यके भी भेद किये जायँ, तो उसके आठ भेदोंमेंसे प्रत्येक भेदके इसी प्रकार ५१ भेद बनने चाहिये। परन्तु आगे 'ध्वन्यालोक'का श्लोक उद्धृत कर ग्रन्थकारने यह दिखलाया है कि उनमें ९ भेद गुणीभूतव्यङ्ग्यमें सम्भव नहीं हैं। इसलिए गुणीभूतव्यङ्ग्यके प्रत्येक भेदके ५१-९ = ४२ अवान्तर भेद होते हैं और आठों भेदोंके सब अवान्तर भेदोंको मिलाकर ४२×८ = ३३६ भेद हो जाते हैं। इसी बातको आगे लिखते हैं—

'यथायोग' [इसका अभिप्राय यह है कि]—

जब वस्तुमात्रसे अलङ्कारोंकी अभिव्यक्ति होती है, तब उन [अलङ्कारों] की निश्चितरूपसे [ध्वन्यङ्गता] ध्वनिव्यवहारप्रयोजकता ही होती है, क्योंकि [काव्यलक्षणमें अलङ्कारका समावेश होनेके कारण वस्तुसे अलङ्कारव्यङ्ग्यत्ववाले उदाहरणोंमें] काव्य [पद] का व्यवहार उस [अलङ्कार] के आश्रित होता है। अर्थात् वस्तुसे अलङ्कार व्यङ्ग्य होनेपर गुणीभूतव्यङ्ग्य नहीं, ध्वनिकाव्य ही माना जाता है।]

[तदनुसार] ध्वनिकार [श्री आनन्दवर्धनाचार्य] द्वारा प्रतिपादित इस शैलीसे जहाँ वस्तुमात्रसे अलङ्कार व्यङ्ग्य होता है वहाँ गुणीभूतव्यङ्ग्यत्व नहीं होता है।

ध्वनिकाव्यके ५१ भेद

चतुर्थ उल्लासमें ध्वनिकाव्यके ५१ भेद इस प्रकार किये गये थे—लक्षणामूलध्वनिके दो भेद [अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य तथा अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य], अभिधामूलध्वनिके १६ भेद [१. असलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य], सलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यके (क) शब्दशक्त्युत्थ, (ख) अर्थशक्त्युत्थ, (ग) उभयशक्त्युत्थ तीन मुख्य भेदोंमेंसे शब्दशक्त्युत्थ ध्वनिके वस्तुध्वनि तथा अलङ्कारध्वनिरूप दो भेद + अर्थशक्त्युत्थ ध्वनिके १२ भेद + उभयशक्त्युत्थका एक भेद। अर्थात् असंलक्ष्यक्रमका १ + सलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यके १५ = १६ + अभिधामूल + लक्षणामूल = १८ ध्वनिके भेद हुए। ये सब भेद पदगत तथा वाक्यगत भेदसे दो-दो प्रकारके हो जाते हैं। इस प्रकार १८ × २ = ३६ भेद बने। इनमें अर्थशक्त्युत्थ ध्वनिके जो बारह भेद हैं वे प्रबन्धगत भी होते हैं, उनको जोड देनेसे ३६ + १२ = ४८ भेद हुए। इनमें असलक्ष्यक्रमका जो एक भेद दिखलाया है वह पदगत, पदांशगत, वाक्यगत और अर्थगत चार प्रकारका हो सकता है। उनमेंसे एककी गणना ऊपरके ४८ भेदोंमें आ चुकी है। इसलिए तीन भेद इसमें और जोडनेपर ४८ + ३ = ५१ ध्वनिभेद हो जाते हैं।

इनमें अर्थशक्त्युत्थके जो १२ भेद दिखलाये थे वे निम्नलिखित प्रकार दिये गये थे—

स्वतःसम्भवी	कविप्रौढोक्तिसिद्ध	कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध
१ वस्तुसे वस्तु व्यङ्ग्य	५ वस्तुसे वस्तु	९ वस्तुसे वस्तु
२ वस्तुसे अलङ्कार व्यङ्ग्य	६ वस्तुसे अलङ्कार	१० वस्तुसे अलङ्कार
३ अलङ्कारसे वस्तु व्यङ्ग्य	७ अलङ्कारसे वस्तु	११ अलङ्कारसे वस्तु
४ अलङ्कारसे अलङ्कार व्यङ्ग्य	८ अलङ्कारसे अलङ्कार	१२ अलङ्कारसे अलङ्कार

गुणीभूतव्यङ्ग्यके ४२ भेद

सामान्यतः ये ५१ भेद गुणीभूतव्यङ्ग्यके भी होने चाहिये। किन्तु, जैसा कि 'ध्वन्यालोक'के आधारपर अभी ग्रन्थकारने लिखा है, वस्तुसे अलङ्कार व्यङ्ग्य होनेपर गुणीभूतव्यङ्ग्य नहीं होता। इसीलिए स्वतःसम्भवी, कविप्रौढोक्तिसिद्ध और कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तुसे अलङ्कारव्यङ्ग्यके इन तीन भेदोंके पदगत, वाक्यगत तथा प्रबन्धगत रूपसे प्रत्येकके तीन भेद होकर कुल ३ × ३ = ९ भेद हो जाते हैं। ध्वनिकाव्यके ५१ भेदोंमेंसे यदि इन नौ भेदोंको कम कर दिया जाय तो बचे हुए ५१−९ = ४२ भेद गुणीभूतव्यङ्ग्यके आठ अवान्तर भेदोंमेंसे प्रत्येक भेदके और आठोंको मिलाकर ४२ × ८ = ३३६ गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्यके शुद्ध भेद हो सकते हैं। इनकी संसृष्टि, सङ्कर आदिसे उनका और भी विस्तार हो जाता है, जिसे हम संक्षेपमें आगे दिखलावेंगे।

संसृष्टि और सङ्कर

आगे उद्धृत की जानेवाली 'ध्वन्यालोक'की कारिकाके आधारपर ध्वनि तथा गुणीभूतव्यङ्ग्य तथा वाच्य अलङ्कारोंकी संसृष्टि तथा सङ्करकृत भेदोंके प्राचुर्यके दिखलानेके लिए ग्रन्थकारने अगली कारिका लिखी है। परन्तु यह कारिका कुछ अस्पष्ट और कठिन भी हो गयी है। इसलिए इसको समझने तथा समझाने दोनोंके लिए विशेष प्रयत्नकी आवश्यकता है।

सबसे अधिक किल्ष्टता कारिकाके 'सालङ्कारैः' पदके कारण है। टीकाकारोंके अनुसार 'सालङ्कारैः' यह पद यहाँ वाच्यालङ्कारों तथा गुणीभूतव्यङ्ग्य दोनोंका ग्राहक है। गुणीभूतव्यङ्ग्य वाक्यमें जो प्रधानभूत अर्थ होता है उसका उत्कर्षाधायक होता ही है, इसलिए [illegible] जनक होनेसे उसको भी 'अलङ्कार' कहा जा सकता है और उपमा आदि वाच्य अलङ्कारोंके लिए तो अलङ्कार पदका प्रयोग होता ही है। इसलिए, कारिकामें आये हुए 'सालङ्कारैः' पदमें [illegible] वाच्यालङ्कार तथा गुणीभूतव्यङ्ग्य इन दोनों अर्थोंका ग्रहण यहाँ अभिप्रेत है। इस प्रकार 'सालङ्कारैः' पदके ये दो भिन्न अर्थ हैं।

'प्रत्यर्थं शब्दा भिद्यन्ते' इस नियमके अनुसार दोनों अर्थोंके लिए [illegible] दो बार [illegible] पदका प्रयोग होना चाहिये और हुआ भी है। परन्तु 'सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ' इस सूत्र [illegible] उनमेंसे एकका लोप होकर एक ही 'सालङ्कार' पद शेष रह गया है। [illegible] गुणीभूतव्यङ्ग्यके लिए 'सालङ्कारैः' शब्दका प्रयोग माननेपर [illegible] मानकर 'अलङ्कार'का अर्थ 'अलङ्कारत्व' या 'अलङ्कृति' या 'शोभा' होगा। [illegible] व्यङ्ग्य अर्थ स्वयं गुणीभूत होनेपर भी प्रधान अर्थका शोभाजनक होता है। [illegible] भेदोंको स्वयं 'अलङ्कृतियुक्त' या 'सालङ्कार' कहा जा सकता है। [illegible] ते.'का अर्थ 'तैरेव अलङ्कारैः' अर्थात् 'शोभाजनकै गुणीभूतव्यङ्ग्यभेदैः' [illegible]

दूसरे पक्षमें 'सालङ्कारैः' पदका अर्थ 'अलङ्कारसहितैः' [illegible] गुणीभूतव्यङ्ग्यभेदैः' [illegible] हो जाता है। इसी बातको [illegible] इन पदोंसे ग्रन्थकारने निर्दिष्ट किया है। [illegible] अर्थात् [illegible] तथा सङ्कर [illegible] इस प्रकार यहाँ तीन [illegible] [illegible] हो जाती है। इसी बातको [illegible]

[सू० ६८] सालङ्कारैर्ध्वनेस्तैश्च योगः संसृष्टिसङ्करैः ।

सालङ्कारैरिति तैरेवालङ्कारैः अलङ्कारयुक्तैश्च तैः । तदुक्तं ध्वनिकृता—

स गुणीभूतव्यङ्ग्यैः सालङ्कारैः सह प्रभेदैः स्वैः ।
सङ्करसंसृष्टिभ्यां पुनरप्युद्योतते बहुधा ॥ इति ॥

[सू० ६९] अन्योन्ययोगादेवं स्याद्भेदसंख्यातिभूयसी ॥ ४७ ॥

एवमनेन प्रकारेण अवान्तरभेदगणनेऽतिप्रभूततरा गणना । तथा हि—शृङ्गारस्यैव भेदप्रभेदगणनायामानन्त्यम्, का गणना तु सर्वेषाम् ।

[सू० ६८]—[काव्यशोभाजनक] १. अलङ्कृतिरूप उन्हीं [गुणीभूतव्यङ्ग्यके भेदों] और २. [उपमादि वाच्य अलङ्कारोंके साथ ३. ध्वनिके भेदोंकी संसृष्टि [अर्थात् तिलतण्डुलन्यायसे निरपेक्ष मिश्रण] और सङ्कर [अर्थात् क्षीरनीरन्यायसे सापेक्ष मिश्रण] रूपसे योग होता है ।

'सालङ्कारैः' इस [पद] से [एकशेष द्वारा दो अर्थ बोधित होते हैं—] १. अलङ्कृति [शोभायुक्त रूप उन [गुणीभूतव्यङ्ग्य भेदों], उन्हींके साथ २. [उपमादि रूप वाच्य] अलङ्कारोंके सहित [३. ध्वनिके भेदोंकी संसृष्टि तथा सङ्कर रूपसे योग होता है] जैसा कि ध्वनिकार [आनन्दवर्धनाचार्य) ने कहा है—

वह [ध्वनि उपमादि वाच्य] १. अलङ्कारों सहित, [अलङ्कृत अर्थात् शोभायुक्त] २. गुणीभूतव्यङ्ग्यके [भेदोंके] साथ और ३. अपने [ध्वनिके] अवान्तर भेदोंके साथ [अर्थात् १. ध्वनिभेद, २. गुणीभूतव्यङ्ग्यके भेद और ३. वाच्यालङ्कार इन तीनोंके साथ] सङ्कर तथा संसृष्टि द्वारा भी अनेक प्रकार [के भेदों] से [विशिष्ट होकर] [illegible] होता है । यह [ध्वनिकारने कहा है] ।

[सू० ६९]—इस प्रकार एक दूसरेके मिश्रणसे भेदोंकी संख्या बहुत अधिक हो जाती है ।

सङ्कर संसृष्टि आदि सहित गणना

इस प्रकारसे अवान्तर भेदोंकी गणना करनेसे [ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्यके] [illegible] अधिक बढ़ जाती है । [illegible] गणनाकी तो बात ही क्या ।

[illegible] भेदोंका विस्तार

[illegible]

सुधासागरकारका मत

गुणीभूतव्यङ्ग्यके प्रत्येक अवान्तर भेदके शुद्ध भेद हमने ५१—९ = ४२ बतलाये है। परन्तु सुधासागरकारने ४२ के स्थानपर ४५ शुद्ध भेद माने है। फिर ४५×४५ = २०२५×४ = ८१०० प्रकारके संसृष्टि सङ्कर भेदोंके साथ ४५ भेदोको मिलाकर ८१००+४५ = ८१४५ भेद माने है। फिर इनको ध्वनिके पूर्वोक्त १०४५५ भेदोके साथ गुणा करके १०४५५×८१४५ = ८५१५५९७५ प्रकारकी संसृष्टि और इस संख्याको चारसे गुणा करके ३४०६२३९०० भेद ध्वनि तथा गुणीभूत-व्यङ्ग्यके भेदोके सङ्कर तथा संसृष्टिजन्य भेद माने हैं।

सुधासागरकारने गुणीभूतव्यङ्ग्यके जो ८१४५ भेद दिखलाये है वे गुणीभूतव्यङ्ग्यके आठ भेदोंमेसे प्रत्येक भेदके बनते हैं। आठों अवान्तर भेदोके कुल मिलाकर कितने भेद बनेगे इसकी ओर ध्यान नहीं दिया है। यदि आठो भेदोको मिलाकर फिर ध्वनिकाव्यके भेदोके साथ सङ्कर और संसृष्टि की जाय तो यह संख्या अठगुनी हो जायगी।

सुधासागरकारकी भूल

सुधासागरकारके इस मतमें एक आपत्ति यह है कि उन्होंने गुणीभूतव्यङ्ग्यके मूल ४५ भेद मानकर यह सब गणना की है। परन्तु वह संख्या ४५ नहीं, ४२ होनी चाहिये। 'वस्तुसे अलङ्कार व्यङ्ग्य होनेपर ध्वनिकाव्य ही होता है, गुणीभूतव्यङ्ग्य नहीं होता है' ध्वन्यालोककारके इस कथनके अनुसार ध्वनिकाव्यके ५१ भेदोंमेसे वस्तुसे अलङ्कारव्यङ्ग्यवाले ९ भेदोको निकाल देनेपर गुणीभूत-व्यङ्ग्यकाव्यके ४२ ही मूल भेद निकलेगे, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है। वस्तुसे अलङ्कार व्यङ्ग्यके नौ भेद बनते है। पहिले स्वत सम्भवी, कविप्रौढोक्तिसिद्ध और कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध ये तीन प्रकारके भेद वस्तुसे अलङ्कारव्यङ्ग्य ध्वनिके होते है। फिर उन तीनोके पदगत, वाक्यगत और प्रबन्धगत तीन-तीन भेद होकर वस्तुसे अलङ्कारव्यङ्ग्य ध्वनिके नो भेद बन जाते है। गुणीभूत-व्यङ्ग्यमे जब वस्तुसे अलङ्कारव्यङ्ग्यकी गणना नहीं होती है तो ध्वनिके ५१ भेदोमेसे इन नौको कम कर देनेपर [५१—९ =]४२ गुणीभूतव्यङ्ग्य भेद रहते है। सुधारसागरकारने जो ४५ भेद माने हैं वे ठीक नही हैं। उन्होने ५१ मेसे ९ के बजाय केवल ६ भेद कम किये है। वह युक्तिसगत प्रतीत नहीं होता है।

४२ भेदोंका गुणनप्रक्रियासे विस्तार

सुधासागरकारने जैसे ४५ भेदोका आगे विस्तार किया है उसी प्रकार यदि ४२ मूल भेद मानकर विस्तार किया जाय तो ४२×४२ = १७६४×४ = ७०५६ गुणीभूतव्यङ्ग्यके सङ्कर-संसृष्टिजन्य और उनके साथ शुद्ध ४२ भेदोको मिला देनेपर ७०९८ भेद, गुणीभूतव्यङ्ग्यके प्रत्येक अवान्तर भेदके बनेगे। इनको ध्वनिभेदोके साथ गुणन करनेपर १०४५५×७०९८ = ७४२०९५९० प्रकारकी ध्वनि तथा गुणीभूतव्यङ्ग्यके भेदोकी केवल संसृष्टि बनेगी। सङ्कर-संसृष्टि दोनो भेद बनानेके लिए इस संख्याको ४ से गुणा करना होगा। यह संख्या तब ७४२०९५९०×४ = २९६८३८३६० हो जायगी। यह संख्या गुणीभूतव्यङ्ग्यके प्रत्येक भेदकी ध्वनिभेदोके साथ सङ्कर तथा संसृष्टिसे बनेगी। यदि आठो भेदोकी सङ्कर-संसृष्टिकी गणना की जाय तो यह संख्या फिर अठगुनी होकर [२९६८३८३६०×८ =] २३७४७०६८८० हो जायगी। सुधा सागरकारने अन्तिम दो गुणन नहीं किये हैं।

सङ्कलनेन पुनरस्य ध्वनेस्त्रयो भेदाः, व्यङ्ग्यस्य त्रिरूपत्वात्। तथाहि किञ्चिद्वाच्यतां सहते किञ्चित्त्वन्यथा। तत्र वाच्यतासहमविचित्रं विचित्रं चेति। अविचित्रं वस्तुमात्रम्, विचित्रं त्वलङ्काररूपम्। यद्यपि प्राधान्येन तदलङ्कार्यम्, तथापि ब्राह्मण-श्रमणन्यायेन तथोच्यते।

सङ्कलनप्रक्रियासे विस्तार

यह ऊपर दिखलाया हुआ भेदोंका विस्तार गुणनप्रक्रियाके अनुसार है। हम ध्वनिभेदोंके विस्तारके प्रकरणमें यह लिख आये हैं। साहित्यदर्पणकारने ध्वनिभेदोंके विस्तारमें सङ्कलनप्रक्रियाका अवलम्बन किया है। यदि उसी सङ्कलनप्रक्रियाका यहाँ गुणीभूतव्यङ्ग्यके भेदोंके विस्तारमें भी अवलम्बन किया जाय तो परिणाम भिन्न निकलेगा। उस दशामें गुणीभूतव्यङ्ग्यके ४२ भेदोंका सङ्कर निकालनेके लिए १ से ४२ तक संख्याओंको जोडना होगा। सङ्कलनकी संक्षिप्त प्रक्रियाके अनुसार ४२ + १ = ४३ × $\frac{४२}{२}$ अर्थात् ४३ × २१ = ९०३ × ४ = ३६१२ सङ्कर तथा संसृष्टिकृत + ४२ = ३६५४ भेद ही गुणीभूतव्यङ्ग्यके प्रत्येक भेदके बनेंगे। इनको ध्वनिके १०४५५ भेदोंके साथ गुणा करनेपर [१०४५५ × ३६५४ =]३८२०२५७० ध्वनि गुणीभूतव्यङ्ग्यके प्रत्येक भेदके साथ संसृष्टिकृत भेद होंगे। इस संख्याको ४ से गुणा करनेपर [३८२०२५७० × ४ = १५२८१०२८०] भेद सङ्कर तथा संसृष्टिकृत होंगे। गुणीभूतव्यङ्ग्यके आठ भेदोंकी दृष्टिसे इस संख्याको ८ से गुणा करनेपर [१५२८१०२८० × ८ =]१२२२४८२२४० भेद हो जायँगे।

यह सब विस्तार बडा लम्बा और श्रमसाध्य है। बहुत उपयोगी भी नहीं है। इसलिए ग्रन्थकारने उसको नहीं दिखलाया है, 'अन्योन्ययोगादेव स्याद् भेदसंख्यातिभूयसी' लिखकर इस अनुपयुक्त प्रसङ्गको समाप्त कर दिया है।

व्यञ्जनाकी अपरिहार्यता

इस प्रकार यहाँतक ग्रन्थकारने ध्वनिकाव्य तथा गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्यके भेदोपभेदोंका वर्णन किया। अब आगे इस पञ्चम उल्लासके शेष भागमें वे व्यञ्जनावृत्तिकी अपरिहार्यताका प्रतिपादन करेंगे और यह दिखलायेंगे कि ध्वनिके जितने भी भेद हैं उनकी प्रतीति केवल व्यञ्जनाके द्वारा ही हो सकती है। व्यञ्जनाके अतिरिक्त उनकी प्रतीतिका और कोई मार्ग नहीं है। इसी दृष्टिसे वे पहिले ध्वनिके वाच्यतासह और वाच्यता असह दो भेद करते हैं। वाच्यता-सहके भी विचित्र तथा अविचित्र दो भेद करके विचित्रको 'अलङ्कारध्वनि' तथा अविचित्रको 'वस्तुध्वनि'के अन्तर्भूत करते हैं। तीसरा रसादि-ध्वनि वाच्यता-असह है वह कभी वाच्य नहीं हो सकता है, सदा व्यङ्ग्य ही होता है। इसलिए व्यञ्जनावृत्तिका मानना अनिवार्य है। इस प्रकार व्यञ्जनावृत्तिकी सिद्धिके लिए पहली युक्ति देते हुए वे लिखते हैं कि—

संक्षेप [सङ्कलनेन] व्यङ्ग्यके तीन प्रकारके होनेसे इस ध्वनिके भी तीन भेद होते हैं। जैसे कि [उन तीन प्रकारके व्यङ्ग्योंमेंसे] कोई [वस्तु तथा अलङ्काररूप दो प्रकारका ध्वनि] वाच्यताको सहन कर सकता है [अर्थात् वस्तुध्वनि और अलङ्कार-ध्वनिके रूपमें जो अर्थ व्यङ्ग्यरूपसे प्रतीत होता है वह अर्थ अन्य दशामें वाच्य भी हो सकता है] और कोई [रसध्वनि] अन्य प्रकारका [अर्थात् वाच्यताको सहन न करनेवाला कभी वाच्य न हो सकनेवाला] होता है। उनमेंसे वाच्यताको सहन करनेवाला [व्यङ्ग्यार्थ भी] विचित्र तथा अविचित्र [दो प्रकारका] होता है। अविचित्र वस्तु

रसादिलक्षणस्त्वर्थः स्वप्नेऽपि न वाच्यः। स हि रसादिशब्देन शृङ्गारादिशब्देन वा अभिधीयेत। न चाभिधीयते। तत्प्रयोगेऽपि विभावाद्यप्रयोगे तस्याप्रतिपत्तेस्तदप्रयोगेऽपि विभावादिप्रयोगे तस्य प्रतिपत्तेश्चेत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां विभावाद्यभिधानद्वारेणैव प्रतीयते, इति निश्चीयते। तेनासौ व्यङ्ग्य एव। मुख्यार्थबाधाद्यभावात् पुनर्लक्षणीयः।

अर्थान्तरसंक्रमितवाच्ये अत्यन्ततिरस्कृतवाच्ये च व्यङ्ग्यं विना लक्षणैव न सम्भवतीति प्राक् प्रतिपादितम्।

और यह विविध अलङ्काररूप [कहलाता है]। यद्यपि [व्यङ्ग्य होनेके कारण] प्रधान होनेसे वह [व्यङ्ग्यार्थ] अलङ्कार्य होता है [अलङ्कार नहीं] फिर भी [अन्यत्र उपमादि वाच्य अलङ्काररूपमें भी देखा जा चुका है। इसलिए भूतपूर्व गति अथवा] ब्राह्मण-श्रमण न्यायसे उस प्रकार [अलङ्कार नामसे] कहा जाता है।

रसप्रतीतिके लिए व्यञ्जना अनिवार्य

[तीसरा] रसादिरूप अर्थ तो स्वप्नमें भी वाच्य नहीं हो सकता है। [क्योंकि उसको यदि वाच्य कहा जाय तो] वह या तो रसादि शब्दसे अथवा शृङ्गारादि शब्दसे [ही] अभिधाशक्तिसे [वाच्यरूपमें] कहा जा सकता है। परन्तु [इन दोनों शब्दोंसे अभिधाशक्तिके द्वारा] कहा नहीं जाता है। [क्योंकि] उन [रसादि अथवा शृङ्गारादि शब्दों]का प्रयोग होनेपर भी विभावादिका प्रयोग न होनेपर उसकी अनुभूति न होने और उन [वाचक रसादि या शृङ्गारादि शब्दों] का प्रयोग न होनेपर भी विभावादिका प्रयोग होनेपर उस [रसादि] की अनुभूति होनेसे, विभावादिके कथनके द्वारा ही उस [रसादि]की प्रतीति होती है यह बात अन्वय-व्यतिरेकसे सिद्ध होती है [निश्चीयते]। इसलिए वह [रसादिध्वनि या अर्थ सदा] व्यङ्ग्य ही होता है [वाच्य कभी भी नहीं होता है]। और [जैसा कि दूसरे उल्लासमें २४वें एवं २६वें सूत्र द्वारा कहा जा चुका है] मुख्यार्थबाध आदि [लक्षणाके प्रयोजक हेतुओं]के न होनेसे वह लक्षणीय [लक्षणा-गम्य] भी नहीं [हो सकता] है [इसलिए रसादि-प्रतीति व्यङ्ग्य ही है]।

लक्षणामूल ध्वनिमें व्यञ्जना अनिवार्य

इस प्रकार अभिधामूल ध्वनिमें असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य रसादिरूप अर्थकी प्रतीतिके लिए व्यञ्जना-शक्तिका मानना अपरिहार्य है इस बातके कहनेके बाद ध्वनिके अन्य जो भेद माने गये हैं उनमें भी व्यञ्जनाके द्वारा ही व्यङ्ग्य अर्थकी प्रतीति हो सकती है। अन्य किसी वृत्तिसे काम नहीं चल सकता है इस बातका प्रतिपादन करनेके लिए पहिले लक्षणामूल ध्वनिके अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य और अत्यन्त तिरस्कृतवाच्य दोनों भेदोंमें व्यञ्जनाकी अनिवार्यता दिखलाते हुए ग्रन्थकार लिखते हैं—

[अविवक्षितवाच्य या लक्षणामूल ध्वनिके] अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य [दोनों भेदों] में वस्तुमात्ररूप व्यङ्ग्यके बिना लक्षणा ही नहीं हो सकती है यह पहिले [सू० २४, २५ में] प्रतिपादन कर चुके हैं।

इसका अभिप्राय यह है कि अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य लक्षणामूल ध्वनिका 'त्वामस्मि वच्मि' इत्यादि और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य लक्षणामूल ध्वनिका 'उपकृतं बहु तत्र' इत्यादि दोनों उदाहरण सं० ६३, ६२ पर पहिले दिये जा चुके हैं। उनमेंसे पहिले उदाहरणमें 'वच्मि' आदि पद उपदेश आदिरूप

शब्दशक्तिमूले तु अभिधाया नियन्त्रणेनानभिधेयस्यार्थान्तरस्य तेन सहोपमादेरलङ्कारस्य च निर्विवादं व्यङ्ग्यत्वम् ।

अर्थान्तरमें संक्रान्त हो जाते हैं और दूसरे उदाहरणमें 'उपकृत' आदि पद अपने अर्थको बिल्कुल छोड़कर 'अपकृत' आदि अर्थोंका द्योतन करते हैं। इनमें व्यङ्ग्य प्रयोजनकी प्रतीति ही लक्षणाका आधार है। यदि वह व्यङ्ग्य प्रयोजन न हो तो उसमें लक्षणा ही न हो सकेगी। और उस व्यङ्ग्य प्रयोजनका बोध अभिधा या लक्षणा द्वारा नहीं होता है। यह बात 'नाभिधा समयाभावात् हेत्वभावान्न लक्षणा' इत्यादि सू० २४-२५ में कह चुके हैं। अतः लक्षणामूल ध्वनिके अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य दोनों भेदोंमें प्रयोजनकी प्रतीतिके लिए व्यञ्जनावृत्तिका मानना अनिवार्य है।

अभिधामूल शब्दशक्त्युत्थ ध्वनिमें व्यञ्जना अनिवार्य

इस प्रकार लक्षणामूल ध्वनिके दोनों भेदोंमें व्यञ्जनावृत्तिकी अपरिहार्यताको दिखलानेके बाद अभिधामूल ध्वनिके भेदोंमें व्यञ्जनावृत्तिकी अनिवार्यता दिखलानेका उपक्रम करते हैं। अभिधामूल ध्वनिके पहले दो भेद होते हैं—१ असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य और २ संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य। इनमेंसे असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य रसादिध्वनिमें व्यञ्जनावृत्तिकी अनिवार्यता अभी दिखला चुके हैं। इसलिए संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यमें व्यञ्जनाकी अनिवार्यता दिखलानेका कार्य शेष रह जाता है। उसीका विवेचन आगे करेंगे।

संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यके १. शब्दशक्त्युत्थ, २ अर्थशक्त्युत्थ ३. उभयशक्त्युत्थ ये तीन भेद किये थे। उनमेंसे पहिले शब्दशक्त्युत्थ भेदको लेते हैं। जहाँ अनेकार्थक शब्दका प्रकरणादिवशात् एकार्थमें नियन्त्रण हो जानेपर भी अन्य अर्थकी प्रतीति होती है उसे शाब्दीव्यञ्जना या शब्दशक्त्युत्थ ध्वनि कहते हैं। यह वस्तु और अलङ्काररूपसे दो प्रकारका होता है। यहाँ अभिधाका एकार्थमें नियन्त्रण हो जानेसे अन्य अर्थकी प्रतीति अभिधासे नहीं हो सकती है। उसके लिए व्यञ्जनाव्यापार मानना ही होगा। इसी प्रकार इस स्थलपर प्रतीत होनेवाले प्राकरणिक तथा अप्राकरणिक अर्थोंका उपमानोपमेयभाव आदि अलङ्कार भी व्यञ्जनावृत्तिसे ही बोधित होता है। इसलिए शब्दशक्तिमूल ध्वनिमें भी [उदाहरण सं० ५४-५५ दोनोंमें] व्यञ्जनाका मानना अनिवार्य है। इसी बातको ग्रन्थकार अगली पंक्तिमें कहते हैं—

[अभिधामूल ध्वनिके शब्दशक्त्युत्थ, अर्थशक्त्युत्थ और उभयशक्त्युत्थरूप तीनों भेदोंमेंसे] शब्दशक्तिमूल [भेद] में अभिधाका [संयोगादि द्वारा एकार्थमें] नियन्त्रण हो जानेसे अनभिधेय जो दूसरा अर्थ प्रतीत होता है उसका और उसके साथ [वाच्य प्राकरणिक अर्थका जो उपमानोपमेयभावादि प्रतीत होता है उस] उपमादि अलङ्कारका व्यङ्ग्यत्व निर्विवाद है।

अभिधामूल अर्थशक्त्युत्थ ध्वनिमें व्यञ्जनाकी अनिवार्यता

अभिहितान्वयवादमें व्यञ्जना—इस प्रकार [illegible] [illegible]

अर्थशक्तिमूलेऽपि विशेषे सङ्केतः कर्तुं न युज्यत इति सामान्यरूपाणां पदार्थानामाकांक्षासन्निधियोग्यतावशात्परस्परसंसर्गो यत्रापदार्थोऽपि विशेषरूपो वाक्यार्थस्तत्राभिहितान्वयवादे का वार्ता व्यङ्ग्यस्याभिधेयतायाम् ।

अर्थशक्त्युत्थ ध्वनिमें व्यङ्ग्यार्थकी प्रतीतिके पहिले वाच्यार्थकी उपस्थिति आवश्यक है । पहिले वाच्यार्थकी प्रतीति हो जानेके बाद उससे फिर व्यङ्ग्यार्थकी प्रतीति होती है इसीलिए उसे 'अर्थशक्त्युत्थ' ध्वनि कहा जाता है । वाक्यसे अर्थकी प्रतीति कैसे होती है इसका विवेचन यद्यपि व्याकरण, न्याय और मीमांसा आदि अनेक शास्त्रोंमें किया गया है, किन्तु वाक्यविचारमें मीमांसकोंको ही प्रधान माना जाता है । वैयाकरणोंको केवल 'पदज्ञ' और नैयायिकोंको 'प्रमाणज्ञ' कहा जाता है । वाक्योंका विचार मुख्यरूपसे मीमांसकोंका क्षेत्र है, इसलिए उनको 'वाक्यज्ञ' कहा जाता है । अर्थशक्त्युत्थ ध्वनिके विवेचनमें पहिले वाक्यार्थज्ञानकी आवश्यकता होती है और वह मीमांसकोंका क्षेत्र है । इसलिए ग्रन्थकारने अर्थशक्त्युत्थ ध्वनिके भेदोंमें व्यञ्जनाकी अपरिहार्यता सिद्ध करनेके इस प्रकरणको मीमांसक-मतकी आलोचनासे ही प्रारम्भ किया है ।

जैसा कि पहिले कहा जा चुका है, मीमांसकोंके दो मुख्य सम्प्रदाय हैं—एक 'अभिहितान्वयवाद' और दूसरा 'अन्विताभिधानवाद' । 'अभिहितान्वयवाद' के संस्थापक आचार्य कुमारिलभट्ट हैं और 'अन्विताभिधानवाद'के प्रतिपादक उनके शिष्य प्रभाकर हैं । ग्रन्थकार मम्मट यहाँ यह दिखलानेका यत्न करेंगे कि इन दोनों मतोंमें 'वाक्यार्थ' ही अभिधासे उपस्थित नहीं होता है तब उसके बाद जो व्यङ्ग्यार्थ प्रतीत होता है वह अभिधासे प्रतीत हो सकता है इसकी तो चर्चा ही व्यर्थ है ।

उनमेंसे भी पहिले कुमारिलभट्टके 'अभिहितान्वयवाद'को लेते हैं । 'अभिहितान्वयवाद' में तो अभिधाशक्तिसे केवल पदार्थोंकी उपस्थिति होती है । पदार्थोंके परस्परसंसर्गरूप वाक्यार्थकी प्रतीति भी अभिधासे नहीं होती है, उसके लिए 'तात्पर्याख्या' शक्ति अलग मानी जाती है । तब व्यङ्ग्यार्थ, जिसकी प्रतीति वाक्यार्थकी भी प्रतीतिके बाद होती है, उसको अभिधाशक्तिसे बाध्य या [illegible] कहा जा सकता है ? इसलिए 'अभिहितान्वयवाद'में व्यङ्ग्यार्थके बोधके लिए व्यञ्जनाशक्तिका मानना अनिवार्य है । इसी बातको ग्रन्थकार अगली पंक्तियोंमें इस प्रकार लिखते हैं—

[अभिधामूल ध्वनिके दूसरे भेद] अर्थशक्तिमूल [ध्वनि]में भी जहाँ [व्यक्तिमें सङ्केतग्रह माननेपर आनन्त्य तथा व्यभिचार दोष आ जानेके कारण व्यक्तिरूप] विशेष अर्थमें सङ्केत करना सम्भव [उचित] न होनेसे सामान्य [अर्थात् जाति] रूप पदार्थोंका परस्परसंसर्गरूप विशेष, पदोंसे न उपस्थित होनेपर भी, आकांक्षा, सन्निधि और योग्यताके कारण वाक्यार्थ [रूपमें तात्पर्याख्या नामक अन्य शक्तिसे उपस्थित] होता है उस अभिहितान्वयवादमें [वाक्यार्थबोधके भी बादमें उपस्थित होनेवाले] व्यङ्ग्य अर्थके अभिधेय माननेकी तो बात ही कहाँ उठती है ?

अर्थात् कुमारिलभट्टके अभिहितान्वयवादमें व्यङ्ग्यार्थके बोधनके लिए व्यञ्जनाशक्तिके [illegible] अतिरिक्त कोई मार्ग नहीं हो सकता है । इसलिए इस अभिहितान्वयवादियोंके लिए [illegible] मानना अनिवार्य है ।

इस अनुच्छेदकी व्याख्या कुछ [illegible] [illegible] उसके पदविभागमें [illegible] पर ध्यान देना उचित होगा । 'सामान्यरूपाणां पदार्थानाम् [illegible] परस्परसंसर्गो यत्रापदार्थोऽपि आकांक्षासन्निधियोग्यतावशात् वाक्यार्थः' [illegible]

कर लेनेपर उनका अर्थ सरलतासे समझमें आ जाता है। यथास्थित क्रमसे अर्थ करनेपर अर्थका समझना कठिन हो जाता है। इसलिए हमने 'अर्थक्रमानुरोधेन पाठक्रममनादृत्यैव' अर्थक्रमको ध्यानमें रखकर ही इसका अनुवाद किया है।

अन्विताभिधानवादमें व्यञ्जना

प्रभाकरके 'अन्विताभिधानवाद'में यद्यपि अन्वित पदार्थोंकी ही अभिधा द्वारा उपस्थिति होती है, इसलिए वाक्यार्थबोधके लिए 'तात्पर्याख्या' शक्तिकी आवश्यकता नहीं होती है। परन्तु उनके यहाँ भी अभिधा द्वारा सामान्यरूपसे अन्वित पदार्थोंकी ही उपस्थिति हो सकती है। किसी विशेष अर्थके साथ अन्वित अर्थकी उपस्थिति नहीं होती है, क्योंकि एक ही शब्दका अनेकों शब्दोंके साथ भिन्न-भिन्नरूपमें प्रयोग होता है।

किसी एक ही विशेष अर्थके साथ सम्बद्धरूपसे शब्दका सङ्केतग्रह मान लेनेपर अन्य विशेष अर्थोंके साथ उसका सम्बन्ध नहीं हो सकेगा। विशेष व्यक्तिके साथ सङ्केतग्रह माननेपर आनन्त्य और व्यभिचार दोष हो जानेके कारण अभिहितान्वयवादमें ही जब व्यक्तिमें सङ्केतग्रह न मानकर जातिमें सङ्केतग्रह मानना अनिवार्य हो गया था, तब 'अन्विताभिधानवाद'में भी विशेष अर्थके साथ अन्वित रूपमें सङ्केतग्रह मानना सम्भव नहीं है। इसलिए यदि अन्विताभिधानपक्ष माना भी जाय तो भी केवल सामान्यरूपसे अन्वितमात्रमें सङ्केतग्रह हो सकता है, विशेषके साथ अन्वितरूपमें सङ्केतग्रह नहीं हो सकता है।

परन्तु वाक्यार्थ तो विशेष अर्थोंका परस्परसम्बन्धरूप होता है। इसलिए विशेष अर्थोंका [illegible] वाक्यार्थ उनके यहाँ भी अभिधा शक्तिसे उपस्थित नहीं हो सकता है। तब [illegible] वाक्यार्थसे भी आगे बढ़े हुए उसके भी बाद प्रतीत होनेवाले—'अतिविशेषभूत' [illegible] अर्थकी प्रतीति अभिधासे हो सकती है यह तो कल्पना भी नहीं की जा सकती है। इसलिए 'अन्विताभिधानवाद' [illegible] 'निःशेषच्युतचन्दनं स्तनतटं' इत्यादि उदाहरणोंमें निषेधरूप वाच्यार्थसे [illegible] विधिरूप [illegible] अर्थकी प्रतीति करानेके लिए व्यञ्जनावृत्तिका मानना अनिवार्य है। इस प्रकार ग्रन्थकार 'अन्विताभिधानवाद'में भी व्यञ्जनावृत्तिकी अपरिहार्यताका उपपादन करते हुए [illegible] प्रकरणका प्रारम्भ करते हैं।

किन्तु इस प्रकरणका प्रारम्भ उन्होंने बहुत दूरसे किया है। इसलिए [illegible] प्रकरण [illegible] है [illegible] प्रकृत प्रकरणसे [illegible] के लिए [illegible] ध्यान [illegible] होगा। [illegible]

[illegible]

[illegible] पक्षमें भी व्यञ्जनाशक्ति मानना आवश्यक है। यहाँ मुख्य विषय यह है कि अन्विताभिधानवादमें भी निषेधमें विधि या विधिमें निषेधरूप व्यङ्ग्यार्थकी प्रतीतिके लिए व्यञ्जना माननी ही होगी। इस [illegible] प्रतिपादन पृ० २२६ के 'तेषामपि मते' से आरम्भ होता है। [illegible] पक्षका निरूपण [illegible] बाद इसको पढ़ा जायगा तो उसको हृदयङ्गम करनेमें [illegible] इसी दृष्टिसे हमने यह विश्लेषण यहाँ प्रस्तुत कर दिया है।

[illegible] आरम्भ सङ्केतग्रहके प्रकारके निरूपणसे हुआ है इसलिए ग्रन्थके अनुवादके [illegible] विषय भी हम आगे दे रहे हैं। इससे पङ्क्तियोंके समझानेमें सफलता होगी।

सङ्केतग्रहका आधार

इस प्रकार 'अभिहितान्वयवाद' में व्यञ्जनाशक्तिकी अपरिहार्यताका उपपादन करनेके बाद प्राभाकरसम्मत 'अन्विताभिधानवाद' में भी व्यञ्जनाशक्तिकी अपरिहार्यताका उपपादन करनेके लिए पहिले [illegible] अगली दो कारिकाओं द्वारा शक्तिग्रहका प्रकार दिखलाते हुए अन्वित अर्थमें ही शक्तिग्रह होता है यह सिद्ध करनेका यत्न करेंगे। 'अमुक शब्दसे अमुक अर्थ समझना चाहिये' इस प्रकारके सङ्केतग्रहके साधनरूप निम्नलिखित उपाय बतलाये गये हैं—

> शक्तिग्रहं व्याकरणोपमान-
> कोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च।
> वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति
> सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः॥

अर्थात् व्याकरण, उपमान, कोश, आप्तवाक्य, वाक्यशेष, विवृति अर्थात् व्याख्या और सिद्ध अर्थात् ज्ञात पदके सान्निध्यसे शक्तिग्रह होता है। इन सबमें मुख्य साधन व्यवहार है। क्योंकि अन्य सभी साधनोंमें पदोंके प्रयोग और उनके अर्थज्ञानकी आवश्यकता होती है इसलिए वे बड़े व्यक्तियोंके लिए सङ्केतग्रहके साधन हो सकते हैं। छोटे बालकोंके लिए सङ्केतग्रहका एकमात्र साधन व्यवहार है। बिल्कुल प्रारम्भमें बालकको अपनेसे बड़े 'उत्तमवृद्ध' माता-पिता आदि 'मध्यम-वृद्ध' भाई आदि अथवा भृत्य आदिके व्यवहारसे ही सङ्केतका ग्रहण होता है। 'उत्तमवृद्ध' पिता आदि 'मध्यमवृद्ध' भाई या भृत्य आदिसे कहते हैं कि 'गामानय' गौको ले आओ। 'मध्यमवृद्ध' सास्नादिमान् गो व्यक्तिको ले आता है। पासमें बैठा हुआ बालक 'गाम्' और 'आनय' इनमेंसे किसी भी शब्दका अर्थ नहीं जानता है। परन्तु पिताके मुखसे निकले हुए इन शब्दोंको वह सुनता है और उसके बाद होनेवाली 'मध्यमवृद्ध' की क्रियाको देखता है। इससे पहली बात तो वह यह अनुमान करता है कि 'मध्यमवृद्ध' ने जो क्रिया की है वह उत्तमवृद्धके वाक्यके अर्थको समझ कर की है। इसलिए 'सास्नादिमान् पिण्डका आनयन' ही उस अखण्ड वाक्यका अखण्ड अर्थ है। अर्थात् सम्पूर्ण वाक्यके अर्थका अनुमान तो बालकको हो जाता है, परन्तु अलग-अलग शब्दोंके अर्थका ज्ञान इस दशामें उसको नहीं होता है। उसके बाद फिर 'गां नय', 'अश्वमानय'—'गायको ले जाओ', 'अश्वको ले आओ' आदि वाक्योंके प्रयोग और उनके अनुसार होनेवाली क्रियाओंको देखकर शनैः शनैः बालकको अलग-अलग शब्दोंके अर्थका ज्ञान हो जाता है। यही व्यवहारतः शक्तिग्रहकी प्रक्रिया है। इसी प्रक्रियाका वर्णन आगे उद्धृत की हुई दो कारिकाओं और उनकी व्याख्यामें किया गया है। इन कारिकाओंका अर्थ समझनेके लिए निम्नलिखित बातोंको विशेषरूपसे हृदयङ्गम कर लेना चाहिये।

येऽप्याहुः—

शब्दवृद्धाभिधेयांश्च प्रत्यक्षेणात्र पश्यति ।
श्रोतुश्च प्रतिपन्नत्वमनुमानेन चेष्टया ॥ १ ॥
अन्यथाऽनुपपत्त्या तु बोधेच्छक्ति द्वयात्मिकाम् ।
अर्थापत्त्याऽवबोधेत सम्बन्धं त्रिप्रमाणकम् ॥ २ ॥

इति प्रतिपादितदिशा—

---

१. प्रत्येक वाक्यके कर्तारूपमे 'बालः' पदका अध्याहार करना है ।

२. 'शब्द-वृद्धाभिधेयाश्च प्रत्यक्षेणात्र पश्यति' इस प्रथम श्लोकके पूर्वार्द्धमें 'प्रत्यक्ष' शब्दसे चाक्षुष एवं श्रावण प्रत्यक्षके करणभूत चक्षु तथा श्रोत्रका ग्रहण करना चाहिये । और 'पश्यति' शब्दसे 'शृणोति'का भी ग्रहण समझना चाहिये । क्योंकि 'वृद्ध' और 'अभिधेय'का तो चक्षुसे दर्शन हो सकता है, परन्तु 'शब्द'का ग्रहण चक्षुसे न होकर श्रोत्रसे ही होता है, इसलिए शब्दके पक्षमें 'प्रत्यक्षेण पश्यति'की सङ्गति लगानेके लिए उसका अर्थ 'शृणोति' अर्थात् 'श्रोत्रेण गृह्णाति' करना चाहिये ।

३. 'वृद्ध' शब्दसे 'उत्तमवृद्ध' पिता आदि तथा 'मध्यमवृद्ध'से भाई या भृत्य आदि दोनोंका ग्रहण करना चाहिये ।

'येऽप्याहुः' यहाँसे लेकर आगे २२४ पृष्ठपर आये हुए 'इति विशिष्टा एव पदार्था वाक्यार्थः, न तु पदार्थाना वैशिष्ट्यम्' तक एक वाक्य है । अर्थात् 'येऽप्याहुः'से लेकर 'वैशिष्ट्यम्'तक एक साथ मिलाकर 'अन्विताभिधानवादियों'के सिद्धान्तको मोटेरूपसे उपस्थित किया गया है । उसके बाद फिर 'इत्यन्विताभिधानवादिनः'तक उसके सूक्ष्मरूपका विवेचन किया गया है । उसके बाद फिर अन्विताभिधानवादका खण्डन है ।

अब 'अन्विताभिधानवाद'के पूर्वपक्षकी स्थापना करनेवाले ग्रन्थभागकी व्याख्या इस प्रकार होगी—

और जो [अन्विताभिधानवादी] यह कहते हैं कि—

यहाँ ['अत्र' अर्थात् व्यवहारतः शक्तिग्रहकी प्रक्रियामें बालक, उत्तमवृद्धके द्वारा उच्चारण किये हुए] शब्द [को 'प्रत्यक्षेण पश्यति' अर्थात् श्रोत्रसे सुनता है, मध्यम] 'वृद्ध' तथा 'अभिधेय' [अर्थात् गवानयनादिरूप क्रिया] को प्रत्यक्ष [अर्थात् चाक्षुष प्रत्यक्षके हेतुभूत चक्षु] से [पश्यति—देखता] ग्रहण करता है । [और उसके बाद मध्यमवृद्धरूप] श्रोताके ज्ञानको क्रियाके द्वारा [अर्थात् मध्यमवृद्धने उत्तमवृद्धके कहे हुए वाक्यका अर्थ समझकर ही इस प्रकारका व्यापार किया है यह बात] अनुमानसे वह जानता है ॥१॥

[उत्तमवृद्धके द्वारा कहे गये वाक्य और उसके अर्थमें वाच्यवाचकभावसम्बन्धके बिना मध्यमवृद्धको उसके अर्थका ज्ञान नहीं हो सकता था, इसलिए इन दोनोंका वाच्यवाचकभावसम्बन्ध अवश्य है इस प्रकारकी] अन्यथानुपपत्तिरूप अर्थापत्ति [प्रमाण] से वाच्यवाचकभावरूप] दोनों प्रकारकी शक्तिको जानता है । इस प्रकार [प्रत्यक्ष, अनुमान तथा अर्थापत्तिरूप] तीन प्रमाणोंसे [शब्द तथा अर्थके वाच्यवाचकभावरूप] सम्बन्धको [बालक] जानता है ॥२॥

अन्विताभिधानवादका उपपादन

यह इन दोनों कारिकाओंका अर्थ हुआ। इन कारिकाओंमें यह दिखलाया गया है कि सङ्केत-ग्रहमें प्रत्यक्ष, अनुमान और अर्थापत्ति इन तीन प्रमाणोंका उपयोग होता है यही 'सम्बन्ध त्रिप्रमाणकम्' का अर्थ है। सङ्केतग्रहमें इन तीनों प्रमाणोंका उपयोग निम्नलिखित प्रकार होता है—

१. प्रत्यक्ष—व्यवहारमें उत्तमवृद्ध और मध्यमवृद्धको बालक चक्षु द्वारा प्रत्यक्ष देखता है। यह चाक्षुष प्रत्यक्ष हुआ। उसके बाद उत्तमवृद्धके द्वारा कहे हुए वाक्यको अपने कानोंसे सुनता है। यह 'श्रावण प्रत्यक्ष' हुआ। फिर जब मध्यमवृद्ध गायको लाता है तो गायको भी बालक चक्षुसे देखता है। यह 'अभिधेय' अर्थका चाक्षुष प्रत्यक्ष हुआ। इस प्रकार 'शब्दका' श्रावण प्रत्यक्षसे और 'वृद्ध' तथा 'अभिधेय'का चाक्षुष प्रत्यक्षसे ग्रहण होता है। यही बात प्रथम कारिकाके 'शब्दवृद्धाभिधेयांश्च प्रत्यक्षेणात्र पश्यति' इस पूर्वार्द्ध भागसे कही गयी है।

२. अनुमान—इस प्रकार शब्द, वृद्ध और अभिधेयका प्रत्यक्ष करनेके बाद बालकको अनुमान प्रमाणका उपयोग करना होता है। उत्तमवृद्धके वाक्यको सुननेके बाद जब मध्यमवृद्ध गवानयनमें प्रवृत्त होता है तो उसकी चेष्टाको देखकर बालक यह अनुमान करता है कि मध्यमवृद्धकी यह चेष्टा उत्तमवृद्धके वाक्यको सुननेके बाद हुई है, इसलिए उत्तमवृद्धके वाक्यके अर्थको समझकर ही की गयी है। इसलिए चेष्टारूप 'लिङ्ग'से बालक श्रोता अर्थात् मध्यमवृद्धके 'प्रतिपन्नत्व' अर्थात् ज्ञानका 'अनुमान' करता है। इस प्रकार सङ्केतग्रहमें 'अनुमान'रूप दूसरे प्रमाणका उपयोग भी सिद्ध होता है। इसी बातको प्रथम कारिकाके 'श्रोतुश्च प्रतिपन्नत्वमनुमानेन चेष्टया' इस वाक्यके द्वारा कहा गया है।

३. अर्थापत्ति—सङ्केतग्रहमें सहायता देनेवाला तीसरा प्रमाण 'अर्थापत्ति' है। 'अनुपपद्यमानार्थ-दर्शनात् तदुपपादकीभूतार्थान्तरकल्पनमर्थापत्तिः' यह 'अर्थापत्ति' प्रमाणका लक्षण है। 'अनुपपद्यमान' अर्थको देखकर उसके 'उपपादक' अर्थकी कल्पना करनेको 'अर्थापत्ति' कहते हैं। जैसे 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' देवदत्त मोटा हो रहा है परन्तु दिनमें नहीं खाता है। ऐसा देखकर या सुनकर यह स्वयं ही समझ लिया जाता है कि वह रात्रिमें खाता होगा। यहाँ दिनमें न खानेवाले देवदत्तका 'पीनत्व' अर्थात् मोटापन 'अनुपपद्यमान' अर्थ है और रात्रिभोजन उसका 'उपपादकीभूत [illegible]'। रात्रिभोजनके बिना दिवा अभुञ्जानका पीनत्व बन ही नहीं सकता है। इस लिए पीनत्वकी [illegible] अर्थात् रात्रिभोजनके बिना—अनुपपत्ति होनेसे वही अन्यथानुपपत्तिरूप [illegible] प्रमाण होती है।

[illegible] सङ्केतग्रहणमें 'गामानय' आदि प्रयोगों और उनके अर्थोंके वाच्यवाचक[illegible] ग्रहण इसी 'अर्थापत्ति' प्रमाणसे होता है। उत्तमवृद्धके वाक्यको सुननेके बाद जब मध्यमवृद्ध [illegible] प्रवृत्त होता है तब बालक यह अनुमान करता है कि मध्यमवृद्धने उत्तमवृद्धके वाक्यके [illegible] ही गवानयनरूप क्रिया की है। यह ज्ञान अनुमान द्वारा होता है यह बात ऊपर कही [illegible]।

[illegible] बीचमें 'गामानय' आदि वाक्य और उनके अर्थका जो वाच्यवाचक[illegible] उसका ग्रहण 'अर्थापत्ति'के द्वारा होता है। यदि वाक्यमें वाचकता और अर्थमें [illegible] शक्ति न होती तो वाक्यसे अर्थका बोध नहीं हो सकता था। यहाँ 'अर्थविषयक [illegible]' [illegible] और वाच्य-वाचक भाव सम्बन्ध उसका 'उपपादकीभूत' अर्थ है। [illegible] उसके 'उपपादकीभूत' वाच्यवाचकभावकी कल्पना अर्थापत्तिके द्वारा होती है। [illegible]

अन्विताभिधानवादका उपपादन

यह इन दोनों कारिकाओंका अर्थ हुआ। इन कारिकाओंमें यह दिखलाया गया है कि सङ्केत-ग्रहमें प्रत्यक्ष, अनुमान और अर्थापत्ति इन तीन प्रमाणोंका उपयोग होता है यही 'सम्बन्ध त्रिप्रमाणकम्' का अर्थ है। सङ्केतग्रहमें इन तीनो प्रमाणोंका उपयोग निम्नलिखित प्रकार होता है—

१. प्रत्यक्ष—व्यवहारमें उत्तमवृद्ध और मध्यमवृद्धको बालक चक्षु द्वारा प्रत्यक्ष देखता है। यह चाक्षुष प्रत्यक्ष हुआ। उसके बाद उत्तमवृद्धके द्वारा कहे हुए वाक्यको अपने कानोंसे सुनता है। यह 'श्रावण प्रत्यक्ष' हुआ। फिर जब मध्यमवृद्ध गायको लाता है तो गायको भी बालक चक्षुसे देखता है। यह 'अभिधेय' अर्थका चाक्षुष प्रत्यक्ष हुआ। इस प्रकार 'शब्दका' श्रावण प्रत्यक्ष और 'वृद्ध' तथा 'अभिधेय' का चाक्षुष प्रत्यक्षसे ग्रहण होता है। यही बात प्रथम कारिकाके 'शब्द-वृद्धाभिधेयांश्च प्रत्यक्षेणात्र पश्यति' इस पूर्वार्द्ध भागसे कही गयी है।

२. अनुमान—इस प्रकार शब्द, वृद्ध और अभिधेयका प्रत्यक्ष करनेके बाद बालकको अनुमान प्रमाणका उपयोग करना होता है। उत्तमवृद्धके वाक्यको सुननेके बाद जब मध्यमवृद्ध गवानयनमें प्रवृत्त होता है तो उसकी चेष्टाको देखकर बालक यह अनुमान करता है कि [illegible] यह चेष्टा उत्तमवृद्धके वाक्यको सुननेके बाद हुई है, इसलिए उत्तमवृद्धके वाक्यसे [illegible] ही की गयी है। इसलिए चेष्टारूप 'लिङ्ग'से बालक श्रोता अर्थात् मध्यमवृद्धके 'प्रतिपन्नत्व' अर्थात् ज्ञानका 'अनुमान' करता है। इस प्रकार सङ्केतग्रहमें 'अनुमान' रूप दूसरे प्रमाणका उपयोग सिद्ध होता है। इसी बातको प्रथम कारिकाके "श्रोतुश्च प्रतिपन्नत्वमनुमानेन चेष्टया [illegible]" द्वारा कहा गया है।

३. अर्थापत्ति—सङ्केतग्रहमें सहायता देनेवाला तीसरा प्रमाण 'अर्थापत्ति' है। [illegible] दर्शनात् तदुपपादकीभूतार्थान्तरकल्पनमर्थापत्तिः' यह 'अर्थापत्ति' प्रमाणका लक्षण है। [illegible] अर्थको देखकर उसके 'उपपादक' अर्थकी कल्पना करनेको 'अर्थापत्ति' कहते हैं। [illegible] दिवा न भुङ्क्ते' देवदत्त मोटा हो रहा है परन्तु दिनमें नहीं खाता है। [illegible] स्वयं ही समझ लिया जाता है कि वह रात्रिमें खाता होगा। यहाँ [illegible] 'पीनत्व' अर्थात् मोटापन 'अनुपपद्यमान' अर्थ है और रात्रिभोजन [illegible] रात्रिभोजनके बिना दिवा अभुञ्जानका पीनत्व बन ही नहीं सकता है। [illegible] अर्थात् रात्रिभोजनके बिना—अनुपपत्ति होनेसे यही [illegible] प्रमाण होती है।

यहाँ सङ्केतग्रहणमें 'गामानय' आदि प्रयोगमें [illegible] ग्रहण इसी 'अर्थापत्ति' प्रमाणसे होता है। उत्तमवृद्धके वाक्यको [illegible] प्रवृत्त होता है तब बालक यह अनुमान करता है कि [illegible] ही [illegible] है। [illegible] अनुमान द्वारा होता है [illegible]

इसके बीचमें 'गामानय' आदि वाक्य [illegible] उसका ग्रहण 'अर्थापत्ति' के द्वारा होता है। यदि [illegible] [illegible] और बालक वाक्य [illegible] [illegible]

अन्विताभिधानवादका उपपादन

यह इन दोनों कारिकाओंका अर्थ हुआ। इन कारिकाओंमें यह दिखलाया गया है कि सङ्केत-ग्रहमें प्रत्यक्ष, अनुमान और अर्थापत्ति इन तीन प्रमाणोंका उपयोग होता है यही 'सम्बन्ध त्रिप्रमाणकम्' का अर्थ है। सङ्केतग्रहमें इन तीनों प्रमाणोंका उपयोग निम्नलिखित प्रकार होता है—

१. प्रत्यक्ष—व्यवहारमें उत्तमवृद्ध और मध्यमवृद्धको बालक चक्षु द्वारा प्रत्यक्ष देखता है। यह चाक्षुष प्रत्यक्ष हुआ। उसके बाद उत्तमवृद्धके द्वारा कहे हुए वाक्यको अपने कानोंसे सुनता है। यह 'श्रावण प्रत्यक्ष' हुआ। फिर जब मध्यमवृद्ध गायको लाता है तो गायको भी बालक चक्षुसे देखता है। यह 'अभिधेय' अर्थका चाक्षुष प्रत्यक्ष हुआ। इस प्रकार 'शब्दका' श्रावण प्रत्यक्षसे और 'वृद्ध' तथा 'अभिधेय'का चाक्षुष प्रत्यक्षसे ग्रहण होता है। यही बात प्रथम कारिकाके 'शब्द-वृद्धाभिधेयाश्च प्रत्यक्षेणात्र पश्यति' इस पूर्वार्द्ध भागसे कही गयी है।

२. अनुमान— इस प्रकार शब्द, वृद्ध और अभिधेयका प्रत्यक्ष करनेके बाद बालकको अनुमान प्रमाणका उपयोग करना होता है। उत्तमवृद्धके वाक्यको सुननेके बाद जब मध्यमवृद्ध गवानयनमें प्रवृत्त होता है तो उसकी चेष्टाको देखकर बालक यह अनुमान करता है कि मध्यमवृद्धकी यह चेष्टा उत्तमवृद्धके वाक्यको सुननेके बाद हुई है, इसलिए उत्तमवृद्धके वाक्यके अर्थको समझकर ही की गयी है। इसलिए चेष्टारूप 'लिङ्ग'से बालक श्रोता अर्थात् मध्यमवृद्धके 'प्रतिपन्नत्व' अर्थात् ज्ञानका 'अनुमान' करता है। इस प्रकार सङ्केतग्रहमें 'अनुमान'रूप दूसरे प्रमाणका उपयोग भी सिद्ध होता है। इसी बातको प्रथम कारिकाके 'श्रोतुश्च प्रतिपन्नत्वमनुमानेन चेष्टया' इस वाक्यके द्वारा कहा गया है।

३. अर्थापत्ति—सङ्केतग्रहमें सहायता देनेवाला तीसरा प्रमाण 'अर्थापत्ति' है। 'अनुपपद्यमानार्थ-दर्शनात् तदुपपादकीभूतार्थान्तरकल्पनमर्थापत्तिः' यह 'अर्थापत्ति' प्रमाणका लक्षण है। 'अनुपपद्यमान' अर्थको देखकर उसके 'उपपादक' अर्थकी कल्पना करनेको 'अर्थापत्ति' कहते हैं। जैसे 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' देवदत्त मोटा हो रहा है परन्तु दिनमें नहीं खाता है। ऐसा देखकर या सुनकर यह स्वयं ही समझ लिया जाता है कि वह रात्रिमें खाता होगा। यहाँ दिनमें न खानेवाले देवदत्तका 'पीनत्व' अर्थात् मोटापन 'अनुपपद्यमान' अर्थ है और रात्रिभोजन उसका 'उपपादकीभूत' अर्थ है। रात्रिभोजनके बिना दिवा अभुञ्जानका पीनत्व बन ही नहीं सकता है। इसलिए पीनत्वकी अन्यथा अर्थात् रात्रिभोजनके बिना—अनुपपत्ति होनेसे वही अन्यथानुपपत्तिप्रसूता अर्थापत्ति रात्रिभोजनमें प्रमाण होती है।

यहाँ सङ्केतग्रहणमें 'गामानय' आदि प्रयोगों और उनके अर्थोंके वाच्यवाचकभावसम्बन्धका ग्रहण इसी 'अर्थापत्ति' प्रमाणसे होता है। उत्तमवृद्धके वाक्यको सुननेके बाद जब मध्यमवृद्ध गवानयनमें प्रवृत्त होता है तब बालक यह अनुमान करता है कि मध्यमवृद्धने उत्तमवृद्धके वाक्यके अर्थको जानकर ही गवानयनरूप क्रिया की है। यह ज्ञान अनुमान द्वारा होता है यह बात ऊपर कही जा चुकी है।

इसके बीचमें 'गामानय' आदि वाक्य और उसके अर्थका जो वाच्यवाचकभावसम्बन्ध है उसका ग्रहण 'अर्थापत्ति'के द्वारा होता है। यदि वाक्यमें वाचकता और अर्थमें वाच्यता अर्थात् शक्ति न होती तो वाक्यसे अर्थका बोध नहीं हो सकता था। यहाँ 'अर्थावबोध' 'अनुपपद्यमान' अर्थ है। और वाच्य वाचक-भाव सम्बन्ध उसका 'उपपादकीभूत' अर्थ है। अनुपपद्यमान अर्थावबोधको देखकर उसके 'उपपादकीभूत' वाच्यवाचकभावकी कल्पना अर्थापत्तिके द्वारा होती है। इस प्रकार अर्थापत्ति

यद्यपि वाक्यान्तरप्रयुज्यमानान्यपि प्रत्यभिज्ञाप्रत्ययेन तान्येवैतानि पदानि निश्चीयन्ते इति पदार्थान्तरमात्रेणान्वितः सङ्केतगोचरः तथापि सामान्यावच्छादितो विशेषरूप एवासौ प्रतिपद्यते व्यतिषक्तानां पदार्थानां तथाभूतत्वादित्य**न्विताभिधानवादिनः।**

'अभिहितान्वयवाद'का खण्डन किया है। 'विशिष्टाः पदार्थाः'का अर्थ 'अन्वित पदार्थ' और 'पदार्थानां वैशिष्ट्यम्'का अर्थ केवल अनन्वित पदार्थोंका बादको होनेवाला अन्वय है। इसका सारांश यह हुआ कि अन्वित पदार्थ ही वाक्यार्थके रूपमें उपस्थित होते हैं। केवल पदार्थोंकी उपस्थितिके बाद उनका अन्वय नहीं होता है। अतः 'अन्विताभिधानवाद' ही ठीक है, 'अभिहितान्वयवाद' नहीं।

विशेषान्वितमें शक्तिग्रहका उपपादन

'काव्यप्रकाश'का यह प्रकरण बड़ा कठिन प्रकरण है। पर इतनी व्याख्यासे यहाँतकका भाग सम्भवतः स्पष्ट हो गया होगा। अगली पङ्क्तियाँ इससे भी अधिक कठिन हैं। इसलिए इन पङ्क्तियोंका अर्थ लगानेसे पहिले हम उनका अभिप्राय स्पष्ट कर रहे हैं।

ग्रन्थकारने अभी दिखलाया था कि व्यवहारतः शक्तिग्रहकी जो प्रक्रिया मानी जाती है उसके अनुसार 'गामानय' आदिको सुनकर होनेवाले 'गवानयन' आदि व्यवहारके द्वारा अन्वित पदार्थमें ही सङ्केतग्रह या शक्तिग्रह हो सकता है, केवल पदार्थमें नहीं। इसलिए 'अन्विताभिधानवाद' ही ठीक है। यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यह अन्वय या सम्बन्ध किसके साथ गृहीत होता है। किसी विशेष अर्थके साथ या सामान्य अर्थके साथ? विशेष अर्थके साथ अन्वित अर्थमें शक्तिग्रह नहीं हो सकता है, क्योंकि 'गामानय'के व्यवहारसे जो शक्तिग्रह होता है वह यदि 'गो-विशिष्ट आनयन' में माना जाय तो 'अश्वमानय'में उससे अर्थज्ञान नहीं हो सकेगा। इसी प्रकार प्रत्येक शब्द भिन्न-भिन्न वाक्योंमें भिन्न भिन्न शब्दोंके साथ प्रयुक्त होता है। किसी एक अर्थके साथ अन्वित रूपमें शक्तिग्रह माननेपर अन्य वाक्योंमें प्रयुक्त उसी शब्दसे अर्थबोध नहीं हो सकेगा। इसलिए किसी विशेष अर्थके साथ अन्वित अर्थमें सङ्केतग्रह नहीं हो सकता है। केवल सामान्य रूपसे अन्वित अर्थमें सङ्केतग्रह माना जा सकता है। पर उससे तो 'अन्विताभिधानवाद' सिद्ध नहीं होता है। 'अन्विताभिधानवाद'के लिए विशेषके साथ अन्वित अर्थमें सङ्केतग्रह होना चाहिये। सामान्य अन्वयसे काम नहीं चलेगा।

इस प्रश्नका समाधान करनेके लिए ग्रन्थकारने अगला अनुच्छेद लिखा है। उसका अभिप्राय यह है कि यद्यपि एक ही पदके भिन्न-भिन्न वाक्योंमें भिन्न-भिन्न शब्दोंके साथ प्रयुक्त होनेसे किसी विशेष अर्थके साथ अन्वितरूपसे सङ्केतग्रह मानना सम्भव नहीं है, सामान्यरूपसे अन्वित अर्थमें ही सङ्केतग्रह मानना होगा; फिर भी 'निर्विशेषं न सामान्यम्' इस सिद्धान्तके अनुसार प्रत्येक सामान्यका पर्यवसान विशेषमें अवश्य होता है। विना विशेषके कोई सामान्य नहीं रहता है। इसलिए सामान्य-रूपसे अन्वित अर्थका पर्यवसान भी विशेषमें होता है। वाक्यमें अन्वित पदार्थ सामान्य नहीं, विशेष होते हैं। अतः विशेषके साथ अन्वित अर्थमें सङ्केतग्रह माननेमें कोई हानि नहीं है। यह अन्विता-भिधानवादियोंका मत है। इसी बातको ग्रन्थकार अगले अनुच्छेदमें इस प्रकार लिखते हैं—

यद्यपि ['गामानय' इत्यादि वाक्यसे भिन्न 'देवदत्त अश्वमानय' इत्यादि] दूसरे वाक्योंमें प्रयुक्त हुए 'आनय' आदि पद भी प्रत्यभिज्ञा [तत्तेदन्तावगाहिनी प्रतीतिः प्रत्यभिज्ञा]के बलसे 'ये वे ही पद हैं' [जो पहिले वाक्यमें प्रयुक्त हुए थे] यह निश्चित हो जाता है। इसलिए सामान्यतः अन्य पदार्थके साथ अन्वित पदार्थमें ही सङ्केतग्रह

तेषामपि मते सामान्यविशेषरूपः पदार्थः संकेतविषय इत्यतिविशेषभूतो वाक्यार्थान्तर्गतोऽसंकेतितत्वादवाच्य एव यत्र पदार्थः प्रतिपद्यते तत्र दूरेऽर्थान्तरभूतस्य निःशेषच्युतेत्यादौ विध्यादेश्चर्चा ।

होता है [विशेषमें अन्वितरूपसे नहीं] फिर भी परस्पर सम्बन्ध [व्यतिषक्त] पदार्थोंके ['तथाभूत' अर्थात्] विशेषरूप भी होनेसे ['निर्विशेषं न सामान्यम्' इस नियमके अनुसार] सामान्यसे अवच्छादित होनेपर [भी] वह [सङ्केतग्रह] विशेषरूप [में] भी [परिणत] हो जाता है। यह अन्विताभिधानवादियोंका मत है।

अन्विताभिधानवादमें व्यञ्जना अनिवार्य

उनके मतमें भी सामान्यविशेषरूप पदार्थ सङ्केतका विषय होता है इसलिए [कर्मत्वादिरूप सामान्यविशेष अर्थसे भिन्न, उसके भी बादमें प्रतीत होनेवाला] वाक्यार्थके अन्तर्गत 'अतिविशेष' रूप अर्थ [अर्थात् गो-अश्व आदि व्यक्तिविशेषके साथ सम्बद्ध आनयन] असङ्केतित होनेसे वाच्यार्थ न होनेपर भी जहाँ [अर्थात् अन्विताभिधानवादमें] पदार्थरूपमें प्रतीत होता है वहाँ [उस वाक्यार्थबोधके भी बाद प्रतीत होनेवाले] 'निःशेषच्युत' इत्यादिमें [वाच्यनिषेधसे व्यङ्ग्य] विध्यादि [के वाच्य होने]की चर्चा तो दूर ही है।

इस प्रसङ्गमें ग्रन्थकारने १. सामान्य २. सामान्यविशेष ३. अतिविशेष इन तीन शब्दोंका प्रयोग किया है। इनमें 'सामान्य' शब्दका अर्थ साधारणरूपसे अन्वितत्वमात्र है। 'सामान्यविशेष'का अर्थ 'कर्मत्वादिरूपसे अन्वितत्व' और 'अतिविशेष'का अर्थ गो-अश्वादि व्यक्तिविशेषके साथ अन्वितत्व है। व्यञ्जनावादी पक्षमें यह कहा गया था कि यदि अन्विताभिधान माना भी जाय तो अधिकसे अधिक 'सामान्य' रूपसे अन्वित अर्थमें सङ्केतग्रह माना जा सकता है, परन्तु उससे तो काम नहीं चल सकता। जैसे किसीको घड़ा मँगाना अभीष्ट है। वह 'घड़ा ले आओ' कहनेके स्थानपर किसीको 'वस्तु ले आओ' कहे तो उससे लानेवाला व्यक्ति 'घड़ा ले आओ' यह अर्थ नहीं समझ सकेगा। यद्यपि 'वस्तु' शब्दसे सभी वस्तुओंका ग्रहण हो सकता है। इस दृष्टिसे 'वस्तु' शब्द घड़ेका भी ग्राहक होना चाहिये। किन्तु 'वस्तु ले आओ' इस वाक्यमें सामान्यरूपसे घटके ग्राहक 'वस्तु' शब्दसे काम नहीं चलता है। उसके लिए विशेषरूपसे घट शब्दका ही प्रयोग करना होगा। इसी प्रकार सामान्यरूपसे अन्वित अर्थमें सङ्केतग्रह माननेसे काम नहीं चल सकता है यह व्यञ्जनावादी पक्षका अभिप्राय था।

इस दोषका समाधान करनेके लिए अन्विताभिधानवादीने सामान्यरूपसे अन्वितमें सङ्केतग्रह न मानकर 'निर्विशेषं न सामान्यम्' इस नियमके अनुसार 'सामान्यविशेष'में सङ्केतग्रह माना था। इस 'सामान्यविशेष'का अभिप्राय यह है कि यद्यपि 'गामानय' आदि वाक्योंमें 'आनय' आदि पदार्थोंका केवल सामान्यतः अन्वित पदार्थमें नहीं अपितु कर्मत्व आदि रूप 'सामान्यविशेष' रूपसे अन्वित अर्थमें ही सङ्केतग्रह होता है। इसलिए जब उसके साथ 'गा' या 'अश्व' ये विशेष शब्द प्रयुक्त होते हैं तब उससे सामान्यरूपसे अन्वित अर्थकी प्रतीति न होकर 'सामान्यविशेष' अर्थात् कर्मत्वादिरूपसे अन्वित अर्थकी प्रतीति होती है। 'गाम् आनय' इस वाक्यमें कर्मभूत 'गा' पद सामान्यविशेष है। इसलिए 'आनय' पद उस 'सामान्यविशेष'से अन्वित अर्थका बोधक होता है। जब उसके स्थानपर 'अश्वम् आनय' वाक्य बोला जाता है तब 'आनय' पद कर्मभूत 'अश्व'से अन्वित 'आनय'का बोधक

ये त्वभिदधति 'सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरो व्यापारः' इति 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इति विधिरेवात्र वाच्य इति,

तेऽप्यतात्पर्यज्ञास्तात्पर्यवाचोयुक्तेर्देवानांप्रियाः ।

सकते हैं। इसलिए किसी भी अर्थके बोधनके लिए व्यञ्जना आदिके माननेकी आवश्यकता नहीं है। भट्टलोल्लटके इसी मतको ग्रन्थकार अगली पंक्तिमें लिखते हैं कि—

और जो [भट्टलोल्लट आदि] यह कहते हैं कि [व्यङ्ग्यार्थके बोधनमें] यह बाणके [१. कवचछेदन, २. उरोविदारण और ३. प्राणविमोचनरूप व्यापारके] समान [आवश्यकतानुसार लम्बा खिंचकर वाच्य, लक्ष्य, व्यङ्ग्य कहे जानेवाले सभी अर्थोंका बोध करानेवाला] दीर्घ-दीर्घतर [अभिधा] व्यापार ही है [इसलिए व्यञ्जनाका मानना व्यर्थ है] और जिस अभिप्रायसे शब्द [बोला गया] है वही उसका अर्थ है इसलिए यहाँ [निःशेषच्युतचन्दनं स्तनतटम् इत्यादिमें निषेधरूप] विधिरूप अर्थ ही वाच्य है [अतएव उसके बोधनके लिए भी व्यञ्जनाके माननेकी आवश्यकता नहीं]।

भट्टलोल्लटके मतका खण्डन

यह भट्टलोल्लटका पूर्वपक्ष हुआ। इसका खण्डन करते हुए ग्रन्थकार लिखते हैं कि—

[जो लोग यह बात कहते हैं] वे मूर्ख भी तात्पर्यबोधक युक्ति [अर्थात् 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इस युक्ति] के तात्पर्यको नहीं समझते हैं [इसलिए ऐसा कहते हैं]।

इस पंक्तिमें ग्रन्थकारने भट्टलोल्लटके मतका खण्डन करते हुए केवल इतना लिख दिया है कि वे भट्टलोल्लटादि 'तात्पर्यवाचो युक्तिके' अभिप्रायको नहीं समझते हैं। क्यों नहीं समझते हैं इसका उपपादन आगे करेंगे। पंक्तियाँ कठिन हैं इसलिए पहिले उनका भाव समझ लेना ठीक होगा। व्यञ्जना-विरोधी भट्टलोल्लटादिने 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इस तात्पर्यवाचो-युक्तिका यह अभिप्राय निकाला है कि लक्ष्य-व्यङ्ग्य सब अर्थोंको वाच्यार्थ ही मान लेना चाहिये, पर इसका यह अभिप्राय नहीं है। इसका अभिप्राय यह है कि 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' जैसे वैदिक वाक्योंमें कहीं केवल होम-क्रियाका विधान अभिप्रेत होता है, कहीं 'दध्ना जुहोति' जैसे वाक्योंमें होमके पूर्व वाक्यसे प्राप्त होनेके कारण केवल दधिरूप साधनद्रव्यका विधान अभिप्रेत होता है, कहीं 'सोमेन यजेत्' जैसे वाक्योंमें सोम और याग, दोनोंके अप्राप्त होनेसे दोनोंका विधान अभिप्रेत होता है, कहीं 'लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति' जैसे वाक्योंमें केवल लौहित्यका विधान अभिप्रेत होता है।

इस प्रकार वैदिक विधिवाक्योंमें जहाँ जितना अंश प्रमाणान्तरसे अप्राप्त होता है, उतने ही अंशका विधान अभिप्रेत होता है। जैसे अग्नि दग्धका दहन नहीं करता है, अदग्धका ही दहन करता है, उसी प्रकार वैदिक विधिवाक्य प्राप्तका प्रापण, ज्ञातका ज्ञापन नहीं करते हैं, अप्राप्तका ही विधान करते हैं। इस स्थितिमें जिस अप्राप्त अंशके बोधनमें विधिवाक्यका तात्पर्य होता है वही उस विधिवाक्यका विधेय या प्रतिपाद्य अर्थ होता है, यह 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इस वाक्यका अर्थ है। लक्ष्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ सब शब्दका वाच्यार्थ ही होता है यह इस वाक्यका तात्पर्य नहीं है। यदि यही तात्पर्य होता तो कुमारिलभट्ट लक्षणावृत्तिको क्यों मानते? इसलिए भट्टलोल्लट आदि जो लोग 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इस तात्पर्यवाचोयुक्तिके आधारपर व्यङ्ग्यार्थको वाच्यार्थ सिद्ध करना चाहते हैं वे इसके अभिप्रायको नहीं समझते हैं। इस प्रकार अपने शास्त्रके भी रचयिता ठीक बात न समझ सकनेके कारण उनको 'मूर्ख' ही कहना चाहिये इस अभिप्रायसे उनको 'देवानांप्रिय' अर्थात् मूर्ख कहा गया है।

मूर्ख अर्थमें 'देवानांप्रिय' का प्रयोग

इस प्रकरणमें ग्रन्थकारने भट्टलोल्लट आदिके लिए 'देवानांप्रियः' इस विशेषणका प्रयोग किया है 'देवानांप्रिय इति च मूर्खे' इस वार्तिकके अनुसार यद्यपि संस्कृत साहित्यमें यह शब्द मूर्ख अर्थमें रूढ़ हो गया है, परन्तु यह सदासे इस गर्हित अर्थका बोधक नहीं रहा है. उसके पीछे एक इतिहास है। 'देवानांप्रिय' का सीधा अर्थ 'देवताओंका प्रिय' है, इसी सुन्दर अर्थके कारण बौद्धमतानुयायी सम्राट् अशोकने अपने नामके आगे उपाधिरूपसे इसका प्रयोग प्रारम्भ किया था। पर बादमें धार्मिक विद्वेषवश इस शब्दका प्रयोग मूर्ख अर्थमें किया जाने लगा। 'देवानांप्रिय इति च मूर्खे' लिखकर वार्तिककारने इस शब्दको मूर्ख अर्थमें रूढ़ कर दिया है। अशोकका समय विक्रमपूर्व चतुर्थ शताब्दी है और वार्तिककार कात्यायनका समय विक्रमपूर्व तृतीय शताब्दीमें पड़ता है।

इसी प्रकारकी दशा 'असुर' शब्दकी भी हुई है। 'असुर' शब्द ऋग्वेदमें परमात्माके नाम या विशेषणके रूपमें अनेक स्थानोंपर प्रयुक्त हुआ है। वैदिक धर्मसे निकली हुई आर्योंकी दूसरी शाखा पारसी धर्मके नामसे कही जाती है, उसके धर्मग्रन्थोंमें परमात्माको 'महान् असुर' 'अहुरमज्द' नामसे कहा गया है। परन्तु बादमें इस शब्दका प्रयोग कुत्सित अर्थमें पाया जाता है। संस्कृत साहित्यके बहुत बड़े भागमें 'असुर' शब्द राक्षस अर्थका वाचक हो गया है। कुछ विद्वानोंका विचार है कि 'असुर' शब्दके इस अर्थभेदका कारण धार्मिक विद्वेष ही है।

'भूतं भव्याय'

पिछली पंक्तियोंमें यह कहा गया था कि भट्टलोल्लट आदिने 'तात्पर्यवाचोयुक्ति' का अभिप्राय ठीक नहीं समझा है। तब उसका क्या ठीक अर्थ है इसको बतलानेका भार ग्रन्थकारपर आ जाता है। इसी दृष्टिसे ग्रन्थकार अगली पंक्तियोंमें उसके ठीक अभिप्रायका प्रदर्शन करेंगे। इस प्रकरणमें ही 'यत्पर शब्दः स शब्दार्थ' तथा 'भूत भव्यायोपदिश्यते' इत्यादि दो विशेष वाक्य ग्रन्थकारने उद्धृत किये हैं। ये दोनों कठिन वाक्य हैं। इनका ठीक अर्थ समझे बिना अगली पंक्तियोंका भाव ठीक समझमें नहीं आयेगा इसलिए पहिले उनका अर्थ समझ लेना आवश्यक है। 'भूतभव्यसमुच्चारणे भूत भव्यायोपदिश्यते' यह वाक्य उनमेंसे दूसरा वाक्य है। 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्।' [मीमांसा १-२-२१] तथा 'दृष्टो हि तस्यार्थः कर्मावबोधनम्' [मीमांसा १-१-२२] आदि मीमांसासूत्रोंके अनुसार सारा वेदभाग क्रियार्थक ही है। जो क्रियार्थक नहीं है वह अनर्थक हो जाता है। इसलिए वेदमें वर्णित 'यूप' 'आहवनीय' आदि अक्रियारूप सिद्ध पदार्थोंकी आनर्थक्यसे रक्षाके लिए किसी विधिवाक्य या निषेधवाक्यके साथ एकवाक्यता द्वारा उनको क्रियाका अङ्ग बनाया जाता है। इसी बातको व्यक्त करनेवाला 'भूतं भव्यायोपदिश्यते' यह मीमांसाका दूसरा प्रसिद्ध वाक्य है जिसे यहाँ ग्रन्थकारने उद्धृत किया है। इसका अभिप्राय यह है कि 'भूत' अर्थात् सिद्धरूप या अक्रियारूप तथा 'भव्य' अर्थात् साध्य या क्रियारूप दोनों प्रकारके अर्थोंके 'समुच्चारणे' अर्थात् वाक्यमें एक साथ बोले जानेपर या साथ-साथ प्रतिपादन किये जानेपर उन दोनोंमेंसे 'भूत' अर्थात् सिद्ध पदार्थ, 'भव्याय' अर्थात् साध्य क्रियाके लिए अर्थात् क्रियाके अङ्गरूपमें उपदिष्ट होता है। इसलिए क्रियाभाग या विधिनिषेधके प्रधान होनेसे विधिवाक्यमें सिद्धपदार्थका कथन होनेपर भी क्रियारूप विधि अंशकी ही प्रधानता होती है। यह 'यत्पर शब्द स शब्दार्थ' और 'भूत भव्याय उपदिश्यते' आदि मीमांसावाक्योंका अर्थ है।

इसको और अधिक स्पष्टरूपसे समझनेके लिए व्याकरणके नियमपर दृष्टि डाल लेना

मूर्ख अर्थमें 'देवानांप्रिय' का प्रयोग

इस कारिकामें ग्रन्थकारने भट्टलोल्लट आदिके लिए 'देवानाप्रियः' इस विशेषणका प्रयोग किया है। 'देवानाप्रिय इति च मूर्खे' इस वार्तिकके अनुसार यद्यपि संस्कृत साहित्यमें यह शब्द मूर्ख अर्थमें रूढ़ हो गया है, परन्तु यह सदासे इस गर्हित अर्थका बोधक नहीं रहा है, उसके पीछे एक इतिहास है। 'देवानाप्रियः' का सीधा अर्थ 'देवताओंका प्रिय' है, इसी सुन्दर अर्थके कारण बौद्धमतानुयायी सम्राट् अशोकने अपने नामके आगे उपाधिरूपसे इसका प्रयोग प्रारम्भ किया था। पर बादमें धार्मिक विद्वेषवश इस शब्दका प्रयोग मूर्ख अर्थमें किया जाने लगा। 'देवानाप्रिय इति च मूर्खे' लिखकर वार्तिककारने इस शब्दको मूर्ख अर्थमें रूढ़ कर दिया है। अशोकका समय विक्रमपूर्व चतुर्थ शताब्दी में है और वार्तिककार कात्यायनका समय विक्रमपूर्व तृतीय शताब्दीमें पड़ता है।

इसी प्रकारकी दशा 'असुर' शब्दकी भी हुई है। 'असुर' शब्द ऋग्वेदमें परमात्माके नाम या विशेषणके रूपमें अनेक स्थानोंपर प्रयुक्त हुआ है। वैदिक धर्मसे निकली हुई आर्योंकी दूसरी शाखा पारसी धर्मके नामसे कही जाती है, उसके धर्मग्रन्थोंमें परमात्माको 'महान् असुर' 'अहुरमज्द' नामसे कहा गया है। परन्तु बादमें इस शब्दका प्रयोग कुत्सित अर्थमें पाया जाता है। संस्कृत साहित्यके बहुत बड़े भागमें 'असुर' शब्द राक्षस अर्थका वाचक हो गया है। कुछ विद्वानोंका विचार है कि 'असुर' शब्दके इस अर्थभेदका कारण धार्मिक विद्वेष ही है।

'भूतं भव्याय'

पिछली पंक्तियोंमें यह कहा गया था कि भट्टलोल्लट आदिने 'तात्पर्यवाचोयुक्ति' का अभिप्राय ठीक नहीं समझा है। तब उसका क्या ठीक अर्थ है इसको बतलानेका भार ग्रन्थकारपर आ जाता है। इसी दृष्टिसे ग्रन्थकार अगली पंक्तियोंमें उसके ठीक अभिप्रायका प्रदर्शन करेंगे। इस प्रकरणमें ही 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' तथा 'भूतं भव्यायोपदिश्यते' इत्यादि दो विशेष वाक्य ग्रन्थकारने उद्धृत किये है। ये दोनों कठिन वाक्य हैं। इनका ठीक अर्थ समझे बिना अगली पंक्तियोंका भाव ठीक समझमें नहीं आयेगा इसलिए पहिले उनका अर्थ समझ लेना आवश्यक है। 'भूतभव्यसमुच्चारणे भूतं भव्यायोपदिश्यते' यह वाक्य उनमेंसे दूसरा वाक्य है। 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्।' [मीमांसा १–२–१] तथा 'दृष्टो हि तस्यार्थः कर्मावबोधनम्' [मीमांसा १–१–२२] आदि मीमांसासूत्रोंके अनुसार सारा वेदभाग क्रियार्थक ही है। जो क्रियार्थक नहीं है वह अनर्थक हो जाता है। इसलिए वेदमें वर्णित 'यूप', 'आहवनीय' आदि अक्रियारूप सिद्ध पदार्थोंकी आनर्थक्यसे रक्षाके लिए किसी विधिवाक्य या निषेधवाक्यके साथ एकवाक्यता द्वारा उनको क्रियाका अङ्ग बनाया जाता है। इसी बातको व्यक्त करनेवाला 'भूतं भव्यायोपदिश्यते' यह मीमांसाका दूसरा प्रसिद्ध वाक्य है जिसे यहाँ ग्रन्थकारने उद्धृत किया है। इसका अभिप्राय यह है कि 'भूत' अर्थात् सिद्धरूप या अक्रियारूप तथा 'भव्य' अर्थात् साध्य या क्रियारूप दोनों प्रकारके अर्थोंके 'समुच्चारणे' अर्थात् वाक्यमें एक साथ बोले जानेपर या साथ-साथ प्रतिपादन किये जानेपर उन दोनोंमेंसे 'भूत' अर्थात् सिद्ध पदार्थ, 'भव्याय' अर्थात् साध्य क्रियाके लिए अर्थात् क्रियाके अङ्गरूपमें उपदिष्ट होता है। इसलिए क्रियाभाग या विधिनिषेधके प्रधान होनेसे विधिवाक्यमें सिद्धपदार्थका कथन होनेपर भी क्रियारूप विधि अंशकी ही प्रधानता होती है। यह 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' और 'भूतं भव्याय उपदिश्यते' आदि मीमांसावाक्योंका अर्थ है।

इसको और अधिक स्पष्टरूपसे समझनेके लिए वाक्यरचनाके नियमपर दृष्टि डाल लेना

सुविधाजनक होगा। लौकिक वाक्योंकी रचना 'उद्देश्य' और 'विधेय' दो भागोंको मिलाकर होती है। प्रत्येक वाक्यमें एक कर्ता और एक क्रिया अवश्य होती है। 'राम' 'श्याम' आदि कोई सुबन्त पद वाक्यमें कर्ताके रूपमें प्रयुक्त होता है और 'गच्छति', 'पठति' आदि कोई तिङन्त पद क्रियारूपसे प्रयुक्त होता है। वाक्यमें आये हुए कर्तृपदको 'उद्देश्य' और क्रियापदको 'विधेय' कहा जाता है और वाक्यमें विधेयांशका ही सदा प्राधान्य रहता है। यह लौकिक वाक्योंकी स्थिति है।

वैदिक वाक्योंमें भी सदा क्रियाभागका ही प्राधान्य रहता है। यह बात 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्' आदि मीमांसासूत्रमें कही गयी है। इसीका प्रतिपादन यहाँ 'भूतं भव्याय उपदिश्यते' इत्यादि वाक्यमें किया गया है। निरुक्तकार यास्कने भी 'भावप्रधानमाख्यातम्। सत्त्वप्रधानानि नामानि। तत्र उभे भावप्रधाने भवतः' लिखकर इसी नियमकी पुष्टि की है। 'आख्यात' अर्थात् तिङन्तपदमें 'भाव' अर्थात् क्रियाका प्राधान्य होता है। उसी धातुसे बने 'नाम' पदमें द्रव्यका प्राधान्य होता है। और वाक्यमें जहाँ नाम और आख्यात दोनों होते हैं वहाँ 'भाव' अर्थात् क्रियाका प्राधान्य होता है। यह 'निरुक्त'के इस उद्धरणका अभिप्राय है। यही मीमांसाके 'भूतं भव्याय उपदिश्यते' आदि वाक्यका अभिप्राय है।

'लोहितोष्णीषाः'

इसी अनुच्छेदमें 'लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति' यह दूसरा विधिवाक्य ध्यान देने योग्य है। यह वाक्य कर्मकाण्डके ग्रन्थोंमें 'श्येनयाग'के प्रकरणमें आता है। 'श्येनयाग' एक 'विकृतियाग' है। 'ज्योतिष्टोमयाग' उसका 'प्रकृतियाग' है। 'यत्र समग्राङ्गोपदेशः सा प्रकृतिः' जिस यागमें समस्त अङ्गोंका वर्णन किया गया हो वह 'प्रकृतियाग' होता है, उसे प्रधानयाग भी कह सकते हैं। प्रकृतियागके साथ अनेक 'विकृतियाग' भी वर्णित होते हैं। उनमें सारे विधिविधानोंका वर्णन नहीं किया जाता, केवल विशेष-विशेष नवीन अङ्गोंका वर्णन किया जाता है। शेष सारी प्रक्रिया 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या' इस नियमके अनुसार 'प्रकृतियाग'के समान ही की जाती है।

'लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति' यह वाक्य 'ज्योतिष्टोमयाग'के विकृतिभूत 'श्येनयाग'में आया है। उसमें साधारणतः ऋत्विक्-प्रचरणका विधान प्रतीत होता है। परन्तु 'ज्योतिष्टोम' रूप 'प्रकृतियाग'में भी इसी आशयका 'सोष्णीषा विनीतवसना ऋत्विजः प्रचरन्ति' इस वाक्यके द्वारा ऋत्विक्-प्रचरणका विधान किया हुआ है। 'श्येनयाग'में 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या' इस नियमके अनुसार ऋत्विक्-प्रचरण स्वयं प्राप्त हो जाता है। वहाँ उसका दुबारा विधान करनेकी आवश्यकता नहीं है। इसी प्रकार 'उष्णीष' अर्थात् 'पगड़ी'का विधान भी ज्योतिष्टोमयागवाले वाक्यमें आये हुए 'सोष्णीषाः' पदसे किया जा चुका है। विकृतियागमें उसके भी विधानकी आवश्यकता नहीं है। अतः विकृतिभूत 'श्येनयाग'में जो यह 'लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति' वाक्य आया है उसमें न तो ऋत्विक्-प्रचरणका विधान अभिप्रेत है और न 'उष्णीष'का। केवल उष्णीषके 'लौहित्य' (लाल रङ्ग) का विधान अभिप्रेत है। अर्थात् 'श्येनयाग'में ऋत्विजोंके उष्णीष लाल रङ्गके होने चाहिये। इतना ही उस वाक्यका अभिप्राय है। 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' यह वाक्य इसी अर्थको सूचित करता है। इसीलिए ग्रन्थकारने 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इस 'तात्पर्यवाचोयुक्ति'का अर्थ स्पष्ट करते हुए इस वाक्यको यहाँ उद्धृत किया है।

इसी बातको ग्रन्थकार आगे इस प्रकार कहते हैं—

तथा हि—भूतभव्यसमुच्चारणे भूतं भव्यायोपदिश्यते इति कारकपदार्थाः क्रियापदार्थेनान्वीयमानाः प्रधानक्रियानिर्वर्तकस्वक्रियाभिसम्बन्धात् साध्यायमानतां प्राप्नुवन्ति । तत्र अदग्धदहनन्यायेन यावदप्राप्तं तावद्विधीयते । यथा ऋत्विक्प्रचरणे प्रमाणान्तरात्सिद्धे 'लोहितोष्णीषाः ऋत्विजः प्रचरन्ति' इत्यत्र लोहितोष्णीषत्वमात्रं विधेयम् । हवनस्यान्यतः सिद्धेः 'दध्ना जुहोति' इत्यादौ दध्यादेः करणत्वमात्रं विधेयम् ।

जैसे कि—[भूत] 'सिद्ध और [भव्य क्रियारूप] साध्यके साथ-साथ पठित होनेपर सिद्धपदार्थ क्रियाके लिए [क्रियाके अङ्गरूपमें] कहा जाता है। इस नियमके अनुसार क्रियापदार्थके साथ अन्वित होनेवाले कारकपदार्थ [कर्ता, कर्म, करण आदिरूप सिद्ध द्रव्य प्रधान क्रियाके अङ्ग होनेके कारण] प्रधान क्रियाकी सम्पादक अपनी [अङ्गभूत] क्रियाके सम्बन्धसे साध्य-जैसे हो जाते हैं। इसलिए अदग्धदहनन्यायसे [अर्थात् जैसे काष्ठ आदिमें जितना भाग बिना जला होता है अग्नि उतने ही भागको जलाता है, जले हुएको नहीं जलाता है, इस युक्तिसे विधिवाक्योंमें] जितना [भाग प्रमाणान्तरसे] अप्राप्त होता है उतनेका ही विधान किया जाता है। जैसे [लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति] 'लाल पगड़ीवाले ऋत्विक् घूमते हैं' इसमें ऋत्विक् प्रचरणके प्रमाणान्तरसे सिद्ध होनेके कारण 'लोहितोष्णीषत्वमात्र' [अर्थात् उष्णीषके भी केवल लौहित्य] का विधान किया जाता है और 'दध्ना जुहोति' इत्यादि [विधि]में होमके अन्य प्रमाणसे सिद्ध होनेसे दध्यादिके करणत्वमात्रका विधान किया जाता है।

'लोहितोष्णीषाः'वाले वाक्यके समान दूसरा 'दध्ना जुहोति' वाक्य भी यहाँ ग्रन्थकारने उद्धृत किया है। यह वाक्य अग्निहोत्रके प्रकरणमें आया है। 'अग्निहोत्रं जुहोति' यह इस प्रकरणका उत्पत्तिवाक्य है। उसमें 'होम'का विधान किया हुआ है। अतः 'दध्ना जुहोति' वाक्यमें केवल दधिरूप करण या साधनका विधान है, होमका नहीं। यह इस वाक्यका अभिप्राय है। यह बात 'यत्पर शब्द स शब्दार्थः' इस नियमके अनुसार निकलती है। इसलिए 'तात्पर्यवाचोयुक्ति'की व्याख्या ग्रन्थकारने इस वाक्यमें भी प्रस्तुत की है।

द्रव्यकी गौणसाध्यता

इसी अनुच्छेदमें 'कारकपदार्थाः क्रियापदार्थेनान्वीयमानाः'के साथ दिया हुआ 'प्रधानक्रियानिर्वर्तकस्वक्रियाभिसम्बन्धात् साध्यायमानतां प्राप्नुवन्ति' यह अंश भी कुछ व्याख्याकी अपेक्षा रखता है। द्रव्य सिद्ध पदार्थ होता है, साध्य नहीं। किन्तु कभी कभी यह भी साध्य जैसा प्रतीत होता है। द्रव्यकी यह साध्यता केवल गौणसाध्यता ही होती है। 'घटमानय'में आनयन अर्थात् 'समीपदेशसंयोग' प्रधान क्रिया है। उसकी निर्वर्तक अर्थात् हेतुभूत, घटकी 'स्पन्द' क्रिया है। उसकी दृष्टिसे घट साध्य होता है। जब घटका आनयन होता है तब सबसे पहिले 'नोदनादभिघाताद्वा कर्मोत्पद्यते' घटमें कर्म होता है। उस कर्मसे विभाग और विभागसे पूर्वदेशसंयोगका नाश होकर उत्तरदेशसंयोग होता है। इसमें घटमें विभागको उत्पन्न करनेवाला जो कर्म है वह अप्रधान क्रिया है। उसीको 'स्पन्द' कहा जाता है। घट स्वरूपतः सिद्ध है किन्तु स्पन्दाश्रयत्वेन पूर्वसिद्ध नहीं है। घटमें 'नोदन' अर्थात् ज्ञानपूर्वक की हुई क्रिया अथवा 'अभिघात' अर्थात् टक्कर आदिसे उत्पन्न क्रियाके होनेपर वह 'स्पन्द'-का आश्रय बनता है। इस प्रकार घट स्वरूपतः सिद्ध रहनेपर भी उस 'नोदन' या 'अभिघात' रूप क्रिया द्वारा 'स्पन्दाश्रयत्वेन' साध्य होता है। इसी बातको यहाँ प्रधान क्रिया [आनयन]की निर्वर्तक [हेतुभूत]

कचिदुभयविधिः, कचित् त्रिविधिरपि यथा 'रक्तं पटं वय' इत्यादौ एकविधिर्द्वि-विधिस्त्रिविधिर्वा । ततश्च यदेव विधेयं तत्रैव तात्पर्यमित्युपात्तस्यैव शब्दस्यार्थे तात्पर्यं न तु प्रतीतमात्रे । एवं हि 'पूर्वो धावति' इत्यादावपराद्यर्थेऽपि कचित्तात्पर्यं स्यात् ।

स्वक्रिया [नोदन या अभिघातजन्य स्पन्द] के सम्बन्धसे घट आदि सिद्ध पदार्थ साध्य-जैसे प्रतीत होते हैं, इस वाक्यसे कहा है । इस वाक्यको यहाँ देनेका अभिप्राय यह है कि भूत पदार्थ कभी मुख्य–साध्य नहीं होते है । उनमे जो साध्यता प्रतीत होती है वह गौण है । मुख्यरूपसे क्रिया ही साध्य होती है । इसलिए लौकिक-वैदिक दोनो प्रकारके वाक्योमे क्रियाभागकी ही प्रधानता होती है ।

कहीं दोका विधान भी होता है [जैसे, सोमेन यजेत्' यहाँ सोम और याग दोनोंके अप्राप्त होनेसे दोनोंका विधान होता है]। कहीं तीनका भी विधान होता है। जैसे, 'रक्तं पटं वय' 'लाल कपड़ा बुनो'; यहाँ आवश्यकताके अनुसार कभी केवल [बुनने] एकका विधान अथवा [कभी पट और वयन] दोका, अथवा [कभी रक्त, पट और वयन] तीनका भी विधान हो सकता है । इसलिए [जहाँ] जो विधेय होता है [वहाँ] उसमें ही तात्पर्य होता है [यह 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' का अभिप्राय है]। इसलिए जो शब्द [वाक्यमें] उपात्त [पठित या श्रुत] है उसके ही अर्थमें [वाक्यका] तात्पर्य हो सकता है, न कि शब्दके उपात्त न होनेपर भी किसी प्रकारसे प्रतीत होनेवाले अर्थमात्रमें । [यदि वाचक शब्दका ग्रहण किये विना किसी प्रकारसे प्रतीत होनेवाले अर्थमात्रमें तात्पर्य माना जाय तो] इस प्रकार 'पूर्वो धावति' पहिला [घोड़ा या आदमी] दौड़ता है इत्यादिमें [पहिले शब्दके सापेक्ष होनेसे उसके साथ ही 'दूसरा' यह अर्थ भी प्रतीत हो सकता है और यदि प्रतीतमात्रमे तात्पर्य माना जाय तो यहाँ 'पूर्व' पदका] कहीं 'अपर' आदि अर्थमें भी तात्पर्य होने लगेगा [अर्थात् 'पूर्वो धावति'का 'अपरो धावति' यह तात्पर्य भी हो जायगा]।

उपात्त शब्दके अर्थमें ही तात्पर्य : व्यञ्जनावादी पक्ष

इस प्रकार मीमांसकोंने 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इस वाक्यका यह अर्थ निर्णय किया है कि सिद्ध पदार्थोंका विधान अनर्थक होनेसे मुख्यरूपसे साध्यभूत क्रियांशका ही विधान किया जाता है । जहाँ कहीं यागादि क्रिया अन्य प्रमाणोंसे सिद्ध होती है वहाँ उनके उद्देश्यसे दधि आदि द्रव्योंका भी विधान किया जाता है । किन्तु प्रत्येक दशामें जो विधेय होता है उसीमें वाक्यके अन्य पदोंका तात्पर्य होता है । परन्तु जिस अर्थमें तात्पर्य होता है उसका वाचक शब्द वाक्यमें अवश्य उपात्त होता है । इसका फलितार्थ यह निकला कि वाक्यमें उपात्त किसी एक शब्दके अर्थमें ही वाक्यके अन्य पदोंका तात्पर्य होता है । अतएव अनुपात्त अर्थमें तात्पर्य नहीं होता है । व्यङ्ग्यार्थका वाचक कोई शब्द वाक्यमें उपात्त नहीं होता । इसलिए 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' यह नियम उसपर लागू नहीं होता है । अतः व्यङ्ग्यार्थकी प्रतीति अभिधासे सम्भव न होनेसे उसकी प्रतीतिके लिए व्यञ्जनावृत्ति [illegible] नहीं हो सकती । भट्टलोल्लट आदिने 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' का नियम लगाकर [illegible] [illegible] किया है [illegible] नहीं है और न [illegible] मीमांसकों [illegible] [illegible] । [illegible] प्रतीत [illegible] [illegible] है । [illegible] [illegible] ।

न चाख्यातवाक्ययोर्द्वयोरङ्गाङ्गिभाव इति—

विषभक्षणवाक्यस्य सुहृद्वाक्यत्वेनाङ्गता कल्पनीयेति 'विषभक्षणादपि दुष्टमेतद्गृहे भोजनमिति सर्वथा मास्य गृहे भुङ्क्थाः' इत्युपात्तशब्दार्थ एव तात्पर्यम् ।

व्यञ्जनाविरोधी पूर्वपक्ष—व्यञ्जनावादी पक्षने जो यह समाधान किया है वह उक्त दोनों वाक्योंकी एकवाक्यता मानकर किया है। परन्तु व्यञ्जनाविरोधी पक्षका यह कहना है कि 'एक-तिङ् वाक्यम्' इस नियमके अनुसार एक एक तिङन्त पदसे युक्त होनेसे ये दोनों स्वतन्त्र वाक्य हैं उनकी एकवाक्यता ही नहीं बनती है। जैसे 'गुणानां च परार्थत्वादसम्बन्धः' अर्थात् दो या अधिक गौण पदार्थ परस्पर सम्बद्ध न होकर किसी प्रधानके साथ ही सम्बद्ध होते हैं। इसी प्रकार दो प्रधान अर्थोंका भी परस्पर अङ्गाङ्गिभावसम्बन्ध नहीं हो सकता है। इसलिए इन दोनों वाक्योंकी एक-वाक्यता सम्भव न होनेसे उस एकवाक्यताके आधारपर जो विषभक्षणवाक्यका उपात्त शब्दके अर्थमें तात्पर्य दिखलानेका यत्न किया था वह भी असङ्गत है। इसी बातको ग्रन्थकी अगली एक पंक्तिमें इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—

दो तिङन्त [क्रियापदोंसे घटित] वाक्योंमें [दोनोंके प्रधान स्वतन्त्र वाक्य होनेसे] अङ्ग-अङ्गिभाव नहीं हो सकता है [इसलिए यहाँ दोनों वाक्योंकी जो एक-वाक्यता व्यञ्जनावादी सिद्ध करना चाहता है वह नहीं बन सकती है]।

जिसमें एक तिङन्त या क्रियापद हो उसको एक वाक्य कहते हैं। इस दृष्टिसे इस वाक्यमें 'भक्षय' और 'भुङ्क्थाः' दो क्रियापद होनेसे इनको एक वाक्य नहीं अपितु दो वाक्य कहना होगा, इसलिए यहाँ इन दोनों वाक्योंका अङ्गाङ्गिभावसम्बन्ध असम्भव होनेसे दोनों मिलकर एक वाक्य नहीं बन सकता है, फलतः 'मा चास्य'में आया हुआ 'चकार' इन दोनोंकी एकवाक्यताका सूचक नहीं है। इस प्रकार इनमें तात्पर्य नहीं है। यह पूर्वपक्षीका कथन है। इस वाक्यमें उपात्त शब्दोंके अर्थमें तात्पर्य नहीं है।

व्यञ्जनावादी सिद्धान्तपक्ष—व्यञ्जनाविरोधी भट्टलोल्लटादि द्वारा उठायी गयी इस शङ्काका समाधान ग्रन्थकारने यह किया है कि यहाँ 'विषं भक्षय' इसको यदि अलग वाक्य माना जाय तो इस वाक्यका अर्थ सर्वथा अनुपपन्न हो जाता है। यह वाक्य 'सुहृद्वाक्य' है। कोई मित्र अपने मित्रको विष खानेकी सलाह नहीं दे सकता है। इसलिए विषभक्षणका आदेश देनेवाला यह वाक्य यदि स्वयं पूर्ण वाक्य माना जाय तो उसका अर्थ सङ्गत नहीं होता है। इसलिए उसका 'मा चास्य गृहे भुङ्क्थाः' इस दूसरे वाक्यके साथ सम्बन्ध मानना आवश्यक हो जाता है। इसलिए विषभक्षणवाक्य स्वतः अनुपपन्नार्थ होनेके कारण दूसरे वाक्यका अङ्ग बन जाता है। अङ्गाङ्गिभावसम्बन्ध होनेसे दोनोंकी एकवाक्यता बन जाती है और एकवाक्यता हो जानेपर 'उपात्तस्यैव शब्दस्यार्थे तात्पर्यम्' इस नियमकी सङ्गति बन जाती है।

व्यञ्जनावादीकी इसी युक्तिको ग्रन्थकारने अगली पंक्तिमें इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

विषभक्षणवाक्य [अर्थात् 'विषं भक्षय' इस वाक्य] के 'सुहृद्वाक्य' होनेके कारण [उसको स्वतन्त्र पूर्ण वाक्य माननेपर उसके मुख्यार्थके अनुपपन्न होनेसे लक्षणा द्वारा अगले वाक्यमें] उसकी अङ्गताकी कल्पना करनी चाहिये। इस प्रकार 'इसके घरमें भोजन करना विषभक्षणसे भी अधिक बुरा है' इसलिए इसके घर बिलकुल भोजन नहीं करना चाहिये। यह ['विषं भक्षय' इस वाक्यका तात्पर्य होता है और वह 'मा चास्य गृहे भुङ्क्थाः' इस] उपात्त शब्दके अर्थमें ही तात्पर्य है।

यदि च शब्दश्रुतेरनन्तरं यावानर्थो लभ्यते तावति शब्दस्याभिधैव व्यापारः, ततः कथं 'ब्राह्मण पुत्रस्ते जातः' 'ब्राह्मण कन्या ते गर्भिणी' इत्यादौ हर्षशोकादीनामपि न वाच्यत्वम्? कस्माच्च लक्षणा? लक्षणीयेऽप्यर्थे दीर्घदीर्घतराभिधाव्यापारेणैव प्रतीतिसिद्धेः। किमिति च श्रुति-लिङ्ग-वाक्य-प्रकरण-स्थान-समाख्यानां पूर्वपूर्वबलीयस्त्वम्? इत्यन्विताभिधानवादेऽपि विधेरपि सिद्धं व्यङ्ग्यत्वम्।

इस प्रकार ग्रन्थकारने अपने व्यञ्जनावादी सिद्धान्तपक्षकी ओरसे यह सिद्ध किया कि 'यत्पर शब्दः स शब्दार्थः'के अनुसार जो तात्पर्यका निर्णय किया जाता है वह वाक्यमें उपात्त शब्दके अर्थमें ही हो सकता है। वाक्यमें अनुपात्त शब्दके अर्थमें तात्पर्यका निश्चय नहीं हो सकता है। व्यङ्ग्यार्थके प्रतीतिस्थलमें जो व्यङ्ग्यार्थ होता है उसका वाचक कोई पद वाक्यमें उपात्त नहीं होता है अतएव उस व्यङ्ग्यार्थको 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इस सिद्धान्तके अनुसार तात्पर्यार्थ नहीं माना जा सकता है। इसलिए वह अभिधा द्वारा उपस्थित नहीं होता है। उसके लिए अलग व्यञ्जनावृत्तिका मानना अपरिहार्य है।

व्यङ्ग्यार्थके बोधके लिए अभिधासे भिन्न और वृत्ति माननी ही होगी इसका उपपादन करनेके लिए ग्रन्थकार और भी युक्ति आगे देते हैं।

और यदि [यह कहा जाय कि] शब्दके श्रवणके बाद जितना भी अर्थ प्रतीत होता है उस सबमें शब्दका केवल अभिधाव्यापार ही [कार्य करता] है तो 'हे ब्राह्मण, तुम्हारे पुत्र उत्पन्न हुआ है', 'हे ब्राह्मण, तुम्हारी [अविवाहिता] कन्या गर्भिणी हो गयी है' इत्यादि [वाक्यों] में [उनके सुननेसे उत्पन्न होनेवाले क्रमशः] हर्ष तथा शोकादिको भी वाच्य क्यों नहीं मानते हो? और लक्षणाको भी क्यों मानते हो? [उसके माननेकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि] लक्षणीय अर्थमें भी [इच्छानुसार दूरतक खिंचनेवाले] दीर्घ-दीर्घतर अभिधाव्यापारसे ही [लक्ष्यार्थकी भी] प्रतीति सिद्ध हो जानेसे [व्यञ्जनाके समान लक्षणाका मानना भी अनावश्यक है। भट्टलोल्लट आदि मीमांसक व्यञ्जना तो नहीं मानते हैं, परन्तु लक्षणा मानते हैं इसलिए उनपर यह आक्षेप किया गया है] और [आपके मीमांसादर्शनमें माने हुए] श्रुति-लिङ्ग-वाक्य-प्रकरण-स्थान-समाख्या [इन छः प्रमाणों के समवाय] में पूर्वपूर्वकी बलवत्ता क्यों मानी जाती है? [अर्थात् यदि शब्द-श्रवणके बाद प्रतीत होनेवाले सभी अर्थोंकी प्रतीति अभिधासे ही हो जाती है तो न लक्षणाकी आवश्यकता रहती है और न श्रुति आदि प्रमाणोंकी प्रबलता-दुर्बलताका निश्चय हो सकता है] इसलिए अन्विताभिधानवादमें भी ['निःशेषच्युतचन्दनं' इत्यादि उदाहरणोंमें निषेधरूप वाच्यार्थसे प्रतीत होनेवाले] विधिकी व्यङ्ग्यता सिद्ध होती है।

बलाबलाधिकरण

श्रुति, लिङ्ग आदि छः प्रमाणोंकी प्रबलता-दुर्बलताके जिस प्रकारकी चर्चा यहाँ की जा रही है वह मीमांसादर्शनका एक प्रमुख सिद्धान्त है। उसका उपयोग बहुत जगह किया जाता है इसलिए उसको संक्षिप्त विवरणसे समझ लेना उचित होगा। मीमांसाने इस प्रकरणको 'बलाबलाधिकरण' कहा है। उसका छोटा-सा विवेचन हम आगे दे रहे हैं।

मीमांसादर्शनमें वेदको १. विधि २. मन्त्र ३. नामधेय, ४. निषेध और ५. अर्थवाद इन भागोंमें विभक्त किया गया है। इनमेंसे विधिके भी १. उत्पत्तिविधि, २. विनियोगविधि ३. [illegible]

विधि, ४. प्रयोगविधि ये चार भेद किये गये हैं। इनमेंसे अङ्ग और प्रधानके सम्बन्ध अर्थात् अङ्गाङ्गिभावकी बोधक विधि 'विनियोगविधि' कहलाती है। इस विनियोगविधिके सहकारी १. श्रुति, २. लिङ्ग, ३. वाक्य, ४. प्रकरण, ५. स्थान और ६. समाख्या ये छः प्रमाण माने गये हैं। इनकी सहायतासे विनियोगविधि द्वारा प्रधान और अप्रधानके अङ्गाङ्गिभावका निर्णय होता है। परन्तु कहीं ऐसा भी हो सकता है कि इनमेंसे दो या अधिक प्रमाणोंके एक ही वाक्यमें प्रयोगका अवसर आ जाय और उनमें एक प्रमाण किसीको प्रधान बतलाता हो और दूसरे प्रमाणके अनुसार किसी अन्यकी प्रधानता सिद्ध होती हो। तब अन्तमें निर्णय किस आधारपर किया जाय इसके लिए मीमांसादर्शनके तृतीय अध्यायके तृतीय पादमें चौदहवाँ सूत्र निम्नलिखित प्रकार लिखा गया है—

श्रुति-लिङ्ग-वाक्य-प्रकरण-स्थान-समाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यम्-
अर्थविप्रकर्षात्। मीमांसादर्शन, ३-३-१४

इसका अभिप्राय यह है कि श्रुति, लिङ्ग आदि छः प्रमाणोंमेंसे यदि अनेक प्रमाणोंका एक स्थानपर इकट्ठे प्रवृत्त होने और उनमें विरोध होनेका अवसर आ जाय तो उनमेंसे उत्तर उत्तरको दुर्बल और पूर्व-पूर्वको प्रबल समझना चाहिये। इसी आधारपर गुणप्रधानभावका निर्णय करना चाहिये। इसीका नाम 'बलाबलाधिकरण' है।

१. श्रुतिप्रमाण

[illegible] प्रमाणोंमें सबसे अधिक प्रबल प्रमाण 'श्रुति' है। 'श्रुति'का [illegible] अर्थात् अपने अर्थके बोधन और प्रामाण्यके लिए किसी अन्यकी [illegible] 'श्रुति' कहलाता है। इस श्रुतिप्रमाणके भी १. [illegible], २. [illegible] [illegible]

यह 'श्रुति', लिङ्ग आदि उत्तरवर्ती प्रमाणोंकी अपेक्षा अधिक बलवती होती है, क्योंकि इसको अपने अर्थ या अङ्गप्रधानभावके बोधनमें किसी अन्यकी अपेक्षा नहीं होती है। यह तुरन्त अङ्ग-प्रधानभावका निर्णय कर देती है। 'लिङ्ग' आदि अन्य प्रमाण सीधे, निरपेक्षरूपसे अङ्गप्रधान-भावका निर्णय नहीं कर सकते हैं। उन्हें अपने समर्थनमें श्रुतिकी कल्पना करनी होती है। उससे निर्णय होनेमें विलम्ब होता है। इसलिए अन्य सब प्रमाणोंकी अपेक्षा 'श्रुति' सबसे प्रबल प्रमाण है। श्रुतिकी प्रबलताके कारण ही 'ऐन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते' इस वाक्यमें इन्द्रदेवतावाली 'ऐन्द्री' ऋचाका गार्हपत्याग्निकी स्तुतिमें विनियोग होता है। अन्यथा इन्द्रदेवताके लिङ्ग अर्थात् चिह्नसे युक्त होनेके कारण 'ऐन्द्री' ऋचासे इन्द्रकी ही स्तुति होनी चाहिये थी।

२. लिङ्गप्रमाण

दूसरा प्रमाण 'लिङ्ग' है। 'लिङ्ग'का अर्थ 'सामर्थ्यं सर्वशब्दानां लिङ्गमित्यभिधीयते' इस लक्षणके अनुसार 'सामर्थ्य' ही किया जाता है। सामर्थ्यका अर्थ 'रूढि' है। आगे 'समाख्या' नामक छठा प्रमाण आवेगा, उसका अर्थ यौगिक-शब्द होगा। इसलिए 'रूढि' रूप 'लिङ्ग' [illegible] शब्दरूप 'समाख्या' प्रमाणसे भिन्न है।

इस रूढिरूप लिङ्गप्रमाणकी वाक्यप्रमाणकी अपेक्षा प्रबलताके कारण 'बर्हिर्देवसदनं [illegible]' देवताओंके या विद्वानोंके बैठने योग्य 'बर्हि' अर्थात् कुशको काटता हूँ। इस वाक्यमें [illegible] रूढ 'कुश' अर्थ ही लिया जाता है। कुशके सदृश 'उलप' आदि अन्य घासका [illegible] नहीं किया जाता है। यह लिङ्गप्रमाण अपने उत्तरवर्ती वाक्यादि अन्य प्रमाणोंसे [illegible] है। इसलिए 'स्योन ते सदन कृणोमि' इस मन्त्रकी पुरोडाशके सदन करणमें जो [illegible] वाक्यसे नहीं अपितु लिङ्गसे मानी जाती है।

३. वाक्यप्रमाण

तीसरा प्रमाण 'वाक्य' है। 'वाक्य'का अर्थ 'समभिव्याहार' या [illegible] जुहूर्भवति न स पाप श्लोक शृणोति' इस वाक्यमें 'पर्ण' और 'जुहू'के [illegible] होनेके कारण 'वाक्य'से 'पर्णता'की 'जुहू'के प्रति अङ्गता प्रतीत होती है [illegible] काटकर डाली जानेवाली हलुआ आदि जैसी हविकी आहुति देनेके [illegible] वह 'जुहू' सदा पर्ण अर्थात् पत्तेकी ही बनायी जानी चाहिये। यह [illegible]

यह 'वाक्य' रूप तृतीय प्रमाण अपने उत्तरवर्ती [illegible] बलवान् होता है। इसलिए 'इन्द्राग्नी इद हवि.' यह दर्शना[illegible] [illegible] विशेष याग] के साथ पठित होनेसे समभिव्याहाररूप '[illegible]' अङ्ग होता है। प्रकरणसे पूर्णमास अर्थात् पूर्णिमाके [illegible] आदि [illegible] सकता था। परन्तु वाक्यके बलवान होनेसे यह केवल [illegible]

[illegible]

४. प्रकरणप्रमाण

चौथा प्रमाण 'प्रकरण' है। 'उभयाकाङ्क्षा [illegible]' प्रकरणप्रमाण अपने उत्तरवर्ती स्थान आदि प्रमाणोंसे [illegible] राजन्य जिनाति' इत्यादि अभिषेचनीयके साथ [illegible] [illegible] न होकर 'प्रकरण'के प्रबल होनेसे राजसूयके [illegible] [illegible]

५. स्थानप्रमाण

पाँचवाँ प्रमाण 'स्थान' है। देशकी समानता का नाम 'स्थान' है। यह दो प्रकारका होता है—एक पाठसादेश्य और दूसरा अनुष्ठानसादेश्य। यह 'स्थान' प्रमाण अपने उत्तरवर्ती 'समाख्या' प्रमाणसे अधिक बलवान् होता है। इसलिए 'शुन्धध्वं दैव्याय कर्मणे' यह मन्त्र पाठ-सादेश्यके कारण सान्नाय्यपात्रों अर्थात् दूध दहीके पात्रोंके शोधनका अङ्ग होता है। 'पौरोडाशिक' इस समाख्यासे पुरोडाशपात्रोंके शोधनका अङ्ग नहीं होता है।

६. समाख्याप्रमाण

छठा प्रमाण 'समाख्या' है। समाख्या 'यौगिक' शब्दको कहते हैं। यह 'समाख्या' वैदिकी तथा लौकिकी भेदसे दो प्रकारकी होती है। 'होतृचमस' इस वैदिकी समाख्यासे 'होता' चमस-भक्षणका अङ्ग होता है।

इन छः प्रमाणोंमें जो पूर्व-पूर्वके बलीयस्त्वका निश्चय किया गया है, इसका कारण यह है कि श्रुति निरपेक्ष होनेसे सबसे पहले उससे अर्थकी प्रतीति हो जाती है इसलिए वह सबसे बलवान् है। अन्य प्रमाणोंमें अर्थकी प्रतीतिमें जितना-जितना विलम्ब होता है उसी अनुपातसे उनको दुर्बल कहा गया है। मीमांसकोंके पूर्वकथनके अनुसार यदि शब्दप्रमाणके बाद जितना अर्थ प्रतीत होता है वह सब एक ही अभिधाव्यापारसे बोधित होता है, यह माना जाय, तो उस अर्थकी प्रतीतिमें पौर्वापर्य आदिका कोई प्रश्न ही नहीं उठता है। उस दशामें इन सब प्रमाणोंमें जो बलाबलका निर्धारण किया गया है यह सब नहीं बनता है। इसलिए यह सिद्धान्त ठीक नहीं है।

नित्यानित्य दोषव्यवस्थासे भी व्यञ्जनाकी सिद्धि

यहाँतक ग्रन्थकारने मीमांसकमतका खण्डन कर व्यञ्जनावृत्तिको सिद्ध करनेका प्रयत्न किया था। अब आगे साहित्यशास्त्रकी प्रक्रियासे व्यञ्जनावृत्तिको सिद्ध करनेके लिए कुछ युक्तियाँ देते हैं। इनमेंसे पहिली युक्ति यह है कि 'कुरु रुचिम्' इन शब्दोंको यदि उलटकर 'रुचि कुरु' यह पाठ कर दिया जाय तो इसमें 'चिकु' शब्दके योनिस्थित 'भगनासा'का वाचक हो जानेसे अश्लीलता दोष आ जाता है। परन्तु यहाँ असभ्य भगनासा अर्थ 'रुचि' और 'कुरु' दोनोंमेंसे किसी पदका वाच्यार्थ नहीं है। जब अश्लील अर्थ वाच्य नहीं है और अभिधाको छोड़कर और कोई अर्थबोधक वृत्ति नहीं है तो असभ्यार्थकी प्रतीति हो ही नहीं सकती है। उस दशामें इस प्रकारके प्रयोग काव्यमें वर्जित नहीं ठहराये जा सकते हैं। परन्तु सभी सहृदय व्यक्ति इस प्रकारके प्रयोगोंको असभ्यार्थका व्यञ्जक मानकर वर्जनीय ठहराते हैं। अतः अभिधाके अतिरिक्त व्यञ्जनाको भी अलग अर्थबोधक वृत्ति अवश्य मानना चाहिये।

दूसरी युक्ति यह है कि साहित्यशास्त्रमें दोषप्रकरणमें नित्यदोष और अनित्यदोष, दो प्रकारके दोष माने गये हैं। 'असाधुप्रदत्व' आदि दोष प्रत्येक रसके अपकर्षक होते हैं, इसलिए वे 'नित्यदोष' माने गये हैं। परन्तु 'श्रुतिकटुत्व' आदि दोष करुण शृङ्गार आदि कोमल रसोंमें ही दोष माने जाते हैं। वीर, रौद्र, भयानक आदि रसोंमें उनको दोष नहीं माना जाता है इसलिए वे 'अनित्यदोष' कहलाते हैं। यदि वाच्यवाचकभावसे अतिरिक्त व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव न माना जाय तो यह नित्य तथा अनित्यदोषकी व्यवस्था भी नहीं बन सकती है। व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावको अलग माननेपर उसकी वृत्तिके द्वारा भिन्न भिन्न रसोंके अनुकूल या प्रतिकूल होनेसे ही यह नित्य अनित्यदोषकी व्यवस्था बन सकती है। इसलिए व्यञ्जनावृत्तिको मानना आवश्यक है। इसी बातको ग्रन्थकार आगेके अनुच्छेदमें इस प्रकार लिखते हैं—

किञ्च 'कुरु रुचिम्' इति पदयोर्वैपरीत्ये काव्यान्तर्वर्तिनि कथं दुष्टत्वम्? न ह्यत्रासभ्योऽर्थः पदार्थान्तरैरन्वित इत्यनभिधेय एवेति एवमादि अपरित्याज्यं स्यात्।

यदि न वाच्यवाचकत्वव्यतिरेकेण व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावो नाभ्युपेयते तदाऽसाधुत्वादीनां नित्यदोषत्वं कष्टत्वादीनामनित्यदोषत्वमिति विभागकरणमनुपपन्नं स्यात्। न चानुपपन्नं सर्वस्यैव विभक्ततया प्रतिभासात्। वाच्यवाचकभावव्यतिरेकेण व्यङ्ग्यव्यञ्जकताश्रयणे तु व्यङ्ग्यस्य बहुविधत्वात् क्वचिदेव कस्यचिदेवौचित्येनोपपद्यत एव विभागव्यवस्था।

द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां
समागमप्रार्थनया कपालिनः।

इत्यादौ पिनाक्यादिपदवैलक्षण्येन किमिति कपाल्यादिपदानां काव्यानुगुणत्वम्?

'कुरु रुचिम्' इन पदोंको उलट देनेसे काव्यमें [रुचिं कुरु इस पाठमें अश्लीलता दोष आ जानेसे] दुष्टता क्यों हो जाती है? यहाँ असभ्य [योन्यंकुर या भगनासारूप] अर्थ अन्य पदार्थोंके साथ अन्वित नहीं है इसलिए वाच्यार्थ भी नहीं है। इस कारण [यदि उसको व्यङ्ग्य न माना जाय तो] इस प्रकारके प्रयोग [काव्यमें] परित्याज्य नहीं होंगे।

और यदि वाच्यवाचकभावसे भिन्न व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव नहीं माना जाता है तो असाधुपदत्व [च्युतसंस्कारत्व] आदि नित्य दोष हैं और कष्टत्व [श्रुतिकटुत्व] आदि अनित्य दोष हैं। इस प्रकारका [दोषोंका] विभाग भी नहीं बन सकता है। परन्तु [वह विभाग] अनुपपन्न नहीं है [होता ही है]। समस्त सहृदयोंको [नित्यदोष तथा अनित्यदोषोंके] विभक्तरूपसे [अलग-अलग] प्रतीत होनेसे [इस विभागको मानना ही होगा]। वाच्यवाचकभावसे भिन्न व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावको स्वीकार करनेपर तो व्यङ्ग्यके अनेक प्रकारके होनेसे कहीं ही किसीके औचित्यके कारण विभाग-व्यवस्था बन ही जाती है [इसलिए व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावको मानना ही चाहिए]।

गुणव्यवस्थाके द्वारा व्यञ्जनाकी सिद्धि

[और यदि व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावको न माना जाय तो कालिदासके 'कुमारसम्भव'में आये हुए] यह कपाल धारण करनेवाले [दरिद्र और वीभत्सरूप शिव] के समागमकी इच्छाके कारण [चन्द्रमाकी सुन्दर कला और उससे भी अधिक सुन्दर तुम पार्वती] दो जने शोचनीय हो गये।

इत्यादि [श्लोक] में [शिवके वाचक] 'पिनाकी' आदिकी अपेक्षा 'कपाली' आदि पदोंमें अधिक काव्यानुगुणत्व क्यों माना जाता है?

[illegible]

अपि च वाच्योऽर्थः सर्वान् प्रतिपत्तॄन् प्रति एकरूप एवेति नियतोऽसौ। न हि 'गतोऽस्तमर्कः' इत्यादौ वाच्योऽर्थः क्वचिदन्यथा भवति। प्रतीयमानस्तु तत्तत्प्रकरण-वक्तृ-प्रतिपत्त्रादिविशेषसहायतया नानात्वं भजते। तथा च 'गतोऽस्तमर्कः' इत्यतः सपत्नं प्रत्यवस्कन्दनावसर इति, अभिसरणमुपक्रम्यतामिति, प्राप्तप्रायस्ते प्रेयानिति, कर्मकरणान्निवर्तामहे इति, सान्ध्यो विधिरुपक्रम्यतामिति, दूरं मा गा इति, सुरभयो गृहं प्रवेश्यन्तामिति, सन्तापोऽधुना न भवतीति, विक्रेयवस्तूनि संह्रियन्तामिति, नागतोऽद्यापि प्रेयानित्यादिरनवधिर्व्यङ्ग्योऽर्थस्तत्र तत्र प्रतिभाति।

हुए कह रहे हैं कि पहिले तो यह सुना था कि अकेली चन्द्रमाकी सुन्दर कला ही उस 'कपाली'के समागमकी इच्छा करती थी, अब उसके साथ तुम भी जुट गयी हो। पहिले अकेली चन्द्रकला ही शोचनीय थी, अब तुम दोनोंकी दशा शोचनीय हो गयी है। इसमें शिवके वाचक 'पिनाकी' आदि अन्य सब शब्दोंको छोड़कर कविने 'कपाली' शब्दका ही विशेषरूपसे प्रयोग किया है। उसका विशेष कारण है। उससे जिन दरिद्रता, बीभत्सता आदि अनेक गुणोंका वैशिष्ट्य प्रतीत होता है वह शिवजीके वाचक 'पिनाकी' आदि अन्य शब्दोंसे व्यक्त नहीं होता है। उसीके आधारपर शोचनीयताका औचित्य व्यक्त होता है। इस व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावको न माना जाय तो वाचकरूपसे सभी शब्दोंका समान ही स्थान होनेसे इस विशेष पदके प्रयोगमें कोई विलक्षण चमत्कार नहीं होना चाहिये था। परन्तु वह चमत्कार सब सहृदयोंको अनुभूत होता है। इसलिए वाच्यवाचकभावसे भिन्न व्यङ्ग्यव्यञ्जक-भाव अवश्य मानना चाहिये।

संख्याभेदसे वाच्य-व्यङ्ग्यका भेद

[व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावकी सिद्धिमें] और भी [हेतु यह है कि—] वाच्यार्थ सब ज्ञाताओंके प्रति एकरूप ही होता है इसलिए उसका स्वरूप निश्चित है। क्योंकि 'सूर्य छिप गया' [गतोऽस्तमर्कः] इत्यादिमें वाच्यार्थ कहीं भी बदलता नहीं है [अपितु सब जगह एक-सा ही रहता है]। परन्तु उस-उस प्रकरणके वक्ता, बोद्धा आदिकी सहायतासे प्रतीयमान अर्थ अलग-अलग हो जाता है। जैसे कि 'सूर्य छिप गया' [इस वाक्यका यदि लुटेरे या लड़ाकू व्यक्ति प्रयोग करते हैं तो] इससे १. शत्रुको लूटनेका समय आ गया यह, [अर्थ उसके साथियोंको प्रतीत होता है। यदि दूती नायिकासे कहती है तो नायकके पास] २. अभिसरणकी तैयारी करो यह, [यदि सखी नायिकासे कहती है तो] ३. तुम्हारे पति आते ही होंगे यह, [इसी प्रकार कहीं] ४. हम काम समाप्त करते हैं यह, [कहीं] ५. सन्ध्याकालीन विधि करनी चाहिये यह, [कहीं] ६. दूर मत जाना यह, [कहीं] ७. गायोंको घर ले जाओ यह, [कहीं] ८. अब गर्मी नहीं रही यह, [कहीं] ९. दूकान बढ़ाओ [विक्रेय वस्तुओंको समेटना चाहिये] यह [और कहीं] १०. अबतक भी प्राणनाथ नहीं आये यह, इस प्रकार भिन्न-भिन्न स्थलोंपर [तत्र-तत्र] अनन्त प्रकारका व्यङ्ग्य अर्थ प्रतीत होता है [इसलिए वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थकी संख्यामें भेद होनेसे भी व्यङ्ग्यार्थको वाच्यसे भिन्न मानना होगा]।

साहित्यशास्त्रकी दृष्टिसे यहाँतक व्यञ्जनासाधक चार हेतु दिये जा चुके हैं। आगे वाच्य और व्यङ्ग्यके १. स्वरूपभेद, २. प्रतीतिभेद, ३. कालके भेद, ४. आश्रयभेद ५. निमित्तभेद, ६. कार्यभेद, ७. संख्याभेद और ८. विषयभेदसे भी वाच्य अर्थसे व्यङ्ग्य अर्थका भेद सिद्ध करते हैं।

वाच्यव्यङ्ग्ययोः निःशेषेत्यादौ निषेधविध्यात्मना,

मात्सर्यमुत्सार्य विचार्य कार्यमार्याः समर्यादमुदाहरन्तु ।
सेव्या नितम्बाः किमु भूधराणामुत स्मरस्मेरविलासिनीनाम् ॥१३३॥

इत्यादौ संशय-शान्त-शृङ्गार्यन्यतरगतनिश्चयरूपेण,

कथमवनिप ! दर्पो यन्निशातासिधारा-
दलनगलितमूर्ध्ना विद्विषां स्वीकृता श्रीः ।
ननु तव निहतारेरप्यसौ किं न नीता
त्रिदिवमपगताङ्गैर्वल्लभा कीर्तिरेभिः ॥१३४॥

इत्यादौ निन्दास्तुतिवपुषा स्वरूपस्य,

स्वरूपभेदसे वाच्य-व्यङ्ग्यके भेदके तीन उदाहरण

१. निःशेषच्युतचन्दनं स्तनतटं' इत्यादि [पूर्वोद्धृत उदाहरण सं० २] में वाच्य और व्यङ्ग्यके [क्रमशः] निषेध और विधिरूप होनेसे [स्वरूपभेद १]—

२. [कार्य-अकार्यके विचारमें निपुण] हे आर्यो, आप पक्षपात छोड़कर और विचार करके यह बात प्रमाण सहित [समर्याद] बतलाइये कि क्या पहाड़ोंके मध्य-भागोंका [नितम्बोंका] सेवन करना चाहिये अथवा कामवासनासे मुस्कराती हुई सुन्दरियोंके नितम्बोंका सेवन करना चाहिये [इस प्रकारका संशय होनेपर जो कर्तव्य हो सो आप लोग बतलाइये] ॥१३३॥

इत्यादिमें [वाच्यार्थके] संशय [रूप होने] और [व्यङ्ग्यार्थ] के शान्त [रस-प्रधान व्यक्तिके लिए पर्वत-नितम्बोंके] और शृङ्गारी [व्यक्तिके लिए विलासिनियोंके नितम्बोंके सेवन] में से किसी एकके निश्चयरूपसे [स्वरूपभेद २]—

३. हे राजन्, यह अभिमान आप क्यों कर रहे हैं कि तीक्ष्ण तलवारकी धारसे जिनके सिर गिरा दिये उन शत्रुओंकी लक्ष्मी आपने ले ली है। क्या निहत [illegible] [शत्रु] जिसके सारे शत्रु मारे जा चुके हैं ऐसे आपकी प्रियतमा कीर्तिको [illegible] करके अपने साथ] स्वर्ग नहीं ले गये हैं ॥१३४॥

इत्यादिमें [वाच्य और व्यङ्ग्यके क्रमशः] निन्दा तथा स्तुतिरूप होनेसे स्वरूपतः [भेद होनेसे वाच्य और व्यङ्ग्य अलग-अलग हैं [स्वरूपभेद ३]।

यहाँ वाच्यार्थ तो यह है कि आपने शत्रुओंके सिर [illegible]
अपने अधीन कर ली। यह ठीक है परन्तु इसपर [illegible]
पर उनकी लक्ष्मीका हरण किया और [illegible] शत्रु मर चुके [illegible]
गे। ऐसी दशामें मरे हुए व्यक्ति [illegible]
आपसे यही जाने [illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

पूर्वपश्चाद्भावेन प्रतीतेः कालस्य, शब्दाश्रयत्वेन शब्दतदेकदेशतदर्थवर्णसङ्घटनाश्रयत्वेन च आश्रयस्य, शब्दानुशासनज्ञानेन प्रकरणादिसहायप्रतिभानैर्मल्यसहितेन तेन चावगम इति निमित्तस्य, बोद्धृमात्रविदग्धव्यपदेशयोः, प्रतीतिमात्रचमत्कृत्योश्च करणात् कार्यस्य, गतोऽस्तमर्क इत्यादौ प्रदर्शितनयेन संख्यायाः,

कस्स वा ण होइ रोसो दट्ठूण पिआए सव्वणं अहरं ।
सभमरपउमग्घाइणि वारिअवामे सहसु एण्हिं ॥१३५॥
[कस्य वा न भवति रोषो दृष्ट्वा प्रियायाः सव्रणमधरम् ।
सभ्रमरपद्माघ्रायिणि वारितवामे सहस्वेदानीम् ॥इति संस्कृतम्]

इत्यादौ सखीतत्कान्तादिगतत्वेन विषयस्य च भेदेऽपि यद्येकत्वं तत्क्वचिदपि नीलपीतादौ भेदो न स्यात् ।

वाच्य और व्यङ्ग्यके भेदसाधक सात और कारण

[वाच्य तथा व्यङ्ग्य अर्थकी] प्रतीतिके आगे पीछे होनेमें १. कालका [भेद भी दोनोंका भेदसाधक है]। [वाच्यके केवल] शब्दमें आश्रित होने [तथा व्यङ्ग्य अर्थके] शब्द, उसके एकदेश, उसके अर्थ, वर्ण, और सङ्घटना आदिके आश्रित होनेसे २. आश्रयका [भेद भी दोनोंका भेदसाधक है]। [वाच्यार्थके] केवल शब्दानुशासन [व्याकरण तथा कोश आदि] के ज्ञानसे और [व्यङ्ग्यार्थके] प्रकरण आदिकी सहायता, प्रतिभाकी निर्मलताके सहित व्याकरणकोशादि [तेन च] के ज्ञानसे प्रतीति होती है इसलिए ३. निमित्तका [भेद भी वाच्य-व्यङ्ग्यके भेदका साधक है]। केवल वाच्यार्थमात्रके ज्ञानसे उसके ज्ञाताको केवल सामान्य प्रकारका] 'बोद्धा' [कहा जाता है और व्यङ्ग्यार्थका अनुभव करनेवालेको सहृदय] 'विदग्ध' [कहा जाता है, इस प्रकार इन] दोनों ४. संज्ञाओंका [भेद भी वाच्य-व्यङ्ग्यके भेदका साधक है]। [वाच्यार्थज्ञान] केवल प्रतीतिमात्रका अनुभव करानेवाला [और व्यङ्ग्यार्थका ज्ञान] चमत्कारका जनक होता है इसलिए ५. कार्यका [भेद भी वाच्य-व्यङ्ग्यका भेदसाधक है] और 'सूर्य छिप गया' इत्यादिमें पूर्वप्रदर्शित रीतिसे [वाच्य और व्यङ्ग्यकी] ६. संख्याका [भेद भी वाच्य और व्यङ्ग्यका भेदसाधक है। तथा]—

[परपुरुषके द्वारा उत्पादित दन्तक्षतके कारण] प्रियाके व्रणयुक्त अधरको देखकर किसको क्रोध नहीं होता है। इसलिए भौंरे सहित कमलको सूँघनेवाली और मना करनेपर भी न माननेवाली, अब उसका फल भोग ॥१३५॥

इत्यादि [उदाहरण] में [वाच्यार्थके] सखी [विषयक तथा [व्यङ्ग्यार्थके] उसके पतिसे सम्बद्धरूपसे [प्रतीत होनेसे वाच्य-व्यङ्ग्य अर्थके] ७. विषयका भेद होनेपर [अर्थात् इतने भेदोंके होनेपर] भी यदि [वाच्य तथा व्यङ्ग्य अर्थका] भेद न माना जाय तो फिर नीले, पीले आदि [पदार्थों] में कहीं भी भेद नहीं रहेगा।

'कस्य वा न भवति रोषो' इत्यादि श्लोकवाक्य किसी दुष्टा स्त्रीकी सखी उससे कह रही है। स्त्रीके अधरपर पर-पुरुषकृत दन्तक्षतका चिह्न बना हुआ है। इसको देखकर पतिका नाराज होना स्वाभाविक है। उससे बचानेके लिए उसकी सखी इस वाक्य द्वारा प्रयत्न कर रही है। स्त्रीका पति कहीं समीप ही है और वह इस वाक्यको भली प्रकार सुन सकता है, पर सखी ऐसा प्रकट करती हुई

उक्तं हि "अयमेव हि भेदो भेदहेतुर्वा यद्विरुद्धधर्माध्यासः कारणभेदश्च" इति ।

वाचकानामर्थापेक्षा व्यञ्जकानान्तु न तदपेक्षत्वमिति न वाचकत्वमेव व्यञ्जकत्वम् ।

किं च वाणीरकुडंगेत्यादौ प्रतीयमानमर्थमभिव्यज्य वाच्यं स्वरूपे एव यत्र

कि मानो उसे पतिकी उपस्थितिका कोई ज्ञान ही नहीं है, सखीसे यह श्लोक कह रही है। इसके वाच्यार्थका विषय यद्यपि वह सखी है परन्तु सखीका मुख्य लक्ष्य सखीको उपदेश देना नहीं है अपितु उसके पतिको यह सुनाना है इसने ऐसा कमलका फूल सूँघ लिया था जिसमें भौंरा बैठा हुआ था। सूँघते समय इसकी असावधानीसे भौंरेने इसके अधरमें काट लिया है उसीका यह चिह्न बन गया है। यह परपुरुषके दन्तक्षतका चिह्न नहीं है। इस प्रकार वाच्य तथा व्यङ्ग्य अर्थमें विषयका भेद होनेसे भी व्यङ्ग्यार्थको वाच्यार्थसे भिन्न मानना होगा। इसी बातको कहते हैं।

कहा भी है कि—

[घट-पट आदिमें घटत्व-पटत्व आदि] विरुद्ध धर्मोंकी [दो भिन्न धर्मियोंमें] प्रतीति और [उन दोनोंके] कारणोंका भेद ही [पदार्थोंके] भेदका कारण होता है।

वाचक और व्यञ्जक शब्दोंका भेद

इस प्रकार यहाँतक वाच्यार्थ तथा व्यङ्ग्यार्थका १० प्रकारका भेद [illegible] प्रतीतिके लिए व्यञ्जनावृत्तिकी अनिवार्यताका उपपादन किया है। अब आगे [illegible] केवल वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थमें ही भेद होता है अपितु वाचक और व्यञ्जक शब्दोंमें भी भेद होता है

वाचक शब्दोंको अर्थकी अपेक्षा होती है [अर्थात् वाचक शब्द केवल सङ्केतित अर्थका ही बोध करा सकते हैं]। पर व्यञ्जक शब्दोंको उसकी आवश्यकता नहीं होती है [अर्थात् वे बिना सङ्केतग्रहके किसी भी अर्थका बोध करा सकते हैं]। इसलिए वाचकत्व ही व्यञ्जकत्व नहीं है [अर्थात् वाचकत्व और व्यञ्जकत्व दोनों अलग-अलग हैं]।

अतात्पर्यविषयीभूत अर्थकी व्यङ्ग्यता

'तत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इस नियमका आश्रय लेकर भट्ट [illegible] तात्पर्यविषयीभूत होनेसे वाच्यार्थसे भिन्न व्यङ्ग्यार्थका खण्डन किया था। [illegible] खण्डन पहिले कर चुके हैं। परन्तु अब यह दिखलाते हैं कि कहीं [illegible] जिनमें व्यङ्ग्यार्थकी प्रतीति तो होती है परन्तु वह तात्पर्यविषयीभूत [illegible] भूतव्यङ्ग्यके 'असुन्दर व्यङ्ग्य' नामक भेदमें व्यङ्ग्यार्थकी प्रतीति [illegible] अपेक्षा असुन्दर है, इसलिए आस्वादका विश्राम [illegible] अतः इन उदाहरणोंमें व्यङ्ग्यार्थको तात्पर्यविषयीभूत [illegible] अलग वृत्ति न माना जायगा तो उस अतात्पर्यविषयीभूत [illegible] व्यञ्जनाका मानना आवश्यक है। इसी बातको [illegible]

और 'वाणीरकुडंगोड्डीन' इत्यादि [असुन्दर व्यङ्ग्यके उदाहरण [illegible] २९६] में ['दत्तसङ्केत कोई लतागृहमें प्रविष्ट' इत्यादि] प्रतीयमान [illegible] [व्यङ्ग्यकी अपेक्षा वाच्यके ही अधिक चमत्कारयुक्त होनेसे वाच्य [illegible] जाकर विश्रान्त होता है [अर्थात् चरम आस्वादका विषय वाच्य ही [illegible] गये [इस] गुणीभूतव्यङ्ग्य [रूप असुन्दरकाव्य] में [illegible]

विश्राम्यति तत्र गुणीभूतव्यङ्ग्येऽतात्पर्यभूतोऽप्यर्थः स्वशब्दानभिधेयः प्रतीतिपथमवतरन् कस्य व्यापारस्य विषयतामवलम्बतामिति ।

न होनेसे] अतात्पर्यविषयीभूत अर्थ भी जो अपने [वाचक] शब्दसे अभिहित न होकर ही प्रतीतिगोचर हो रहा है वह [व्यञ्जनाव्यापारको छोड़कर और] किस व्यापारका विषय हो सकता है [अर्थात् उसकी प्रतीति केवल व्यञ्जनासे ही हो सकती है। अन्य किसीसे सम्भव नहीं, इसलिए भी व्यञ्जनावृत्तिका अलग मानना आवश्यक है]।

यहाँतक ग्रन्थकारने व्यञ्जनावृत्तिकी पृथक् सत्ता सिद्ध करनेके लिए जो युक्तियाँ दी हैं उनका साराश निम्नलिखितप्रकार है—

(१) लक्षणामूलध्वनिके १. अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य तथा २ अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य दोनो भेदोमे व्यङ्ग्यार्थके विना लक्षणा ही नहीं हो सकती है इसलिए उनमे व्यञ्जनाका मानना अनिवार्य है।

(२) अभिधामूलध्वनिके असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य भेदमे रसादि ध्वनि कभी भी स्वशब्दवाच्य नहीं होता है अतः उसे व्यङ्ग्य ही मानना होगा ।

(३) अभिधामूल संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यके शब्दशक्त्युत्थ भेदमे अभिधाका प्रकरणादिवश एकार्थमे नियन्त्रण हो जानेसे अप्राकरणिक अर्थ और उसके साथ उपमानोपमेयभाव आदिकी प्रतीति व्यञ्जनासे ही सम्भव है, अभिधासे नहीं । अतः व्यञ्जनाका मानना आवश्यक है ।

(४) अभिधामूल संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यके अर्थशक्त्युत्थ भेदमे 'अभिहितान्वयवाद'मे जहाँ वाक्यार्थ ही अभिधाका विषय न होकर 'तात्पर्याख्यावृत्ति'से प्रतीत होता है, वहाँ व्यङ्ग्यार्थकी प्रतीति तो अभिधासे हो ही नहीं सकती है । उसकी प्रतीतिके लिए व्यञ्जनाका मानना अनिवार्य है ।

(५) 'अन्विताभिधानवाद'मे भी सामान्यरूपसे अन्वित पदार्थमे ही सङ्केतग्रह होता है । विशेषमे अन्वितका सङ्केतग्रह नहीं होता है । इसलिए वहाँ भी अतिविशेषरूप वाक्यार्थकी प्रतीति अभिधासे नहीं हो सकती है । तब उसके भी बादमे प्रतीत होनेवाले व्यङ्ग्यार्थकी प्रतीति अभिधासे माननेका प्रश्न ही नहीं उठता है । अत. 'अन्विताभिधानवाद'मे भी व्यञ्जनाका मानना अनिवार्य है ।

(६) 'नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानि कल्प्यन्ते' इस नियमके अनुसार भी व्यङ्ग्यार्थकी प्रतीति शब्दसे अभिधा द्वारा तबतक नहीं मानी जा सकती है जबतक कि शब्दका उसके साथ सङ्केतग्रह न हो । सङ्केतग्रह केवल सामान्यरूपसे अन्वितके साथ है, विशेषके साथ नहीं, अत. अतिविशेषरूप वाक्यार्थकी ही प्रतीति जब अभिधासे नहीं हो सकती है तब उसके भी बाद होनेवाली व्यङ्ग्यार्थकी प्रतीति अभिधासे सम्भव ही नहीं है । अत व्यञ्जनाका अपलाप असम्भव है ।

(७) भट्टलोल्लट आदि 'यत्पर शब्द स शब्दार्थ' इस नियमके आधारपर व्यङ्ग्यार्थको अभिधागम्य बतलाते है । परन्तु वे 'यत्पर. शब्द स शब्दार्थ.' इस नियमका अर्थ ही नहीं समझे है । इस नियमका अभिप्राय इतना ही है कि विधिवाक्योंमे मुख्यरूपसे क्रियाका विधान होता है । 'भूतभव्यसमुच्चारणे भूत भव्यायोपदिश्यते' इसका भी यही अभिप्राय है कि जहाँ क्रिया अन्य प्रमाणसे प्राप्त होती है वहाँ गुणका, या कहीं गुण या क्रिया दोनोका और कहीं तीनोंका भी विधान होता है । अदग्धदहनन्यायसे जहाँ जितना अंश अप्राप्त होता है, उतनेका विधान होता है । यही 'यत्पर शब्द. स शब्दार्थ'का तात्पर्य होता है । भट्टलोल्लट आदि जो इस 'तात्पर्यवाचोयुक्ति'का यह अर्थ लेना चाहते हैं कि जहाँ व्यङ्ग्यार्थके बोधनमे वक्ताका तात्पर्य होता है वहाँ वही अर्थ शब्दका वाच्यार्थ होता है, अत व्यञ्जनाको अलग वृत्ति माननेकी आवश्यकता नहीं है, यह कल्पना असङ्गत

है। इस मतावलम्बनका कारण 'तात्पर्यवाचोयुक्ति'के अभिप्रायको न समझना ही है। इस नियमके आधारपर सभी अर्थोंको वाच्यार्थ मान लिया जाय तो लक्षणा आदिकी आवश्यकता नहीं रहेगी। दूसरी बात यह है कि इसके अनुसार वाक्यमें उपात्त किसी विशेष शब्दके अर्थमें ही वाक्यके शेष शब्दोंका तात्पर्य माना जा सकता है। वाक्यमें अनुपात्त शब्दके अर्थमें वाक्यका तात्पर्य नहीं हो सकता है। किन्तु व्यञ्जना द्वारा जिस अर्थकी प्रतीति होती है उसका वाचक कोई भी शब्द वाक्यमें नहीं होता है। अतः उसके विषयमें 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' वाला नियम लागू नहीं होता है। अतः व्यङ्ग्यार्थकी प्रतीतिके लिए व्यञ्जनाका मानना अनिवार्य है।

(८) 'सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरोऽभिधाव्यापारः' के अनुसार दीर्घदीर्घतर अभिधाव्यापार मानकर भट्टलोल्लटने जो व्यङ्ग्यार्थको अभिधाका ही विषय सिद्ध करनेका यत्न किया है, वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि उस दशामें—

क—लक्षणाशक्तिकी भी आवश्यकता नहीं रहेगी।

ख—'ब्राह्मण पुत्रस्ते जातः', 'कन्या ते गर्भिणी जाता' इत्यादिमें हर्ष, शोक आदि भी वाच्य कहलाने लगेंगे।

ग—श्रुति, लिङ्ग आदि छह प्रमाणोंके बलाबलका जो सिद्धान्त मीमांसामें स्थापित किया गया है, वह व्यर्थ हो जायगा। मीमांसक होनेके नाते भट्टलोल्लट इन तीनों बातोंको मान नहीं सकते हैं। अतः दीर्घ-दीर्घतर अभिधाव्यापार माननेसे काम नहीं चलेगा। व्यङ्ग्यार्थकी प्रतीतिके लिए व्यञ्जनाका मानना अनिवार्य है।

(९) यदि वाच्यार्थसे भिन्न व्यङ्ग्यार्थको अलग न माना जाय तो—

क—(रुचिं कुरु) आदि वाक्योंमें असभ्यार्थकी प्रतीतिसे जो अश्लीलता दोष माना जाता है, वह नहीं बनेगा।

ख—नित्यदोष तथा अनित्यदोषकी व्यवस्था नहीं बनेगी।

ग—कपाली और पिनाकी शब्दोंके वाच्यार्थकी समानता होते हुए भी विशेष स्थलपर विशेष शब्दके प्रयोगसे जो चमत्कार आ जाता है उसका उपपादन नहीं हो सकेगा।

(१०) वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थकी प्रतीतिमें १. संख्या, २. स्वरूप, ३. काल, ४. आश्रय, ५. निमित्त, ६. व्यपदेश, ७. कार्य, ८. विषय आदिका भेद होनेसे भी व्यङ्ग्यार्थको वाच्यार्थसे भिन्न मानना आवश्यक है। साहित्यदर्पणकारने इन भेदकोंका संग्रह इस प्रकार कर दिया है—

स्वरूप संख्या निमित्त कार्य-प्रतीति-कालानाम्।
आश्रय विषयादीनां भेदाद् भिन्नोऽभिधेयतो व्यङ्ग्यः॥

(११) न केवल वाच्य और व्यङ्ग्य अर्थ ही अलग हैं अपितु इनके कारणभूत वाचक तथा व्यञ्जक शब्द भी अलग हैं। वाचक शब्दोंको अर्थकी अपेक्षा होती है किन्तु व्यञ्जक शब्दोंको अर्थकी अपेक्षा नहीं रहती है। निरर्थक अवाचक शब्द भी व्यञ्जक हो सकते हैं। अतः व्यञ्जनावृत्ति अलग ही माननी होगी।

(१२) असुन्दर व्यङ्ग्य नामक गुणीभूतव्यङ्ग्यके भेदमें व्यङ्ग्य अर्थके प्रतीत होते हुए भी वाच्यार्थके ही चमत्कारयुक्त होनेसे उसीमें चरम विश्रान्ति होती है। ऐसे स्थलोंपर उस व्यङ्ग्यार्थको तात्पर्यविषयीभूत अर्थ भी नहीं कहा जा सकता है। अतः उसकी प्रतीति व्यञ्जनासे ही माननी होगी। अभिधासे काम नहीं चलेगा।

ननु—

'रामोऽस्मि सर्वं सहे' इति,

'रामेण प्रियजीवितेन तु कृतं प्रेम्णः प्रिये नोचितम्' इति,

'रामोऽसौ भुवनेषु विक्रमगुणैः प्राप्तः प्रसिद्धिं पराम्',

इत्यादौ लक्षणीयोऽप्यर्थो नानात्वं भजते विशेषव्यपदेशहेतुश्च भवति तदवगमश्च शब्दार्थायत्तः प्रकरणादिसव्यपेक्षश्चेति कोऽयं नूतनः प्रतीयमानो नाम ?

---

(३) तीसरी बात यह कही थी कि वाच्यार्थकी प्रतीति केवल शब्दसे होती है और व्यङ्ग्यार्थकी प्रतीति शाब्दी व्यञ्जना और आर्थी व्यञ्जनाके रूपमें, शब्द तथा अर्थ दोनोंसे हो सकती है। अतः व्यञ्जनाको अलग वृत्ति मानना चाहिये। लक्षणावादीका कहना है कि यह बात लक्ष्यार्थके विषयमें भी लागू है। वह भी शब्द तथा अर्थ दोनोंसे हो सकता है। अतः व्यञ्जनाको अलग माननेकी आवश्यकता नहीं।

(४) व्यङ्ग्य अर्थकी प्रतीतिमें प्रकरणादिसे सहायता मिलती है इसलिए वह वाच्यार्थसे भिन्न है। यह जो चौथी विशेषता व्यङ्ग्यार्थमें बतलायी गयी थी वह भी लक्ष्यार्थमें घट सकती है। ऐसी दशामें व्यञ्जनाका काम लक्षणासे निकल सकता है फिर व्यञ्जनावृत्तिको माननेकी क्या आवश्यकता है ?

लक्षणावादीकी इन सब युक्तियोंका खण्डन ग्रन्थकार आगे क्रमशः करेंगे। इस पूर्वपक्षकी सबसे प्रथम युक्तिका ग्रन्थकारने यह उत्तर दिया है कि यद्यपि लक्ष्यार्थमें नानात्व हो सकता है परन्तु अनेकार्थक शब्दके वाच्यार्थके समान वह प्रायः नियतस्वरूप ही होता है। मुख्यार्थसे असम्बद्ध अर्थ लक्षणा द्वारा बोधित नहीं हो सकता है। इसलिए वह नियत सम्बन्धवाला ही होता है। परन्तु व्यङ्ग्यार्थ कहीं नियतसम्बन्ध, कहीं अनियतसम्बन्ध और कहीं सम्बद्ध सम्बन्धवाला अर्थात् परम्परितसम्बन्धवाला भी होता है। इसलिए वह लक्षणासे भिन्न होता है। दूसरी बात यह है कि लक्ष्यार्थकी प्रतीतिके लिए मुख्यार्थबाधका होना अनिवार्य है पर व्यङ्ग्यार्थकी प्रतीति उसके बिना भी हो सकती है।

लक्ष्यार्थसे व्यङ्ग्यार्थका प्रथम भेद

[प्रश्न] क—'रामोऽस्मि सर्वं सहे'—'मैं तो कठोरहृदय राम हूँ इसलिए सब कुछ सह लूँगा', इसमें [कठोरहृदय राम]।

ख—'रामेण प्रियजीवितेन तु कृतं प्रेम्णः प्रिये नोचितम्'—'अपने जीवनका मोह करनेवाले इस रामने प्रेमके अनुरूप कार्य नहीं किया', इसमें [मिथ्या प्रेमका दम्भ करनेवाला राम]।

ग—और 'रामोऽसौ भुवनेषु विक्रमगुणैः प्राप्तः प्रसिद्धिं पराम्' [वह दया आदि गुणोंसे युक्त राम अपने पराक्रम आदि गुणोंसे संसारमें अत्यन्त प्रसिद्ध है]।

इत्यादिमें १ लक्षणीय अर्थ भी यद्यपि नाना प्रकारसे हो सकता है। २ [व्यञ्जनाके समान वह भी अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य आदि विविध प्रकार] विशेष व्यवहारका हेतु है। ३ उसकी प्रतीति भी [व्यङ्ग्यार्थकी प्रतीतिके समान] शब्द और अर्थ दोनोंके अधीन होती है। और [वह भी] ४. प्रकरण आदिकी अपेक्षा रखता है। इसलिए [उस लक्षणीय अर्थसे भिन्न] यह प्रतीयमान [व्यङ्ग्यार्थ] कौन-सी नयी वस्तु है ? [अर्थात् लक्ष्यार्थसे भिन्न व्यङ्ग्यार्थ कुछ नहीं है। अतः लक्षणासे भिन्न व्यञ्जनावृत्तिके माननेकी आवश्यकता नहीं है। यह पूर्वपक्ष हुआ]।

उच्यते । लक्षणीयस्यार्थस्य नानात्वेऽपि अनेकार्थशब्दाभिधेयवन्नियतत्वमेव । न खलु मुख्येनार्थेनाऽनियतसम्बन्धो लक्षयितुं शक्यते । प्रतीयमानस्तु प्रकरणादिविशेषवशेन नियतसम्बन्धः अनियतसम्बन्धः सम्बद्धसम्बन्धश्च द्योत्यते ।

न च—

अत्ता एत्थ णिमज्जइ एत्थ अहं दिअहए पलोएहि ।
मा पहिअ ! रत्तिअन्धअ ! सेज्जाए मह णिमज्जिहिसि ॥१३६॥

[श्वश्रूरत्र निमज्जति अत्राहं दिवसके प्रलोकय ।
मा पथिक रात्र्यन्ध शय्यायां मम निमंक्ष्यसि ॥इति संस्कृतम्]

इत्यादौ विवक्षितान्यपरावाच्ये ध्वनौ मुख्यार्थबाधः तत्कथमत्र लक्षणा ?

[उत्तरमें] कहते हैं कि—[आपके कथनानुसार] लक्षणीय अर्थ नानाविध होनेपर भी वह अनेकार्थक शब्दके वाच्यार्थके समान नियतरूप ही होता है, क्योंकि मुख्यार्थके साथ सम्बन्ध न रखनेवाला अर्थ लक्षणा द्वारा बोधित नहीं किया जा सकता है। [इसके विपरीत प्रतीयमान] व्यङ्ग्यार्थ तो प्रकरण आदि विशेषके कारण १ कहीं नियतसम्बन्ध, २. कहीं अनियतसम्बन्ध और ३. कहीं परम्परित सम्बन्धवाला [इस रूपसे तीन प्रकारका] द्योतित होता है [यह लक्ष्यार्थसे व्यङ्ग्यार्थका पहिला भेद है, जिसके कारण व्यङ्ग्यार्थको लक्ष्यार्थ नहीं कहा जा सकता है]।

लक्ष्यार्थसे व्यङ्ग्यार्थका द्वितीय भेद

लक्ष्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थका दूसरा भेद यह है कि लक्ष्यार्थकी प्रतीति मुख्यार्थबाधके बिना नहीं हो सकती है, परन्तु व्यङ्ग्यार्थके लिए वैसी बात नहीं है। यहाँ उदाहरणरूपमें जो श्लोक आगे दिया जा रहा है उसको कहनेवाली कोई दुश्चरित्रा स्त्री है। अपने यहाँ ठहरनेवाले किसी पथिकको रात्रिमें अपने तथा अपनी सासके सोनेका स्थान दिखलाती हुई कहती है कि 'तुम दिनमें अच्छी तरह देख लो कि यहाँ मैं सोती हूँ और यहाँ मेरी सास सोती है। तुमको रतौंधी आती है। कहीं ऐसा न हो कि रातमें तुम मेरी खाटपर गिर पडो।' यह इस श्लोकका सीधा वाच्यार्थ है और उसका बाध भी नहीं होता है। परन्तु कहनेवालीका तात्पर्य इतना ही नहीं है। वह तो पथिकको रात्रिमें अपनी खाटपर आनेका निमन्त्रण दे रही। यहाँ वाच्यार्थ निषेधरूप होनेपर भी व्यङ्ग्यार्थ विधिरूप है। इसलिए वह वाच्यार्थसे भी भिन्न है। उसको न वाच्यार्थ कहा जा सकता है और न लक्ष्यार्थ अतः उसकी प्रतीतिके लिए व्यञ्जनावृत्तिका मानना आवश्यक है।

और न—

हे रतौंधी आनेवाले पथिक ! दिनमें अच्छी तरह देख लो कि यहाँ सासजी लेटती है और यहाँ मैं लेटती हूँ। [रतौंधीके कारण देख न सकनेसे रातको] कहीं मेरी खाटपर न गिर पड़ना ॥१३६॥

इत्यादि अभिधामूलध्वनि [के उदाहरण] में [न] मुख्यार्थबाध ही है [श्लोकमें पहिले दिये 'न' का अन्वय यहाँ होता है]। तब यहाँ लक्षणा कैसे हो सकती है? [अर्थात् यहाँ मुख्यार्थका बाध न होनेसे लक्षणा नहीं है बिना लक्षणाके ही व्यङ्ग्यार्थप्रतीति हो रही है। अतः वह लक्ष्यार्थसे भिन्न ही होता है]।

लक्षणायामपि व्यञ्जनमवश्यमाश्रयितव्यमिति प्रतिपादितम् ।

यथा च समयसव्यपेक्षाऽभिधा । तथा मुख्यार्थबाधादित्रयसमयविशेषसव्यपेक्षा लक्षणा, अत एवाभिधापुच्छभूता सेत्याहुः ।

न च लक्षणात्मकमेव ध्वननम्, तदनुगमेन तस्य दर्शनात् । न च तदनुगतमेव, अभिधावलम्बनेनापि तस्य भावात् । न चोभयानुसार्येव, अवाचकवर्णानुसारेणापि तस्य दृष्टेः । न च शब्दानुसार्येव अशब्दात्मकनेत्रविभागावलोकनादिगतत्वेनापि तस्य प्रसिद्धेः ।

लक्ष्यार्थसे व्यङ्ग्यार्थका तीसरा भेद

इसपर यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि लक्षणाका बीज अन्वयानुपपत्ति ही नहीं अपितु नागेशभट्ट आदिके मतानुसार 'तात्पर्यानुपपत्ति' भी लक्षणाका बीज है । प्रकृत उदाहरणमे यद्यपि अन्वयानुपपत्ति नहीं है तथापि तात्पर्यकी अनुपपत्तिके कारण मुख्यार्थका बाध माना जा सकता है । और उस रूपमें यहाँ दूसरे अर्थकी प्रतीति लक्षणा द्वारा ही मानी जा सकती है । इस आपत्तिको ध्यानमें रखकर ग्रन्थकारने इसीके साथ दूसरा हेतु भी जोड दिया है कि—

लक्षणामें भी [फल या प्रयोजनका बोध करानेके लिए] व्यञ्जनाका आश्रय अवश्य लेना होगा । यह बात [द्वितीय उल्लासमे "फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यञ्जनान्नापरा क्रिया" इस २३वे सूत्रमें] प्रतिपादित कर चुके है ।

चौथा भेद : लक्षणा अभिधाकी पुच्छभूता

और जैसे अभिधा सङ्केतग्रहकी अपेक्षा करती है, इसी प्रकार लक्षणा भी मुख्यार्थबाध आदि तीन [१. मुख्यार्थबाध २. तद्योग अर्थात् लक्ष्यार्थका मुख्यार्थके साथ सम्बन्ध और ३ रूढि तथा प्रयोजन इन दोनोंमेंसे कोई एक]के सम्बन्ध विशेषकी अपेक्षा करती है । [उनके विना अपने अर्थका बोध नहीं करा सकती है] इसलिए [विद्वान्] उसे अभिधाकी पुच्छभूत कहते हैं ।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि जैसे मुख्यार्थबाध आदिके आश्रित होनेके कारण लक्षणा अभिधासे भिन्न मानी जाती है, उसी प्रकार मुख्यार्थबाध आदिकी अपेक्षा न रखनेके कारण व्यञ्जनाको भी लक्षणासे भिन्न मानना चाहिये । इस प्रकार यहाँतक व्यञ्जनाको लक्षणासे भिन्न सिद्ध करनेके लिए तीन हेतु दिये जा चुके हैं । आगे उसी बातको सिद्ध करनेके लिए और भी हेतु देते है ।

लक्ष्यार्थसे व्यङ्ग्यार्थके चार और भेद

और [निम्नांकित चार कारणोसे भी] व्यञ्जना लक्षणारूप नहीं है, क्योंकि १. उस [लक्षणा] के बाद [व्यङ्ग्यार्थकी प्रतीति] देखी जाती है । २. उस [लक्षणा] के विना अभिधाके अवलम्बनसे भी उस [अभिधामूला व्यञ्जना]का सम्भव होनेसे । ३. और न [अभिधा तथा लक्षणा] दोनोंकी अनुगामिनी ही [व्यञ्जना] है । क्योंकि अवाचक [निरर्थक] वर्णोंके द्वारा भी वह [व्यञ्जना] देखी जाती है [अर्थात् वाचक तो पद होते है, केवल वर्ण किसी अर्थके वाचक नहीं होते है परन्तु वे भी किसी अर्थविशेषके व्यञ्जक हो सकते है] ४. और [अभिधा तथा लक्षणाका सम्बन्ध तो केवल शब्दतक ही सीमित है । परन्तु] व्यञ्जना केवल शब्दानुसारिणी ही नहीं है । अशब्दस्वरूप [नेत्रप्रान्तसे अवलोकन] कटाक्ष आदिसे भी उस [अभिप्राय-विशेषकी अभिव्यञ्जनाके] प्रसिद्ध होनेसे ।

इति अभिधातात्पर्यलक्षणात्मकव्यापारत्रयातिवर्त्ती ध्वननादिपर्यायो व्यापारोऽनपह्नवनीय एव ।

तत्र 'अत्ता एत्थ' इत्यादौ नियतसम्बन्धः, 'कस्स वा ण होइ रोसो' इत्यादावनियतसम्बन्धः ।

विपरीअरए लच्छी वम्हं दट्ठूण णाहिकमलट्ठं ।
हरिणो दाहिणणअणं रसाउला झत्ति ढक्केइ ॥ १३७ ॥

इस प्रकार अभिधा, तात्पर्य और लक्षणात्मक तीनों व्यापारोंके बाद होनेवाला [अतः इन तीनों व्यापारोंसे भिन्न] ध्वनन [व्यञ्जन, गमन] आदि नामक व्यापारको अस्वीकार नहीं किया जाता है [उसका मानना सब प्रकारसे अनिवार्य ही है]।

पूर्वोक्त नियत-अनियत-सम्बन्धके तीन उदाहरण

पृष्ठ २५० पर लक्ष्यार्थ तथा व्यङ्ग्यार्थका भेद बतलाते हुए लिखा था कि लक्ष्यार्थ नाना-विध होनेपर भी अनेकार्थक शब्दके अर्थके समान ही नियतरूप होता है। परन्तु प्रतीयमान अर्थ नियतसम्बन्ध, अनियतसम्बन्ध और सम्बद्धसम्बन्ध तीन प्रकारका होता है। यह बात वहाँ कह तो दी थी, पर उदाहरण द्वारा उसका स्पष्टीकरण नहीं किया जा सका था। इसलिए अब ग्रन्थकार सिंहावलोकनन्यायसे उसको उदाहरणो द्वारा स्पष्ट करते हैं। नियतसम्बन्ध और अनियतसम्बन्ध पदोंकी दो प्रकारकी व्याख्या टीकाकारोने की है। कुछके अनुसार नियतसम्बन्धका अर्थ प्रसिद्ध सम्बन्ध और अनियतसम्बन्धका अर्थ अप्रसिद्ध सम्बन्ध होता है। दूसरोके अनुसार नियतसम्बन्धका अर्थ वाच्य-व्यङ्ग्यकी समानविषयता और अनियतसम्बन्धका अर्थ दोनोकी भिन्नविषयता है। उदाहरण दोनो दशाओंमे एक ही है। 'अत्ता एत्थ णिमज्जइ'मे वाच्यार्थमें खाटपर गिर पड़नेका निषेध किया जा रहा है। पर व्यङ्ग्य अर्थमें उसे खाटपर आनेका निमन्त्रण दिया जा रहा है। इस प्रकार वाच्यार्थ तथा व्यङ्ग्यार्थ, दोनो एक-दूसरेके विपरीत हैं। इसलिए उन दोनोंका विरोधसम्बन्ध है। यह विरोधसम्बन्ध प्रसिद्ध सम्बन्ध है। इसलिए प्रथम व्याख्याके अनुसार यह नियतसम्बन्ध या प्रसिद्ध-सम्बन्धवाले व्यङ्ग्यका उदाहरण हुआ। इसके विपरीत 'कस्य वा न भवति रोषो' [उदाहरण सं० १३५] अनियतसम्बन्धके उदाहरणरूपमें प्रस्तुत किया गया है। यहाँ वाच्यार्थका नायिकासे सम्बन्ध है और व्यङ्ग्यार्थका सम्बन्ध नायक, पड़ोसिन, उपपति, सपत्नी, सास, उपपतिकी स्त्री आदि अनेकसे हो सकता है। इस वाच्यार्थका व्यङ्ग्यार्थके साथ कोई नियत या प्रसिद्ध सम्बन्ध नहीं दिखलाया जा सकता है। इसलिए प्रथम व्याख्याके अनुसार यह अनियतसम्बन्धका उदाहरण है।

दूसरे व्याख्याकारोने नियतसम्बन्धमे वाच्य तथा व्यङ्ग्यकी समानविषयता तथा अनियतसम्बन्धमें दोनोकी भिन्नविषयताका ग्रहण किया है। 'अत्ता एत्थ' इत्यादि पहिले उदाहरणमें वाच्य तथा व्यङ्ग्य दोनों अर्थोंका विषय या बोद्धव्य एक ही व्यक्ति पथिक है इसलिए वह नियतसम्बन्धका उदाहरण है। और 'कस्य वा न भवति रोषो' इत्यादिमें वाच्यार्थका विषय सखी तथा व्यङ्ग्यार्थका विषय नायक, पड़ोसिन, उपपति, सपत्नी, सास, उपपतिकी स्त्री आदि अनेक हैं। इस प्रकार वाच्यार्थ तथा व्यङ्ग्यार्थोंका विषयभेद होनेसे यह अनियतसम्बन्ध व्यङ्ग्यका उदाहरण है। इसीको आगे कहते हैं—

उन [तीन प्रकारके व्यङ्ग्यार्थों]मेंसे 'अत्ता एत्थ' इत्यादि [उदाहरण सं० १३६] मे [व्यङ्ग्यार्थ] नियतसम्बन्धवाला और 'कस्य वा न भवति रोषो' इत्यादि [उदाहरण सं० १३५] में अनियतसम्बन्धवाला है [सम्बद्ध सम्बन्ध अर्थात् परम्परितसम्बन्धवाले व्यङ्ग्यका उदाहरण अगला श्लोक है]।

[विपरीतरते लक्ष्मीर्ब्रह्माणं दृष्ट्वा नाभिकमलस्थम् ।
हरेर्दक्षिणनयनं रसाकुला झटिति स्थगयति ॥ इति संस्कृतम्]

इत्यादौ सम्बद्धसम्बन्धः । अत्र हि हरिपदेन दक्षिणनयनस्य सूर्यात्मकता व्यज्यते तन्निमीलनेन सूर्यास्तमयः, तेन पद्मस्य सङ्कोचः, ततो ब्रह्मणः स्थगनम्, तत्र सति गोप्याङ्गस्यादर्शनेन अनियन्त्रणं निधुवनविलसितमिति ।

परम्परितसम्बन्धका उदाहरण

[विष्णुजीके साथ] विपरीत रतिके समय [उनकी] नाभिके कमलमें बैठे हुए ब्रह्माको देखकर [कामके आवेगसे व्याकुल] लक्ष्मी [स्वयं अपने व्यापारसे हट तो न सकीं, पर मेरे इस व्यापारको ब्रह्माजी न देख सकें इसलिए कमलको बन्द कर देनेके लिए] विष्णुजीके दाहिने नेत्र [सूर्य] को ढँक देती हैं ॥१३७॥

इत्यादि [उदाहरण]में [वाच्यार्थ तथा व्यङ्ग्यार्थका सम्बद्धसम्बन्ध अर्थात्] परम्पराकृत सम्बन्ध है। यहाँ 'हरि'पदसे [विष्णुके] दाहिने नेत्रकी सूर्यरूपता व्यक्त होती है, उसको बन्द कर देनेसे सूर्यका अस्त होना और उससे कमलका बन्द होना, उससे ब्रह्माजीका [कमलके भीतर] बन्द हो जाना और उसके बन्द हो जानेपर गोप्य अङ्ग [और उसके साथ ही गोप्य व्यापार] के न देखे जानेसे निर्विघ्न सुरतविलास यह [सब परम्परितसम्बन्धसे व्यङ्ग्य] है।

लक्षणासे भिन्न व्यञ्जनासाधक युक्तियोंका सारांश

'ननु रामोऽस्मि सर्वं सहे' पृष्ठ २४१ से लेकर 'विपरीत रते लक्ष्मीः' इत्यादि उदाहरण सं० १३७ तक ग्रन्थकारने यह सिद्ध किया है कि व्यञ्जनाका काम लक्षणासे भी नहीं निकल सकता है। इसलिए उसे लक्षणासे भिन्न पृथक् वृत्ति मानना ही होगा। इसमें उन्होंने निम्नलिखित छह युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं, जिनका सारांश इस प्रकार है—

(१) लक्ष्यार्थकी प्रतीतिके लिए मुख्यार्थका बाध होना आवश्यक है परन्तु 'अत्ता एत्थ णिमज्जइ' आदि उदाहरण संख्या १३६ में मुख्यार्थका बाध नहीं होता है। फिर भी निषेधपरक वाच्यार्थसे विधिपरक 'निमन्त्रण' रूप व्यङ्ग्य अर्थ प्रतीत होता है। यह लक्षणाका विषय नहीं हो सकता है। इसलिए व्यञ्जनाको लक्षणासे भिन्न ही मानना होगा।

(२) अभिधा जिस प्रकार सङ्केतादिकी अपेक्षा रखती है उसी प्रकार लक्षणा मुख्यार्थबाध आदि हेतुओंके बिना नहीं हो सकती है। इसलिए उसको अभिधाकी 'पुच्छभूत' कहा गया है। व्यञ्जना इन सब बन्धनोंसे मुक्त है। इसलिए वह लक्षणाके अन्तर्गत नहीं हो सकती है। उसे लक्षणासे भिन्न स्वतन्त्र वृत्ति ही मानना होगा।

(३) अभिधा और लक्षणा दोनोंमें यद्यपि एक ही शब्दसे अनेक अर्थोंकी प्रतीति हो सकती है परन्तु वह सब नियतसम्बन्धवाला अर्थ ही होता है। पर व्यञ्जनासे जिन विभिन्न अर्थोंकी प्रतीति होती है वे नियतसम्बन्धवाले भी होते हैं और अनियतसम्बन्धवाले भी होते हैं तथा परम्परितसम्बन्धवाले भी होते हैं। 'अत्ता एत्थ णिमज्जइ' (१३६) में व्यङ्ग्यार्थ नियतसम्बन्ध अर्थात् एकव्यक्तिविषयक अथवा प्रसिद्धसम्बन्धवाला है। 'कस्स वा न भवति रोषो [१३५] में व्यङ्ग्यार्थ अनियतसम्बन्धवाला अर्थात् वाच्यार्थसे भिन्नविषयक अथवा अप्रसिद्धसम्बन्धवाला है। और 'विपरीतरते' [१३७]

इस ध्वनिकी कसौटी और काव्यका 'प्राण' 'व्यञ्जना' है। इसलिए यहाँ आचार्य मम्मटने इस व्यञ्जनाकी सिद्धिके लिए इतना आग्रह और इतना प्रबल प्रयत्न किया है। पर अभी तो वे केवल मीमांसकोंसे निपट पाये हैं, वेदान्ती, वैयाकरण और नैयायिक आदिसे निपटना अभी शेष है। इसलिए इस उल्लासके शेष भागमें वे इन तीनों मतोंका खण्डनकर व्यञ्जनाकी स्थापना करनेका यत्न करेंगे।

'एका क्रिया द्व्यर्थकरी प्रसिद्धा'

अगले अनुच्छेदमें ग्रन्थकार 'अखण्डार्थतावाद'की चर्चा उठाकर उसमें भी व्यञ्जनावृत्तिकी मान्यताका प्रतिपादन करेंगे। यह अखण्डार्थताका सिद्धान्त वेदान्ती और वैयाकरण दोनों मानते हैं। इसलिए इस एक ही सिद्धान्तकी आलोचना द्वारा उन्होंने वेदान्ती तथा वैयाकरण दोनोंके व्यञ्जना-विरोधी मतकी एक साथ ही आलोचना कर दी है। इस प्रक्रियासे लेखमें कुछ लाघव तो हो गया है, परन्तु ग्रन्थकी पंक्तियाँ अस्पष्ट और क्लिष्ट हो गयी हैं। टीकाकार भी यहाँ चक्करमें पड़ जाते हैं कि यह किसके मतकी आलोचना की जा रही है। 'सारबोधिनी' और 'बालबोधिनी' टीकाकारोंने इसे वेदान्तियोंकी आलोचनापरक माना है और प्रभाकरने इसे वैयाकरणोंकी आलोचनापरक माना है। पर वास्तवमें ग्रन्थकारने यहाँ एक ही तीरसे दो निशाने मारे हैं। इस अखण्डार्थतावादकी आलोचना द्वारा उन्होंने वेदान्तियों और वैयाकरणों दोनोंके मतोंकी आलोचना कर दी है। इनकी यह एक ही क्रिया 'द्व्यर्थकरी' हो गयी है।

वेदान्तियोंका अखण्डार्थतावाद

(१) शब्दबोधकी प्रक्रियामें साधारणतः 'पदार्थसंसर्गबोध'को 'वाक्यार्थ' कहा जाता है। वाक्यमें प्रयुक्त हुए पदोंसे पहिले 'पदार्थों'की उपस्थिति होती है। उसके बाद उन पदार्थोंका परस्पर सम्बन्ध होता है। इसी 'पदार्थसंसर्गको' वाक्यार्थ कहा जाता है। इसलिए सभी वाक्य साधारणतः 'पदार्थसंसर्गगोचरप्रतीति'को उत्पन्न करते हैं।

परन्तु वेदान्तियोंने एक प्रकारके ऐसे वाक्योंकी भी कल्पना की है, जो संसर्गविषयक प्रतीतिको नहीं कराते हैं। ऐसे वाक्योंको वे 'अखण्डार्थवाक्य' कहते हैं। वेदान्तग्रन्थोंमें 'संसर्गगोचरप्रमिति-जनकत्वम् अखण्डार्थत्वम्' यह अखण्डार्थका लक्षण किया गया है। इस श्रेणीमें मुख्यरूपसे लक्षण-वाक्य आते हैं। लक्षणवाक्योंको अखण्डार्थवाक्य माननेका मुख्य आधार, प्रश्न और प्रतिवचनके सारूप्यका सिद्धान्त है। जिस विषयमें प्रश्न किया जाय उसी विषयमें उत्तर दिया जाय यह एक सामान्य सिद्धान्त है। प्रश्न कुछ किया जाय, उत्तर कुछ और ही दिया जाय तो यह उचित नहीं है। किसी पदार्थके स्वरूपकी जिज्ञासा होनेपर लक्षणवाक्य द्वारा उसका उत्तर दिया जाता है। जैसे कोई पूछे कि आकाशमें 'कतमश्चन्द्रः' चन्द्रमा कौन सा है? तो उत्तर देनेवाला कहता है कि 'प्रकृष्ट-प्रकाशश्चन्द्रः' जो सबसे अधिक प्रकाशमान है वह चन्द्रमा है। यहाँ चन्द्रमाके स्वरूपके विषयमें प्रश्न है तो उत्तर भी स्वरूपमात्रविषयक ही होना चाहिये। इसलिए 'प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रः' इस उत्तर-वाक्यको केवल रूपपरक मानना चाहिये, संसर्गपरक नहीं। अर्थात् इससे पदार्थसंसर्गका बोध नहीं होता है। सामान्य वाक्योंके समान इसको भी यदि 'संसर्गगोचरप्रमिति'का जनक मान लिया जाय तब तो 'आम्रान् पृष्टः कोविदारान् आचष्टे'वाली बात हो जायगी। प्रश्न स्वरूपविषयक है। उत्तर संसर्गविषयक हो, यह उचित नहीं है। अतः यह वाक्य, संसर्गका नहीं स्वरूपमात्रका बोधक होनेसे अखण्डार्थवाक्य कहलाता है। इसी प्रकार सारे लक्षणपरक वाक्य, 'संसर्गगोचरप्रमिति'के

जनक होनेसे 'अखण्डार्थ' वाक्य कहलाते हैं। 'तत्त्वमसि', 'सोऽयं देवदत्तः' आदि वाक्योंको भी वेदान्ती अखण्डार्थ वाक्य ही मानते हैं। यह अखण्डवाक्यकी एक व्याख्या है।

(२) परन्तु दूसरे व्याख्याकारोंने 'अखण्डार्थवाक्य'की व्याख्या प्रकारान्तरसे की है। साधारणतः क्रियाकारणभावको स्वीकार कर उत्पन्न होनेवाले शब्दबोधको 'सखण्डबोध' कहा जाता है, क्योंकि उसमें वाक्यका क्रियाकारक आदि रूपमें अनेक खण्डोंमें विश्लेषण किया जा सकता है। उससे भिन्न अर्थात् जिसमें क्रियाकारकभाव आदि रूप खण्डोंमें वाक्य या वाक्यार्थका विभाग न किया जा सके उसको 'अखण्डवाक्य' या 'अखण्डवाक्यार्थ' कहा जाता है। 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' इस वेदान्त सिद्धान्तमें यह सारा जगत् और उसमें दिखलायी देनेवाला नानात्व ही मिथ्या है। इसलिए उनके सिद्धान्तमें धर्मधर्मिभाव तथा क्रियाकारकभाव आदि भी मिथ्या है। अतएव उनके यहाँ पारमार्थिक रूपमें अभिधा और लक्षणा, व्यञ्जना आदिकी सत्ता नहीं मानी जाती है। पर व्यावहारिकरूपमें अभिधा और लक्षणाकी सत्ता मानते हैं। लक्षणाके साहित्य आदि अन्य शास्त्रोंमें केवल 'उपादानलक्षणा' तथा 'लक्षणलक्षणा' ये दो ही भेद माने गये हैं। इनके ही दूसरे नाम क्रमशः 'अजहल्लक्षणा' तथा 'जहल्लक्षणा' रखे गये हैं। पर वेदान्तियोंने 'तत् त्वमसि' इत्यादि महावाक्योंके अर्थके लिए 'अभिधा' और 'अजहल्लक्षणा' तथा 'जहल्लक्षणा' इन तीनोंसे अतिरिक्त 'जहदजहल्लक्षणा' नामक एक चौथा व्यापार भी माना है। उसको वे 'भागत्यागलक्षणा' भी कहते हैं। इस प्रकार वेदान्तियोंके मतमें परमार्थमें तो ब्रह्मको छोड़कर और सब कुछ ही मिथ्या है। न अभिधा है, न लक्षणा और न व्यञ्जना। न अखण्डवाक्य है, न सखण्डवाक्य। पर व्यवहारकालमें 'व्यवहारे भाट्टनयः'के अनुसार यहाँ उनको अखण्डवाक्य तथा अखण्डवाक्यार्थतावादी कहा गया है।

वेदान्तानुसारिणी अखण्डवाक्यकी इन दोनों व्याख्याओंमें 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म', 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म', 'नेह नानास्ति किञ्चन', 'तत् त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि वाक्योंसे अखण्डबुद्धि ही उत्पन्न होती है। उस अखण्डबुद्धिसे निष्प्रपञ्च परब्रह्म ही वाक्योंका अर्थ होता है। अतएव वही उन वाक्योंका वाक्यार्थ कहलाता है और वे वाक्य ही अखण्ड ब्रह्मके [illegible] होते हैं। यह [illegible] प्रकाशकी 'अखण्डबुद्धिनिर्ग्राह्यो वाक्यार्थ एव वाच्यः, वाक्यमेव च वाचकम् इत्यादि' इस पंक्तिका अर्थ है।

इसके [illegible] ग्रन्थकारने 'वेदान्तनिपातव्युत्पत्तिः पदपदार्थकल्पना[illegible]' [illegible] है उसका [illegible] है कि 'व्यवहारे भाट्टनयः' इस सिद्धान्तके अनुसार वेदान्ती भी [illegible] [illegible] [illegible] स्वीकार करते ही हैं। इसलिए उनको भी [illegible] आदि [illegible] [illegible] होगी। [illegible] 'निःशेषच्युतचन्दनम्' इत्यादि उदाहरणोंमें [illegible] [illegible] व्यञ्जनाका विषय मानना ही होगा।

[illegible]

[illegible]

[illegible]

अत्रोच्यते—भीरुरपि गुरोः प्रभोर्वा निदेशेन, प्रियानुरागेण, अन्येन चैवंभूतेन हेतुना सत्यपि भयकारणे भ्रमतीत्यनैकान्तिको हेतुः । शुनो बिभ्यदपि वीरत्वेन सिंहान्न बिभेतीति विरुद्धोऽपि । गोदावरीतीरे सिंहसद्भावः प्रत्यक्षादनुमानाद्वा न निश्चितः अपि तु वचनात् । न च वचनस्य प्रामाण्यमस्ति अर्थेनाप्रतिबन्धादित्यसिद्धश्च । तत्कथमेवं-विधाद्धेतोः साध्यसिद्धिः ।

प्रत्येक शुद्ध हेतुमें १. पक्षसत्त्व, २. सपक्षसत्त्व तथा ३. विपक्षव्यावृत्तत्व इन तीनों धर्मोंका होना आवश्यक है । यदि इनमेंसे किसी एक भी धर्मकी न्यूनता हो जाती है तो वह हेतु, हेतु नहीं रह जाता है अपितु 'हेत्वाभास' बन जाता है । जो हेतु पक्षमें न पाया जाय अर्थात् पक्षसत्त्व न हो वह 'स्वरूपासिद्ध' नामक 'हेत्वाभास' कहलाता है और जो हेतु विपक्षव्यावृत्तत्व धर्मसे रहित है वह 'अनैकान्तिक हेत्वाभास' कहलाता है । यहाँ महिमभट्टने 'सिंहोपलब्धि'को 'भीरुभ्रमणाभावत्व' सिद्ध करनेके लिए हेतुरूपमें प्रस्तुत किया है । किन्तु यह अनैकान्तिक हेतु है । जहाँ जहाँ भीरुभ्रमण होता हो, वहाँ वहाँ भयके कारणका अभाव हो, इस प्रकारकी कोई व्याप्ति भी नहीं है । क्योंकि गुरुजनोंके भयके कारणोंको जानते हुए भी उनकी आज्ञासे भीरु [illegible] जाता ही करता है । इसी प्रकार कहीं प्रभुकी आज्ञासे, कहीं गुरुकी आज्ञासे और कहीं प्रियाके अनुरागसे भयके कारणके होते हुए भी भीरुकी भी प्रवृत्ति पायी जाती है । इसलिए यह हेतु 'अनैकान्तिक' है ।

इसके अतिरिक्त दूसरा दोष यह है कि गोदावरीतीर यहाँ 'पक्ष' है । उसमें [illegible] रूप हेतुका निश्चितरूपसे होना आवश्यक है । यदि अनुमान करनेवाले धार्मिकजीने गोदावरीतीर-रूप पक्षमें सिंहको देखा होता तब तो उसको 'पक्षसत्' हेतु कहा जा सकता था । परन्तु धार्मिकजीने उसे देखा तो नहीं है । केवल उस स्त्रीके कथनसे ही उनको उसका ज्ञान हो रहा है । [illegible] कहा जाय वह प्रमाण ही हो, इस प्रकारकी कोई व्याप्ति न होनेसे वचनमात्रको प्रमाण नहीं माना जा सकता । इसलिए गोदावरी तीरपर सिंहकी सत्ता निश्चित नहीं है । [illegible] 'स्वरूपासिद्ध' इस लक्षणके अनुसार 'सिंहोपलब्धि' रूप हेतुके गोदावरी[illegible] गृहीत न होनेसे यह हेतु 'स्वरूपासिद्ध' हेत्वाभास हो जाता है । इस प्रकार [illegible] 'स्वरूपासिद्ध' होनेसे अनुमान द्वारा भ्रमणनिषेधका ज्ञान नहीं हो सकता है । [illegible] व्यञ्जनावृत्ति अवश्य माननी चाहिये । यह सिद्धान्तपक्ष हुआ ।

इस [पूर्वपक्षके होने] पर [उसके खण्डनके लिए] कहते हैं कि—भीरु भी प्रभुकी अथवा गुरुकी आज्ञासे अथवा प्रियाके अनुरागसे अथवा इसी प्रकारके किसी अन्य कारणसे भयका कारण होनेपर भी घूमता है । इसलिए यह हेतु १. 'अनैकान्तिक' [हेत्वाभास] है । और कुत्तेसे डरनेपर भी वीर होनेसे सिंहसे नहीं डरता है । इसलिए २. 'विरुद्ध' [हेत्वाभास] भी है । [तीसरा दोष यह है कि] गोदावरीके किनारे सिंहका होना प्रत्यक्षसे तथा अनुमानसे निश्चित नहीं हुआ है किन्तु वचनसे । [illegible] [वचनका] प्रतिबन्ध [अर्थात् वचनसे जिस अर्थकी प्रतीति हो वह [illegible] ही चाहिये इस प्रकारका नियम या व्याप्ति] न होनेसे वचनका प्रामाण्य नहीं है । इसलिए [पक्षमें हेतुके न होनेसे] ३. 'स्वरूपासिद्ध' [हेत्वाभास] भी है । तो इस प्रकार के [त्रिदोषयुक्त] हेतुसे साध्यकी सिद्धि किस तरह [अनुमान द्वारा] हो सकती है [अर्थात् अनुमान द्वारा सिद्धि नहीं हो सकती है ।]

तथा निःशेषच्युतेत्यादौ गमकतया यानि चन्दनच्यवनादीन्युपात्तानि, तानि कारणान्तरतोऽपि भवन्ति, अतश्चात्रैव स्नानकार्यत्वेनोक्तानीति नोपभोगे एव प्रतिबद्धानीत्यनैकान्तिकानि ।

व्यक्तिवादिना चाधमपदसहायानामेषां व्यञ्जकत्वमुक्तम् । न चात्राधमत्वं प्रमाणप्रतिपन्नमिति कथमनुमानम् । एवंविधादर्थादेवंविधोऽर्थ उपपत्त्यनपेक्षत्वेऽपि प्रकाशते इति व्यक्तिवादिनः पुनस्तद् अदूषणम् ।

इति श्रीकाव्यप्रकाशे ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्यसङ्कीर्ण-
भेदनिर्णयो नाम पञ्चम उल्लासः

इसी प्रकार 'निःशेषच्युत' इत्यादि [उदाहरण सं० २] में जिन चन्दनके छूट जाने आदिको [महिमभट्टने अनुमानके गमक] अनुमापकरूपमें [हेतुके रूपमें] दिया है वे अन्य कारणोंसे भी हो सकते हैं। इसलिए यहाँ [उक्त श्लोकमें] स्नानके कार्यरूपमें कहे गये हैं। इसलिए उपभोगमें ही [उनकी] व्याप्ति नहीं है। अतः 'अनैकान्तिक' [हेत्वाभास] है [इसलिए भी वे अनुमापक नहीं हो सकते हैं यह चौथा दोष है]।

और [निःशेषच्युत आदि श्लोकमें] व्यञ्जनावादीने 'अधम' पदकी सहायतासे ही इन [चन्दनच्युति आदि] का व्यञ्जकत्व बतलाया है। परन्तु वह अधमत्व [वचनमात्रसे उक्त होनेके कारण प्रत्यक्ष या अनुमान] प्रमाणसे सिद्ध नहीं है। तो [पूर्ववत् असम्प्रसिद्ध होनेके कारण] उससे अनुमान कैसे हो सकता है? [अर्थात् अनुमान द्वारा उसकी सिद्धि नहीं हो सकती है। परन्तु व्यञ्जनावादीके मतमें यह बात नहीं है। उसके मतमें तो] 'व्याप्तिके बिना भी इस प्रकारके अर्थसे इस प्रकारका [व्यङ्ग्य] अर्थ प्रकाशित होता है' [सामान्यरूपसे] यह कहनेवाले व्यञ्जनावादीके मतमें यह दोष नहीं होता है।

[illegible]

[illegible]

[सू० [illegible]] शब्दार्थचित्रं यत्पूर्वं काव्यद्वयमुदाहृतम् ।
गुणप्रधानभावेन [illegible] स्थितिश्चित्रार्थशब्दयोः ॥४८॥
न तु शब्दचित्रे [illegible] अर्थचित्रे वा शब्दस्य ।

[illegible]

उल्लासकी सङ्गति

[illegible] तथा [illegible] नामसे [illegible] [illegible] चतुर्थ उल्लासमें [illegible] विस्तारपूर्वक वर्णन किया [illegible] निरूपण इस पञ्चम उल्लासमें [illegible] दो प्रकारके [illegible] होते हैं, इन दोनों भेदोंका [illegible] इन दोनों भेदोंके उदाहरण भी प्रथम [illegible] विस्तृत व्याख्या करनेकी आवश्यकता नहीं थी, किन्तु जब [illegible] उल्लासमें किया गया है तो [illegible] किया जाना चाहिये। ऐसा मानकर ग्रन्थकारने [illegible] उल्लास प्रारम्भ किया है।

[illegible] जो शब्दचित्र तथा अर्थचित्र ये दो भेद किये गये थे उनका आशय यह नहीं है कि [illegible] और [illegible] कोई उपयोग नहीं। वास्तवमें तो दोनोंमें दोनोंका ही उपयोग होता है, [illegible] शब्दचित्रका उदाहरण '[illegible]' इत्यादि प्रथम उल्लासमें दिया गया था। [illegible] होनेके कारण व्यतिरेकरूप अर्थालङ्कार भी होनेसे अर्थचित्रता भी है। और 'विनिर्गतं मानदमात्ममन्दिरात्' इत्यादि अर्थचित्रके उदाहरणमें 'मानदमात्ममन्दिरात्' में मकारकी आवृत्ति होनेसे वृत्त्यनुप्रासरूप शब्दालङ्कारके भी होनेसे शब्दचित्रता भी है। परन्तु 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' इस नियमके अनुसार उनमेंसे जहाँ जिसकी प्रधानता होती है उसके आधारपर उसका नामकरण किया जाता है। सबसे पहिले इसी बातको [illegible] निम्नलिखितप्रकार कहते हैं—

[सू० ९०]-शब्दचित्र तथा अर्थचित्र [नामसे] जो दो प्रकारके [चित्र] काव्य पहिले [प्रथम उल्लासमें] कहे गये हैं उनमें शब्दचित्र तथा अर्थचित्र शब्दोंका प्रयोग [स्थिति] गुणप्रधानभावसे होता है [अर्थात् दोनोंमें दोनों प्रकारकी चित्रताकी स्थिति सम्भव होनेपर भी शब्द और अर्थकी चित्रतामेंसे जहाँ जिसकी प्रधानता होती है उसके आधारपर उसको शब्दचित्र या अर्थचित्र कहा जाता है। दूसरेकी भी गौण स्थिति रहती है]।

न कि शब्दचित्रमें अर्थचित्रताका अभाव, अथवा अर्थचित्रमें शब्द [के चित्रत्व] का [अभाव होता है]।

आगे ग्रन्थकारने 'भामह' के 'काव्यालङ्कार' से तीन श्लोक उद्धृत किये हैं। इन श्लोकोंमें 'भामह' ने यह प्रतिपादन किया है कि कुछ लोग रूपक आदि अर्थालङ्कारोंको ही प्रधान अलङ्कार मानते हैं शब्दालङ्कारोंको अलङ्कार नहीं मानते हैं। दूसरे लोग रूपकादि अर्थालङ्कारोंकी प्रतीति अर्थ-

तथा चोक्तम्—

> "रूपकादिरलङ्कारस्तस्यान्यैर्बहुधोदितः ।
> न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिताननम् ॥
> रूपकादिमलङ्कारं बाह्यमाचक्षते परे ।
> सुपां तिडां च व्युत्पत्तिं वाचां वाञ्छन्त्यलङ्कृतिम् ॥
> तदेतदाहुः सौशब्द्यं नार्थव्युत्पत्तिरीदृशी ।
> शब्दाभिधेयालङ्कारभेदादिष्टं द्वयन्तु नः ॥" इति ॥

शब्दचित्रं यथा—

> प्रथममरुणच्छायस्तावत्ततः कनकप्रभः
> तदनु विरहोत्ताम्यत्तन्वीकपोलतलद्युतिः ।
> उदयति ततो ध्वान्तध्वंसक्षमः क्षणदामुखे
> सरसविसिनीकन्दच्छेदच्छविर्मृगलाञ्छनः ॥ १३९ ॥

प्रतीतिके बाद होती है इसलिए उनको बाह्य या गौण अलङ्कार कहते हैं और शब्दालङ्कार—जिसे 'सौशब्द्य' भी कहा जाता है—की प्रतीति काव्यके सुनते ही होती है इसलिए उसीको प्रधान अलङ्कार मानते है। किन्तु 'भामह' अपने सिद्धान्तमतका उल्लेख करते हुए कहते है कि हमको तो शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार भेदसे दोनो ही इष्ट है। इसी शैलीसे ग्रन्थकारने यहाँ चित्रकाव्यमे शब्दचित्र तथा अर्थचित्र दोनोका समन्वय किया है। इसलिए प्रमाणरूपमे 'भामह'के वचन उद्धृत करते हुए ग्रन्थकार लिखते है कि—

[जैसा कि] प्राचीन आचार्य [भामह ने] कहा भी है—

अन्योंने नाना प्रकारके रूपकादि [अर्थालङ्काररूप] अलङ्कारोंका प्रतिपादन किया है। [अर्थात् इनके मतमें अर्थालङ्कार ही मुख्य अलङ्कार हैं। क्योंकि] सुन्दर होनेपर भी [जैसे] विना अलङ्कारके सुन्दरियोंका मुख शोभित नहीं होता है [उसी प्रकार विना अर्थालङ्कारोंके सुन्दर शब्दोंवाला काव्य भी अच्छा नहीं लगता है]।

दूसरे लोग रूपकादि अर्थालङ्कारोंको [क्योंकि उनकी प्रतीति अर्थज्ञानके बाद होती है इसलिए] बाह्य अलङ्कार कहते हैं और सुबन्त और तिङन्त पदोंकी व्युत्पत्ति [विशेषेणानुप्रासादिरूपेण उत्पत्तिं सन्निवेशं] को ही वाणीका [वास्तविक अन्तरङ्ग] अलङ्कार मानते हैं [क्योंकि काव्यके सुनते ही शब्दालङ्कारोंकी प्रतीति हो जाती है अतः शब्दालङ्कार ही अन्तरङ्ग कहलाते हैं]।

इस [सुबन्त तिङन्त पदोंकी व्युत्पत्ति या सुन्दर सन्निवेश] को ही वे 'सौशब्द्य' नामसे कहते हैं [वह सुनते ही चमत्कारको उत्पन्न करता है इसीलिए उसीको मुख्य अलङ्कार नामसे कहते हैं]। अर्थसौन्दर्य [अर्थव्युत्पत्ति] तो इस प्रकारका [सद्यः चमत्कारजनक] नहीं होता है [उसकी प्रतीति तो अर्थज्ञानके बाद होती है इसलिए अर्थालङ्कारके गौण या बाह्य अलङ्कार कहलाते हैं]। हम [भामह] को तो शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार भेदसे दोनों ही इष्ट हैं।

शब्दचित्र [का उदाहरण] जैसे—

[उदय होते समय चन्द्रमा] पहिले लाल रङ्गका, उसके बाद सोनेके समान

अर्थचित्रं यथा—

ते दृष्टिमात्रपतिता अपि कस्य नात्र
क्षोभाय पक्ष्मलदृशामलकाः खलाश्च ।
नीचाः सदैव सविलासमलीकलग्ना
ये कालतां कुटिलतामिव न त्यजन्ति ॥ १४० ॥

यद्यपि सर्वत्र काव्येऽन्ततो विभावादिरूपतया पर्यवसानम् , तथापि स्फुटस्य रसस्यानुपलम्भादव्यङ्ग्यमेतत्काव्यद्वयमुक्तम् । अत्र च शब्दार्थालङ्कारभेदाद् बहवो भेदाः । ते चालङ्कारनिर्णये निर्णेष्यन्ते ।

इति काव्यप्रकाशे शब्दार्थचित्रनिरूपणं नाम षष्ठ उल्लासः ।

[पीत] कान्तिवाला, उसके बाद विरहसे पीड़ित सुन्दरीके कपोलकी [श्वेत] कान्तिवाला उदय होता है । उसके बाद रात्रिके प्रारम्भमें ताजे मृणालदण्डके समान [अत्यन्त श्वेत] कान्तिवाला होकर अन्धकारका नाश करनेमें समर्थ होता है ॥१३९॥

अर्थचित्र [का उदाहरण] जैसे—

सघन पलकोंवाली सुन्दरियोंके केश और दुष्ट पुरुष, जो विलासपूर्वक सदैव अलीक [केशपक्षमें ललाट तथा खलपक्षमें मिथ्याभाषण] में लगे हुए, कुटिलता [केशपक्षमें टेढ़ेपन और खलपक्षमें दुष्टता] के समान कालेपनको नहीं छोड़ते हैं, दिखलायी देते ही किसके चित्तमें क्षोभ उत्पन्न नहीं करते हैं [अर्थात् कामिनियोंके काले और घुँघराले केश और उन्हींके समान काले और कुटिल वृत्तिके दुष्ट पुरुष देखनेवालोंके हृदयको क्षुब्ध कर देते हैं ॥१४०॥

इनमेंसे पहिले उदाहरणमें अनुप्रासरूप शब्दालङ्कारकी प्रधानताके कारण उसको शब्दचित्र और दूसरे उदाहरणमें समुच्चय, उपमा तथा श्लेष आदि अर्थालङ्कारोंके प्रधान होनेसे उसको अर्थचित्र कहा है ।

यद्यपि सभी काव्योंमें [वर्णित सभी पदार्थोंका रसके] विभावादिरूपमें पर्यवसान होता है [इसलिए सभीमें व्यङ्ग्यका सम्बन्ध रहता है इसलिए ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य दो ही काव्य मानने चाहिये] फिर भी [चित्रकाव्यके इन दोनों उदाहरणोंमें] स्पष्टरूपसे रसकी प्रतीति न होनेसे इन दोनों काव्योंको व्यङ्ग्यरहित [अधम] काव्य कहा गया है ।

इनमें भी शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कारोंके भेदसे बहुत-से भेद हो सकते हैं। अलङ्कारोंके निर्णयके अवसरपर [दशम उल्लासमें] उनका निर्णय करेंगे ।

काव्यप्रकाशमें शब्दचित्र तथा अर्थचित्रका निरूपण करनेवाला
षष्ठ उल्लास समाप्त हुआ ।

श्रीमदाचार्यविश्वेश्वरसिद्धान्तशिरोमणिविरचितायां
काव्यप्रकाशदीपिकायां हिन्दीव्याख्यायां
षष्ठ उल्लास समाप्त ।

काव्यस्वरूपं निरूप्य दोषाणां सामान्यलक्षणमाह—

[सू० ७१] मुख्यार्थहतिर्दोषो रसश्च मुख्यस्तदाश्रयाद् वाच्यः ।
उभयोपयोगिनः स्युः शब्दाद्यास्तेन तेष्वपि सः ॥ ४९ ॥

हतिरपकर्षः । शब्दाद्या इत्याद्यग्रहणाद् वर्णरचने ।

विशेषलक्षणमाह—

[सू० ७२] दुष्टं पदं श्रुतिकटु च्युतसंस्कृत्यप्रयुक्तमसमर्थम् ।
निहतार्थमनुचितार्थं निरर्थकमवाचकं त्रिधाऽश्लीलम् ॥५०॥
सन्दिग्धमप्रतीतं ग्राम्यं नेयार्थमथ भवेत् क्लिष्टम् ।
अविमृष्टविधेयांशं विरुद्धमतिकृत् समासगतमेव ॥५१॥

अथ काव्यप्रकाशदीपिकायां सप्तम उल्लासः

उल्लाससङ्गति

प्रथम उल्लासमें काव्यका लक्षण किया गया था। उसके बाद छठे उल्लासतक काव्यके भेदोपभेद आदिका वर्णनकर काव्यलक्षणकी ही व्याख्या करनेका प्रयत्न किया गया था। काव्यलक्षणमें 'अदोषौ', 'सगुणौ' और 'अनलङ्कृती पुनः क्वापि' ये पद भी है। इनमेंसे 'अदोषौ' पदकी व्याख्याके लिए पहिले दोषोके स्वरूपका स्पष्टीकरण होना चाहिये। इसलिए ग्रन्थकार दोषोंका निरूपण करनेके लिए इस सप्तम उल्लासको प्रारम्भ कर रहे हैं। इसमे भी सामान्य लक्षणके बाद ही विशेष लक्षण करना उचित होगा, इसलिए दोषका सामान्य लक्षण करते है—

[सू० ७१]—मुख्यार्थका अपकर्ष जिससे होता है उसको दोष कहते हैं। [मुख्यार्थ पदका अभिप्राय यहाँ वाच्यार्थ नहीं है, रस है] और रस मुख्य [अर्थ] है। [इसलिए मुख्यतः रसके अपकर्षजनक कारणको दोष कहते हैं। परन्तु] उसका [रसका] आश्रय होनेसे वाच्य [अर्थ] भी [मुख्य अर्थ कहलाता] है। [इसलिए रसके साथ चमत्कारी वाच्यका अपकर्षकारक भी दोष कहलाता है। उसको अर्थदोष कहते हैं]। शब्दादि [रस तथा वाच्यार्थ] इन दोनोंके [बोधनमें] उपकारक [सहायक] होते हैं इसलिए उनमें भी वह [दोष] रहता है [और वह पददोष कहलाता है] ॥४९॥

[कारिकामें आये हुए] 'हति' [शब्दका अर्थ विनाश नहीं अपितु] अपकर्ष है। 'शब्दाद्याः' यहाँ आद्य पदके ग्रहणसे वर्ण और रचना [का ग्रहण होता है]।

[इस प्रकार दोषका सामान्य लक्षण कर चुकनेके बाद] विशेष लक्षण कहते हैं—

[सू० ७२]—१. श्रुतिकटु, २. च्युतसंस्कार, ३. अप्रयुक्त, ४. असमर्थ, ५. निहतार्थ, ६. अनुचितार्थ, ७ निरर्थक ८ अवाचक, ९. तीन प्रकारका अश्लील, १०. सन्दिग्ध, ११. अप्रतीत, १२ ग्राम्य, १३. नेयार्थ [ये दोष पदगत एवं समासगत दोनों प्रकारके होते हैं और], १४. क्लिष्ट, १५ अविमृष्टविधेयांश, १६. विरुद्धमतिकृत् [ये तीन दोष] केवल समासमें ही होते हैं ॥५०-५१॥

(१) श्रुतिकटु परुषवर्णरूपं दुष्टं यथा—

अनङ्गमङ्गलगृहापाङ्गभङ्गितरङ्गितैः ।
आलिङ्गितः स तन्वङ्ग्या कार्तार्थ्यं लभते कदा ॥ १४१ ॥

अत्र कार्तार्थ्यमिति ।

(२) च्युतसंस्कृति व्याकरणलक्षणहीनं यथा—

एतन्मन्दविपक्वतिन्दुकफलश्यामोदरापाण्डुर-
प्रान्तं हन्त पुलिन्दसुन्दरकरस्पर्शक्षमं लक्ष्यते ।
तत् पल्लीपतिपुत्रि ! कुञ्जरकुलं कुम्भाभयाभ्यर्थना-
दीनं त्वामनुनाथते कुचयुगं पत्रावृतं मा कृथाः ॥ १४२ ॥

अत्रानुनाथते इति । 'सर्पिषो नाथते' इत्यादावाशिष्येव नाथतेरात्मनेपदं विहितम्—'आशिषि नाथः' इति । अत्र तु याचनमर्थः । तस्मात् 'अनुनाथति स्तनयुगम्' इति पठनीयम् ।

---

१. कठोर वर्णरूप दुष्ट [रसापकर्षक पद] श्रुतिकटु [कहलाता] है । जैसे—

कामदेवके मङ्गलगृहरूप कटाक्षोंकी परम्पराके उमङ्ग [illegible] कृशाङ्गीसे आलिङ्गित वह [युवा] कब कृतार्थताको प्राप्त होगा ॥१४१॥

यहाँ कार्तार्थ्य यह [पद श्रुतिकटु है] ।

२ व्याकरणके संस्कारसे हीन [अर्थात् जो पद व्याकरणके नियम [illegible] हो वह] च्युतसंस्कार [दोषयुक्त कहलाता] है । जैसे—

हे [भीलोंके] छोटेसे गाँवके स्वामीकी पुत्रि ! यह [illegible] तेंदू [तिन्दुक] के फलके समान [illegible] मर्दन [स्पर्श] करने योग्य दिखायी दे रहा है [illegible] भीख माँगता है कि तुम इस स्तनयुगलको पत्तोंसे [illegible] ॥१४२॥

[illegible]

(३) अप्रयुक्तं तथाऽऽम्नातमपि कविभिर्नादृतम् । यथा—

यथाऽयं दारुणाचारः सर्वदैव विभाव्यते ।
तथा मन्ये दैवतोऽस्य पिशाचो राक्षसोऽथ वा ॥ १४३ ॥

अत्र दैवतशब्दो 'दैवतानि पुंसि वा' इति पुंस्याम्नातोऽपि न केनचित् प्रयुज्यते ।

(४) असमर्थं यत्तदर्थं पठ्यते न च तत्रास्य शक्तिः । यथा—

तीर्थान्तरेषु स्नानेन समुपार्जितसत्कृतिः ।
सुरस्रोतस्विनीमेष हन्ति सम्प्रति सादरम् ॥ १४४ ॥

अत्र हन्तीति गमनार्थम् ।

---

३. [कोश आदिमें] उस अर्थमें [तथा] पढ़ा हुआ होनेपर भी कवियों द्वारा न अपनाया हुआ [शब्दप्रयोग] अप्रयुक्त [दोष] है । जैसे—

यह [आदमी] तो हर समय भयङ्कर आचरण करता हुआ दिखलायी देता है । इससे प्रतीत होता है कि इसका उपास्य-देवता कोई राक्षस या पिशाच है ॥१४३॥

यहाँ 'दैवतानि पुंसि वा' दैवत शब्द विकल्पसे पुल्लिङ्ग होता है, इस प्रकार [अमरकोशमें] पठित होनेपर भी किसी [महाकवि]के द्वारा [पुल्लिङ्गमें] प्रयुक्त नहीं किया गया है [इसलिए इसमें अप्रयुक्तत्व दोष है] ।

४. जो उस रूपमें [उपसन्दानोपजीवी रूपमें] पढ़ा गया है, परन्तु [उस उप सन्धान अर्थात् अन्य किसीकी सहायता न होनेसे किसी विशेष स्थलपर] उस अर्थमें उसकी शक्ति नहीं है, उसको असमर्थ कहते हैं । जैसे—

अन्य तीर्थोंमें स्नानके द्वारा पुण्यका सञ्चय करके यह अब श्रद्धापूर्वक गङ्गा [स्नान करने]को जा रहा है ॥ १४४ ॥

यहाँ हन्ति यह गमनार्थमें [असमर्थ] है ।

[illegible]

(५) निहतार्थं यदुभयार्थमप्रसिद्धेऽर्थे प्रयुक्तम् । यथा—

यावकरसार्द्रपादप्रहारशोणितकचेन　दयितेन ।
मुग्धा साध्वसतरला विलोक्य परिचुम्बिता सहसा ॥ १४५ ॥

अत्र शोणितशब्दस्य रुधिरलक्षणेनार्थेनोज्ज्वलीकृतत्वरूपोऽर्थो व्यवधीयते ।

(६) अनुचितार्थं यथा—

तपस्विभिर्या सुचिरेण लभ्यते
प्रयत्नतः सत्रिभिरिष्यते च या ।
प्रयान्ति तामाशुगतिं यशस्विनो
रणाश्वमेधे पशुतामुपागताः ॥ १४६ ॥

अत्र पशुपदं कातरतामभिव्यनक्तीत्यनुचितार्थम् ।

(७) निरर्थकं पादपूरणमात्रप्रयोजनं चादिपदम् । यथा—

उत्फुल्लकमलकेसरपरागगौरद्युते ! मम हि गौरि !
अभिवाञ्छितं प्रसिद्ध्यतु भगवति ! युष्मत्प्रसादेन ॥ १४७ ॥

अत्र हि शब्दः

---

५. जो [शब्द] दोनों अर्थोंका वाचक होनेपर भी [अपेक्षाकृत] अप्रसिद्ध अर्थमें प्रयुक्त हो वह 'निहतार्थ' होता है । जैसे—

महावरसे गीले चरणके प्रहारसे जिसके बाल कुछ लाल [illegible] उस प्रियतमने [पादप्रहारसे इनके रक्त निकल आया है, ऐसा समझकर] उस भोली नायिकाको भयसे विह्वल देखकर सहसा उसका चुम्बन कर लिया ॥ १४५ ॥

यहाँ शोणित शब्दके रुधिररूप [अधिक प्रसिद्ध] अर्थसे [कम प्रसिद्ध] [illegible] [चमकना] रूप अर्थ दब जाता है । [इसलिए यह निहतार्थ दोष है] ।

६. अनुचितार्थ [दोषका उदाहरण] जैसे—

[ज्ञानकाण्डके अनुयायी] तपस्वी लोग जिस [मुक्तिरूप] गतिको [अनेक जन्म-परम्पराके प्रयत्नके बाद] बहुत देरसे प्राप्त कर पाते हैं और [कर्मकाण्डके [illegible]] याज्ञिक लोग प्रयत्नपूर्वक [कर्म द्वारा] जिसको प्राप्त करना चाहते हैं, [illegible] यज्ञमें पशुके समान मारे गये [लोकमें] यशकी प्राप्ति करनेवाले [illegible] ही प्राप्त कर लेते हैं ॥ १४६ ॥

यहाँ पशु पद [मारे जानेवालेकी] कातरता [असमर्थता] का [illegible] लिए [वीरताके वर्णनमें] अनुचितार्थ है ।

७. केवल पादपूर्तिमात्रके लिए प्रयुक्त 'च' आदि पद निरर्थक होते हैं । [illegible]

खिले हुए कमलके केसरके चूर्ण [पराग] के समान गौर [illegible] पार्वति ! आपकी कृपासे मेरा मनोरथ पूर्ण हो ॥ १४७ ॥

यहाँ हि शब्द [केवल पादपूर्तिके लिए प्रयुक्त हुआ है] ।

अत्राशयशब्दो वासनापर्यायो योगशास्त्रादावेव प्रयुक्तः।

(१२) ग्राम्यं यत्केवले लोके स्थितम्। यथा—

राकाविभावरीकान्तसंक्रान्तद्युति ते मुखम्।
तपनीयशिलाशोभा कटिश्च हरते मनः ॥ १५६ ॥

अत्र कटिरिति।

(१३) नेयार्थम्—

निरूढा लक्षणाः काश्चित् सामर्थ्यादभिधानवत्।
क्रियन्ते साम्प्रतं काश्चित् काश्चिन्नैव त्वशक्तितः ॥

इति यन्निषिद्धं लाक्षणिकम्। यथा—

शरत्कालसमुल्लासिपूर्णिमाशर्वरीप्रियम्।
करोति ते मुखं तन्वि चपेटापातनातिथिम् ॥ १५७ ॥

यहाँ 'आशय' शब्द वासना [कर्मसंस्कार]के वाचकरूपमें योगशास्त्र आदिमें ही प्रयुक्त होता है। [लोकमें नहीं, अतः यहाँ 'आशय' शब्दका प्रयोग अप्रतीत दोष है]।

१२ ग्राम्य—जो शब्द केवल लोकमें प्रयुक्त होता है। जैसे—

पूर्णिमाके चन्द्रमामें [अथवा चन्द्रमासे] जिसकी कान्ति संक्रान्त हो रही है [अर्थात् पूर्णिमाके चन्द्रमाने जिसकी कान्ति प्राप्त की है अथवा जिसने पूर्णिमाके चन्द्रमासे कान्ति प्राप्त की है] इस प्रकार तुम्हारा मुख और सोनेकी शिलाके समान सौन्दर्यवाली तुम्हारी कमर [मेरे] मनको मुग्ध कर रही है ॥ १५६ ॥

यहाँ कटि [कमर] यह [शब्द ग्राम्य है]

१३ नेयार्थ—

'नेयं रूढि-प्रयोजनाभावे कविना कल्पितोऽर्थः यत्र' जहाँ रूढि और प्रयोजनरूप लक्षणाके हेतुओंके न होनेपर भी कवि अपनी इच्छासे यों ही लक्षणासे शब्दका प्रयोग कर दे, वहाँ नेयार्थत्व दोष होता है। कुमारिलभट्टने तन्त्रवार्तिकमें लिखा है—

कुछ रूढ लक्षणाएँ होती हैं, जो वाचक शब्द [अभिधान]के समान सामर्थ्यसे [अर्थका बोध कराती हैं] और कुछ इस समय [प्रयोजनवश] की जाती हैं। [ये दोनों रूढि तथा प्रयोजनवती लक्षणाएँ तो उचित हैं। परन्तु रूढि तथा प्रयोजन इन दोनोंके अभावमें [स्वेच्छापूर्वक] कोई लक्षणा अशक्तिके कारण नहीं करनी चाहिये [अर्थात् इस प्रकारकी लक्षणा करनेपर 'नेयार्थत्व' दोष हो जाता है]।

इसके अनुसार जो निषिद्ध लक्षणावाला पद है [वह नेयार्थ है]। जैसे—

हे कृशाङ्गि! तुम्हारा मुख शरत्कालके चमकते हुए चन्द्रमाको भी थप्पड़ लगा रहा है [चन्द्रमाको भी तिरस्कृत कर रहा है] ॥ १५७ ॥

(१५) अविमृष्टः प्राधान्येनानिर्दिष्टो विधेयांशो यत्र तत्। यथा—

> मूर्ध्नामुद्वृत्तकृत्ताविरलगलगलद्रक्तसंसक्तधारा-
> धौतेशाङ्घ्रिप्रसादोपनतजयजगज्जातमिथ्यामहिम्नाम्।
> कैलासोल्लासनेच्छाव्यतिकरपिशुनोत्सर्पिदर्पोद्धुराणां
> दोष्णां चैषां किमेतत्फलमिह नगरीरक्षणे यत्प्रयासः॥ १५९॥

अत्र मिथ्यामहिमत्वं नानुवाद्यम्, अपि तु विधेयम्।

यथा वा—

> स्रस्तां नितम्बादवरोपयन्ती पुनः पुनः केसरदामकाञ्चीम्।
> न्यासीकृतां स्थानविदा स्मरेण द्वितीयमौर्वीमिव कार्मुकस्य॥ १६०॥

अत्र द्वितीयत्वमात्रमुत्प्रेक्ष्यम्। मौर्वीं द्वितीयामिति युक्तः पाठः।

---

(१५) अविमृष्टविधेयांश जहां विधेयांशका निर्देश नहीं किया गया अर्थात् ... नहीं किया गया वहां अविमृष्टविधेयांश [दोष] होता है। जैसे—

[illegible]

यथा वा—

वपुर्विरूपाक्षमलक्ष्यजन्मता दिगम्बरत्वेन निवेदितं वसु ।
वरेषु यद्बालमृगाक्षि ! मृग्यते तदस्ति किं व्यस्तमपि त्रिलोचने ॥१६१॥

अत्रालक्षिता जनिरिति वाच्यम् ।

यथा वा—

आनन्दसिन्धुरतिचापलशालिचित्तसन्दाननैकसदनं क्षणमप्यमुक्ता ।
या सर्वदैव भवता तदुदन्तचिन्तातान्तिं तनोति तव सम्प्रति धिग् धिगस्मान् ॥१६२॥

अत्र न मुक्तेति निषेधो विधेयः ।

अथवा जैसे [समासगत अविमृष्टविधेयांशका दूसरा उदाहरण]

हे मृगशावकके समान नेत्रवाली, [जिस शिवकी प्राप्तिके लिए इतना कठोर तपश्चरण कर रही हो उनका] शरीर तीन नेत्रवाला [विरूपाक्ष] है, उनके जन्मका कोई पता नहीं और [दरिद्रताके कारण] नग्नतासे ही उनके धनकी सूचना मिल जाती है। [तो फिर] वरोंमें जो [रूप,कुल तथा धन] देखा जाता है उनमेंसे कोई एक भी गुण तीन आँखवाले [शिव]में है? [जो तुम उसके लिए व्याकुल हो रही हो।] ॥१६१॥

यहाँ [समस्तपदके स्थानपर] 'अलक्षिता जनिः' यह [व्यस्त] कहना चाहिये।

यहाँ जिसके जन्मका कुछ पता नहीं इस रूपमें जन्मकी अलक्ष्यता विधेय है। इसलिए अलक्ष्यता पदको समासमें नहीं रखना चाहिये। उसे समासमें रखनेसे अविमृष्टविधेयांश दोष हो गया है। यह भी बहुव्रीहि समासका उदाहरण है, आगे नञ्समासमें अविमृष्टविधेयांशका उदाहरण देते हैं। निषेधार्थक नञ् दो प्रकारका है, एक 'प्रसज्यप्रतिषेध' नञ्, दूसरा 'पर्युदास नञ्'। 'प्रसज्यप्रतिषेध', निषेध करनेके लिए प्रयुक्त होता है, अर्थात् जहाँ निषेधकी प्रधानता होती है वहाँ 'प्रसज्यप्रतिषेध'का और प्रतिषेधकी अप्रधानतामें सदृश पदार्थके बोधके लिए 'पर्युदास'का प्रयोग होता है—

द्वौ नञर्थौ समाख्यातौ पर्युदासप्रसज्यकौ ।
पर्युदासः सदृग्ग्राही प्रसज्यस्तु निषेधकृत् ॥

नञ् किसी अन्य पदके साथ समस्त हो जानेपर सदा 'पर्युदास' बन जाता है [illegible] प्रधानता नहीं रहती है। अतः प्रतिषेधकी प्रधानता होनेपर यदि पर्युदास नञ्का समासगत प्रयोग किया जाता है, तो वहाँ अविमृष्टविधेयांश दोष हो जाता है, जैसे आगेके श्लोकमें 'अमुक्ता' पदमें यह दोष आ गया है। यहाँ १६२, १६३, १६४ तीन उदाहरणोंमें नञ्समासका प्रयोग [illegible] है।

जो आपके लिए [कभी] आनन्दकी सागर थी, और आपके अत्यन्त चञ्चल चित्तको बाँध रखनेका एकमात्र स्थान थी, जिसको आप एक क्षणके लिए भी नहीं छोड़ते थे, आज उसके समाचार जाननेकी चिन्ता आपको इस प्रकार परेशान कर रही है। इससे हम लोगोंको बार-बार धिक्कार है ॥१६२॥

यहाँ 'न मुक्ता' यह निषेध विधेय है [अतः समासरहित प्रसज्यप्रतिषेध नञ्का ही प्रयोग होना चाहिये था, परन्तु यहाँ 'अमुक्ता' इस रूपमें समास करके पर्युदास नञ् बना दिया है इसलिए अविमृष्टविधेयांश दोष हो गया है]।

(१६) विरुद्धमतिकृद् यथा—

सुधाकरकराकारविशारदविचेष्टितः ।
अकार्यमित्रमेकोऽसौ तस्य किं वर्णयामहे ॥ १६५ ॥

अत्र कार्यं विना मित्रमिति विवक्षितम् , अकार्ये मित्रमिति तु प्रतीतिः ।

यथा वा—

चिरकालपरिप्राप्तलोचनानन्ददायिनः ।
कान्ता कान्तस्य सहसा विदधाति गलग्रहम् ॥ १६६ ॥

अत्र कण्ठग्रहमिति वाच्यम् ।

यथा वा—

न त्रस्तं यदि नाम भूतकरुणासन्तानशान्तात्मनः
तेन व्यारुजता धनुर्भगवतो देवाद् भवानीपतेः ।

इससे विपरीत—

प्रधानत्वं विधेर्यत्र प्रतिषेधेऽप्रधानता ।
पर्युदासः स विज्ञेयो यत्रोत्तरपदेन नञ् ॥

पर्युदासमें प्रतिषेधकी प्रधानता नहीं रहती है और नञ्‌का सम्बन्ध क्रियाके साथ न होकर उत्तरपदके साथ होता है। ऊपरके तीन उदाहरणोंमेंसे १६३ वे श्लोकमें प्रसज्यप्रतिषेधरूपमें और १६४वे श्लोकमें 'पर्युदास' रूपमें नञ्‌का उचित प्रयोग हुआ है। १६२वे श्लोकमें 'अमुक्ता' यह 'पर्युदास' नञ्‌का प्रयोग अनुचितरूपमें किया गया है।

१६. विरुद्धमतिकृत् [दोषका उदाहरण] जैसे—

चन्द्रमाकी किरणोंके समान निर्मल [निर्दोष] व्यवहार करनेवाला और निःस्वार्थ मित्र वह एक ही है [अद्वितीय है]। उसका क्या वर्णन किया जाय ॥ १६५ ॥

यहाँ बिना कार्यके मित्र [अर्थात् अपने निजी स्वार्थके बिना निःस्वार्थ मित्र] यह अर्थ विवक्षित है। परन्तु [अकार्यमित्रं पदसे अकार्य] बुरे काममें सहायक [अकार्य-मित्र] यह प्रतीति होती है [अतः यह प्रयोग विरुद्धमतिकारी होनेसे दूषित है]।

अथवा [विरुद्धमतिकृत्का दूसरा उदाहरण] जैसे—

बहुत दिनोंके बाद मिले हुए, नेत्रोंको आनन्द देनेवाले पतिके गलेमें पत्नी तुरन्त ही लिपट जाती है ॥ १६६ ॥

यहाँ [गलग्रह पदकी जगह] कण्ठग्रह ऐसा कहना चाहिये था ['गला दबोच लेना', 'गर्दनिया—अर्धचन्द्र देकर निकाल देना'से अनिष्ट अर्थोंकी प्रतीति होती है]।

अथवा [इसी विरुद्धमतिकारिताका तीसरा उदाहरण] जैसे—

उस [रामचन्द्र] ने धनुष तोड़ते समय जीवोंपर अपार दयाके कारण शान्त-स्वरूप भगवान् शिव [भवानीपति] से डर नहीं माना तो न सही, परन्तु मदान्ध

यथा—

> नवजलधरः सन्नद्धोऽयं न दृप्तनिशाचरः
> सुरधनुरिदं दूराकृष्टं न तस्य शरासनम् ।
> अयमपि पटुर्धारासारो न बाणपरम्परा
> कनकनिकषस्निग्धा विद्युत् प्रिया न ममोर्वशी ॥१६३॥

इत्यत्र । न त्वमुक्तानुवादेनान्यत्र किञ्चिद्विहितम् ।

यथा—

> जुगोपात्मानमत्रस्तो भेजे धर्ममनातुरः ।
> अगृध्नुराददे सोऽर्थानसक्तः सुखमन्वभूत् ॥१६४॥

इत्यत्र अत्रस्तत्वाद्यनुवादेनात्मनो गोपनादि ।

[प्रसज्यप्रतिषेधरूपमें नञ्का उचित प्रयोग] जैसे—

यह तो उमड़ता हुआ नवीन मेघ है, उद्धत निशाचर नहीं है। यह इन्द्रधनुष है, उस [राक्षस] का दूर [कानतक] खींचा हुआ धनुष नहीं है। यह मूसलाधार वर्षा हो रही है [उस राक्षसकी] बाणोंकी पंक्ति नहीं है और सोनेकी कसौटी [पर खींची गयी रेखा] के समान सुन्दर यह बिजलीकी रेखा है, मेरी प्रियतमा उर्वशी नहीं है ॥ १६३ ॥

इसमें [समासरहितप्रसज्यप्रतिषेध 'नञ्' का प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार पहिले श्लोकमें भी प्रसज्यप्रतिषेधका ही प्रयोग करना चाहिये था, क्योंकि 'अमुक्ता' इस रूपमें पर्युदासका प्रयोग तो तभी हो सकता था जब 'अमुक्ता'का अनुवाद करके अन्य किसीका विधान किया जाता। परन्तु ['अमुक्ता'का अनुवाद करके अन्य किसीका विधान यहाँ नहीं किया गया है [अपितु अमुक्तत्व ही विधेय है। अतः प्रसज्य-प्रतिषेध ही होना चाहिये था। समस्त 'अमुक्ता' पदका प्रयोग दूषित है]।

[पर्युदास नञ्के प्रयोगका उचित उदाहरण] जैसे—

उस [राजा दिलीप]ने निडर होकर अपनी रक्षा की, नीरोग [अनातुर] रहकर धर्मका आचरण किया, लोभरहित होकर धनको ग्रहण किया और आसक्तिरहित होकर सुखका भोग किया ॥ १६४ ॥

यहाँ अत्रस्तत्वादिको [अनुवाद] उद्देश्य बनाकर अपनी रक्षा आदि [क्रियाओं]का विधान किया है [अतः अत्रस्त आदि पदोंमें पर्युदास नञ्का प्रयोग ठीक है]।

[सू ७३] अपास्य च्युतसंस्कारमसमर्थं निरर्थकम् ।
वाक्येऽपि दोषाः सन्त्येते पदस्यांशेऽपि केचन ॥५२॥

केचन न पुनः सर्वे । क्रमेणोदाहरणम्—

सोऽध्यैष्ट वेदांस्त्रिदशानयष्ट पितॄनतार्प्सीत् सममंस्त बन्धून् ।
व्यजेष्ट षड्वर्गमरंस्त नीतौ समूलघातं न्यवधीदरींश्च ॥ १७० ॥

स रातु वो दुश्च्यवनो भावुकानां परम्पराम् ।
अनेडमूकताद्यैश्च द्यतु दोषैरसम्मतान् ॥ १७१ ॥

अत्र दुश्च्यवन इन्द्रः, अनेडमूको मूकबधिरः ।

सायकसहाय बाहोर्मकरध्वजनियमितक्ष्माधिपतेः ।
अब्जरुचिभास्वरस्ते भातितरामवनिप श्लोकः ॥ १७२ ॥

अत्र सायकादयः शब्दाः खड्गाब्धिभूचन्द्रयशःपर्यायाः शराद्यर्थतया प्रसिद्धाः ।

---

१. वाक्यगत श्रुतिकटु

[सूत्र ७३]—च्युतसंस्कार, असमर्थ और निरर्थक [इन तीन पददोषों] को छोड़कर ये सब दोष वाक्यमें भी होते हैं और कुछ पदांशमें भी होते हैं ।

[पदके अंशमें केचन] कुछ ही [दोष होते हैं] सब नहीं । [वाक्यगत उक्त दोषोंके] क्रमशः उदाहरण [आगे देते हैं], जैसे—

उस [राजा दशरथ] ने वेदोंका अध्ययन किया, [यज्ञों द्वारा] देवताओंका पूजन किया, पितरोंको [श्राद्ध-तर्पण आदिसे] तृप्त किया, बन्धु-बान्धवोंका [दान आदि द्वारा] सम्मान किया, [कामक्रोधादिरूप] शत्रुओंके षड्वर्गपर विजय प्राप्त की, नीतिशास्त्रका आनन्द लिया और शत्रुओंका समूल नाश कर दिया ॥ १७० ॥

यह सारा श्लोक श्रुतिकटु पदोंसे भरा हुआ है, इसलिए यह वाक्यगत श्रुतिकटु दोषका उदाहरण है । श्रुतिकटुके बाद दूसरे च्युतसंस्कार दोषको छोड़कर तीसरे वाक्यगत अप्रयुक्त दोषका उदाहरण देते हैं ।

२. वाक्यगत अप्रयुक्तत्व

वह इन्द्र [दुश्च्यवन] तुमको कल्याणपरम्परा प्रदान करे और [तुम्हारे] शत्रुओंका गूंगा-बहिरापन आदि दोषोंसे नाश करे ॥ १७१ ॥

यहाँ दुश्च्यवन पद इन्द्र [अर्थमें अप्रयुक्त है] और अनेडमूक [पद] गूँगा-बहिरापन [अर्थमें अप्रयुक्त] है [अनेक पदोंमें होनेसे यह वाक्यगत अप्रयुक्तत्व दोष है] ।

३. वाक्यगत निहतार्थता

आगे वाक्यगत निहतार्थ दोषका उदाहरण देते हैं—

[सायक खड्ग] खड्गसे युक्त बाहुवाले और समुद्रसे परिवेष्टित पृथिवीके स्वामी हे राजन् ! आपका यश चन्द्र [अब्जचन्द्र] के समान अत्यन्त प्रकाशमान हो रहा है ॥ १७२ ॥

कुविन्दस्त्वं तावत्पटयसि गुणग्राममभितो
यशो गायन्त्येते दिशि दिशि च नग्नास्तव विभो ।
शरज्ज्योत्स्नागौरस्फुटविकटसर्वाङ्गसुभगा
तथापि त्वत्कीर्त्तिर्भ्रमति विगताच्छादनमिह ॥ १७३ ॥

अत्र कुविन्दादिशब्दोऽर्थान्तरं प्रतिपादयन् उपश्लोक्यमानस्य तिरस्कारं व्यनक्तीत्यनुचितार्थः ।

यहाँ सायक आदि [सायक, मकरध्वज, क्षमा, अब्ज और श्लोक] शब्द [क्रमशः] खड्ग, समुद्र, पृथिवी, चन्द्रमा और यशके पर्यायरूप [में प्रयुक्त हुए] हैं [किन्तु लोकमें] बाण आदि [क्रमशः बाण, कामदेव, सहन करना, कमल और पद्य] अर्थमें प्रसिद्ध हैं [अतः सायक आदि शब्दोंका खड्ग आदि अर्थोंमें प्रयोग निहतार्थत्व दोषसे ग्रस्त है]।

४. वाक्यगत अनुचितार्थत्व

आगे वाक्यगत अनुचितार्थ दोषका उदाहरण देते हैं। इस श्लोकमें राजाकी स्तुति है, परन्तु उसके साथ जुलाहेके वाचक कुविन्द शब्द तथा 'पट करोषि' इस अर्थकी बोधक 'पटयसि' क्रियाके द्वारा जुलाहा परक दूसरे अर्थकी भी अभिधामूलक व्यञ्जना द्वारा प्रतीत होती है। और उन दोनों अर्थोंका उपमानोपमेयभाव होनेसे राजाकी जुलाहेके साथ उपमा सारे वाक्यसे प्रतीति होती है जो हीनोपमा होनेके कारण अनुचित है। इसलिए यह वाक्यगत अनुचितार्थ दोषका उदाहरण है। अर्थ निम्नलिखितप्रकार है—

[कु अर्थात् पृथिवीको विन्दति प्राप्नोति इति कुविन्दः] पृथिवीको [विजय द्वारा] प्राप्त करनेवाले हे राजन् [दूसरे पक्षमें कुविन्द जुलाहा] आप अपने [शौर्य, दानादि] गुणसमुदाय [जुलाहेके पक्षमें गुणपदका अर्थ सूत होगा] को चारों ओर [पटु करोषि पटयसि, ऐसा दानी, ऐसा विद्वान्, ऐसा पराक्रमी राजा है, इत्यादि रूपमें] प्रकाशित कर रहे हैं [जुलाहेके पक्षमें—जुलाहेके रूपमें आप सूतसे चारों ओर कपड़े तैयार कर रहे हैं] और ये चारण [नग्न पदका राजा पक्षमें चारण और जुलाहे-पक्षसे वस्त्रहीन अर्थ होता है। 'नग्नो वन्दिक्षपणयोः पुंसि त्रिषु विवाससि'] सारी दिशाओंमें आपका यश गाते फिरते हैं। फिर भी शरत्कालकी चाँदनीके समान गौर उज्ज्वल और विशाल सर्वाङ्गोंसे सुन्दर तुम्हारी कीर्ति [विगताच्छादन, निरावरण, उन्मुक्त] नङ्गी घूमती फिर रही है ॥१७३॥

यहाँ कुविन्द आदि शब्द [कुविन्द अर्थात् जुलाहा, गुण सूत, पटयसि पट करोषि, विगताच्छादन वस्त्ररहित नंगी आदि रूप] अन्यार्थका प्रतिपादन करते हुए स्तूयमान राजाके तिरस्कारको सूचित करते हैं। इसलिए [यह सारा श्लोकवाक्य] अनुचितार्थ है।

ऊपर यह दिखलाया है कि इस श्लोकका अर्थ राजा व जुलाहा, दोनों पक्षमें लगता है। [illegible] शब्दोंके कुविन्द आदि शब्दोंका जो अर्थ लिया है वह उनकी प्रसिद्धि [illegible]

तेऽन्यैर्वान्तं समश्नन्ति परोत्सर्गं च भुञ्जते ।
इतरार्थग्रहे येषां कवीनां स्यात्प्रवर्त्तनम् ॥ १७६ ॥

अत्र वान्तोत्सर्ग-प्रवर्त्तनशब्दा जुगुप्सादायिनः ।

पितृवसतिमहं व्रजामि तां सह परिवारजनेन यत्र मे ।
भवति सपदि पावकान्वये हृदयमशेषितशोकशल्यकम् ॥ १७७ ॥

अत्र पितुर्गृहमित्यादौ विवक्षिते श्मशानादिप्रतीतावमङ्गलार्थत्वम् ।

सुरालयोल्लासपरः प्राप्तपर्याप्तकम्पनः ।
मार्गणप्रवणो भास्वद्भूतिरेष विलोक्यताम् ॥ १७८ ॥

वाक्यगत व्रीडाजनक अश्लीलताका उदाहरण देनेके बाद अब वाक्यगत जुगुप्साजनक अश्लीलताका उदाहरण देते हैं ।

अन्य कवियोंके अर्थका अपहरण करनेमें जिन कवियोंकी प्रवृत्ति होती है [जो कवि प्रवृत्त होते हैं वे अन्योंके वमनको और अन्योंके पुरीष [विष्ठा] को खाते हैं ॥१७६॥

यहाँ वान्त, उत्सर्ग तथा प्रवर्तन शब्द [प्रवर्तनं प्रवृत्तिः पुरीषोत्सर्गश्च] जुगुप्सादायक [होनेसे अश्लील] हैं ।

मैं अपने परिवारके [पुत्र आदि] लोगोंके साथ उस पितृगृह [पीहर] को जाती हूँ, जिस पवित्र कुलमें पहुँचते ही हृदय शोकके सारे कील-काँटोंसे रहित हो जायेगा ॥१७७॥

यहाँ [पितृवसति शब्दसे] पितृगृह [पीहर] अर्थ विवक्षित होनेपर भी [पितृवसतिका अर्थ श्मशान भी होता है, पावकान्वय शब्दसे पवित्र करनेवाले कुलमें, यह अर्थ विवक्षित है परन्तु श्मशानपक्षमें चिताग्निके साथ अन्वय सम्बन्ध होनेपर, यह अर्थ भी प्रतीत होता है कि चितामें जल जानेसे सारे कष्ट मिट जायेंगे, इत्यादि] श्मशानकी प्रतीति होनेपर [वाक्यगत] अमंगलार्थत्व [होनेसे वाक्यगत अमंगलजनक अश्लीलता दोष है] ।

७. वाक्यगत सन्दिग्धत्व

आगे वाक्यगत सन्दिग्धत्वका उदाहरण देते हैं । इस श्लोकके दो अर्थ हो सकते हैं, एक राजापरक, दूसरा भिक्षुकपरक । राजापरक अर्थमें सुरालयका अर्थ देवताओंका घर कम्पनाका अर्थ सेना; मार्गणप्रवणका अर्थ बाणप्रहारमें चतुर, और भास्वद्भूतिका अर्थ ऐश्वर्यशाली होगा । पर दूसरे पक्षमें सुरालयका अर्थ मद्यशाला (मयखाना), कम्पनाका अर्थ शराबके नशेमें काँपता हुआ मार्गणप्रवणका अर्थ भीख माँगता हुआ और भास्वद्भूतिका अर्थ राख लगाये हुए होगा । इन दोनों अर्थोंमेंसे यहाँ कौन-सा अर्थ विवक्षित है, यह निश्चय न होनेसे यह वाक्यगत सन्दिग्ध दोषका उदाहरण है । अर्थ निम्नलिखित प्रकार है—

देवताओंके घर [या मद्यालय] में प्रसन्न रहनेवाले, प्रचुर सेनासे युक्त, [और ज्यादा चढ़ा जानेके कारण नशेमें काँपते हुए,] ऐश्वर्यशाली [दूसरे पक्षमें राख लपेटे] और बाणप्रहारमें निपुण [दूसरे पक्षमें भीख माँगनेवाले] इस राजाको [अथवा भिखमङ्गे] को देखो ॥१७८॥

अत्र किं सुरादिशब्दा देवसेनाशरविभूत्यर्था किं मदिराद्यर्था इति सन्देहः ।

तस्याधिमात्रोपायस्य तीव्रसंवेगताजुषः ।

दृढभूमिः प्रियप्राप्तौ यत्नः स फलितः सखे ॥ १७९ ॥

अत्राधिमात्रोपायादयः शब्दाः योगशास्त्रमात्रप्रयुक्तत्वादप्रतीताः ।

ताम्बूलभृतगल्लोऽयं भल्लं जल्पति मानुषः ।

करोति खादनं पानं सदैव तु यथा तथा ॥ १८० ॥

अत्र गल्लादयः शब्दा ग्राम्याः ।

यहाँ सुरादि [सुर—सुरा, कम्पना—कम्पन, मार्गण और भूति] आदि शब्द क्या [क्रमशः] देव, सेना, बाण और विभूतिके वाचक हैं, अथवा शराब आदि परक हैं यह सन्देह होनेसे [यह वाक्यगत सन्दिग्धत्व दोषका] उदाहरण है ।

८. वाक्यगत अप्रतीतत्व

आगे वाक्यगत अप्रतीतत्व दोषका उदाहरण देते हैं । इसमें आये हुए अधिमात्रोपाय, तीव्र संवेग और दृढभूमि शब्द योगदर्शनके विशेष शब्द हैं । योगशास्त्रमें योगसाधकोंके नौ भेद किये हैं । इनमें तीन भेद उपायोंके उत्कर्षापकर्षके आधारपर, मृदूपाय, मध्योपाय और अधिमात्रोपाय हैं । फिर इन तीनों प्रकारके साधकोंकी वैयक्तिक क्षमताके आधारपर मृदुसंवेग, मध्यसंवेग और तीव्रसंवेग ये तीन भेद किये गये हैं । इस प्रकार साधक योगी नौ प्रकारके होते हैं । इस रूपमें अधिमात्रोपाय और तीव्रसंवेग शब्दोंका प्रयोग योगमें हुआ है । इस प्रकार योगका अभ्यास दीर्घकालपर्यन्त, निरन्तर और श्रद्धापूर्वक सेवित होनेसे दृढभूमि होता है, इस रूपमें दृढभूमि शब्दका प्रयोग किया गया है । योगदर्शनको जिसने पढ़ा है उसीको इन शब्दोंके अर्थका परिज्ञान हो सकता है, अन्यको नहीं । इसलिए निम्नलिखित श्लोकमें इन शब्दोंका प्रयोग वाक्यगत अप्रतीतत्व दोषका कारण बन गया है ।

हे सखे ! [इन नौ प्रकारके साधकोंमें] अधिमात्रोपाय और तीव्रसंवेगवाले उस साधक योगीका [तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः] अभ्यास [स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः] दृढभूमि होकर प्रिय [आत्मसाक्षात्कार अथवा समाधि आदि] को प्राप्त कर, सफल हो गया है ॥१७९॥

इसमें अधिमात्रोपाय आदि [अनेक] शब्द केवल योगशास्त्रमें प्रसिद्ध होनेसे अप्रतीत [दोषग्रस्त] हैं । [अतः यह वाक्यगत अप्रतीतत्व दोषका उदाहरण है] ।

९. वाक्यगत ग्राम्यत्व दोष

आगे वाक्यगत ग्राम्यत्व दोषका उदाहरण देते हैं—

यह मनुष्य खान-पान तो सदा जैसा-वैसा ही करता है [अर्थात् बहुत अच्छा खाता-पीता नहीं, किन्तु] गालोंमें पान भरकर बोलता अच्छा है ॥१८०॥

यहाँ गल्ल [भल्ल खादनं] आदि [अनेक], शब्द ग्राम्य हैं [अतः यह वाक्यगत ग्राम्यत्व दोषका उदाहरण है] ।

वस्त्रवैदूर्यचरणैः क्षतसत्त्वरजःपरा ।
निष्कम्पा रचिता नेत्रयुद्धं वेदय साम्प्रतम् ॥ १८१ ॥

अत्राम्बररत्नपादैः क्षततमा अचला भूः कृता नेत्रद्वन्द्वं बोधयेति नेयार्थता ।

धम्मिलस्य न कस्य प्रेक्ष्य निकामं कुरङ्गशावाक्ष्याः ।
रज्यत्यपूर्वबन्धव्युत्पत्तेर्मानसं शोभाम् ॥ १८२ ॥

अत्र धम्मिल्लस्य शोभां प्रेक्ष्य कस्य मानसं न रज्यतीति सम्बन्धे क्लिष्टत्वम् ।

---

१०. वाक्यगत नेयार्थता दोष

आगे वाक्यगत नेयार्थ दोषका उदाहरण देते हैं—

[सोती हुई स्त्रीको जागती हुई उसकी सखी कह रही है कि सूर्यकी किरणोंसे पृथिवीके अन्धकारका नाश हो गया है, इसलिए तुम अपनी आँखें खोलो]।

[वस्त्रवैदूर्य = अम्बरमणि अर्थात्] सूर्यकी किरणों [चरणैः] से [निष्कम्पा = अचला] पृथिवीका [रजोगुण और सत्त्वगुणसे भिन्न अर्थात् तम अर्थात्] अन्धकार नष्ट हो गया है। इसलिए [नेत्रयुद्ध अर्थात् नेत्रद्वन्द्व अर्थात्] दोनों आँखें [वेदय] खोलो ॥१८१॥

यहाँ अम्बरमणि [सूर्य] की किरणोंसे पृथ्वीका अन्धकार दूर हो गया है, इसलिए नेत्र खोलो, यह [अर्थ क्लिष्ट कल्पनासे रूढि या प्रयोजन रूप उचित कारणोंके बिना की गयी लक्षणासे निकलता है, इसलिए] नेयार्थता [दोष] है।

११. वाक्यगत क्लिष्टता दोष

आगे वाक्यगत क्लिष्टत्वका उदाहरण देते हैं—

इस मृगशावकनयनीके अपूर्व बन्धनचातुर्यसे बँधे [जूड़े] केशपाशकी शोभाको देखकर किसका मन प्रसन्न [या अनुरक्त, मोहित] नहीं होता है ॥१८२॥

यहाँ केशपाशकी शोभाको देखकर किसका मन प्रसन्न नहीं होता है [इन पदोंका दूरान्वय होनेके कारण] यह सम्बन्ध क्लिष्ट है [अतः यह वाक्यगत क्लिष्टत्वका उदाहरण है]।

१२. वाक्यगत अविमृष्टविधेयांश दोष

समासगत अविमृष्टविधेयांशके अनेक उदाहरण दिये थे। उनमें विधेय भागको समासके अन्तर्गत कर देनेसे उसकी प्रधानता नष्ट हो जानेके कारण अविमृष्टविधेयांश दोष हो गया था। परन्तु विधेयकी प्रधानताका नाश इसके अतिरिक्त अन्य स्थितिमें भी हो सकता है। 'अनुवाद्यमनुक्त्वैव न विधेयमुदीरयेत्' इस नियमके अनुसार वाक्यरचनामें पहिले उद्देश्यका बादमें विधेयका प्रयोग करना चाहिये। इस नियमके विपरीत पहिले विधेयका और बादमें उद्देश्यका कथन करनेपर भी विधेयका प्राधान्य नहीं रहता है। इसलिए वहाँ भी अविमृष्टविधेयांश दोष हो सकता है। उस दशामें वह वाक्यगत दोष ही होता है। जैसे 'न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयः' इसमें 'न्यक्कार' विधेय है और 'अयम्' उद्देश्य है। परन्तु 'न्यक्कार' पदका प्रयोग पहिले कर दिया गया है, इसलिए इसमें अविमृष्टविधेयांश दोष हो गया है।

> न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयस्तत्राप्यसौ तापसः
>
> सोऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षसकुलं जीवत्यहो रावणः ।
>
> धिग् धिक् शक्रजितं प्रबोधितवता किं कुम्भकर्णेन वा
>
> स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनवृथोच्छूनैः किमेभिर्भुजैः ॥१८३॥

अत्रायमेव न्यक्कार इति वाच्यम् । उच्छूनत्वमात्रं चानुवाद्यं न वृथात्वविशेषितम् । अत्र च शब्दरचना विपरीता कृतेति वाक्यस्यैव दोषो न वाक्यार्थस्य ।

इसी दृष्टिसे आगे वाक्यगत अविमृष्टविधेयांश दोषके उदाहरणरूपमें इस श्लोकको उद्धृत किया है। यह 'हनुमन्नाटक'के चतुर्दश अङ्कमें रावणकी उक्ति है—

[संसारमें] मेरे शत्रु हों यही [बड़ा भारी] अपमान है, उसमें भी यह साधु। वह भी यहा [लङ्कामें] ही है [और मेरी नाकके नीचे ही] राक्षसकुलका नाश कर रहा है, [यह सब देखकर भी] रावण जी रहा है यह आश्चर्यकी बात है। इन्द्रको जीतनेवाले मेघनादको धिक्कार है। कुम्भकर्णको जगानेसे क्या [लाभ] हुआ। और [दूसरोंकी बात क्या कही जाय] स्वर्गकी उस छोटी-सी गड़ँटियाको लूटकर व्यर्थ ही गर्वसे फूली हुई मेरी इन भुजाओंका ही क्या फल है ॥ १८३ ॥

यहाँ [अयम् उद्देश्य और न्यक्कार विधेय है, इसलिए 'अनुवाद्यमनुक्त्वैव न विधेयमुदीरयेत्' इस सिद्धान्तके अनुसार उद्देश्यको पहिले और विधेयको पीछे करके] 'अयमेव न्यक्कारः' यह ही मेरा अपमान है, इस प्रकार कहना चाहिये था। [उस नियमका उल्लंघन करनेसे श्लोकके प्रथम चरणमें वाक्यगत अविमृष्टविधेयांश दोष है। और चतुर्थ चरणमें 'उच्छूनत्वमात्र' उद्देश्य है तथा वृथात्व विधेय है, इसलिए वृथात्वको समासमें न रखकर अलग रखना चाहिये था। उस नियमका उल्लंघन होनेसे यहाँ भी अविमृष्टविधेयांश दोष है। इसीको कहते हैं कि चतुर्थ चरणमें] केवल उच्छूनत्वमात्र ही उद्देश्य [अनुवाद्य] है, न कि वृथात्वविशिष्ट [उच्छूनत्व। अपितु वृथात्व विधेय है] परन्तु [दोनों स्थलोंमें] शब्दरचना उलटी कर दी है, इसलिए यह वाक्यका ही दोष है। वाक्यार्थगत दोष नहीं है।

अविमृष्टविधेयांश दोषका तीसरा रूप

'न्यक्कारो ह्ययमेव' इत्यादि श्लोकके प्रथम चरणमें उद्देश्य तथा विधेयके व्युत्क्रमके कारण तथा चतुर्थ चरणमें विधेयके समासान्तर्गत गुणीभावके कारण हुआ अविमृष्टविधेयांश दोष दिखलाया था। इनसे भिन्न एक अन्य हेतुसे भी यह दोष हो सकता है, यह बात आगे दिखायेंगे। इसमें 'यत्' और 'तत्' शब्दका—अपप्रयोग इस दोषका प्रमुख कारण होता है। इसलिए इस प्रसङ्गमें 'यत्' और 'तत्' शब्दोंके प्रयोगके विषयमें विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। इस विवेचनमें इन दोनों शब्दोंके प्रयोगके विषयमें निम्नलिखित नियमोंकी स्थापना की गयी है।

१. 'यत्तदोर्नित्यसम्बन्धः' इस नियमके अनुसार 'यत्' शब्दके प्रयोगके साथ 'तत्' शब्दका प्रयोग अवश्य होना चाहिये। यह सामान्य नियम है, परन्तु इसके दो अपवाद भी हैं जो निम्नलिखित-प्रकार हैं—

क्रमेणोदाहरणम्—

> कातर्यं केवला नीतिः शौर्यं श्वापदचेष्टितम् ।
> अतः सिद्धिं समेताभ्यामुभाभ्यामन्वियेष सः ॥ १८५ ॥
> द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः ।
> कला च सा कान्तिमती कलावतस्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी ॥१८६॥
> उत्कम्पिनी भयपरिस्खलितांशुकान्ता
> ते लोचने प्रतिदिशं विधुरे क्षिपन्ती ।
> क्रूरेण दारुणतया सहसैव दग्धा
> धूमान्धितेन दहनेन न वीक्षिताऽसि ॥ १८७ ॥

---

१. प्रक्रान्त अर्थमें तत् शब्दका प्रयोग

केवल नीति [का अवलम्बन करना] कायरता है और [केवल] पराक्रम [का अवलम्बन करना] हिंस्र जन्तुओं [श्वापदों] का व्यापार है। इसलिए राजा [अतिथि] ने उन दोनोंको मिलाकर [ही विजयरूप] सिद्धिका अनुसन्धान किया ॥१८५॥

यह श्लोक 'रघुवंश'के सत्रहवें सर्गका ४९वाँ श्लोक है। उसमें अतिथि नामक राजाका वर्णन है। यहाँ प्रयुक्त हुआ तत् शब्दका प्रथमा विभक्तिका 'सः' यह पद, प्रकरणप्राप्त प्रक्रान्त अर्थका बोधक है, अतः उसके साथ यत् शब्दका प्रयोग नहीं किया है।

२. प्रसिद्धार्थमें तत् शब्दका प्रयोग

कपाल धारण करनेवाले [भयङ्कर और दरिद्र शिव] के समागमकी प्रार्थनाके कारण [पहिले तो अकेली चन्द्रमाकी कला ही शोचनीय—तरस खाने योग्य थी, परन्तु उसीके साथ पार्वतीके भी जुड़ जानेसे] अब चन्द्रमाकी वह सुन्दर कला और संसारके नेत्रोंको [आह्लाददायिनी] कौमुदीरूप तुम दोनो तरस खाने योग्य [शोचनीय] हो गयी हो ॥१८६॥

यह श्लोक 'कुमारसम्भव'से लिया गया है। इसमें 'कला च सा कान्तिमती' यहाँ 'सा' शब्दका प्रयोग प्रसिद्धार्थमें हुआ है, इसलिए उसके साथ 'यत्' शब्दका प्रयोग नहीं किया गया है। आगे अनुभूतार्थमें प्रयुक्त हुए तत् शब्दका प्रयोग दिखलानेके लिए 'रत्नावली' नाटिकासे एक पद्य उद्धृत करते हैं। वासवदत्ताके आगमें जलकर मर जानेका समाचार सुनकर राजा उदयन कह रहे हैं—

३. अनुभूतार्थमें तत् शब्दका प्रयोग

[अपने वासस्थानमें लगी हुई भयङ्कर अग्निको देखकर] भयके कारण अस्त-व्यस्त वस्त्रवाली, कांपती हुई और [रक्षाके स्थान अथवा सहायता देनेवालेकी खोजमें] उन [पूर्वानुभूत सुन्दर] व्याकुल नेत्रोंको चारों ओर दौड़ाती हुई तुमको धूमसे अन्धे हुए अग्निने [तुम्हारी दयनीय अवस्थाको] देखा [भी] नहीं और सहसा जला ही डाला ॥१८७॥

यहाँ 'ते लोचने' में जो 'ते' शब्दका प्रयोग किया गया है वह उन नेत्रोंके व्यापार और सौन्दर्यकी उदयन द्वारा की गयी पूर्वानुभूतिका सूचक है। इसलिए यहाँ भी 'तत्' शब्दके साथ 'यत्' शब्दका प्रयोग नहीं किया गया है। 'यत्' और 'तत्' शब्दके प्रयोगके विषयमें 'यत्तदोर्नित्यसम्बन्धः'

अत्र य उत्पत्स्यते तं प्रति, इति ।

एवं च तच्छब्दानुपादानेऽत्र साकांक्षत्वम् । न चासाविति तच्छब्दार्थमाह ।

असौ मरुच्चुम्बितचारुकेसरः प्रसन्नताराधिपमण्डलाग्रणीः ।
वियुक्तरामातुरदृष्टिवीक्षितो वसन्तकालो हनुमानिवागतः ॥ १९० ॥

अत्र हि न तच्छब्दार्थप्रतीतिः ।

रचनाशैली क्लिष्ट है। उसका बनाया हुआ 'महावीरचरित' किसी कामका नहीं] वे कुछ [अनिर्वचनीय विद्या] जानते होंगे [जिससे वे अपनेको बड़ा भारी विद्वान् समझकर हमारी निन्दा करते हैं, परन्तु वे वस्तुतः मूर्ख हैं, यह व्यञ्जनासे प्रतीत होता है। अथवा वे कुछ ही जानते हैं इस कारण वे अधिक नहीं समझते यह अर्थ प्रतीत होता है] उनके लिए यह [मालतीमाधवरूप] रचनाका प्रयत्न नहीं किया जा रहा है। [तब आप किसके लिए इसकी रचना कर रहे हैं, इस प्रश्नका उत्तर देते हुए कहते हैं कि] इस कालकी कोई सीमा नहीं है, और पृथिवी भी अत्यन्त विस्तृत है इसलिए [इस विस्तीर्ण पृथिवीके किसी देशमें और इस अनन्तकालमें] कोई मेरे समान धर्मका [मेरे प्रयासको समझनेवाला] उत्पन्न होगा ही ॥ १८९ ॥

यहाँ [पूर्वार्द्धमें 'ये' 'ते' इस रूपमें 'यत्' 'तत्' दोनोंका उपादान होनेसे निराकांक्षता हो जाती है। उत्तरार्द्धमें दोनोंमेंसे किसीका भी उपादान न होनेसे दोनोंका सामर्थ्यवश] जो उत्पन्न होगा, उसके प्रति [यह प्रयत्न है] यह प्रतीति होती है।

इस प्रकार यत्, तत् शब्दके प्रयोग सम्बन्धी नियम यहाँतक दिखलाये गये। ये नियम उदाहरण सं० १८४ की विवेचनाके प्रकरणमें प्रसङ्गतः दिखला दिये हैं। इसलिए अपनी इस विवेचनाको मुख्य विषयसे जोड़ते हुए ग्रन्थकार लिखते हैं कि—

इस प्रकार यहाँ [अपाङ्गसंसर्गि इत्यादि उदाहरण सं० १८४ में विधेयांशका बोध करानेके लिए] 'तत' शब्दका उपादान न होनेसे 'यत्' शब्द साकांक्ष है [अत. अविमृष्टविधेयांश दोष हो जाता है। यदि यह कहा जाय कि यहाँ 'तत्' शब्दके अर्थमें अदस्के 'असौ' पदका प्रयोग तो है, उसीसे यत् शब्दकी आकांक्षाकी निवृत्ति हो जानी चाहिये तो इसका निराकरण करते हैं कि] यहाँ 'असौ' यह शब्द भी तत् शब्दके अर्थका बोधक नहीं है। क्योंकि—

वायु जिसके सुन्दर केसरों [वसन्तपक्षमें मौलश्रीके वृक्षों तथा हनुमान् पक्षमें उनके बालों] का चुम्बन [स्पर्श] कर रहा है, उज्ज्वल चन्द्रमण्डल जिस [वसन्त] का नायक है [हनुमान् पक्षमें प्रसन्न जो ताराके पति सुग्रीव उनके मण्डल—दलके नेता] और वियुक्त [रामा] अर्थात् वियोगिनी स्त्रियां [हनुमान् पक्षमें वियोगी रामके द्वारा] कातर दृष्टिसे देखे जानेवाले हनुमान्‌के समान यह वसन्त आ गया है ॥ १९० ॥

यहां [प्रयुक्त हुए प्रत्यक्षबोधक 'असौ' शब्दसे परोक्षबोधक] 'तत्' शब्दके अर्थकी प्रतीति नहीं होती है।

यह श्लोक 'हनुमन्नाटक'के षष्ठ अङ्कमें पाया जाता है, परन्तु यह उन्हींका बनाया हुआ है, यह नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि 'हनुमन्नाटक'में बहुतसे पद्य अन्य कवियोंके भी नाटककारने अपने नाटकमें समाविष्ट कर लिये हैं। जैसे 'शकुन्तला' नाटकके प्रथम अङ्कमें आया हुआ 'ग्रीवाभङ्गा-

यत्तदूर्जितमत्युग्रं क्षात्रं तेजोऽस्य भूपतेः ।
दीव्यताऽक्षैस्तदाऽनेन नूनं तदपि हारितम् ॥१९३॥

इत्यत्र तच्छब्दः ।

ननु कथम्—

कल्याणानां त्वमसि महसां भाजनं विश्वमूर्ते !
धुर्यां लक्ष्मीमथ मयि भृशं धेहि देव ! प्रसीद ।
यद्यत्पापं प्रतिजहि जगन्नाथ ! नम्रस्य तन्मे
भद्रं भद्रं वितर भगवन् ! भूयसे मङ्गलाय ॥१९४॥

अत्र यद्यदित्युक्त्वा तन्मे इत्युक्तम् ?

उच्यते । यद्यदिति येन केनचिद्रूपेण स्थितं सर्वात्मकं वस्त्वाक्षिप्तम् । तथाभूतमेव तच्छब्देन परामृश्यते ।

['वेणीसंहार'में युधिष्ठिरकी निन्दा करते हुए भीमसेन सहदेवसे कह रहे हैं कि—] इस राजा [युधिष्ठिर] का जो अत्यन्त उग्र और व्यापक [ऊर्जित] क्षात्र तेज था, उस समय जुआ खेलते हुए यह उसको भी हार गया ॥१९३॥

यहाँ ['यत् तदूर्जितं' इस रूपमे यत्‌के साथ अव्यवहितरूपमे पठित] तत् शब्द [केवल प्रसिद्धिमात्रका परामर्शक है]।

कमलाकरभट्टने लिखा है कि यह श्लोक 'किरातार्जुनीय'मे इन्द्रके प्रति अर्जुनका वाक्य है परन्तु यह ठीक नहीं है। यह 'किरात'का नहीं, 'वेणीसंहार'का ही श्लोक है।

अगला श्लोक 'महावीरचरित' नाटकके प्रथम अङ्कसे उद्धृत किया गया है। इसमें सूत्रधार सूर्यकी स्तुति कर रहा है। श्लोकके तृतीय चरणके आरम्भमे 'यद्यत् पाप' इस रूपमें एक साथ दो बार यत् शब्दका प्रयोग हुआ है, परन्तु उसी चरणके अन्तमें 'तन्मे' यहाँ तत् शब्दका एक ही बार प्रयोग हुआ है। इसपर यह शङ्का हो सकती है कि दो बार प्रयुक्त यत् शब्दोंकी आकाङ्क्षानिवृत्तिके लिए 'तत्' शब्दका प्रयोग भी दो बार करना चाहिये था। इसका समाधान ग्रन्थकार यह करते हैं कि यहाँ 'यद्यत्' शब्दोंसे समष्टिरूपसे समस्त पापोंका एक साथ ग्रहण किया गया है, इसलिए एक ही तत् शब्दसे उसकी निवृत्ति हो सकती है। यही बात प्रश्नोत्तरके रूपमें है—

प्रश्न—तो फिर,

हे विश्वमूर्ते, आप अनन्त कल्याणोंके निधान हैं। हे देव, कृपा करके [इस अभिनयके प्रारम्भमें इसको सफल बनानेकी] सर्वश्रेष्ठ सामर्थ्य या सम्पत्ति मुझे प्रदान करें। हे जगन्नाथ, मेरे जो-जो पाप [अभिनयकी सफलताकी विरोधी बाधाएँ] हैं, उन सबको दूर करें, मुझ विनीतको [नाटककी सम्पूर्ण सफलतारूप] प्रचुर मङ्गलके लिए शुभ शुभ प्रदान करें ॥१९४॥

इसमें 'यद्यत्' [दो बार यत्] कहकर 'तन्मे' [एक ही बार तत् कैसे] कहा है?

उत्तर—कहते हैं कि 'यद्यत्' इससे जिस किसी रूपमें स्थित सम्पूर्ण वस्तु प्रतीत होती है। और उसी प्रकारकी [समष्टि] तत् शब्दसे गृहीत होती है।

यथा वा—

> किं लोभेन विलङ्घितः स भरतो येनैतदेवं कृतं
> मात्रा स्त्रीलघुतां गता किमथवा मातैव मे मध्यमा ।
> मिथ्यैतन्मम चिन्तितं द्वितयमप्यार्यानुजोऽसौ गुरु-
> र्माता तातकलत्रमित्यनुचितं मन्ये विधात्रा कृतम् ॥१९५॥

अत्रार्यस्येति तातस्येति च वाच्यम्, न त्वनयोः समासे गुणीभावः कार्यः । एवं समासान्तरेष्वप्युदाहार्यम्

विरुद्धमतिकृद्यथा—

> श्रितक्षमा रक्तभुवः शिवालिङ्गितमूर्त्तयः ।
> विग्रहक्षपणेनाद्य शेरते ते गतासुखाः ॥१९६॥

अत्र क्षमादिगुणयुक्ताः सुखमासते इति विवक्षिते हता इति विरुद्धा प्रतीतिः ।

इस प्रकार यहाँतक समासगत अविमृष्टविधेयांशका विचार करनेके बाद अब समासमें ही वाक्यगत अर्थात् अनेक समस्त पदोंमें स्थित अविमृष्टविधेयांश दोषका उदाहरण प्रस्तुत करते हैं ।

अथवा [विधेयांशको समासमें डाल देनेसे अविमृष्टविधेयांश] जैसे—

[रामके वनवासकी आज्ञा दिये जानेके विषयमें सोचते हुए लक्ष्मण अपने मनमें यह तर्क-वितर्क कर रहे हैं कि] क्या [विनयी और रामके प्रति भक्ति रखनेवाला] वह भरत [राज्यके] लोभमें पड़ गया है, जिससे [रामके वनवासरूप] यह कार्य माता [कैकेयीके] द्वारा किया [करवाया] गया । अथवा क्या मेरी मँझली माता [कैकेयी] ही स्त्रीकी [स्वाभाविक] क्षुद्रतापर पहुँच गयी [और उसने स्वयं यह कार्य किया] । [इन दो शङ्काओंके बाद लक्ष्मणके मनमें स्वयं दूसरा विकल्प आता है कि] नहीं, मेरी सोची हुई दोनों बातें मिथ्या हैं, क्योंकि मेरे बड़े भाई [गुरु भरत], आर्य [रामचन्द्र] के अनुज ठहरे [वे ऐसा कार्य नहीं कर सकते] और माताजी [दशरथ सरीखे मेरे] पिताकी पत्नी हैं [वे भी ऐसा अनुचित कार्य नहीं कर सकतीं] । इसलिए मैं समझता हूँ कि यह [अनुचित कार्य इन लोगोंने नहीं अपितु] विधाताने ही किया है ॥१९५॥

यहाँ ['आर्यानुज'के स्थानपर] आर्यस्य [अनुज] यह और ['तातकलत्र'के स्थानपर] तातस्य [कलत्रं] यह कहना चाहिये था । इनको समासमें रखकर गुणीभाव नहीं करना चाहिये था । इसी प्रकार और समासोंमें भी उदाहरण देख लेने चाहिये ।

[वाक्यगत] विरुद्धमतिकृत् [का उदाहरण] जैसे—

[शान्तिपूर्ण सामनीतिका आश्रय लेनेवाले राजाओंका वर्णन करते हुए कवि कह रहा है कि] क्षमाका आश्रय लेनेवाले जिनपर सारी प्रजा [भू] अनुरक्त है [प्रेम करती है], कल्याणसे परिवेष्टित वे राजा युद्धका परित्याग कर देनेसे [सब दुःखोंसे मुक्त होकर] सोते हैं ॥१९६॥

यहाँ क्षमा आदि गुणोंसे युक्त राजा सुखसे रहते हैं [यह बात कवि] कहना चाहता है परन्तु उससे [क्षितक्षमा पृथिवीपर पड़े हुए शिवाओंसे लिपटे

पदैकदेशे यथाक्रमं क्रमेणोदाहरणम्—

> अलमतिचपलत्वात् स्वप्नमायोपमत्वात्
> परिणतिविरसत्वात् सङ्गमेनाङ्गनायाः ।
> इति यदि शतकृत्वस्तत्त्वमालोचयाम-
> स्तदपि न हरिणाक्षीं विस्मरत्यन्तरात्मा ॥१९७॥

अत्र त्वादिति ।

यथा वा—

> तद् गच्छ सिद्ध्यै कुरु देवकार्यमर्थोऽयमर्थान्तरलभ्य एव ।
> अपेक्षते प्रत्ययमङ्गलब्ध्यै बीजाङ्कुरः प्रागुदयादिवाम्भः ॥१९८॥

अत्र द्ध्यै ब्ध्ये इति कटु ।

हुए रक्तसे भूमि रंग दी है, शिवा अर्थात् शृगाली जिनके शरीरको खा रही है, इस प्रकारके ये राजा विग्रह अर्थात् युद्धमें मारे जानेके कारण सब दुःखोसे मुक्त होकर सो रहे हैं इस अर्थकी प्रतीतिके कारण] मारे गये यह विरुद्ध प्रतीति होती है।

इस प्रकार पदगत तथा वाक्यगत रूपमें पूर्वोक्त दोषोके उदाहरण देनेके बाद जैसा कि सूत्र ७३ में 'पदस्यांशेऽपि केचन' कहा था, उनमेंसे जो कोई दोष पदके 'अंश'में हो सकते हैं, उनके उदाहरण देनेके लिए अगले प्रकरणका आरम्भ करते हैं।

पदांशदोष : १. श्रुतिकटु

पदके एक देशमें [होनेवाले दोषोके] यथासम्भव उदाहरण क्रमसे [देते हैं]—

अत्यन्त अस्थिर, स्वप्न और मायाके समान [क्षणिक भ्रान्तिरूप] होनेके कारण और अन्तमें नीरस [दुःखदायक] होनेके कारण स्त्रीका सङ्ग नहीं करना चाहिये। इस प्रकार यदि सौ बार तत्त्वका विचार करें, तो भी अन्तरात्मा उस हरिणाक्षीको भूल नहीं पाता है ॥ १९७ ॥

यहाँ [अनेक बार प्रयुक्त हुआ पञ्चमीका] 'त्वात्' यह [पदांश श्रुतिकटु है]।

अथवा [पदांशगत श्रुतिकटुका दूसरा उदाहरण देते हैं] जैसे—

['कुमारसम्भव'के तृतीय सर्गमें कामदेवके प्रति इन्द्रका कथन है कि [इसलिए तुम जाओ, तुमको अपने कार्यमें सफलता प्राप्त हो और देवताओंका [तारकासुरको मारनेके लिए शिवके पुत्रकी प्राप्तिरूप] कार्य करो। यह शिवके पुत्रकी प्राप्तिरूप] कार्य [शिव और पार्वतीके विवाहरूप] दूसरे कार्यके होनेपर ही हो सकता है। इसलिए हे कामदेव ! जैसे बीजसे उत्पन्न होनेवाला अङ्कुर निकलनेसे पहिले [कारणभूत] जलकी अपेक्षा रखता है, उसी प्रकार [शिवके पुत्रके प्राप्तिरूप] यह कार्य भी अपनी सिद्धि [लब्धि] के कारण [शिवपार्वतीके विवाहकी] अपेक्षा करता है [उसके बिना नहीं हो सकता है] इसलिए तुम शिवका पार्वतीसे विवाह करानेका प्रयत्न करो ॥१९८॥

यहाँ [सिद्ध्यैका] 'द्ध्यै' और [लब्ध्यैका] 'ब्ध्यै'] यह [दोनों पदांश श्रुतिकटु हैं।

न च—

अलसवलितैः प्रेमार्द्रार्द्रैर्मुकुलीकृतैः
क्षणमभिमुखैर्लज्जालोलैर्निमेषपराङ्मुखैः ।
हृदयनिहितं भावाकूतं वमद्भिरिवेक्षणैः
कथय सुकृती कोऽयं मुग्धे त्वयाद्य विलोक्यते ॥२०१॥

इत्यादिवद् व्यापारभेदाद् बहुत्वम् , व्यापाराणामनुपात्तत्वात् । न च व्यापारेऽत्र दृक्शब्दो वर्त्तते ।

अत्रैव 'कुरुते' इत्यात्मनेपदमप्यनर्थकम् । प्रधानक्रियाफलस्य कर्त्रसम्बन्धे कर्त्रभिप्रायक्रियाफलाभावात् ।

और न—

हे मुग्धे ! यह तो बतलाओ कि अलसाये हुए, प्रेमसे परिपूर्ण, कुछ मिचे हुए, तनिक देरको सामने आये और फिर लज्जाके कारण चञ्चल हुए, हृदयके भीतरके छिपे हुए भावको व्यक्त करते हुए एवं अपलक नेत्रोंसे तुम आज किस सौभाग्यशालीको देख रही हो ॥ २०१ ॥

इसका अभिप्राय यह है कि जैसे 'अलसवलितैः' इत्यादि श्लोकमें एक ही नायिकाका वर्णन होनेपर भी 'ईक्षणैः' यह बहुवचनका प्रयोग उसके नेत्रोंके लिए किया गया है और उसमें कोई दोष नहीं होता है, इसी प्रकार 'आदावञ्जनपुञ्जलिप्तवपुषा' आदि श्लोक सं० २०० में भी एक ही कुरङ्गेक्षणाका वर्णन होनेपर भी 'दृशाम्' यह बहुवचनका प्रयोग अनुचित या निरर्थक नहीं है। यह पूर्वपक्षीका भाव है। इसका उत्तर ग्रन्थकारने यह किया है 'अलसवलितैः' इत्यादि उदाहरण सं० २०१ में जो एक ही नायिकाके नेत्रोंके लिए बहुवचनका प्रयोग किया है वह उन नेत्रोंके विविध व्यापारोंके आधारपर किया गया है। परन्तु उदाहरण सं० २०० में इस प्रकार अनेक व्यापारोंको प्रदर्शित नहीं किया गया है अतः वहाँ बहुवचनका प्रयोग निरर्थक ही है।

इत्यादिके समान व्यापारभेदके कारण बहुवचन हुआ है। यह भी, व्यापारोंका ग्रहण न होनेसे, नहीं कहा जा सकता है। और न दृक् शब्द यहाँ व्यापार अर्थमें प्रयुक्त हुआ है।

और इसी [उदाहरण सं० २००] में 'कुरुते' यह आत्मनेपद भी निरर्थक है [उभयपदी कृ धातुका आत्मनेपदमें वहीं प्रयोग करना चाहिये, जहाँ प्रधान क्रियाका फल कर्त्तामें रहता हो। यह बात 'स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले' इस सूत्रमें कही गयी है। यहाँ कामदेवके जगद्विजयरूप कार्यके] कर्त्तासे असम्बद्ध होनेपर, क्रियाफलके कर्तृगामी न होनेसे [आत्मनेपदका प्रयोग भी निरर्थक ही है]।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि 'स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले' इस पाणिनिसूत्रके अनुसार उभयपदी धातुओंमें क्रियाफलके कर्तृगामी होनेपर आत्मनेपदका प्रयोग करना चाहिये और उससे भिन्न अवस्थामें अर्थात् क्रियाफल जहाँ कर्तृगामी न हो वहाँ परस्मैपदका प्रयोग करना चाहिये। जैसे 'यजमानो यजते' यहाँ यजनक्रियाका फल स्वर्गप्राप्तिरूप है, वह कर्तृगतत्वेन इष्ट होनेसे यहाँ आत्मनेपद होता है। परन्तु 'ऋत्विजो यजन्ति' यहाँ स्वर्गरूप मुख्य फल कर्ता अर्थात् ऋत्विक्में नहीं अपितु

देशः सोऽयमरातिशोणितजलैर्यस्मिन्ह्रदाः पूरिताः
क्षत्रादेव तथाविधः परिभवस्तातस्य केशग्रहः ।
तान्येवाहितहेतिघस्मरगुरूण्यस्त्राणि भास्वन्ति मे ।
यद्रामेण कृतं तदेव कुरुते द्रोणात्मजः कोपनः ॥ २०९ ॥

अत्र हि विकटवर्णत्वं चोचितम् ।

यथा—

प्रागप्राप्तनिशुम्भशाम्भवधनुर्द्वेधाविधाविर्भव-
त्क्रोधप्रेरितभीमभार्गवभुजस्तम्भापविद्धः क्षणात् ।
उज्ज्वालः परशुर्भवत्वशिथिलस्त्वत्कण्ठपीठातिथि-
र्येनानेन जगत्सु खण्डपरशुर्देवो हरः ख्याप्यते ॥ २१० ॥

यह [कुरुक्षेत्रका मैदान] वही देश है, जिसमें [परशुराम] ने शत्रुओंके रक्त-रूप-जलसे तालाबोंको भर दिया था, और क्षत्रिय द्वारा पिताजीके केशोंका पकड़ा जाना उसी प्रकारका अपमान है [जैसा कि कार्तवीर्य अर्जुनने परशुरामके पिता जामदग्न्यके केश पकड़कर किया था] और [अपने विरोधमें] शस्त्र उठानेवाले शत्रुको खा जानेवाले [घस्मर] वे ही उत्तम [गुरूणि] शस्त्र मेरे पास हैं। इसलिए [समस्त क्षत्रियोंका विनाशरूप] जो [कार्य उस समय] परशुरामने किया था, उसीको आज क्रुद्ध हुआ द्रोणका पुत्र [मैं या यह अश्वत्थामा] कर [ने जा] रहा है ॥ २०९ ॥

यहाँ [रौद्ररस होनेके कारण उसके अनुरूप] विकट वर्णों तथा दीर्घ समासोंका होना उचित था [परन्तु कविने न तो लम्बे समासोंका ही प्रयोग किया है, और न कठोर वर्णोंका, अतः यहाँ प्रतिकूलवर्णता दोष है] ।

प्रतिकूलवर्णताका प्रत्युदाहरण

इस श्लोकके प्रतिकूलवर्णता दोषके स्पष्टीकरणके लिए ग्रन्थकार प्रत्युदाहरणमें अगला श्लोक उद्धृत करते हैं, जिसमें रौद्ररसके वर्णनमें उसके अनुरूप दीर्घसमास तथा कठोर वर्णोंका प्रयोग किया गया है। यह श्लोक दोषका उदाहरण नहीं है, अपितु रसानुगुण रचनाके कारण रौद्ररसकी रचनाके आदर्शरूपमें प्रत्युदाहरणरूपसे प्रस्तुत किया गया है। श्लोक 'महावीरचरित' नाटकके द्वितीय अङ्कमें शिवधनुषके तोड़ दिये जानेके बाद क्रुद्ध हुए परशुरामकी रामचन्द्रके प्रति उक्ति है। परशुराम रामचन्द्रसे कह रहे हैं कि—

[अरे क्षत्रियकुमार,] जिस [शिवधनुष]को पहले कभी झुकाया [निशुम्भ] भी न जा सका था उसके दो टुकड़े [तेरे द्वारा] कर दिये जानेसे उत्पन्न क्रोधसे भयङ्कर [मुझ] परशुरामके बलिष्ठ-बाहु [भुजस्तम्भ] द्वारा चलाया गया, ऐसा जिस [का आधा भाग प्रसन्न होकर शिवजी अपने प्रिय शिष्य इस परशुराम अर्थात् मुझको दे देने] के कारण भगवान् महादेव खण्डपरशु नामसे कहे जाते हैं, आग उगलता हुआ [उज्ज्वाल.] वह तीव्र [अशिथिल.] परशु तेरे कण्ठरूप आसनका अतिथि होता है [अर्थात् शीघ्र ही अभी तेरी गर्दनपर बैठता है ॥ २१० ॥

यत्र तु न क्रोधस्तत्र चतुर्थपादाभिधाने तथैव शब्दप्रयोगः ।

उपहत उत्वं प्राप्तो लुप्तो वा विसर्गो यत्र तत् । यथा—

धीरो विनीतो निपुणो वराकारो नृपोऽत्र सः ।

यस्य भृत्या बलोत्सिक्ता भक्ता बुद्धिप्रभाविताः ॥ २११ ॥

इस श्लोकको ग्रन्थकारने रौद्ररसकी रचनाके आदर्शरूपमें प्रस्तुत किया है । श्लोकके तीन चरणों-की रचनामें दीर्घ समास तथा विकट वर्णोंका प्रयोग होनेसे उनकी रचना रौद्ररसके अनुरूप कही जा सकती है । परन्तु चतुर्थ चरणकी रचनामें तो वह बात नहीं है, तब इसको रौद्ररसकी रचनाका आदर्श कैसे माना गया है । इस प्रकारकी सम्भावित शङ्काको मनमें रखकर उसके समाधानके लिए ग्रन्थकारने अगली पङ्क्ति लिखी है । उसका अभिप्राय यह है कि श्लोकके तीन चरणोंमें रामचन्द्रके प्रति [illegible] का क्रोधरूप और रौद्ररसका स्थायिभाव विद्यमान रहता है इसलिए उनकी रचना [illegible] प्रकार [illegible] है । परन्तु चतुर्थ चरणमें परशुरामको अपने गुरु शिवजीका स्मरण हो आया और [illegible] उनके [illegible] शमन हो जाता है । इसलिए वहाँ रचनामें उग्रताका न होना दोष नहीं, अपितु उचित ही है । इस बातको कहते हैं—

और जहाँ [चतुर्थ चरणमें गुरु महादेवका स्मरण हो जानेके कारण] क्रोध [रौद्ररसका स्थायिभाव] नहीं रहता है, वहाँ चतुर्थ पादमें उसी प्रकारके [illegible] शब्दोंका प्रयोग [किया गया] है [और वह उचित ही है] ।

२. उपहतविसर्गता

इस प्रकार प्रतिकूलवर्णता दोषका निरूपण करनेके बाद उपहतविसर्गता [illegible] तथा (ख) विसर्गलोप, दोनों भेदोंके उदाहरण [illegible]

उपहत अर्थात् (क) उत्व [अथवा ओत्वरूपता] को प्राप्त [illegible] [illegible] लोपको प्राप्त विसर्ग [अर्थात्] जहाँ [विसर्गोंको [illegible] हो [illegible] विसर्गोंका लोप हो जाता है, उपहतविसर्गताके [illegible] [illegible] उदाहरण] जैसे—

इस संसारमें [अत्र] वही राजा [illegible] पण्डित [illegible] और सुन्दर है, जिसके सेवक बलका अभिमान करनेवाले [illegible] भक्ति और बुद्धिसे प्रभावित हों ॥ २११ ॥

[illegible] धीरो, विनीतो, निपुणो [illegible]

विसन्धि सन्धेर्वैरूप्यम् , विश्लेषोऽश्लीलत्वं कष्टत्वं च । तत्राद्यं यथा—

राजन् ! विभान्ति भवतश्चरितानि तानि
इन्दोर्द्युतिं दधति यानि रसातलेऽन्तः ।
धीदोर्बले अतितते उचितानुवृत्ती
आतन्वती विजयसम्पदमेत्य भातः ॥ २१२ ॥

---

३. विसन्धि

आगे विसन्धिरूप चतुर्थ वाक्यदोषका निरूपण करते हैं। जहाँ सन्धि होनी चाहिये वहाँ सन्धि न होना विसन्धि दोष कहलाता है। सन्धिस्थलमें सन्धि न करनेके तीन कारण हो सकते हैं। उनमें पहिला कारण तो वाक्यमें सन्धिको नित्य न मानकर वक्ताकी इच्छा विवक्षाके अधीन माना जाता है।

संहितैकपदे नित्या नित्या धातूपसर्गयोः ।
नित्या समासे वाक्ये तु सा विवक्षामपेक्षते ॥

इस नियमके अनुसार वाक्यमें सन्धि करना या न करना वक्ताकी इच्छाके अधीन होनेसे सन्धि न की जाय यह सन्धि न करनेका कारण हो सकता है। दूसरे दो भेद शास्त्रीय नियमसे प्राप्त होते हैं। एक तो वह जहाँ प्रगृह्यसंज्ञा हो जानेके कारण सन्धि नहीं होती है। दूसरे वे स्थल जहाँ विसर्गोंका लोप आदि होनेके बाद गुण आदि रूप सन्धि प्राप्त होती है, परन्तु इसके प्राप्त होनेपर लोप आदि असिद्ध हो जाता है। इनमेंसे विवक्षाधीन विसन्धि तथा प्रगृह्यसंज्ञानिमित्तक विसन्धि, इन दो भेदोंका एक सम्मिलित उदाहरण और असिद्धिहेतुक विसन्धिका एक अलग उदाहरण ग्रन्थकारने प्रस्तुत किया है।

इसके अतिरिक्त वाक्यमें अश्लीलताका आ जाना और सन्धि होकर क्लिष्ट रूप बन जाना ये दोनों भी विसन्धि दोषके ही भेद हैं। इस प्रकार विसन्धि अर्थात् सन्धिवैरूप्यके भेदोंका निरूपण आगे करते हैं—

विसन्धि [अर्थात् सन्धिवैरूप्य तीन प्रकारका होता है, एक सन्धिका] विश्लेष, अश्लीलता और कष्टता। उनमेंसे पहिला [अर्थात् सन्धिविश्लेष भी तीन प्रकारका होता है। उनमेंसे विवक्षाधीन तथा प्रगृह्यसंज्ञानिमित्तक दो प्रकारके सन्धिविश्लेषका एक ही उदाहरण आगे दिखलाते हैं] जैसे—

हे राजन् ! आपके वे [लोकोत्तर] चरित्र जो रसातल [के गहन अन्धकार] में भी चन्द्रमाके समान [प्रकाशमान] कान्तिको धारण करते हैं, अत्यन्त शोभित होते हैं। और आपके अत्यन्त प्रसिद्ध एवं उचित कार्यमें लगे बुद्धिबल तथा बाहुबल दोनों विजयसम्पत्तिका विस्तार करते हुए अत्यन्त शोभित हो रहे हैं ॥ २१२ ॥

[illegible]

उर्व्यसावत्र तर्वाली मर्वन्ते चार्ववस्थितिः ।
नात्रार्जु युज्यते गन्तुं शिरो नमय तन्मनाक् ॥ २१५ ॥

(५) हतं लक्षणानुसरणेऽप्यश्रव्यम्, अप्राप्तगुरुभावान्तलघु, रसाननुगुणं च वृत्तं यत्र तत् हतवृत्तम् । क्रमेणोदाहरणम्—

अमृतममृतं कः सन्देहो मधून्यपि नान्यथा
मधुरमधिकं चूतस्यापि प्रसन्नरसं फलम् ।
सकृदपि पुनर्मध्यस्थः सन् रसान्तरविज्जनो
वदतु यदिहान्यत् स्वादु स्यात् प्रियादशनच्छदात् ॥ २१६ ॥

अत्र 'यदिहान्यत्स्वादु स्यात्' इत्यश्रव्यम् ।

कष्टताजन्य विसन्धिदोष

[सन्धिके कारण उत्पन्न कष्टताका उदाहरण देते हैं]—यहाँ मरुदेशके मध्यमें [अन्ते] यह विस्तीर्ण [उर्वी] एवं सुन्दर स्थितिवाले वृक्षोंकी पंक्ति है। यहाँ सीधे [खड़े होकर] चला नहीं जा सकता है इसलिए तनिक सिर झुका लो ॥२१५॥

इसमें उर्वी + असौ, तरु + आली, मरु + अन्ते, चारु + अवस्थितिः, अन + ऋजु इन पदोंमें सन्धि होकर श्लोकका जो प्रकृत पाठ बन गया है, वह सुनने और अर्थज्ञान दोनोंमें ही कष्टदायक है। अतः यहाँ सन्धिके कारण कष्टसन्धिका यह उदाहरण है।

५. हतवृत्तता

त्रिविध अश्लीलताका निरूपण करनेके बाद पञ्चम वाक्यदोष 'हतवृत्त' का निरूपण करते हैं। यह 'हतवृत्त' दोष भी तीन प्रकारका होता है। एक लक्षणानुसार होनेपर भी अश्रव्य, दूसरा अप्राप्त गुरुभावान्तलघु और तीसरा रसके अननुरूप छन्दका प्रयोग।

हत अर्थात् (क) लक्षणका अनुसरण करनेपर भी सुननेमें बुरा लगनेवाला, (ख) अन्त लघु जिसमें गुरुभावको प्राप्त नहीं हो पाता है तथा (ग) रसके अनुरूप जिसका छन्द नहीं है वह [तीन प्रकारका] 'हतवृत्त' है। क्रमशः उदाहरण—

(क) अमृत [लोकोत्तर स्वादयुक्त] अमृत ही है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। शहद भी [मधुर ही है] अन्य प्रकारका [अस्वादु या फीका] नहीं है। मधुर रसवाला आमका फल भी अत्यन्त मीठा होता है। परन्तु अन्य सब [स्वादिष्ट वस्तुओंके] रसोंको जाननेवाला एक भी व्यक्ति निष्पक्ष होकर यह बतलाये कि इस संसारमें प्रियाके अधरोष्ठसे अधिक स्वादु और क्या कोई वस्तु है ॥ २१६ ॥

इसमें 'यदिहान्यत् स्वादु स्यात्' यह अश्रव्य है।

इस श्लोकमें हरिणी छन्द है। 'रसयुगहयैर्न्सौ म्रौ स्लौ गो यदा हरिणी तदा' यह हरिणी छन्दका लक्षण किया गया है। उसके अनुसार 'वदतु यदिहा' के बाद यति होनी चाहिये, परन्तु वह यति सुननेमें अश्रव्य हो जाती है। इसलिए लक्षणका अनुसरण होनेपर भी इसमें अश्रव्यता आ गयी है। इसको बदलकर 'वदतु मधुरं यत्स्यादन्यत् प्रियादशनच्छदात्' ऐसा पाठ कर देनेपर दोष नहीं रहता है।

यथा वा—

जं परिहरिउं तीरइ मणअं पि ण सुन्दरत्तणगुणेण ।
अह णवरं जस्स दोसो पडिवक्खेहिं पि पडिवण्णो ॥ २१७ ॥
[यत् परिहर्तुं तीर्यते मनागपि न सुन्दरत्वगुणेन ।
अथ केवलं यस्य दोषः प्रतिपक्षैरपि प्रतिपन्नः ॥ इति संस्कृतम्]

अत्र द्वितीयतृतीयौ गणौ सकारभकारौ ।

विकसितसहकारतारहारिपरिमलगुञ्जितपुञ्जितद्विरेफः ।
नवकिसलयचारुचामरश्रीर्हरति मुनेरपि मानसं वसन्तः ॥ २१८ ॥

अत्र हारिशब्दः । 'हारिप्रमुदितसौरभ' इति पाठो युक्तः ।

अथवा [लक्षणानुसरणमें भी अश्रव्यताका दूसरा उदाहरण] जैसे—

सुन्दरता गुणके कारण जिसका तनिक भी परित्याग किसी भी दशामें नहीं किया जा सकता है, यह उसका [नायकका या कामुकका] एक दोष है, जिसे उसके विरोधी भी स्वीकार करते हैं ॥ २१७ ॥

इसमें [गाथा छन्दमें लक्षणके अनुसार] द्वितीय तथा तृतीय सगण [अन्त्यगुरु] और भगण [आदिगुरु गणका प्रयोग लक्षणानुसार होनेपर भी अश्रव्य है] ।

(ख) अप्राप्तगुरुभावान्तलघुरूप हतवृत्त

खिले हुए आमोंके दूर फैले हुए [तार] और मनोहर सुगन्धसे [उन्मत्त होकर] गुंजार करते हुए भ्रमरोंके समूह जिसमें [चरणोंके समान] एकत्र हो रहे हैं और नवीन पत्र ही जिसका सुन्दर चमर है, इस प्रकारका [ऋतुराज] वसन्त मुनियोंके मनको भी मोह लेता है ॥ २१८ ॥

[यह अप्राप्तगुरुभावान्तलघुका उदाहरण है, इसमें प्रथम चरणके अन्तका] यहाँ 'हारि' शब्द [अप्राप्तगुरुभावान्तलघु है] । 'हारिप्रमुदितसौरभ' यह पाठ उचित है ।

इसका अभिप्राय यह है कि छन्दःशास्त्रमें जहाँ लघु और गुरुके लक्षण किये गये हैं, वहाँ 'वा पादान्ते' अथवा 'पादान्तस्थं विकल्पेन' इस नियमसे पादान्तमें होनेवाले लघुवर्णको भी विकल्पसे गुरु माना जा सकता है, यह कहा गया है । प्रकृत श्लोक 'पुष्पिताग्रा' छन्दका है । 'अयुजि नयुगरेफतो यकारो युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा' इस लक्षणके अनुसार प्रथम चरणके अन्तमें आदिलघु यगणका प्रयोग होनेसे अन्तिम वर्ण 'रि' गुरु होना चाहिये था । वैसे 'रि' स्वरूपतः लघुवर्ण है, परन्तु 'वा पादान्ते'के नियमके अनुसार वह गुरु माना जा सकता है । परन्तु छन्दःशास्त्रके व्याख्याकारोंने इस नियमको इन्द्रवज्रा आदि कुछ परिमित छन्दोंमें ही माना है । पुष्पिताग्रा छन्दमें उस नियमको लागू नहीं माना है । इसलिए यह अन्तिम लघु गुरुवर्ण नहीं गिना जाता है । अतएव यह 'अप्राप्तगुरुभावान्तलघु'का उदाहरण है । यदि इसके बाद आये हुए 'परिमल' शब्दको बदलकर उसके स्थानपर 'प्रमुदित' पाठ कर दिया जाय, तो संयुक्ताक्षरके परे होनेपर 'रि' गुरु हो जायगा ।

यहाँ 'हारि' शब्द [अप्राप्तगुरुभावान्तलघु होनेसे यह हतवृत्ततादोषका उदाहरण बन जाता है । उसके परिहारके लिए] 'हारिप्रमुदितसौरभ' यह पाठ उचित है ।

यथा वा—

अन्यास्ता गुणरत्नरोहणभुवो धन्या मृदन्यैव सा
सम्भाराः खलु तेऽन्य एव विधिना यैरेष सृष्टो युवा ।
श्रीमत्कान्तिजुषां द्विषां करतलात्स्त्रीणां नितम्बस्थलात्
दृष्टे यत्र पतन्ति मूढमनसामस्त्राणि वस्त्राणि च ॥ २१९ ॥

अत्र 'वस्त्राण्यपि' इति पाठे लघुरपि गुरुतां भजते ।

हा नृप ! हा बुध ! हा कविबन्धो ! विप्रसहस्रसमाश्रय ! देव !
मुग्ध ! विदग्ध ! सभान्तररत्न ! क्वासि गतः क्व वयं च तवैते ॥२२०॥

हास्यरसव्यञ्जकमेतद् वृत्तम् ।

[सौन्दर्य आदि गुणोंसे युक्त] गुणरत्नोको उत्पन्न करनेवाली रोहण [रत्नोत्पादक पर्वतकी विशेष] भूमि कुछ और ही है, वह सौभाग्यशालिनी मिट्टी कुछ और ही है तथा वे उपादान सामग्रियाँ भी कुछ और ही हैं, जिनसे विधाताने इस युवककी रचना की है; जिसको देखकर सुन्दर शोभाशाली शत्रुओंके हाथसे अस्त्र और रूपवती सुन्दरियोके नितम्बस्थलपरसे वस्त्र खिसक पड़ते हैं ॥ २१९ ॥

यहाँ 'वस्त्राण्यपि' ऐसा पाठ होनेपर लघु भी गुरुताको प्राप्त हो जाता है ।

इसका अभिप्राय यह है कि इस श्लोकमें 'शार्दूलविक्रीडित' छन्द है, इस छन्दका लक्षण सूर्याश्वैर्मसजस्तताः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम्' यह किया गया है । इस लक्षणके अनुसार प्रत्येक पादका अन्तिम अक्षर गुरु होना चाहिये । यहाँ चतुर्थ चरणका अन्तिम वर्ण 'च' है, जो स्वरूपतः लघु है, परन्तु 'वा पादान्ते' इस नियमके अनुसार वह गुरु हो सकता है । परन्तु इस नियमका आधार तो अनुभव है । यहाँ 'च' शब्दमें स्वाभाविक शैथिल्य है, वह गुरुरूपमें अनुभवमें नहीं आता है, उसको बदलकर 'वस्त्राण्यपि' यह पाठ कर देनेपर भी यद्यपि अन्तिम अक्षर 'पि' स्वरूपतः लघु ही है, परन्तु संयुक्ताक्षरसे परे होनेसे उसके उच्चारणमें दार्ढ्य आ जाता है, इसलिए वह गुरुभावको प्राप्त हो जाता है ।

इस प्रकार 'हतवृत्त'के 'लक्षणानुसरणेऽप्यश्रव्यता' तथा 'अप्राप्तगुरुभावान्तलघु' इन दो भेदोंके उदाहरण देनेके बाद 'रसाननुगुणता' रूप तीसरे भेदका उदाहरण आगे देते हैं ।

रसाननुगुण हतवृत्तता

हे राजन् ! हे विद्वान् ! हे कवियोंके बन्धु ! और हे सहस्रों ब्राह्मणोंके आश्रय देव ! हे सुन्दर [मुग्ध] ! हे विद्वानोंकी सभाके मध्य रत्न [रूप राजन्] ! आप कहाँ चले गये और आपके [प्रिय या आश्रित] ये हम कहाँ [रह गये] हैं ॥ २२० ॥

[यह श्लोक राजाके लिए शोकसे विलाप करते हुए लोगोंका है । इसमें करुण-रसका प्राधान्य है । अतः करुणरसके अनुरूप 'मन्दाक्रान्ता' आदि छन्दका प्रयोग करना चाहिये था । यहाँ जो 'दोधक' छन्द कविने प्रयुक्त किया है, वह करुणरसका व्यञ्जक नहीं है, अपितु] यह छन्द हास्यरसका व्यञ्जक है [अतः रसाननुगुण होनेसे यह 'हतवृत्त' दोषका उदाहरण है] ।

(१०) समाप्तपुनरात्तं यथा—

> क्रेङ्कारः स्मरकार्मुकस्य सुरतक्रीडापिकीनां रवो
> झङ्कारो रतिमञ्जरीमधुलिहां लीलाचकोरीध्वनिः ।
> तन्व्याः कञ्चुलिकापसारणभुजाक्षेपस्खलत्कङ्कण-
> क्वाणः प्रेम तनोतु वो नववयोलास्याय वेणुस्वनः ॥२२६॥

(११) द्वितीयार्धगतैकवाचकशेषप्रथमार्धं यथा—

> मसृणचरणपातं गम्यतां भूः सदर्भा
> विरचय सिचयान्तं मूर्ध्नि घर्मः कठोरः ।
> तदिति जनकपुत्री लोचनैरश्रुपूर्णैः
> पथि पथिकवधूभिर्वीक्षिता शिक्षिता च ॥२२७॥

---

१०. समाप्तपुनरात्तत्व [दोषका उदाहरण] जैसे—

अपने घरोंको जाते हुए पथिकोंके प्रति किसी कविका वचन है कि [घर पहुँच कर नायिकासे मिलनेके समय] कृशाङ्गीकी चोली खोलनेके लिए [आपके प्रयत्न करने-पर लज्जावश उसे रोकनेके लिए नायिकाका जो भुजाक्षेप] हाथ चलानेसे हिलते हुए कङ्कणोंका शब्द जो कामदेवके धनुषका टङ्कार, या सुरतक्रीडारूप कोकिलोंकी कूक, या रतिरूप मञ्जरीके भौंरोंकी झङ्कार, अथवा लीलारूप चकोरीकी ध्वनि, अथवा नव-युवकोंको नचानेके लिए बाँसुरीकी ध्वनि है, वह [तुम दोनोंके] नवयौवनके [उद्दाम] नृत्यके लिए तुम लोगोंके प्रेमको [खूब] बढ़ावे ॥ २२६ ॥

यहाँ श्लोकके प्रथम तथा द्वितीय चरणमें 'क्वाण' पदके विशेषण दिये गये हैं । [illegible] 'क्वाण प्रेम तनोतु वो' इस मुख्य वाक्यके बाद समाप्त हुए विशेषण[illegible] 'नववयोलास्याय वेणुस्वनः' कहकर एक और विशेषणका प्रतिपादन कर दिया गया है । इसलिए यह समाप्तपुनरात्त दोषका उदाहरण है ।

११. जहाँ प्रथमार्द्धका [केवल] एक पद उत्तरार्द्धमें [कथनके लिए] छोड़ दिया जाता है, [उसको 'अर्धान्तरैकपदता' कहा जाता है । उसका उदाहरण] जैसे—

राजशेखरकृत 'बालरामायण' नाटकमें रामचन्द्रके साथ सीताको भी वन[illegible] आनेपर उसका समाचार सुमन्त्र दशरथसे कह रहे हैं कि—

[वन जाते समय] रास्तेमें राहगीरोंकी [साथ चलनेवाली] स्त्रियोंने आँखोंमें आँसू भरकर जनकराजपुत्री [सीता]को देखा और समझाया कि इसमें भरी भूमिपर हल्के-हल्के पैर रखकर चलो, धूप तेज हो रही है [इसलिए] साड़ीका पल्ला सिरपर डाल लो ॥ २२७ ॥

यहाँ तृतीय चरणके आदिमें आया हुआ 'तद्' [illegible] सिरपर पल्ला डाल लो, इस प्रकार [illegible] इस 'तद्' पद[illegible] केवल इस एक पदका उत्तरार्द्धमें प्रयोग किया गया है, इसलिए [illegible] दोषका उदाहरण है ।

अत्र यदित्यत्र तदिति, तदानीमित्यत्र यदेति वचनं नास्ति। चेत्स्यादिति युक्तः पाठः।
यथा वा—

> संग्रामाङ्गणमागतेन भवता चापे समारोपिते
> देवाकर्णय येन येन सहसा यद्यत्समासादितम्।
> कोदण्डेन शराः शरैररिशिरस्तेनापि भूमण्डलं
> तेन त्वं भवता च कीर्तिरतुला कीर्त्या च लोकत्रयम् ॥२३०॥

अत्राकर्णनक्रियाकर्मत्वे कोदण्डं शरानित्यादि वाक्यार्थस्य कर्मत्वे कोदण्डः शरा इति प्राप्तम्। न च यच्छब्दार्थस्तद्विशेषणं वा कोदण्डादि। न च केन केनेत्यादि प्रश्नः।

यहाँ [चतुर्थ चरणमें 'यत्' तथा 'तदानीं' पदोंका प्रयोग किया गया है, परन्तु उनमेंसे] 'यत्' इसके साथ 'तत्' इसका और 'तदानीं' इसके साथ 'यदा'का कथन नहीं किया गया है। [इसलिए उनका उद्देश्य-विधेयभावरूप सम्बन्ध नहीं बना है, अतः अभवन्मतसम्बन्धरूप दोष है। इसलिए 'यत्'के स्थानपर] 'चेत्स्यात्' यह पाठ उचित है।

अथवा [अभवन्मतसम्बन्धका तीसरा उदाहरण] जैसे—

हे राजन्! युद्धभूमिमें आनेपर और आपके धनुष चढ़ानेपर जिस जिसने सहसा जो-जो प्राप्त किया, सो सुनिये। धनुषने बाणोंको, बाणोंने शत्रुओंके सिरको, उस [शत्रु] के सिरने भूमण्डलको, उस [भूमण्डल] ने [राजाके रूपमें] आपको, आपने [शत्रुओंके विजय द्वारा] अतुल कीर्त्तिको और कीर्तिने [सारे लोकोंमें व्याप्त होकर] तीनों लोकोंको [प्राप्त किया] ॥ २३० ॥

यहाँ 'आकर्णय' क्रिया [के साथ कर्मरूपसे अभिमतसम्बन्ध किसी प्रकार नहीं] बनता है। क्योंकि कोदण्ड, शर आदि पदोंको उस]का कर्म माननेपर [उनमें द्वितीया विभक्तिका प्रयोग होकर] 'कोदण्डं', 'शरान्' इत्यादि [प्रयोग होना चाहिये] और वाक्यार्थको कर्म माननेपर [यो यो वीरः ससायकस्तं त्वं शृणु, भीष्मो, द्रोणो, कर्णः, सोमदत्तिः, धनञ्जयः इत्यादिके अनुसार परस्पर असन्निहित [illegible] प्रातिपदिकार्थ-मात्रमें प्रथमा होनेसे] 'कोदण्डः'—'शराः' यह प्राप्त होता है। [यदि यह कहा जाय कि 'यत्' शब्द बुद्धिस्थका परामर्शक होता है और बुद्धिस्थ कोदण्ड आदि पदार्थ हैं, इसलिए 'यत्समासादितं तदाकर्णय' इस रूपमें यत्-पदार्थका क्रियाके साथ सम्बन्ध होनेसे और यत् शब्दसे बुद्धिस्थ कोदण्डादि पदार्थोंका ग्रहण किये जानेसे उत्तरार्द्ध-वाक्यका पूर्वार्द्धके साथ अभिमतसम्बन्ध बन सकता है, तो इसके निराकरणके लिए कहते हैं कि] और कोदण्ड आदि न 'यत्' शब्दके अर्थ हैं, न विशेषण [इसलिए इस रूपमें भी पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्द्धका सम्बन्ध नहीं बन सकता है। इन दोनों अर्थोंके अभिमतसम्बन्धके बननेका एक मार्ग यह हो सकता था कि पूर्वार्द्धमें 'केन केन' [illegible] ऐसा प्रश्न होता तो 'कोदण्डेन शराः' आदि उत्तरवाक्यका सम्बन्ध हो सकता था, परन्तु 'केन केन' किस किसने [क्या क्या प्राप्त किया] इत्यादि प्रश्न नहीं है [इसलिए पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्धका सम्बन्ध होनेका कोई मार्ग नहीं मिलता है। अतः यहाँ अभवन्मतसम्बन्ध नामक वाक्यदोष है]।

यथा वा—चापाचार्यस्त्रिपुरविजयी ॥ २३१ ॥

इत्यादौ भार्गवस्य निन्दायां तात्पर्यम् । 'कृतवता' इति परशौ सा प्रतीयते । 'कृतवतः' इति तु पाठे मतयोगो भवति । यथा वा—

> चत्वारो वयमृत्विजः स भगवान् कर्मोपदेष्टा हरिः
> संग्रामाध्वरदीक्षितो नरपतिः पत्नी गृहीतव्रता ।
> कौरव्याः पशवः प्रियापरिभवक्लेशोपशान्तिः फलं
> राजन्योपनिमन्त्रणाय रसति स्फीतं हतो दुन्दुभिः ॥२३२॥

अत्राध्वरशब्दः समासे गुणीभूत इति न तदर्थः सर्वैः संयुज्यते । यथा वा—

> जङ्घाकाण्डोरुनालो नखकिरणलसत्केसरालीकरालः
> प्रत्यग्रालक्तकाभाप्रसरकिसलयो मञ्जुमञ्जीरभृङ्गः ।
> भर्तुर्नृत्तानुकारे जयति निजतनुस्वच्छलावण्यवापी-
> सम्भूताम्भोजशोभां विदधदभिनवो दण्डपादो भवान्याः॥२३३॥

अथवा [इसी अभवन्मतदोषका चौथा उदाहरण] जैसे—'चापाचार्यस्त्रिपुरविजयी' इत्यादि । [श्लोकका अर्थ उदाहरण सं० २०२ में दिया जा चुका है] ॥२३१॥

इत्यादिमें परशुरामकी निन्दामें तात्पर्य है । [परन्तु 'परशुना' इस पदके विशेषणरूप] 'कृतवता' इस [तृतीयान्त] पदसे वह [निन्दा] परशुमें प्रतीत होती है [इसलिए अभिमतसम्बन्ध नहीं बन रहा है । हाँ, यदि 'कृतवता' इस तृतीयान्त पदके स्थानपर 'नव'के साथ अन्वित होनेवाले षष्ठ्यन्त] 'कृतवतः' इस प्रकारका पाठ होनेपर [निन्दाका परशुरामके साथ] अभिमतसम्बन्ध बन जाता है ।

अथवा [इसी अभवन्मतका पाँचवाँ उदाहरण] जैसे—

['वेणीसंहार' नाटकके प्रथम अङ्कमें रणदुन्दुभिकी आवाज सुनकर 'त्रिगे रणयज्ञ प्रवर्तते' यह कहकर उस यज्ञका उपपादन करनेके लिए भीम कह रहे हैं कि इस रण-यज्ञमें] हम चारों [भाई] ऋत्विक् हैं, कर्तव्यका उपदेश करनेवाले वे श्रीकृष्ण भगवान [ब्रह्मा] हैं । संग्रामयज्ञकी दीक्षा लिये हुए राजा [युधिष्ठिर] यजमान हैं । और [उनकी] पत्नी [द्रौपदी] व्रतचारिणी [यजमानपत्नी] हैं । कुरुवंशके [दुर्योधन आदि इस यज्ञमें मारे जानेवाले] पशु हैं । प्रिया [द्रौपदी]के अपमानजन्य क्लेशकी शान्ति [इस यज्ञका] फल है, [और इस यज्ञमें] राजसमुदायको निमन्त्रित करनेके लिए बजाया गया यह दुन्दुभि जोरका शब्द कर रहा है ॥२३२॥

यहाँ 'अध्वर' शब्द [संग्रामाध्वरदीक्षित इस] समासमें गुणीभूत [हो गया] है, इसलिए उसका अर्थ [ऋत्विक् आदि] सबके साथ अन्वित नहीं हो सकता । इसलिए यहाँ अभवन्मतसम्बन्धदोष है ।

अथवा इसी [अभवन्मतसम्बन्धका छठा उदाहरण] जैसे—'जङ्घाकाण्डोरुनालो' इत्यादि श्लोक उदाहरण संख्या १०० पर भी उद्धृत हो चुका है, यहाँ उसका [illegible] ।

अत्र दण्डपादगता निजतनुः प्रतीयते भवान्याः सम्बन्धिनी तु विवक्षिता ।

(१३) अवश्यवक्तव्यमनुक्तं यत्र यथा—

अप्राकृतस्य चरितातिशयैश्च दृष्टैरत्यद्भुतैरपहृतस्य तथापि नास्था ।
कोऽप्येष वीरशिशुकाकृतिरप्रमेयसौन्दर्यसारसमुदायमयः पदार्थः ॥२३४॥

अत्र 'अपहृतोऽस्मि' इत्यपहृतत्वस्य विधिर्वाच्यः । 'तथापि' इत्यस्य द्वितीय-वाक्यगतत्वेनैवोपपत्तेः ॥

इस [श्लोक] में 'निजतनुः' [पद] दण्डपादसे अन्वित प्रतीत होता है। परन्तु भवानीके साथ उसका सम्बन्ध विवक्षित है [इसलिए यहाँ भी अभवन्मतसम्बन्धरूप दोष विद्यमान है]।

१३. वाच्यस्यानभिधानं दोष

अवश्य कहने योग्य शब्दको जहाँ न कहा जाय [वह वाच्यका अनभिधान नामक वाक्यदोष होता है] जैसे—

अनन्यसामान्य [रामचन्द्र अथवा मुग्ध विदग्ध] के देखे हुए [और चकारसे सुने हुएका भी ग्रहण करना चाहिये] अद्भुत चरित्रके उत्कर्षसे वशीभूत होनेपर भी [यह शिवका धनुष इस रामचन्द्रने ही तोड़ा है, इस बातपर] विश्वास ही नहीं होता है। वस्तुतः यह [सामने दिखलायी देनेवाला रामचन्द्र] कोई [अनिर्वचनीय] वीर बालककी आकृतिका और अपरिमेय सौन्दर्यसारसे बना हुआ पदार्थ है ॥२३४॥

यहाँ 'तथापि' इस पदके द्वितीय वाक्यगतरूपसे ही उपपन्न होनेसे [प्रथम वाक्यको अलग करनेके लिए] 'अपहृतोऽस्मि' इस रूपमें अपहृतत्वकी विधिका कथन करना चाहिये।

इसका अभिप्राय यह है कि यहाँ वाक्यकी रचना इस प्रकार होनी चाहिये थी कि 'यद्यपि चरितातिशयैरपहृतोऽस्मि तथाऽपि नास्था' लोकोत्तर चरित्रको देखकर मैं मोहित हो गया हूँ, तथापि यह विश्वास नहीं होता है कि यह धनुष रामचन्द्रने ही तोड़ा है। उत्तरवाक्यमें 'तथापि' शब्दका प्रयोग होनेसे पूर्ववाक्यमें 'यद्यपि' पदका प्रयोग तो अनिवार्य नहीं है परन्तु तथापि शब्दका प्रयोग द्वितीय वाक्यमें ही किया जा सकता है, इसलिए प्रथम वाक्यकी स्थिति तो अलग होनी ही चाहिये। उसको अलग करनेके लिए 'अपहृतस्य' इस षष्ठ्यन्त पदके स्थानपर 'अपहृतोऽस्मि' इस प्रकारका प्रयोग करना उचित था। इस अवश्यवाच्य प्रथमा विभक्तिके प्रयोगके अभावमें यहाँ यह 'वाच्यस्यानभिधान' नामक वाक्यदोष हो गया है।

इससे पूर्व 'न्यूनपदता' दोष कह आये हैं उसमें और 'अवश्यवक्तव्यके अनभिधान' रूप इस दोषमें यह अन्तर है कि वाचक पदका प्रयोग न होनेपर 'न्यूनपदता' दोष हो जाता है और वाचक पदसे भिन्न 'द्योतक' 'अपि' आदि अथवा विभक्ति आदिका प्रयोग न होनेपर यह दोष होता है। यह भी दो प्रकारका होता है, एक द्योतक विभक्ति आदिका अन्यथा अभिधानके कारण और दूसरा द्योतक अपि आदिके कथित न होनेके कारण। इनमेंसे यह प्रथमा विभक्तिके स्थानपर षष्ठी विभक्ति कर देनेसे अन्यथाभिधानका उदाहरण है। 'महावीरचरित' नाटकके द्वितीय अङ्कमें रामके द्वारा किये गये धनुर्भङ्गको देखकर परशुरामकी यह स्वगत उक्ति है।

यथा वा—

एषोऽहमद्रितनयामुखपद्मजन्मा प्राप्तः सुरासुरमनोरथदूरवर्त्ती ।
स्वप्नेऽनिरुद्धघटनाविगतामिरूपलक्ष्मीफलामसुरराजसुतां विधाय ॥२३५॥

अत्र 'मनोरथानामपि दूरवर्त्ती' इत्यप्यर्थो वाच्यः ।

यथा वा—

त्वयि निबद्धरतेः प्रियवादिनः प्रणयभङ्गपराङ्मुखचेतसः ।
कमपराधलवं मम पश्यसि त्यजसि मानिनि ! दासजनं यतः ॥२३६॥

अत्र 'अपराधस्य लवमपि' इति वाच्यम् ।

(१४) अस्थानस्थपदं यथा—

प्रियेण संग्रथ्य विपक्षसन्निधावुपाहितां वक्षसि पीवरस्तने ।
स्रजं न काचिद्विजहौ जलाविलां वसन्ति हि प्रेम्णि गुणा न वस्तुषु ॥२३७॥

अथवा [इसी अवश्यवक्तव्यके अनभिधानका दूसरा उदाहरण] जैसे—

अवश्यवाच्य विभक्तिके अन्यथाप्रयोगका उदाहरण ऊपरके श्लोकके रूपमें दिया था । आगे इसी दोषके दो उदाहरण और देते हैं । इनमेंसे एक समासगत, दूसरा असमासगत है । इनमेंसे पहला उदाहरण 'उषाहरण' नाटकसे लिया गया है । 'भागवतपुराण'के अन्तर्गत हरिवंशमें आयी हुई कथाके आधारपर 'उषाहरण' नाटककी रचना हुई है । एक बार समस्त कलाओंमें निपुण सुर, असुर, राक्षस, गन्धर्व आदिकी कन्याएँ शिव-पार्वतीके समीप नृत्य आदि कर रही थीं । उस समय बाणासुरकी उषा नाम्नी कन्याकी प्रवीणतासे सन्तुष्ट होकर पार्वतीने उसको वरदान दिया कि इतने समयके बाद शतम तुम्हारे योग्य पति तुम्हारे पास आवेगा । इस वरदानके प्रभावसे उचित समय आनेपर उषाका श्रीकृष्णके पुत्र अनिरुद्धके साथ रात्रिमें समागम हुआ । समागमके बाद वरदान शरीर धारण कर उषाकी सखी चित्रलेखासे कह रहा है कि—

देवताओं और राक्षसोंके मनोरथोंसे दूर रहनेवाला और पार्वतीके मुखकमलसे उत्पन्न हुआ यह मैं असुरराज [बाणासुर] की कन्या [उषा] को स्वप्नमें [श्रीकृष्णके पुत्र] अनिरुद्धके साथ समागम द्वारा उसके अपूर्व सौन्दर्यका फल प्राप्त कराकर [उसके व्यभिचार आदि शङ्का निवारणके लिए तुम्हारे पास] आया हूँ ॥२३५॥

यहाँ मनोरथोंके भी दूरवर्ती यह 'अपि' अर्थ अवश्य कहना चाहिये था ।

अथवा [इसी 'वाच्यस्यानभिधान'का तीसरा उदाहरण] जैसे—

हे मानिनि ! तुम्हारे प्रति अनुराग स्थिर रखनेवाले, प्रियवादी और प्रेमका भङ्ग होनेसे डरनेवाले मेरे किस तुच्छसे [भी] अपराधको तुम देख रही हो, जिससे [नाराज होकर अपने दयनीय] इस सेवकको छोड़ रही हो ? ॥२३६॥

यहाँ ['कमपराधलवं'के स्थानपर] 'अपराधस्य लवमपि', अपराधका लवलेश भी यह कहना चाहिये था [उसके अभावमें दोष हो गया है] ।

१४. अस्थानस्थपदता दोष

अस्थानस्थ [पद] का उदाहरण जैसे—

अत्र 'काचिन्न विजह्रौ' इति वाच्यम्

यथा वा—

> लग्नः केलिकचग्रहश्लथजटालग्नेन निद्रान्तरे
> मुद्राङ्कः शितिकन्धरेन्दुशकलेनान्तःकपोलस्थलम् ।
> पार्वत्या नखलक्ष्मशङ्कितसखीनर्मस्मितह्रीतया
> प्रोन्मृष्टः करपल्लवेन कुटिलाताम्रच्छविः पातु वः ॥२३८॥

अत्र 'नखलक्ष्म' इत्यतः पूर्वं 'कुटिलाताम्र०' इति वाच्यम् ।

(१५) अस्थानस्थसमासम् । यथा—

> अद्यापि स्तनशैलदुर्गविषमे सीमन्तिनीनां हृदि
> स्थातुं वाञ्छति मान एष धिगिति क्रोधादिवालोहितः ।
> प्रोद्यद्दूरतरप्रसारितकरः कर्षत्यसौ तत्क्षणात्
> फुल्लत्कैरवकोशनिःसरदलिश्रेणीकृपाणं शशी ॥२३९॥

[विपक्ष अर्थात्] सपत्नीके सामने प्रियतमके द्वारा [स्वयं] गूँथकर स्थूलस्तनवाले वक्षःस्थलपर पहनायी गयी मालाको जलसे [भीग जानेके कारण] म्लान हो जानेपर भी किसी स्त्रीने नहीं उतारा। क्योंकि गुण तो प्रेममें रहते हैं, वस्तुमें नहीं ॥ २३७ ॥

यहाँ 'काचिन्न विजह्रौ' इस प्रकार [काचित्के बाद न का प्रयोग करके] कहना चाहिये। [काचित्के पूर्व न का प्रयोग कर देनेसे अस्थानस्थपदता दोष हो गया है।

अथवा [इसी अस्थानस्थपदताका दूसरा उदाहरण] जैसे—

सुरत-क्रीड़ाके समय कचग्रहणके कारण खुल जानेवाली जटाओंके सहारे लटके हुए नीलकण्ठ [शिवजी]के चन्द्रमाके टुकड़ेसे [पार्वतीजीके, उसके ऊपर मुख रखकर सो जानेके कारण] उत्पन्न सोते समय गालके बीचमें टेढ़ा और लाल रङ्ग [कुटिलाताम्रच्छविः] का बना हुआ [चिह्न जिसको देखकर] नखक्षत समझनेवाली सखीके मुस्कराने [नर्म स्मित]से लजायी हुई पार्वतीके द्वारा अपने करपल्लवसे मिटाया हुआ चिह्न तुम्हारी रक्षा करे ॥ २३८ ॥

यहाँ 'कुटिलाताम्रच्छविः' को 'नखलक्ष्म' इस [विशेष्य पद]के पहिले कहना चाहिये [इसके भिन्न स्थानपर रखनेसे अस्थानपदता दोष हो गया है]।

१५. अस्थानस्थसमासता दोष

अस्थानस्थसमास [दोष] का उदाहरण। जैसे—

[मेरा उदय हो जानेके बाद भी] स्तनरूप पर्वतोंके कारण दुर्गम स्त्रियोंके हृदय [रूप सुरक्षित स्थानमें छिपकर] यह मान बैठना चाहता है, यह बड़ी बुरी बात है। इससे मानो क्रोधके कारण लाल-लाल चन्द्रमा दूरतक हाथ [किरण]को फैलाकर तुरन्त ही खिले हुए कैरवोंके भीतरसे निकलती हुई भ्रमरपंक्तिरूप कृपाणको [कोश] म्यानसे खींच रहा है ॥ २३९ ॥

(१८) मञ्जीरादिषु रणितप्रायं पक्षिषु च कूजितप्रभृति ।
स्तनितमणितादि सुरते मेघादिषु गर्जितप्रमुखम् ॥

इति प्रसिद्धिमतिक्रान्तम् । यथा—

महाप्रलयमारुतक्षुभितपुष्करावर्त्तक-
प्रचण्डघनगर्जितप्रतिरुतानुकारी मुहुः ।
रवः श्रवणभैरवः स्थगितरोदसीकन्दरः
कुतोऽद्य समरोदधेरयमभूतपूर्वः पुरः ॥२४३॥

अत्र रवो मण्डूकादिषु प्रसिद्धो न तूक्तविशेषे सिंहनादे ।

(१९) भग्नः प्रक्रमः प्रस्तावो यत्र । यथा—

नाथे निशाया नियतेर्नियोगादस्तङ्गते हन्त निशाऽपि याता ।
कुलाङ्गनानां हि दशानुरूपं नातः परं भद्रतरं समस्ति ॥२४४॥

अत्र 'गता' इति प्रक्रान्ते 'याता' इति प्रकृतेः । 'गता निशाऽपि' इति तु युक्तम् ।

मञ्जीर आदि [के शब्दका कथन करने]में रणित आदि जैसे [शब्दोंका], पक्षियों [के शब्द]में कूजित आदि, सुरतमें स्तनित, मणित आदि तथा मेघ आदि [के शब्द]में गर्जित आदि [का प्रयोग करना चाहिये]।

इस प्रकारकी प्रसिद्धिका अतिक्रमण करनेवाला [प्रसिद्धिविरुद्धता दोष होता है]। जैसे—

महाप्रलयकी वायुसे क्षुभित [चतुर्दश प्रकारके] पुष्करावर्तक [आदि नामोंसे प्रसिद्ध] भयङ्कर मेघोंके गर्जनकी प्रतिध्वनिके सदृश सुननेमें भयङ्कर लगनेवाला [अथवा कानोंको भयप्रद] आकाश और पृथिवीको भर देनेवाला यह समरसागरमें उत्पन्न अपूर्व शब्द सामनेसे क्यों [या कहाँसे] आ रहा है ॥ २४३ ॥

यहाँ 'रव' शब्द मेढक आदि [के शब्द]में प्रसिद्ध है, न कि उक्त प्रकारके विशिष्ट सिंहनाद [के अर्थ]में। [इसलिए यहाँ प्रसिद्धिविरुद्धता दोष है]।

१९. भग्नप्रक्रमता दोष

जहाँ प्रकरण [प्रस्ताव]का भङ्ग हो जाता है [उसको भग्नप्रक्रमता दोष कहा जाता है]। जैसे—

दैववश रात्रिके पति [चन्द्रमा]के अस्त हो जानेपर रात्रि भी चली [विनष्ट हो] गयी, यह दुःखकी बात है। [किन्तु] कुलाङ्गनाओंके लिए [पतिकी मृत्युरूप इस] दशाके योग्य इससे अधिक अच्छी और कोई बात सम्भव नहीं है ॥ २४४ ॥

यहाँ 'गता' इस [गम धातुके प्रयोगके] प्रकरणमें [या धातुसे बने] 'याता' [का प्रयोग] प्रकृति [मूलधातु]की [भग्नप्रक्रमतारूप दोष है]। [उसके स्थानपर] 'गता निशाऽपि' [यह] कहना उचित है।

ननु 'नैकं पदं द्विः प्रयोज्यं प्रायेण' इत्यन्यत्र, 'कथितपदं दुष्टम्' इति चेहैवोक्तम्, तत्कथमेकस्य पदस्य द्विः प्रयोगः ? उच्यते। उद्देश्यप्रतिनिर्देश्यव्यतिरिक्तो विषय एकपदप्रयोगनिषेधस्य। तद्वति विषये प्रत्युत तस्यैव पदस्य सर्वनाम्नो वा प्रयोगं विना दोषः। तथा हि—

> उदेति सविता ताम्रस्ताम्र एवास्तमेति च।
> सम्पत्तौ च विपत्तौ च महतामेकरूपता ॥ २४५ ॥

अत्र 'रक्त एवास्तमेति' इति यदि क्रियेत तदा पदान्तरप्रतिपादितः स एवार्थोऽर्थान्तरतयेव प्रतिभासमानः प्रतीतिं स्थगयति।

यथा वा—

इस प्रकार भग्नप्रक्रमता दोषको बचानेके लिए ग्रन्थकारने दोनो जगह 'गता' इस एक ही पदका प्रयोग किये जानेका सुझाव दिया है। इस विषयमें यह शङ्का उत्पन्न होती है कि यदि दोनों जगह एक ही पदका प्रयोग किया जायगा, तो फिर पुनरुक्ति दोष हो जायगा, जिसे यहाँ ग्रन्थकारने भी वर्जित किया है और अन्योंने भी उसको निषिद्ध माना है। तब यहाँ उसी पदके दो बारके प्रयोगका सुझाव कैसे दे रहे हैं ? इस प्रश्नका उत्तर ग्रन्थकारने यह दिया है कि एक पदके दो बार प्रयोगका निषेध उद्देश्य-प्रतिनिर्देश्यभावसे भिन्न स्थलमें ही लागू होता है। जहाँ उद्देश्य-प्रतिनिर्देश्यभाव होता है, वहाँ तो नियमतः उसी शब्दका प्रयोग होना चाहिये। अन्यथा प्रतिनिर्देश्य अर्थको अन्य पर्यायवाचक शब्दसे कहनेपर अर्थकी प्रतीति उतने सुन्दररूपसे नहीं होती है। इस बातको ग्रन्थकार उदाहरणों द्वारा आगे स्पष्ट करेंगे।

प्रश्न—'एक पदका प्रायः दो बार प्रयोग नहीं करना चाहिये'। यह अन्यत्र [वामनने अपने 'काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति' ग्रन्थके प्रथमाध्यायके पञ्चमाधिकरणमें] और 'कथितपद [पुनरुक्त] दोष होता है' यह यहाँ ['काव्यप्रकाश'में आपने स्वयं ही] कहा है। तब ['गता' इस] एक ही पदका दो बार प्रयोग कैसे हो सकता है ?

उत्तर—कहते हैं—एक पदके दो बार प्रयोगके निषेधका विषय उद्देश्य-प्रतिनिर्देश्यभावसे भिन्न स्थल ही होता है। [तद्वति] उस [उद्देश्य-प्रतिनिर्देश्यभाव] से युक्त स्थलमें तो बल्कि उसी पद या सर्वनामका प्रयोग न करनेपर दोष हो जाता है। जैसे कि—

सूर्य लाल ही उदित होता है और अस्त होते समय भी लाल ही अस्त होता है। महापुरुषोंका सम्पत्ति तथा विपत्ति दोनोंमें एक-सा रूप रहता है ॥२४५॥

यहाँ [उद्देश्यस्थलमें और प्रतिनिर्देश्यस्थलमें दोनों जगह एक ही 'ताम्र' इस विशेषणका प्रयोग किया है। यदि इस एक पदके प्रयोगके स्थानपर प्रतिनिर्देश्यस्थलमें 'ताम्र' पदके पर्यायवाचक 'रक्त' शब्दका प्रयोग करके] 'रक्त एवास्तमेति च' ऐसा कर दिया जाय तो ['रक्त' रूप] अन्य पदसे प्रतिपादित वही [ताम्रत्वरूप] अर्थ भिन्न अर्थके समान प्रतीत होता है और [सम्पत्ति-विपत्ति दोनोंमें एकरूपताकी] प्रतीतिमें बाधा उत्पन्न करता है [इसलिए दोष हो जाता है]।

अथवा [भग्नप्रक्रमताका प्रत्ययगत दूसरा उदाहरण] जैसे—['किरातार्जुनीय' के तृतीय सर्गमें अर्जुनके प्रति द्रौपदीकी उक्ति है कि—]

यशोऽधिगन्तुं सुखलिप्सया वा मनुष्यसङ्ख्यामतिवर्त्तितुं वा ।
निरुत्सुकानामभियोगभाजां समुत्सुकेवाङ्कमुपैति सिद्धिः ॥२४६॥

अत्र प्रत्ययस्य । 'सुखमीहितुं वा' इति युक्तः पाठः ।

ते हिमालयमामन्त्र्य पुनः प्रेक्ष्य च शूलिनम् ।
सिद्धं चास्मै निवेद्यार्थं तद्विसृष्टाः खमुद्ययुः ॥ २४७ ॥

अत्र सर्वनाम्नः । 'अनेन विसृष्टाः' इति वाच्यम् ।

महीभृतः पुत्रवतोऽपि दृष्टिस्तस्मिन्नपत्ये न जगाम तृप्तिम् ।
अनन्तपुष्पस्य मधोर्हि चूते द्विरेफमाला सविशेषसङ्गा ॥ २४८ ॥

अत्र पर्यायस्य । 'महीभृतोऽपत्यवतोऽपि' इति युक्तम् । अत्र सत्यपि पुत्रे कन्यारूपेऽप्यपत्ये स्नेहोऽभूदिति केचित्समर्थयन्ते ।

विपदोऽभिभवन्त्यविक्रमं रहयत्यापदुपेतमायतिः ।
नियता लघुता निरायतेरगरीयान्न पदं नृपश्रियः ॥ २४९ ॥

यश प्राप्त करनेके लिए, अथवा सुखको पानेके लिए, अथवा साधारण जनोंकी गणनाका उल्लङ्घन करनेके लिए प्रयत्नशील पुरुषोंकी [लक्ष्मी प्राप्त करनेकी] इच्छा न होनेपर भी [स्वयं] ही उत्सुक हुई-सी लक्ष्मी उनकी गोदमें आ जाती ॥ २४६ ॥

यहाँ प्रत्यय [की भग्नप्रक्रमता है। 'सुखलिप्सया'के स्थानपर] 'सुखमीहितुं वा' यह ['अधिगन्तुं']के समान [तुमुन् प्रत्ययान्त] पाठ उचित है।

इस प्रकार प्रकृतिगत और प्रत्ययगत भग्नप्रक्रमताको दिखलाकर आगे ३. सर्वनाम, ४. पर्याय, ५. उपसर्ग, ६. वचन, ७. कारक तथा ८. क्रमकी भग्नप्रक्रमताके भी उदाहरण क्रमशः देते हैं—

वे [मरीचि आदि सप्तर्षिगण] हिमालयसे विदा माँग और शिवसे फिर मिलकर तथा उनको कार्यसिद्धि [पार्वतीके विवाहकी स्वीकृति]की सूचना देकर उन [शिवजी]की आज्ञा प्राप्त कर आकाशको चले गये ॥ २४७ ॥

यहाँ ['तद्विसृष्टाः' में तत् इस] सर्वनामकी [भग्नप्रक्रमता है, उसके स्थानपर] 'अनेन विसृष्टाः' यह कहना चाहिये।

[मैनाक नामक पुत्रके पूर्व विद्यमान होनेके कारण] पुत्रवान होनेपर भी पर्वतराज हिमालयकी दृष्टि [स्नेहातिशयके कारण] उस [पार्वती] सन्तानको देखकर तृप्तिको प्राप्त नहीं करती थी [स्नेहातिशयके कारण अतृप्त ही बनी रही]। जैसे वसन्तके अनेक पुष्पोंके होनेपर भी भ्रमरश्रेणी आम्र-मञ्जरीमें ही विशेषरूपसे आसक्त रहती है ॥२४८॥

यहाँ पर्यायकी [भग्नप्रक्रमता है]। ['महीभृत' पुत्रवतः'के स्थानपर] 'महीभृतोऽपत्यवतोऽपि' यह पाठ युक्त है [अर्थात् दोनों जगह अपत्य पाठ होनेसे भग्नप्रक्रमता नहीं रहती है]। कुछ लोग पुत्रके होनेपर भी कन्यारूप सन्तानमें हिमालयका विशेष स्नेह था, ऐसा विवक्षित अर्थ मानकर [पुत्रवत इसी प्रयोगका] समर्थन करते हैं।

पराक्रमहीन पुरुषको विपत्तियाँ घेर लेती हैं। विपत्तिग्रस्त पुरुषका भविष्य उसका साथ छोड़ देता है [अन्धकारमय हो जाता है]। निरायत [illegible]

अत्रोपसर्गस्य पर्यायस्य च । 'तदभिभवः कुरुते निरायतिम् । लघुतां भजते निरायतिर्लघुतावान्न पदं नृपश्रियः ॥' इति युक्तम् ।

> काचित्कीर्णा रजोभिर्दिवमनुविदधौ मन्दवक्त्रेन्दुलक्ष्मी-
> रश्रीकाः काश्चिदन्तर्दिश इव दधिरे दाहमुद्भ्रान्तसत्त्वाः ।
> भ्रेमुर्वात्या इवान्याः प्रतिपदमपरा भूमिवत्कम्पमानाः
> प्रस्थाने पार्थिवानामशिवमिति पुरो भावि नार्यः शशंसुः ॥ २५० ॥

अत्र वचनस्य । 'काश्चित्कीर्णा रजोभिर्दिवमनुविदधुर्मन्दवक्त्रेन्दुशोभा निःश्रीकाः' इति 'कम्पमानाः' इत्यत्र 'कम्पमापुः' इति च पठनीयम् ।

है, उसकी [वर्तमान कालमें भी] लघुता [हीनत्वभावना] निश्चित है और गौरवमें हीन व्यक्ति [कभी] राजश्रीका अधिकारी नहीं हो सकता है ॥ २४९ ॥

यहाँ [विपद् तथा आपद् शब्दोंमें जुड़े हुए] उपसर्गकी और [अनर्गयान तथा] पर्यायकी [भग्नप्रक्रमता है]। यहाँ 'तदभिभवः कुरुते निरायतिम् ।' [ऐसा पाठ कर देनेसे 'आपदुपेत' शब्दके कारण होनेवाला भग्नप्रक्रम दोष नहीं रहता है । इसी प्रकार उत्तरार्धमें लघुता तथा 'अगरीयान्'के प्रयोगसे जो भग्नप्रक्रमता दोष होता है, वह] 'लघुतां भजते निरायतिः लघुतावान्न पदं नृपश्रियः' [ऐसा कर देनेपर नहीं रहता है]। अतः यह युक्त पाठ है ।

अगला श्लोक 'माघकाव्य'के पञ्चदश सर्गसे लिया गया है । [illegible] लिए तैयार होकर घरसे निकलते समय उनकी स्त्रियोंकी भावी अमङ्गल सूच[illegible] है । श्लोकके प्रारम्भमें 'काचित्' इस एक वचनका बादमें 'काश्चित्' [illegible] बहुवचनोंका प्रयोग हुआ है । इसीलिए यह वचनकृत भग्नप्रक्रमता [illegible] लिखितप्रकार है—

कोई [स्त्री रजोभिः अर्थात् आर्तव या] मासिक धर्मसे [illegible] होनेके कारण मन्दकान्तिवाले मुखचन्द्रके द्वारा [धूलिसे आच्छादित [illegible] वाले चन्द्रमासे युक्त] आकाशका अनुकरण कर रही थी । [illegible] रजोभिः'की नायिकापक्षमें यह व्याख्या की है कि भूमिपर [illegible] व्याप्त । परन्तु भूमिपर लोटनेका अभी कोई अवसर न [illegible] है] शोभाविहीन और घबराये हुए चित्तवाली कोई [नायिका [illegible] हुए सत्वों अर्थात् प्राणियोंसे युक्त] दिशाओंके समान अन्त[illegible] धारण कर रही थी, अन्य नायिकाएँ वायुचक्रके समान [illegible] [अन्य कुछ नायिकाएँ] पग पगपर [भूकम्पके समय] भूमिके समान [illegible] प्रकार [शिशुपालपक्षीय] राजाओंके [युद्धके निमित्त सजकर] [illegible] वाले अनिष्टको स्त्रियोंने पहले ही सूचित कर दिया ॥ २५० ॥

यह वचनकी [भग्नप्रक्रमता] है । [illegible] बहुवचनका प्रयोग करके] 'काश्चित्कीर्णा रजोभिः [illegible] 'निःश्रीकाः' इस प्रकार और 'कम्पमानाः'के स्थानपर 'कम्पमापुः' [illegible]

[illegible]

गाहन्तां महिषा निपानसलिलं शृंगैर्मुहुस्ताडितं
छायाबद्धकदम्बकं मृगकुलं रोमन्थमभ्यस्यताम् ।
विश्रब्धैः क्रियतां वराहपतिभिर्मुस्ताक्षतिः पल्वले
विश्रान्तिं लभतामिदं च शिथिलज्याबन्धमस्मद्धनुः ॥ २५१ ॥

अत्र कारकस्य । 'विश्रब्धा रचयन्तु शूकरवरा मुस्ताक्षतिम्' इत्यदुष्टम् ।

अकलिततपस्तेजोवीर्यप्रथिम्नि यशोनिधा-
ववितथमदाध्माते रोषान्मुनावभिगच्छति ।
अभिनवधनुर्विद्यादर्पक्षमाय च कर्मणे
स्फुरति रभसात्पाणिः पादोपसङ्ग्रहणाय च ॥ २५२ ॥

अत्र क्रमस्य । 'पादोपसङ्ग्रहणाय' इति पूर्वं वाच्यम् । एवमन्यदप्यनुसर्त्तव्यम् ।

अङ्कसे उद्धृत किया गया है। शकुन्तलाको देखकर मृगया आदि अन्य किसी कार्यमें मन न लगनेसे राजा दुष्यन्त आज मृगयाका कार्यक्रम शिथिल करनेकी सूचना देते हुए सेनापतिसे यह श्लोक कह रहे हैं। इसके प्रथम और द्वितीय चरणमें 'महिषाः' और 'मृगकुल' ये कर्तृवाचक पद प्रथमा विभक्तिमें प्रयुक्त हुए हैं, परन्तु तीसरे चरणमें 'वराहपतिभिः' यह कर्त्तामें तृतीया विभक्तिका प्रयोग किया गया है, इसलिए यह कारककृत भग्नप्रक्रमताका उदाहरण है।

[आज शिकारका भय न होनेसे निश्चिन्त होकर] भैंसे [मक्खियाँ उड़ानेके लिए] सींगोंसे बार-बार ताड़ित किये जाते हुए तालाबोंके जलमें अवगाहन करें, [वन-वृक्षोंकी] छायामें झुण्ड बनाकर [बैठा हुआ] मृगों का समूह जुगाली [रोमन्थ] करे, वराहपति निश्चिन्त होकर पोखरेमें [पोखरेके किनारे होनेवाले] नागरमोथाको खोदकर खायें एवं शिथिल प्रत्यञ्चावाला हमारा यह धनुष भी आज विश्राम करे ॥ २५१ ॥

यहाँ कारककी [भग्नप्रक्रमता है। उसे दूर करनेके लिए] 'विश्रब्धा रचयन्तु शूकरवरा मुस्ताक्षतिं' यह निर्दोष [पाठ] है।

ग्रन्थकारने 'विश्रब्धा रचयन्तु शूकरवरा.' इस निर्दुष्ट पाठका सुझाव दिया है। इस पाठमें कर्त्ता-कारकमें प्रथमा विभक्ति आ जानेसे पूर्वदोषका तो निवारण हो जाता है, परन्तु 'गाहन्ताम अभ्यस्यताम्' आदि पूर्वक्रियाओंको देखते हुए 'रचयन्तु' क्रियाके भेदके कारण दूसरी भग्नक्रमता आ जाती है।

'महावीरचरित' नाटकके द्वितीय अङ्कमें धनुष तोड़नेके बाद क्रुद्ध हुए परशुरामका आना हुआ देखकर रामचन्द्रजी कह रहे हैं कि—

अपरिमित तप और तेजके प्रभावसे महिमान्वित यशोनिधि और यथार्थ [वस्तुतः शोभा देनेवाले] दर्पसे भरे मुनि [परशुराम]के क्रोधपूर्वक आनेपर अभिनव [अभी सीखी हुई या अलौकिक] धनुर्विद्याके योग्य [युद्ध अथवा बाणके आकर्षण रूप] कर्मके लिए और साथ ही [श्रद्धावश] पैरोंको पकड़ने [पैर छूने] के लिए हाथ जल्दीसे फड़क रहा है ॥२५२॥

यहाँ क्रमकी [भग्नप्रक्रमता] है। पैरोंके छूनेकी बात पहिले कहनी चाहिये। इसी प्रकार [भग्नप्रक्रमता] के अन्य उदाहरण भी समझ लेने चाहिये।

(२०) अविद्यमानः क्रमो यत्र । यथा—

द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः ।

कला च सा कान्तिमती कलावतस्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी ॥२५३॥

अत्र त्वंशब्दानन्तरं चकारो युक्तः ।

यथा वा—

शक्तिर्निस्त्रिंशजेयं तव भुजयुगले नाथ ! दोषाकरश्री-

र्वक्त्रे पार्श्वे तथैषा प्रतिवसति महाकुट्टनी खड्गयष्टिः ।

आज्ञेयं सर्वगा ते विलसति च पुरः किं मया वृद्धया ते

प्रोच्येवेत्थं प्रकोपाच्छशिकरसितया यस्य कीर्त्या प्रयातम् ॥ २५४ ॥

अत्र 'इत्थं प्रोच्येव' इति वाच्यम् । तथा—

'लग्नं रागावृताङ्ग्या' [२४२] इत्यादौ 'इति श्रीनियोगात्' इतिवाच्यम् ।

यहाँतक भग्नप्रक्रमता दोषके ९ उदाहरण दिये गये हैं, अब इसके बाद 'अक्रमता' नामक बीसवें वाक्यदोषका निरूपण करते हैं। प्रारम्भमें जिस क्रमसे या जिस शैलीसे रचना प्रारम्भ की गयी है उस क्रमको छोड़कर बीचमें शैलीको बदल देनेपर 'भग्नप्रक्रमता' दोष होता है, जिसके बाद जिस पदको रखना चाहिये उस पदको न रखनेपर 'अक्रमता' दोष होता है।

२०. जहाँ क्रम विद्यमान न हो [उसको अक्रमता दोष कहा जाता है] जैसे—

'द्वय गतं' आदि [श्लोकका अर्थ उदाहरण सं० २२६ पर दिया जा चुका है। वहाँसे ही देखना चाहिये] ॥ २५३ ॥

इसमें 'त्व' शब्दके बाद चकार [का प्रयोग] उचित है। अथवा जैसे—

हे नाथ ! आपकी बाहुओंमें तलवारसे उत्पन्न हुई शक्ति [पक्षान्तरमें निस्त्रिंश—तीससे भी अधिक आदमियोंसे सम्बन्ध रखनेवाली व्यभिचारिणी स्त्रीसे उत्पन्न यह शक्ति नामक वेश्यापुत्री तुम्हारी बाहुओंमें जकड़ी हुई तुम्हारा आलिङ्गन कर रही] है, दोषोंकी खान यह लक्ष्मी आपके मुखमें [चुम्बन प्राप्त कर रही है। पक्षान्तरमें दोषाकर चन्द्रमाका सौन्दर्य आपके मुखमण्डलपर विराज रहा है] और यह महाकुट्टिनी [अत्यन्त दुश्चरित्रा, पक्षान्तरमें बड़ा आघात पहुँचानेवाली] खड्गयष्टि आपके पासमें रहती है। आपकी यह आज्ञा [नामक प्रेमिका] सबके पास पहुँचनेवाली [व्यभिचारिणी होनेपर भी] तुम्हारे सामने विलास करती है। ऐसी दशामें इस बूढ़ी [पक्षान्तरमें वृद्धिको प्राप्त, दूर-दूरतक फैली हुई] मुझ [कीर्ति] से आपको क्या प्रयोजन है। मानों यह कहकर चन्द्रकिरणोंके समान उज्ज्वल जिस राजाकी कीर्ति क्रोधसे चल दी [पक्षान्तरमें सब जगह फैल गयी] ॥ २५४ ॥

इसमें ['प्रोच्येवेत्थं'के स्थानपर] 'इत्थं प्रोच्येव' यह [पाठ] होना उचित है। और [उदाहरण सं० २४२ 'लग्नं रागावृताङ्ग्या' इत्यादिमें 'इति श्रीनियोगात्' यह कहना चाहिये था [इतिका प्रयोग कविने नहीं किया है]।

(२१) अमतः प्रकृतविरुद्धः परार्थो यत्र । यथा—

रामन्मथशरेण ताडिता दुःसहेन हृदये निशाचरी ।
गन्धवद्रुधिरचन्दनोक्षिता जीवितेशवसतिं जगाम सा ॥ २५५ ॥

अत्र प्रकृते रसे विरुद्धस्य शृङ्गारस्य व्यञ्जकोऽपरोऽर्थः ।

अर्थदोषानाह—

[सू० ७५] **अर्थोऽपुष्टः कष्टो व्याहतपुनरुक्तदुष्क्रमग्राम्याः ॥ ५५ ॥**
सन्दिग्धो निर्हेतुः प्रसिद्धिविद्याविरुद्धश्च ।
अनवीकृतः सनियमानियमविशेषाविशेषपरिवृत्ताः ॥ ५६ ॥
साकाङ्क्षोऽपदयुक्तः सहचरभिन्नः प्रकाशितविरुद्धः ।
विध्यनुवादायुक्तस्त्यक्तपुनःस्वीकृतोऽश्लीलः ॥ ५७ ॥

दुष्ट इति सम्बध्यते । क्रमेणोदाहरणम्—

(१) अतिविततगगनसरणिपरिमुक्तविश्रामानन्दः ।
मरुदुल्लासितसौरभकमलाकरहासकृद्रविर्जयति ॥ २५६ ॥

---

२१. जहाँ दूसरा अर्थ अमत अर्थात् प्रकृत अर्थके विपरीत हो [उसको अमत-परार्थता दोष कहते हैं] जैसे—

वह [ताड़का नामक] राक्षसी कामदेवके सदृश सुन्दर रामचन्द्र [दूसरे पक्षमें रामरूप कामदेव]के बाणसे हृदयस्थलमें आहत होकर दुर्गन्धयुक्त [दूसरे पक्षमें सुगन्ध-युक्त लालचन्दन] रक्तरूप चन्दनसे लिप्त होकर यमपुरी [जीवितेश यम । दूसरे पक्षमें अभिसारिकाके रूपमें प्राणनाथकी पुरी]को चली गयी ॥ २५५ ॥

यहाँ प्रकृत [बीभत्स] रसमें विपरीत शृङ्गाररसका व्यञ्जक दूसरा [अभिसारिका-परक] अर्थ है [अतः अमतपरार्थता दोष है] ।

इस प्रकार सबसे पहिले पद, पदांश तथा वाक्य तीनोंमें रहनेवाले १६ दोषों और वाक्यमें रहनेवाले २१ दोषोंके निरूपणके बाद २३ अर्थदोषोंका निरूपण आरम्भ करते हैं ।

अर्थदोषोंको कहते हैं—

१. अपुष्ट [अर्थ], २. कष्ट, ३ व्याहत, ४ पुनरुक्त, ५ दुष्क्रम, ६ ग्राम्य, ७ सन्दिग्ध ८ निर्हेतु, ९ प्रसिद्धिविरुद्ध, १० विद्याविरुद्ध, ११. अनवीकृत, १२ नियममें अनियम, १३. अनियममें नियम, १४. विशेषमें अविशेष और १५ अविशेषमें विशेषरूप परिवृत्त, १६ साकाङ्क्षता, १७ अपदयुक्तता, १८. सहचरभिन्नता, १९. प्रकाशित विरुद्धता, २०. विध्ययुक्तत्व, २१. अनुवादायुक्तत्व, २२ त्यक्त पुनः स्वीकृत और २३ अश्लील [अर्थ दुष्ट होता है] ॥ ५५-५७ ॥

[यह २३ प्रकारका अर्थ] दुष्ट होता है यह [पीछेसे अनुवृत्ति द्वारा या आक्षेप द्वारा] सम्बद्ध होता है । क्रमशः [उन सबके उदाहरण] आगे देते हैं, जैसे—

१ अत्यन्त विस्तीर्ण गगन-मार्गमें [प्रतिक्षण] चलते रहनेके कारण विश्रामसुखसे

अत्रातिविततत्वादयोऽनुपादानेऽपि प्रतिपाद्यमानार्थं न बाधन्त इत्यपुष्टाः, न त्वसङ्गताः पुनरुक्ता वा ।

(२) सदा मध्ये यासामियममृतनिस्यन्दसुरसा
सरस्वत्युद्दामा वहति बहुमार्गा परिमलम् ।
प्रसादं ता एता घनपरिचिताः केन महतां
महाकाव्यव्योम्नि स्फुरितमधुरा यान्तु रुचयः ॥ २५७ ॥

परित्याग कर देनेवाले और वायुके द्वारा जिसका सौरभ प्रसारित किया जा रहा है, इस प्रकारके कमलसमुदायको विकसित करनेवाले सूर्य सर्वोत्कर्षशाली हैं ॥२५६॥

यहाँ अतिवितत आदि [आकाशके विशेषणों] का ग्रहण यदि न किया जाय तो भी प्रतीत होनेवाले अर्थमें कोई बाधा नहीं होती है। इसलिए [अतिविततत्वादि विशेषणोंका उपयोग न होनेसे वे] अपुष्टार्थ हैं। असङ्गत अथवा पुनरुक्त नहीं है।

२. [कष्टार्थदोषका उदाहरण देते हैं।

आकाशके समान [विस्तीर्ण] महाकाव्यमें अत्यन्त परिचित [सदैव महाकाव्योंका अनुशीलन करनेवाले] महानुभावोंको काव्यरसका आस्वादन करानेवाली [स्फुरित-मधुराः] जिन रुचियोंमें अमृत [सदृश काव्यरस]के प्रवाहसे सुरस और ['वक्रोक्ति-जीवित'के अनुसार विचित्र, मध्यम तथा सुकुमाररूप तीन] अनेक मार्गोंसे प्रवाहित होनेवाली यह उद्दाम सरस्वती [नदीके समान कवि-भारती] काव्यरसास्वादका अनुभव कराती रहती है [काव्यमर्मज्ञ सहृदय महानुभावोंकी] वे रुचियाँ [काव्यके अतिरिक्त अन्य] किस [साधन] से आनन्दलाभ कर सकती हैं ? [अर्थात् काव्यमर्मज्ञ और निरन्तर काव्योंका अनुशीलन करनेवाले सहृदयोंको काव्यानुशीलनसे अधिक आनन्द कहीं प्राप्त नहीं हो सकता है]।

[श्लोकका दूसरा अर्थ इस प्रकार है] महाकाव्यमें सदा [अन्त्य [illegible] तथा आह्लाददायक] आकाशमें [बहुत ऊँचे उड़नेवाले] मेघोंके समीप [illegible] [घन-परिचिताः] मधुर कोमल प्रकाश देनेवाली नक्षत्रमण्डलकी [महतां] वे [illegible] कान्तियाँ जिनके बीच अमृतके प्रवाहसे आह्लादजनक [illegible] [उद्दामा] बहुमार्गा, अनेक मार्गोंसे प्रवाहित होनेवाली यह [illegible], आकाशगङ्गा सुन्दर प्रकाशधारा [परिमल] को प्रवाहित करती है वे [illegible] नक्षत्रमण्डलकी कान्तियाँ] अन्य किस साधनसे अधिक सौन्दर्य [प्रसाद] को [illegible] सकती हैं [अर्थात् रात्रिके समय आकाशमें छिटके हुए तारोंके [illegible] आकाशगङ्गाकी धारासे उस नक्षत्रमण्डलकी जो अपूर्व शोभा हो जाती है, [illegible] उसको अन्य किसी प्रकारसे प्राप्त नहीं हो सकता है। इसी प्रकार [illegible] परायण सहृदय महानुभावोंको काव्यामृतरसको प्रवाहित करनेवाली [illegible] बहुमार्गा सरस्वतीसे जो आनन्द प्राप्त होता है, उस आनन्द [illegible] नहीं हो सकता है] ॥ २५७ ॥

अत्र यासां कविरुचीनां मध्ये सुकुमारविचित्रमध्यमात्मकत्रिमार्गा भारती चमत्कारं वहति ताः गम्भीरकाव्यपरिचिताः कथमितरकाव्यवत्प्रसन्ना भवन्तु । यासामादित्यप्रभाणां मध्ये त्रिपथगा वहति ताः मेघपरिचिताः कथं प्रसन्ना भवन्तीति संक्षेपार्थः ।

(३) जगति जयिनस्ते ते भावा नवेन्दुकलादयः
प्रकृतिमधुराः सन्त्येवान्ये मनो मदयन्ति ये ।
मम तु यदियं याता लोके विलोचनचन्द्रिका
नयनविषयं जन्मन्येकः स एव महोत्सवः ॥ २५८ ॥

ग्रन्थकारने कष्टार्थदोषके रूपमें इस श्लोकको उधृत किया है, सो सचमुच ही यह श्लोक बड़ा ही क्लिष्ट है । इसका अर्थ बड़ी कठिनतासे समझमें आता है, प्राचीन टीकाकारोंने 'घनपरिचिताः' मेघोंसे आच्छादित 'महता' द्वादश आदित्योंकी 'रुचयः' प्रभा किस प्रकार स्वच्छ हो सकती है, इस प्रकारकी दूसरी व्याख्या की है । परन्तु यह व्याख्या नितान्त असङ्गत है । प्रतीयमान अर्थका प्रस्तुत अर्थके साथ सामान्यतः उपमानोपमेयभाव सम्बन्ध होता है । मेघाच्छन्न सूर्यकी कान्तिवाले अर्थका प्रकृत अर्थके साथ उपमानोपमेयभाव सम्बन्ध नहीं हो सकता है । अतः यह अर्थ सङ्गत नहीं हो सकता है । इसकी अपेक्षा रात्रिमें खिली हुई नक्षत्रमालावाला अर्थ अधिक सुन्दर है । उसके बीच त्रिपथगा आकाशगङ्गा प्रवाहित हो रही है । वही उस नक्षत्रमालाको सौन्दर्य प्रदान करती है । 'घनपरिचिताः'का अर्थ मेघोंसे आच्छादित नहीं, अपितु घनतम ऊँचे शरत्कालीन श्वेत बादलोंसे युक्त अथवा अत्यन्त परिचित प्रतिदिन दिखलायी देनेवाली, बहुश. अनुभूत आदि अर्थ हो सकते हैं । इस अर्थका प्रस्तुत अर्थके साथ उपमानोपमेयभावसम्बन्ध भी बन सकता है । अतः यही इसका दूसरे पक्षमें सुसङ्गत अर्थ है ।

जिन कविरुचियोंके मध्यमें ['वक्रोक्तिजीवित'के निर्माता कुन्तक द्वारा प्रतिपादित] सुकुमार, विचित्र तथा मध्यमरूप तीनों मार्गोंमें चलनेवाली भारती चमत्कारको उत्पन्न करती है । गम्भीर काव्योंसे परिचित वे साधारण काव्यके समान सुबोध [प्रसन्न] कैसे हो सकती है । [यह प्रकृत पक्षमें अर्थ है । दूसरे पक्षमें] जिन आदित्य प्रभाओंके मध्यमें त्रिपथगा आकाशगङ्गा बहती है वे मेघोंसे आच्छादित होनेपर कैसे स्वच्छ हो सकती है । यह संक्षेपमें [इस श्लोकका] अर्थ है ।

इन दोनों ही पक्षोंमें [illegible] प्रतीत होती है । [illegible] अर्थ न देकर [illegible] है ।

[illegible]

३ [यह श्लोक 'मालतीमाधव'के प्रथम अङ्कमें दिया गया है । [illegible] कि—] नवीन चन्द्रमाकी कला आदि वे [प्रसिद्ध] पदार्थ संसारमें [illegible] सर्वोत्कर्षयुक्त [illegible] । और जो [illegible] पदार्थ भी [illegible] मनको आनन्दित करते हैं [illegible] । परन्तु [illegible]

[illegible]

[illegible] चन्द्रिकात्वशुत्कर्षार्थमारोपयतीति [illegible] ।

(४घ) कृतमनुमतमित्यादि ॥ २५९ ॥

[illegible] अर्जुनेति, भवद्भिरिति [illegible] सभीमकिरीटिनामिति किरीटिपदार्थः पुनरुक्तः । यथा वा—

(४ङ) अस्त्रज्वालावलीढप्रतिबलजलधेरन्तरौर्वायमाणे
सेनानाथे स्थितेऽस्मिन्मम पितरि गुरौ सर्वधन्वीश्वराणाम् ।
कर्णाऽलं सम्भ्रमेण व्रज कृप ! समरं मुञ्च हार्दिक्य शङ्कां
ताते चापद्वितीये वहति रणधुरं को भयस्यावकाशः ॥ २६० ॥

अत्र चतुर्थपादस्यार्थः पुनरुक्तः ।

(५) भूपालरत्न ! निर्दैन्यप्रदानप्रथितोत्सव ! ।
विश्राणय तुरङ्गं मे मातङ्गं वा मदालसम् ॥ २६१ ॥

अत्र मातङ्गस्य प्राङ्निर्देशो युक्तः ।

यहाँ जिस [माधव]ने [पूर्वार्द्धमें] चन्द्रकला आदिकी व्यर्थता [वर्णित की] है वही [अपनी प्रियतमा मालतीमें] उत्कर्ष [दिखलाने] के लिए चन्द्रिकात्वका आरोप कर रहा है, यह बात परस्पर विरुद्ध है, [अतः इसमें व्याहतार्थत्व दोष है]।

४. पुनरुक्तत्व [अर्थदोष]

(४क) 'कृतमनुमतं' इत्यादि [उदाहरण सं० ३९ पर पहिले आ चुका है] ॥२५९॥

यहाँ [श्लोककी अवतरणिकामें उसके पहिले] अर्जुन ! अर्जुन ! और 'भवद्भिः' यह पद सुननेके बाद 'सभीमकिरीटिनां' में [अर्जुनके वाचक] 'किरीटि' पदका अर्थ पुनरुक्त [हो गया] है। [अत यह पुनरुक्तरूप अर्थदोषका उदाहरण है]।

अथवा जैसे—

(४ख) अस्त्रोंकी ज्वालाओंसे व्याप्त शत्रुसेनाके लिए वडवानलके समान [विशोषक या विनाशक] सारे धनुर्धारियोंके गुरु, मेरे पिता [द्रोणाचार्य] के सेनापति रहते हुए हे कर्ण ! डरनेकी आवश्यकता नहीं है, हे कृपाचार्य, [आप निर्भय होकर] युद्धमे जाओ और हे कृतवर्मन् [हार्दिक्य अर्थात् कृतवर्मा] शङ्का [भय] का त्याग कर दो, पिताजी [अर्थात् द्रोणाचार्य] के धनुष हाथमें लेकर युद्धका सञ्चालन करनेपर भयका कौन-सा अवसर है ? ॥ २६० ॥

इसमें चतुर्थ पादका अर्थ पुनरुक्त है।

५. दुष्क्रमत्व [अर्थदोष]

(५) दैन्याभावको प्रदान करनेके लिए प्रसिद्ध [प्रथितोत्सव] हे नृपशिरोमणे ! मुझे घोड़ा अथवा मदमाता हाथी प्रदान कीजिये ॥ २६१ ॥

यहाँ हाथीका निर्देश पहिले करना चाहिये था।

अत्र यासां कविरुचीनां मध्ये सुकुमारविचित्रमध्यमात्मकत्रिमार्गा भारती चमत्कारं वहति ताः गम्भीरकाव्यपरिचिताः कथमितरकाव्यवत्प्रसन्ना भवन्तु । यासामादित्यप्रभाणां मध्ये त्रिपथगा वहति ताः मेघपरिचिताः कथं प्रसन्ना भवन्तीति संक्षेपार्थः ।

(३) जगति जयिनस्ते ते भावा नवेन्दुकलादयः
प्रकृतिमधुराः सन्त्येवान्ये मनो मदयन्ति ये ।
मम तु यदियं याता लोके विलोचनचन्द्रिका
नयनविषयं जन्मन्येकः स एव महोत्सवः ॥ २५८ ॥

ग्रन्थकारने कष्टार्थदोषके रूपमें इस श्लोकको उद्धृत किया है, सो सचमुच ही यह श्लोक बड़ा ही क्लिष्ट है । इसका अर्थ बड़ी कठिनतासे समझमें आता है, प्राचीन टीकाकारोंने 'घनपरिचिताः' मेघोंसे आच्छादित 'महतः' द्वादश आदित्योंकी 'रुचयः' प्रभा किस प्रकार स्वच्छ हो सकती है, इस प्रकारकी दूसरी व्याख्या की है । परन्तु यह व्याख्या नितान्त असङ्गत है । प्रतीयमान अर्थका प्रस्तुत अर्थके साथ सामान्यतः उपमानोपमेयभाव सम्बन्ध होता है । मेघाच्छन्न सूर्यकी कान्तिवाले अर्थका प्रकृत अर्थके साथ उपमानोपमेयभाव सम्बन्ध नहीं हो सकता है । अतः यह अर्थ सङ्गत नहीं हो सकता है । उसकी अपेक्षा रात्रिमें खिली हुई नक्षत्रमालावाला अर्थ अधिक सुन्दर है । उसके बीच त्रिपथगा आकाशगङ्गा प्रवाहित हो रही है । वही उस नक्षत्रमालाको सौन्दर्य प्रदान करती है । 'घनपरिचिताः'का अर्थ मेघोंसे अच्छादित नहीं, अपितु बहुत ऊँचे शरत्कालीन श्वेत बादलोंसे युक्त अथवा अत्यन्त परिचित प्रतिदिन दिखलायी देनेवाली, बहुशः अनुभूत आदि अर्थ हो सकते हैं । इस अर्थका प्रस्तुत अर्थके साथ उपमानोपमेयभावसम्बन्ध भी बन सकता है । अतः यही उसका दूसरे पक्षमें सुसङ्गत अर्थ है ।

जिन कविरुचियोंके मध्यमें ['वक्रोक्तिजीवित'के निर्माता कुन्तक द्वारा प्रतिपादित] सुकुमार, विचित्र तथा मध्यमरूप तीनों मार्गोंमें चलनेवाली भारती चमत्कारको उत्पन्न करती है । गम्भीर काव्योंसे परिचित वे साधारण काव्यके समान सुबोध [प्रसन्न] कैसे हो सकती हैं । [यह प्रकृत पक्षमें अर्थ है । दूसरे पक्षमें] जिन आदित्य प्रभाओंके मध्यमें त्रिपथगा आकाशगङ्गा बहती है वे मेघोंसे आच्छादित होनेपर कैसे स्वच्छ हो सकती है । यह संक्षेपमें [इस श्लोकका] अर्थ है ।

[illegible]

[illegible]

३ [illegible]

अत्रेन्दुकलादयो यं प्रति पस्पशप्रायाः स एव चन्द्रिकात्वमुत्कर्षार्थमारोपयतीति व्याहतत्वम् ।

(४क) कृतमनुमतमित्यादि ॥ २५९ ॥

अत्र अर्जुन अर्जुनेति, भवद्भिरिति चोक्ते सभीमकिरीटिनामिति किरीटिपदार्थः पुनरुक्तः । यथा वा—

(४ख) अस्त्रज्वालावलीढप्रतिबलजलधेरन्तरौर्वायमाणे
सेनानाथे स्थितेऽस्मिन्मम पितरि गुरौ सर्वधन्वीश्वराणाम् ।
कर्णाऽलं सम्भ्रमेण व्रज कृप ! समरं मुञ्च हार्दिक्य शङ्कां
ताते चापद्वितीये वहति रणधुरं को भयस्यावकाशः ॥ २६० ॥

अत्र चतुर्थपादवाक्यार्थः पुनरुक्तः ।

(५) भूपालरत्न ! निर्दैन्यप्रदानप्रथितोत्सव ! ।
विश्राणय तुरङ्गं मे मातङ्गं वा मदालसम् ॥ २६१ ॥

अत्र मातङ्गस्य प्राङ्निर्देशो युक्तः ।

यहाँ जिस [माधव]ने [पूर्वार्द्धमें] चन्द्रकला आदिकी व्यर्थता [वर्णित की] है वह ही [अपनी प्रियतमा मालतीमें] उत्कर्ष [दिखलाने] के लिए चन्द्रिकात्वका आरोप कर रहा है, यह बात परस्पर विरुद्ध है, [अतः इसमें व्याहतार्थत्व दोष है]।

४. पुनरुक्तत्व [अर्थदोष]

(४क) 'कृतमनुमतं' इत्यादि [उदाहरण सं० ३९ पर पहिले आ चुका है] ॥२५९॥

यहाँ [श्लोककी अवतरणिकामें उसके पहिले] अर्जुन ! अर्जुन ! और 'भवद्भिः' यह पद कहनेके बाद 'सभीमकिरीटिनां' में [अर्जुनके वाचक] 'किरीटि' पदका अर्थ पुनरुक्त [हो गया] है। [अतः यह पुनरुक्ततारूप अर्थदोषका उदाहरण है]।

अथवा जैसे—

(४ ख) अस्त्रोंकी ज्वालाओंसे व्याप्त शत्रुसेनाके लिए बड़वानलके समान [शोषक या विनाशक] सारे धनुर्धारियोंके गुरु, मेरे पिता [द्रोणाचार्य] के सेनापति रहते हुए हे कर्ण ! डरनेकी आवश्यकता नहीं है, हे कृपाचार्य, [आप निर्भय होकर] युद्धमें जाओ और हे कृतवर्मन् [हार्दिक्य अर्थात् कृतवर्मा] शङ्का [भय] का त्याग कर दो। पिताजी [अर्थात् द्रोणाचार्य] के धनुष हाथमें लेकर युद्धका सञ्चालन करने पर भयका कौन-सा अवसर है ? ॥ २६० ॥

इसमें चतुर्थ पादका अर्थ पुनरुक्त है।

५. दुष्क्रमत्व [अर्थदोष]

(५) दैन्याभावको प्रदान करनेके लिए प्रसिद्ध [प्रतिष्ठित] हे नृपतिरत्न ! मुझे घोड़ा अथवा मदमाता हाथी प्रदान कीजिए ॥ २६१ ।

यहाँ हाथीका निर्देश पहिले करना चाहिए था।

(६) स्वपिति यावदयं निकटे जनः स्वपिमि तावदहं किमपैति ते ।
तदयि ! साम्प्रतमाहर कूर्पकं त्वरितमूरुमुदञ्चय कुञ्चितम् ॥२६२॥

एषोऽविदग्धः ।

(७) 'मात्सर्यमुत्सार्य' इत्यादि ॥ २६३ ॥

अत्र प्रकरणाद्यभावे सन्देहः शान्तशृङ्गार्यन्यतराभिधाने निश्चयः ।

(८) गृहीतं येनासीः परिभवभयान्नोचितमपि
प्रभावाद्यस्याभून्न खलु तव कश्चिन्न विषयः ॥
परित्यक्तं तेन त्वमसि सुतशोकान्न तु भयात्
विमोक्ष्ये शस्त्र ! त्वामहमपि यतः स्वस्ति भवते ॥ २६४ ॥

---

६. ग्राम्यत्व [अर्थदोष]

इस प्रकार दुष्क्रमत्व दोषका निरूपण करनेके बाद छठे अर्थदोष ग्राम्यत्वका उदाहरण देते हैं—

जबतक समीपमें लेटा हुआ यह आदमी सो जाये तबतक [इसको दिखलानेके लिए सोनेका झूटा प्रदर्शन करनेके लिए] सो जाती हूँ, क्या हानि है, [तबतक तुम भी सो जानेका बहाना करनेके लिए सिरके नीचे] कोहनी लगा लो और जल्दी ही इन सिकुड़ी हुई टाँगोंको फैला दो [इस प्रकार जबतक यह पासका आदमी जग रहा है तब तक हम दोनोंको सो जाना चाहिये] ॥ २६२ ॥

यह ग्राम्य [अविदग्ध अर्थका उदाहरण] है।

७. सन्दिग्धत्व [अर्थदोष]

इस प्रकार ग्राम्यत्वका उदाहरण देनेके बाद सप्तम अर्थदोष सन्दिग्धत्वका उदाहरण देते हैं—

'मात्सर्यमुत्सार्य' इत्यादि [अर्थ उदाहरण सं० १३३ पर देखो] ॥२६३॥

यहाँ प्रकरणादिके अभावमें [क्या पर्वतकी उपत्यकाओंका सेवनीयत्व विवक्षित है, अथवा स्त्रियोंके नितम्बोंका] यह सन्देह है। शान्त अथवा शृङ्गारमें किसी एकके [वक्तारूपमें] कथन कर देनेपर तो [एक पक्षमें] निश्चय हो सकता है।

८. निर्हेतुत्व [अर्थदोष]

इस प्रकार सन्दिग्धत्व दोषका निरूपण करनेके बाद निर्हेतु नामक अष्टम अर्थदोषका उदाहरण देते हैं। 'वेणीसंहार' नाटकमें द्रोणाचार्यके मारे जानेके बाद अश्वत्थामा कह रहा है कि—

हे शस्त्र ! [ब्राह्मणके लिए तुम्हारा धारण करना] उचित न होनेपर भी [दूसरोंसे] तिरस्कृत होनेके भयसे [अपनेको बचानेके लिए] जिन [पिताजी]ने तुमको ग्रहण किया था, और जिन [द्रोणाचार्य] के प्रभावसे [संसारमें] कोई भी तुम्हारा अविषय नहीं था [कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं था, जिसपर तुम्हारा प्रहार न हो सकता हो] उन्होंने भयसे नहीं अपितु [अश्वत्थामाकी मृत्युका झूटा समाचार सत्यवादी युधिष्ठिरके मुखसे सुनकर] पुत्रके शोकके कारण तुम्हारा परित्याग कर दिया। इसलिए [हे शस्त्र] मैं भी तुमको छोड़ रहा हूँ, [जाओ] तुम्हारा कल्याण हो ॥ २६४ ॥

अत्र शस्त्रविमोचने हेतुर्नोपात्तः ।

(९क) इदं ते केनोक्तं कथय कमलातङ्कवदने !
यदेतस्मिन् हेम्नः कटकमिति धत्से खलु धियम् ।
इदं तद्दुःसाधाक्रमणपरमास्त्रं स्मृतिभुवा
तव प्रीत्या चक्रं करकमलमूले विनिहितम् ॥ २६५ ॥

अत्र कामस्य चक्रं लोकेऽप्रसिद्धम् ।

यथा वा—

(९ख) उपपरिसरं गोदावर्याः परित्यजताध्वगाः !
सरणिमपरो मार्गस्तावद्भवद्भिरवेक्ष्यताम् ।
इह हि विहितो रक्ताशोकः कयापि हताशया
चरणनलिनन्यासोदञ्चन्नवाङ्कुरकञ्चुकः ॥ २६६ ॥

अत्र पादाघातेनाशोकस्य पुष्पोद्गमः कविषु प्रसिद्धो न पुनरंकुरोद्गमः ।

यहाँ द्वितीय [अर्थात् अपने] शस्त्रत्यागका हेतु नहीं कहा [अतः निर्हेतुत्व दोष है] ।

९. प्रसिद्धिविरुद्धता [अर्थदोष]

(९क) [कमलोंको जिससे आतङ्क अर्थात् भय हो वह चन्द्रमा कमलातङ्क हुआ उसके समान वदनवाली] हे चन्द्रवदने, तुमसे यह किसने कहा कि [हाथ मे पहिने हुए इस कङ्कनको] तुम सोनेका कङ्कनमात्र समझो [मेरी दृष्टिमे तो वह कङ्कन नहीं अपितु कामदेवको जिनपर विजय प्राप्त करना या आक्रमण करना कठिन है, उन] दुःसाध्याक्रमण [तरुण जितेन्द्रिय पुरुषोंको जीतने]के लिए महास्त्र [के रूपमें] कामदेवने बड़े प्रेमसे तुम्हारे करकमलके मूलमे यह चक्र स्थापित किया है [तुम्हारे हाथमे दिया है। अर्थात् यह कङ्कन नहीं, अपितु जितेन्द्रिय तरुणोंके वशीकरणके लिए दिया हुआ कामदेवका चक्ररूप महास्त्र है] ॥ २६५ ॥

यहाँ [चक्ररूप अस्त्रका वर्णन है, परन्तु] कामका चक्र [रूप अस्त्र] लोकमें प्रसिद्ध नहीं है [पुष्पबाण प्रसिद्ध है, अतः यह प्रसिद्धिविरुद्धतादोष है] ।

(९ख) अथवा [इसी प्रसिद्धिविरुद्धताका दूसरा उदाहरण] ।

हे पथिको ! गोदावरीके किनारेके रास्तेको छोड़ दो और [अपने चलनेके लिए] आप लोग कोई दूसरा रास्ता निकाल लो। क्योंकि पहिले मार्गमे किसी अभागिनीने अपने चरणकमलोंके आघात या आधानसे रक्ताशोकके वृक्षको निकलते हुए नवीन अङ्कुरोंसे आच्छादित कर दिया है ॥ २६६ ॥

यहाँ [सुन्दरियोंके] पैरोंके प्रहारसे अशोकमें फूलोंका निकलना कवियोंमें [कवि-समयगत] प्रसिद्ध है, अङ्कुरोंका निकलना [कविसमयगत] नहीं है [अतः अङ्कुरोद्गमका यह वर्णन प्रसिद्धिविरुद्ध है] ।

(६) स्वपिति यावदयं निकटे जनः स्वपिमि तावदहं किमपैति ते।
तदयि ! साम्प्रतमाहर कूर्पकं त्वरितमूरुमुदञ्चय कुञ्चितम् ॥२६२॥

एषोऽविदग्धः।

(७) 'मात्सर्यमुत्सार्य' इत्यादि ॥ २६३ ॥

अत्र प्रकरणाद्यभावे सन्देहः शान्तशृङ्गार्यन्यतराभिधाने निश्चयः।

(८) गृहीतं येनासीः परिभवभयान्नोचितमपि
प्रभावाद्यस्याभून्न खलु तव कश्चिन्न विषयः ॥
परित्यक्तं तेन त्वमसि सुतशोकान्न तु भयात्
विमोक्ष्ये शस्त्र ! त्वामहमपि यतः स्वस्ति भवते ॥ २६४ ॥

६. ग्राम्यत्व [अर्थदोष]

इस प्रकार दुष्क्रमत्व दोषका निरूपण करनेके बाद छठे अर्थदोष ग्राम्यत्वका उदाहरण देते हैं—

जबतक समीपमें लेटा हुआ यह आदमी सो जाये तबतक [इसको दिखलानेके लिए सोनेका झूठा प्रदर्शन करनेके लिए] सो जाती हूँ, क्या हानि है, [तबतक तुम भी सो जानेका बहाना करनेके लिए सिरके नीचे] कोहनी लगा लो और जल्दी ही इन सिकुड़ी हुई टाँगोंको फैला दो [इस प्रकार जबतक यह पासका आदमी जग रहा है, तब तक हम दोनोंको सो जाना चाहिये] ॥ २६२ ॥

यह ग्राम्य [अविदग्ध अर्थका उदाहरण] है।

७. सन्दिग्धत्व [अर्थदोष]

इस प्रकार ग्राम्यत्वका उदाहरण देनेके बाद सप्तम अर्थदोष सन्दिग्धत्वका उदाहरण देते हैं—

'मात्सर्यमुत्सार्य' इत्यादि [अर्थ उदाहरण सं० १३३ पर देखो] ॥२६३॥

यहाँ प्रकरणादिके अभावमें [क्या पर्वतकी उपत्यकाओंका सेवनीयत्व विवक्षित है, अथवा स्त्रियोंके नितम्बोंका] यह सन्देह है। शान्त अथवा शृङ्गारीमें किसी एकके [वक्तारूपमें] कथन कर देनेपर तो [एक पक्षमें] निश्चय हो सकता है।

८. निर्हेतुत्व [अर्थदोष]

इस प्रकार सन्दिग्धत्व दोषका निरूपण करनेके बाद निर्हेतु नामक अष्टम अर्थदोषका उदाहरण देते हैं। 'वेणीसंहार' नाटकमें द्रोणाचार्यके मारे जानेके बाद अश्वत्थामा कह रहा है कि—

हे शस्त्र ! [ब्राह्मणके लिए तुम्हारा धारण करना] उचित न होनेपर भी [दूसरोंसे] तिरस्कृत होनेके भयसे [अपनेको बचानेके लिए] जिन [पिताजी]ने तुमको ग्रहण किया था, और जिन [द्रोणाचार्य] के प्रभावसे [संसारमें] कोई भी तुम्हारा अविषय नहीं था [कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं था, जिसपर तुम्हारा प्रहार न हो सकता हो] उन्होंने भयसे नहीं अपितु [अश्वत्थामाकी मृत्युका झूठा समाचार सत्यवादी युधिष्ठिरके मुखसे सुनकर] पुत्रके शोकके कारण तुम्हारा परित्याग कर दिया। इसलिए [हे शस्त्र] मैं भी तुमको छोड़ रहा हूँ, [जाओ] तुम्हारा कल्याण हो ॥ २६४ ॥

अत्र शस्त्रविमोचने हेतुर्नोपात्तः ।

(९क) इदं ते केनोक्तं कथय कमलातङ्कवदने

यदेतस्मिन् हेम्नः कटकमिति धत्से खलु धियम् ।

इदं तद्दुःसाध्याक्रमणपरमास्त्रं स्मृतिभुवा

तव प्रीत्या चक्रं करकमलमूले विनिहितम् ॥ २६५ ॥

अत्र कामस्य चक्रं लोकेऽप्रसिद्धम् ।

यथा वा—

(९ख) उपपरिसरं गोदावर्याः परित्यजताध्वगाः

सरणिमपरो मार्गस्तावद्भवद्भिरवेक्ष्यताम् ।

इह हि विहितो रक्ताशोकः कयापि हताशया

चरणनलिनन्यासोदञ्चन्नवाङ्कुरकञ्चुकः ॥ २६६ ॥

अत्र पादाघातेनाशोकस्य पुष्पोद्गमः कविषु प्रसिद्धो न पुनरंकुरोद्गमः ।

यहाँ द्वितीय [अर्थात् अपने] शस्त्रत्यागका हेतु नहीं कहा [अतः निर्हेतुत्व दोष है]।

९. प्रसिद्धिविरुद्धता [अर्थदोष]

(९क) [कमलोको जिससे आतङ्क अर्थात् भय हो वह चन्द्रमा कमलातङ्क हुआ उसके समान वदनवाली] हे चन्द्रवदने, तुमसे यह किसने कहा कि [हाथ मे पहिने हुए इस कङ्कनको] तुम सोनेका कङ्कनमात्र समझो [मेरी दृष्टिमे तो वह कङ्कन नहीं अपितु कामदेवको जिनपर विजय प्राप्त करना या आक्रमण करना कठिन है, उन] दुःसाध्याक्रमण [तरुण जितेन्द्रिय पुरुषोंको जीतने]के लिए महास्त्र [के रूपमे] कामदेवने बड़े प्रेमसे तुम्हारे करकमलके मूलमें यह चक्र स्थापित किया है [तुम्हारे हाथमे दिया है। अर्थात् यह कङ्कन नहीं, अपितु जितेन्द्रिय तरुणोंके वशीकरणके लिए दिया हुआ कामदेवका चक्ररूप महास्त्र है] ॥ २६५ ॥

यहाँ [चक्ररूप अस्त्रका वर्णन है, परन्तु] कामका चक्र [रूप अस्त्र] लोकमे प्रसिद्ध नहीं है [पुष्पबाण प्रसिद्ध है, अतः यह प्रसिद्धिविरुद्धतादोष है]।

(९ख) अथवा [इसी प्रसिद्धिविरुद्धताका दूसरा उदाहरण]।

हे पथिको ! गोदावरीके किनारेके रास्तेको छोड़ दो और [अपने चलनेके लिए] आप लोग कोई दूसरा रास्ता निकाल लो। क्योंकि पहिले मार्गमे किसी अभागिनीने अपने चरणकमलोंके आघात या आधानसे रक्ताशोकके वृक्षको निकलते हुए नवीन अङ्कुरोंसे आच्छादित कर दिया है ॥ २६६ ॥

यहाँ [सुन्दरियोंके] पैरोंके प्रहारसे अशोकमें फूलोंका निकलना कवियोंमे [कविसमयगत] प्रसिद्ध है, अङ्कुरोंका निकलना [कविसमयगत] नहीं है [अतः अङ्कुरोद्गमका यह वर्णन प्रसिद्धिविरुद्ध है]।

(९ग) सुसितवसनालङ्कारायां कदाचन कौमुदी-
महसि सुदृशि स्वैरं यान्त्यां गतोऽस्तमभूद्विधुः ।
तदनु भवतः कीर्तिः केनाप्यगीयत येन सा
प्रियगृहमगान्मुक्ताशङ्का क नासि शुभप्रदः ॥ २६७ ॥

अत्रामूर्तापि कीर्तिः ज्योत्स्नावत्प्रकाशरूपा कथितेति लोकविरुद्धमपि कविप्रसिद्धेर्न दुष्टम् ।

(१०क) सदा स्नात्वा निशीथिन्यां सकलं वासरं बुधः ।
नानाविधानि शास्त्राणि व्याचष्टे च शृणोति च ॥ २६८ ॥

अत्र ग्रहोपरागादिकं विना रात्रौ स्नानं धर्मशास्त्रेण विरुद्धम् ।

(१०ख) अनन्यसदृशं यस्य बलं बाह्वोः समीक्ष्यते ।
षाड्गुण्यानुसृतिस्तस्य सत्यं सा निष्प्रयोजना ॥ २६९ ॥

एतद् अर्थशास्त्रेण ।

[इसी प्रसिद्धिविरुद्धताका प्रत्युदाहरण देते है—]

(९ग) कभी चाँदनीके प्रकाशमे अत्यन्त शुभ्र वस्त्र तथा अलङ्कारोंसे सुसज्जित सुन्दरीके अभिसार करते समय [प्रियतमके घर जाते समय] चन्द्रमा छिप गया। [तब अन्धकार हो जानेसे उसमें सफेद वस्त्रोके चमकनेसे वह भयभीत हुई] उसके बाद किसीने आपकी कीर्तिका गान किया और [उसका शुभ्र प्रकाश चारो ओर फैल जानेसे] वह निःशङ्क होकर प्रियतमके घरको चली गयी। आप कहाँ कल्याणकारी नही हैं ॥२६७॥

यहाँ अमूर्त कीर्तिको ज्योत्स्नाके प्रकाशके समान [शुभ्र] कहा है, यह लोकविरुद्ध होनेपर भी [कविसमयगत] कवियोमें प्रसिद्ध होनेसे दोप नही है।

इस प्रकार प्रसिद्धिविरुद्धताके दो उदाहरण और एक प्रत्युदाहरण देनेके बाद भिन्न भिन्न शास्त्रोके विरोधको दिखलानेके लिए पहिले धर्मशास्त्रके विपरीत, फिर अर्थशास्त्र, फिर कामशास्त्र और उसके बाद मोक्षशास्त्रके विपरीत, इस शैलीसे विद्याविरुद्धके चार उदाहरण देते हैं—

१०. विद्याविरुद्धता [अर्थदोप]

(१०क) वह विद्वान् सदा [मध्य] रात्रिमें स्नान करके सारे दिन नाना प्रकारके शास्त्रोंकी व्याख्या करता है, और [दूसरोंकी नयी की गयी व्याख्याको अथवा मूल शास्त्रको] सुनता है ॥ २६८ ॥

यहाँ ग्रहण [ग्रहोपरागादि] विशेप कारणोंके विना रात्रिमें स्नान करना धर्मशास्त्रके विरुद्ध है—[रात्रौ स्नानं न कुर्वीत राहोरन्यत्र दर्शनात्]।

(१०ख) जिस [राजा अथवा पुरुप] के बाहुओंमें अतुल्य बल प्रतीत होता है [या पाया जाता है] उसके लिए [नीतिशास्त्रमें प्रसिद्ध सन्धि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय और द्वैधीभावरूप] षाड्गुण्यका प्रयोग सचमुच ही व्यर्थ है ॥ २६९ ॥

यह अर्थशास्त्रसे [राजनीतिशास्त्रसे विपरीत होनेसे विद्याविरुद्धदोप] है।

(१०ग) विद्यार्थी कामे पत्युर्मन्मथनाशकारणमक्षता ।
तस्याः कटाक्षेण तुलां करजोल्लेखमालिकाम् ॥ २७० ॥

अत्र केयूरपदे नखक्षतं न विहितमिति, एतत्कामशास्त्रेण ।

(१०घ) अष्टाङ्गयोगपरिशीलनकीलनेन दुःसाध्यसिद्धिसविधं विदधद्विदूरे ।
आसादयन्नभिमतामधुना विवेकख्यातिं समाधिधनमौलिमणिर्विमुक्तः ॥ २७१ ॥

अत्र विवेकख्यातिस्ततः सम्प्रज्ञातसमाधिः, पश्चादसम्प्रज्ञातस्ततो मुक्तिर्न तु विवेकख्यातौ, एतद् योगशास्त्रेण । एवं विद्यान्तरैरपि विरुद्धमुदाहार्यम् ।

(११) प्राप्ताः श्रियः सकलकामदुघास्ततः किं
दत्तं पदं शिरसि विद्विषतां ततः किम् ।
सन्तर्पिताः प्रणयिनो विभवैस्ततः किं
कल्पं स्थितं तनुभृतां तनुभिस्ततः किम् ॥२७२॥

अत्र ततः किमिति न नवीकृतम् ।

(१० ग) कामदेवकी क्रीड़ाभूमि [रूप] उस स्त्रीने बाजूबन्दोंको दूर करके [उनके स्थानपर] पतिके द्वारा उत्पादित नखक्षतोंकी मालाको धारण किया ॥ २७० ॥

['नखक्षतस्य स्थानानि कक्षौ वक्षस्तथा गलः । पार्श्वौ जघनमूरू च स्तनगण्ड-ललाटिका ॥' इस कामशास्त्रके वचनके अनुसार] बाजूबन्दके स्थानपर नखक्षतका विधान नहीं किया गया है, इसलिए यह कामशास्त्रसे विरुद्ध [होनेसे विद्याविरुद्ध] है ।

(१०घ) समाधि ही जिनका धन है, ऐसे योगियोंका शिरोमणि यह योगी अष्टाङ्ग योगके परिशीलन तथा अभ्यास [कीलन] से दुष्प्राप्य सिद्धि [अर्थात् मुक्ति] के समीप-वर्ती [असम्प्रज्ञात समाधि] को दूर करके [अर्थात् उसके बिना ही] अभिमत विवेक-ख्याति [प्रकृति-पुरुषके भेदज्ञान] को प्राप्त करते हुए अब मुक्त हो गया ॥ २७१ ॥

यहां पहले [प्रकृति-पुरुषके भेदके ज्ञानरूप] विवेकख्याति [होती है], उसके बाद सम्प्रज्ञात समाधि, उसके बाद असम्प्रज्ञात समाधि, उसके बाद मुक्ति होती है [यह योगशास्त्रका क्रम है], न कि विवेकख्याति होनेपर ही [मोक्ष हो जाता है । अतः] यह योगशास्त्रसे [विपरीत होनेसे विद्याविरुद्ध है] ।

इसी प्रकार अन्य शास्त्रोंके विपरीत उदाहरण भी दिये जा सकते हैं ।

११. अनवीकृतत्व [अर्थदोष]

विद्याविरुद्ध दोषके बाद अनवीकृतत्व ग्यारहवें अर्थदोषका निरूपण करते हैं ।

समस्त कामनाओंको पूर्ण करनेवाली सम्पत्ति प्राप्त कर ली तो क्या हुआ, शत्रुओंके सिरपर पैर रख लिया तो उससे क्या हुआ, सम्पत्तिसे अपने मित्रों को तृप्त कर दिया तो उससे क्या हुआ और शरीरधारियोंके शरीरसे कल्पपर्यन्त स्थिर बने रहे तो उससे भी क्या लाभ [आत्मज्ञानके बिना यह सब व्यर्थ है] ॥ २७२ ॥

इसमें [चारों चरणोंमें] 'ततः किं' [यह आया है] उसमें कोई नवीनता नहीं है ।

तत्तु यथा—

यदि दहत्यनिलोऽत्र किमद्भुतं यदि च गौरवमद्रिषु किं ततः ।
लवणमम्बु सदैव महोदधेः प्रकृतिरेव सतामविषादिता ॥ २७३ ॥

(१२) यत्रानुल्लिखितार्थमेव निखिलं निर्माणमेतद्विधे-
रुत्कर्षप्रतियोगिकल्पनमपि न्यक्कारकोटिः परा ।
याताः प्राणभृतां मनोरथगतीरुल्लंघ्य यत्सम्पद-
स्तस्याभासमणीकृताश्मसु मणेरश्मत्वमेवोचितम् ॥ २७४ ॥

वह [नवीकृतत्व] तो [इस प्रकार होता है] जैसे—

यदि अग्नि जलाता है तो इसमें आश्चर्यकी क्या बात है ? यदि पहाड़ोंमें गुरुता [भारीपन] है तो क्या हुआ ? समुद्रका पानी सदा खारी होता है और कभी दुःखी न होना यह सज्जनोंका स्वभाव ही है ॥ २७३ ॥

इसमें सब जगह नये-नये पदोंका प्रयोग किया है । अतः इसमें अनवीकृतत्व नहीं अपितु नवीकृतत्व ही है । अतः यह 'अनवीकृतत्व'का प्रत्युदाहरण है ।

चार प्रकारके परिवृत्त दोष

इस अनवीकृतत्व दोषके बाद अर्थदोषोंका परिगणन करनेवाली कारिकामें 'सनियमानियमविशेषाविशेषपरिवृत्ता.' यह एक लम्बा समस्तपद दिया है । इसमें चार अर्थदोषोंकी गणना एक साथ की गयी है । सनियम, अनियम, विशेष और अविशेष इन चारोंके साथमें पठित—'परिवृत्ता.' पद 'द्वन्द्वान्ते श्रूयमाण पद प्रत्येकमभिसम्बध्यते' इस नियमके अनुसार इन चारोंके साथ जुड़ता है । इसलिए सनियमपरिवृत्त, अनियमपरिवृत्त, विशेषपरिवृत्त और अविशेषपरिवृत्त ये चार प्रकारके अर्थ दोष इस पदके द्वारा प्रतिपादित किये गये हैं । इनमें सबसे पहिला दोष 'सनियमपरिवृत्त' है । इसका अभिप्राय यह है कि जहाँ नियम या अवधारण सहित बात कहनी चाहिये वहाँ बिना नियम या बिना अवधारणके वर्णन किया जाय तो वहाँ 'सनियमपरिवृत्त' दोष होता है । और जहाँ अनियमसे अर्थात् बिना अवधारणके बात कहनी उचित है वहाँ नियम या अवधारण करते हुए वर्णन किया जाय तो वह 'अनियमपरिवृत्त' दोष होगा । 'परिवृत्त' शब्दका अर्थ [illegible] है । [illegible] और [illegible] ये दोष एक-दूसरेके विरुद्ध हैं ।

१७. सनियमपरिवृत्त [अर्थदोष]

[illegible]

[illegible] [illegible] [illegible] प्रतीत [illegible] [illegible]

अत्र 'छायामात्रमणीकृताश्मसु मणेस्तस्याश्मतैवोचिता' इति सनियमत्वं वाच्यम् ।

(१३) वक्त्राम्भोजं सरस्वत्यधिवसति सदा शोण एवाधरस्ते
बाहुः काकुत्स्थवीर्यस्मृतिकरणपटुर्दक्षिणस्ते समुद्रः ।
वाहिन्यः पार्श्वमेताः क्षणमपि भवतो नैव मुञ्चन्त्यभीक्ष्णं
स्वच्छेऽन्तर्मानसेऽस्मिन् कथमवनिपते ! तेऽम्बुपानाभिलाषः ॥ २७५ ॥

अत्र शोण एव इति नियमो न वाच्यः ।

जिनकी अपेक्षा अच्छा है, उस प्रतियोगी] कीकल्पना करना भी जिसका परम अपमान है, जिसकी सामर्थ्य [सम्पत्ति] प्राणियोंके मनोरथोंकी गतिको भी पार कर गयी है [अर्थात् न केवल मनुष्य अपितु देवता आदि तक कोई भी जिस वस्तुकी मनमें सर्वोत्कृष्टरूपसे या प्राप्तव्यरूपसे कल्पना कर सकते हैं, कौस्तुभमणिकी सामर्थ्य उससे भी अधिक दे सकनेकी है]. जिनकी छायामात्रसे मणि बन जानेवाले पत्थरोंके [साथ तुलना आदि करनेकी अपेक्षा उनके] बीच उस [कौस्तुभ] मणिका पत्थर [रूपमें परिगणित] होना ही उचित है ॥ २७४ ॥

यहां [जिसकी] छायामात्रसे मणि बने हुए पत्थरोंमें उस मणिकी पत्थर-रूपता [से गणना] ही उचित है । इस प्रकार [नियमसूचक 'मात्र' पदको जोड़कर 'छायाभास'-के स्थानपर 'छायामात्र' इस प्रकारसे] सनियमत्व कहना चाहिये । [उस मात्र शब्दका प्रयोग न करनेसे यह 'सनियमपरिवृत्त' रूप अर्थदोषका उदाहरण बन गया है] ।

१३. अनियमपरिवृत्त [अर्थदोष]

आगे 'अनियमपरिवृत्त' अर्थात् जहाँ नियम नहीं करना चाहिये वहाँ नियम या अवधारणके प्रयोगका उदाहरण देते हैं । यह श्लोक बल्लाल विरचित 'भोजप्रबन्ध'से लिया गया है । शिकारके समय प्यास लगनेपर राजा विक्रमादित्यके इलायची, खस, चन्दन, कपूर आदिसे सुगन्धित जल माँगनेपर राजाके प्रति मागधकी उक्ति है । इसका आशय यह है कि हे राजन् ! आपके मुखमें और समीप ही सब नदियोंकी स्थिति है, तब आपको जलपानकी इच्छा क्यों हो रही है ? इसी बातका उपपादन करते हुए मागध कह रहा है कि—

हे राजन् ! आपके मुखकमलमें सदा सरस्वती [नदी तथा देवी] बसती है, आपका अधरोष्ठ सदा शोण [सोन नदी तथा लाल रंगका] ही रहता है, रामचन्द्रजी [काकुत्स्थ] के पराक्रमका स्मरण दिलानेमें समर्थ आपका दक्षिण बाहु, दक्षिण समुद्र [राजचिह्नरूप मुद्रासे अङ्कित] ही है, ये वाहिनियाँ [एक पक्षमें नदियाँ और दूसरे पक्षमें सेनाएँ] तनिक देरके लिए भी कभी आपका साथ नहीं छोड़ती हैं, और आपके भीतर स्वच्छ मानस [मानससरोवर और दूसरे पक्षमें मन] के रहते हुए आपको जल पीनेकी इच्छा कैसे होती है ॥ २७५ ॥

यहाँ 'शोण एवाधरस्ते' आपका अधर शोण ही है, यह नियम नहीं कहना चाहिये [उसके कह देनेसे यह 'अनियमपरिवृत्त' दोषका उदाहरण बन गया है ।

१४. अविशेषपरिवृत्त [अर्थदोष]

आगे 'विशेषपरिवृत्त' अर्थात् जहाँ असामान्य अर्थात् विशेषवाचक पदका प्रयोग करना चाहिये

(१४) श्यामां श्यामलिमानमानयत भोः ! सान्द्रैर्मषीकूर्चकैः
मन्त्रं तन्त्रमथ प्रयुज्य हरत श्वेतोत्पलानां श्रियम् ।
चन्द्रं चूर्णयत क्षणाच्च कणशः कृत्वा शिलापट्टके
येन द्रष्टुमहं क्षमे दश दिशस्तद्वक्त्रमुद्राङ्किताः ॥ २७२ ॥

अत्र 'ज्यौत्स्नीम्' इति श्यामाविशेषो वाच्यः ।

(१५) कल्लोलवेल्लितदृषत्परुषप्रहारै रत्नान्यमूनि मकरालय ! मावमंस्थाः ।
किं कौस्तुभेन विहितो भवतो न नाम याञ्चाप्रसारितकरः पुरुषोत्तमोऽपि ॥ २७३ ॥
अत्र 'एकेन किं न विहितो भवतः स नाम' इति सामान्यं वाच्यम् ।

जहाँ विशेषको न कहकर सामान्यवाचक शब्दका प्रयोग कर दिया जाय। उस विशेषपरिवृत्त का उदाहरण देते हैं। राजशेखरकृत 'विद्धशालभञ्जिका'के तृतीय अङ्कमें नायिका मृगाङ्कावलीके वियोगमें आतुर राजा विद्याधर मल्लदेव आकाशभाषितके रूपमें सेवकोंसे [illegible] कहते हैं कि—

हे सेवको ! गहरी काली स्याहीकी कूँचियोंसे [चाँदनी] रात्रिको काली कर दो, मन्त्र या तन्त्रका प्रयोग करके सफेद कमलोंकी शोभाको नष्ट कर दो और चन्द्रमाको पत्थरकी शिलापर रख [या पटक] करके कण कणमें पीस डालो, जिससे कि मैं दसों दिशाओंको उसकी मुखमुद्रासे अङ्कित देख सकूँ ॥ २७२ ॥

यहाँ 'ज्योत्स्नी' चाँदनी रात इस प्रकार रात्रि-विशेषका कथन करना चाहिये। [उसका कथन न करके रात्रिवाचक साधारण 'श्यामा' शब्दका प्रयोग किया गया है अतः यह 'विशेषपरिवृत्त' दोषका उदाहरण है]।

१५. अविशेषपरिवृत्त [अर्थदोष]

जहाँ अविशेष अर्थात् सामान्यवाचक [illegible] 'अविशेषपरिवृत्त' [illegible]

हे रत्नाकर [समुद्र] ! लहरोंके द्वारा [illegible] अपमानित मत करो। क्या [इन्हीं रत्नोंमेंसे एक] [illegible] कौस्तुभने पुरुषोत्तम [विष्णु भगवान] को भी आपके सामने [illegible] नहीं बना दिया ! ॥ २७३ ॥

[illegible]

१६. [illegible]

(१६) अर्थित्वे प्रकटीकृतेऽपि न फलप्राप्तिः प्रभोः प्रत्युत
द्रुह्यन् दाशरथिर्विरुद्धचरितो युक्तस्तया कन्यया ।
उत्कर्षं च परस्य मानयशसोर्विस्रंसनं चात्मनः
स्त्रीरत्नं च जगत्पतिर्दशमुखो देवः कथं मृष्यते ॥२७८॥

अत्र स्त्रीरत्नम् 'उपेक्षितुम्' इत्याकांक्षति । नहि परस्येत्यनेन सम्बन्धो योग्यः ।

(१७) आज्ञा शक्रशिखामणिप्रणयिनी शास्त्राणि चक्षुर्नवं
भक्तिर्भूतपतौ पिनाकिनि पदं लङ्केति दिव्या पुरी ।
उत्पत्तिर्द्रुहिणान्वये च तदहो नेदृग्वरो लभ्यते
स्याच्चेदेष न रावणः क नु पुनः सर्वत्र सर्वे गुणाः ॥२७९॥

अत्र 'स्याच्चेदेष न रावणः' इत्यन्तमेव समाप्यम् ।

हे प्रभो ! [सीताकी प्राप्तिके लिए जनकके सामने] याचकता प्रकट करनेपर भी [सीतारूप] फलकी प्राप्ति नहीं हुई [यह ही बड़ा अपमान हुआ। पर उससे बढ़कर अपमान यह हुआ कि सीता आपको न देकर] उलटे आपका विरोध करनेवाले शत्रु रामचन्द्रको दे दी। [इस व्यापारसे उत्पन्न होनेवाले] १. शत्रु [रामचन्द्र] के उत्कर्षको, २. अपने मान तथा यशके विनाशको और ३. स्त्रीरत्न [की उपेक्षा करने] को संसारके स्वामी दशमुख देव [रावण] कैसे सहन कर सकते हैं ॥ २७८ ॥

यहाँ 'स्त्रीरत्नं'के बाद 'उपेक्षितुं' इसकी आकांक्षा [वाक्यको] रहती है। और 'परस्य' दूसरेकी इसके साथ [स्त्रीरत्न पदका] सम्बन्ध करना भी उचित नहीं है [क्योंकि उस 'परस्य' पदका उत्कर्षके साथ पहले ही सम्बन्ध किया जा चुका है]।

१७. अपदयुक्तता

इसके बाद अपदयुक्तता नामक १७वें अर्थदोषका उदाहरण देते हैं। अपदयुक्तताका अभिप्राय यह है कि जहाँ अपद अर्थात् अस्थान या अनुचित स्थानमें अनावश्यक पदोंको जोड़ दिया जाय वह अपदयुक्तता दोष होता है। राजशेखरकृत 'बालरामायण' नाटकके प्रथम अङ्कमें सीताके वरके रूपमें रावणके प्रस्तावकी विवेचना करते हुए जनकके पुरोहित शतानन्द कह रहे हैं कि—

[रावणके दूतसे शतानन्द कहते हैं कि रावणकी] आज्ञा इन्द्रके लिए शिरोधार्य [शिखामणिप्रणयिनी] है। शास्त्र जिसकी नवीन [प्रसिद्ध औरोंसे भिन्न] आँखें हैं। भूतपति महादेवमें [जिसकी] अपार भक्ति है, और लङ्का इस नामसे विख्यात दिव्य नगरी उसका वासस्थान है। ब्रह्मा [द्रुहिण] के वंशमें जन्म हुआ है। इसलिए इस प्रकारका [इतने गुणोंसे युक्त] दूसरा वर नहीं मिल सकता है, यदि यह [दुराचारी] रावण न होता तो निःसन्देह ऐसा [उत्तम] और नहीं मिल सकता है। [अथवा] सबमें सब गुण कहाँ मिल सकते हैं ॥ २७९ ॥

यहाँ 'स्याच्चेदेष न रावणः' यहाँतक ही समाप्त कर देना चाहिये [क्योंकि

(१८) श्रुतेन बुद्धिर्व्यसनेन मूर्खता मदेन नारी सलिलेन निम्नगा ।
निशा शशाङ्केन धृतिः समाधिना नयेन चालङ्क्रियते नरेन्द्रता ॥२८०॥

अत्र श्रुतादिभिरुत्कृष्टैः सहचरितैर्व्यसनमूर्खतयोर्निकृष्टयोर्भिन्नत्वम् ।

(१९) लग्नं रागावृताङ्ग्या ॥ २८१ ॥

इत्यत्र 'विदितं तेऽस्तु' इत्यनेन श्रीस्तस्मादपसरतीति विरुद्धं प्रकाश्यते ।

(२०) प्रयत्नपरिबोधितः स्तुतिभिरद्य शेषे निशा-
मकेशवमपाण्डवं भुवनमद्य निःसोमकम् ।
इयं परिसमाप्यते रणकथाऽद्य दोःशालिना-
मपैतु रिपुकाननातिगुरुरद्य भारो भुवः ॥ २८२ ॥

'क नु पुनः सर्वत्र सर्वे गुणाः' कह देनेपर तो रावणको सीता देनेमें बाधा है, वह बात हलकी पड़ जाती है और उसीको सीता देनेके औचित्यकी प्रतीति होती है]।

१८. सहचरभिन्नता

अपदयुक्तताके बाद सहचरभिन्नता नामक १८ वें अर्थदोषका निरूपण करते हैं—

शास्त्रश्रवणसे बुद्धि, दुर्व्यसनसे मूर्खता, [यौवनके] मदसे स्त्री, पानीसे नदी, चन्द्रमासे रात्रि, समाधिसे धैर्य और नीतिसे नरेन्द्रता [राजपद] शोभित होती है ॥ २८० ॥

यहाँ श्रुति आदि उत्कृष्ट [पदार्थों] के साथ व्यसन और मूर्खता इन दो निकृष्ट अर्थोंके सहचारसे सहचरभिन्नता [अर्थदोष हो जाता] है ।

१९. प्रकाशितविरुद्धता

सहचरभिन्नताके बाद प्रकाशितविरुद्धता नामक १९वें अर्थदोषका उदाहरण देते हैं।

'लग्नं रागावृताङ्ग्या' [इत्यादिका अर्थ उदाहरण सं० २४१ पर दिया जा चुका है। वहींसे देखना चाहिये] ॥ २८१ ॥

इसमें 'आपको मालूम होना चाहिये' इससे 'लक्ष्मी उसको छोड़ रही है।' यह विरुद्ध अर्थ प्रकाशित हो रहा है [अत यहाँ प्रकाशितविरुद्धता नामक अर्थदोष है]।

२०. विध्ययुक्तता

प्रकाशितविरुद्धताके बाद 'विधिकी अयुक्तता' रूप २०वें अर्थदोषका उदाहरण देते हैं। यह श्लोक भी 'वेणीसंहार'के तृतीय अङ्कसे लिया गया है। जान पड़ता है कि मम्मटने 'वेणीसंहार'को विशेषरूपसे दोषदर्शनके लिए चुन लिया है। इसलिए इतनी अधिक संख्यामें बारम्बार 'वेणीसंहार'से ही दोषोंके उदाहरण देते हैं। निम्नलिखित उदाहरणमें द्रोणवधसे कुपित और शत्रुओंसे इसका बदला लेनेके लिए उत्सुक अश्वत्थामा दुर्योधनको आश्वासन देता हुआ कह रहा है कि—

[शत्रुओंका विनाश करके बिलकुल निश्चिन्त हो] आज सारी रात सोते सोओगे कि सवेरे [चारणों द्वारा उच्च स्वरसे निरन्तर की जानेवाली] स्तुतियोंसे प्रयत्नपूर्वक जगाये जा सकोगे। आज संसार श्रीकृष्ण, पाण्डवों और [द्रोणका वध करनेवाले

अत्र 'शयितः प्रयत्नेन बोध्यसे' इति विधेयम् । यथा वा—

> वाताहारतया जगद्विषधरैराश्वास्य निःशेषितं
> ते ग्रस्ताः पुनरभ्रतोयकणिकातीव्रव्रतैर्बर्हिभिः ।
> तेऽपि क्रूरचमूरुचर्मवसनैर्नीताः क्षयं लुब्धकै-
> र्दम्भस्य स्फुरितं विदन्नपि जनो जाल्मो गुणानीहते ॥२८३॥

अत्र वाताहारादित्रयं व्युत्क्रमेण वाच्यम् ।

धृष्टद्युम्नके] सोमवंशसे रहित हो जायगा । [और इन तीनका ही नाम क्यों लिया जाय, सत्य बात तो यह है कि—] आजसे बाहुबलका दर्प करनेवाले इन क्षत्रियोंकी यह युद्धकथा ही समाप्त हो जायगी [क्योंकि परशुरामकी तरह आज मैं समस्त क्षत्रियोका नाश किये देता हूँ, फिर जब कोई क्षत्रिय ही नहीं रहेगा, तो युद्धकी कथा स्वयं समाप्त हो जायगी] आज रिपुसमुदायरूप पृथिवीका महान् भार दूर हो जायगा ॥ २८२ ॥

यहाँ 'शयितः प्रयत्नेन बोध्यसे' ऐसा [प्रयत्नसे जगाये जा सकोगे] विधेय है [जिसे समासमे नहीं रखना चाहिये था] ।

अथवा विधि-अयुक्तताका दूसरा उदाहरण जैसे—

[यह उदाहरण भल्लटकवि-विरचित 'भल्लटशतक'से लिया गया है । इसमे धार्मिक तपस्वी बननेका ढोंग रचनेवालोंकी पोल खोलकर कवि यह कह रहा है कि इनके ढोंगको जानते हुए भी लोग इस बातपर कैसे विश्वास करते हैं] विषधर सर्पोंने वायुभक्षणके व्रतके द्वारा [कि हम तो केवल वायुका भक्षण करते हैं । हम किसीको हानि नहीं पहुँचा सकते हैं, इस प्रकारका] जगत्का विश्वास दिलाकर उसे समाप्त कर दिया [अर्थात् संसारको ठगनेके लिए उन्होंने वाताहारका ढोंग रचा था । परन्तु मोर उनके भी गुरु निकले] वर्षाजलकी बूँदोंके ही [पानका] कठिन व्रत धारण करनेवाले मयूरोंने उन [धूर्त ढोंगी सर्पों]को खा डाला [अर्थात् उन्होंने सर्पोंको ठगनेके लिए ही केवल वर्षाकी बूंदोंको पीनेका व्रत लिया था । पर उनके भी गुरु संसारमे निकल ही आये और ऋषियोंके समान] कठोर मृगचर्मके वस्त्रोंको धारण करनेवाले व्याधोंने [मृगचर्मके वस्त्रोंका ढोंग रचकर] उन [ढोंगी] मयूरोंका नाश कर दिया । इस प्रकार [धर्मका ढोंग रचनेवाले इन धूर्तोंके] ढोंगके व्यवहारको जानते हुए भी यह मूर्ख संसार इन गुणोंको चाहता है ॥ २८३ ॥

यहाँ वाताहार आदि तीनोको उलटे क्रमसे कहना चाहिये [उस प्रकारसे न कहनेके कारण विधि-अयुक्तता दोष हो गया है] ।

वृत्तिकारने जो दोष यहाँ दिखलाया है, उसका अभिप्राय यह है कि वाताहारका व्रत सबसे कठिन है, उससे अभ्रतोयकणिका पानका व्रत सरल है और मृगचर्मके धारणमात्रका व्रत बहुत सरल है । अतः सरलताके क्रमसे सबसे पहले मृगचर्म धारण करनेके व्रतका, उसके बाद अभ्रतोयकणिका-पानके व्रतका और सबसे अन्तमें वाताहारव्रतका वर्णन करना चाहिये था । यहाँ उसका क्रम उलटकर वर्णन किया है । अतः यहाँ दोष हो गया है । परन्तु वृत्तिकारकी इस व्याख्याने तो कविके सारे अभिप्रायको ही समाप्त कर दिया है । कवि तो यह कहना चाहता है कि साँपोने ढोंग रचकर संसारको

हन्तुमेव प्रवृत्तस्य स्तब्धस्य विवरैषिणः ।

यथास्य जायते पातो न तथा पुनरुन्नतिः ॥२८९॥

अत्र पुंव्यञ्जनस्यापि प्रतीतिः ।

यत्रैको दोषः प्रदर्शितस्तत्र दोषान्तराण्यपि सन्ति तथापि तेषां तत्राप्रकृतत्वात्प्रकाशनं न कृतम् ।

[सू० ७६] कर्णावतंसादिपदे कर्णादिध्वनिनिर्मितिः ।

सन्निधानादिबोधार्थम्

---

२३. अश्लीलता

२३ वें अर्थदोष अश्लीलताका उदाहरण देते हैं—

[दूसरेका] नाश करने [मारने] के लिए तैयार, उन्नत अभिमानी [खड़े हुए] और दोषों [दूसरे पक्षमें योनिरूप छिद्र] को खोजनेवाले इस [दुष्ट व्यक्ति या लिङ्ग] का जितनी जल्दी पतन होता है उतनी जल्दी पुनः उत्थान नहीं होता ॥ २८९ ॥

यहाँ पुरुषके लिङ्गकी भी प्रतीति होती है [इसलिए यह व्रीडाजनक अश्लीलताका उदाहरण हो जाता है]।

अब इस दोषनिरूपणप्रसङ्गका उपसंहार करते हुए लिखते हैं कि —

[उक्त समस्त उदाहरणोंमें] जहां एक दोष दिखलाया है, वहां [illegible] दोष भी [हो सकते] हैं, किन्तु वहाँ प्रसङ्ग न होनेसे उनको दिखलाया नहीं है।

दोषोंकी अनित्यताके उदाहरण

इस प्रकार दोषोंका निरूपण कर चुकनेके बाद अब उनके अपवाद [illegible] करते हैं। अपवादस्थलका अभिप्राय यह है कि जो दोष ऊपर बतलाये गये हैं, [illegible] भी हैं, जो सब जगह दोष ही नहीं रहते हैं अपितु कहीं गुण भी बन जाते हैं। [illegible] दोष कहा जाता है। 'च्युतसंस्कार' आदि कुछ दोष ऐसे [illegible] दोष कहा जाता है। यह नित्य और अनित्य दोषकी [illegible] च्युतसंस्कारादि नित्य दोष सदा रसके अपकर्षक होते हैं, अतः [illegible] कटुत्व आदि केवल शृङ्गार आदि कोमल रसके अपकर्षक होनेसे [illegible] आदि कठोर रसोंमें उनसे रसका अपकर्ष नहीं होता, इसलिए [illegible] वे अनित्य दोष कहलाते हैं। इन अनित्य दोषोंका निरूपण [illegible]।

[सूत्र—७६] कर्णावतंस आदि पदोंमें [केवल [illegible] रूप अर्थका कथन हो जानेसे] कर्ण आदि पदोंका प्रयोग [[illegible] पदकी निर्मिति अर्थात् प्रयोग उनके कर्ण आदि] सन्निधान आदिके [illegible] होता है [अतः उसको दोष नहीं समझना चाहिए]।

[illegible]

[illegible]

अवतंसादीनि कर्णाद्याभरणान्येवोच्यन्ते, तत्र कर्णादिशब्दाः कर्णादिस्थितिप्रतिपत्तये। यथा—

> अस्याः कर्णावतंसेन जितं सर्वं विभूषणम्।
> तथैव शोभतेऽत्यर्थमस्याः श्रवणकुण्डलम् ॥२८७॥
>
> अपूर्वमधुरामोदप्रमोदितदिशस्ततः।
> आययुर्भृङ्गमुखराः शिरःशेखरशालिनः ॥२८८॥

अत्र कर्णश्रवणशिरःशब्दाः सन्निधानप्रतीत्यर्थाः।

> विदीर्णाभिमुखारातिकराले सङ्गरान्तरे।
> धनुर्ज्याकिणचिह्नेन दोष्णा विस्फुरितं तव ॥२८९॥

अत्र धनुःशब्द आरूढत्वावगतये।

अवतंस आदि [नामसे] कानके आभूषण आदि ही कहे जाते हैं [परन्तु] वहाँ [उन आभूषण आदिकी] कान आदिमें स्थितिका बोध करानेके लिए कर्ण आदि शब्द [प्रयुक्त किये जाते] हैं। [उनका प्रयोग दोष नहीं है] जैसे—

इस [नायिका]के [कानमें पहने हुए] कर्णावतंसने सब आभूषणोंको जीत लिया और उसी प्रकार इसका श्रवणकुण्डल अत्यन्त शोभित हो रहा है ॥ २८७ ॥

इसके बाद अपूर्व मीठी-मीठी सुगन्धसे दिशाओंको सुगन्धित करते हुए भौरोंके गुञ्जारसे युक्त शिरःशेखरधारी पुरुष आ पहुँचे ॥ २८८ ॥

यहाँ [पहिले श्लोकमें] 'कर्ण' तथा 'श्रवण' शब्द और [दूसरे श्लोकमें] 'शिरः' शब्द [उन-उन आभूषणोंके उन-उन स्थानोंपर] सन्निधानका बोध करानेके लिए [प्रयुक्त किये गये] हैं। [अतः यहाँ पुनरुक्ति या अपुष्टार्थत्व दोष नहीं समझना चाहिये]।

सामना करनेवाले शत्रुओंके विनाशसे भयङ्कर, संग्रामके बीचमें [या दूसरे युद्धमें] धनुषकी प्रत्यञ्चाके [बार-बार लगनेके कारण उत्पन्न हुए] घावके [अच्छे हो जानेके बाद भी हाथपर बने हुए] चिह्नसे अङ्कित तुम्हारा बाहु फड़क उठा ॥ २८९ ॥

यहाँ 'धनु' शब्द [प्रत्यञ्चाके धनुषपर] चढ़े हुए होनेका बोध करानेके लिए [प्रयुक्त किया गया] है।

अगला श्लोक 'रघुवंश'के षष्ठ सर्गसे लिया गया है। इस सर्गमें इन्दुमतीके स्वयंवरका वर्णन है। स्वयंवरके समय आये हुए राजाओंका परिचय करानेके प्रसङ्गमें सुनन्दा कार्तवीर्यके वंशधरका परिचय करा रही है। उसमें कार्तवीर्यके प्रभावका वर्णन रामायणके उत्तरकाण्डके ३१-३२ सर्गोंमें दी हुई कथाके आधारपर कर रही है। उस कथाका सारांश यह है कि एक बार माहिष्मतीके राजा कार्तवीर्य अपनी रानियोंके साथ जलक्रीडा कर रहे थे। उस समय उन्होंने अपनी बाहुओंसे रेवा नदीके प्रवाहको रोक लिया। जिसके कारण बाँध लग जानेसे नदीका पानी ऊपर बहुत स्थानोंमें फैल गया। रेवाके किनारे ही कुछ दूरी पर रावण शिवजीकी पूजा कर रहा था। [illegible]

अन्यत्र तु—

ज्याबन्धनिष्पन्दभुजेन यस्य विनिश्वसद्वक्त्रपरम्परेण ।
कारागृहे निर्जितवासवेन लङ्केश्वरेणोषितमाप्रसादात् ॥२९०॥

इत्यत्र केवलो ज्याशब्दः ।

प्राणेश्वरपरिष्वङ्गविभ्रमप्रतिपत्तिभिः ।
मुक्ताहारेण लसता हसतीव स्तनद्वयम् ॥२९१॥

अत्र मुक्तानामन्यरत्नामिश्रितत्वबोधनाय मुक्ताशब्दः ।

सौन्दर्यसम्पत् तारुण्यं यस्यास्ते ते च विभ्रमाः ।
षट्पदान् पुष्पमालेव कान् नाकर्षति सा सखे ! ॥२९२॥

अत्रोत्कृष्टपुष्पविषये पुष्पशब्दः । निरुपपदो हि मालाशब्दः पुष्पस्रजमेवाभिधत्ते ।

अपने धनुषकी प्रत्यञ्चासे बाँधकर माहिष्मती नगरीके कारावासमें ले जाकर बन्द कर दिया । उसके सामने रावणकी एक न चली । और जबतक कार्तवीर्यने स्वय ही उसके अपराधको क्षमा करके न छोड़ दिया, तबतक उसको कारावासमें ही रहना पड़ा । इसी घटनाका वर्णन इस श्लोकमें निम्न प्रकारसे किया है—

जिस [कार्तवीर्य] की धनुषसे उतरी हुई] प्रत्यञ्चाके द्वारा बाँध देनेसे निश्चेष्ट भुजावाला तथा हाँफते हुए मुखोंकी परम्परासे युक्त, इन्द्रको भी जीत लेनेवाला लङ्केश्वर [रावण] जिसकी कृपादृष्टि होनेपर्यन्त [माहिष्मती नगरीके] कारावासमें पड़ा रहा [ऐसा शक्तिशाली था कार्तवीर्य, उसका यह वंशधर है] ॥ २९१ ॥

यहाँ [उतारी हुई प्रत्यञ्चाके बोधनमें] केवल 'ज्या' शब्द [का प्रयोग] है ।

इसी प्रकार दूसरा उदाहरण और देते हैं । इसमें मुक्ताहार शब्द प्रयुक्त हुआ है । 'हारो मुक्तावली' इस विश्वकोष तथा 'मुक्ताग्रैवेयक हारः' इत्यादि अन्य कोशोंके अनुसार मुक्तासे बना हुआ हार ही 'हार' पदका मुख्यार्थ है । अतः 'हार' शब्दके साथ 'मुक्ता' पदके प्रयोगकी आवश्यकता नहीं है । फिर भी इस श्लोकमें जो 'हार' शब्दके साथ 'मुक्ता' शब्दका प्रयोग किया गया है वह अन्य किसीके साथ मिश्रणसे रहित केवल मुक्ताओंसे बने हारके बोधनके लिए किया गया है ।

प्राणेश्वरके आलिङ्गनके [विविध] हाव-भाव [या प्रकारों] से सम्मानित [प्रतिपत्तिका अर्थ सम्मान भी होता है] होनेके कारण शोभायमान [प्रसन्न] मुक्ताहार [के सम्पर्क]से दोनों स्तन हँस-से रहे हैं [हार मानों स्तनोंका हास्य हो] ॥ २९२ ॥

यहाँ अन्य रत्नोंसे अमिश्रित मुक्ताओंके बोधनके लिए 'मुक्ता' शब्दका[प्रयोग]है ।

हे मित्र ! जिस [नायिका]के पास [अपूर्व] सौन्दर्यकी सम्पत्ति, यौवन और वे [अपूर्व अनुभवैकगोचर] हाव-भाव हैं, जिस प्रकार पुष्पमाला भौंरोंको आकर्षित करती है, इस प्रकार वह किनको आकर्षित नहीं करती है ॥ २९३ ॥

यहाँ [उत्कृष्ट पुष्पोंके बोधनके लिए 'पुष्प'शब्द[का प्रयोग किया गया] है। [क्योंकि अन्य] विशेषणोंसे रहित केवल माला शब्द फूलोंकी मालाका ही वाचक होता है ।

ऊपर जिन कर्णावतंस, श्रवणकुण्डल, धनुर्ज्या, मुक्ताहार, पुष्पमाला आदि शब्दोंके उदाहरण

[सू० ७७] स्थितेष्वेतत्समर्थनम् ॥५८॥

न खलु कर्णावतंसादिवज्जघनकाञ्चीत्यादि क्रियते ।

जगाद मधुरां वाचं विशदाक्षरशालिनीम् ॥२९३॥

इत्यादौ क्रियाविशेषणत्वेऽपि विवक्षितार्थप्रतीतिसिद्धौ 'गतार्थस्यापि विशेष्यस्य विशेषणदानार्थं कचित्प्रयोगः कार्यः'—इति न युक्तम् । युक्तत्वे वा,

चरणत्रपरित्राणरहिताभ्यामपि द्रुतम् ।

पादाभ्यां दूरमध्वानं व्रजन्नेष न खिद्यते ॥२९४॥

इत्युदाहार्यम् ।

दिये गये हैं उनके प्रयोग उस रूपमे प्राचीन महाकवियोके ग्रन्थोमे पाये जाते हैं । अतः उनका समर्थन करनेका यह मार्ग निकाला गया है । परन्तु इस शैलीपर अन्य इस प्रकारके नवीन प्रयोगोंका समर्थन नहीं किया जा सकता है । इस बातको आगे कहते हैं—

[सूत्र ७७] [केवल प्राचीन काव्योमें] स्थित [इन प्रयोगों] में ही यह समर्थन [लागू होता] है ॥ ५८ ॥

कर्णावतंस आदि [प्राचीन प्रयोगो]के समान जघनकाञ्ची आदि [नवीन प्रयोग] नहीं करने चाहिये ।

यह सब विषय ग्रन्थकारने वामनके 'काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति'के आधारपर लिखा है । परन्तु वामनने २, २२ 'विशेषणस्य च' इस सूत्रमे गतार्थ विशेष्यका भी उसके विशेषण देनेके लिए प्रयोगका समर्थन किया है, ओर उसका उदाहरण 'जगाद मधुरां वाचं विशदाक्षरशालिनीम्' यह पद्यांश दिया है । इसमें 'जगाद' यह पद 'गद व्यक्तायां वाचि' इस धातुसे सिद्ध होता है । इसलिए 'जगाद'के भीतर ही 'वाच' अर्थका समावेश हो जाता है । 'बोला' कहनेसे ही वाणी अर्थ आ जाता है, इसलिए 'वाणी बोला', 'वाचं जगाद' यह कहनेकी आवश्यकता नहीं है । परन्तु उस वाणीके साथ 'मधुरां' विशेषण जोडनेके लिए गतार्थ 'वाच' पदका भी कभी-कभी प्रयोग किया जा सकता है । यह वामनका अभिप्राय है । परन्तु मम्मट इस बातका खण्डन करते हुए यह कहते हैं कि यहाँ 'मधुरां' को 'वाचं'का विशेषण न बनाकर 'मधुरं जगाद' इस रूपमे 'मधुरं' पदका क्रियाविशेषणके रूपमें प्रयोग करनेसे भी उस प्रयोजनकी सिद्धि हो सकती है । इसलिए 'जगाद मधुरां वाचं' जैसे प्रयोग नहीं करने चाहिये । इसी बातको अगली पंक्तिमें लिखते हैं—

स्पष्ट अक्षरोंसे युक्त मधुरवाणी बोला ॥ २९३ ॥

इत्यादिमें [मधुर पदके 'मधुरं जगाद' इस रूपमें] क्रियाविशेषण होनेपर भी अभीष्ट [विवक्षित] अर्थकी प्रतीति सिद्ध हो सकती है । इसलिए [वामनका यह कहना कि] 'विशेषण जोड़नेके लिए कहीं-कहीं गतार्थ विशेष्यका भी प्रयोग किया जा सकता है' उचित नहीं है । अथवा यदि [इस सिद्धान्तको] ठीक ही माना जाय तो—

जूतोंके द्वारा होनेवाली रक्षासे रहित [अर्थात् बिना जूते पहिने भी] पैरोंसे भी तेजीसे और दूरतक चलनेमें भी यह नहीं थकता है ॥ २९४ ॥

इत्यादि उदाहरण देना चाहिये । ['जगाद मधुरां वाचं' यह ठीक नहीं है] ।

[सू० ७८] ख्यातेऽर्थे निर्हेतोरदुष्टता

यथा—

चन्द्रं गता पद्मगुणान्न भुङ्क्ते पद्माश्रिता चान्द्रमसीमभिख्याम् ।
उमामुखं तु प्रतिपद्य लोला द्विसंश्रयां प्रीतिमवाप लक्ष्मीः ॥ २९५ ॥

अत्र रात्रौ पद्मस्य सङ्कोचः, दिवा चन्द्रमसश्च निष्प्रभत्वं लोकप्रसिद्धमिति 'न भुङ्क्ते' इति हेतुं नापेक्षते ।

[सू० ७९] अनुकरणे तु सर्वेषाम् ।

सर्वेषां श्रुतिकटुप्रभृतीनां दोषाणाम् । यथा—

मृगचक्षुषमद्राक्षमित्यादि कथयत्ययम् ।
पश्यैष च गवित्याह सुत्रामाणं यजेति च ॥२९६॥

यहाँ ग्रन्थकारका अभिप्राय यह है, कि 'जगाद मधुरा वाच'मे 'मधुरा' इस विशेषणके बजाय 'मधुर' पदको क्रियाविशेषण बना दिया जाय, तो गतार्थ हुए 'वाच' इस विशेष्य पदको अलग ग्रहण करनेकी आवश्यकता नहीं रहती है। परन्तु यहाँ 'पादाभ्या व्रजन्' इसमें चलनेकी क्रिया पैरोसे ही होती है अतः 'पादाभ्या, इस पदके प्रयोगके बिना भी उस अर्थकी प्रतीति हो सकती है। परन्तु यहाँ 'व्रजन्'के साथ जो 'पादाभ्या' पद दिया गया है, उसका क्रियाविशेषणके रूपमे प्रयोग नही किया जा सकता है। अतः यहाँ गतार्थ होनेपर भी 'पादाभ्या' पदका प्रयोग उचित है।

[सूत्र ७८] प्रसिद्ध अर्थमें निर्हेतुता [हेतु न होना] दोष नहो है। जैसे—

चञ्चल लक्ष्मी, चन्द्रके पास पहुँचकर कमलोके [सुगन्ध आदि] गुणोका भोग नहीं कर पाती है और कमलमे स्थित होनेपर चन्द्रमाके सौन्दर्यका भोग करनेमे असमर्थ रहती है। परन्तु पार्वतीका मुख प्राप्त करके उसने [चन्द्रमें रहनेवाले सौन्दर्य तथा कमलमें रहनेवाले सौरभ आदि रूप] दोनोंमे रहनेवाले आनन्दको प्राप्त किया ॥२९५॥

यहाँ रात्रिमे कमल बन्द हो जाते हैं और दिनमे चन्द्रमा कान्तिहीन हो जाता है [इसलिए क्रमशः कमलोका सौरभ और चन्द्रमाकी कान्ति उसको प्राप्त नहीं होती है। पार्वतीका मुख सदा ही चन्द्रमा के समान सुन्दर तथा कमलके समान सौरभयुक्त रहता है। इसलिए इसके पास पहुँचकर दोनोंके गुणोको प्राप्त कर लक्ष्मी आनन्दका अनुभव करती है]। यह बात लोकप्रसिद्ध है, इसलिए, 'न भुङ्क्ते' इसके लिए हेतुकी आवश्यकता नहीं रहती है [अतः यहाँ अर्थके प्रसिद्ध होनेके कारण 'निर्हेतुता' दोष नहीं है]।

[सू० ७९] अनुकरणमें सब दोषोंकी अदोषता है [अर्थात् दूसरोके दूषित पदोंके प्रयोगका अनुकरण करके बतलाते समय वक्ता जो उन दोषयुक्त पदोंका उच्चारण करता है, उनसे वक्ता दोषभाक् नहीं होता है]।

अनुकरणमे ['सर्वेषां' अर्थात्] श्रुतिकटु आदि सब ही दोषोंकी [अदोषता है] जैसे—

यह [व्यक्ति] 'मैंने मृगनयनीको देखा' इत्यादि कहता है और यह 'गौ देख' यह कहता है, और 'सुत्रामा [इन्द्र] की पूजा कर' [यह कहता है] ॥ २९६ ॥

यदा त्वामहमद्राक्षं पदविद्याविशारदम् ।
उपाध्यायं तदाऽस्मार्षं समस्प्राक्षं च सम्मदम् ॥ २९८ ॥

अन्त्रप्रोतबृहत्कपालनलकक्रूरक्वणत्कंकण-
प्रायप्रेङ्खितभूरिभूषणरवैराघोषयन्त्यम्बरम् ।
पीतच्छर्दितरक्तकर्दमघनप्राग्भारघोरोल्लस-
द्व्यालोलस्तनभारभैरववपुर्दर्पोद्धतं धावति ॥२९९॥

इन धातुओंके इकारके स्थानपर एकार रूप गुण तथा वृद्धि 'नहीं होती है।' क्विप् प्रत्ययका 'वेरपृक्तस्य' ६-१-६७ इस सूत्रसे सर्वापहारी लोप हो जाता है। उसका कोई भाग शेष नहीं रहता है। परन्तु उसके परे होनेपर, 'क्ङिति च' १-१-५ सूत्रसे गुण और वृद्धिका निषेध हो जाता है। जैसे 'लिट्' 'भिद्' आदि प्रयोगोंमें 'पुगन्तलघूपधस्य च' ७-३-८६ सूत्रसे प्राप्त होनेवाला गुण तथा 'मृट्' आदि प्रयोगोंमें 'मृजेर्वृद्धिः' ७-२-११४ इस सूत्रसे प्राप्त होनेवाली वृद्धिका निषेध हो जाता है।

ग्रन्थकारने इसको वैयाकरण वक्ता होनेपर कष्टत्वदोषके गुण हो जानेके उदाहरणरूपमें प्रस्तुत किया है। परन्तु इसको कष्टत्वके बजाय अप्रतीतत्वदोषके गुण हो जानेके रूपमें प्रयुक्त करना अधिक उपयुक्त है, क्योंकि किसी शास्त्रविशेषमें प्रसिद्ध शब्दोंके काव्यमें प्रयुक्त किये जानेपर अप्रतीतत्वदोष माना गया है। यहाँ व्याकरणशास्त्रके पारिभाषिक शब्दोंका प्रयोग होनेसे अप्रतीतत्वदोष हो सकता था, परन्तु वैयाकरणके वक्ता होनेके कारण वह दोष नहीं अपितु गुण हो गया है।

वैयाकरणके प्रतिपाद्य अर्थात् श्रोता होनेपर कष्टत्वदोषके गुण हो जानेका उदाहरण देते हैं—

जब मैंने व्याकरण [पदविद्या] के [अपूर्व] विद्वान् आपको देखा तो [आपकी विद्वत्ताको देखकर] मुझे अपने गुरुजी [उपाध्याय] का स्मरण हो आया और मेरा अभिमान [सम्मद] दूर हो गया [समस्प्राक्षम्] ॥ २९८ ॥

यहाँ अद्राक्षम्, अस्मार्षम्, समस्प्राक्ष ये पद वस्तुतः श्रुतिकटु हैं। परन्तु वैयाकरणके श्रोता होनेपर वह दोष नहीं अपितु गुण हो गया है। ग्रन्थकारने इसको कष्टत्वदोषके गुण हो जानेके उदाहरणरूपमें प्रस्तुत किया है। आगे बीभत्सरसके व्यञ्जक होनेपर रसके अनुरोधसे श्रुतिकटुदोषके गुण हो जानेका उदाहरण देते हैं। यह श्लोक 'महावीरचरित' के प्रथम अङ्कसे लिया गया है। बीभत्सरूपसे सामने भागती हुई ताडकाको देखकर लक्ष्मण विश्वामित्रके सामने उसके बीभत्स रूपका वर्णन करते हुए उनसे पूछते हैं कि यह कौन दौड़ रही है। प्रश्नभाग इस श्लोकमें नहीं है। अपितु इसके पूर्व गद्यभागमें 'का पुनरियम्' करके दिया गया है। श्लोकमें तो केवल लक्ष्मण उसके बीभत्स रूपका वर्णन करते हैं कि—

अंतड़ियोंमें पिरोये हुए बड़े-बड़े कपाल और [नलक अर्थात्] जङ्घाकी हड्डियोंके ही भयानक रूपसे [परस्पर टकराते] बजते हुए कङ्कण जिसमें प्रधान हैं इस प्रकारके [अस्थियों आदिसे ही बने हुए] नाना प्रकारके आभूषणोंके शब्दोंसे आकाशको आघोषित [कोलाहलमय] करती हुई और पहिले [बहुत अधिक मात्रामें] पी जानेके बाद वमन किये हुए रक्तके कीचड़से सने हुए [प्राग्भार अर्थात् छाती आदि] ऊपरी भागके बीचमें भयङ्कररूपसे उठे हुए [भारी-भारी] हिलते हुए स्तनोंके भारसे भयङ्कर शरीर-वाली अभिमानसे उद्धत होकर [यह कौन] दौड़ रही है ॥ २९९ ॥

वाच्यवशाद् यथा—

> मातङ्गाः ! किमु वल्गितैः किमफलैराडम्बरैर्जम्बुकाः !
> सारङ्गा महिषा मदं व्रजथ किं शून्येषु शूरा न के ।
> कोपाटोपसमुद्भटोत्कटसटाकोटेरिभारेः पुरः
> सिन्धुध्वानिनि हुङ्कृते स्फुरति यत् तद् गर्जितं गर्जितम् ॥ ३०० ॥

अत्र सिंहे वाच्ये परुषाः शब्दाः ।

प्रकरणवशाद् यथा—

> रक्ताशोक ! कृशोदरी क नु गता त्यक्त्वानुरक्तं जनं
> नो दृष्टेति मुधैव चालयसि किं वातावधूतं शिरः ।
> उत्कण्ठाघटमानषट्पदघटासङ्घट्टदष्टच्छद-
> स्तत्पादाहतिमन्तरेण भवतः पुष्पोद्गमोऽयं कुतः ॥ ३०१ ॥

अत्र शिरोधूननेन कुपितस्य वचसि ।

यहाँ बीभत्सरसके व्यङ्ग्य होनेके कारण, श्रुतिकटु वर्ण तथा दीर्घसमाससे युक्त कठोर रचना गुण हो गयी है ।

वाच्यके कारण [कष्टत्वदोषके गुण हो जानेका उदाहरण ।] जैसे—

अरे हाथियो ! [सिंहकी अनुपस्थितिमें] चिंघाड़ने [या झूमने] से क्या होता है ? अरे शृगालो ! व्यर्थ [अपनी चञ्चलताके और वीरताके मिथ्या] ढोंग करनेसे क्या लाभ है ? अरे मृगो ! और भैंसो ! तुम क्यों मतवाले हो रहे हो [क्यों अभिमान कर रहे हो] [किसी वीरके न होनेपर] खाली मैदानमें कौन शूर नहीं हो जाता है । परन्तु क्रोधके आवेशमें खड़े हुए भयङ्कर सटाओंके अग्रभागोंसे युक्त और समुद्रके समान दहाड़ते हुए शेरका हुङ्कार होनेपर भी जो गर्जन हो वही गर्जन [कहलाने योग्य] है ॥ ३०० ॥

यहाँ सिंहके वाच्य होनेपर कठोर शब्दोंका प्रयोग हो गया है ।

प्रकरण [के अनुरोध] से [कष्टत्व दोष गुण हो जानेका उदाहरण] जैसे—हे रक्ताशोक ! इस अनुरक्त सेवकको छोड़कर कृशोदरी [उर्वशी] कहाँ चली गयी है [यह पुरूरवाका रक्ताशोकके वृक्षसे प्रश्न है । वृक्षको सिर हिलाता हुआ देखकर स्वयं उसके उत्तरकी कल्पना करके कहता है कि—] मैंने नहीं देखी है [इस बातको सूचित करनेके लिए] वायुसे कम्पित सिरको क्यों हिला रहा है । [तेरे ऐसे सिर हिला देनेसे यह थोड़े ही मान लिया जायगा कि तूने उसको देखा नहीं है क्योंकि] उसके पादप्रहारके बिना [तेरे फूलोंके पास] उत्कण्ठावश इकट्ठे हुए भौंरोंके समूहसे जिनकी पंखुड़ियाँ टूटी जा रही हैं, इस प्रकारका तेरा यह फूलोंका उद्गम कहाँसे आया ? ॥३०१॥

यहाँ [अशोकके] सिर हिलानेसे कुपित हुए [पुरूरवा] की उक्तिमें [समासयुक्त परुष वर्णोंका प्रयोग गुण हो गया है] ।

इन सब श्लोकोंके प्रारम्भमें ग्रन्थकारने केवल कष्टत्वदोषके गुण हो जानेका [illegible] [illegible] उदाहरण दिये हैं । परन्तु इन उदाहरणोंमें [illegible]

अत्र माधवपक्षे शशिमदन्धकक्षयशब्दौ अप्रयुक्तनिहतार्थौ ।

अश्लीलं क्वचिद् गुणः । यथा सुरतारम्भगोष्ठ्याम्,

'द्व्यर्थैः पदैः पिशुनयेच्च रहस्यवस्तु'

इति कामशास्त्रस्थितौ—

करिहस्तेन सम्बाधे प्रविश्यान्तर्विलोडिते ।
उपसर्पन् ध्वजः पुंसः साधनान्तर्विराजते ॥ ३०४ ॥

जिन्होंने 'अगं' अर्थात् गोवर्धन पर्वतको और 'गां' अर्थात् वराहावतारके समय पृथिवीको धारण किया। ['शशिनं मथ्नाति इति शशिमत् राहुः' राहुका सिर काटनेवाले होनेसे] देवता लोग जिनका 'शशिमच्छिरोहर' यह प्रशंसनीय नाम कहते हैं। अन्धक अर्थात् यादवोंका भी [महाभारतके मौसल पर्वकी कथाके अनुसार] विनाश करनेवाले अथवा द्वारिकापुरीमें उनके 'क्षय' अर्थात् वासगृहके बनानेवाले सब मनोकामनाओंको देनेवाले हैं वे विष्णु तुम्हारी रक्षा करें।

[शिवपक्षमें इस श्लोकका अर्थ इस प्रकार होगा—'ध्वस्तो मनोभवः कामो येन सः 'ध्वस्तमनोभवः'] कामदेवका नाश करनेवाले जिन शङ्करने 'पुरा' त्रिपुरदाहके समय 'बलिजित्कायः' विष्णुके शरीरको 'अस्त्रीकृतः' बाण बनाया, जो महाभयानक [उद्वृत्त] सर्पोंको हार और वलयके रूपमें धारण करते हैं, गङ्गाको जिन्होंने धारण किया, जिनका शिर चन्द्रमासे युक्त है, और देवता लोग जिनका 'हर' यह प्रशंसनीय नाम बतलाते हैं, अन्धकासुरका नाश करनेवाले वे उमाधव गौरीपति [शङ्कर] सदा तुम्हारी रक्षा करें ॥ ३०३ ॥

यहाँ विष्णुपक्षमें, 'शशिमद्' तथा 'अन्धकक्षय' शब्द अप्रयुक्त तथा निहतार्थक हैं।

अश्लीलता [भी] कहीं गुण होती है—जैसे सुरतके आरम्भकालकी बातों [गोष्ठी] में। 'गुप्त वस्तुको द्व्यर्थक पदोंसे सूचित करे', इस प्रकारके कामशास्त्रके सिद्धान्तके अनुसार [निम्नलिखित श्लोककी अश्लीलता गुण है]—

प्रागेव [illegible] न [illegible] भागतः [illegible] ।
[illegible] कामकलाप्रवीणो [illegible] वनिताद्र [illegible] ॥

कामशास्त्रके इस प्रसिद्ध सिद्धान्तके अनुसार वनिताद्रवत्वके सम्पादनके लिए इस [illegible] का प्रयोग करना बतलाया है। [illegible] निम्नलिखित [illegible]

[illegible]
[illegible]

'सम्बाधे' [illegible] योनिमें 'करिहस्त'को [अर्थात् तर्जनी, [illegible]—दोनों अंगुलियोंको मिलाकर] प्रविष्ट कर, अन्तर विलोडन [illegible] पुरुषका [ध्वज] [illegible] उपसर्पण [illegible] अन्तर्विराजते ॥ ३०४ ॥

[illegible]

[illegible]

वैराग्यकथासु—

उत्तानोच्छूनमण्डूकपाटितोदरसन्निभे ।

क्लेदिनि स्त्रीव्रणे सक्तिरकृमेः कस्य जायते ॥ ३०५ ॥

निर्वाणवैरदहनाः प्रशमादरीणां नन्दन्तु पाण्डुतनयाः सह माधवेन ।

रक्तप्रसाधितभुवः क्षतविग्रहाश्च स्वस्था भवन्तु कुरुराजसुताः सभृत्याः ॥३०६॥

अत्र भाव्यमङ्गलसूचकम् ।

सन्दिग्धमपि वाच्यमहिम्ना क्वचिन्नियतार्थप्रतीतिकृत्त्वेन व्याजस्तुतिपर्यवसायित्वे गुणः । यथा—

हाथीकी सूँड़ोंके द्वारा सेनाके भीतर प्रविष्ट होकर और भीतरसे विलोडित कर देनेपर योद्धा पुरुषकी ध्वजा उसके पीछे-पीछे चलकर शत्रुसेनाके बीचमें जाकर विराजित हो जाती है ॥ ३०४ ॥

इस उदाहरणमें सुरतारम्भगोष्ठीके समय व्रीडाव्यञ्जक अश्लीलता गुण हो गयी है। इस प्रकार वैराग्यविषयक चर्चाके समय जुगुप्साव्यञ्जक अश्लीलता गुण हो जाती है, इसका उदाहरण आगे देते हैं—

[उत्तान अर्थात्] ऊपरको पेट करके पड़े हुए और फूले हुए [या किसी रोगके कारण सूजे हुए] मेढकके फाड़े हुए पेटके समान, मवाद बहाते हुए [मदन-जलसे युक्त] स्त्रीकी योनिमें कीड़ोंके अतिरिक्त और किसकी आसक्ति हो सकती है ॥ ३०५ ॥

आगे अमङ्गलव्यञ्जक अश्लीलताके गुणत्वका उदाहरण देते हैं। यह श्लोक 'वेणीसंहार' नाटकके प्रथम अङ्कमें सूत्रधारकी उक्तिके रूपमें आया है। उसमें पाण्डवोंकी विजय तथा कौरवोंके भावी अमङ्गलकी सूचना मिलती है। श्लोकके उत्तरार्द्धमें कौरवोंकी मङ्गलकामनापरक अर्थ भी निकलता है, परन्तु उन्हीं पदोंसे श्लेष द्वारा अमङ्गलकी सूचना भी मिलती है। अर्थ इस प्रकार है—

शत्रुओंके नष्ट हो जानेसे जिनका वैराग्नि शान्त हो गया है, इस प्रकारके पाण्डव कृष्णके सहित आनन्द मनावें। अपने अनुरक्त मित्रों आदिको भूमिदान करनेवाले [रक्तेभ्यः प्रसाधिता भूः यैस्तैः रक्तप्रसाधितभुवः] और युद्धका नाश कर देनेवाले कौरव लोग भृत्योंके सहित स्वस्थ हों। [यह दोनों पक्षोंकी शुभकामनापरक अर्थ है। परन्तु उत्तरार्द्धका दूसरा अर्थ, 'रक्तेन प्रसाधिता भूः यैस्ते' अपने रक्तसे जमीनको रँग देनेवाले और जिनके शरीर घायल हो गये हैं [क्षतविग्रहाः] वे कौरवगण अपने भृत्योंके साथ 'स्वः स्वर्गे स्थिता भवन्तु' स्वर्गको चले जावें अर्थात् मर जावें। इस अमङ्गलको सूचित करनेवाला है। परन्तु यह अमङ्गलव्यञ्जक अश्लीलता यहाँ दोष नहीं अपितु गुण है] ॥ ३०६ ॥

यहाँ भावी अमङ्गलकी सूचक [अश्लीलता गुण हो गयी है]।

सन्दिग्धत्व भी कहीं वाच्यके प्रभावसे नियत अर्थका प्रतीतिजनक होनेसे व्याजस्तुतिपर्यवसायी होकर गुण हो जाता है। जैसे—

पृथुकार्तस्वरपात्रं भूषितनिःशेषपरिजनं देव ।
विलसत्करेणुगहनं सम्प्रति सममावयोः सदनम् ॥ ३०७ ॥

प्रतिपाद्यप्रतिपादकयोर्ज्ञत्वे सत्यप्रतीतत्वं गुणः । यथा—

आत्मारामा विहितरतयो निर्विकल्पे समाधौ
ज्ञानोद्रेकाद्विघटिततमोग्रन्थयः सत्त्वनिष्ठाः ।
यं वीक्षन्ते कमपि तमसां ज्योतिषां वा परस्तात्
तं मोहान्धः कथमयममुं वेत्ति देवं पुराणम् ॥ ३०८ ॥

[निर्धन कवि राजासे कह रहा है कि] हे राजन् ! इस समय हम दोनोंका [मेरा और आपका] घर एक ही समान है। [वह समानता श्लिष्ट पदों द्वारा बतलाता है। 'पृथुकार्त्तस्वरपात्रं पृथूनि महान्ति कार्तस्वरस्य सुवर्णस्य पात्राणि यस्मिंस्तथा, पृथुकानां बालानां आर्तस्वरस्य बुभुक्षादिवशाद् रोदनस्य पात्रं] बड़े-बड़े सोनेके पात्रोंसे युक्त [आपका घर है, और मेरा घर भूखे] बालकोंके रोनेका स्थान है। [दूसरी समानता है, 'भूषितनिःशेषपरिजनं' भूषिता अलङ्कृताः सर्वे परिजनाः सेवका यस्मिंस्तथा, भुवि पृथिव्याम् उषिताः पतिताः सर्वे परिवारजनाः यस्मिन्] जिसमें सारे सेवक आभूषणोंसे अलङ्कृत हैं [ऐसा आपका घर है, और मेरा घर] जिसमें परिवारके सारे सदस्य पृथिवीपर पड़े हैं। [तीसरी समानता है कि हम दोनोंके घर 'विलसत्करेणुगहनं' हैं। विलसन्तीभिः करेणुभिः गहनं व्याप्तं तथा बिले सीदन्तीति बिलसत्काः मूषकाः तेषां रेणुः बिलान्निर्गता धूलिः तया पूर्णम्] झूमती हुई हथिनियोंसे भरा [आपका घर है और मेरा घर] चूहोंके बिलोंसे [निकली हुई] धूलसे भरा हुआ है ॥ ३०७ ॥

यहाँ 'पृथुकार्त्तस्वरपात्र' इत्यादि विशेषणोंका कौन-सा अर्थ लिया जाय यह सन्दिग्ध है, परन्तु दोनों अर्थ दो भिन्न स्थितियोंके बोधक होकर व्याजस्तुति द्वारा राजाकी निन्दाको सूचित करते हैं, इसलिए यह सन्दिग्धत्व भी गुण हो गया है।

बोद्धा तथा वक्ताके [उस शास्त्रके] ज्ञाता होनेपर अप्रतीतत्वदोष भी गुण हो जाता है। जैसे—

'वेणीसंहार' नाटकके प्रथम अङ्कमें दूतरूपमें अपनी सभामें आये हुए कृष्णको पकड़नेका दुर्योधनने प्रयत्न किया था। इस समाचारको सुनकर भीम सहदेवसे कह रहे हैं कि जिस कृष्णके स्वरूपको, उनके भगवान् होनेके कारण, ज्ञानी लोग भी समाधिस्थ होकर कठिनाईसे समझ पाते हैं उनको यह मोहान्ध दुर्योधन क्या समझ सकता है।

निर्विकल्पक समाधिमें स्थित होकर आत्मस्वरूपमें रमण करनेवाले ज्ञानके उद्रेकसे जिनकी तमोगुणकी ग्रन्थियाँ नष्ट हो गयी हैं, इस प्रकारके सत्त्वप्रधान योगी, तम और ज्योति दोनोंसे परे किसी अनिर्वचनीय स्वरूप जिस [परमात्मारूप कृष्ण] को बड़ी कठिनाईसे देख पाते हैं, यह मोहान्ध [अज्ञानी दुर्योधन] उन पुरातन [सनातन] देव [विष्णुस्वरूप कृष्ण] को कैसे पहचान सकता है ॥ ३०८ ॥

यहाँ निर्विकल्प समाधि, आत्मरमण आदि शब्द योगशास्त्रके प्रसिद्ध शब्द हैं। योगशास्त्रमात्रमें प्रसिद्ध उन शब्दोंके प्रयोगसे यहाँ अप्रतीतत्वदोष हो सकता है। परन्तु वक्ता भीम और बोद्धा सहदेव, दोनों उस विषयके ज्ञाता हैं, अतः अप्रतीतत्वदोष यहाँ गुण हो गया है।

स्वयं वा परामर्शे यथा—

षडधिकदशनाडीचक्रमध्यस्थितात्मा हृदि विनिहितरूपः सिद्धिदस्तद्विदां यः ।
अविचलितमनोभिः साधकैर्मृग्यमाणः स जयति परिणद्धः शक्तिभिः शक्तिनाथः ॥३०९॥

अधमप्रकृत्युक्तिषु ग्राम्यत्वं गुणः । यथा—

फुल्लुक्करं कलमकूरणिहं वहंति जे सिन्धुवारविडवा मह वल्लहा दे ।
जे गालिदस्स महिसीदहिणो सरिच्छा दे किं च मुद्धविअइल्लपसूणपुंजा ॥३१०॥
[पुष्पोत्करं कलमभक्तनिभं वहन्ति ये सिन्धुवारविटपा मम वल्लभास्ते ।
ये गालितस्य महिषीदध्नः सदृक्षास्ते किं च मुग्धविचकिलप्रसूनपुञ्जाः ॥इति संस्कृतम्]

अत्र कलमभक्तमहिषीदधिशब्दा ग्राम्या अपि विदूषकोक्तौ ।

[इसी प्रकार] स्वयं चिन्तन [करने] में अप्रतीतत्वदोष गुण हो जाता है] जैसे—

['मालतीमाधव' नाटकके पञ्चम अङ्कमें स्वयं विचार करती हुई कपालकुण्डला कह रही है—] सोलह नाड़ियोंके [हृदयस्थित मणिपूर] चक्रके मध्यमें जिसका स्वरूप [आकार] स्थित है, जो उसको जाननेवालोंको [अणिमा आदिरूप] सिद्धियोंका प्रदान करनेवाला है और स्थिरचित्त साधकोंके द्वारा जिसका अनुसन्धान किया जाता है वह शक्तियोंसे युक्त शिव सर्वोत्कर्षशाली है ॥ ३०९ ॥

यहाँ नाडी, चक्र, शक्ति, शक्तिनाथ आदि शब्द हठयोगशास्त्रके शब्द हैं, अतः उनका काव्यमें प्रयोग अप्रतीतत्वदोषका जनक होना चाहिये। परन्तु कपालकुण्डला स्वयं चिन्तनके अवसरपर उनका प्रयोग कर रही है अतः वह दोष नहीं अपितु गुण हो गया है। इसमें दिखलायी हुई सोलह नाडियाँ निम्नलिखित प्रकार हैं—

> इडा च पिङ्गला चैव सुषुम्ना चापराजिता ।
> गान्धारी हस्तिजिह्वा च पूषा चैव तथापरा ॥
> अलम्बुसा कुहूश्चैव शङ्खिनी दशमी स्मृता ।
> तालुजिह्वा च विजया कामदापरा ॥
> अमृता बहुला नाम नाड्यो वायुसमीरिता ॥

नीच प्रकृति [के पात्रों] की उक्तियोंमें ग्राम्यत्व [दोष] गुण हो जाता है। जैसे—

राजशेखरविरचित 'कर्पूरमञ्जरी' नामक नाटिकामें प्रथम जवनिकाके बाद विदूषककी यह उक्ति है—

चावलोंके भातके समान पुष्पोंके समूहको जो धारण करते हैं, वे सिन्धुवार [निर्गुण्डी]के वृक्ष मुझे प्यारे लगते हैं। [इसी प्रकार] निचोड़े हुए [निर्जल किये हुए] भैंसके [दूधसे जमाये हुए] दहीके समान सुन्दर मल्लिकापुष्पोंके पुञ्ज भी मेरे प्रिय हैं ॥ ३१० ॥

यहाँ अधमपात्र विदूषककी उक्तिमें भातके समान या दहीके समान फूलोंका कथन ग्राम्यतापूर्ण वर्णन भी गुण हो गया है। उसके द्वारा विदग्धोंको भी रसास्वाद होता है।

यहाँ कलम, भक्त, महिषी-दधि आदि शब्द ग्राम्य होनेपर भी विदूषककी उक्तिमें [गुण हो गये हैं]।

न्यूनपदं क्वचिद् गुणः । यथा—

गाढालिङ्गनवामनीकृतकुचप्रोद्भूतरोमोद्गमा
सान्द्रस्नेहरसातिरेकविगलच्छ्रीमन्नितम्बाम्बरा ।
मा मा मानद माऽति मामलमिति क्षामाक्षरोल्लापिनी
सुप्ता किं नु मृता नु किं मनसि मे लीना विलीना नु किम् ॥ ३११ ॥

क्वचिन्न गुणो न दोषः । यथा—

तिष्ठेत्कोपवशात्प्रभावपिहिता दीर्घं न सा कुप्यति
स्वर्गायोत्पतिता भवेन्मयि पुनर्भावार्द्रमस्या मनः ।
तां हर्तुं विबुधद्विषोऽपि न च मे शक्ताः पुरोवर्तिनीं
सा चात्यन्तमगोचरं नयनयोर्यातेति कोऽयं विधिः ॥ ३१२ ॥

अत्र 'पिहिता' इत्यतोऽनन्तरं 'नैतद्यतः' इत्येतैर्न्यूनैः पदैर्विशेषबुद्धेरकरणान्न गुणः । उत्तरा प्रतिपत्तिः पूर्वां प्रतिपत्तिं बाधत इति न दोषः ।

न्यूनपदत्व [भी] कहीं गुण हो जाता है। जैसे—[यह श्लोक 'अमरुकशतक'से लिया गया है] गाढ़ आलिङ्गन [अधिक दबने]से जिसके स्तन नीचे हो गये हैं। जिसके [शरीरमें आनन्दातिरेकसे] रोमाञ्च हो आया है और अत्यन्त स्नेहके आनन्दातिरेकके कारण जिसके सुन्दर नितम्बोपरसे वस्त्र खिसका पड़ रहा है। मानको खण्डन करने वाले या सम्मानको देनेवाले [प्रियतम], बस करो, बस करो, अब मुझे और न पीड़ित करो, इस प्रकार धीरे-धीरे कहती हुई [आनन्दकी चरमभूमिमें पहुँचकर एकदम चुप हो गयी, तो उस समय वह] क्या सो गयी? अथवा मर गयी, अथवा मेरे मनमें समा गयी, अथवा [नीरक्षीरन्यायसे] विलीन हो गयी [अथवा जलमें लवणके समान विलीन हो गयी] ॥ ३११ ॥

इसमें 'मा मा' इसके बाद 'आयासय' और 'माति' इसके बाद 'पीडय' ये पद न्यून हैं। परन्तु इनकी अध्याहार द्वारा झटिति प्रतीति हो जानेसे यह दोष नहीं है, अपितु ... अभिलाषका स्पष्ट होनेसे गुण हो गया है।

कहीं [न्यूनपदता] न गुण होता है, न दोष। जैसे—

वह [उर्वशी] क्रोधके कारण अपने [देवाङ्गनात्वके दिव्य] प्रभावसे छिपकर रह सकती है [यह शङ्का होती है, परन्तु उसी समय उसका समाधान हो जाता है कि] किन्तु वह बहुत देरतक नाराज नहीं रहती है। [फिर दूसरी शङ्का होती है कि] शायद [मुझको छोड़कर] स्वर्गको चली गयी हो [पर साथ ही उसका निवारण भी हो जाता है कि] लेकिन उसका मन मुझपर प्रेमसे आर्द्र है। [इसलिए वह मुझे छोड़कर] स्वर्गको नहीं जा सकती है। तब फिर क्या कोई राक्षस हर ले गया यह शङ्का होती है [उसके साथ ही उसका समाधान हो जाता है कि] मेरे सामनेसे असुर भी उसका अपहरण नहीं कर सकते [औरोंकी तो बात ही क्या]। [इसलिए कोई अपहरण कर ले गया हो यह भी सम्भव नहीं] फिर भी वह आँखोंके सामनेसे बिल्कुल ओझल हो गयी है, यह कैसा भाग्य है [कुछ समझमें नहीं आता है]। ३१२ ॥

अधिकपदं क्वचिद् गुणः। यथा—

यद्वञ्चनाहितमतिर्बहु चाटुगर्भं कार्योन्मुखः खलजनः कृतकं ब्रवीति।

तत्साधवो न न विदन्ति, विदन्ति किन्तु कर्तुं वृथा प्रणयमस्य न पारयन्ति॥ ३१३॥

अत्र 'विदन्ति' इति द्वितीयमन्ययोगव्यवच्छेदपरम्।

यथा वा—

वद वद जितः शत्रुर्न हतो जल्पंश्च तव तवास्मीति।

चित्रं चित्रमरोदीद्धा हेति परं मृते पुत्रे॥ ३१४॥

इत्येवमादौ हर्षभयादियुक्ते वक्तरि।

कथितपदं क्वचिद् गुणः लाटानुप्रासे, अर्थान्तरसंक्रमितवाच्ये, विहितस्यानुवाद्यत्वे च। क्रमेणोदाहरणानि—

यहाँ 'पिहिता' इसके बाद 'नैतद्यतः' इन [न, एतत् और यतः तीन] न्यून पदोंसे [जो आवश्यक होनेपर भी पढ़े नहीं गये हैं] कोई विशिष्ट बुद्धि [अर्थात् उक्त वितर्कमें कोई चमत्कार] न करनेसे गुण नहीं है। और उसके बाद होनेवाली प्रतीति पूर्वप्रतीतिको बाधित कर देती है [जो कि कविको यहाँ अभिप्रेत है] इसलिए [उन पदोंकी न्यूनता कोई] दोष [भी] नहीं है।

अधिकपदत्व कहीं गुण हो जाता है। जैसे—

[दूसरे सज्जन व्यक्तिको] धोखा देनेके लिए तत्पर दुष्ट पुरुष अपना कार्य सिद्ध करनेके लिए [सज्जन पुरुषके सामने] जो बनावटी खुशामदभरी बातें बनाता है, उसको सज्जन पुरुष न समझ पाते हों सो बात [नहीं सब समझ जाते हैं] परन्तु फिर भी [अपनी सज्जनतावश] उसकी प्रार्थना अस्वीकार करनेमें असमर्थ हो जाते हैं॥ ३१३॥

यहाँ दूसरी बार आया हुआ 'विदन्ति' खूब समझते हैं, यह अन्य [व्यक्तियों] के साथ [उस ज्ञानके] सम्बन्धके निषेधका सूचक है [अर्थात् वे सज्जन पुरुष सब समझ तो जाते हैं, परन्तु किसी दूसरेपर इस बातको प्रकट नहीं होने देते हैं]।

अथवा [अधिकपदत्वके गुण हो जानेका दूसरा उदाहरण] जैसे—

[युद्धसे लौटे हुए सैनिकसे स्वामी राजा पूछता है कि—] बताओ बताओ, वह शत्रु जीता गया [या नहीं। इसके उत्तरमें सेवक कहता है कि जीतनेकी क्या बात है, वह तो आपकी शरणमें आकर] मैं आपका दास हूँ यह कहने लगा इसलिए मारा नहीं गया, परन्तु [उनका पुत्र तो युद्धमें मारा ही गया] पुत्रके मरनेपर वह हाय-हाय करके फूट-फूट करके [नाना प्रकारसे] रो रहा था॥ ३१४॥

इत्यादि उदाहरणोंमें हर्ष-भय आदिसे युक्त [वक्ताके होनेसे अधिकपदत्वदोष] गुण हो जाता है।

कथितपदत्व [अर्थात् पुनरुक्तत्व] कहीं [अर्थात्] १. लाटानुप्रास, २ अर्थान्तर-संक्रमितवाच्य [ध्वनि] तथा ३. विहितके अनुवाद करनेमें [तीन स्थानोंपर] गुण हो जाता है। क्रमशः [उन तीनोंके] उदाहरण [देते हैं]—

सितकरकररुचिरविभा विभाकराकार ! धरणिधर ! कीर्तिः ।
पौरुषकमला कमला सापि तवैवास्ति नान्यस्य ॥३१५॥
ताला जाअंति गुणा जाला दे सहिअएहिँ घेप्पन्ति ।
रइकिरणाणुग्गहिआइँ होन्ति कमलाइँ कमलाइँ ॥ ३१६ ॥
[तदा जायन्ते गुणाः यदा ते सहृदयैर्गृह्यन्ते ।
रविकिरणानुगृहीतानि भवन्ति कमलानि कमलानि ॥ इति संस्कृतम्]
जितेन्द्रियत्वं विनयस्य कारणं गुणप्रकर्षो विनयादवाप्यते ।
गुणप्रकर्षेण जनोऽनुरज्यते जनानुरागप्रभवा हि सम्पदः ॥ ३१७ ॥

पतत्प्रकर्षमिति क्वचिद् गुणः । यथा उदाहृते—

'प्रागप्राप्तेत्यादौ' ॥ ३१८ ॥

हे सूर्यके समान प्रतापशाली [विभाकराकार] राजन् ! [सितकर] चन्द्रमाकी किरणोंके समान [शुभ्र] १. कीर्ति और २. पराक्रमलक्ष्मी [पौरुष-कमला] तथा ३ वह [प्रसिद्ध] लक्ष्मी [ये तीनों लक्ष्मियाँ] भी आपकी ही है, अन्य किसीकी नहीं ॥ ३१५ ॥

यहाँ कर-कर, विभा-विभा तथा कमला-कमला इन तीनों स्थलोंपर तात्पर्यका भेद होनेपर शब्द तथा अर्थ दोनोंकी आवृत्ति होनेसे लाटानुप्रास है । [लाटानुप्रासका लक्षण इस प्रकार किया है—'शाब्दस्तु लाटानुप्रासो भेदे तात्पर्यमात्रतः'] ।

लाटानुप्रास होनेसे यहाँ इन पदोंकी पुनरुक्ति दोष नहीं है । आगे अर्थान्तरसंक्रमित [illegible] यहाँ [illegible] दोष न होनेका उदाहरण देते हैं—

जब सहृदय लोग उनको ग्रहण करते [कुछ मानते] हैं, तभी वे गुण होते हैं । सूर्यकी किरणोंसे अनुगृहीत कमल ही कमल होते हैं ॥ ३१६ ॥

[यहाँ 'भवन्ति कमलानि कमलानि'में दूसरा 'कमल' पद सौरभसौन्दर्यादिविशिष्ट कमल इस विशिष्ट अर्थका वाचक होनेसे अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य है, इसलिए उसकी पुनरुक्ति दोष नहीं है । यह श्लोक आनन्दवर्धनाचार्यकी 'विषमबाणलीला'से आया है यह बात स्वयं आनन्दवर्धनाचार्यने अपने "ध्वन्यालोक"में द्वितीय उद्योतमें इसको उद्धृत करते हुए कही है] ।

[illegible]

[illegible]

[illegible]

सितकरकररुचिरविभा विभाकराकार ! धरणिधर ! कीर्तिः ।
पौरुषकमला कमला सापि तवैवास्ति नान्यस्य ॥३१५॥
ताला जाअंति गुणा जाला दे सहिअएहि घेप्पन्ति ।
रइकिरणाणुग्गहिआइँ होन्ति कमलाइँ कमलाइँ ॥ ३१६ ॥
[तदा जायन्ते गुणाः यदा ते सहृदयैर्गृह्यन्ते ।
रविकिरणानुगृहतानि भवन्ति कमलानि कमलानि ॥ इति संस्कृतम्]
जितेन्द्रियत्वं विनयस्य कारणं गुणप्रकर्षो विनयादवाप्यते ।
गुणप्रकर्षेण जनोऽनुरज्यते जनानुरागप्रभवा हि सम्पदः ॥ ३१७ ॥

पतत्प्रकर्षमति कचिद् गुणः । यथा उदाहृते—

'प्रागप्राप्तेत्यादौ' ॥ ३१८ ॥

हे सूर्यके समान प्रतापशाली [विभाकराकार] राजन् ! [सितकर] चन्द्रमाकी किरणोंके समान [शुभ्र] १. कीर्ति और २. पराक्रमलक्ष्मी [पौरुष-कमला] तथा ३ वह [प्रसिद्ध] लक्ष्मी [ये तीनों लक्ष्मियाँ] भी आपकी ही है, अन्य किसीकी नहीं ॥ ३१५ ॥

यहाँ कर-कर, विभा-विभा तथा कमला-कमला इन तीनों स्थलोंपर तात्पर्यका भेद होनेपर शब्द तथा अर्थ दोनोंकी आवृत्ति होनेसे लाटानुप्रास है। [लाटानुप्रासका लक्षण इस प्रकार किया है—'शाब्दस्तु लाटानुप्रासो भेदे तात्पर्यमात्रतः'] ।

लाटानुप्रास होनेसे यहाँ उन पदोंकी पुनरुक्ति दोष नहीं है। आगे अर्थान्तरसंक्रमित [illegible] पुनरुक्त पदके दोष न होनेका उदाहरण देते हैं—

जब सहृदय लोग उनको ग्रहण करते [कुछ मानते] हैं, तभी वे गुण होते हैं। सूर्यकी किरणोंसे अनुगृहीत कमल ही कमल होते हैं ॥ ३१६ ॥

[यहाँ 'भवन्ति कमलानि कमलानि'में दूसरा 'कमल' पद सौरभसौन्दर्यादिविशिष्ट कमल इस विशिष्ट अर्थका वाचक होनेसे अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य है, इसलिए उसकी पुनरुक्ति दोष नहीं है। यह श्लोक आनन्दवर्धनाचार्यकी 'विषमबाणलीला'में आया है। यह बात स्वयं आनन्दवर्धनाचार्यने अपने 'ध्वन्यालोक'में द्वितीय उद्योतमें इसको उद्धृत करते हुए कही है]।

[illegible]

जितेन्द्रियत्व विनयका कारण [illegible] ॥ ३१७ ॥

[illegible]

[illegible]

समासपुनरात्तत्वं क्वचिन्न गुणो न दोषः। यत्र न विशेषणमात्रदानार्थं पुनर्ग्रहणम्, अपि तु वाक्यान्तरमेव क्रियते यथा अत्रैव 'प्रागप्राप्त' इत्यादौ ॥ ३१९ ॥

अपदस्थसमासं क्वचिद् गुणः यथा उदाहृते 'रक्ताशोक' इत्यादौ ॥ ३२० ॥

गर्भितं तथैव यथा—

हुमि अवहत्थिअरेहो णिरंकुसो अह विवेअरहिओ वि।
सिविणे वि तुमम्मि पुणो पत्तिहि भत्तिं ण पसुमरामि ॥ ३२१ ॥
[भवाम्यपहस्तितरेखो निरङ्कुशोऽथ विवेकरहितोऽपि।
स्वप्नेऽपि त्वयि पुनः प्रतीहि भक्तिं न प्रस्मरामि ॥ इति संस्कृतम्]

अत्र प्रतीहीति मध्ये दृढप्रत्ययोत्पादनाय। एवमन्यदपि लक्ष्यात् लक्ष्यम्।

[सू० ८१] व्यभिचारिरसस्थायिभावानां शब्दवाच्यता।
कष्टकल्पनया व्यक्तिरनुभावविभावयोः ॥६०॥
प्रतिकूलविभावादिग्रहो दीप्तिः पुनः पुनः।
अकाण्डे प्रथनच्छेदौ अङ्गस्याप्यतिविस्तृतिः ॥६१॥

समासपुनरात्तत्व कहीं न दोष होता है, न गुण। जहाँ केवल विशेषणमात्र देनेके लिए [ही समासका] दुबारा ग्रहण नहीं अपितु नया वाक्य ही बनाया जाता है [वहाँ समासपुनरात्तत्व न दोष होता है, और न गुण] जैसे इसी 'प्रागप्राप्त' इत्यादि [श्लोक सं० २०९ पृष्ठ २५६] में [येनानेन आदि चतुर्थ] चरणमें समास अर्थका पुनरुपादान होनेपर भी वह विशेषणमात्र देनेके लिए नहीं अपितु वाक्यके रूपमें पुनरुपात्त होनेसे दोष नहीं है ॥ ३१९ ॥

अपदस्थ समास [अर्थात् अस्थानमें समास कर देना भी] कहीं कहीं गुण हो जाता है, जैसे पूर्वोदाहृत 'रक्ताशोक' [उदाहरण सं० २००] में [यहाँ शृङ्गाररसमें दीर्घ-समासमयी रचना रक्ताशोकके प्रति कोपकी अभिव्यञ्जना कर रही है। इसलिए विप्रलम्भकी पोषिका होकर गुण हो गयी है] ॥ ३२० ॥

गर्भितत्व [दोष भी कहीं गुण हो जाता है] जैसे—[हे स्वामिन्] मैं चाहे मर्यादा-का अतिक्रमण करनेवाला [अपहस्तितरेख,] निरङ्कुश अथवा विवेकरहित भले ही हो जाऊँ, परन्तु आप विश्वास करें कि स्वप्नमें भी आपकी भक्तिको नहीं भूलूँगा ॥३२१॥

[यहाँ वाक्यके बीचमें आया हुआ] 'प्रतीहि' पद [दूसरे वाक्यके] बीचमें दृढ़ विश्वासके उत्पादनके लिए [प्रयुक्त हुआ है, अतः दोष न होकर गुण हो गया] है।

इस प्रकार उदाहरणोंसे और भी [दोषोंकी अदोषता] समझनी चाहिये।

रसदोषनिरूपण

[सू० ८१]—१ व्यभिचारिभावों, २. रसों अथवा ३. स्थायिभावोंका अपने वाचक शब्द द्वारा कहना [स्वशब्दवाच्यता], ४ अनुभाव और ५. विभावकी कष्टकल्पनासे अभिव्यक्ति, ६. [रसके] प्रतिकूल विभाव आदिका ग्रहण करना

अङ्गिनोऽननुसन्धानं प्रकृतीनां विपर्ययः ।
अनङ्गस्याभिधानं च रसे दोषाः स्युरीदृशाः ॥६२॥

स्वशब्दोपादानं व्यभिचारिणो यथा—

सव्रीडा दयितानने सकरुणा मातङ्गचर्माम्बरे
सत्रासा भुजगे सविस्मयरसा चन्द्रेऽमृतस्यन्दिनि ।
सेर्ष्या जह्नुसुतावलोकनविधौ दीना कपालोदरे
पार्वत्या नवसङ्गमप्रणयिनी दृष्टिः शिवायाऽस्तु वः ॥ ३२२ ॥

अत्र व्रीडादीनाम् ।

'व्यानम्रा दयितानने मुकुलिता मातङ्गचर्माम्बरे
सोत्कम्पा भुजगे निमेषरहिता चन्द्रेऽमृतस्यन्दिनि ।
मीलद्भ्रूः सुरसिन्धुदर्शनविधौ म्लाना कपालोदरे ।'

इत्यादि तु युक्तम् ।

---

७. [रसकी] बार-बार दीप्ति, ८. [रसका] अनवसरमे विस्तार कर देना, ९. अनवसरमें विच्छेद कर देना, १०. अप्रधान [अङ्ग रस]का भी अत्यधिक विस्तार कर देना, ११. [अङ्गी] प्रधान रसको त्याग देना [भूल जाना], १२ प्रकृतियों [पात्रों] का विपर्यय कर देना और १३. अनङ्ग [अर्थात् जो प्रकृत रसका उपकारक नहीं है, उस] का कथन, इस प्रकारके रसमे रहनेवाले [१३] दोष होते है ॥ ६०-६२ ॥

(१) व्यभिचारिभावोंका वाचक शब्दसे कथन [का उदाहरण] देते है। जैसे—

[दयित] प्रियतम [शिवजी] के मुखके सामने होनेपर सलज्ज, [उनके ओढ़े हुए] हाथीके चर्मके [बने हुए वस्त्रको] देखनेपर सकरुण, शिवजीके द्वारा आभूषण रूपमें धारण किये हुए] साँपोको देखनेपर त्रासयुक्त, अमृतको प्रवाहित करनेवाले चन्द्रमाको देखनेपर विस्मयरससे युक्त, [शिवजीके मस्तकपर स्थित जह्नु-कन्या] गङ्गाको देखनेपर ईर्ष्याभावसे युक्त, [शिवजी द्वारा धारण किये हुए] कपालके भीतर देखनेपर दीनतायुक्त इस प्रकार नवसङ्गमके लिए उत्सुक पार्वतीकी दृष्टि तुम्हारे लिए कल्याणकारिणी हो ॥ ३२२ ॥

यहाँ व्रीडा आदि [व्यभिचारिभावों] का [अपने वाचक शब्दों द्वारा कथन होनेमें व्यभिचारिभावोंकी स्वशब्दवाच्यता दोष है]।

'व्यानम्रा दयितानने' इत्यादि पाठ युक्त [हो सकता] है [क्योंकि उसमें व्यभिचारिभावोंके वाचक शब्दोंको हटाकर उनको अन्य प्रकारसे प्रकट किया गया है। 'सव्रीडा'के स्थानपर 'व्यानम्रा', 'सकरुणा'के स्थानपर 'मुकुलिता', 'सत्रासा'के स्थानपर 'सोत्कम्पा', 'सविस्मयरसा'के स्थानपर 'निमेषरहिता', 'सेर्ष्या'के स्थानपर 'मीलद्भ्रूः' और 'दीना'के स्थानपर 'म्लाना' पाठ कर देनेसे उन व्यभिचारिभावोंकी स्वशब्दवाच्यता नहीं रहती है। अतः दोषका निवारण हो जाता है]।

(२) रसस्य स्वशब्देन शृङ्गारादिशब्देन वा वाच्यत्वम्। क्रमेणोदाहरणम्—

तामनङ्गजयमङ्गलश्रियं किञ्चिदुच्चभुजमूललोकिताम्।
नेत्रयोः कृतवतोऽस्य गोचरे कोऽप्यजायत रसो निरन्तरः ॥३२३॥

आलोक्य कोमलकपोलतलाभिषिक्तव्यक्तानुरागसुभगामभिराममूर्तिम्।
पश्यैष बाल्यमतिवृत्य विवर्तमानः शृङ्गारसीमनि तरङ्गितमातनोति ॥३२४॥

(३) स्थायिनो यथा—

सम्प्रहारे प्रहरणैः प्रहाराणां परस्परम्।
ठणत्कारैः श्रुतिगतैरुत्साहस्तस्य कोऽप्यभूत् ॥३२५॥

अत्रोत्साहस्य।

(४) कर्पूरधूलिधवलद्युतिपूरधौतदिङ्मण्डले शिशिररोचिषि तस्य यूनः।
लीलाशिरोंऽशुकनिवेशविशेषक्लृप्तिव्यक्तस्तनोन्नतिरभून्नयनावनौ सा ॥३२६॥

अत्रोद्दीपनालम्बनरूपाः शृङ्गारयोग्या विभावा अनुभावपर्यवसायिनः स्थिता इति कष्टकल्पना।

---

(२) रसकी स्वशब्द १. रस शब्दसे अथवा २. शृङ्गारादि शब्दसे वाच्यता [दोनों रसदोष] हैं। क्रमशः उनके उदाहरण [देते हैं]—

कामदेवके विजयकी मङ्गललक्ष्मी और [illegible] देखी गयी उस [नायिकाको देखकर इसके [नायकके भीतर] [illegible] अविच्छिन्न [निरन्तर] रस [का उदय] हुआ ॥३२३॥

[यहाँ रसका सामान्यवाचक रस शब्दसे ही निर्देश होनेके कारण [illegible]।]

[नायिकाके] कोमल कपोलतलपर [illegible] कारण [और भी अधिक] सुन्दर उस मनोहर रूपवाली [नायिका] को [illegible] अवस्थाका अतिक्रमण करके नवयौवनमें प्रविष्ट होता [illegible] की सीमामें तरङ्गित हो रहा है। इसको देखो ॥३२४॥

(३) स्थायिभावकी [स्वशब्दवाच्यता होनेपर [illegible]] है—

युद्ध [भूमि] में शस्त्रोंके परस्पर टकरानेसे [illegible] में कोई अपूर्व [अनिर्वचनीय] उत्साह [उत्पन्न] हुआ ॥ [illegible]

यहाँ [वीररसके स्थायिभाव] उत्साहकी [illegible]

[illegible]

(४) कर्पूरधूलिके समान शुभ्र [illegible] चन्द्रमाके [उदय] होनेपर, सिरपर पड़े [illegible] उन्नतिको प्रकट करनेवाली [illegible]

यहाँ उद्दीपन [रूप विभाव अर्थात् [illegible] योग्य विभाव, अनुभावमें पर्यवसित रूपसे स्थित [illegible]

अङ्गिनोऽननुसन्धानं प्रकृतीनां विपर्ययः ।
अनङ्गस्याभिधानं च रसे दोषाः स्युरीदृशाः ॥६२॥

स्वशब्दोपादानं व्यभिचारिणो यथा—

सव्रीडा दयितानने सकरुणा मातङ्गचर्माम्बरे
सत्रासा भुजगे सविस्मयरसा चन्द्रेऽमृतस्यन्दिनि ।
सेर्ष्या जह्नुसुतावलोकनविधौ दीना कपालोदरे
पार्वत्या नवसङ्गमप्रणयिनी दृष्टिः शिवायाऽस्तु वः ॥ ३२२ ॥

अत्र व्रीडादीनाम् ।

'ध्यानम्रा दयितानने मुकुलिता मातङ्गचर्माम्बरे
सोत्कम्पा भुजगे निमेषरहिता चन्द्रेऽमृतस्यन्दिनि ।
मीलद्भ्रूः सुरसिन्धुदर्शनविधौ म्लाना कपालोदरे ।'

इत्यादि तु युक्तम् ।

---

७. [रसकी] बार-बार दीप्ति, ८ [रसका] अनवसरमें विस्तार कर देना, ९. अनवसरमें विच्छेद कर देना, १० अप्रधान [अङ्ग रस]का भी अत्यधिक विस्तार कर देना, ११. [अङ्गी] प्रधान रसको त्याग देना [भूल जाना], १२. प्रकृतियों [पात्रों] का विपर्यय कर देना और १३ अनङ्ग [अर्थात् जो प्रकृत रसका उपकारक नहीं है, उस] का कथन, इस प्रकारके रसमें रहनेवाले [१३] दोष होते हैं ॥ ६०-६२ ॥

(१) व्यभिचारिभावोंका वाचक शब्दसे कथन [का उदाहरण] देते हैं। जैसे—

[दयित] प्रियतम [शिवजी] के मुखके सामने होनेपर सलज्ज, [उनके ओढ़े हुए] हाथीके चर्मके [बने हुए वस्त्रको] देखनेपर सकरुण, [शिवजीके द्वारा आभूषण रूपमें धारण किये हुए] साँपोंको देखनेपर त्रासयुक्त, अमृतको प्रवाहित करनेवाले चन्द्रमाको देखनेपर विस्मयरससे युक्त [शिवजीके मस्तकपर स्थित जह्नुकन्या] गङ्गाको देखनेपर ईर्ष्याभावसे युक्त [शिवजी द्वारा धारण किये हुए] कपालके भीतर देखनेपर दीनतायुक्त इस प्रकार नवसङ्गमके लिए उत्सुक पार्वतीकी दृष्टि तुम्हारे [illegible] [illegible] हो ॥ ३२२ ॥

यहाँ व्रीडा आदि [व्यभिचारिभावों] का [अपने वाचक शब्दों द्वारा कथन होनेसे व्यभिचारिभावोंकी स्वशब्दवाच्यता दोष है]।

[illegible]

(५) परिहरति रतिं मतिं लुनीते स्खलति भृशं परिवर्तते च भूयः ।
इति बत विषमा दशास्य देहं परिभवति प्रसभं किमत्र कुर्मः ॥ ३२७ ॥

अत्र रतिपरिहारादीनामनुभावानां करुणादावपि सम्भवात्कामिनीरूपो विभावो यत्नतः प्रतिपाद्यः ।

(६) प्रसादे वर्तस्व प्रकटय मुदं संत्यज रुषं
प्रिये ! शुष्यन्त्यङ्गान्यमृतमिव ते सिञ्चतु वचः ।
निधानं सौख्यानां क्षणमभिमुखं स्थापय मुखं
न मुग्धे ! प्रत्येतुं प्रभवति गतः कालहरिणः ॥ ३२८ ॥

अत्र शृङ्गारे प्रतिकूलस्य शान्तस्यानित्यताप्रकाशनरूपो विभावस्तत्प्रकाशितो निर्वेदश्च व्यभिचारी उपात्तः ।

अनुभावोंका वर्णन नहीं है। किन्तु ऐसी उद्दीपक स्थितिमें नायिकाको देखकर नायकमें स्वेद, रोमाञ्च इत्यादि शृङ्गारके अनुभावोंकी उत्पत्ति अपेक्षित है। वह प्रकरण आदिके अनुसन्धान वश विलम्बसे [क्लिष्टकल्पना] द्वारा प्रतीत होती] है [अतः यह अनुभावकी कष्टकल्पना दोष है]।

५. [यह नायक कामिनीके वियोगमें] बेचैन हो रहा है, [इसका] विवेक नष्ट हो गया है [कर्तव्याकर्तव्यका इस समय इसको कोई ध्यान नहीं है], यह [चलते हुए या उठ-उठकर] गिर पड़ता है, और [जमीनपर] बार-बार लोटता-पोटता है। इस प्रकार इसके शरीरकी बड़ी भयङ्कर दशा हो रही है। यह बड़े खेदकी बात है। [परन्तु] हम इस [दशा] में क्या [सहायता] करें [यह समझमें नहीं आता] ॥ ३२७ ॥

यहाँ [वर्णित किये हुए] बेचैनी आदि अनुभाव [न केवल शृङ्गाररसमें ही अपितु] करुण [आदि पदसे भयानक तथा वीभत्सरस] आदिमें भी हो सकते हैं। इसलिए कामिनीरूप [आलम्बन] विभाव [यहाँ अभिप्रेत है वह] कठिनाईसे प्रतीत होता है [अतः यहाँ विभावकी कष्टकल्पनारूप दोष है]।

इस प्रकार यहाँतक पाँच रसदोषोंका निरूपण करनेके बाद अब प्रतिकूल विभावादिके ग्रहण-रूप छठे रसदोषका निरूपण करते हैं—

६. [कोई नायक रूठी हुई नायिकाको प्रसन्न करता हुआ कह रहा है कि] मान जाओ, तनिक मुस्करा दो [प्रकटय मुदं], यह गुस्सा छोड़ दो, हे प्रिये [तुम्हारी इस नाराजगीके कारण मेरे] अङ्ग सूखे जा रहे हैं, उनपर अपनी [प्रसन्नताभरी प्रिय] वाणीरूप अमृतका सिञ्चन करो। [मेरे] सारे सुखोंके [एकमात्र] आधार अपने इस सुन्दर मुखको जरा मेरे सामने करो। हे मुग्धे ! गया हुआ यह समयरूप मृग फिर लौटकर नहीं आ सकता है ॥ ३२८ ॥

यहाँ [गया हुआ यह समय फिर लौटकर नहीं आ सकता है, इससे] शृङ्गार-रसके प्रतिकूल [यौवनकी] अनित्यताप्रकाशन-रूप शान्तरसके विभाव और उससे प्रकाशित [शान्तरसके] निर्वेदरूप व्यभिचारिभावका प्रतिपादन किया गया है [अतः प्रकृत शृङ्गाररसके प्रतिकूल विभाव तथा व्यभिचारिभावका ग्रहण दोष है]।

णिहुअरमणम्मि लोअणपहम्मि पडिए गुरुअणमज्झम्मि ।
सअलपरिहाराहिअआ वणगमणं एव्व महइ वहू ॥३२९॥
[निभृतरमणे लोचनपथे पतिते गुरुजनमध्ये ।
सकलपरिहारहृदया वनगमनमेवेच्छति वधूः ॥ इति संस्कृतम्]

अत्र सकलपरिहारवनगमने शान्तानुभावौ । इन्धनाद्यानयनव्याजेनोपभोगार्थं वनगमनं चेत् न दोषः ।

(७) दीप्तिः पुनः पुनर्यथा कुमारसम्भवे रतिविलापे ।

(८) अकाण्डे प्रथनं यथा—वेणीसंहारे द्वितीयेऽङ्केऽनेकवीरक्षये प्रवृत्ते भानुमत्या सह दुर्योधनस्य शृङ्गारवर्णनम् ।

इसी प्रकार प्रतिकूल अनुभावोंका ग्रहण होनेपर भी यह दोष हो सकता है, इसका उदाहरण आगे देते हैं—

[सास-ससुर आदि] गुरुजनोंके बीचमें [उनकी उपस्थितिमें] गुप्तपति [जार-पुरुष]के दिखलायी देनेपर वह सब-कुछ [कार्य] छोड़कर [उस जारसे मिलनेके लिए इन्धन आदि बीनकर लानेके व्याजसे] वनको ही जाना चाहती है ॥ ३२९ ॥

यहाँ सब-कुछ छोड़ देना तथा वनको जाना, ये दोनों [शृङ्गाररसके विरोधी] शान्तरसके अनुभाव हैं। [इसलिए यहाँ वे जिस रूपमें पठित हैं, उस रूपमें प्रकृत विप्रलम्भशृङ्गारकी प्रतीतिमें बाधक होनेसे दोष हैं] परन्तु यदि इन्धन आदि लानेके बहानेसे उपभोग करनेके लिए वनको जाना चाहती है तो दोष नहीं होगा।

७ [सप्तम रसदोष रसकी] बार-बार दीप्ति है, जैसे 'कुमारसम्भव'में रतिके विलापके प्रसङ्गमें—

'कुमारसम्भव'के चतुर्थ सर्गमें कामदेवके भस्म कर दिये जानेके बाद रतिके विलापका वर्णन किया गया है। उसमें 'अथ मोहपरायणा सती' [४.१] से करुणरसको प्रारम्भ किया गया है। उसके प्रारम्भमें 'अथ' शब्द दिया है, जो रसकी प्रारम्भिक दीप्तिको सूचित करता है। इसके बाद '[illegible] पुनरेव विह्वला' [४.४] इत्यादिमें 'अथ' तथा 'पुनः' शब्दसे फिर उस रसकी दीप्ति [illegible] रोद सा भृशम्' [४.२६] इत्यादिसे करुणरसको फिर उद्दीप्त किया गया है। इस प्रकार [illegible] उपभुक्त रसका बार बार वर्णन उपभुक्त कुसुमपरिमलके समान [illegible] लिए [illegible] है, अतः दोष है। इसलिए ध्वन्यालोककारने भी लिखा है कि—

परिपोषं गतस्यापि पौनःपुन्येन दीपनम् ।
रसस्य स्याद्विरोधाय वृत्त्यनौचित्यमेव च ॥ ध्वन्यालोक [illegible]

आगे अकाण्डमें प्रथन अर्थात् अवसर न होनेपर भी [illegible] रूप अष्टम रसदोषका निरूपण करते हैं—

८ अनवसरमें प्रतिपादन [का उदाहरण], जैसे 'वेणीसंहार'के द्वितीय अङ्कमें [भीष्म आदि अनेक वीरोंका मरण आरम्भ होनेपर भानुमतीके साथ दुर्योधनके [सम्भोगरूप] शृङ्गाररसका वर्णन [अनुचित होनेसे दोष है]।

रतिहासशोकाद्भुतानि अदिव्योत्तमप्रकृतिवत् दिव्येष्वपि । किन्तु रतिः सम्भोगश्रृङ्गाररूपा उत्तमदेवता विषया न वर्णनीया । तद्वर्णनं हि पित्रोः सम्भोगवर्णनमिवात्यन्तमनुचितम् ।

क्रोधं प्रभो ! संहर संहरेति यावद्गिरः खे मरुतां चरन्ति ।
तावत् स वह्निर्भवनेत्रजन्मा भस्मावशेषं मदनं चकार ॥३३०॥

इत्युक्तवद् भ्रुकुट्यादिविकारवर्जितः क्रोधः सद्यःफलदः स्वर्गपातालगगनसमुद्रोल्लङ्घनाद्युत्साहश्च दिव्येष्वेव ।

हैं]। और वे [क्रमशः] वीर, रौद्र, श्रृङ्गार तथा शान्तरसप्रधान, [क्रमशः १. वीररसप्रधान] धीरोदात्त, [२. रौद्ररसप्रधान] धीरोद्धत, [३ श्रृङ्गाररसप्रधान] धीरललित और [४. शान्तरसप्रधान] धीरप्रशान्त [चार प्रकारके] होते हैं। [इस प्रकार नायकोंके पहिले तीन, फिर उनमेंसे प्रत्येकके चार भेद करनेसे १२ भेद हो जाते हैं। अब इन बारहके फिर] उत्तम, मध्यम, तथा अधम [तीन भेद] होते हैं [इस प्रकार नायक अथवा प्रकृतियोंके ३६ भेद होते हैं]।

इस प्रकार प्रकृति अर्थात् नायकके भेदोंको दिखलानेके बाद 'प्रकृतिविपर्यय'के [illegible] लिए पहिले प्रकृतिके औचित्यका प्रतिपादन करते हैं। इस प्रदर्शित औचित्यका परित्याग कर [illegible] वर्णन करनेसे 'प्रकृतिविपर्यय' दोष हो जाता है। पहिले प्रकृतिके औचित्यका प्रतिपादन इस प्रकार करते हैं—

इनमेंसे रति, हास, शोक, अद्भुत [रूप स्थायिभावों अर्थात् श्रृङ्गार, हास्य करुण तथा अद्भुतरसों] का अदिव्य उत्तम नायकोंके समान दिव्य [उत्तम नायकों] में भी [वर्णन करना चाहिये]। किन्तु [इस बातका ध्यान रखना चाहिये कि] सम्भोग श्रृङ्गाररूप रतिका [परस्परावलोकनको छोड़कर] उत्तम देवताविषयक वर्णन नहीं करना चाहिये। क्योंकि उसका वर्णन माता-पिताके सम्भोगवर्णनके समान [illegible] अनुचित है [अतएव, 'कुमारसम्भव'में जो शिव-पार्वतीके सम्भोगका वर्णन [illegible] अनुचित है]।

इस प्रकार श्रृङ्गार, हास्य, करुण तथा अद्भुत [illegible] नायकोंका वर्णन करनेके विषयमें जो औचित्य है [illegible] भ्रुकुटिरहित क्रोध तथा स्वर्ग, पाताल-गमन या समुद्रलङ्घन [illegible] प्रकृतियोंमें ही करना चाहिये। [illegible] आगे करते हैं—

हे भगवन् [महादेव] ! क्रोधको शान्त कीजिये, शान्त कीजिये [illegible] आकाशमें देवताओंकी इस प्रकारकी आवाज सुनायी पड़े, [illegible] नेत्रसे उत्पन्न [क्रोधरूपी] अग्निने कामदेवको भस्मावशेष कर दिया। ३३०।

इस प्रकार कहे हुए [क्रोध] के समान भ्रुकुटी आदि [illegible] तथा तुरन्त फल देनेवाले क्रोध तथा स्वर्ग, पाताल आदि जाने [illegible] उत्साह [illegible] वर्णन दिव्य [प्रकृतियों]में ही करना चाहिये।

अदिव्येषु तु यावदवदानं प्रसिद्धमुचितं वा तावदेवोपनिबद्धव्यम् । अधिकं तु निबध्यमानमसत्यप्रतिभासेन 'नायकवद्वर्तितव्यं न प्रतिनायकवद्' इत्युपदेशे न पर्यवस्येत् ।

दिव्यादिव्येषु उभयथाऽपि ।

एवमुक्तस्यौचित्यस्य दिव्यादीनामिव धीरोदात्तादीनामप्यन्यथावर्णनं विपर्ययः ।

१. तत्रभवन् भगवन्नित्युत्तमेन न अधमेन मुनिप्रभृतौ न राजादौ, २. भट्टारकेति नोत्तमेन राजादौ प्रकृतिविपर्ययापत्तेर्वाच्यम् । एवं देशकालवयोजात्यादीनां वेषव्यवहारादिकमुचितमेवोपनिबद्धव्यम् ।

अदिव्य [अर्थात् मनुष्य आदि] में जो जितना ['अवदानं कर्म वृत्तम्' इतिहास-प्रसिद्ध] पूर्वचरित्र आदिमें प्रसिद्ध है, अथवा [मनुष्यके लिए] उचित [हो सकता] है उतना ही वर्णन करना चाहिये। क्योंकि अधिक [उत्साहादिका] वर्णन कर देनेसे [उसके] असत्य प्रतीत होने [लगने] से [काव्यके प्रमुख प्रयोजन] नायक [राम आदि] के समान व्यवहार करना चाहिये, प्रतिनायक [रावण आदि] के समान नहीं', इस प्रकारके उपदेशमें परिणत नहीं हो सकता है। इसलिए मनुष्यके लिए साध्य उत्साह आदिसे अधिक उत्साहादिका वर्णन अदिव्य प्रकृतिमें नहीं करना चाहिये]।

दिव्यादिव्य [प्रकृति या नायकों] में [दिव्य तथा अदिव्य] दोनों [के योग्य कार्यों]का वर्णन किया जा सकता है]।

इस प्रकार कहे हुए औचित्यके विपरीत दिव्य [अदिव्य या दिव्यादिव्य नायकों]के समान धीरोदात्त आदिका वर्णन भी [प्रकृति] विपर्यय [दोष] कहलाता है [अर्थात् जिस प्रकार दिव्य आदि नायकोंके औचित्यके विपरीत वर्णन करना दोष है, उसी प्रकार धीरोदात्त आदि जो नायकोंके भेद किये गये हैं, उनके औचित्यके विपरीत वर्णन करना भी इस प्रकृति-विपर्यय दोषके अन्तर्गत आता है]।

इस प्रकृतिविपर्ययके अन्तर्गत सम्बोधन पदोंके औचित्यका विचार भी सम्मिलित होता है। किन-किन स्थितिके लोगोंके लिए किन किन सम्बोधन पदोंका प्रयोग करना चाहिये इसके लिए आवश्यक नियम बने हुए हैं, उन नियमोंका उल्लंघन करके उनके लिए प्रयुक्त होनेवाले सम्बोधन-पदोंका अन्यथा प्रयोग करना भी प्रकृतिविपर्ययदोष है। अतः उसका निर्देश आगे करते हैं—

१. तत्रभवन्, भगवन्, यह उत्तम [पात्र]के द्वारा अधम [पात्र] के द्वारा नहीं, मुनि प्रभृतिके लिए [प्रयुक्त किया जाना चाहिये] राजा आदिके लिए नहीं। [अर्थात् तत्रभवन् तथा भगवन् ये सम्बोधन-पद केवल मुनियोंके लिए और वह भी उत्तम पात्र द्वारा प्रयुक्त किये जाने चाहिये। अधम पात्रके द्वारा उनका प्रयोग नहीं होना चाहिये और न राजा आदिके लिए उनका प्रयोग होना चाहिये] और २. राजा आदिके लिए अधम [पात्र] द्वारा भट्टारक [इस सम्बोधनका प्रयोग होना चाहिये] उत्तम [पात्र] के द्वारा [राजा आदिके लिए भी भट्टारक आदि सम्बोधन-पदोंका प्रयोग] नहीं होना चाहिये। क्योंकि उससे प्रकृतिविपर्ययदोष हो जाता है। इसी प्रकार देश, काल अवस्था, जाति आदिके वेष, व्यवहार आदिका उचितरूपसे ही वर्णन करना चाहिये [इनमेंसे किसीका भी अन्यथा वर्णन करनेसे प्रकृतिविपर्ययदोष हो जाता है]।

(१३) अनङ्गस्य रसानुपकारकस्य वर्णनम् यथा—कर्पूरमञ्जर्यां नायिकया, स्वात्मना च कृतं वसन्तवर्णनमनादृत्य बन्दिवर्णितस्य राज्ञा प्रशंसनम् । **ईदृशा इति ।** नायिकापादप्रहारादिना नायककोपादिवर्णनम् । उक्तं हि ध्वनिकृता—

अनौचित्यादृते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम् ।
औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा ॥ इति ॥

इदानीं क्वचिद्दोषा अप्येते—इत्युच्यन्ते ।

[सू० ८२] न दोषः स्वपदेनोक्तावपि सञ्चारिणः क्वचित् ।

यथा—

औत्सुक्येन कृतत्वरा सहभुवा व्यावर्तमाना ह्रिया
तैस्तैर्बन्धुवधूजनस्य वचनैर्नीताभिमुख्यं पुनः ।
दृष्ट्वाऽग्रे वरमात्तसाध्वसरसा गौरी नवे सङ्गमे
संरोहत्पुलका हरेण हसता श्लिष्टा शिवायास्तु वः ॥ ३३१ ॥

---

१३. अनङ्गका अर्थात् [प्रकृत] रसके अनुपकारकका वर्णन [भी १३ वाँ रसदोष होता है] जैसे—'कर्पूरमञ्जरी' [नाटिका] में [प्रथम यवनिकाके बाद] नायिका [अर्थात् देवी विभ्रमलेखा] के किये हुए और स्वयं अपने किये हुए वसन्तवर्णनकी उपेक्षा करके बन्दियों द्वारा किये गये वसन्तवर्णनकी राजा द्वारा प्रशंसा की गयी है ।

[रसदोषोंका परिगणन करानेवाली अन्तिम ६२वीं कारिकाके अन्तमें 'रसे दोषाः स्युरीदृशाः' यह चतुर्थ चरण है । इसके अन्तमें 'ईदृशाः' पद आया है उस] 'ईदृशाः' पदसे नायिकाके पादप्रहार आदिसे नायकके कोपादिका वर्णन [भी रसदोषमें परिगणित होता है, यह समझना चाहिये] ।

इस प्रकार यहाँतक रसदोषका निरूपण समाप्त हो गया । अन्तमें रसदोषका कारण अनौचित्य-का वर्णन करना ही है । इस विषयमें वचन प्रमाण उद्धृत करते हैं—

जैसा कि ध्वनिकार [आनन्दवर्धनाचार्य] ने कहा है—

अनौचित्य [के वर्णन] के अतिरिक्त रसभङ्ग [रसविच्छेद रसदोष] का और कोई कारण नहीं है । और औचित्यका वर्णन ही रस [परिपोषण]का परम रहस्य है ।

रसदोषोंके अपवाद

रसदोषोंके निरूपणके बाद आगे उनके अपवाद दिखलाते हैं । अर्थात् किन्हीं विशेष परि-स्थितियोंमें उक्त दोष, दोष नहीं माने जाते हैं । वे परिस्थितियाँ निम्नलिखित प्रकार हो सकती हैं—

अब यह कहते हैं कि कहीं ये [व्यभिचारिभावकी स्वशब्दवाच्यता आदि रसदोष] दोष नहीं रहते हैं ।

[सू० ८२] कहीं सञ्चारिभावका स्वशब्दसे कथन होनेपर भी दोष नहीं होता है । जैसे—

प्रथम बारके समागमके अवसरपर [अपने पति शिवजीसे] मिलनेकी उत्सुकताके कारण जल्दी करती हुई किन्तु [नवोढा वधूकी] स्वाभाविक लज्जाके कारण लौटती हुई

अदिव्येषु तु यावदवदानं प्रसिद्धमुचितं वा तावदेवोपनिबद्धव्यम्। अधिकं तु निबध्यमानमसत्यप्रतिभासेन 'नायकवद्वर्तितव्यं न प्रतिनायकवद्' इत्युपदेशे न पर्यवस्येत्।

दिव्यादिव्येषु उभयथाऽपि।

एवमुक्तस्यौचित्यस्य दिव्यादीनामिव धीरोदात्तादीनामप्यन्यथावर्णनं विपर्ययः।

१. तत्रभवन् भगवन्नित्युत्तमेन न अधमेन मुनिप्रभृतौ न राजादौ, २. भट्टारकेति नोत्तमेन राजादौ प्रकृतिविपर्ययापत्तेर्वाच्यम्। एवं देशकालवयोजात्यादीनां वेषव्यवहारादिकमुचितमेवोपनिबद्धव्यम्।

अदिव्य [अर्थात् मनुष्य आदि] मे तो जितना ['अवदानं कर्म वृत्तम्' इतिहास-प्रसिद्ध] पूर्वचरित्र आदिमें प्रसिद्ध है, अथवा [मनुष्यके लिए] उचित [हो सकता] है उतना ही वर्णन करना चाहिये। क्योंकि अधिक [उत्साहादिका] वर्णन कर देनेसे [उसके] असत्य प्रतीत होने [लगने] से [काव्यके प्रमुख प्रयोजन] 'नायक [राम आदि] के समान व्यवहार करना चाहिये, प्रतिनायक [रावण आदि] के समान नहीं', इस प्रकारके उपदेशमें परिणत नहीं हो सकता है। इसलिए मनुष्यके लिए साध्य उत्साह आदिसे अधिक उत्साहादिका वर्णन अदिव्य प्रकृतिमें नहीं करना चाहिये]।

दिव्यादिव्य [प्रकृति या नायकों] मे [दिव्य तथा अदिव्य] दोनों [के योग्य कार्यों]का वर्णन किया जा सकता है]।

इस प्रकार कहे हुए औचित्यके विपरीत दिव्य [अदिव्य या दिव्यादिव्य नायकों]के समान धीरोदात्त आदिका वर्णन भी [प्रकृति] विपर्यय [दोष] कहलाता है [अर्थात् जिस प्रकार दिव्य आदि नायकोंके औचित्यके विपरीत वर्णन करना दोष है, उसी प्रकार धीरोदात्त आदि जो नायकोंके भेद किये गये हैं, उनके औचित्यके विपरीत वर्णन करना भी इस प्रकृति-विपर्यय दोषके अन्तर्गत आता है]।

इस प्रकृतिविपर्ययके अन्तर्गत सम्बोधन पदोंके औचित्यका विपर्यय भी सम्मिलित होता है। भिन्न भिन्न स्थितिके लोगोंके लिए भिन्न भिन्न सम्बोधन-पदोंका प्रयोग करना चाहिए, इसके [illegible] नियम बने हुए हैं, उन नियमोंका उल्लंघन करके अन्यके लिए प्रयुक्त होनेवाले [illegible] पदोंका अन्यथा प्रयोग करना भी प्रकृतिविपर्ययदोष है। उसका निर्देश आगे करते हैं—

१. तत्रभवन्, भगवन्, यह उत्तम [पात्र] के द्वारा, अधम [पात्र] के द्वारा नहीं, मुनि प्रभृतिके लिए [प्रयुक्त किया जाना चाहिये] राजा आदिके लिए नहीं। [अर्थात् तत्रभवन् तथा भगवन् ये सम्बोधन-पद केवल मुनियोंके लिए और वह भी उत्तम पात्र द्वारा प्रयुक्त किये जाने चाहिये। अधम पात्रके द्वारा उनका प्रयोग नहीं होना चाहिये और न राजा आदिके लिए उनका प्रयोग होना चाहिये] और २. राजा आदिके लिए उत्तम [पात्र] द्वारा भट्टारक [इस सम्बोधनका प्रयोग नहीं होना चाहिये] [illegible] [राजा आदिके लिए भी भट्टारक आदि सम्बोधनपदका प्रयोग] नहीं होना चाहिये। क्योंकि उससे प्रकृतिविपर्ययदोष [illegible] [illegible]

(१३) अनङ्गस्य रसानुपकारकस्य वर्णनम् यथा—कर्पूरमञ्जर्यां नायिकया, स्वात्मना च कृतं वसन्तवर्णनमनादृत्य बन्दिवर्णितस्य राज्ञा प्रशंसनम् । **ईदृशा इति ।** नायिकापादप्रहारादिना नायककोपादिवर्णनम् । उक्तं हि ध्वनिकृता—

> अनौचित्यादृते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम् ।
> औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा ॥ इति ॥

इदानीं क्वचिददोषा अप्येते—इत्युच्यन्ते ।

[सू० ८२] न दोषः स्वपदेनोक्तावपि सञ्चारिणः क्वचित् ।

यथा—

> औत्सुक्येन कृतत्वरा सहभुवा व्यावर्तमाना ह्रिया
> तैस्तैर्बन्धुवधूजनस्य वचनैर्नीताभिमुख्यं पुनः ।
> दृष्ट्वाऽग्रे वरमात्तसाध्वसरसा गौरी नवे सङ्गमे
> संरोहत्पुलका हरेण हसता श्लिष्टा शिवायास्तु वः ॥ ३३१ ॥

---

१३. अनङ्गका अर्थात् [प्रकृत] रसके अनुपकारकका वर्णन [भी १३ वाँ रसदोष होता है] जैसे—'कर्पूरमञ्जरी' [नाटिका] में [प्रथम यवनिकाके बाद] नायिका [अर्थात् देवी विभ्रमलेखा] के किये हुए और स्वयं अपने किये हुए वसन्तवर्णनकी उपेक्षा करके वन्दियों द्वारा किये गये वसन्तवर्णनकी राजा द्वारा प्रशंसा की गयी है ।

[रसदोषोंका परिगणन करानेवाली अन्तिम ६२वीं कारिकाके अन्तमें 'रसे दोषा: स्युरीदृशा:' यह चतुर्थ चरण है । इसके अन्तमें 'ईदृशा' पद आया है उस] 'ईदृशा' पदसे नायिकाके पादप्रहार आदिसे नायकके कोपादिका वर्णन [भी रसदोषमें परिगणित होता है, यह समझना चाहिये] ।

इस प्रकार यहाँतक रसदोषका निरूपण समाप्त हो गया । अन्तमें रसदोषका कारण अनौचित्य का वर्णन करना ही है । इस विषयमें वचन प्रमाण उद्धृत करते हैं—

जैसा कि ध्वनिकार [आनन्दवर्धनाचार्य] ने कहा है—

अनौचित्य [के वर्णन] के अतिरिक्त रसभङ्ग [रसविच्छेद रसदोष] का और कोई कारण नहीं है । और औचित्यका वर्णन ही रस [परिपोषण]का परम रहस्य है ।

रसदोषोंके अपवाद

रसदोषोंके निरूपणके बाद आगे उनके अपवाद दिखलाते हैं । [illegible] स्थितियोंमें उक्त दोष, दोष नहीं माने जाते हैं । वे परिस्थितियाँ निम्नलिखित प्रकार [illegible]

अब यह कहते हैं कि कहीं ये [व्यभिचारिभावकी स्वशब्दवाच्यता आदि रसदोष] दोष नहीं रहते हैं ।

[सू० ८२] कहीं सञ्चारिभावका स्वशब्दसे कथन होनेपर भी दोष नहीं होता है । जैसे—

प्रथम बारके समागमके अवसरपर [अपने पति शिवजीसे] मिलनेकी उत्सुकताके कारण जल्दी करती हुई किन्तु [नवोढा वधूकी] स्वाभाविक लज्जाके कारण लौटती हुई

[सू० ८३] सञ्चार्यादेर्विरुद्धस्य बाध्यस्योक्तिर्गुणावहा ॥८३॥
ना [बाध्यत्वेनोक्तिर्न] परं न दोषः, यावत्प्रकृतरसपरिपोषकृत । यथा—
काकार्यं शशलक्ष्मणः क्व च कुलम्—इत्यादौ ॥२३२॥
अत्र वितर्कादिष्वपि उद्गतेष्वपि चिन्तायामेव विश्रान्तिरिति प्रकृतरसपरिपोषः ।

[इस प्रकार व्यभिचारिभावका] [उनके] अनुभावों द्वारा निश्चितरूपसे प्रतिपादन करना सम्भव न [हो, वहाँ उनका] स्वशब्दसे कथन करना दोष नहीं है, यह सिद्धान्त स्थिर हुआ । परन्तु स्थायिभाव तथा रसकी स्वशब्दवाच्यता सदा दोष ही मानी जाती है । उसका कोई अपवाद ग्रन्थकारने नहीं दिखलाया है ।

इसके बाद प्रतिकूल विभावादिके परिग्रहरूप छठे रसदोषका अपवाद दिखलाते हैं—

[सू० ८३]—[प्रकृत रसके] विपरीत सञ्चारिभाव [अनुभाव तथा विभाव] आदिका बाध्यत्वेन कथन करना [दोष नहीं अपितु] गुणाधायक होता है ॥ ८३ ॥

[प्रकृत रससे प्रतिकूल विभाव, अनुभाव तथा सञ्चारिभावका] बाध्यत्वेन कथन करना न केवल अदोष है, अपितु प्रकृत रसका परिपोषक [होनेसे गुण] हो जाता है, जैसे—

'काकार्यं शशलक्ष्मणः क्व च कुलम् ।' इत्यादिमें । [यह श्लोक उदाहरण-सं० ५३, पृष्ठ १४५ पर उद्धृत किया जा चुका है । इसका अर्थ वहीं देखना चाहिये] ॥२३२॥

इस श्लोकमें शान्तरसके १. वितर्क, २. मति, ३. शङ्का तथा ४. धृति इन चार व्यभिचारिभावोंका और शृङ्गाररसके १. स्मरण, २. दैन्य, ३. औत्सुक्य एवं ४. चिन्ता इन चार व्यभिचारिभावोंका एकत्र वर्णन किया गया है । शान्त तथा शृङ्गाररसका आलम्बन-ऐक्य तथा नैरन्तर्य, दोनों प्रकारसे परस्पर विरोध है । यह श्लोक मुख्यरूपसे शृङ्गाररसका है । क्योंकि उर्वशीके वियोगमें पुरूरवाकी उक्ति है इसलिए उसके अन्दर शान्तरसके वितर्क आदि चार व्यभिचारिभावोंका कथन करना साधारणतः उचित नहीं था । परन्तु यहाँ यह दोष नहीं अपितु गुण हो गया है, क्योंकि 'काकार्यं शशलक्ष्मणः क्व च कुलं' इस वितर्क [यहाँ शान्तरसके व्यभिचारिभाव] से श्लोकका प्रारम्भ होता है । परन्तु उसके बाद 'भूयोऽपि दृश्येत सा' यह शृङ्गाररसका व्यभिचारिभाव 'औत्सुक्य' आकर उस 'वितर्क' का बाधक होता है । इसके बाद 'दोषाणां प्रशमाय नः श्रुतमहो' यह शान्तरसका 'मति' रूप व्यभिचारिभाव उदित होता है । परन्तु उसके साथ ही 'कोपेऽपि कान्तं मुखं' यह शृङ्गाररसका व्यभिचारिभाव उसे बाधा देता है । इसके बाद तीसरी बार 'किं वक्ष्यन्त्यपकल्मषाः कृतधियः' यह 'शङ्का' रूप शान्तरसका व्यभिचारिभाव सामने आता है, परन्तु 'स्वप्नेऽपि सा दुर्लभा' यह शृङ्गाररसका 'दैन्य' रूप व्यभिचारिभाव उसका बाधक होता है । अन्तमें 'चेतः स्वास्थ्यमुपैहि' यह शान्तरसकी 'धृति' सिर उठाती है । परन्तु 'कः खलु युवा धन्योऽधरं धास्यति' यह शृङ्गाररसका 'चिन्ता'रूप व्यभिचारिभाव उसको कुचल देता है । इस प्रकार अन्तमें शृङ्गाररसके व्यभिचारिभाव चिन्तामें श्लोककी विश्रान्ति होती है । अतएव इस विरोधी रसके साथ संघर्षमें विरोधी रसके व्यभिचारिभावोंका बाध होकर प्रकृतिरसकी विजय होती है । अतः बाध्यरूपसे विरोधी रसके व्यभिचारिभावोंका यह वर्णन दोष नहीं, अपितु प्रकृत शृङ्गाररसका परिपोषक होनेसे गुण ही है । यही बात ग्रन्थकार अगली पंक्तिमें कह रहे हैं—

इस ['काकार्यं' इत्यादि श्लोक] में [प्रारम्भमें विरोधी शान्तरसके व्यभिचारि-

[सूत्र ८४] **आश्रयैक्ये विरुद्धो यः स कार्यो भिन्नसंश्रयः।**
रसान्तरेणान्तरितो नैरन्तर्येण यो रसः ॥६४॥

वीरभयानकयोरेकाश्रयत्वेन विरोध इति प्रतिपक्षगतत्वेन भयानको निवेशयितव्यः। शान्तशृङ्गारयोस्तु नैरन्तर्येण विरोध इति रसान्तरमन्तरे कार्यम्। यथा—नागानन्दे शान्तस्य **जीमूतवाहनस्य** 'अहो गीतम् अहो वादित्रम्'—इत्यद्भुतमन्तर्निवेश्य मलयवतीं प्रति शृङ्गारो निबद्धः।

न परं प्रबन्धे यावदेकस्मिन्नपि वाक्ये रसान्तर-व्यवधिना विरोधो निवर्तते। यथा—

[सू० ८४] जो रस आश्रयके ऐक्यमें विरोधी है उसको भिन्न आश्रयमें [वर्णित] करना चाहिये और जो नैरन्तर्यसे विरोधी [रस] है उसको दूसरे [अविरोधी] रससे व्यवहित कर देना चाहिये ॥ ६४ ॥

वीर तथा भयानक रसका एकाश्रयमें विरोध है इसलिए भयानक रसका प्रतिपक्ष [प्रतिनायक] गत रूपसे वर्णन करना चाहिये। [इस प्रकार उनके विरोधका परिहार हो जायगा। इसी प्रकार] शान्त तथा शृङ्गारका नैरन्तर्येण विरोध है, इसलिए उन दोनोंके बीचमें कोई दूसरा रस [वर्णन] कर देना चाहिये। जैसे नागानन्द [नाटक]में शान्तरसप्रधान जीमूतवाहनका मलयवतीके प्रति अनुरागका वर्णन 'अहो गीतम् अहो वादित्रम्' इत्यादि [से व्यङ्ग्य] अद्भुतरसको बीचमें [शान्त तथा शृङ्गारके व्यवधायक रूपमें] डालकर किया है।

केवल प्रबन्ध [अर्थात् लम्बे काव्य या नाटक]में ही नहीं अपितु एक ही वाक्य में [एक ही प्रकरणरूप छोटे भागमें] भी रसान्तरका व्यवधान कर देनेसे विरोध समाप्त हो जाता है।

यही बात ध्वनिकारकी निम्नलिखित कारिकामें कही गयी है —

रसान्तरान्तरितयोरेकवाक्यस्थयोरपि।
निवर्तते हि रसयोः समावेशे विरोधिता ॥ [illegible]

[illegible]

यथा—

भूरेणुदिग्धान् नवपारिजातमालारजोवासितबाहुमध्याः ।
गाढं शिवाभिः परिरभ्यमाणान् सुराङ्गनाश्लिष्टभुजान्तरालाः ॥३३५॥
सशोणितैः क्रव्यभुजां स्फुरद्भिः पक्षैः खगानामुपवीज्यमानान् ।
संवीजिताश्चन्दनवारिसेकैः सुगन्धिभिः कल्पलतादुकूलैः ॥३३६॥
विमानपर्यङ्कतले निषण्णाः कुतूहलाविष्टतया तदानीम् ।
निर्दिश्यमानान् ललनाङ्गुलीभिर्वीराः स्वदेहान् पतितानपश्यन् ॥३३७॥

अत्र बीभत्सशृङ्गारयोरन्तर्वीररसो निवेशितः ।

[सूत्र ८५] स्मर्यमाणो विरुद्धोऽपि साम्येनाथ विवक्षितः ।
अङ्गिन्यङ्गत्वमाप्तौ यौ तौ न दुष्टौ परस्परम् ॥६५॥

जैसे—नवपारिजातकी नवीन मालाके परागसे सुगन्धित वक्षःस्थलवाले [वीरोंने] पृथिवीकी धूलसे सने हुए, अप्सराओंको अपनी भुजाके बीच आलिङ्गन किये हुए वीरोंने शृगालियोंके द्वारा [खानेके लिए] जोरसे दबाये हुए [अपने शरीरोंको देखा] ॥३३५॥

चन्दनजलसे सिक्त अतएव सुगन्धित कल्पलताके दुपट्टोंसे [सुराङ्गनाओं द्वारा] पंखा किये जाते हुए वीरोंने मांसभक्षी पक्षियोंके रक्तसे सने हुए पंखोंके द्वारा जिनपर हवा की जा रही है, इस प्रकारके युद्धभूमिमें पड़े हुए शरीरोंको देखा ॥३३६॥

[युद्धमें मारे जानेके बाद स्वर्गमें पहुँचकर तत्काल ही] विमानोंके पलंगोंपर बैठे हुए वीरोंने [अपने साथ बैठी हुई] अप्सराओंके द्वारा अँगुलियों [के सङ्केत]से दिख-लाये जानेवाले [युद्धभूमिमें] पड़े अपने शरीरोंको आश्चर्यसे देखा ॥३३७॥

यहाँ [नैरन्तर्यसे विरोधी] बीभत्स तथा शृङ्गारके बीचमें वीररसका सन्निवेश किया गया है [अतः एक वाक्यमें भी विरोधी रसोंके विरोधका परिहार हो जाता है]।

रसविरोधके परिहारार्थ तीन और मार्ग

विरोधी रसोंके विरोधपरिहारके तीन और मार्ग अगली कारिकामें बतलाये गये हैं। इनमेंसे पहिला मार्ग यह है कि यदि विरोधी रसका स्मर्यमाणरूपसे वर्णन किया जाय तो उसमें दोष नहीं होता है। दूसरा मार्ग दोनोंकी साम्यसे विवक्षा है। साम्यसे दो विरोधी रसोंके वर्णनमें दोष नहीं होता है। और तीसरा मार्ग यह है कि यदि दोनों विरोधी रस किसी तीसरे प्रधान रसके अङ्गरूपसे वर्णित हों, तो उनमें भी परस्पर विरोध नहीं रहता है। इन तीनोंके उदाहरण आगे स्पष्ट करेंगे।

[सू० ८५] विरोधी रस भी यदि १. स्मर्यमाणरूपमें अथवा २. साम्यरूपसे विवक्षित हों [तो दोष नहीं होता है। इसी प्रकार] जो दो विरोधी रस ३. किसी तीसरे प्रधान रसमें अङ्गताको प्राप्त हों, वे परस्पर विरोधी [दुष्ट] नहीं होते हैं ॥६५॥

स्मर्यमाण विरोधी रसका अविरोध

[जैसे—युद्धभूमिमें अपने पति भूरिश्रवाके कटे पड़े हाथको देखकर उसकी पत्नी विलाप करती हुई कह रही है कि—]

अयं स रशनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दनः ।
नाभ्यूरुजघनस्पर्शी नीवीविस्रंसनः करः ॥३३८॥

एतद् **भूरिश्रवसः** समरभुवि पतितं हस्तमालोक्य तद्वधूरभिदधौ । अत्र पूर्वावस्थास्मरणं शृङ्गाराङ्गमपि करुणं परिपोषयति ।

दन्तक्षतानि करजैश्च विपाटितानि प्रोद्भिन्नसान्द्रपुलके भवतः शरीरे ।
दत्तानि रक्तमनसा मृगराजवध्वा जातस्पृहैर्मुनिभिरप्यवलोकितानि ॥३३९॥

अत्र कामुकस्य दन्तक्षतादीनि यथा चमत्कारकारीणि तथा **जिनस्य** । यथा वा परः शृङ्गारी तदवलोकनात्सस्पृहस्तद्वद् एतद्दृशो मुनय इति साम्यविवक्षा ।

[अपने जीवनकालमें सम्भोगके समय] तगड़ीको हटानेवाला, मेरे बड़े-बड़े [पीन] स्तनोंका मर्दन करनेवाला, नाभि, ऊरु तथा जघनस्थलका स्पर्श करनेवाला तथा नाड़े [नीवी]को खोलनेवाला यह वही [पूर्वानुभूत मेरे पतिका प्रिय] हाथ है ॥३३८॥

युद्धभूमिमें भूरिश्रवाके पड़े हुए हाथको देखकर उसकी स्त्री यह कह रही है, इसमें पूर्वावस्थाके स्मर्यमाण शृङ्गारके अङ्ग भी [प्रकृत] करुणरसके पोषक [ही] होते हैं [अतः उनका करुणरसके साथ समावेश दोष नहीं है]।

२. साम्यविवक्षामें विरोधी रसोंका अविरोध

आपके सघन रोमाञ्चयुक्त [एक पक्षमें करुणारस और अन्य पक्षमें शृङ्गाररस] शरीरपर रसपानकी इच्छा करनेवाली [दूसरे शृङ्गारपक्षमें अनुरागयुक्त] मृगराजा [सिंहिनी अन्य पक्षमें किसी राजाकी पत्नी] ने जो दन्तक्षत तथा नखक्षत [अङ्कित] किये उनको [वहाँ तपस्या करनेवाले] मुनियोंने भी [दूसरेके प्राणोंकी रक्षामें अपनेको समर्पित कर देनेका यह सौभाग्य हमको प्राप्त न हुआ, और दूसरे शृङ्गारपक्षमें अनुरक्त राजवधूके द्वारा सम्भोगकालमें किये हुए दन्तक्षत तथा नखक्षत हमको प्राप्त न हुए इस प्रकार] स्पृहा [सतृष्ण] होकर देखा ॥३३९॥

यहाँ [श्लोकमें उपयुक्त] कामुकके दन्तक्षत आदि [उसके लिए] आनन्ददायक, चमत्कारयुक्त प्रतीत होते हैं उसी प्रकार 'जिन' [भगवान्]के [शरीरपर सिंहिनी द्वारा किये] दन्तक्षत तथा नखक्षत उनके लिए आनन्ददायक और चमत्कारयुक्त हैं [illegible] [illegible] [illegible]

क्रामन्त्यः क्षतकोमलाङ्गुलिगलद्रक्तैः सदर्भाः स्थलीः
पादैः पातितयावकैरिव गलद्बाष्पाम्बुधौताननाः ।
भीता भर्तृकरावलम्बितकरास्त्वच्छत्रुनार्योऽधुना
दावाग्निं परितो भ्रमन्ति पुनरप्युद्यद्विवाहा इव ॥३४८॥

अत्र चाटुके राजविषया रतिः प्रतीयते । तत्र करुण इव शृङ्गारोऽप्यङ्गमिति तयोर्न विरोधः ।

ध्वन्यालोककारने यहाँ दयावीर तथा शृङ्गाररसके अविरोधका प्रतिपादन किया है । माणिक्यचन्द्र आदि टीकाकारोंने इसमें शान्त तथा शृङ्गारके अविरोधका तथा सारबोधिनी तथा सुधासागरकारने बीभत्स तथा शृङ्गारके अविरोधका प्रतिपादन किया है । जिन भगवान्‌के शरीरपर सिद्धियों के द्वारा किये हुए दन्तक्षतादि बीभत्सरसके व्यञ्जक होनेपर भी कान्त द्वारा दन्तक्षतादिके समानरूपसे वर्णित होनेसे उसीके उत्कर्षाधायक होते हैं, अतः साम्यविवक्षाके कारण शान्त या बीभत्सके साथ शृङ्गारके अनुभावोंका यह वर्णन दोषाधायक नहीं है ।

३. प्रधानभूत तृतीय रसके अङ्गभूत रसोंमें अविरोध

इस प्रकार विरोधी रसके १.स्मर्यमाणरूपमें वर्णनका तथा २. साम्यसे विवक्षितरूपमें [illegible] उदाहरणों द्वारा स्पष्टीकरण कर दिया गया । अब रसोंके विरोधपरिहारका इस कारिकामें प्रदर्शित तीसरा मार्ग शेष रह जाता है । इस तृतीय प्रकारमें विरोधी रसोंमेंसे कोई प्रधान रस नहीं होता [illegible] वे दोनों प्रधानभूत किसी तीसरे रसके अङ्गरूपमें स्थित होते हैं । इसका उदाहरण [illegible] । 'ध्वन्यालोक'में भी तृतीय उद्योतमें पृष्ठ ३३१ पर यह पद्य दिया गया है । किसी राजाकी स्तुति [illegible] हुए कवि उससे कह रहा है कि आपके शत्रुओंकी स्त्रियाँ दुबारा विवाहके लिए [illegible] दावाग्नि चारों ओर घूम रही हैं । जो अवस्था विवाहके समय होती है उसी प्रकारकी [illegible] आपकी शत्रुओंकी स्त्रियोंकी हो रही है । उसीको कवि कहता है कि--

तुम्हारे शत्रुकी स्त्रियाँ क्षतविक्षत कोमल अँगुलियोंसे रक्त टपकाती हुई, [illegible] एवं मानो महावर लगाये हुए पैरोंसे कुशाकण्टकयुक्त भूमिपर चलती हुई, गिरते हुए आँसुओंसे मुखको धोये हुए, भयभीत होनेके कारण पतियोंके हाथमें हाथ पकड़े हुए दावाग्निके चारों ओर परिक्रमा कर रही हैं ॥३४०॥

यहाँ खुशामदी [कवि]में राजविषयक रति [प्रधानतया] प्रतीत हो रही है । उसमें करुणके समान शृङ्गार भी अङ्ग है । इसीलिए उनका [परस्पर] विरोध नहीं [illegible]

इसका अभिप्राय यह है कि श्लोकमें शत्रुपत्नियों [illegible]

उनके साथ विवाह आदिका वर्णन होनेसे शृङ्गाररस [illegible]

पत्नियाँ हैं । करुण तथा विप्रलम्भशृङ्गारका आलम्बन [illegible]

दोनोंमेंसे कोई भी स्वरूपतः प्रधान रस नहीं है । [illegible]

दोनों उसके अङ्ग हैं । अतः इन दोनोंमें परस्पर विरोध नहीं [illegible]

[illegible] प्रधान रसके [illegible] विरोधी रसका [illegible]

[illegible]

अथवा प्राक् यथा कामुक आचरति स तथा शराग्निरिति शृङ्गारपोषितेन करुणेन मुख्य एवार्थ उपोद्बल्यते । उक्तं हि—

गुणः कृतात्मसंस्कारः प्रधानं प्रतिपद्यते ।
प्रधानस्योपकारे हि यथा भूयसि वर्तते ॥ इति ॥

प्राक् प्रतिपादितस्य रसस्य रसान्तरेण न विरोधो नाप्यङ्गाङ्गिभावो भवति इति रसशब्देनात्र स्थायिभाव उपलक्ष्यते ।

इति काव्यप्रकाशे दोषदर्शनो नाम सप्तम उल्लासः समाप्तः ।

अथवा पहिले जैसे कामुक आचरण करता था, इसी प्रकार शराग्नि [भी कर रहा है] इस प्रकार शृङ्गारसे पोषित करुण रसके द्वारा [त्रिपुरारिका प्रभावातिशयरूप] मुख्य अर्थ ही परिपुष्ट होता है। जैसा कि कहा भी—

गुण अर्थात् अप्रधान या अङ्ग, अपना [परिपोषणरूप] संस्कार हो जानेपर [परिपुष्ट होकर प्रधान [त्रिपुरारिप्रतापातिशयरूप मुख्य] को [अङ्गरूपसे] प्राप्त होता है। और इस प्रकार प्रधान [रस] के संस्कारमें अत्यन्त उपयोगी होता है।

ग्रन्थकारने यहाँतक रसोंसे अविरोध और अङ्गाङ्गिभाव आदिके सम्पादनके विषयमें कुछ नियमोंका प्रतिपादन किया है। परन्तु इस विषयमें एक विचारणीय प्रश्न यह उपस्थित हो जाता है कि चतुर्थ उल्लासमें रसको वेद्यान्तरस्पर्शशून्य माना गया है अर्थात् किसी भी रसके अनुभवकालमें उसके अतिरिक्त अन्य किसीका भान नहीं होता है। इस सिद्धान्तके अनुसार एक साथ दो रसोंकी अनुभूति ही नहीं हो सकती है। तब दो रसोंके विरोध या अविरोध अथवा अङ्गाङ्गिभाव आदिका कोई प्रश्न ही उपस्थित नहीं हो सकता है। तब क्या यह सारा विवेचन व्यर्थ ही किया गया है? इस प्रश्नका उत्तर ग्रन्थकारने यह दिया है कि यद्यपि यह ठीक है कि रसोंमें विरोध आदिका उपपादन नहीं किया जा सकता है, परन्तु यहाँ रस शब्दसे मुख्य रसोंका ग्रहण न करके केवल स्थायिभावोंका ग्रहण करना चाहिये। 'रस्यते इति रसः' इस व्युत्पत्तिके अनुसार इस प्रसङ्गमें रसशब्दको स्थायिभावका वाचक समझना चाहिये। इसी बातको अगली पङ्क्तिमें कहकर ग्रन्थकार इस प्रसङ्गको और साथ ही दोषदर्शन नामक इस सप्तम उल्लासकी समाप्ति करते हैं—

पहिले [चतुर्थ उल्लासमें] प्रतिपादित [मुख्य] रसका दूसरे रसके साथ न विरोध [ही] हो सकता है और न अङ्गाङ्गिभाव [ही] होता है, इसलिए रस शब्दसे यहाँ स्थायिभावका ग्रहण किया जाता है।

काव्यप्रकाशमें दोषदर्शन नामक सप्तम
उल्लास समाप्त हुआ।

श्रीमदाचार्यविश्वेश्वरसिद्धान्तशिरोमणिविरचितायां
काव्यप्रकाशदीपिकायां हिन्दीव्याख्यायां
दोषदर्शनो नाम सप्तम उल्लासः
समाप्तः।

—— o ——

अथाष्टम उल्लासः

अथ काव्यप्रकाशदीपिकायाम् अष्टम उल्लासः

उल्लाससङ्गति

प्रथम उल्लासमें ग्रन्थकारने 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि' यह जो काव्यका लक्षण किया था, उसमें 'सगुणौ' यह भी 'शब्दार्थौ'का एक विशेषण दिया था। पिछले सप्तम उल्लासमें 'अदोषौ' विशेषणके स्पष्टीकरणके लिए दोषोंका विवेचन किया गया था। अब इस अष्टम उल्लासमें 'सगुणौ' इस विशेषणके स्पष्टीकरणके लिए गुणोंका विवेचन करते हैं। इसमें भी गुणोंके लक्षण आदि करनेके पूर्व ग्रन्थकार गुण तथा अलङ्कारोंके परस्पर भेदका उपपादन करते हैं। इसका कारण यह है कि गुण तथा अलङ्कारोंका परस्पर क्या भेद है, इस विषयमें पूर्ववर्ती आचार्योंमें मतभेद पाया जाता है, इसलिए मम्मटने गुणोंके लक्षण आदि करनेके साथ उनका अलङ्कारोंसे भेदका प्रदर्शन आवश्यक समझकर उसी दृष्टिसे इस अष्टम उल्लासका प्रारम्भ किया है।

गुण तथा अलङ्कारोंका भेद

गुण तथा अलङ्कारोंके भेदके विषयमें पूर्ववर्ती आचार्योंके दो प्रकारके मत पाये जाते हैं। भामहके 'काव्यालङ्कार'पर लिखे हुए अपने 'भामहविवरण'में उसके टीकाकार भट्टोद्भटने भेदका निराकरण माना है। उनके मतमें गुण तथा अलङ्कारोंमें कोई भेद नहीं है। लौकिक गुण तथा अलङ्कारोंमें तो यह भेद किया जा सकता है कि हारादि अलङ्कारोंका शरीरादिके साथ संयोगसम्बन्ध होता है, और शौर्यादि गुणोंका आत्माके साथ संयोगसम्बन्ध नहीं अपितु समवायसम्बन्ध होता है, इसलिए लौकिक गुण तथा अलङ्कारोंमें भेद माना जा सकता है। परन्तु काव्यमें तो ओज आदि गुण तथा अनुप्रास, उपमा आदि अलङ्कार दोनोंकी ही समवायसम्बन्धसे स्थिति होती है, इसलिए काव्यमें उनका भेद प्रतिपादन नहीं किया जा सकता है। भामहके इस मतको भट्टोद्भटने इस प्रकार लिखा है—

"समवायवृत्त्या शौर्यादयः संयोगवृत्त्या तु हारादयः इत्यस्तु गुणालङ्काराणां भेदः, ओजःप्रभृतीनामनुप्रासोपमादीनां चोभयेषामपि समवायवृत्त्या स्थितिरिति गड्डलिकाप्रवाहेणैवैषां भेदः।" गड्डलिका भेड़को कहते हैं, इसलिए गड्डलिकाप्रवाहका अर्थ भेड़चाल है। इसका अभिप्राय यह है कि उद्भटके अनुसार गुण तथा अलङ्कारोंमें वस्तुतः कोई भेद नहीं है, उनका जो भेद माना जाता है वह केवल [illegible] है। इस प्रकार यह उद्भटका मत [illegible] है।

१. वामनका मत

[illegible]

इत्यादौ वाच्यमेव, न तु रसम्। अत्र बिसलता न जीवं रोद्धुं क्षमेति प्रकृताननुगुणोपमा।

एष एव च गुणालङ्कारप्रविभागः। एवं च 'समवायवृत्त्या शौर्यादयः संयोगवृत्त्या तु हारादय इत्यस्तु गुणालङ्काराणां भेदः, ओजःप्रभृतीनामनुप्रासोपमादीनां चोभयेषामपि समवायवृत्त्या स्थितिरिति गड्डलिकाप्रवाहेणैवैषां भेदः' इत्यभिधानमसत्।

यहाँ 'अर्गलेव' यह उपमारूप अर्थालङ्कार है और विप्रलम्भशृङ्गार रस है। परन्तु वह उपमा विप्रलम्भशृङ्गाररूप रसकी उत्कर्षाधायिका नहीं, अपितु अपकर्षकारिणी है। क्योंकि विप्रलम्भ अवस्थामें प्राण रोकनेकी नहीं अपितु प्राणपरित्यागकी ही इच्छा स्वाभाविकरूपसे होती है। इसलिए यह उपमा अलङ्कार रसका उपकारक नहीं है, इसी बातको आगे कहते हैं—

इत्यादिमें [उपमालङ्कार] केवल अर्थको ही [पुष्ट करता] रसको नहीं। [क्योंकि] यहाँ बिसलता जीवनको [प्राणोंको निकलनेसे] रोकनेके लिए [प्रयुक्त करने] योग्य नहीं है। [अर्थात् बिसलताको अर्गला बनाकर उसके द्वारा जो प्राणोंको निकलनेसे रोका गया है, वह उचित नहीं है] इसलिए यह प्रकृतके अननुरूप [अयोग्य] उपमा है [अतः विप्रलम्भ शृंगाररसकी उपकारक नहीं होती है]।

यहाँ वाक्यकी रचना कुछ अटपटी सी हो गयी है। 'बिसलता न जीवं रोद्धुं क्षमा' इस पंक्तिसे यह अर्थ प्रतीत होता है कि बिसलता जीवको रोक नहीं सकती है। परन्तु ग्रन्थकारका यह अभिप्राय नहीं है। ग्रन्थकारका आशय यह है कि बिसलताकी जो अर्गलाकी उपमा दी गयी है, उससे निकलते हुए प्राणोंके मार्गमें रुकावट डाली गयी है, विप्रलम्भशृङ्गारमें वह उचित नहीं है। इसलिए प्रकृतके अननुरूप होनेसे यह उपमा रसकी परिपोषिका नहीं है।

४. भट्टोद्भटके मतका खण्डन

इस प्रकार यहाँतक ग्रन्थकारने अपने मतके अनुसार गुण तथा अलङ्कारका प्रतिपादन किया। [illegible]

[illegible]

और यही गुण तथा अलङ्कारका भेद [अन्तर] है। इस प्रकार [illegible] गुण तथा अलङ्कारके [illegible] प्रतिपादन करने [illegible]

[illegible]

यदप्युक्तम् 'काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः, तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः' इति तदपि न युक्तम्। यतः किं समस्तैर्गुणैः काव्यव्यवहारः, उत कतिपयैः ? यदि समस्तैः तत्कथमसमग्रगुणा गौडी पाञ्चाली च रीतिः काव्यस्यात्मा ?

अथ कतिपयैः, ततः—

अद्रावत्र प्रज्वलत्यग्निरुच्चैः प्राज्यः प्रोद्यन्नुल्लसत्येष धूमः ॥ ३४७ ॥

इत्यादावोजःप्रभृतिषु गुणेषु सत्सु काव्यव्यवहारप्राप्तिः ।

और जो [गुण तथा अलङ्कारका भेद माननेवाले वामनने अपने 'काव्यालङ्कार-सूत्र'के तृतीयाधिकरणके प्रथमाध्यायमें] यह कहा है कि—'काव्यसौन्दर्यके उत्पादक धर्म गुण और इस [काव्यसौन्दर्य] के अभिवर्धक धर्म अलङ्कार [कहलाते] हैं। यह [गुण तथा अलङ्कारका भेद है]' यह [वामनका कथन] भी असङ्गत है। क्योंकि [इसमें दो विकल्प हो सकते हैं] १. क्या समस्त [अर्थात् वामनाभिमत दस] गुणों [के होने] से काव्यव्यवहार [हो सकता है] अथवा २. कुछ [गुणों] से ? यदि [प्रथम पक्षके अनुसार] समस्त [गुणोंके होने] से [ही काव्यव्यवहार होता है] तो समस्त गुणोंसे रहित गौडी अथवा पाञ्चाली रीति काव्यका आत्मा कैसे [मानी जा सकती] है ?

और यदि [द्वितीय विकल्पके अनुसार] कतिपय [गुणोंके होने]से [भी काव्यका व्यवहार हो सकता है] तो—

इस पर्वतपर बड़े जोरसे आग जल रही है और यह प्रचुर धुआँ उठता हुआ दिखायी देता है ॥३४७॥

इत्यादि [रसविहीन काव्यलक्षणरहित वाक्य] में ओज आदि [कतिपय] गुणोंके होनेसे काव्यव्यवहार प्राप्त होने लगेगा [जो कि अभीष्ट नहीं है]।

इसका अभिप्राय यह है कि वामनने रीतिको काव्यका आत्मा माना है। 'रीतिरात्मा काव्यस्य' १।२।६। यह वामनका सिद्धान्त है। वामनके मतानुसार वे रीतियाँ तीन प्रकार की है—

सा त्रेधा वैदर्भी गौडीया पाञ्चाली चेति ।१।२।९।

इन तीनों रीतियोंमेंसे वैदर्भी रीति तो समस्त गुणोंसे युक्त होती है, परन्तु गौडीया रीतिमें केवल ओज और कान्ति ये दो ही गुण रहते हैं और पाञ्चालीमें केवल माधुर्य तथा सौकुमार्य ये दो ही गुण रहते है। वामनने इन तीनों रीतियोंके लक्षण निम्नलिखितप्रकार किये हैं—

समग्रगुणा वैदर्भी ।१।२।११।

समग्रैः—ओजःप्रसादप्रभृतिभिर्गुणैरुपेता वैदर्भी नाम रीतिः। अत्र श्लोकौ—

अस्पृष्टा दोषमात्राभिः समग्रगुणगुम्फिता ।
विपञ्चीस्वरसौभाग्या वैदर्भी रीतिरिष्यते ॥

तामेतां कवयः स्तुवन्ति—

सति वक्तरि सत्यर्थे सति शब्दानुशासने ।
अस्ति तन्न विना येन परिस्रवति वाङ्मधु ॥

अर्थात् ओज-प्रसादादि समस्त गुणोंसे युक्त और दोषकी मात्रासे रहित वीणाके शब्दके समान मनोहारिणी वैदर्भी रीति होती है।

सिद्धहस्त कवि, सुन्दर चमत्कारपूर्ण अर्थ और कविका शब्दशास्त्रपर पूर्ण अधिकार होनेपर भी यदि कवि इस वैदर्भी रीतिका अवलम्बन नहीं करता है तो उसकी वाणी सुधास्यन्दिनी नहीं हो सकती है।

इस प्रकार वामनने वैदर्भी रीतिकी प्रशंसा करते हुए उसका लक्षण किया है। वैदर्भी रीतिका निम्नलिखित उदाहरण दिया है—

गाहन्तां महिषा निपानसलिलं शृङ्गैर्मुहुस्ताडितं
छायाबद्धकदम्बकं मृगकुलं रोमन्थमभ्यस्यतु ।
विस्रब्धं क्रियतां वराहपतिभिर्मुस्ताक्षतिः पल्वले
विश्रान्तिं लभतामिदं च शिथिलज्याबन्धमस्मद्धनुः ॥

दूसरी गौडीया रीतिका लक्षण करते हुए वामनने लिखा है—

ओजःकान्तिमती गौडीया ।१।२।१२।

समस्तात्युद्भटपदां ओजःकान्तिगुणान्विताम् ।
गौडीयामिति गायन्ति रीतिं रीतिविचक्षणाः ॥

उदाहरणम्—

दोर्दण्डाञ्चितचन्द्रशेखरधनुर्दण्डावभङ्गोद्यत-
टङ्कारध्वनिरार्यबालचरितप्रस्तावनाडिण्डिमः ।
द्राक्पर्यस्तकपालसम्पुटमिलद्ब्रह्माण्डभाण्डोदर-
भ्राम्यत्पिण्डितचण्डिमा कथमहो नाद्यापि विश्राम्यति ॥

तीसरी पञ्चाली रीतिके लक्षण और उदाहरण वामनने निम्नलिखितप्रकार दिये हैं—

माधुर्यसौकुमार्योपपन्ना पाञ्चाली ।४।२।१३।

आश्लिष्टश्लथभावां तु पुराणच्छाययान्विताम् ।
मधुरां सुकुमारां च पाञ्चालीं कवयो विदुः ॥

यथा—

ग्रामेऽस्मिन् पथिकाय पान्थ वसतिर्नैवाधुना दीयते
रात्रावत्र विहारमण्डपतले पान्थः प्रसुप्तो युवा ।
तेनोत्थाय खलेन गर्जति घने स्मृत्वा प्रियां तत्कृतं
येनाद्यापि करङ्कदण्डपतनाशङ्की जनस्तिष्ठति ॥

इस प्रकार वामनके लेखसे यह स्पष्ट हो जाता है कि इन तीनों रीतियोंमेंसे वैदर्भी रीति तो समस्त गुणोंसे युक्त होती है, परन्तु शेष दोनों रीतियोंमें दस गुणोंमेंसे केवल दो-दो गुण ही रहते हैं। यदि समस्त गुणोंकी समष्टिको काव्यव्यवहारका प्रयोजक माना जाय तो केवल वैदर्भी रीतिको काव्यका आत्मा माना जा सकता है, क्योंकि उसमें दसों गुण रहते हैं। परन्तु समस्त गुणोंसे रहित केवल दो-दो गुणोंवाली गौडीया तथा पाञ्चाली रीतियोंको काव्यका आत्मा नहीं माना जा सकता है। यह काव्य-प्रकाशकारका अभिप्राय है।

और यदि दूसरा पक्ष लिया जाय अर्थात् कतिपय गुणोंकी स्थितिमें भी काव्यव्यवहार माना जाय तो 'अद्रावत्र' उदाहरण-संख्या ३४७ में भी काव्यव्यवहार होने लगेगा, जो कि इष्ट नहीं है। इसलिए वामनने जो काव्यशोभाके उत्पादक धर्मोंको गुण और काव्यशोभाके अतिशयाधायक धर्मोंको अलङ्कार कहा है, यह उनका कथन उचित नहीं है।

शृङ्गारे अर्थात् सम्भोगे । द्रुतिर्गलितत्वमिव । श्रव्यत्वं पुनरोजःप्रसादयोरपि ।

[सूत्र ९०] करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम् ।

अत्यन्तद्रुतिहेतुत्वात् ।

[सूत्र ९१] दीप्त्यात्मविस्तृतेर्हेतुरोजो वीररसस्थिति ॥ ६९ ॥

चित्तस्य विस्ताररूपदीप्तत्वजनकमोजः

[सूत्र ९२] बीभत्सरौद्ररसयोस्तस्याधिक्यं क्रमेण च ।

यहाँ आह्लादकत्वका अर्थ आह्लादजनकत्व नहीं अपितु आह्लादस्वरूपत्व है, क्योंकि शृङ्गार आदि रस आह्लादजनक नहीं अपितु आह्लादस्वरूप होते हैं । यहाँ शृङ्गारमें जो आह्लादकत्व है वह माधुर्यगुण कहलाता है, यह भाव है । शृङ्गारके आह्लादस्वरूप होनेसे आह्लादकत्वका अर्थ आह्लादजनकत्व न करके आह्लादस्वरूप ही करना चाहिये । इसके लिए भावमें [illegible] प्रत्यय करके 'आह्लादनं आह्लादः' शब्द बनाकर उससे स्वार्थमें 'क' प्रत्यय करके आह्लादक बनाना चाहिये । 'आह्लादयति [illegible] आह्लादकः' इस प्रकार उसकी व्युत्पत्ति नहीं करनी चाहिये ।

शृङ्गारमें अर्थात् सम्भोग [शृङ्गार] में । द्रुति अर्थात् [चित्तका] विगलितत्व-सा [द्रवीभाव] ।

[भामहका अभिमत माधुर्यका लक्षण] 'श्रव्यत्व' तो ओज और प्रसाद [गुण] में भी होता है [इसलिए अतिव्याप्ति दोषसे ग्रस्त होनेके कारण भामहका उक्त लक्षण उचित नहीं है । यह ग्रन्थकारके इस वाक्यका अभिप्राय है] ।

वामनके दस गुणोंके विपरीत भामहने भी तीन ही गुण माने हैं — माधुर्य, ओज और [illegible] इनमेंसे माधुर्यका लक्षण भामहने इस प्रकार किया है —

'श्रव्य नातिसमस्तार्थं काव्यं मधुरमिष्यते ।' भामह काव्यालङ्कार [illegible] ।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि जिसमें अधिक समासयुक्त [illegible] लगनेवाला श्रव्यकाव्य माधुर्ययुक्त कहलाता है । इसके अनुसार भामहके [illegible] लक्षण हुआ । परन्तु मम्मट इस लक्षणको उचित नहीं समझते । [illegible] लिए उन्होंने 'श्रव्यत्वं पुनरोजःप्रसादयोरपि' यह वाक्य लिखा है ।

[सूत्र ९०]—[यह माधुर्य गुण सामान्यतः सम्भोग शृङ्गारमें [illegible] करुण, विप्रलम्भ [शृङ्गार] तथा शान्त [रस] में भी [उत्तरोत्तर] [illegible] जनक [अतिशयान्वित] होता है ।

[उत्तरोत्तर चमत्कारातिशययुक्त होनेका हेतु आगे बताते हैं [illegible] द्रवीभावका कारण होनेसे ।

[सूत्र ९१]—चित्तके द्रवीभावका कारणभूत [illegible] गुण कहलाता है, उसी प्रकार] वीररसमें रहनेवाला [illegible] की हेतुभूत दीप्ति ओज [कहलाती] है ।

चित्तके विस्ताररूप दीप्तत्वका जनक ओज [गुण कहलाता] है ।

[सूत्र ९२]—[यह ओज सामान्यतः वीररसमें रहता है, [illegible] रौद्र रसोंमें क्रमशः इसका आधिक्य [विशेष चमत्कारजनक] [illegible]

वीराद्बीभत्से ततो रौद्रे सातिशयमोजः ।

[सूत्र ९३] शुष्केन्धनाग्निवत् स्वच्छजलवत्सहसैव यः ॥ ७० ॥
व्याप्नोत्यन्यत् प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितस्थितिः ।

अन्यदिति व्याप्यमिह चित्तम् । सर्वत्रेति सर्वेषु रसेषु, सर्वासु रचनासु च ।

[सूत्र ९४] गुणवृत्त्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता ॥ ७१ ॥

गुणवृत्त्या उपचारेण । तेषां गुणानाम् । आकारे शौर्यस्येव ।

कुतस्त्रय एव न दश इत्याह—

[सूत्र ९५] केचिदन्तर्भवन्त्येषु दोषत्यागात्परे श्रिताः ।
अन्ये भजन्ति दोषत्वं कुत्रचिन्न ततो दश ॥ ७२ ॥

[अर्थात्] वीरकी अपेक्षा बीभत्समें और उससे भी अधिक रौद्ररसमें ओजका चमत्कारातिशय होता है ।

[सूत्र ९४]—सूखे इन्धनमें अग्निके समान अथवा स्वच्छ [धुले हुए वस्त्रमें] जलके समान जो चित्तमें सहसा व्याप्त हो जाता है, वह सर्वत्र [सब रसोंमें] रहनेवाला प्रसाद [गुण कहलाता] है ॥ ७० ॥

'अन्यत्' इस पदसे यहाँ व्याप्य चित्तका ग्रहण करना चाहिये । 'सर्वत्र' पदका अर्थ सब रसों और सब रचनाओंमें यह करना चाहिये ।

यहाँ ग्रन्थकारने यह कहा है कि जैसे सूखे इन्धनमें अग्नि सहसा व्याप्त हो जाती है, अथवा स्वच्छ, धुले हुए वस्त्रमें जल सहसा व्याप्त हो जाता है, इसी प्रकार जो चित्तमें सहसा अनायास व्याप्त हो जाता है, वह प्रसाद नामक गुण कहलाता है, और वह सारे रसोंमें और सारी रचनाओंमें रहता है । यहाँ अग्नि और जलके दो उदाहरण देनेका अभिप्राय यह है कि जब वीर, रौद्र आदि उग्र रसोंमें प्रसाद गुण होता है, तब वह सूखे इन्धनमें अग्निके समान चित्तमें व्याप्त होता है और जब शृङ्गार, करुण आदि कोमल रसोंमें होता है, तब स्वच्छ वस्त्रमें जलके समान चित्तमें व्याप्त होता है ।

गुणोंका शब्दार्थधर्मत्व औपचारिक

[सूत्र ९४]—[यद्यपि मुख्यरूपसे गुण रसके धर्म हैं, परन्तु] गौणी वृत्तिसे शब्द और अर्थमें भी उनकी स्थिति मानी जाती है ।

गुणवृत्तिसे अर्थात् उपचारसे । उनकी अर्थात् गुणोंकी । जैसे शरीर [आकार]में [आत्माके धर्म] शौर्य आदि [गुणों] की स्थिति उपचारसे मानी जाती है उसी प्रकार उपचारसे रसके धर्म माधुर्य आदि गुणोंकी शब्द और अर्थमें भी स्थिति मानी जाती है] ।

वामनोक्त दस गुणोंका खण्डन

तीन ही [गुण] क्यों होते हैं, दस क्यों नहीं, यह कहते हैं—

[सूत्र ९५]—इन [वामनके दस गुणों]मेंसे कुछ तो इन [माधुर्य, ओज [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

बहूनामपि पदानामेकपदवद्भासमानात्मा यः श्लेषः, यश्चारोहावरोहक्रमरूपः समाधिः, या च विकटत्वलक्षणा उदारता, यश्चौजोमिश्रितशैथिल्यात्मा प्रसादः, तेषामोजस्यन्तर्भावः। पृथक्पदत्वरूपं माधुर्यं भङ्ग्या साक्षादुपात्तम्। प्रसादेनार्थव्यक्तिर्गृहीता। मार्गाभेदरूपा समता क्वचिद्दोषः। तथा हि 'मातङ्गाः किमु वल्गितैः' इत्यादौ सिंहाभिधाने मसृणमार्गत्यागो गुणः। कष्टत्वग्राम्यत्वयोर्दुष्टताभिधानात् तन्निराकरणेन अपारुष्यरूपं सौकुमार्यम्, औज्ज्वल्यरूपा कान्तिश्च स्वीकृता। एवं न दश शब्दगुणाः।

पदार्थे वाक्यरचनं वाक्यार्थे च पदाभिधा।
प्रौढिर्व्याससमासौ च साभिप्रायत्वमस्य च ॥

वामनके दस शब्दगुणोंमेंसे १. श्लेष, २. समाधि, ३. उदारता और ३. प्रसाद ये चार गुण मम्मटने ५. ओजगुणके अन्तर्गत कर लिये हैं। ६. माधुर्यगुण मम्मटने भी उसी नामसे माना है। ७. अर्थव्यक्तिरूप गुण मम्मटने अपने प्रसादगुणके अन्तर्गत मान लिया है। ८. समतागुण कहीं दोषरूप हो जाता है, इसलिए गुण नहीं है। ९. सौकुमार्य तथा १०. कान्तिगुण कष्टत्व तथा ग्राम्यत्वदोषका परिहाररूप होनेसे गुण नहीं माने जा सकते हैं। यही बात ग्रन्थकार आगे लिखते हैं—

['मसृणत्वं श्लेषः' श्लेषके इस लक्षणमें मसृणत्वका अर्थ 'मसृणत्वं नाम तत्, यस्मिन् सति बहून्यपि पदान्येकवद् भासन्ते' किया है, तदनुसार] अनेक पदोंकी एक पदके समान प्रतीतिरूप जो १. श्लेष और उतार-चढ़ाव [आरोह-अवरोह] का क्रमरूप जो २. समाधि और विकटत्वरूप ३. उदारता तथा ओजोमिश्रित शैथिल्यरूप जो ४. प्रसाद [रूप चार शब्दगुण हैं] उनका ५. ओज [नामक वामन तथा मम्मट दोनोंके सम्मत गुण] में अन्तर्भाव होता है। पृथक्पदत्वरूप ६. माधुर्य [गुण] हमने भी ('अवृत्ति-र्मध्यवृत्तिर्वा माधुर्ये घटना तथा' इत्यादि ९८वें सूत्रमें 'अवृत्ति' अर्थात् समासरहित रचनाकी माधुर्यव्यञ्जकताके प्रतिपादन द्वारा] प्रकारान्तरसे साक्षात् स्वीकार कर लिया है। ७ अर्थव्यक्ति प्रसाद [गुण] के द्वारा आ ही गयी है। ८. मार्गाभेदस्वरूपिणी समता कहीं दोष हो जाती है। जैसे 'मातङ्गाः किमु वल्गितैः' [उदाहरण सं० २९९] इत्यादिमें सिंहका वर्णन करनेमें [तृतीय चरणमें] कोमल मार्गका परित्याग गुण हो गया है [यदि उसका त्याग न करके 'मार्गाभेद' रखा जाता तो वह यहाँ दोष हो जाता। इसलिए समताको गुण नहीं माना जा सकता है]। कष्टत्व तथा ग्राम्यत्वके दोष कहे जानेसे उनके परित्याग द्वारा [क्रमशः] अपारुष्यरूप ९. सौकुमार्य तथा औज्ज्वल्यरूप १०. कान्ति [गुण भी दोषाभावरूपसे] स्वीकृत कर लिये गये हैं। इसलिए दस शब्द-गुण [मानना उचित] नहीं है।

वामनोक्त दस अर्थगुणोंका खण्डन

इस प्रकार दस शब्दगुणोंकी अनुपपत्ति दिखलानेके बाद आगे अर्थगुणोंकी अनुपपत्तिका प्रदर्शन करते हैं—

१ पदके प्रतिपाद्य अर्थ [के बोधन]में वाक्यकी रचना, २ वाक्यके प्रतिपाद्य अर्थमें पदका कथन करना, ३. विस्तार या ४ संक्षेप करना और ५ अर्थका [विशेषरूप-से] साभिप्रायत्व [यह पाँच प्रकारकी] प्रौढि होती है।

इति या प्रौढिः ओज इत्युक्तं तद्वैचित्र्यमात्रं न गुणः। तदभावेऽपि काव्यव्यव-हारप्रवृत्तेः। अपुष्टार्थाधिकपदानवीकृतामङ्गलरूपाश्लीलग्राम्याणां निरा-करणेन च साभिप्रायत्वरूपम् ओजः, अर्थवैमल्यात्मा प्रसादः, उक्तिवैचित्र्यं माधुर्यम्, अपारुष्यरूपं सौकुमार्यम्, अग्राम्यत्वरूपा उदारता च स्वीकृतानि। अभिधास्यमानस्व-भावोक्त्यलङ्कारेण रसध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्याभ्यां च वस्तुस्वभावस्फुटत्वरूपा अर्थव्यक्तिः, दीप्तरसत्वरूपा कान्तिश्च स्वीकृते। क्रमकौटिल्यानुल्बणत्वोपपत्तियोगरूपघटनात्मा श्लेषोऽपि विचित्रतामात्रम्। अवैषम्यस्वरूपा समता दोषाभावमात्रं न पुनर्गुणः। कः खल्वनुन्मत्तोऽन्यस्य प्रस्तावेऽन्यदभिदधीत। अर्थस्यायोनेरन्यच्छायायोनेर्वा यदि न भवति दर्शनं तत् कथं काव्यम् इत्यर्थदृष्टिरूपः समाधिरपि न गुणः।

[सू० ९६] तेन नार्थगुणा वाच्याः प्रोक्ताः शब्दगुणाश्च ये।

वाच्या वक्तव्याः।

१. इस प्रकार जो प्रौढि ओज कही गयी है, वह केवल विचित्रतामात्र है, गुण नहीं, क्योंकि उसके बिना भी काव्यव्यवहार हो सकता है। अपुष्टार्थत्व, अधिक-पदत्व, अनवीकृतत्व, अमङ्गलरूप अश्लील और ग्राम्यत्वके निराकरण द्वारा साभिप्रायत्वरूप १. ओज [अर्थात् ओजोगुणका दूसरा स्वरूप], अर्थवैमल्यरूप २. प्रसाद, उक्तवैचित्र्यरूप ३. माधुर्य, अपारुष्यरूप ४. सौकुमार्य और अग्राम्यत्वरूप ५. उदारता [गुण, दोषाभावके अन्तर्गत] स्वीकृत हुए हैं। आगे कहे जानेवाले स्वभावोक्ति अलङ्कारसे और रसध्वनि तथा गुणीभूतव्यङ्ग्यके द्वारा वस्तुके स्वभावकी स्पष्टतारूप ६. अर्थव्यक्ति तथा दीप्तरसत्वरूप ७. कान्ति स्वीकृत हो गयी। क्रम-कौटिल्य-अनुल्वणत्व-उपपत्तियोगरूप रचनास्वरूप ८. श्लेष भी विचित्रता-मात्र है। अवैषम्यरूप ९. समताका अभाव दोष होगा, इसलिए समता दोषमात्र है, गुण नहीं। क्योंकि ऐसा कौन बुद्धिमान् [अनुन्मत्त] होगा, जो अन्य प्रकरणमें अन्यको कहे। और यदि अयोनि अथवा अन्यच्छायायोनि अर्थका दर्शन न हो, तो काव्य ही कैसे बने, इसलिए १०. अर्थदृष्टिरूप समाधि भी गुण नहीं है।

वामनने 'अर्थदृष्टिः समाधिः' ३।२।७। यह समाधिगुणका लक्षण किया है, और उसके दो भेद करते हुए लिखा है, 'अर्थो द्विविधोऽयोनिरन्यच्छायायोनिश्च' ।३।२।८। अर्थात् अर्थके दर्शनका नाम 'समाधि' है। यह अर्थ दो प्रकारका होता है। एक अयोनि अर्थात् अकारण अर्थात् कविकी कल्पना-मात्रसे उद्भूत होनेवाला अर्थ और दूसरा अन्यच्छायाको लेकर वर्णित हुआ अर्थ। इस द्विविध अर्थके दर्शनको वामनने समाधि नामक गुण माना है। उसके विषयमें ग्रन्थकारका यह कहना है कि इस दो प्रकारके अर्थके बिना तो कवि काव्यकी रचना ही नहीं कर सकता है, इसलिए यह तो काव्यके कारणोंमें आ सकता है, काव्यका गुण नहीं कहा जा सकता है।

[सूत्र ९६]—इसलिए [वामनोक्त] जो [दस] अर्थगुण और शब्दगुण कहे गये हैं उनको [अलग] नहीं मानना चाहिये।

'वाच्याः'का अर्थ [यहाँ] 'वक्तव्याः' करना चाहिये।

[सूत्र ९९] योग आद्यतृतीयाभ्यामन्त्ययो रेण तुल्ययो ।
टादिः शषौ वृत्तिदैर्घ्यं गुम्फ उद्धत ओजसि ॥ ७५ ॥

वर्गप्रथमतृतीयाभ्यामन्त्ययोः द्वितीयचतुर्थयोः रेफेण अध उपरि उभयत्र वा यस्य कस्यचित्, तुल्ययोस्तेन तस्यैव सम्बन्धः, टवर्गोऽर्थात् णकारवर्जः, शकारषकारौ, दीर्घसमासः विकटा सङ्घटना ओजसः । उदाहरणम्—

मूर्ध्नामुद्वृत्तकृत्तेत्यादि ॥ ३५० ॥

[सूत्र १००] श्रुतिमात्रेण शब्दात्तु येनार्थप्रत्ययो भवेत् ।
साधारणः समग्राणां स प्रसादो गुणो मतः ॥ ७६ ॥

समग्राणां रसानां सङ्घटनानां च । उदाहरणम्—

माधुर्यगुणके अभिव्यञ्जक वर्ण, समास तथा रचनाका निरूपण करनेके बाद ओजके व्यञ्जक वर्णादिका प्रतिपादन अगली कारिकामे करते हैं—

[सूत्र ९९]—[उक्त कवर्ग, चवर्ग, तवर्ग तथा पवर्ग चारो वर्गोंके आद्य अर्थात्] १. प्रथम [क-च-त-प-रूप] और तृतीय [ग-ज-द-ब-रूप] वर्णोंके साथ उनके बादके [अन्त्ययोः अर्थात् ख-छ-थ-फ आदि द्वितीय तथा तृतीयके बादके चतुर्थ घ-झ-ध-भ] वर्णोंका [अर्थात् नैरन्तर्य या अव्यवधानसे प्रयोग] तथा २. रेफके साथ योग [अर्थात् ऊपर या नीचे किसी भी रूपमे रकारका किसी भी वर्णके साथ योग जैसे, वक्त्र, वज्र, निर्ह्राद आदिमें] और ३. तुल्यवर्णोंका योग [जैसे, वित्त, उच्च, उद्दाम आदिमें] ४. टादि [अर्थात् ट-ठ-ड-ढ वर्ण] तथा ५. श-ष [ये सब वर्ण तथा] ६. दीर्घ समास एवं ७. उद्धत रचना [गुम्फ] ओज [गुण] मे [व्यञ्जक होते हैं । इसका ७३वीं कारिकाके 'व्यञ्जकतामिताः'के साथ अन्वय होता है] ।

१. वर्गके प्रथम तथा तृतीय वर्णके साथ उनके बादके अर्थात् द्वितीय और चतुर्थ वर्णोंका, २. ऊपर, नीचे, अथवा दोनो जगह विद्यमान रेफके साथ जिस किसी वर्णका, ३. दो तुल्य वर्णोंका अर्थात् [वित्त उद्दाम आदिके समान] उसका उसी वर्णके साथ योग, ४. टवर्ग अर्थात् णकारको छोड़कर [ट-ठ-ड-ढ का प्रयोग], ५. शकार तथा षकारका प्रयोग, ६. दीर्घसमास और ७. विकट रचना ओज [गुण] के व्यञ्जक होते हैं । जैसे—

'मूर्ध्नामुद्वृत्त' इत्यादि [अर्थ उदाहरण संख्या १५९ देखिये] ॥ ३५० ॥

इस प्रकार माधुर्य तथा ओजगुणके व्यञ्जक वर्णादिका प्रतिपादन करनेके बाद आगे प्रसाद गुणके व्यञ्जक वर्णादिका निरूपण अगली ७६वीं कारिकामें करते हैं—

[सूत्र १००]—जिस [शब्द, समास या रचना] के द्वारा श्रवणमात्रसे शब्दसे अर्थकी प्रतीति हो जाय, वह सब [वर्णों, समासों तथा रचनाओं] मे रहनेवाला प्रसाद-गुण माना जाता है ॥ ७६ ॥

[समग्राणां अर्थात्] समस्त रसो और रचनाओंका [साधारण धर्म प्रसादगुण होता है] । उदाहरण [जैसे]—

क्वचिद्वक्तृप्रबन्धानपेक्षया वाच्यौचित्यादेव रचनादयः । यथा—

> प्रौढच्छेदानुरूपोच्छलनरयभवत्सैंहिकेयोपघात-
> त्रासाकृष्टाश्वतिर्यग्वलितरविरथेनारुणेनेक्ष्यमाणम् ।
> कुर्वत्काकुत्स्थवीर्यस्तुतिमिव मरुतां कन्धरारन्ध्रभाजां
> भाङ्कारैर्भीममेतन्निपतति वियतः कुम्भकर्णोत्तमाङ्गम् ॥ २५३ ॥

क्वचिद्वक्तृवाच्यानपेक्षाः प्रबन्धोचिता एव ते । तथा हि आख्यायिकायां शृङ्गारेऽपि न मसृणवर्णादयः, कथायां रौद्रेऽपि नात्यन्तमुद्धताः, नाटकादौ रौद्रेऽपि न दीर्घसमासादयः ।

एवमन्यदप्यौचित्यमनुसर्तव्यम् ।

और कहीं वक्ता तथा प्रबन्ध [दोनों] की उपेक्षा करके [केवल] वाच्यके औचित्यसे ही रचना आदि [प्रयुक्त] होती है। जैसे—

'चन्द्रिका' आदिमें इसको 'महावीरचरित'का श्लोक बतलाया है। परन्तु 'महावीरचरित'में यह श्लोक नहीं पाया जाता है। कुछ लोग इसे 'छलितराम' नाटकका पद्य बतलाते हैं। कुम्भकर्णके कटे हुए शिरके ऊपरसे गिरनेका वर्णन करते हुए कवि कहता है कि—

प्रौढ अर्थात् बलवान्‌के द्वारा प्रयुक्त हुआ जो खड्ग [छिद्यते अनेनेति छेदः इस प्रकारकी करण-व्युत्पत्तिसे छेद शब्द खड्गका वाचक होता है] का प्रहार उसके अनुरूप जो [कटे हुए सिरका] ऊर्ध्वगमनका वेग उस [वेग] से उत्पन्न जो राहु [सैंहिकेय] के पतनके भयसे घोड़ों [की रासों] को खींचकर सूर्यके रथको तिरछा मोड़ देनेवाले [सूर्यके सारथि] अरुणके द्वारा [भय तथा आश्चर्यपूर्वक] देखा जाता हुआ और गर्दनके [कटे हुए] छिद्रोंके भीतर भरी हुई वायुके भाँय-भाँय [इस प्रकारके शब्दों] से [काकुत्स्थ अर्थात् ककुत्स्थवंशमें उत्पन्न हुए] रामचन्द्रके पराक्रमकी स्तुति-सा करता हुआ कुम्भकर्णका यह भयानक सिर आकाशसे गिर रहा है ॥ २५३ ॥

[यहाँ वक्ता वैतालिक है। उसके वचनमें दीर्घसमासमयी उद्धत रचना उचित नहीं हो सकती है और काव्य अभिनयात्मक नाटकरूप है इसलिए उसमें भी दीर्घसमासमयी रचना उचित नहीं है। तथापि कुम्भकर्णके सिरके पतनका विषय ऐसा है कि उसमें दीर्घसमासमयी उद्धत रचना ही शोभा देती है। इसलिए वक्ता तथा प्रबन्ध दोनोंकी उपेक्षा करके केवल वाच्यके औचित्यके कारण ही यहाँ दीर्घसमासमयी और उद्धत रचनाका प्रयोग किया गया है]।

कहीं-कहीं वक्ता और वाच्यकी उपेक्षा करके प्रबन्धके औचित्यके अनुसार [रचना आदि] की जाती हैं। जैसे कि आख्यायिकामें शृङ्गाररस [के वर्णन] में भी कोमल वर्णादि [प्रयुक्त] नहीं होते हैं, कथामें रौद्ररसमें भी अत्यन्त उद्धत [वर्ण-रचनादि प्रयुक्त] नहीं होते हैं और नाटकादिमें रौद्ररसमें भी दीर्घसमास आदि नहीं [प्रयुक्त] होते हैं।

इसी प्रकार अन्य औचित्योंका भी अनुसरण करना चाहिये।

इति श्रीकाव्यप्रकाशे गुणालङ्कारभेदनियतगुणनिर्णयो नाम अष्टमोल्लासः

यहाँ ग्रन्थकारने 'आख्यायिका' तथा 'कथा'का उल्लेख किया है। वैसे ये दोनों शब्द समानार्थकसे लगते हैं, किन्तु साहित्यमें वे दोनों भिन्न रचनाशैलीके द्योतक हैं। ये दोनों गद्यकाव्यके भेद हैं। आख्यायिकाकी रचना उछ्वास आदि भागोंमें विभक्त होती है। कथामें इस प्रकारका विभाग नहीं होता है। 'आख्यायिका'का उदाहरण 'हर्षचरित' है, और 'कथा'का उदाहरण 'कादम्बरी' है। विश्वनाथने 'कथा' तथा 'आख्यायिका'के भेदका प्रतिपादन करते हुए लिखा है—

कथायां सरसं वस्तु गद्यैरेव विनिर्मितम्।
क्वचिदत्र भवेदार्या क्वचिद् वक्त्रापवक्त्रके॥
आदौ पद्यैर्नमस्कारः खलादेर्वृत्तकीर्तनम्। यथा कादम्बर्यादिः।
आख्यायिका कथावत् स्यात् कवेर्वंशानुकीर्तनम्।
अस्यामन्यकवीनां च वृत्तं पद्यं क्वचित् क्वचित्।
कथांशानां व्यवच्छेद आश्वास इति कथ्यते।
आर्यावक्त्रापवक्त्राणां छन्दसा येन केनचित्॥
अन्यापदेशेनाश्वासमुखे भाव्यर्थसूचनम्। यथा हर्षचरितादिः।

मम्मटने यह सारा प्रकरण 'ध्वन्यालोक'के निम्नलिखित लेखके आधारपर लिखा है—

विषयाश्रयमप्यन्यदौचित्यं तां नियच्छति।
काव्यप्रभेदाश्रयतः स्थिता भेदवती हि सा॥ ३-७

वक्तृवाच्यगतौचित्ये सत्यपि, विषयाश्रयमन्यदौचित्यं सङ्घटनां नियच्छति। यतः काव्यस्य प्रभेदाः (१) मुक्तकं संस्कृत-प्राकृतापभ्रंशनिबद्धम्, (२) सन्दानितकविशेषककलापककुलकानि, (३) पर्यायबन्धः, (४) परिकथा, (५) खण्डकथासकलकथे, (६) सर्गबन्धः, (७) अभिनेयार्थम्, (८) आख्यायिकाकथे इत्येवमादयः तदाश्रयेणापि सङ्घटना विशेषवती भवति।

तत्र मुक्तकेषु रसबन्धाभिनिवेशिनः कवेस्तदाश्रयमौचित्यम्। तच्च दर्शितमेव। अन्यत्र कामचारः। मुक्तकेषु प्रबन्धेष्वपि रसबन्धाभिनिवेशिनः कवयो दृश्यन्ते। यथा ह्यमरुककवेः मुक्तकाः शृङ्गाररसस्यन्दिनः प्रबन्धायमानाः प्रसिद्धा एव। सन्दानितकादिषु तु विकटनिबन्धनौचित्यान्मध्यमसमासदीर्घसमासे एव सङ्घटने। प्रबन्धाश्रयेषु यथोक्तं प्रबन्धौचित्यमेवानुसर्त्तव्यम्।

पर्यायबन्धे पुनरसमासमध्यमसमासे एव सङ्घटने। कदाचिदर्थौचित्याश्रयेण दीर्घसमासायामपि सङ्घटनायां परुषा ग्राम्या च वृत्तिः परिहर्त्तव्या। परिकथायां कामचारः। तत्र इतिवृत्तमात्रोपन्यासेन नात्यन्तं रससम्बन्धाभिनिवेशात्। खण्डकथासकलकथयोस्तु प्राकृतप्रसिद्धयोः कुलकादिनिबन्धनभूयस्त्वात् दीर्घसमासायामपि न विरोधः। वृत्त्यौचित्यन्तु यथारसमनुसर्त्तव्यम्। सर्गबन्धे तु रसतात्पर्ये यथारसमौचित्यम्। अन्यथा तु कामचारः। द्वयोरपि मार्गयोः सर्गबन्धविधायिनां दर्शनात् रसतात्पर्यं साधीयः। अभिनेयार्थे तु सर्वथा रसबन्धेऽभिनिवेशः कार्यः। आख्यायिकाकथयोस्तु गद्यनिबन्धनबाहुल्यात् गद्ये च छन्दोबन्धभिन्नप्रस्थानत्वादिह नियमहेतुरकृतपूर्वोऽपि मनाक् क्रियते।

काव्यप्रकाशमें गुण और अलङ्कारोंके निश्चित भेदका निर्णय करनेवाला अष्टम उल्लास समाप्त हुआ।

इति श्रीमदाचार्यविश्वेश्वरसिद्धान्तशिरोमणिविरचितायां काव्यप्रकाशदीपिकायां
हिन्दीव्याख्यायां गुणालङ्कारनियतगुणनिर्णयो नाम
अष्टम उल्लासः समाप्तः।

———

अथ नवम उल्लास:

अथ काव्यप्रकाशदीपिकायां नवम उल्लासः

उल्लाससङ्गति

'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि' इस काव्यलक्षणमें 'शब्दार्थौ'का अन्तिम विशेषण 'अनलङ्कृती' दिया है। उसका अभिप्राय यह है, साधारणतः सालङ्कार शब्दार्थ काव्यमें प्रयुक्त होने चाहिये, परन्तु जहाँ रसादिकी स्पष्ट प्रतीति हो, वहाँ कभी-कभी अलङ्काररहित शब्द और अर्थके होनेपर भी काव्यत्वकी हानि नहीं होती है। इसलिए इस लक्षणकी व्याख्याके लिए अलङ्कारोंका निरूपण करना आवश्यक है। उस लक्षणमें अलङ्कारका सम्बन्ध शब्द तथा अर्थ दोनोंके साथ दिखलाया गया है। अतएव शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कार रूपमें अलङ्कारोंके दो विभाग करके उनका निरूपण करनेके लिए यहाँ ग्रन्थकारने नवम तथा दशम दो उल्लासोंकी रचना की है। नवम उल्लासमें केवल शब्दालङ्कार तथा दशम उल्लासमें अर्थालङ्कारोंका वर्णन किया है। अलङ्कारोंका सामान्य लक्षण 'उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्' इत्यादि अष्टम उल्लासकी ६७वीं कारिकामें कर चुके हैं। इसलिए यहाँ फिर सामान्य लक्षण किये बिना ही अलङ्कारोंका निरूपण प्रारम्भ कर दिया है।

अलङ्कारका लक्षण

'अलङ्करोति इति अलङ्कारः' यह अलङ्कार शब्दकी व्युत्पत्ति है। इसके अनुसार शरीरको विभूषित करनेवाले अर्थ या तत्त्वका नाम 'अलङ्कार' है। जिस प्रकार कटककुण्डल आभूषण शरीरको विभूषित करते हैं, इसलिए अलङ्कार कहलाते हैं उसी प्रकार काव्यमें अनुप्रास, उपमा आदि काव्यके शरीरभूत शब्द और अर्थको अलङ्कृत करते हैं इसलिए अलङ्कार कहलाते हैं। अलङ्कार अलङ्कार्यका केवल उत्कर्षाधायक तत्त्व होता है, स्वरूपाधायक या जीवनाधायक तत्त्व नहीं। जो स्त्री या पुरुष अलङ्कार-विहीन हैं, वह भी मनुष्य है। पर जो अलङ्कारयुक्त है, वह अधिक उत्कृष्ट समझा जाता है। इसी प्रकार काव्यमें अलङ्कारोंकी स्थिति अपरिहार्य नहीं है। वे यदि हैं, तो काव्यके उत्कर्षाधायक होंगे, यदि नहीं हैं, तो भी काव्यकी कोई हानि नहीं है। इसलिए अलङ्कारोंको काव्यका अस्थिर धर्म माना गया है। यही गुण तथा अलङ्कारोंका भेदक तत्त्व है। गुण काव्यके स्थिर धर्म हैं, काव्यमें गुणोंकी स्थिति अपरिहार्य है। परन्तु अलङ्कार स्थिर या अपरिहार्य धर्म नहीं हैं, केवल उत्कर्षाधायक हैं। उनके बिना भी काव्यमें काम चल सकता है। इसलिए काव्यके लक्षणमें मम्मटने 'अनलङ्कृती पुनः क्वापि' लिखकर अलङ्काररहितको भी काव्य माना है। इसी दृष्टिसे उन्होंने अष्टम उल्लासमें अलङ्कारोंका लक्षण करते हुए लिखा है—

[सूत्र ८७] उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः॥

अर्थात् अलङ्कार 'जातुचित्' कभी-कभी ही उस रसको अलङ्कृत करते हैं, सदा नहीं। इसलिए ये काव्यके अस्थिर धर्म हैं। 'साहित्यदर्पण'में भी अलङ्कारका लक्षण इसी आशयसे निम्नलिखित प्रकार किया गया है—

शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माश्शोभातिशायिनः
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलङ्कारास्तेऽङ्गदादिवत्॥सा० द० १०।१

किन्तु अलङ्कारोंको काव्यके अस्थिर धर्म माननेका सिद्धान्त सर्वमान्य नहीं है। यह केवल

मानता है। उसके मतमें अलङ्काररहित काव्यकी कल्पना, उष्णतारहित अग्निकी कल्पनाके समान ही उपहासयोग्य है। इसी भावको व्यक्त करते हुए जयदेवने अपने चन्द्रालोकमें लिखा है—

अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलङ्कृती।
असौ न मन्यते कस्मात् अनुष्णमनलं कृती॥

जो आदमी [मम्मट] अलङ्कारविहीन शब्द और अर्थको काव्य मानता है, वह उष्णताविहीन अग्निको क्यों नहीं मानता है?

अलङ्कारोंके विभाजक तत्त्व

प्रायः सभी आचार्योंने शब्द और अर्थको काव्यका शरीर माना है। अलङ्कार शरीरके शोभाधायक होते हैं। इसलिए काव्यमें शब्द और अर्थके उत्कर्षाधायक तत्त्वका ही नाम अलङ्कार है। अर्थात् अलङ्कारका आधार शब्द और अर्थ है। इसी आधारपर शब्दालङ्कार, अर्थालङ्कार और उन दोनोंके मिश्रणसे बने हुए उभयालङ्कार इन तीन प्रकारके अलङ्कारोंकी कल्पना की गयी है।

शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कारका भेद शब्दके परिवर्तनसहत्व या परिवर्तनासहत्वके ऊपर निर्भर है। जहाँ शब्दका परिवर्तन करके उसका पर्यायवाचक दूसरा शब्द रख देनेपर अलङ्कार नहीं रहता है, वहाँ यह समझना चाहिये कि उस अलङ्कारकी स्थिति विशेषरूपसे उस शब्दके कारण ही थी। इसलिए उसे 'शब्दालङ्कार' कहा जाता है। जहाँ शब्दका परिवर्तन करके दूसरा पर्यायवाचक शब्द रख देनेपर भी उस अलङ्कारकी सत्ता बनी रहती है, वहाँ अलङ्कार शब्दके आश्रित नहीं, अपितु अर्थके आश्रित होता है, इसलिए उसको 'अर्थालङ्कार' कहा जाता है। इस प्रकार जो अलङ्कार शब्दपरिवृत्तिको सहन नहीं करता वह शब्दालङ्कार और जो शब्दपरिवृत्तिको सहन करता है, वह अर्थालङ्कार होता है। यह शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कारका भेद है।

अलङ्कारोंकी संख्या

अलङ्कारोंकी संख्याके विषयमें बड़ा मतभेद है, शब्दालङ्कारोंकी संख्यामें तथा अर्थालङ्कारोंकी संख्यामें भी। अर्थालङ्कारोंकी संख्याके विषयमें हम आगे दशम उल्लासमें लिखेंगे। मम्मटने ६१ अर्थालङ्कार माने हैं। शब्दालङ्कारोंमें वामन आदिने केवल 'अनुप्रास' और 'यमक' दोकी ही गणना की है। परन्तु मम्मटने उनके साथ, वक्रोक्ति, श्लेष, चित्र और पुनरुक्तवदाभासको भी शब्दालङ्कार माना है। इस प्रकार मम्मटके मतमें शब्दालङ्कारोंकी संख्या ६ हो जाती है।

इनमेंसे श्लेष तथा पुनरुक्तवदाभासकी स्थितिमें भी मतभेद पाया जाता है। अलङ्कारसर्वस्वकार रुय्यक पुनरुक्तवदाभासको अर्थालङ्कार मानते हैं। मम्मट, विश्वनाथ, शोभाकर मित्र इसको शब्दालङ्कार मानते हैं।

श्लेष अलङ्कारके विषयमें भी इसी प्रकारका मतभेद पाया जाता है। श्लेषके दो भेद होते हैं। एक सभङ्गश्लेष दूसरा अभङ्गश्लेष। इनके विषयमें तीन प्रकारके मत पाये जाते हैं।

क—अलङ्कारसर्वस्वकार रुय्यक आदि कुछ आलङ्कारिक सभङ्गश्लेषको शब्दालङ्कार तथा अभङ्गश्लेषको अर्थालङ्कार मानते हैं।

ख—कुवलयानन्दकार अप्पय दीक्षित आदि कुछ आलङ्कारिक दोनों प्रकारके श्लेषको अर्थालङ्कार मानते हैं।

ग—इनसे भिन्न मम्मट आदि कुछ आलङ्कारिक [illegible]

गुणविवेचने कृतेऽलङ्काराः प्राप्तावसरा इति सम्प्रति शब्दालङ्कारानाह—

[सूत्र १०२] यदुक्तमन्यथावाक्यमन्यथाऽन्येन योज्यते ।
श्लेषेण काक्वा वा ज्ञेया सा वक्रोक्तिस्तथा द्विधा ॥७८॥

तथेति **श्लेषवक्रोक्तिः काकुवक्रोक्तिश्च ।** तत्र पदभङ्गश्लेषेण यथा—

इन दोनों भेदोंसे भिन्न है, जो शब्दोंका परिवर्तन कर देनेपर भी द्वितीय अर्थकी प्रतीति होती है, वह अर्थश्लेष इन दोनों प्रकारके शब्द-श्लेषोंसे भिन्न है। शब्दालङ्काररूप श्लेषमें जतुकाष्ठ न्यायसे दो शब्दोंका श्लेष होता है। परन्तु अर्थ-श्लेषमें एकवृन्तगतफलद्वय न्यायसे एक शब्दमें दो अर्थोंका श्लेष होता है। यही शब्दश्लेष और अर्थश्लेषका भेद है।

इस प्रकार मम्मटके मतमें छह शब्दालङ्कार, इकसठ अर्थालङ्कार और एक उभयालङ्कार है। शब्दालङ्कारोंमें मम्मटने १. वक्रोक्ति, २. अनुप्रास, ३ यमक, ४. श्लेष, ५. चित्र और ६. पुनरुक्त-वदाभास ये छह अलङ्कार माने है। इन्हींका निरूपण इस नवम उल्लासमें किया गया है। 'काव्य-प्रकाश'के टीकाकार सोमेश्वरने इन्हीं छह शब्दालङ्कारोंको एक श्लोकमें इस प्रकार गिनाया है—

वक्रोक्तिरप्यनुप्रासो यमकं श्लेषचित्रके ।
पुनरुक्तवदाभासः शब्दालङ्कृतयस्तु षट् ॥

'सरस्वतीकण्ठाभरण'में ऐसे २४ अलङ्कारोंकी नामावली दी है जिनको अन्य लोग शब्दालङ्कार मानते है। परन्तु उनमें वस्तुतः शब्दपरिवृत्त्यसहिष्णुत्वरूप शब्दालङ्कारका लक्षण न पाये जानेसे उन्हें शब्दालङ्कार नहीं कहा जा सकता है। यही बात निम्नलिखित श्लोकमें कही गयी है—

पठन्ति शब्दालङ्कारान् बहूनन्यान् मनीषिणः ।
परिवृत्तिसहिष्णुत्वात् न ते शब्दैकभागिनः ॥

बुद्धिमान् अन्य बहुतसे अलङ्कारोंको शब्दालङ्कार कहते हैं, पर वे शब्दपरिवर्तनसहिष्णु होनेके कारण शब्दालङ्कार नहीं हैं। आगे इन शब्दालङ्कारोंका विवेचन करते हैं—

गुणोंका विवेचन [अष्टम उल्लासमें] कर चुकनेपर अलङ्कारों [के निरूपण] का अवसर आता है। इसलिए अब [पहिले] शब्दालङ्कारोंको कहते हैं—

१. वक्रोक्ति अलङ्कार—

[सूत्र १०२] जो [वक्ता द्वारा] अन्य प्रकारसे [अन्य अर्थमें] कहा हुआ वाक्य दूसरे [अर्थात् बोद्धा या श्रोता] के द्वारा श्लेष [अर्थात् शब्दके दो अर्थवाला होनेसे] अथवा [भिन्नकण्ठध्वनिर्धीरैः काकुरित्यभिधीयते] काकु अर्थात् बोलनेके लहजेसे, अन्य प्रकारसे [अर्थात् वक्ताके अभिप्रायसे भिन्न अर्थमें] लगा लिया जाता है, वह वक्रोक्ति नामक [शब्दालङ्कार] होता है और वह उस प्रकारसे [श्लेषवक्रोक्ति और काकुवक्रोक्ति] दो तरहका होता है। जैसे—

यह श्लेषवक्रोक्ति दो व्यक्तियोंके संवादरूपमें है। वक्ता शृङ्गारपरक भावसे बात कर रहा है, और दूसरा व्यक्ति उसका वीरपरक अर्थ लगा लेता है। इस प्रकार अन्यार्थपरक वाक्यका अन्य अर्थ लगाकर यह संवाद हो रहा है। इसलिए यह वक्रोक्तिका उदाहरण बनता है। श्लोकका अर्थ निम्नलिखित प्रकार है—

नारीणामनुकूलमाचरसि चेज्जानासि कश्चेतनो
वामानां प्रियमादधाति हितकृन्नैवाबलानां भवान् ।
युक्तं किं हितकर्तनं ननु बलाभावप्रसिद्धात्मनः
सामर्थ्यं भवतः पुरन्दरमतच्छेदं विधातुं कुतः ॥३५४॥

---

१. यदि तुम [नारीणां] स्त्रियोंके अनुकूल आचरण करते हो, तो [जानासि अर्थात्] समझदार [बुद्धिमान्] हो।

२. [यहाँ वक्ताने 'नारीणां' पद 'स्त्री' अर्थमें प्रयुक्त किया था। पर दूसरा व्यक्ति इस एक पदको 'न अरीणां' इस प्रकार दो पदोंमें विभक्त करके, यदि तुम शत्रुओंके अनुकूल आचरण नहीं करते हो तो बुद्धिमान् हो, यह अर्थ लगा लेता है, और वक्ताके वचनका यह अर्थ मानकर उत्तर देता है कि—]कौन बुद्धिमान् [चेतनः समझदार व्यक्ति, वामानां] शत्रुओंका प्रिय [अनुकूल कार्य] करता है। अर्थात् कोई भी बुद्धिमान् व्यक्ति शत्रुओंके अनुकूल आचरण नहीं कर सकता है, तब मैं ही क्यों करने लगा]।

१. [यहाँ द्वितीय वक्ताने 'वामानां' पदका प्रयोग विरोधी या शत्रुके अर्थमें किया था, परन्तु प्रथम वक्ता उसका अर्थ 'स्त्री' लगा लेता है। और उसके कथनका यह अर्थ मान लेता है कि कोई बुद्धिमान् स्त्रियोंका प्रिय कार्य अर्थात् स्त्रियोंके शासनमें रहना नहीं चाहता है ऐसा अभिप्राय मानकर उससे फिर पूछता है कि तो क्या] आप अबलाओंके प्रिय करनेवाले [हितकृत्] नहीं हैं ?

२ [यहाँ 'अबलानां हितकृत्' का प्रयोग वक्ताने हित करनेवाले इस अर्थमें किया था। परन्तु दूसरा व्यक्ति उसका अर्थ यह लगाता है कि अबलानाम् अर्थात् दुर्बलोंके 'हितं कृन्तति विनाशयति इति हितकृत्' अर्थात् आप दुर्बलोंके हितोंका नाश करनेवाले नहीं हो। इस प्रश्नका उत्तर देते हुए वह कहता है कि—] बलके अभावके लिए प्रसिद्ध स्वरूपवाले [अर्थात् दुर्बल व्यक्ति] के हितका विनाश करना क्या उचित है [अर्थात् उचित नहीं है]।

१. [पूर्ववक्ताने 'बलाभावप्रसिद्धात्मनः' पदका प्रयोग 'दुर्बल' इस अर्थमें किया था। परन्तु दूसरा व्यक्ति उसका अर्थ बल नामक असुरविशेषके अभाव अर्थात् मारनेके कारण प्रसिद्ध अर्थात् इन्द्र ले लेता है। और उस दशामें पूर्ववक्ताके वाक्यका अर्थ क्या इन्द्रके हितका नाश करना उचित है, यह हो जाता है। अर्थात् इन्द्रके हितका नाश करना उचित नहीं है, इसलिए मैं उसे नहीं करता हूँ। यह वक्ताका अभिप्राय मानकर पहिला वक्ता फिर पूछता है कि] आपमें इन्द्रके अभिमत अर्थका विनाश करने [पुरन्दरमतच्छेदं विधातुं] की सामर्थ्य [ही] कहाँ है [जो आप उसके हितका विनाश कर सकें] ॥ ३५४ ॥

[illegible]

अभङ्गश्लेषेण यथा—

अहो केनेदृशी बुद्धिर्दारुणा तव निर्मिता ।
त्रिगुणा श्रूयते बुद्धिर्न तु दारुमयी क्वचित् ॥३५५॥

काक्वा यथा—

गुरुजनपरतन्त्रतया दूरतरं देशमुद्यतो गन्तुम् ।
अलिकुलकोकिलललिते नैष्यति सखि ! सुरभिसमयेऽसौ ॥३५६॥

'न बल येषां ते अबलाः' इस प्रकारका समास करके बने हुए 'अबलाः' पदका 'अबलाना' रूप बनाया जाता है, इसलिए इन दोनों पदोंमें सभङ्गश्लेष है। यद्यपि वामाना आदि पदोंमें सभङ्गश्लेष नहीं है, परन्तु इस संवादका प्रारम्भ 'नारीणां' इस सभङ्गश्लेषसे ही हुआ है, इसलिए आगेके सारे संवादके सभङ्गश्लेषपर आश्रित होनेके कारण इसे सभङ्गश्लेषका उदाहरण माना गया है।

हिन्दीमें सभङ्गश्लेषमूलक वक्रोक्तिके उदाहरणके रूपमें निम्नलिखित पद्य उद्धृत किया जा सकता है—

गौरवशालिनी प्यारी हमारी, सदा तुम इष्ट अहो ।
हा न गऊ, नहिं हौं अवशा, अलिनी हूँ नहीं अस काहे कहो ॥

इस पद्यमें शिव-पार्वतीका संवाद है। पद्यका पूर्वार्द्ध शिवका वचन है। उसमें जो 'गौरव-शालिनी' पद आया है उसको पार्वतीने गोः + अवशा + अलिनी इन तीन टुकड़ोंमें विभक्त कर दिया है, शिवजीने पार्वतीको अपनी 'गौरवशालिनी' प्रिया कहा है, पर पार्वती उसका दूसरा अर्थ लेकर कह रही हैं कि न तो मैं गऊ हूँ, न अवशा हूँ और न अलिनी—भ्रमरी हूँ, फिर आप ऐसा क्यों कह रहे हैं।

अभङ्गश्लेषसे [वक्रोक्ति]का उदाहरण। जैसे—

आश्चर्य है कि किस [दारुण—निर्दय ब्रह्मा]ने तुम्हारी इस प्रकारकी [निर्दय कठोर] बुद्धि बनायी है। यहाँ वक्ताने 'दारुणा' पदका प्रयोग कठोर अर्थमें किया है, परन्तु दूसरा व्यक्ति दारु अर्थात् काष्ठसे यह अर्थ लेकर कहता है कि सांख्यदर्शन आदिमें तो सत्त्व, रज, तमरूप] तीन गुणोंसे बनी हुई बुद्धि बतलायी गयी है, काष्ठसे बनी हुई तो कहीं नहीं कही गयी है ॥ ३५५ ॥

यहाँ वक्ता द्वारा कठोर अर्थमें प्रयुक्त 'दारुणा' पदका वक्ताके अभिप्रायसे भिन्न 'काष्ठेन' यह अर्थ लगा लिया है और इस पदका भङ्ग भी नहीं हुआ है। इसलिए यह अभङ्गश्लेषमूलक वक्रोक्तिका उदाहरण है।

[आगे काकुवक्रोक्तिका उदाहरण देते हैं] काकुसे [वक्रोक्ति] जैसे—

गुरुजनों [माता-पिता]के अधीन होनेसे [उनकी आज्ञासे] वे विदेशको जानेको उद्यत हुए थे, [अपनी इच्छासे नहीं] इसलिए हे सखि, भ्रमरसमूह एवं कोकिलों [की मधुर ध्वनि]से मधुर वसन्तसमयमें नहीं लौटेंगे ॥ ३५६ ॥

यह नायिका और उसकी सखीके बीचकी बातचीत है। नायिकाने निराशापूर्ण भावसे कहा है कि वे गुरुजनोंके आज्ञाकारी हैं, उन्हें मेरी चिन्ता नहीं है, इसलिए वे वसन्तमें लौटकर आयेंगे, यह आशा नहीं है। उसकी सखी इसी वाक्यको फिर भिन्न कण्ठध्वनि या लहजेसे बोलती है। तब क्या नहीं आयेंगे का अर्थ अवश्य आवेंगे, यह हो जाता है। इसलिए यह काकुवक्रोक्तिका उदाहरण दिया है।

[सूत्र १०३] **वर्णसाम्यमनुप्रासः**

स्वरवैसादृश्येऽपि व्यञ्जनसदृशत्वं वर्णसाम्यम्। रसाद्यनुगतः प्रकृष्टो न्यासोऽनुप्रासः।

[सूत्र १०४] **छेकवृत्तिगतो द्विधा।**

छेका विदग्धाः। वृत्तिर्नियतवर्णगतो रसविषयो व्यापारः। गत इति छेकानुप्रासो वृत्त्यनुप्रासश्च।

किं तयोः स्वरूपमित्याह—

[सूत्र १०५] **सोऽनेकस्य सकृत्पूर्वः**

अनेकस्य अर्थाद् व्यञ्जनस्य सकृदेकवारं सादृश्यं छेकानुप्रासः। उदाहरणम्—

---

२. अनुप्रास अलङ्कार

इस प्रकार वक्रोक्तिरूप प्रथम शब्दालङ्कारके तीनों भेदोंका निरूपण करनेके बाद ग्रन्थकार अनुप्रास नामक दूसरे शब्दालङ्कारका निरूपण प्रारम्भ करते हैं। वह अनुप्रास पहले वर्णानुप्रास और पदानुप्रासरूपसे दो प्रकारका होता है। उसमें वर्णानुप्रासके छेकानुप्रास और वृत्त्यनुप्रास ये दो भेद होते है। पदानुप्रासका दूसरा नाम 'लाटानुप्रास' भी है। यह १. अनेक पदोंकी आवृत्तिरूप, २. एक पदकी आवृत्तिरूप, ३. एक समासमें आवृत्तिरूप, ४ भिन्न समासोंमे आवृत्तिरूप और ५ समास तथा असमास दोनोंमें आवृत्तिरूप इस तरहसे पॉच प्रकारका होता है। इन्हींका निरूपण आगे करते है—

[सूत्र १०३]—वर्णोंकी समानता [आवृत्तिका नाम] अनुप्रास है।

स्वरोंका भेद होनेपर भी [केवल] व्यञ्जनोंकी समानता [ही यहाँ] वर्णोंकी समानता [से अभिप्रेत] है। रसादिके अनुकूल [वर्णोंका] प्रकृष्ट सन्निवेश [ही 'अनुगत. प्रकृष्टश्च न्यासः' इस व्युत्पत्तिके अनुसार] अनुप्रास [कहलाता] है।

[सूत्र १०४]—छेकगत और वृत्तिगत [इस प्रकार यह अनुप्रास] दो प्रकारका है।

'छेक' शब्दका अर्थ 'चतुर व्यक्ति' है और 'वृत्ति' [का अर्थ] नियत वर्णोंमें रहनेवाला रसविषयक [व्यञ्जना] व्यापार है। 'गत' [यह पद 'द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते' इस नियमके अनुसार छेक तथा वृत्ति दोनो पदोंके साथ जुड़ता है। इसलिए] इससे छेकानुप्रास तथा वृत्त्यनुप्रास [यह दो प्रकारका वर्णसाम्यरूप अनुप्रास होता है]।

उन दोनोंका क्या लक्षण [स्वरूप] है यह कहते है—

छेकानुप्रास

[सूत्र १०५]—अनेक [वर्णों] का एक बार [आवृत्तिरूप साम्य] प्रथम [छेकानुप्रास] है।

अनेक व्यञ्जनोंका सकृत [अर्थात्] एक बार सादृश्य छेकानुप्रास [कहलाता] है। उसका उदाहरण [जैसे]—

ततोऽरुणपरिस्पन्दमन्दीकृतवपुः शशी ।
दध्रे कामपरिक्षामकामिनीगण्डपाण्डुताम् ॥३५७॥

[सूत्र १०६] **एकस्याप्यसकृत्परः ॥७९॥**

एकस्य अपिशब्दादनेकस्य व्यञ्जनस्य द्विर्बहुकृत्वो वा सादृश्यं **वृत्त्यनुप्रासः** ।

तब [प्रातःकालके समय सूर्यके सारथि] अरुणके गतिशील होनेसे मलिन स्वरूपवाला चन्द्रमा काम [के उपभोग] से दुर्बल कामिनीके कपोलस्थलके समान सफेद हो गया ॥ ३५७ ॥

१ कमलाकरभट्ट तथा चक्रवर्ती आदिने इसे महाभारतके द्रोणपर्वमें रात्रियुद्धके बाद प्रभातवर्णनके प्रसङ्गका पद्य बतलाया है, परन्तु महाभारतमें उस प्रसङ्गमें यह नहीं पाया जाता है।

(ख) वृत्त्यनुप्रास

[सूत्र १०६] एक [वर्ण] का भी [और अनेक वर्णोंका भी] अनेक बार [का आवृत्तिसाम्य होनेपर] दूसरा [अर्थात् वृत्त्यनुप्रास] होता है।

एक वर्णका और 'अपि' शब्द [के प्रयोग] से अनेक व्यञ्जनोंका एक बार या बहुत बारका सादृश्य [अर्थात् आवृत्ति] 'वृत्त्यनुप्रास' [होता] है।

वृत्त्यनुप्रासमें गुण, वृत्ति, रीति आदिका समन्वय

वृत्त्यनुप्रासका उदाहरण देनेके पूर्व 'वृत्ति' शब्दकी व्याख्या करना आवश्यक है, ऐसा समझकर ग्रन्थकार वृत्तियोंका वर्णन आगे दे रहे हैं। वृत्ति, रीति, मार्ग, सङ्घटना तथा शैली शब्द प्रायः समानार्थक हैं। एक ही पदार्थको भिन्न-भिन्न आचार्योंने इन भिन्न नामोंसे व्यवहृत किया है। 'वृत्ति' शब्दका प्रयोग उद्भटने किया है। उन्होंने अपने 'काव्यालङ्कारसारसंग्रह' नामक ग्रन्थमें उपनागरिका, परुषा तथा कोमला नामसे तीन प्रकारकी वृत्तियोंका वर्णन करते हुए उनके लक्षण आदि निम्नलिखितप्रकार दिये हैं—

शषाभ्यां रेफसंयोगैष्टवर्गेण च योजिता ।
परुषा नाम वृत्तिः स्याद्ध्लह्वह्याद्यैश्च संयुता ॥६॥
सरूपसंयोगयुतां मूर्ध्नि वर्गान्त्ययोगिभिः ।
स्पर्शैर्युतां च मन्यन्ते उपनागरिकां बुधाः ॥८॥
शेषैर्वर्णैर्यथायोगं कथितां कोमलाख्यया ।
ग्राम्यां वृत्तिं प्रशंसन्ति काव्येष्वादृतबुद्धयः ॥१०॥

इन्हीं तीन प्रकारकी 'वृत्तियों'को वामनने तीन प्रकारकी 'रीतियों'के रूपमें, कुन्तक तथा दण्डीने तीन प्रकारके 'मार्गों'के रूपमें और आनन्दवर्धनाचार्यने तीन प्रकारकी 'सङ्घटना'के रूपमें माना है। सब जगह उनके लक्षण भी लगभग इसी प्रकारके दिये गये हैं। इसलिए उद्भटकी 'वृत्तियाँ', वामनकी 'रीतियाँ', दण्डीके और कुन्तकके 'मार्ग' तथा आनन्दवर्धनकी 'सङ्घटना' एक ही भावको व्यक्त करती हैं। उद्भटने इन तीनों वृत्तियोंमें वर्णोंके साम्यको वृत्त्यनुप्रास कहा है—

सरूपव्यञ्जनन्यासं तिसृष्वेतासु वृत्तिषु ।
पृथक् पृथगनुप्रासमुशन्ति कवयः सदा ॥१२॥ [उद्भट]

इसी रूपमें उद्भटकी अभिमत वृत्तियोंका निरूपण करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं—

[सूत्र १११] **शाब्दस्तु लाटानुप्रासो भेदे तात्पर्यमात्रतः ॥८१॥**

शब्दगतोऽनुप्रासः शब्दार्थयोरभेदेऽप्यन्वयमात्रभेदात् । लाटजनवल्लभत्वाच्च **लाटानुप्रासः** । एष **पदानुप्रास** इत्यन्ये ।

[सूत्र ११२] **पदानां सः**

स इति **लाटानुप्रासः** । उदाहरणम्—

यस्य न सविधे दयिता दवदहनस्तुहिनदीधितिस्तस्य ।
यस्य च सविधे दयिता दवदहनस्तुहिनदीधितिस्तस्य ॥३५९॥

सूत्र ११३]　　**—पदस्यापि**

अपिशब्देन स इति समुच्चीयते । उदाहरणम्—

लाटानुप्रास-स्थलमें आवृत्त पदमें तात्पर्यमात्रका भेद होना आवश्यक माना गया है । पदोंके उद्देश्य-विधेयभावमें अन्तर आ जानेपर भी तात्पर्यमात्रका भेद माना जाता है ।

इस लाटानुप्रासके पाँच भेद होते हैं । पहिले भेदमें अनेक पदोंकी आवृत्ति होती है, दूसरे भेदमें केवल एक ही पदकी आवृत्ति होती है, एक ही समासमें पदकी आवृत्ति होनेपर तीसरा भेद होता है, दो अलग-अलग समासोंमें एक ही पदकी आवृत्ति होनेपर लाटानुप्रासका चौथा भेद होता है और आवृत्त होनेवाला पद यदि एक ओर समासमें और दूसरी ओर असमासमें हो तो वह लाटानुप्रासका पाँचवाँ भेद होगा । ग्रन्थकार लाटानुप्रासके इन पाँचों भेदोंको उदाहरण सहित आगे दिखलाते हैं ।

[सूत्र १११]—[आवृत्त पदमें] तात्पर्यमात्रसे भेद होनेपर शब्दानुप्रास [अर्थात् पदानुप्रास वर्णानुप्रास या वर्णसाम्य नहीं] लाटानुप्रास [कहलाता] है ॥८१॥

शब्दगत अनुप्रास [लाटानुप्रास कहलाता है] शब्द और अर्थ [दोनों] का अभेद होनेपर भी अन्वय [उद्देश्य-विधेयभाव या तात्पर्य] मात्रके भेदसे और लाटदेशके [विदग्ध] लोगोंका प्रिय होनेसे [यह] लाटानुप्रास कहलाता है । दूसरे लोग इसको पदानुप्रास कहते हैं । [क्योंकि—]

[सूत्र ११२]—वह [लाटानुप्रास वर्णोंका नहीं] पदोंका [साम्य] होता है ।

वह [अर्थात् लाटानुप्रास] पदोंका होता है, उदाहरण [जैसे]—

जिसके समीपमें [उसकी] प्रियतमा नहीं है, उसके लिए [तुहिनदीधिति अर्थात्] चन्द्रमा दावानल [के समान सन्तापदायक] है और जिसके समीपमें [उसकी] प्रियतमा विद्यमान है, उसके लिए दावानल भी चन्द्रमा [के समान शीतल और आनन्ददायक हो जाता] है ॥ ३५९ ॥

यहाँ अनेक पदोंकी आवृत्ति है । पूर्वार्द्धमें 'तुहिनदीधिति'में 'दवदहनत्व' विधेय है और उत्तरार्द्धमें 'दवदहन'में 'तुहिनदीधितित्व' विधेय है । इसलिए उद्देश्य-विधेयभावमें भेद होनेसे तात्पर्य-मात्रका भेद हो जाता है । अतः यह लाटानुप्रासका उदाहरण है ।

[सूत्र ११३]—वह [लाटानुप्रास बहुत पदोंकी आवृत्ति होनेपर ही हो ऐसा नहीं है । अपितु] एक पदका भी होता है ।

'अपि' शब्दसे [पूर्वसूत्रमें आये हुए] 'सः'का संग्रह होता है । उदाहरण—

जैसे—

वदनं वरवर्णिन्यास्तस्याः सत्यं सुधाकरः
सुधाकरः क्व नु पुनः कलङ्कविकलो भवेत् ॥३६०॥

[सूत्र ११४] **—वृत्तावन्यत्र तत्र वा ।**

नाम्नः स वृत्त्यवृत्त्योश्च

एकस्मिन् समासे, भिन्ने वा समासे, समासासमासयोर्वा नाम्नः प्रातिपदिकस्य न तु पदस्य सारूप्यम् । उदाहरणम्—

सितकरकररुचिरविभा विभाकराकार ! धरणिधर ! कीर्तिः ।
पौरुषकमला कमला साऽपि तवैवास्ति नान्यस्य ॥३६१॥

उस वरवर्णिनीका [वरवर्णिनीका लक्षण पृ० ३८७ पर किया जा चुका है] मुख सचमुच चन्द्रमा है। अथवा [वह चन्द्रमा नहीं, अपितु चन्द्रमासे भी अधिक सुन्दर है क्योंकि सुधाकर] चन्द्रमा कलङ्कसे रहित कहाँ हो सकता है ? ॥ ३६० ॥

यहाँ केवल एक 'सुधाकर' पदकी आवृत्ति होनेपर भी लाटानुप्रास है। प्रथम सुधाकर पद विधेय है और द्वितीय सुधाकर पद उद्देश्य है, इसलिए तात्पर्य-भेद है।

[सूत्र ११४]—अन्य समासमें [अन्यत्र वृत्तौ] अथवा उसी समासमें, अथवा [एकके] समासमे और [दूसरेके] असमासमें 'नाम' अर्थात् प्रातिपदिकके [आवृत्त] होनेपर भी वह [लाटानुप्रास] होता है।

इसके पूर्व दो सूत्रोंमें अनेक पदोंकी आवृत्ति होनेपर और एक पदकी आवृत्ति होनेपर दो प्रकारका लाटानुप्रास दिखलाया था। सुबन्त या तिङन्तकी पदसंज्ञा होनेसे सुबादि विभक्तियोंसे युक्त प्रातिपदिक पद कहलाता है। केवल पदोंकी आवृत्ति होनेपर ही नहीं अपितु प्रातिपदिककी आवृत्ति होनेपर भी लाटानुप्रास हो सकता है। यह दिखलानेके लिए यह सूत्र लिखा है। साधारणतः केवल प्रातिपदिकका प्रयोग नहीं होता है। इसलिए प्रातिपदिककी आवृत्तिमें लाटानुप्रास कैसे हो सकता है ? इस शङ्काके समाधानके लिए कहा है कि इस प्रकारकी स्थिति समासमें हो सकती है। समासमें विभक्तिका लोप हो जानेसे प्रातिपदिकमात्रकी आवृत्ति हो सकती है। यह भी तीन रूपमें हो सकती है। एक तो उसी समस्तपदमें आवृत्ति हो, दूसरी स्थितिमें एक पद एक समासमें आया हो और आवृत्त प्रातिपदिक दूसरे समासमें आया हो और तीसरी दशामें एक प्रातिपदिक समासगत हो और दूसरा प्रातिपदिक समासगत न हो। इन्हीं तीनों प्रकारोंको वृत्तिग्रन्थमें स्पष्ट करते हैं—

१. एक समासमें, अथवा २. भिन्न समासोंमें, अथवा ३. समास और असमासमें 'नाम' अर्थात् प्रातिपदिककी, [सुबन्त] पदकी ही नहीं, आवृत्ति [होनेपर भी 'लाटानुप्रास' होता है] जैसे—

इस उदाहरणका अर्थ सप्तम उल्लासमें उदाहरण संख्या ३१५ पर दिया जा चुका है। वहीं देखें ॥३६१॥

यहाँ 'कर' इस प्रातिपदिककी १. एक ही समासमें, 'कर कर' रूपमें, २. 'विभा' इस प्रातिपदिककी 'विभा-विभा' रूपमें दो भिन्न समासोंमें और ३. 'कमला' इस प्रातिपदिककी पहिली बार समासमें तथा दूसरी बार असमासमें अर्थात् स्वतन्त्रपदके रूपमें आवृत्ति हुई है। अतः यही श्लोक तीनों भेदोंका उदाहरण है।

[सूत्र ११५] तदेवं पञ्चधा मतः ॥८२॥

[सूत्र ११६] अर्थे सत्यर्थभिन्नानां वर्णानां सा पुनः श्रुतिः ।
यमकम्

'समरसमरसोऽयम्' इत्यादावेकेषामर्थवत्त्वेऽन्येषामनर्थकत्वे भिन्नार्थानामिति न युज्यते वक्तुम्, इति 'अर्थे सति' इत्युक्तम्। सेति 'सरो रस' इत्यादिवैलक्षण्येन तेनैव क्रमेण स्थिता।

[सूत्र ११७] पादतद्भागवृत्ति तद्यात्यनेकताम् ॥८३॥

[सूत्र ११५]—इस प्रकार [लाटानुप्रास] पाँच प्रकारका माना जाता है ॥ ८२ ॥

यहाँतक वक्रोक्ति तथा अनुप्रास इन दो शब्दालङ्कारोंका निरूपण किया गया। अब आगे तीसरे शब्दालङ्कार यमकका निरूपण करते हैं।

३. यमक

लाटानुप्रासमें पदोंकी आवृत्ति होती है और उन आवृत्त पदोंमें पद या प्रातिपदिकका अर्थ भेद नहीं, केवल तात्पर्यमात्रमें भेद होता है। यमकमें वर्णोंकी आवृत्ति होती है। वे आवृत्त वर्ण यदि सार्थक हों तो उनके अर्थका भेद होना आवश्यक है। अन्यथा कहीं एक सार्थक दूसरा अनर्थक भी हो सकता है। परन्तु जहाँ दोनों भाग सार्थक हों वहाँ उनका भिन्नार्थकत्व अनिवार्य है। यही लाटानुप्राससे यमकका भेद है। इसी बातको यमकके लक्षणमें दिखलाते हैं—

[सूत्र ११६]—अर्थ होनेपर [नियमेन] भिन्नार्थक वर्णोंकी उसी क्रमसे [सा] पुनः श्रवण [पुनरावृत्ति] यमक [नामक शब्दालङ्कार कहलाता] है।

यहाँ लक्षणमें 'अर्थे सति अर्थभिन्नानां' यह कहा गया है। केवल 'भिन्नार्थानां' यह [illegible] गया है। इसका कारण यह है कि यदि 'भिन्नार्थानां' यह कहा जाता, तो आवृत्त पदका दोनों [illegible] पर सार्थक होना आवश्यक हो जाता, क्योंकि दोनोंके सार्थक होनेपर ही [illegible] हो सकती है। यमकस्थलमें यह आवश्यक नहीं कि आवृत्त वर्ण दोनों स्थलोंपर [illegible]। इसलिए लक्षणमें केवल 'भिन्नार्थानां' न लिखकर 'अर्थे सति अर्थभिन्नानां' यह रखा गया है। यही बात वृत्तिभागमें स्पष्ट करते हैं—

यह [राजा] समरसमरस [युद्धमें एकरस] है, इत्यादिमें पहिले भागके [समर इन वर्णोंके] सार्थक और दूसरे भागके [समर-रसको मिलाकर बने स-मर] [illegible] होनेसे 'भिन्नार्थानां' यह नहीं कहा जा सकता है, इसलिए [यमकके लक्षणमें] 'अर्थे सति' यह कहा गया है। [सा अर्थात्] उसी रूपमें [उसी क्रमसे आवृत्ति] इससे 'सरो रस' इत्यादि [भिन्न क्रमसे की गयी आवृत्तिमें यमक नहीं होता है। इसलिए इस]से भिन्न रूपसे, अर्थात् उसी क्रमसे स्थित [वर्णोंकी आवृत्ति यमकमें होनी चाहिये]।

[सूत्र ११७]—पद और उसके एकदेश [भाग] आदिमें [illegible] [यमक] अनेक प्रकारका हो जाता है [अर्थात् यमकके अनेक भेद बन जाते हैं] ॥ ८३ ॥

[illegible]

प्रथमो द्वितीयादौ, द्वितीयस्तृतीयादौ, तृतीयश्चतुर्थे, प्रथमस्त्रिष्वपीति सप्त। प्रथमो द्वितीये तृतीयश्चतुर्थे प्रथमश्चतुर्थे द्वितीयस्तृतीये इति द्वे। तदेवं पादजं नवभेदम्। अर्धावृत्तिः श्लोकावृत्तिश्चेति द्वे।

प्रथम पाद द्वितीय आदि अर्थात् द्वितीय, तृतीय या चतुर्थ चरणमें आवृत्त हो सकता है। इस प्रकार तीन भेद हो जाते हैं। प्रथम पाद द्वितीयपादके स्थानपर आवृत्त होनेपर (१) 'मुख' नामक यमक होता है। उसीके तृतीय पादके स्थानपर आवृत्त होनेपर (२) 'सन्दंश' नामक यमक होता है और उसी प्रथम पादके चतुर्थ पादके स्थानपर आवृत्त होनेपर (३) 'आवृत्ति' नामक यमक भेद होता है।

द्वितीय पाद तृतीय आदि, अर्थात् तृतीय तथा चतुर्थ पादके स्थानमें आवृत्त हो सकता है। उसमें दो भेद बनते हैं। द्वितीय पाद यदि तृतीयके स्थानमें आवृत्त होता है, तो (४) 'गर्भ' नामक यमक होता है और वही द्वितीय पाद जब चतुर्थ पादके स्थानपर आवृत्त होता है तब (५) '[illegible]' नामक यमक होता है।

तृतीय पाद चतुर्थ पादके स्थानमें आवृत्त होनेपर (६) 'पुच्छ' नामक यमकका छठा भेद बनता है।

प्रथम पाद द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ तीनों स्थानोंमें आवृत्त होता है, तो (७) 'पंक्ति' नामक [illegible] भेद बनता है।

[illegible] द्वितीयके स्थानमें और तृतीय पाद चतुर्थके स्थानमें आवृत्त होनेपर (८) 'युग्मक' [illegible] भेद [illegible] है।

[illegible] चतुर्थ स्थानमें और द्वितीय पाद तृतीय स्थानमें आवृत्त होनेपर (९) '[illegible]' [illegible] है। इन दोनों पादोंकी आवृत्ति मिलाकर [illegible] भेद बनता है। [illegible] स्थानमें [illegible] भेद [illegible] है। और श्लोकार्धकी आवृत्ति [illegible] मिलाकर पादगत या पादावृत्तिरूप [illegible] ११ [illegible] आगे दिखलाते हैं—

[illegible] द्वितीयादि [अर्थात् द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ पादों]के स्थानपर, द्वितीय [पाद] तृतीयादि [अर्थात् तृतीय तथा चतुर्थ पादों]के स्थानपर, तृतीय [पाद] चतुर्थ [illegible] और प्रथम पाद तीनों पादोंके स्थानपर [आवृत्त हो सकता है] [illegible] भेद बनते हैं। प्रथम [पाद] द्वितीयके स्थानपर तथा तृतीय [पाद] चतुर्थके [illegible] प्रथम [पाद] चतुर्थके स्थानपर और द्वितीय [पाद] तृतीयके स्थानपर [illegible] इस प्रकार दो [भेद बनते हैं]। इस प्रकार पाद [illegible] [illegible] भेद [illegible] तथा [illegible] [illegible] ११ भेद [illegible]।

द्विधा विभक्ते पादे प्रथमादिपादादिभागः पूर्ववत् द्वितीयादिपादादिभागेषु, अन्तभागोऽन्तभागेष्विति विंशतिर्भेदाः। श्लोकान्तरे हि नासौ भागावृत्तिः। त्रिखण्डे त्रिंशत्। चतुःखण्डे चत्वारिंशत्।

प्रथमपादादिगतान्त्यार्धादिभागो द्वितीयपादादिगते आद्यार्धादिभागे यम्यते इत्यान्वर्थतानुसरणेनानेकभेदम्। अन्तादिकम्, आद्यन्तिकम्, तत्समुच्चयः, मध्यादिकम्, आदिमध्यम्, अन्तमध्यम्, मध्यान्तिकम्, तेषां समुच्चयः। तथा तस्मिन्नेव पादे आद्यादिभागानां मध्यादिभागेषु, अनियते च स्थाने आवृत्तिरिति प्रभूततमभेदम्। तदेतत्काव्यान्तर्गडुभूतम् इति नास्य भेदलक्षणं कृतम्। दिङ्मात्रमुदाह्रियते—

पादके दो भाग करनेपर प्रथम आदि पादभाग पहिलेके समान द्वितीय पादादि भागों [के स्थान] में और [प्रथम आदि पादोंके उन दो-दो विभागोंमेंसे] अन्तिम भाग, अन्तिम भागों [के स्थान] में [आवृत्त हो सकते हैं]। इस प्रकार [पदके दो भागोंमें विभक्त करनेपर पादभागात्मक यमकके] बीस भेद होते हैं। [क्योंकि श्लोकान्तरावृत्तिरूप] दूसरे श्लोकमें भागावृत्ति [रूप भेद] नहीं होता है। [इसलिए पादावृत्तिके ११ भेदोंके स्थानपर पादभागावृत्तिमें १० ही भेद रह जाते हैं। अतः पादके दो भागोंमें विभक्त होनेपर पादभागावृत्तिरूप यमकके बीस ही भेद होते हैं। इसी प्रकार पादके] तीन खण्ड करनेपर तीस और चार खण्ड करनेपर चालीस भेद [पादभागावृत्तिरूप यमकके] होते हैं]।

इस प्रकार पादावृत्ति या पादभागावृत्तिके जो भेद यहाँतक दिखलाये गये [illegible] पादके आदि भागकी द्वितीय पादके आदि भागके स्थानपर और अन्तिम भागकी [illegible] स्थानपर आवृत्ति दिखलायी है। इसलिए ये सजातीय भागावृत्तिके उदाहरण [illegible] भागावृत्तिको दिखलाते हैं।

प्रथम पादादिगत अन्तिम अर्धादि भाग द्वितीय पादादिगत [illegible] [के स्थान]में आवृत्त [नियमित] हो सकता है, इसलिए [इस दशामें] [illegible] अनुसार अन्तादि [नामक यमक या प्रथम पादका आदि अर्ध भाग यदि [illegible] अन्तिम अर्ध-भागके स्थानपर आवृत्त होता है तो] आद्यान्तिक और [प्रथम पादके [illegible] और अन्तार्ध भाग यदि द्वितीय पादके अन्त और आदि अर्ध भागके स्थानपर आवृत्त होते हैं तो] उन दोनोंका समुच्चय आदि [पादभागावृत्तिरूप यमकके] [illegible] सकते हैं। और उसी पादमें [भी] प्रारम्भिकादि भाग मध्यादि भागोंमें [illegible] अनियत स्थानोंमें आवृत्त हो सकते हैं, इसलिए [पादभागावृत्तिरूप यमकके] [illegible] हो सकते हैं। किन्तु ये सब काव्यके रसास्वादमें बाधक [illegible] [illegible] गाठ आ जानेपर उसके रसास्वादमें बाधा पड़ती है [illegible] [illegible] पादभागावृत्तिरूप ये सब भेद काव्यके अन्तर्गत [illegible] प्रतीतिके व्यवधायक हैं] इसलिए इन भेदोंके लक्षण नहीं किये हैं। [illegible] [illegible] उदाहरण देते हैं—

(१) सन्नारीभरणोमायमाराध्य विधुशेखरम् ।
सन्नारीभरणोऽमायस्ततस्त्वं पृथिवीं जय ॥ ३६२ ॥

(२) विनायमेनो नयताऽसुखादिना विना यमेनोनयता सुखादिना ।
महाजनोऽदीयत मानसादरं महाजनोदी यतमानसादरम् ॥ ३६२क ॥

---

(१) सन्दंशयमक

सबसे पहिले पादावृत्तिमें प्रथमपादकी तृतीयपादके स्थानपर आवृत्ति होनेपर 'सन्दंश' नामक यमकका उदाहरण देते हैं। यह श्लोक रुद्रटके काव्यालङ्कारमें आया है। इसमें 'सन्नारीभरणोमाय' यह प्रथम चरण तृतीयपादके स्थानपर आवृत्त हुआ है। श्लोकका अर्थ इस प्रकार है—

सती नारियोंका भरण करनेवाली [अथवा आभरणरूपिणी] जो उमा अर्थात् पार्वती उसको प्राप्त करनेवाले [उमां याति अयते वा इति उमायः] विधुशेखर शिवकी आराधना करके [सन्नाः विनाशिताः अरीणां इभा गजाः यत्र तादृशः रणो युद्धं यस्य सः सन्नारीभरणः] शत्रुओंके हाथियोंका विनाश करनेवाले युद्धके प्रवर्त्तक होकर उस [शिवकी आराधना] से [अमायः] छल-कपटरहित आप पृथिवीका विजय करें ॥३६२॥

(२) युग्मयमक

दो पादोंकी आवृत्तिमें प्रथमपादके द्वितीय पादके स्थानपर तथा तृतीयपादके चतुर्थ पादके स्थानमें आवृत्तिरूप 'युग्म' नामक यमकका दूसरा उदाहरण देते हैं। श्लोकका अर्थ निम्नलिखित प्रकार है—

[अयं] यह [विश्वासौ ना इति विना अर्थात् पक्षीरूप पुरुष अर्थात्] हंस नामक जीवात्मा [किस प्रकारका आत्मा उसके विशेषण देते हैं] 'महाजनः' अर्थात् महात्मा और ['महाजनोदी' (१) महान् उत्सवान् अजन्ति गच्छन्तीति महाजाः सज्जनाः तान् नोदयति प्रेरयतीति महाजनोदी, अथवा (२) महान् उत्सवान् अजन्ति क्षिपन्ति विनाशयन्तीति महाजाः 'दुर्जनाः'। तान् नोदितुं दूरीकर्तुं शीलमस्य इति महाजनोदी] (१) उत्तम अवसरोंपर शुभ कर्मोंमें सम्मिलित होनेवाले धर्मात्मा लोगोंको प्रेरणा देनेवाले, अथवा (२) शुभ कर्मोंमें विघ्न डालनेवाले दुष्टोंका विनाश करनेवाले [हंस नामक जीवात्मा] को [एनो विना] विना अपराधके [नयता] अपने स्थान यमलोकको ले जानेवाले [असुखादिना] प्राणोंका भक्षण [नाश] करनेवाले और [सुखादिना ऊनयता] सुखादिसे रहित करनेवाले यमराजने मानस [अर्थात् चित्तरूप या हृदयरूप मानसरोवर] से प्राणरक्षणके लिए [यतमान] यत्न करनेवालोंको [साद अर्थात् अवसाद दुःखको ददाति तत् यथा स्यात्तथा] दुःख देकर [अरम् अर्थात् शीघ्रम अदीयत अपखण्डित] अलग कर दिया [यमराजने जीवात्माको शरीर या हृदयसे पृथक् कर दिया। 'अङ्गुष्ठमात्रं पुरुषं निश्चकर्ष यमो बलात्'] ॥३६२क॥

(३) महायमक

श्लोकाभ्यासरूप महायमकका उदाहरण देते हैं। [illegible] श्लोक [illegible] आवृत्त हुआ है। इसलिए यह श्लोकावृत्तिरूप 'महायमक' का उदाहरण है। [illegible] श्लोक [illegible] रुद्रटके काव्यालङ्कारमें [illegible] हैं। इन दोनों श्लोकोंका अर्थ निम्नलिखित प्रकार है—

(३) स त्वारम्भरतोऽवश्यमवलं विततारवम् ।
सर्वदा रणमानैषीदवानलसमस्थितः ॥३६३॥
सत्त्वारम्भरतोऽवश्यमवलम्बिततारवम् ।
सर्वदारणमानैषी दवानलसमस्थितः ॥३६४॥

(४) अनन्तमहिमव्याप्तविश्वां वेधा न वेद याम् ।
या च मातेव भजते प्रणते मानवे दयाम् ॥३६५॥

[स विष्णौ स्थितः = अस्थितः] विष्णुभक्त [सः] वह [प्रकरणगत] राजा [अवलं] शक्तिहीन और [विततारवं] हाहाकार करनेवाले [अरीणां समूहम् आरं] शत्रुसमूहको [अलसम् अवान्] आलस्यपूर्वक धीरे-धीरे न चलता हुआ अर्थात् वेगसे गति करता हुआ सर्वदा [भरतः बलात् रणम् अवश्यम् अनैषीत्] युद्धक्षेत्रोंमें हठात् अवश्य खींच ले जाता था—शत्रुओंको युद्धके लिए बाधित कर देता था ॥३६३॥

[दूसरे श्लोकमें उसी बातका वर्णन है]सात्त्विक व्यापारोंमें रत [१. सत्त्वारम्भरतः] सब [शत्रुओं] के कारण [विदारण-विनाश] में जो मान-सम्मान उसको चाहनेवाला [२. सर्वदारण + मान + एषी] और [शत्रुओंके लिए] ३. दावानलके समान स्थित [सः] वह राजा [४ अवलम्बित तारवम् अर्थात्] तरुओंका सहारा लेनेवाले वनोंमें भटकनेवाले अथवा तारवं—तरुत्वचा अर्थात् वल्कल वस्त्रोंको धारण करनेवाले—अथवा तरुओंके समान नम्रभावको धारण करनेवाले [आरं] अरिसमूहको युद्धमें जाने, [युद्ध करने अथवा अपने सामने सिर झुकाने] के लिए [अ वश्यं] विवश कर देता था ॥३६४॥

इन दोनों श्लोकोंमें राजाका वर्णन है, इन दोनोंका स्वरूप अर्थात् शब्दविन्यास एक सा ही है परन्तु अर्थका भेद है । अतः श्लोकावृत्तिरूप 'महायमक'का उदाहरण है ।

(४) पादभागावृत्ति 'सन्दष्टक' यमक

यहाँतक पादावृत्ति और श्लोकावृत्तिके उदाहरण दिये थे । अब आगे पादभागकी आवृत्तिके उदाहरण देते हैं । उनमें पहिले पादके दो खण्ड करके द्वितीय पादके अन्तिम अर्धभागकी चतुर्थ पादके अन्तिम अर्धभागके स्थानपर आवृत्ति 'सन्दष्टक' नामक यमकका उदाहरण देते हैं । यह श्लोक आनन्दवर्धनाचार्यप्रणीत 'देवीशतक'का प्रथम पद्य है । श्लोकका अर्थ निम्नलिखितप्रकार है—

अपनी अनन्त महिमासे समस्त विश्वको व्याप्त करनेवाली जिस [देवी-दुर्गा] को ब्रह्मा भी [पूर्णतः] नहीं जानते हैं और जो [प्रणते मानवे] भक्तजनोंपर माताके समान दया करती है [उस माताकी चरण-रज हमारी इष्टसिद्धि करानेवाली हो, यह वहाँके पञ्चम श्लोकके 'तस्याः सिद्ध्यै धियां मातुः कल्पन्तां पादरेणवः' इस अंशके साथ अन्वय होता है ॥ ३६५ ॥

(५) आद्यान्तिक यमक

अगला उदाहरण एक ही पादकी भागावृत्तिमें आदिभागके अन्तभागके स्थानपर आवृत्तिरूप 'आद्यान्तिक' नामक यमकका उदाहरण है । यह श्लोक भी आनन्दवर्धनप्रणीत उक्त 'देवीशतक'से ही लिया गया है । यह 'देवीशतक'का ४९वाँ श्लोक है । इसका अर्थ निम्नलिखित प्रकार है—

(५) यदानतोऽयदानतो नयात्ययं न यात्ययम् ।
शिवेहितां शिवे हितां स्मरामितां स्मरामि ताम् ॥३६६॥
(६) सरस्वति ! प्रसादं मे स्थितिं चित्तसरस्वति !
सर स्वति ! कुरु क्षेत्रकुरुक्षेत्रसरस्वति ! ॥३६७॥
(७) ससार साकं दर्पेण कन्दर्पेण ससारसा ।
शरन्नवाना विभ्राणा नाविभ्राणा शरन्नवा ॥३६८॥

['यदाननः'] जिस [पार्वती] का [आननः अयं जनः] यह भक्तजन, सदाचार-मार्गका उल्लङ्घन [नयस्य नीतिमार्गस्य अत्ययम् उल्लङ्घनं न याति] नहीं करता है, [शिवके प्रति] अमित स्नेहसे पूर्ण [स्मरेण कामेन स्नेहेन अमितां], कल्याण-कारिणी [शिवे कल्याणे हितां अनुकूलां] और [अयस्य शुभावहविधेर्दानतः 'अयदानतः' अर्थात्] विवाहविधिके द्वारा [शिवेन ईहितां] शिवकी प्रियमता बनायी गयी हुई उस [पार्वती] का मैं स्मरण करता हूँ [पार्वतीका ध्यान करता हूँ] ॥३६६॥

(६) केवल उत्तरार्धमें समुच्चय

अगला उदाहरण भी आनन्दवर्धनाचार्यके 'देवीशतक'से लिया गया है। यह 'देवीशतक'का ५०वाँ श्लोक है। इसके पूर्वार्द्धमे प्रथम पादका आदि-भाग 'सरस्वति' शब्द द्वितीय पादके अन्तमें आवृत्त हुआ है। इसलिए यह 'आद्यान्तिक' यमकका उदाहरण है। श्लोकके उत्तरार्द्धमें तृतीय चरण-का आदि भाग 'सरस्वति' चतुर्थ चरणके अन्तमे आवृत्त हुआ है और तृतीय चरणका अन्तिम भाग 'कुरुक्षेत्र' चतुर्थ चरणके आरम्भमें आवृत्त हुआ है। इसलिए इसमे आद्यान्तिक-यमक तथा अन्तादिक-यमक दोनोका सन्निवेश है। अतः यह केवल उत्तरार्ध भागमे आद्यान्तिक + अन्तादिक दोनोके समुच्चयका उदाहरण है। श्लोकका अर्थ निम्नलिखित प्रकार है—

[हे क्षेत्र-कुरुक्षेत्र-सरस्वति] हे शरीररूप [कुरुक्षेत्र] पुण्यभूमिकी सरस्वति ! क्षेत्रं शरीरं कुरुक्षेत्रं पुण्यक्षेत्रविशेषस्तत्र सरस्वति सरस्वत्याख्यनदीरूपे हे सरस्वति] कृपा करो—प्रसन्न होओ [प्रसादं सर] और मेरे चित्तरूप [सरस्वान्] सागरमें ['चित्त-सरस्वति' यह सरस्वान् शब्दका सप्तमीके एकवचनका रूप है] अत्यन्त भले प्रकारसे [सुष्ठु अतिशयेन स्वति स्थितिं कुरु] स्थित होओ ॥३६७॥

(७) पूर्वार्ध-उत्तरार्द्ध, दोनोंमें समुच्चय

अगला उदाहरण रुद्रटके 'काव्यालङ्कार'से लिया गया है। यह भी पादभागावृत्तिका उदाहरण है। इसमे पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्द्ध, दोनोमे आद्यन्तिक और अन्तादिक यमकका समुच्चय है। पूर्वार्धमें प्रथम पादके आद्यार्ध भाग 'ससारसा'की द्वितीय पादके अन्तमें आवृत्ति होनेसे 'आद्यान्तिक' यमक है। और प्रथम पादके अन्तिम अर्धभाग 'कन्दर्पेण'की द्वितीय पादके आदिमे आवृत्ति होनेसे 'अन्तादिक' यमक है। इसी प्रकार उत्तरार्द्धमे तृतीय चरणके आद्यार्ध भाग 'शरन्नवा'की चतुर्थ पादके अन्तमें आवृत्ति होनेसे 'अन्तादिक' यमक है। इस प्रकार श्लोकके पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध, दोनोंमे आद्यान्तिक-यमक तथा अन्तादिकयमकका समुच्चय है। श्लोकका अर्थ निम्नलिखित प्रकार है—

[वीनां पक्षिणां भ्राणं शब्दः यस्यां सा 'विभ्राणा' पक्षिशब्दयुक्ता, न विभ्राणा अविभ्राणा पक्षिशब्दरहिता, न अविभ्राणा नाविभ्राणा पक्षिकोलाहलयुक्ता] पक्षियोंके

'अर्थभेदेन शब्दभेदः' इति दर्शने 'काव्यमार्गे स्वरो न गण्यते' इति च नये वाच्यभेदेन भिन्ना अपि शब्दा यद् युगपदुच्चारणेन श्लिष्यन्ति भिन्नं स्वरूपमपह्नुवते स श्लेषः । स च वर्ण–पद–लिङ्ग–भाषा–प्रकृति–प्रत्यय-विभक्ति-वचनानां भेदादष्टधा ।

क्रमेणोदाहरणम्—

(१) अलङ्कारः शङ्काकरनरकपालं परिजनो
विशीर्णाङ्गो भृङ्गी वसु च वृष एको बहुवयाः ।
अवस्थेयं स्थाणोरपि भवति सर्वामरगुरो-
र्विधौ वक्रे मूर्ध्नि स्थितवति वयं के पुनरमी ॥३७०॥

इसका अभिप्राय यह है कि साधारणतः 'सकृत्प्रयुक्तः शब्दः सकृदेव अर्थं गमयति' अर्थात् एक बार प्रयुक्त किया हुआ शब्द एक ही अर्थका बोधन कराता है, इसलिए किसी भी एक शब्दसे दो अर्थोंका बोध नहीं हो सकता है । जहाँ दो अर्थोंका बोध कराना अभीष्ट हो, वहाँ 'प्रत्यर्थं शब्दा भिद्यन्ते' इस सिद्धान्तके अनुसार अलग-अलग शब्दोंका प्रयोग अनिवार्य होता है । परन्तु कहीं-कहीं दो भिन्न अर्थोंका बोध करानेवाले शब्द समानाकार एक-से वर्णविन्यासवाले या समानानुपूर्वीक पड़ जाते हैं । ऐसी दशामें उन समानाकार दो पदोंको वक्ता दो बार उच्चारण नहीं करता है । इसलिए वहाँ एक ही शब्दका प्रयोग प्रतीत होता है, परन्तु अर्थविचारकी दृष्टिसे वहाँ दो भिन्न अर्थोंके बोधक दोनों शब्द जतुकाष्ठ-न्यायसे मिलकर या चिपककर एक हो गये हैं । जैसे लाख और लकड़ी दो अलग-अलग वस्तुएँ हैं, परन्तु कभी-कभी लाख लकड़ीके साथ चिपककर एक हो जाती है । इसी प्रकार दो समानाकार शब्द एक बार उच्चारण किये जानेके कारण जहाँ एक शब्दके रूपमें प्रतीत होते हैं, वहाँ शब्दोंका श्लेष होनेसे उसको श्लेष नामक शब्दालङ्कार कहा जाता है । इसी बातको कहते हैं—

अर्थके भेदके कारण शब्दोंका भेद होता है [अर्थात् 'प्रत्यर्थं शब्दा भिद्यन्ते', प्रत्येक अर्थके बोधके लिए अलग-अलग शब्दका प्रयोग किया जाता है] इस सिद्धान्तके अनुसार और 'काव्यमार्गमें स्वरका विचार नहीं किया जाता है' [अर्थात् उदात्त, अनुदात्त आदि स्वरोंके भेदके आधारपर शब्दोंका भेद माननेका विचार केवल वैदिक प्रयोगोंमें ही किया जाता है, काव्यमें नहीं] इस नियमके अनुसार अर्थभेदके कारण भिन्न होनेपर भी [समानानुपूर्वीक, समानाकार] शब्द जब एक साथ उच्चारणके कारण [परस्पर] जुड़ जाते हैं, अर्थात् अपने भिन्न-भिन्न स्वरूपको छोड़ देते हैं, तब वह श्लेष [नामक शब्दालङ्कार] कहलाता है। और वह १. वर्णश्लेष, २ पदश्लेष, ३ लिङ्गश्लेष, ४ भाषाश्लेष, ५. प्रकृतिश्लेष, ६. प्रत्ययश्लेष, ७. विभक्तिश्लेष और ८. वचनश्लेषके भेदसे आठ प्रकारका होता है । क्रमशः उदाहरण [निम्नलिखितप्रकार हैं]—

(१) वर्णश्लेष

[देखनेवालेके हृदयमें] भयका सञ्चार करनेवाली मनुष्योंकी खोपड़ी [की हड्डी] उनका अलङ्कार है। गलित अङ्गोंवाला भृङ्गी [नामक शिवजीका एक विशेष गण] उनका सेवक है और एक अत्यन्त वृढ़ा बैल उनकी सम्पत्ति है। समस्त देवताओंके मान्य गुरु शिवजीकी भी टेढ़े चन्द्रमा [या भाग्य]के मस्तकपर स्थित होनेपर जब यह दुरवस्था है, तब [क्षुद्र कीटसदृश अत्यन्त तुच्छ] हमारी तो गिनती ही क्या है ॥३७०॥

(२) पृथुकार्तस्वरपात्रं भूषितनिःशेषपरिजनं देव ! ।
विलसत्करेणुगहनं सम्प्रति सममावयोः सदनम् ॥ ३७१ ॥

यह श्लोक वर्णश्लेषका उदाहरण है। इसमें 'विधौ' पदमें वर्णश्लेष है। 'विधि' और 'विधु' दो अलग-अलग शब्द हैं, विधिका अर्थ भाग्य और विधुका अर्थ चन्द्रमा है। इन दोनों शब्दोंका सप्तमीमें पद बननेमें 'विधौ' यह समानाकार एक ही रूप बनता है। केवल इकार और उकार वर्णोंके भेदसे यह भेद होता है, इसलिए यह वर्णश्लेषका उदाहरण है। भाग्यके विपरीत होनेपर बड़ेसे बड़े व्यक्तियोंकी दुरवस्था हो जाती है, साधारण पुरुषोंकी बात ही क्या, इस बातका कवि शिवजीके उदाहरण द्वारा प्रतिपादन कर रहा है। शिवजीके मस्तकपर चन्द्रमाकी टेढ़ी कला स्थित है, इसलिए वक्र-विधु अर्थात् वाम-विधिके मस्तकपर स्थित होनेके कारण उनकी यह दुरवस्था है।

(२) पदश्लेष

कोई याचक किसी राजाके सामने कह रहा है कि इस समय मेरा और आपका घर एक-समान अवस्थामें है। दोनोंके घरकी समता वह तीन श्लिष्ट पदों द्वारा दिखला रहा है। इसमें 'पृथु-कार्तस्वरपात्र', 'भूषितनिःशेषपरिजन' तथा 'विलसत्करेणुगहन' इन तीन पदोंमें श्लेष है। इनमेंसे पहिला पद 'पृथुकार्तस्वरपात्र' है। इसके दोनों पक्षोंमें भिन्न-भिन्न अर्थ इस प्रकार होते हैं। 'पृथुकानां बालानाम् आर्तस्वरस्य पात्रं' अर्थात् मेरा—याचकका—घर बालकोंके रोनेका स्थान है, मेरे घरमें भूखे बालक रो रहे हैं, और आपका—राजाका—घर 'पृथूनि महान्ति कार्तस्वरस्य सुवर्णस्य पात्राणि यस्मिन्' पृथुकार्तस्वरपात्र' सोनेके बड़े-बड़े बरतनोंसे युक्त है।

दूसरा पद 'भूषितनिःशेषपरिजन' है। इसका राजाके पक्षमें 'भूषित' अर्थात् अलङ्कृत हैं सारे परिजन, सेवक आदि जिसमें यह अर्थ होता है, और याचकके पक्षमें 'भुवि पृथिव्याम् उषिता' सर्वे परिजना यस्मिन्' जिसमें परिवारके सारे लोग जमीनपर पड़े हुए हैं यह अर्थ होता है। इसमें 'भूषित' इस एक पदको अथवा 'भूषितनिःशेषपरिजन' इस समस्त पदको श्लिष्ट मानकर पदश्लेष कहा गया है। इसी प्रकार 'विलसत्करेणुगहन' यह तीसरा श्लिष्ट पद है। राजाके पक्षमें 'विलसन्तीभिः करेणुभिर्गहन व्याप्त' अर्थात् हिलती हुई हथिनियोंसे युक्त यह अर्थ होता है और याचकके पक्षमें 'विले सीदन्ति इति विलसदाः मूषकाः तेषां रेणुः धूलिः तया गहन अर्थात् चूहोंके खोदे हुए बिलोंकी धूलसे भरा हुआ मेरा घर है यह अर्थ होता है। अतः यह पदश्लेषका उदाहरण है। श्लोकका अर्थ निम्नलिखित प्रकार है—

हे राजन् ! इस समय हम दोनोंका घर १. 'पृथुकार्तस्वरपात्र' [अ—बच्चोंके रोनेका स्थान तथा, आ—बड़े-बड़े सोनेके पात्रोंसे युक्त], २. 'भूषितनिःशेषपरिजन' [अ—पृथिवीपर लोटते हुए परिजनोंवाला तथा आ—अलङ्कृत परिजनोंवाला] और ३. 'विलसत्करेणुगहन' [अ—चूहोंकी मिट्टीसे भरा हुआ तथा आ—झूमती हुई हथि-नियोंसे भरा हुआ] होनेसे एक समान हो रहा है ॥३७१॥

(३) लिङ्गश्लेष तथा (४) वचनश्लेष

अगला उदाहरण 'लिङ्गश्लेष'का दिया गया है। इस श्लोकका मुख्य 'हरेः नेत्रे तनुर्वा युष्माकं भवाद्विनाशं कुरुतां' विष्णुजीके नेत्र अथवा शरीर तुम्हारे संसारके दुःखोंका नाश करे यह चतुर्थ चरण है। शेष तीन चरणोंमें इन 'नेत्रे' तथा 'तनु'के विशेषण हैं। इनमेंसे 'नेत्रे' यह नपुंसक-लिङ्ग 'नेत्र' शब्दके प्रथमा विभक्तिके द्विवचनका रूप है और 'तनुः' यह स्त्रीलिङ्ग 'तनु' शब्दका प्रथमा विभक्तिका एक वचन है। ये दोनों ही वाक्यके 'कर्ता' पद हैं। शेष तीनों चरणोंमें जो विशेषण दिये

(३) भक्तिप्रह्वविलोकनप्रणयिनी नीलोत्पलस्पर्धिनी
ध्यानालम्बनतां समाधिनिरतैर्नीतेहितप्राप्तये ।
लावण्यस्य महानिधी रसिकतां लक्ष्मीदृशोस्तन्वती
युष्माकं कुरुतां भवार्तिशमनं नेत्रे तनुर्वा हरेः ॥ ३७२ ॥

एष वचनश्लेषोऽपि ।

गये हैं वे एक बार नपुंसकलिङ्गके प्रथमाके द्विवचनके रूपमें और दूसरी बार स्त्रीलिङ्गके प्रथमाके एकवचनके रूपमें अन्वित होते हैं। इसलिए यह 'लिङ्गश्लेष'का उदाहरण तो है ही, परन्तु साथ ही इसको वचनश्लेषका उदाहरण भी कहा जा सकता है। 'कुरुता' इस पदमें आत्मनेपद तथा परस्मैपदका भी श्लेष है। 'नेत्रे' इस द्विवचनान्त कर्ताके साथ अन्वित होनेपर 'कुरुता' यह परस्मैपदमें प्रथम पुरुषके द्विवचनका रूप होता है और 'तनुः' इस एकवचनान्त कर्ताके साथ अन्वित होनेपर यह आत्मनेपदके प्रथम पुरुषके एकवचनका रूप होता है। इस प्रकार इस एक उदाहरणमें अनेक प्रकारके श्लेष पाये जाते हैं। ग्रन्थकारने उसे यहाँ लिङ्गश्लेष तथा वचनश्लेष, दोनोंके उदाहरणरूपमें प्रस्तुत किया है। श्लोकका अर्थ निम्नलिखित प्रकार है—

[शाण्डिल्य मुनिने भक्तिसूत्र नामक ग्रन्थमें 'अथातो भक्तिजिज्ञासा सा परानुरक्तिरीश्वरे' ।१।१।१। इस प्रकार ईश्वरके विषयमें परानुरक्तिको भक्ति नामसे कहा है उस] भक्तिसे नम्र हुए [भक्तजनों] को [कृपापूर्वक] देखनेके लिए अनुरागयुक्त, नीलकमलोंके सदृश [सुन्दर], हित [रूप मोक्ष] की प्राप्ति के लिए समाधिस्थ योगियों द्वारा [अपने] ध्यानके विषय बनाये हुए, अपरिमित सौन्दर्यके आधार और [अपनी पत्नी] लक्ष्मीके नेत्रोंमें रसिकताको उत्पन्न करनेवाले, हरि [विष्णु] के दोनों नेत्र तुम्हारी भवबाधाको दूर करें।

अथवा [तनुपक्षमें भक्तिप्रह्वानां विलोकनप्रणयो दर्शनानुरागो यस्यां सा भक्तिप्रह्वविलोकनप्रणयिनी] भक्तजन जिसको अनुरागपूर्वक देखते हैं, [रंग तथा सौन्दर्य दोनोंमें] नीलकमलोंके साथ स्पर्धा करनेवाली [नीलकमलोंके सदृश], [ईहितप्राप्तये] अभीष्टसिद्धिके लिए समाधिस्थ योगियों द्वारा चिन्तन की जानेवाली [ध्यानका विषय बनायी हुई], सौन्दर्यकी महानिधि [तनुपक्षमें 'महानिधिः रसिकता' इन दो पदोंके बीचके विसर्गोंका 'रो रि' ८।३।१४ सूत्रसे लोप होकर 'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' ६।३।१११ सूत्रसे दीर्घ होकर 'महानिधी' पद बनता है। नेत्रपक्षमें निधिशब्दको अजहल्लिङ्ग मानकर 'महानिधी' यह प्रथमाके द्विवचनका प्रयोग है] लक्ष्मीके नेत्रोंमें रसिकताको उत्पन्न करनेवाली विष्णुकी देह तुम्हारी भवपीड़ाका नाश करे ॥३७२॥

यह ['तनु'पक्षमें एकवचन तथा 'नेत्रे' पक्षमें द्विवचन होनेसे] वचनश्लेष [का उदाहरण] भी है। [इसलिए श्लेषके आठवें भेद वचनश्लेषका उदाहरण आगे नहीं देंगे]।

(४) भाषाश्लेष

आगे भाषाश्लेषका उदाहरण देते हैं। आनन्दवर्धनप्रणीत 'देवीशतक'में यह ७८वाँ पद्य है। संस्कृत तथा प्राकृत दोनों भाषाओंमें उसका अर्थ होता है, अतः यह 'भाषाश्लेष'का उदाहरण है। संस्कृत भाषामें उसको निम्नलिखित प्रकार पढ़ा जायगा—

(७) सर्वस्वं हर सर्वस्य त्वं भवच्छेदतत्परः ।
नयोपकारसाम्मुख्यमायासि तनुवर्तनम् ॥३७६॥

आपकी कृपासे कभी मैं [रजनीरमणमौलि, चन्द्रमौलि] शिवजीके चरणकमलोंके [अवलोकन] दर्शनके साथ ही अपरिमित अपूर्व आनन्दको प्राप्तकर [उनके] गणों [सेवक समुदाय] के मध्यमें उचित अनुरागयुक्त और [नन्दिता नन्दकः स्याम्] आनन्द प्राप्त करानेवाला होऊँ तथा वही [अर्थात् शिवजीके गणोंके भीतर गणना ही] मेरे लिए [नन्दिनो भावः 'नन्दिता' अर्थात् उनके प्रमुख अनुचर 'नन्दि' नामक गण] के नन्दी-पदकी प्राप्तिके समान [स्यात्] हो ॥ ३७५ ॥

यहाँ 'स्यान्नन्दिता' पदोंमे प्रत्ययश्लेष है यह सन्धि किया हुआ रूप है। सन्धिका विच्छेद करनेपर दो प्रकारके पदच्छेद निकलते हैं, एक 'स्यात् नन्दिता' और दूसरा 'स्याम् नन्दिता'। 'अहं नन्दिता स्याम्' और 'सा मे नन्दिता स्यात्' ये दो प्रकारके उसके अन्वय होते हैं। अर्थात् 'स्याम्' और 'स्यात्' पदोंमे उत्तमपुरुष तथा प्रथमपुरुषके प्रत्ययभागमात्रका भेद होनेसे प्रत्ययश्लेष है। इसी प्रकार 'नन्दिता' पदमें 'नन्दिनो भावः नन्दिता' इस विग्रहमें तद्धितका तल् प्रत्यय होता है और 'नन्दकः स्याम्' इस अर्थवाले पक्षमें कृत्-संज्ञक तृच्-प्रत्यय होता है इसलिए इन दोनों पदोंमें प्रत्यय-मात्रका भेद होनेसे यह प्रत्ययश्लेषका उदाहरण है।

(७) विभक्तिश्लेष

सुप् तथा तिङ् विभक्तियोंके श्लेषका अगला उदाहरण देते हैं। शिवका भक्त कोई डाकू अन्य लोगोंके सामने शिवकी प्रार्थना करते हुए, समीपमें ही उपस्थित अपने पुत्रको दस्युकर्मका उपदेश इस शिवोपासनापरक श्लोकसे ही देते हुए कह रहा है कि—

हे हर [शिवजी महाराज]! आप सबके सर्वस्व हैं और भव [जन्म] का नाश करनेवाले हैं। नीति [सदाचार या धर्मसंस्थापन] और [साधुओंके परित्राणरूप] उप-कारके अनुकूल [परित्राणाय साधूनां धर्मसंस्थापनार्थाय च] शरीरव्यवहार [अवतार-धारणरूप व्यापार] को प्राप्त होते हैं।

[यह इस श्लोकका शिवस्तुतिपरक अर्थ है। दूसरे पक्षमें] हे पुत्र! [त्वं सर्वस्य सर्वस्वं हर] तू [किसीको छोड़ मत] सबका सब-कुछ छीन ले और [केवल माल छीनकर ही सन्तोष न कर अपितु उन सबको जानसे मारकर साफ कर देनेके लिए उनके गलोंको] काटनेमें तत्पर हो जा। [उपकारसांमुख्यं नय] किसीके साथ उपकार [अथवा अनुकूलता या कृपा] मत कर [बल्कि सदा ही सबके प्रति आयासि वर्तनं तनु] पीड़ा देनेवाला व्यवहार कर ॥ ३७६ ॥

[illegible]

[illegible]

उच्यते । इह दोषगुणालङ्काराणां शब्दार्थगतत्वेन यो विभागः सः अन्वयव्यतिरेकाभ्यामेव व्यवतिष्ठते । तथाहि कष्टत्वादिगाढत्वाद्यनुप्रासादयः, व्यर्थत्वादिप्रौढ्याद्युपमादयः, तद्भावतदभावानुविधायित्वादेव शब्दार्थगतत्वेन व्यवस्थाप्यन्ते ।

उस गुण, दोष या अलङ्कारकी स्थितिमें अन्तर नहीं आता है, अर्थात् अलङ्कार आदि पूर्ववत् बना रहता है वहाँ यह समझना चाहिये कि वह अलङ्कार आदि शब्दपर नहीं अपितु अर्थपर आश्रित है, इसलिए उस अलङ्कार आदिको अर्थनिष्ठ या अर्थालङ्कार आदि कहते हैं ।

इस अन्वय-व्यतिरेककी कसौटीपर कसनेसे यह प्रतीत होता है कि अभङ्गश्लेषके 'जतुकाष्ठन्याय' से अथवा 'एकवृन्तगतफलद्वयन्याय'से सश्लिष्ट दोनो भेदोंमें शब्दोका परिवर्तन कर देनेपर श्लेषकी स्थिति नहीं रहती है । इसलिए 'शब्दपरिवृत्त्यसह' होनेसे अभङ्गश्लेषके वे दोनो ही स्वरूप शब्दालङ्कारके अन्तर्गत ही आते हैं । अलङ्कारसर्वस्वकारने अभङ्गश्लेषको अर्थापेक्षी मानकर जो अर्थालङ्कारोंमें परिगणित किया है, वह उचित नहीं है ।

अलङ्कारसर्वस्वकार 'पृथुकार्तस्वरपात्र' इत्यादि सभङ्गश्लेषके उदाहरणोंमें 'पृथुक-आर्तस्वरपात्र' तथा 'पृथु कार्तस्वरपात्र' आदि विजातीय भिन्न-भिन्न शब्दोका श्लेष होनेसे सभङ्गश्लेषको शब्दश्लेष कहते हैं और 'असकृत्सरगोत्राणा' इत्यादि अभङ्गश्लेषके उदाहरणोंमें विजातीय भिन्नाकार शब्दोका नहीं अपितु 'एकवृन्तगतफलद्वयन्याय'से दो अर्थोंका श्लेष होनेसे अभङ्गश्लेषको अर्थश्लेष मानते हैं । अलङ्कारसर्वस्वकारका यह 'एकवृन्तगतफलद्वयन्याय' यहाँ श्लेषस्थलमें तो कथञ्चित् लागू हो जाता है, इसलिए उसके आधारपर अभङ्गश्लेषको एक बार यदि अर्थालङ्कार मान भी लिया जाय तो भी गुण-दोष तथा अन्य अलङ्कारोंमें तो इस न्यायके लागू होनेका कोई अवसर ही नहीं है, परन्तु गुण दोष तथा अन्य अलङ्कारोंमें भी उनकी शब्दनिष्ठता अथवा अर्थनिष्ठताकी विवेचना करनी ही होती है । वहाँ इस युक्तिसे निर्णय नहीं हो सकता है । वहाँ तो अन्वय व्यतिरेकके आधारपर ही किसी गुण, दोष या अलङ्कारके शब्दनिष्ठ अथवा अर्थनिष्ठ होनेका निर्णय किया जाता है । यह अन्वय-व्यतिरेक ही सर्वत्र प्रयोज्य-प्रयोजकभाव आदिका निर्णायक होता है । इसलिए श्लेषकी शब्दनिष्ठता तथा अर्थनिष्ठताका निर्णय भी उसीके द्वारा करना उचित है । इस दृष्टिसे यदि अन्वय-व्यतिरेकके आधारपर अभङ्गश्लेषकी परीक्षा की जाय तो वह शब्दालङ्कार ही ठहरता है । हाँ, उन स्थलोंमें जहाँ शब्दका परिवर्तन कर देनेपर भी श्लेष बना रहता है, अर्थात् दो अर्थोंकी प्रतीति होती रहती है, वहाँ अर्थालङ्कार कहा जा सकता है । इस प्रकारके अर्थश्लेषका उदाहरण भी आगे देंगे । परन्तु 'योऽसकृत्परगोत्राणा' इत्यादि अभङ्गश्लेषके उदाहरणोंमें शब्दपरिवृत्तिकी क्षमता न होनेसे उनमें रहनेवाला अभङ्गश्लेष अर्थालङ्कार नहीं अपितु शब्दालङ्कार ही है यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है । इसी बातको आगे वृत्तिग्रन्थमें कहते हैं—

[उत्तर]—कहते हैं । यहाँ [काव्यमें] गुण, दोष, अलङ्कारोंका शब्दगत और अर्थगतरूपसे जो विभाग किया जाता है वह अन्वय-व्यतिरेकसे ही ठीक बैठता है । [अर्थात् जहाँ शब्दपरिवृत्तिसहत्व नहीं है वहाँ शब्दगतत्व और शब्दपरिवृत्तिसहत्व होनेपर अर्थगतत्व माना जाता है] क्योंकि (१) श्रुतिकटुत्व [कष्टत्व] आदि [शब्ददोष] गाढबन्धत्व आदि [रूप वामनोक्त दस शब्दगुण] तथा अनुप्रासादि [शब्दालङ्कार शब्द-परिवर्तनको सहन नहीं करते हैं, इसलिए वे शब्दनिष्ठ गुण, दोष तथा अलङ्कार माने

स्वयं च पल्लवाताम्रभास्वत्करविराजिता ।

इत्यभङ्गः,

प्रभातसन्ध्येवास्वापफललुब्धेहितप्रदा ॥३७८॥

इति सभङ्गः,

जाते हैं और व्यर्थत्व [अपुष्टार्थत्व आदि अर्थदोष], प्रौढि आदि [अर्थस्य प्रौढिरोजः इत्यादि वामनाभिमत दस अर्थगुण] तथा उपमा आदि [अर्थालङ्कार], शब्द और अर्थकी सत्ता [तद्भाव] तथा शब्द और अर्थके अभाव [तदभाव] का अनुगमन करनेवाले होनेसे ही [अर्थात् अन्वय-व्यतिरेकके आधारपर ही] शब्दगत तथा अर्थगत माने जाते हैं।

अर्थात् श्रुतिकटुत्व आदि शब्ददोष, वामनाभिमत दस शब्दगुण तथा अनुप्रासादि शब्दालङ्कार उन-उन शब्दोंके होनेपर ही रहते हैं, उन शब्दोंका परिवर्तन करके उनके पर्यायवाचक अन्य शब्दोंके रख देनेपर नहीं रहते हैं, इसलिए वे शब्ददोष, शब्दगुण तथा शब्दालङ्कार कहे जाते हैं। इसके विपरीत अपुष्टार्थत्वादि अर्थदोष, अर्थप्रौढि आदिरूप वामनाभिमत दस अर्थगुण तथा उपमादि अर्थालङ्कारोंमें शब्दोंका परिवर्तन करके उनके पर्यायवाचक दूसरे शब्द रख देनेपर भी वे दोष, गुण तथा अलङ्कार माने जाते हैं। इसलिए वे अर्थनिष्ठ दोष, गुण तथा अलङ्कार माने जाते हैं। इसका अभिप्राय यह हुआ कि दोष, गुण तथा अलङ्कारोंकी शब्दनिष्ठता या अर्थनिष्ठताका निर्णय अन्वयव्यतिरेकके आधारपर ही करना आवश्यक है और उस आधारपर केवल सभङ्गश्लेष ही नहीं अपितु 'योऽसकृत्' इत्यादि उदाहरणोंमें अभङ्गश्लेषके दोनों भेद भी शब्दपरिवृत्तिको सहन नहीं कर सकते हैं, इसलिए शब्दालङ्कार ही माने जा सकते हैं, अर्थालङ्कार नहीं। सभङ्ग तथा अभङ्ग दोनों प्रकारके श्लेषोंमें शब्दपरिवृत्तिकी असहनीयताको दिखलानेके लिए अगला उदाहरण देते हैं—

प्रतीहारेन्दुराज-विरचित 'उद्भटालङ्कारसारसंग्रह-लघुवृत्ति' के चतुर्थ वर्गमें पार्वती वर्णनपरक यह पद्य उद्धृत हुआ है। इसके पूर्वार्धमें 'भास्वत्करविराजिता' इस अंशमें अभङ्गश्लेष है और उत्तरार्धके 'अस्वापफललुब्धेहितप्रदा' इस अंशमें सभङ्गश्लेष है। पार्वतीका माहात्म्य केवल उनके स्वामी शिवजीके प्रभावके कारण ही नहीं है, अपितु वे स्वयं भी प्रभातसन्ध्याके समान महत्त्वशालिनी हैं, यह इस श्लोकका भाव है। प्रभातसन्ध्याके साथ पार्वतीकी समानता दिखलाते हुए कवि कह रहा है कि—

[पार्वती देवी] स्वयं भी पल्लवोंके सदृश रक्तवर्ण, भास्वत् = भास्वान् अर्थात् सूर्यकी किरणोंसे शोभायमान, प्रातःकालीन सन्ध्याके समान, किसलय जैसे [आताम्र] रक्तवर्णके और [भास्वत्] चमकते हुए हाथोंसे शोभायमान हैं।

इस [पूर्वार्धभाग] में अभङ्गश्लेष [तथा]—

[और वे पार्वती प्रभातसन्ध्यापक्षमें] अस्वाप अर्थात् निद्राका अभाव, उसका फल अर्थात् प्रातःकालीन स्नान सन्ध्या-वन्दनादि, उसके इच्छुकोंके लिए, हित प्रदान करनेवाली प्रभातसन्ध्याके समान [पार्वतीपक्षमें 'सुखेन आप्यते इति स्वापं न स्वापम् अस्वापं दुर्लभम् इति यावत्' मोक्ष आदि रूप] दुर्लभ फलके इच्छुकोंके [लिए] अभीष्टको प्रदान करनेवाली हैं ॥ ३७८ ॥

इस [उत्तरार्धमें] सभङ्गश्लेष है।

न च 'कमलमिव मुखम्' इत्यादिः साधारणधर्मप्रयोगशून्य उपमाविषय इति वक्तुं युक्तम्, पूर्णोपमाया निर्विषयत्वापत्तेः।

देव ! त्वमेव पातालमाशानां त्वं निबन्धनम्।
त्वं चामरमरुद्भूमिरेको लोकत्रयात्मकः ॥३८०॥

इत्यादिः श्लेषस्य चोपमाद्यलङ्कारविविक्तोऽस्ति विषय इति। द्वयोर्योगे सङ्कर एव।

और 'मुख कमलके समान है' इत्यादि साधारणधर्मके प्रयोगसे रहित ही उपमाका विषय होता है, यह भी नहीं कहा जा सकता है [क्योंकि उस दशामें] पूर्णोपमा निर्विषय हो जायेगी।

इसलिए 'पल्लवाताम्रभास्वत्करविराजिता' आदिमें शब्दमात्रका साम्य होनेपर भी उपमा अलङ्कार हो सकता है। अतः वहाँ श्लेषको मुख्य अलङ्कार न मानकर उपमाको ही मुख्य अलङ्कार मानना चाहिये। उपमाके कारण श्लेषका क्षणिक प्रतिभासमात्र होता है, अन्तिम विश्रान्ति उपमामें होती है। श्लेषकी नहीं, अतः उपमा ही वहाँ मुख्य अलङ्कार है। यह मम्मटका सिद्धान्त हुआ।

श्लेषकी स्वतन्त्र स्थितिका उदाहरण

अलङ्कारसर्वस्वकार ऐसे स्थलोंपर श्लेषको अन्य अलङ्कारोंका बाधक प्रधान अलङ्कार मानते हैं। उसका हेतु वे यह देते हैं कि श्लेष अन्य अलङ्कारोंके बिना नहीं रह सकता है और अन्य अलङ्कार श्लेषके बिना भी रह सकते हैं। इसलिए जहाँ श्लेषके साथ अन्य अलङ्कारोंकी उपस्थिति हो, वहाँ अन्य अलङ्कारोंकी उपेक्षा कर श्लेषको ही प्रधान अलङ्कार मानना चाहिये। अन्यथा यदि उन स्थलोंपर भी अन्य अलङ्कार ही माने जायँ तो श्लेषके लिए कोई अवसर ही नहीं रहता। इसलिए इस प्रकारके स्थलोंमें श्लेष अन्य अलङ्कारोंका बाधक बन जाता है।

अलङ्कारसर्वस्वकारके इस मतके खण्डनके लिए मम्मट आगे ऐसा उदाहरण देते हैं, जिसमें अन्य अलङ्कारके साहचर्यके बिना केवल श्लेष अलङ्कार स्वतन्त्ररूपसे रहता है। उसका अर्थ निम्नलिखित प्रकार है—

हे [विष्णु] देव ! आप ही पाताल [लोक और दूसरे पक्षमें 'पाता अलं' सबके रक्षा करने वाले] हैं। आप ही संसारकी आशाओंके केन्द्र [दूसरे पक्षमें आशा अर्थात् दिशाओंके व्यवहारके केन्द्र अर्थात् भूलोक] हैं और आप ही [अमर] देवताओं तथा मरुतों [विबुधोंनिवहों] के निवासस्थान [स्वर्गलोक, दूसरे पक्षमें चामर अर्थात् [illegible] चामरके डुलानेसे उत्पन्न मरुत् अर्थात् वायुका सेवन करनेवाले] हैं। [इस प्रकार आप] अकेले ही तीनों लोकस्वरूप हैं ॥ ३८० ॥

इत्यादि उपमा आदि [अन्य अलङ्कारों] से रहित [शुद्ध] श्लेषका [स्वतन्त्र] विषय रहता है। इसलिए 'पल्लवाताम्रभास्वत्करविराजिता' इत्यादि [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]। [illegible]

उपपत्तिपर्यालोचने तु उपमाया एवायं युक्तो विषयः । अन्यथा विषयापहार एव पूर्णोपमायाः स्यात् ।

न च

'अविन्दुसुन्दरी नित्यं गलल्लावण्यबिन्दुका'

इत्यादौ विरोधप्रतिभोत्पत्तिहेतुः श्लेषः अपि तु श्लेषप्रतिभोत्पत्तिहेतुर्विरोधः । न ह्यत्रार्थद्वयप्रतिपादकः शब्दश्लेषः द्वितीयार्थस्य प्रतिभातमात्रस्य प्ररोहाभावात् ।

तर्क [युक्ति, उपपत्ति] की दृष्टिसे विचार करें, तब तो इसे उपमाका ही उदाहरण मानना उचित है। अन्यथा पूर्णोपमाका विषय ही समाप्त हो जायगा [क्योंकि श्लेष तो केवल 'भास्वत्करविराजितत्व' रूप साधारणधर्मकी प्रतीतिको उद्भावित करता है। उसका अन्य कोई उपयोग नहीं है। उस साधारणधर्मकी प्रतीतिको करानेके कारण यदि श्लेषकी मुख्य स्थिति मानी जाय, तब तो पूर्णोपमाके सभी उदाहरणोंमें उपमान-गत तथा उपमेयगत साधारणधर्मके स्वरूपतः भिन्न होनेपर भी एक शब्दसे अभिहित होनेके कारण श्लेषसे ही सर्वत्र साधारणधर्मका बोध होता है, इसलिए सर्वत्र श्लेषकी मुख्य स्थिति हो जायगी। फलतः पूर्णोपमाका विषय ही कहीं नहीं रहेगा। इसलिए यहाँ श्लेष नहीं, अपितु उपमा अलङ्कार ही मानना चाहिये, यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है]।

विरोधाभास भी श्लेषका बाधक

'सकलकलापभास्वत्करविराजिता' इत्यादि उदाहरणोंमें श्लेषको उपमा अलङ्कारका बाधक न मानकर उपमाको ही श्लेषालङ्कारका बाधक मानना चाहिये, यह बात ग्रन्थकारने यहाँतक प्रतिपादित की है। इसी नीतिका प्रयोग अन्य अलङ्कारोंके साथ श्लेषकी स्थिति होनेपर भी करना चाहिये। इस बातको दिखलानेके लिए ग्रन्थकार आगे ऐसा उदाहरण देते हैं, जिसमें विरोधाभास अलङ्कारके साथ श्लेषकी स्थिति पायी जाती है। अलङ्कारसर्वस्वकारके अनुसार उसमें श्लेषालङ्कार विरोधाभासका बाधक होना चाहिये, ग्रन्थकार मम्मट उसमें भी विरोधाभासको ही प्रधान अलङ्कार मानते हैं और श्लेषको केवल आभासमात्र मानते हैं। इसी बातको ग्रन्थकार आगे निम्नलिखित प्रकार लिखते हैं—

'[अप्सु प्रतिबिम्बितः इन्दुः अबिन्दुः, तद्वत् सुन्दरी] जलमें प्रतिबिम्बित चन्द्रमाके समान सुन्दरी इस [तरुणी] के मुखसे निरन्तर लावण्यकी बूँदें गिरती रहती हैं।'

इत्यादि उदाहरणमें ['अविन्दुसुन्दरी' अर्थात् बिन्दुरहित और 'गलल्लावण्य-बिन्दुका' अर्थात् लावण्यबिन्दुसहित इत्यादि रूप] विरोधके प्रतिभोत्पत्ति [गौण—प्रति-भासमात्र] का हेतु [मुख्य] श्लेष [अलङ्कार] नहीं है, अपितु [गौणरूपसे प्रतिभातमात्र होनेवाले] श्लेषके प्रतिभासमात्रकी उत्पत्तिका हेतु विरोध [अलङ्कार] है। [क्योंकि यहाँ बिन्दुरहित और बिन्दुसहित रूप] द्वितीय अर्थका प्रतिपादक शब्दका श्लेष नहीं है अपितु द्वितीयार्थका प्रतिभासमात्र होता है, उसका प्ररोह होता नहीं है [अर्थात् अन्तिम चरमरूपसे अन्वयमें सम्बद्ध न होनेसे श्लेष यहाँ वास्तविक नहीं, केवल कुछ देरके लिए क्षणिकरूपसे प्रतिभातमात्र होता है]।

इत्यादौ एकदेशविवर्तिरूपकश्लेषव्यतिरेकसमासोक्तिविरोधत्वमुचितम्, न तु श्लेषत्वम्।

शब्दश्लेष इति चोच्यते अर्थालङ्कारमध्ये च लक्ष्यते इति कोऽयं नयः?

किञ्च 'वैचित्र्यमलङ्कारः' इति य एव कविप्रतिभासंरम्भगोचरस्तत्रैव विचित्रता इति सैवाऽलङ्कारभूमिः।

प्रतीतिमें ही होती है। श्लेष केवल प्रतिभातमात्र होकर समाप्त हो जाता है। इसलिए चरम विश्रान्तिधाम होनेसे विरोधाभास ही मुख्य अलङ्कार ठहरता है। यद्यपि यह विरोध भी वास्तविक विरोध नहीं है, अपितु केवल आभासमात्र है, परन्तु वास्तविक विरोध न होनेपर भी विरोधका आभास ही तो विरोधाभास अलङ्कार है। वास्तविक विरोध तो अलङ्कार नहीं, अपितु दोष हो जाता है, इसलिए वहाँ विरोधाभासको ही विरोध नामसे कहा जाता है। यही मुख्य अलङ्कार है, श्लेष नहीं।

[इस प्रकार 'सद्वंशमुक्तामणि.'] इत्यादि [पूर्वोक्त चारों उदाहरणों] में [क्रमशः] १. एकदेशविवर्तिरूपक, २. श्लेषमूलक व्यतिरेक, ३. समासोक्ति तथा ४. विरोध [अलङ्कार मानना] ही उचित है, न कि श्लेष।

इस प्रकरणमें, पृष्ठ सं० ४२५ पर जो अलङ्कारसर्वस्वकारका मत पूर्वपक्षके रूपमें दिया था उसके तीन अंग किये जा सकते है, यह बात पहिले लिखी जा चुकी है। उसमेसे एक अभङ्गश्लेषके अर्थालङ्कार माननेवाले अगका तथा दूसरे अंग अर्थात् श्लेष अलङ्कारको उपमा आदि अलङ्कारोंका बाधक मानने परक अगका निराकरण ग्रन्थकारने यहाँतक कर दिया। अब उस पूर्वपक्षका तीसरा अंग शेष रह जाता है। उस पूर्वपक्षका अभिप्राय यह है कि स्वरभेदादिके कारण भिन्नप्रयत्नोच्चार्य शब्दोंका जतुकाष्ठन्यायसे होनेवाला शब्दश्लेष तथा स्वरभेदादिके अभावमें अभिन्नप्रयत्नोच्चार्य शब्दोंमें एकवृन्तगत-फलद्वयन्यायसे दो अर्थोंका होनेवाला अर्थश्लेष, दोनों ही 'शब्दश्लेषोऽर्थश्लेषश्च द्विविधोऽपि अर्थालङ्कारमध्ये परिगणितोऽन्यै.' दोनोंको ही अलङ्कारसर्वस्वकारने अर्थश्लेषमें गिना है। इन दोनोंके अर्थालङ्कारमें गिने जानेका खण्डन करनेके लिए ग्रन्थकार अगली पंक्ति लिखते है कि—

(१) [शब्दश्लेषको आप नामसे तो] शब्दश्लेष कहते हैं और अर्थालङ्कारोंमें गिनते हैं, यह कौन-सा सिद्धान्त हुआ? [अर्थात् जब स्पष्टरूपसे आप श्लेषके एक भेदको शब्दश्लेष नामसे कहते हैं, तब उसकी गणना शब्दालङ्कारोंमें करनी चाहिये। अर्थालङ्कारोंमें उसको सम्मिलित करना उचित नहीं है]।

(२) [और दूसरी बात यह भी है कि वैचित्र्य अर्थात्] चमत्कार ही अलङ्कार है। इसलिए [शब्द तथा अर्थमेंसे] जो कोई कविकी प्रतिभा और प्रयत्न [संरम्भ शक्ति तथा व्युत्पत्ति] का विषय होता है, उसीमें चमत्कार होता है और वही अलङ्कार होता है [इसलिए जहाँ शब्दपर कविका विशेष बल रहता है, वहाँ शब्दका ही चमत्कार होता है, उस शब्दको बदल देनेपर वह चमत्कार नहीं रहता है। इसलिए उस स्थलपर शब्दालङ्कार मानना उचित है और जहाँ शब्दका परिवर्तन कर देनेपर भी अलङ्कारकी हानि नहीं होती है, वहाँ यह समझना चाहिये कि कविका मुख्य बल शब्दपर नहीं अपितु अर्थपर है। इसलिए वहाँ अर्थालङ्कार मानना चाहिये]।

अर्थमुखप्रेक्षित्वमेतेषां शब्दानामिति चेत्, अनुप्रासादीनामपि तथैवेति तेऽप्यर्थालङ्काराः किं नोच्यन्ते ? रसादिव्यञ्जकस्वरूपवाच्यविशेषसव्यपेक्षत्वेऽपि ह्यनुप्रासादीनामलङ्कारता । शब्दगुणदोषाणामप्यर्थापेक्षयैव गुणदोषता । अर्थगुणदोषालङ्काराणां शब्दापेक्षयैव व्यवस्थितिरिति तेऽपि शब्दगतत्वेनोच्यन्ताम् ।

'विधौ वक्रे मूर्ध्नि' इत्यादौ च वर्णादिश्लेषे एकप्रयत्नोच्चार्यत्वेऽर्थश्लेषत्वं शब्दभेदेऽपि प्रसज्यतामित्येवमादि स्वयं विचार्यम् ।

अर्थापेक्षितासे अर्थालङ्कारत्व नहीं

श्लेषके दोनो भेदोंको अर्थालङ्कार माननेके पक्षमें अलङ्कारसर्वस्वकारकी ओरसे यह युक्ति दी जा सकती है कि श्लेष सदा अर्थमुखापेक्षी होता है। क्योंकि दो अर्थोंकी प्रतीतिके विना न श्लेष हो ही सकता है और न उसमें चमत्कार ही आ सकता है, इसलिए अर्थमुखापेक्षी होनेसे श्लेषके दोनो भेदोंकी अर्थालङ्कारोंमें ही गणना करनी उचित है। इसका खण्डन करते हुए ग्रन्थकार कहते है कि—

(३) इन [श्लेषपरक] शब्दोंका अर्थमुखापेक्षित्व है। [अर्थात् विना दो अर्थोंकी प्रतीतिके श्लेष हो ही नहीं सकता है। इसलिए श्लेषके दोनो भेदोंको अर्थालङ्कार माना जाता है] यह कहा जाय तो अनुप्रास आदि [प्रसिद्ध शब्दालङ्कारों] का भी उसी प्रकार [अर्थमुखापेक्षित्व] है, इसलिए उनको भी अर्थालङ्कार क्यों नहीं मानते हो ? (४) रसादिके व्यञ्जकरूप वाच्य अर्थकी अपेक्षासे ही अनुप्रास आदिकी अलङ्कारता होती है [अर्थात् जहाँ रसानुसारी वर्णसाम्य होता है, वहाँ अनुप्रास अलङ्कार होता है। रसविरोधी वर्णोंका साम्य होनेपर अनुप्रासालङ्कार नहीं होता है। इसलिए अनुप्रास आदि शब्दालङ्कारोंमें भी इस प्रकार अर्थमुखापेक्षिता आ जाती है, तब उनको भी अर्थालङ्कार मानना चाहिये। परन्तु अनुप्रासादिको अलङ्कारसर्वस्वकार भी शब्दालङ्कार ही मानते हैं, अर्थालङ्कार नहीं। इसी प्रकार शब्दश्लेषमें भी अर्थापेक्षिता होनेपर भी उसको अर्थालङ्कार न मानकर शब्दालङ्कार मानना ही उचित है, यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है]। और शब्दगुण तथा शब्ददोषोंकी गुण-दोषता अर्थमुखापेक्षिणी ही होती है। इसी प्रकार अर्थगत गुणदोष तथा अलङ्कारोंकी स्थितिमें भी शब्दकी अपेक्षा रहती है [आपके मतसे] उनको भी शब्दगत मानना चाहिये [इसलिए आप जो अर्थापेक्षी कहकर शब्दश्लेषकी गणना अर्थालङ्कारोंमें करना चाहते है, वह उचित नहीं है]।

एक बात अलङ्कारसर्वस्वकारने यह कही थी कि अभिन्नप्रयत्नोच्चार्य पदोंमें एकवृन्तगतफलद्वय-न्यायसे होनेवाला श्लेष, अर्थश्लेष ही कहलाता है। उसका भी खण्डन करते हुए ग्रन्थकार अगली पंक्तिमें लिखते है कि—

(५) [उदाहरण सं० ३७० में] 'विधौ वक्रे मूर्ध्नि' इत्यादिमें [विधि तथा विधुरूप पदोंमें इकार-उकाररूप] वर्णादिका श्लेष होनेपर [भी अभिन्नप्रयत्नोच्चार्य होनेसे ['विधि' तथा 'विधु' रूप] शब्दोंका भेद होनेपर भी अर्थश्लेष होने लगेगा। इत्यादि [अनेक दोष अलङ्कारसर्वस्वकारके मतमें आ जाते हैं, अतः उनका श्लेषविषयक सारा सिद्धान्त ही दूषित है] यह उनको स्वयं विचार करना चाहिये।

[सूत्र १२०] तच्चित्रं यत्र वर्णानां खड्गाद्याकृतिहेतुता ॥ ८५ ॥

सन्निवेशविशेषेण यत्र न्यस्ता वर्णाः खड्गमुरजपद्माद्याकारमुल्लासयन्ति तच्चित्रं काव्यम् । कष्टं काव्यमेतदिति दिङ्मात्रं प्रदर्श्यते । उदाहरणम्—

(१) मारारिशक्ररामेभमुखैरासाररंहसा ।
सारारब्धस्तवा नित्यं तदार्तिहरणक्षमा ॥ ३८५ ॥
माता नतानां सङ्घट्टः श्रियां बाधितसम्भ्रमा ।
मान्याऽथ सीमा रामाणां शं मे दिश्यादुमादिमा ॥ ३८६ ॥ (खड्गबन्धः)

---

५. चित्र अलङ्कार

[सूत्र १२०]—जहाँ [जिस बन्धमें] वर्णोंकी [रचना] खड्ग आदिकी आकृतिका हेतु हो जाती है, वह 'चित्र' [नामक शब्दालङ्कार कहलाता है] ॥ ८५ ॥

जहाँ विशेष प्रकारके विन्याससे लिपिबद्ध किये गये वर्ण खड्ग, मुरज, कमल आदिके आकारको प्रकट करते हैं, वह 'चित्र' [अर्थात् चित्र अलङ्कारयुक्त] काव्य कहलाता है । यह क्लिष्ट काव्य होता है इसलिए उसका दिग्दर्शनमात्र कराते हैं ।

(क) खड्गबन्ध

उदाहरण, जैसे—

[मार कामदेवके अरि] शिव, इन्द्र, राम तथा [इभमुख गजानन] गणेशके द्वारा [आसाररंहसा] धाराप्रवाहसे जिसकी उत्कृष्ट स्तुति प्रारम्भ की गयी है, इस प्रकारकी और उन [शिव आदिकी पीड़ाका सदा निवारण करनेवाली—

विनयावनत भक्तोंकी माता [सब प्रकारकी] लक्ष्मियोंकी सम्मेलनभूमि, भक्तोंके भयका निवारण करनेवाली [बाधितसम्भ्रमा], स्त्रियोंकी मर्यादारूप, परम माननीया और अनादि [आदिमा] उमा पार्वती [मे शं दिश्यात्] मेरा कल्याण करे ॥ ३८५-३८६ ॥

यह खड्गबन्ध है । (इन दो श्लोकोंमें) खड्गका आकार बन जाता है ।

सरला बहुलारम्भतरलालिकुलारवा ।
वारला बहुलामन्दकरला बहुलामला ॥ २८७ ॥ (मुरजबन्धः)
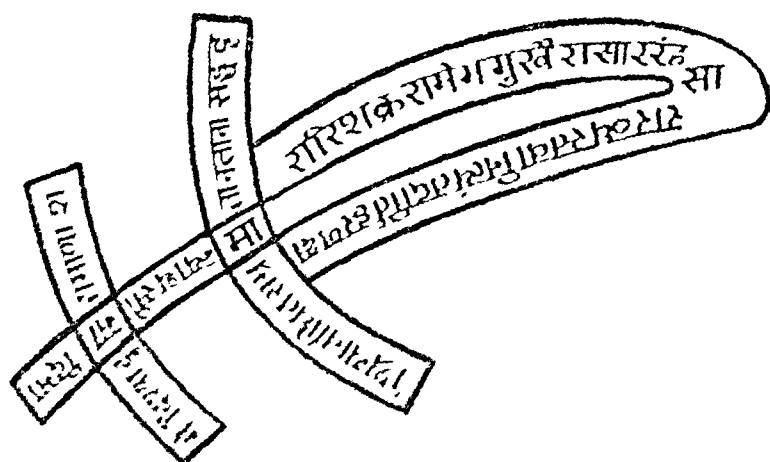
पहिले मूठके ऊपर और नीचे दो भागवाला उपरिलिखितप्रकारका खड्गका चित्र बनाओ । उसकी मूठके निचले हिस्सेके बीचमें श्लोकका प्रथम अक्षर 'मा' लिख दो । तलवारकी सबसे निचली नोकके बीचमें प्रथम श्लोकके पूर्वार्द्धका अन्तिम अक्षर 'शा' लिख दो । अब प्रथम श्लोकके शेष अक्षरोंको 'मा'के बादसे आरम्भ करके खड्गके एक ओर लिखते हुए चले जाओ तो तलवारकी निचली नोकपर पूर्वार्द्ध 'शा' अक्षरपर समाप्त हो जायगा । वहाँसे ही उत्तरार्द्धको तलवारके दूसरे भागपर लिखना आरम्भ कर दो और तलवारके एक ओर लिखते चले जाओ तो मूठके निचले भागके बीचमें पूर्वलिखित 'मा' अक्षरपर आकर वह समाप्त हो जायगा । इस 'मा'को केन्द्र मानकर मूठके निचले दोनों फलकोंमें दूसरे श्लोकका प्रथम चरण एक ओर तथा दूसरा चरण दूसरी ओर आ जायगा । इसी प्रकार द्वितीय श्लोक के तृतीय तथा चतुर्थ दोनो चरण मूठके ऊपरवाले भागके दोनों ओर लिखे जा सकते हैं । इस प्रकार ये दोनों श्लोक तलवारके आकारमें आ जाते हैं ।

(ख) मुरजबन्ध

खड्गबन्धके ये दोनो श्लोक रुद्रटके 'काव्यालङ्कार'से लिये गये हैं । रुद्रटके आधारपर ही आगे मुरजबन्धका उदाहरण देते हैं । इस श्लोकमें कवि शरद्का वर्णन कर रहा है । अर्थ इस प्रकार है—

सरला अर्थात् मेघादिके कौटिल्यसे रहित, अनेक प्रकारके व्यापारोंके कारण चञ्चल भ्रमरसमूहोंके कोलाहलसे युक्त, [वरटा वरला हंसिनी वरला एव वारला] प्रचुर हंसिनियोंसे सुशोभित, [अमन्दाः करलाः करग्राहिणो राजपुरुषा यस्यां] जिसमें अनेक राजपुरुष कर उगाहनेमें लगे हुए हैं, इस प्रकारकी और [बहुले कृष्णपक्षेऽपि अमला] कृष्णपक्षमें भी उज्ज्वल [शरत्तु सर्वोत्कर्षशालिनी] है ॥२८७॥

श्लोकके चारों चरणोंके सारे वर्णोंको अलग-अलग करके चार पङ्क्तियोंमें लिखकर उनको निम्नलिखित प्रकारकी रेखाओंसे जोड़ देनेसे उसकी रचना मुरज नामक वाद्यके समान हो जाती है । इसलिए यह मुरजबन्धका उदाहरण होता है—
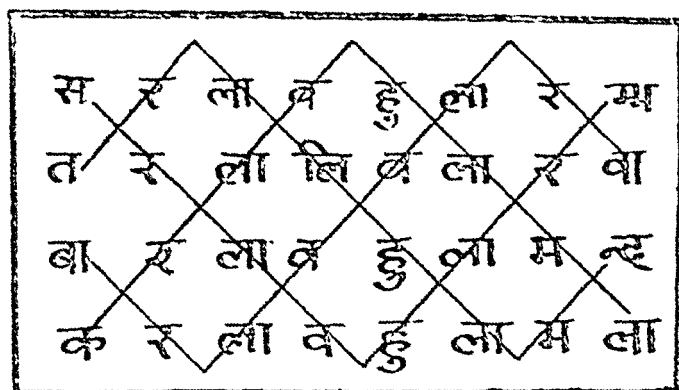
भासते प्रतिभासार ! रसाभाताहताविभा ।
भावितात्मा शुभा वादे देवाभा बत ते सभा ॥३८८॥ (पद्मबन्धः)

(ग) पद्मबन्ध

मुरजबन्धके बाद पद्मबन्धका उदाहरण देते हैं। अष्टदल कमलका चित्र बनाकर उसके केन्द्रमें श्लोकका प्रथम अक्षर 'भा' रखकर श्लोकके दो-दो अक्षर आठों दलोंमें रख देनेसे इन सब अक्षरोंका विन्यास इस प्रकारका हो जाता है कि उससे श्लोकके ३२ अक्षरके चारों चरण पढ़े जा सकते हैं। उनके पढनेका प्रकार यह है कि कमलके आठों दलोंमेंसे चार दल दिशाओंमें और चार उपदिशाओंमें पडते हैं। इनमेंसे चार दिग्दलोंके अक्षरोंको दो बार पढा जाता है। एक बार उनको बाहरकी ओरसे पढ़ते हुए कर्णिका या केन्द्रमें प्रवेश करते हैं, दूसरी बार केन्द्र या कर्णिकासे निकलते हुए भी उनका पाठ होता है। इस प्रकार इन चार दलोंमें लिखे हुए आठ अक्षरोंको पढते समय १६ संख्या हो जाती है। शेष उपदिशाओंके चार दलोंमें आठ अक्षर मिलकर २४ अक्षर हो गये। केन्द्र या कर्णिकामें रखा हुआ अक्षर आठों दलोंके साथ आठ बार पढा जाता है। इस प्रकार लिखे हुए १७ अक्षर पढते समय ३२ अक्षर हो जाते हैं। पद्मबन्धका जो उदाहरण दिया है, उसका अर्थ निम्नलिखितप्रकार है—

हे प्रतिभासार [अत्यन्त प्रतिभावान् राजन् ! 'शृङ्गारादि अथवा प्रीतिरूप] रसोंसे शोभित [आभाता और अहता एवं आविभा] अप्रतिहत एवं अत्यन्त दीप्तिमती' ['भावितात्मा'] जिसमें आत्माका चिन्तन किया जाता है तथा वादमें निपुणा आपकी सभा देवताओं [की सभा] के समान है, यह बड़े आनन्द [या आश्चर्य] की बात है ॥३८८॥

पद्मबन्धमें इस श्लोकको निम्नलिखितप्रकार लिखा जाता है—
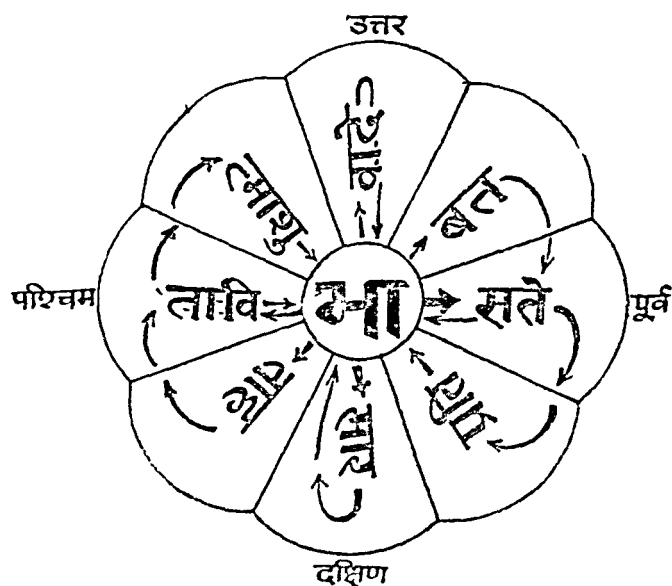
रसासार ! रसा सारसायताक्ष ! क्षतायसा ।
सातावात ! तवातासा रक्षतस्त्वस्त्वतक्षर ! ॥ ३८९ ॥
(सर्वतोभद्रम्)

(घ) सर्वतोभद्र

इसका उदाहरण 'सर्वतोभद्र' का है। यह भी रुद्रटके 'काव्यालङ्कार'से लिया गया है। अर्थ निम्नलिखित प्रकार है -

हे पृथिवीके सार [पृथिवीमें सर्वश्रेष्ठ राजन्]! रक्षण करनेवाले [रक्षतः तव] आपकी [रसा] पृथिवी [क्षतायसा, क्षतः नाशितः अयः शुभावहविधिर्येषां ते क्षतायाः दुर्जनाः तान् स्यति अन्तं प्रापयति (षोऽन्तकर्मणि) तादृशी क्षतायसा] दुष्टोंका अन्त करनेवाली और [तु शब्द च के अर्थमें है। अतासा, तसु उपक्षये इस धातुसे अतासा पद बना है, न विद्यते तासः उपक्षयो यस्याः सा अतासा] उपद्रव तथा उपक्षयसे रहित है। [यह मुख्य वाक्यका अर्थ है। शेष 'सारसायताक्ष', 'सातावात' तथा 'अतक्षर' ये तीन सम्बोधनात्मक विशेषण हैं। इनका अर्थ 'सारसं कमलं तद्वत् आयते विशाले अक्षिणी यस्य तादृश, सातावात सातं नाशितं अवातं अज्ञानं येन तादृश, अवात शब्द, वा गतिगन्धनयो', धातुसे बना है। 'गतेरर्थाः ज्ञानं गमनं प्राप्तिश्चेति' इस सिद्धान्तके अनुसार यहाँ 'वा' धातुका ज्ञानरूप अर्थ किया गया है। अथवा 'साते सुखे अवात अचञ्चल', अनासक्त यह 'सातावात'की दूसरी व्युत्पत्ति भी हो सकती है और 'अतक्षम् अनल्पं राति ददाति इति अतक्षर' ये तीन सम्बोधन विशेषण राजाके हैं] ॥३८९॥

सर्वतोभद्रके उदाहरणमें इस श्लोकके चारों चरणोंके अक्षरोंको साधारणरूपसे अलग-अलग करके चार पंक्तियोंमें लिख देना ही पर्याप्त होता है। इसकी रचनामें यह विशेषता होती है कि १. प्रत्येक चरणोंको सीधी ओरसे अथवा उल्टी ओरसे चाहे किसी ओरसे पढ़ा जाये, एक ही प्रकारका पाठ उपलब्ध होता है, जैसे इसी उदाहरणमें। २. इसी प्रकार प्रत्येक पादके आरम्भिक चार तथा अन्तिम चार अक्षरोंको भी अनुलोम-विलोम सीधे-उल्टे किसी रूपसे पढ़नेपर एक पाठ रहता है। इसी प्रकार ३. चारों पादोंके प्रथम और अष्टम अक्षरकी पंक्तियोंको ऊपरसे नीचे या नीचेसे ऊपरकी ओर पढ़नेसे श्लोकका पाठ अक्षरोंका प्रथम चरण बन जायगा। ४. इसी प्रकार प्रत्येक पादके द्वितीय तथा सप्तम अक्षरोंको ऊपरसे नीचे या नीचेसे ऊपर किसी भी रूपमें पढ़नेपर श्लोकका दूसरा चरण बन जायगा। ५ इसी प्रकार चरणोंके तीसरे, छठे अक्षर, और चौथे तथा पाँचवें अक्षरोंको ऊपर-नीचे किसी भी ओरसे पढ़नेपर श्लोकका तीसरा तथा चौथा चरण बन जाता है। इस प्रकार सर्वतो-भद्रमें अनेक प्रकारसे घुमा-फिराकर एक श्लोकको पढ़ा जा सकता है, इसलिए इसका नाम 'सर्वतोभद्र' रखा गया है। इसका लक्षण 'तदिष्टं सर्वतोभद्रं भ्रमणं यदि सर्वतः' इसी भावनाको व्यक्त करता है। सर्वतोभद्रके इस उदाहरणको निम्नलिखित प्रकारसे लिखा जायगा।

र	सा	सा	र	र	सा	सा	र
सा	य	ता	क्ष	क्ष	ता	य	सा ।
सा	ता	वा	त	त	वा	ता	सा
र	क्ष	त	स्त्व	स्त्व	त	क्ष	र ॥

सम्भविनोऽप्यन्ये प्रभेदाः शक्तिमात्रप्रकाशका न तु काव्यरूपतां दधतीति न प्रदर्श्यन्ते ।

[सूत्र १२१] **पुनरुक्तवदाभासो विभिन्नाकारशब्दगा ।**
एकार्थतेव

भिन्नरूपसार्थकानर्थकशब्दनिष्ठमेकार्थत्वेन मुखे भासनं **पुनरुक्तवदाभासः** ।
स च—

[सू० १२२] **शब्दस्य**

सभङ्गाभङ्गरूपकेवलशब्दनिष्ठः । उदाहरणम्—

अरिवधदेहशरीरः महसा रथिसूततुरगपादातः ।
भाति सदानत्यागः स्थिरतायामवनितलतिलकः ॥३९०॥

[इसी प्रकार इस चित्र अलङ्कारके] और भेद भी हो सकते हैं, परन्तु वे कविकी शक्तिमात्रके प्रदर्शक होते हैं [लोकोत्तर चमत्कारके जनक न होनेसे] काव्यरूपताको धारण नहीं करते हैं, इसलिए यहाँ दिखलाये नहीं गये हैं ।

६. पुनरुक्तवदाभास

इस प्रकार १. वक्रोक्ति, २. अनुप्रास, ३. यमक, ४. श्लेष तथा ५. चित्र रूप पाँच शब्दालङ्कारोंके बाद छठे पुनरुक्तवदाभास अलङ्कारका निरूपण करते हैं । यह पुनरुक्तवदाभास शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार, दोनोंमें गिना जाता है, इसलिए शब्दालङ्कारोंके निरूपणके बाद तथा अगले दशम उल्लासमें अर्थालङ्कारोंका निरूपण प्रारम्भ करनेके पहिले दोनोंके बीचमें रखा गया है ।

[सूत्र १२१]—विभिन्न स्वरूपके शब्दोंमें रहनेवाली [समानार्थक न होनेपर भी] समानार्थता सी जो [प्रतीत होती] है वह पुनरुक्तवदाभास [अलङ्कार कहलाता] है ।

भिन्नरूपके [कहीं-कहीं दोनों] सार्थक और [कहीं दोनों या एकके] अनर्थक शब्दोंमें आपाततः [प्रारम्भमें] समानार्थकताकी प्रतीति [जो होती है, वह] पुनरुक्तवदाभास [अलङ्कार] होता है । और वह [शब्द तथा अर्थ, दोनोंमें रहनेवाला होता है । उनमेंसे]—

[सूत्र १२२]—शब्दका [पुनरुक्तवदाभास]—

सभङ्ग तथा अभङ्गरूप केवल शब्दमें रहता है । उदाहरण—

[अरिवधदेह [illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

अथ दशम उल्लास:

अथ काव्यप्रकाशदीपिकायां दशम उल्लासः ।

उल्लाससङ्गति

प्रथम उल्लासमें काव्यका लक्षण करते समय 'अनलङ्कृती पुनः क्वापि' यह भी 'शब्दार्थों'का एक विशेषण दिया गया था। उसको स्पष्टरूपसे समझानेके लिए अलङ्कारोंका निरूपण करना आवश्यक है, इसलिए इस ग्रन्थमें अलङ्कारोंका समावेश आवश्यक हुआ। इन अलङ्कारोंके शब्दालङ्कार, अर्थालङ्कार तथा उभयालङ्कार नामसे तीन भेद किये गये हैं। जो अलङ्कार शब्दपरिवृत्त्यसह होते हैं, अर्थात् किन्हीं विशेष शब्दोंके रहनेपर ही जो अलङ्कार रहते हैं और उन विशेष शब्दोंको बदलकर यदि उनके स्थानपर उनके पर्यायवाचक दूसरे शब्द रख दिये जायँ तो उन अलङ्कारोंकी स्थिति नहीं रहती है, वे अलङ्कार उन विशेष शब्दोंके ही आश्रित होनेसे शब्दालङ्कार कहलाते हैं। और जो अलङ्कार शब्दपरिवृत्तिसह होते हैं अर्थात् यदि उन शब्दोंका परिवर्तन करके उनके समानार्थक दूसरे शब्द प्रयुक्त कर दिये जायँ तो भी अलङ्कारोंकी कोई हानि नहीं होती है वे अलङ्कार शब्दाश्रित न होकर अर्थके आश्रित होते हैं। इसलिए अर्थालङ्कार कहलाते हैं। विगत नवम उल्लासमें ग्रन्थकारने १. वक्रोक्ति, २. अनुप्रास, ३. यमक, ४. श्लेष और ५. चित्र नामक पाँच अलङ्कार तथा ६. पुनरुक्तवदाभास नामक उभयालङ्कार इन छह अलङ्कारोंका निरूपण किया था। अब इस दशम उल्लासमें ६१ प्रकारके अर्थालङ्कारोंका निरूपण करते हैं।

अलङ्कारसंख्याके विषयमें मतभेद

इस प्रकार 'काव्यप्रकाश'में पाँच शब्दालङ्कार, ६१ अर्थालङ्कार और १ उभयालङ्कार कुल मिलाकर ६७ प्रकारके अलङ्कारोंका निरूपण किया गया है। परन्तु अलङ्कारोंकी संख्या भिन्न-भिन्न आचार्योंके मतमें अलग-अलग पायी जाती है। भरत-नाट्यशास्त्रमें उपमा, रूपक, दीपक तथा यमक केवल इन चार ही अलङ्कारोंका वर्णन पाया जाता है। वामनने उनके ३३ भेद दिखलाये हैं। दण्डीने ३५ प्रकारके, भामहने ३९ प्रकारके और उद्भटने ४० प्रकारके अलङ्कारोंका वर्णन किया है। रुद्रटने अपने 'काव्यालङ्कार'में ५२ तथा काव्यप्रकाशकारने ६७ प्रकारके अलङ्कारोंके भेद दिखलाये हैं। जयदेवके 'चन्द्रालोक'में अलङ्कारोंकी संख्या १०० हो गयी है और उनके व्याख्याकार अप्पय्यदीक्षितने 'कुवलयानन्द'में उसको बढ़ाकर १२४ तक पहुँचा दिया है। इसका संग्रह हमने निम्नलिखितप्रकार किया है—

उपमा रूपकं चैव दीपको यमकस्तथा।
चत्वार एवालङ्कारा भरतेन निरूपिताः ॥ १ ॥
वामनेन त्रयस्त्रिंशद् भेदास्तस्य निरूपिताः।
पञ्चत्रिंशद्विधश्चाथ दण्डिना प्रतिपादितः ॥ २ ॥
नवत्रिंशद्विधश्चाथ भामहेन प्रकीर्तितः।
चत्वारिंशद्विधश्चैव उद्भटेन प्रदर्शितः ॥ ३ ॥
द्विपञ्चाशद्विधः प्रोक्तो रुद्रटेन ततः परम्।
सप्तषष्टिविधः प्रोक्तः प्रकाशे मम्मटेन च ॥ ४ ॥
शतधा जयदेवेन विभक्तो दीक्षितेन च।
चतुर्विंशतिभेदास्तु कृता एकशतोत्तराः ॥ ५ ॥

१७ (वाक्यार्थगत) निदर्शना [का० १०], १८ व्यतिरेक [का० १७], १९ (श्लेषप्रधान) सहोक्ति [का० २६], २० विनोक्ति [का० २७], २१ समासोक्ति [का० ९], २२ (विशेषण-विच्छित्त्याश्रय) परिकर [का० ३६], २३ (विशेष्य विच्छित्त्याश्रय) परिकराङ्कुर [का० अनुक्त], २४ [विशेषण विशेष्य-विच्छित्त्याश्रय) श्लेष [का० ८], २५ अप्रस्तुतप्रशंसा [का० २९], २६ अर्थान्तरन्यास [का० २२], २७ पर्यायोक्ति [का० ३१], २८ व्याजस्तुति [का० २५], २९ आक्षेप [का० १८]।

२ विरोधमूलक ग्यारह अलङ्कार—३० विरोध [या विरोधाभास का० २३], ३१ विभावना [का० १९], ३२ विशेषोक्ति [का० २०], ३३ असङ्गति [का० ४४], ३४ विषम [का० ४७], ३५ सम [का० ४६], ३६ विचित्र [का० अनुक्त], ३७ अधिक [का० ४८], ३८ अन्योन्य [का० ४०], ३९ विशेष [का० ५६], ४० व्याघात [का० ५९]।

३. शृङ्खलाबन्धमूलक तीन अलङ्कार—४१ कारणमाला [का० ३९], ४२ एकावली [का० ६१] मालादीपक [का० १५, पदार्थगत दीपक ऊपर सं० १४ पर आ चुका है], ४३ सार [का० ४३]।

४. तर्कन्यायमूलक दो अलङ्कार—४४ काव्यलिङ्ग [का० ३०], ४५ अनुमान [का० ३५]।

५. वाक्यन्यायमूलक आठ अलङ्कार—४६ यथासंख्य [का० २०], ४७ पर्याय [का० [illegible]], ४८ परिवृत्ति [का० २८], ४९ परिसंख्या [का० ३८], ५० अर्थापत्ति [का० अनुक्त], ५१ विकल्प [का० अनुक्त], ५२ समुच्चय [का० ३३], ५३ समाधि [का० ४५]।

६ लोकन्यायमूलक सात अलङ्कार—५४ प्रत्यनीक [का० ४९], ५५ प्रतीप [का० [illegible]], ५६ [illegible] [का० ५०], ५७ सामान्य [का० ५५], ५८ तद्गुण [का० ५७], ५९ अतद्गुण [का० [illegible]], ६० [illegible] [का० [illegible]]।

७ [illegible] सात अलङ्कार—६१ सूक्ष्म [का० [illegible]], ६२ व्याजोक्ति [का० [illegible]], ६३ [illegible] [का० अनुक्त], ६४ स्वभावोक्ति [का० [illegible]], ६५ भाविक [का० २९], ६६ [illegible] ६७ [illegible] [का० [illegible]]।

[illegible]

[illegible]

अग्रिमा पूर्णा ।

यथेवादिशब्दा यत्परास्तस्यैवोपमानताप्रतीतिरिति यद्यप्युपमानविशेषणान्येते तथापि शब्दशक्तिमहिम्ना श्रुत्यैव षष्ठीवत् सम्बन्धं प्रतिपादयन्तीति तत्सद्भावे श्रौती उपमा । तथैव 'तत्र तस्येव' इत्यनेन इवार्थे विहितस्य वतेरुपादाने ।

'तेन तुल्यं मुखम्' इत्यादावुपमेये एव 'तत्तुल्यमस्य' इत्यादौ चोपमाने

[कारिकामें आये हुए] अग्रिमा [शब्दका अर्थ] पूर्णा [है]।

श्रौती तथा आर्थी पूर्णोपमाका भेद

उपमावाचक शब्दोंमें यथा, इव, वा आदि शब्दों तथा तुल्य, सदृश आदि शब्दोंके अर्थ-बोधनमें कुछ भेद पाया जाता है । यथा, इव, वा आदि शब्द उपमानके विशेषण होते हैं और सुननेके साथ ही साधारणधर्मके सम्बन्धरूप सादृश्यका बोध करा देते हैं, इसलिए उनके प्रयोगमें 'श्रौती' उपमा कहलाती है । इसके विपरीत तुल्य, सदृश आदि दूसरे प्रकारके उपमावाचक शब्द कभी उपमानके साथ, कभी उपमेयके साथ, कभी दोनोंके साथ अन्वित होते हैं । इसलिए उनमें विचार करनेके बाद साधारणधर्मके सम्बन्धकी प्रतीति होती है, इसलिए उनके प्रयोगमें 'आर्थी' उपमा मानी जाती है । वाक्यगत और समासगत श्रौती तथा आर्थी उपमाका भेद इन यथा, इव, वा आदि तथा तुल्य, सदृश आदि शब्दोंके प्रयोगके आधारपर ही होता है ।

'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' [अष्टा० ५, १, ११५] तथा 'तत्र तस्येव' [५, १, ११६] इन दो सूत्रोंसे वति प्रत्यय होनेपर तद्धितगत उपमा बनती है । इनमें 'तत्र तस्येव'से इवार्थमें वति प्रत्यय होनेसे 'श्रौती' तथा 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' से तुल्यार्थमें वति प्रत्यय होनेसे 'आर्थी' उपमा होती है । 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वति' में जो वति प्रत्यय होता है वह उपमान तथा उपमेयके क्रियासाम्यमें ही होता है और तृतीयान्त शब्दसे होता है । गुण और द्रव्यादिका साम्य होनेपर 'तत्र' और 'तस्य' अर्थात् सप्तम्यन्त तथा षष्ठ्यन्त शब्दसे वति प्रत्यय 'तत्र तस्येव' इस सूत्रसे होता है, और उस दशामें श्रौती उपमा होती है । 'मथुरावत् पाटलिपुत्रे प्राकार' यहाँ 'मथुरायाम् इव' इस सप्तम्यन्तसे वति प्रत्यय होकर [illegible] सादृश्यमें 'मथुरावत्' प्रयोग बना है । 'मथुरावत् पाटलिपुत्रस्य [illegible]' यहाँ [illegible] सादृश्यमें 'मथुराया इव' इस षष्ठ्यन्तसे वति प्रत्यय होकर 'मथुरा[illegible]' [illegible] है । इस प्रकार श्रौती उपमामें द्रव्य या गुणका सादृश्य विवक्षित होता है और षष्ठी या सप्तमी [illegible] वति प्रत्यय होता है । इसके विपरीत आर्थी उपमामें क्रियाकृत साम्य [illegible] है और [illegible] वति प्रत्यय होता है । [illegible] तथा आर्थी [illegible] [illegible] —

यथा, इव, वा इत्यादि शब्द जिसके बाद आते हैं [illegible] उपमानत्वकी प्रतीति होती है इसलिए यद्यपि ये उपमानके विशेषण होते हैं फिर भी [illegible] [illegible] [illegible] [सम्बन्ध] [सादृश्य] [illegible] [illegible] 'आर्थी' उपमा होती है । इसी प्रकार 'तत्र तस्येव' [illegible] इव [तुल्य] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ।

[illegible]

एव 'इदं च तच्च तुल्यम्' इत्युभयत्रापि तुल्यादिशब्दानां विश्रान्तिरिति साम्यपर्यालोचनया तुल्यताप्रतीतिरिति साधर्म्यस्यार्थत्वात् तुल्यादिशब्दोपादाने आर्थी । तद्वत् 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' इत्यनेन विहितस्य वतेः स्थितौ ।

'इवेन नित्यसमासो विभक्त्यलोपः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च' इति नित्यसमासे इवशब्दयोगे समासगा । क्रमेणोदाहरणम् ।

(१) स्वप्नेपि समरेषु त्वां विजयश्रीर्न मुञ्चति ।
प्रभावप्रभवं कान्तं स्वाधीनपतिका यथा ॥३९३॥

[उपमावाचक तुल्यपदका सम्बन्ध मुखरूप] उपमेयमें ही [प्रतीत होता है]। 'वह [कमल] इस [मुख] के तुल्य है' इत्यादि [उदाहरणों] में [उपमावाचक तुल्य पदका सम्बन्ध कमलरूप [उपमानमें ही [प्रतीत होता है]। और 'यह [कमल]तथा वह [मुख] समान है' यहाँ [मुख तथा कमल] दोनों [के साथ सम्बन्ध] मे तुल्य आदि पदोकी विश्रान्ति [पर्यवसान] होती है, इसलिए साधारणधर्मके सम्बन्धका विचार करनेपर ही [तुल्ययोर्भाव'] तुल्यताकी प्रतीति होती है। इसलिए [तुल्यादि पदोके प्रयोगमें] साधर्म्यके इवादिके [समान वाच्य न होकर] 'आर्थ' होनेसे तुल्यादि शब्दोका प्रयोग होनेपर 'आर्थी' [उपमा] होती है। इसी प्रकार 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' [अष्टा० ५, १, ११५] इस [सूत्र] से [क्रियामात्रके साम्यमे तृतीयान्तसे विहित] वति-प्रत्ययके प्रयोगमें भी [आर्थी उपमा होती] है।

वाक्यगा श्रौती तथा आर्थी पूर्णोपमा

[सह सुपा २. ४, ७१ इस पाणिनिसूत्रके महाभाष्यमें दिये हुए कात्यायनकृत वार्तिकके अनुसार] 'इवके साथ [उपमान-पदका] नित्यसमास [और समास होनेपर भी] विभक्तिका अलोप तथा पूर्वपदका प्रकृतिस्वरत्व होता है', इस [नियम] से नित्यसमासमें इव शब्दका प्रयोग होनेपर 'समासगा' [श्रौती और तुल्य आदि पदोके साथ समास होनेपर आर्थी समासगा उपमा होती है। शेष स्थलोपर इव आदिके प्रयोगमे वाक्यगा श्रौती तथा तुल्य आदिका प्रयोग होनेपर वाक्यगा आर्थी उपमा होती है]।

[श्रौती तथा आर्थी उपमाके इन छह भेदोंके] क्रमशः उदाहरण [आगे देते हैं]—

(१) स्वाधीनपतिका [नायिका] के समान विजयश्री प्रभाव [प्रभुशक्ति] के कारणभूत [प्रभव] आपको स्वप्नमें भी युद्धोंमें नहीं छोड़ती है ॥३९३॥

इसमें 'स्वाधीनपतिका यथा' यह वाक्यगा श्रौती उपमा मानी है। 'स्वाधीनपतिका' उपमान है, 'विजयश्रीः' उपमेय, 'न मुञ्चति' यह अपरित्यागरूप साधारणधर्म और 'यथा' यह उपमावाचक शब्द है। अतः यह पूर्णोपमा है। 'यथा' शब्दका प्रयोग होनेपर साधारणतः 'अव्यय विभक्ति, इत्यादि [२, १, ६] सूत्रसे नित्य अव्ययीभाव समास होता है। तदनुसार अव्ययीभाव समास होनेपर यह वाक्यगा श्रौती उपमाका उदाहरण न होकर समासगाका उदाहरण होना चाहिये। इस प्रकारकी शङ्का यहाँ हो सकती है। परन्तु वह उचित नहीं है। 'अव्यय विभक्ति' इत्यादि सूत्रमें जो 'यथा'के साथ समासका विधान किया गया है वह सादृश्यसे भिन्न अर्थ होनेपर ही होता है। सादृश्यपरक 'यथा' शब्दके प्रयोगमें यह समास नहीं होता है यह बात 'यथाऽसादृश्ये २, १, ७ इस अगले सूत्रमे

(४) अवितथमनोरथपथप्रथनेषु प्रगुणगरिमगीतश्रीः ।
सुरतरुसदृशः स भवानभिलषणीयः क्षितीश्वर ! न कस्य ॥३९६॥
(५-६) गाम्भीर्यगरिमा तस्य सत्यं गङ्गाभुजङ्गवत् ।
दुरालोकः स समरे निदाघाम्बररत्नवत् ॥३९७॥

'इव' उपमाप्रतिपादक शब्द है। 'इवेन नित्यसमासो विभक्त्यलोपः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्व च' इस वार्तिकके अनुसार यहाँ 'भुजेः' इस उपमानपदके साथ 'इव' इस उपमावाचक पदका नित्यसमास होनेसे यह समासगा श्रौती उपमाका उदाहरण होता है।

समासगा श्रौती उपमाका उदाहरण देनेके बाद समासगा आर्थी उपमाका उदाहरण देते हैं—

(४) अव्यर्थ मनोरथ-मार्गोंके विस्तारमें प्रकृष्ट गुण-गरिमाके कारण जिसकी समृद्धि प्रसिद्ध है [अर्थात् आपके पास आनेवाले याचकोंके मनोरथ कभी व्यर्थ नहीं होते। उन्हें अपने मनोरथके अनुसार धन-धान्यादि अवश्य प्राप्त होता है ऐसी आपकी लक्ष्मीकी प्रसिद्धि है]। इसलिए कल्पवृक्षके समान हे राजन् ! आप किसकी अभिलाषा या कामनाके विषय नहीं हैं [हर एक व्यक्ति आपको चाहता है] ॥३९६॥

इसमें 'सुरतरु' उपमान, क्षितीश्वर' उपमेय, 'प्रगुणगरिमगीतश्रीत्व' तथा 'अभिलषणीयत्व' साधारणधर्म एव 'सदृश' उपमावाचक शब्द है। 'सुरतरुसदृशः'में उपमान तथा उपमावाचक पदोंका समास होनेसे यह समासगा आर्थी उपमाका उदाहरण हुआ।

तद्धितगा श्रौती तथा आर्थी पूर्णोपमा

१. वाक्यगा श्रौती, २. वाक्यगा आर्थी, ३ समासगा श्रौती, ४. समासगा आर्थी इन चारों प्रकारकी पूर्णोपमाओंके उदाहरण देनेके बाद अब तद्धितगा श्रौती तथा आर्थी दोनों प्रकारकी तद्धितगा पूर्णोपमाका एक ही उदाहरणमें प्रयोग दिखलाते हैं—

(५-६) उस राजाके गाम्भीर्यकी गरिमा सचमुच [गङ्गाके उपपति अर्थात्] समुद्र [गङ्गाके वास्तविक पति शान्तनु थे इसलिए समुद्र गङ्गाका भुजङ्ग उपपति हुआ] के समान है और- युद्धभूमिमें वह ग्रीष्मकालके सूर्यके समान बड़ी कठिनाईसे देखा जा सकता है ॥३९७॥

यहाँ श्लोकके पूर्वार्द्धमें 'गङ्गाभुजङ्ग' अर्थात् 'समुद्र' उपमान, 'तस्य' उपमेय 'गाम्भीर्यगरिमा' साधारणधर्म तथा 'गङ्गाभुजङ्गस्य इव इति गङ्गाभुजङ्गवत्' इस विग्रहमें 'तत्र तस्येव' सूत्र द्वारा षष्ठ्यन्त 'गङ्गाभुजङ्गस्य' पदसे इवार्थमें वति-प्रत्यय होनेसे यह तद्धितगा श्रौती पूर्णोपमाका उदाहरण होता है।

श्लोकके उत्तरार्द्धमें 'निदाघाम्बररत्न' उपमान, 'स.' उपमेय, 'दुरालोकत्व' साधारणधर्म तथा 'निदाघाम्बररत्नवत्'में निदाघाम्बररत्नेन तुल्यम् इति निदाघाम्बररत्नवत्' इस विग्रहमें तृतीयान्त 'निदाघाम्बररत्नेन' पदसे 'तेन तुल्य क्रिया चेद्वतिः' इस सूत्र द्वारा वति प्रत्यय होनेसे यह तद्धितगा आर्थी पूर्णोपमाका उदाहरण होता है।

अलङ्कारस्थलमें व्यङ्ग्यकी चारुताप्रयोजकता

प्रथम उल्लासमें ग्रन्थकारने यह लिखा था कि 'गुणालङ्कारयुक्तमव्यङ्ग्य चित्रम्' अर्थात् गुण और अलङ्कारसे युक्त काव्य व्यङ्ग्यरहित होनेसे चित्रकाव्य कहलाता है। इसी प्रकार पृष्ठ ८

(२) चकितहरिणलोललोचनायाः क्रुधि तरुणारुणतारहारिकान्ति ।
सरसिजमिदमाननं च तस्याः सममिति चेतसि सम्मदं विधत्ते ॥३९४॥

(३) अत्यायतैर्नियमकारिभिरुद्धतानां दिव्यैः प्रभाभिरनपायमयैरुपायैः ।
शौरिर्भुजैरिव चतुर्भिरदः सदा यो लक्ष्मीविलासभवनैर्भुवनं बभार ॥३९५॥

स्पष्ट कर दी गयी है । इसलिए 'शक्तिमनतिक्रम्य इति यथाशक्ति' इत्यादि प्रयोगोंमें ही यथा शब्दके साथ अव्ययीभाव समास होता है । सादृश्यार्थमें 'यथा' शब्दका प्रयोग होनेपर समास नहीं होता है । इसलिए यह वाक्यगा श्रौती उपमाका ही उदाहरण है, समासगाका नहीं ।

वाक्यगा श्रौतीके उदाहरणके बाद वाक्यगा आर्थी उपमाका उदाहरण देते हैं—

(२) चकित [भयभीत] हरिणीके समान चञ्चल नेत्रवाली उस [नायिका] का क्रोधमें प्रातःकालीन [तरुण] अरुण [सूर्यसारथि] के समान [तार] अत्यन्त सुन्दर कान्तिवाला [क्रोधसे आरक्त] मुख और यह [हाथमें लिया हुआ] कमल दोनों एक-से [सम] हो रहे हैं । इसलिए [क्रोधसे आरक्त नायिकाका मुख नायकके] मनमें आनन्द उत्पन्न करता है ॥३९४॥

इसमें सरसिज उपमान है, आनन उपमेय है, अरुणके समान कान्तिमत्त्व साधारणधर्म और 'समम्' यह उपमावाचक शब्द है । 'सम'के साथ समास न होनेसे वाक्यगा श्रौती उपमा है ।

समासगा श्रौती तथा आर्थी पूर्णोपमा

पूर्णोपमामें उपमान, उपमेय, साधारणधर्म तथा उपमावाचक शब्द इन चारोंका शब्दतः उपादान होता है । ये चारों जब अलग-अलग कहे जाते हैं तब वाक्यगा पूर्णा उपमा होती है और जब इनमेंसे किन्हीं दोका समास हो जाता है तब समासगा श्रौती पूर्णोपमा बन जाती है । वाक्यगा श्रौती तथा आर्थी उपमाके उदाहरण देनेके बाद समासगा श्रौती उपमाका उदाहरण देते हैं—

(३) [शूरस्य तन्नामकस्य यादवविशेषस्य गोत्रापत्यं पुमान् शौरिः] श्रीकृष्ण जिस प्रकार [विष्णुरूपमें अपनी] चार भुजाओंसे संसारको धारण करते हैं इस प्रकार राजा [साम, दान, दण्ड तथा भेदरूप] चार उपायोंसे सदा संसारका पालन करता था। [यह मुख्य वाक्यार्थ है । शेष पाँच विशेषण हैं जो विष्णुकी भुजाओं तथा सामादि उपायों, दोनोंके पक्षमें लगते हैं । जैसे १. अत्यायतैः अर्थात् बाहुपक्षमें अत्यन्त लम्बे [आजानुलम्बी] बाहुओं तथा [उपायपक्षमें] अत्यन्त शुभ परिणामवाले [आयतिः उत्तर-कालः] उपायोंसे, २. उद्धतोंका नियन्त्रण करनेवाले [बाहुओं तथा उपायोंसे यह विशेषण दोनों पक्षोंमें समान ही रहता है], ३. दिव्य अर्थात् अलौकिक [बाहुओं तथा उपायपक्षमें उत्कृष्ट उपायोंसे], ४. प्रभाभिः कान्तियों [से उपलक्षित बाहुओं] तथा प्रभावसे युक्त उपायोंसे [अथवा 'प्रकर्षेण भान्तीति प्रभाः तैः' इस व्युत्पत्तिसे दोनों पक्षोंमें उत्तम शोभायुक्त बाहुओं तथा उपायोंसे] तथा ५. [अनपायमयैः अपायाभाव-प्रचुरैः अर्थात्] सनातन तथा सदा सफल होनेवाले एवं ६. लक्ष्मी [विष्णु-पत्नी तथा सम्पत्ति] के आधारभूत [चार] बाहुओंके समान [सामादि चार] उपायोंसे [जो राजा सदा संसारका पालन करता था] ॥३९५॥

इसमें 'भुजैः' उपमान है, 'उपायैः' उपमेय है। 'अत्यायतत्वादि' साधारणधर्म तथा

(४) अवितथमनोरथपथप्रथनेषु प्रगुणगरिमगीतश्रीः ।
सुरतरुसदृशः स भवानभिलषणीयः क्षितीश्वर ! न कस्य ।।३९६।।
(५-६) गाम्भीर्यगरिमा तस्य सत्यं गङ्गाभुजङ्गवत् ।
दुरालोकः स समरे निदाघाम्बररत्नवत् ।।३९७।।

'इव' उपमाप्रतिपादक शब्द है। 'इवेन नित्यसमासो विभक्त्यलोपः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च' इस वार्तिकके अनुसार यहाँ 'भुजे' इस उपमानपदके साथ 'इव' इस उपमावाचक पदका नित्यसमास होनेसे यह समासगा श्रौती उपमाका उदाहरण होता है।

समासगा श्रौती उपमाका उदाहरण देनेके बाद समासगा आर्थी उपमाका उदाहरण देते हैं—

(४) अव्यर्थ मनोरथ-मार्गोंके विस्तारमें प्रकृष्ट गुण-गरिमाके कारण जिसकी समृद्धि प्रसिद्ध है [अर्थात् आपके पास आनेवाले याचकोंके मनोरथ कभी व्यर्थ नहीं होते। उन्हें अपने मनोरथके अनुसार धन-धान्यादि अवश्य प्राप्त होता है ऐसी आपकी लक्ष्मीकी प्रसिद्धि है]। इसलिए कल्पवृक्षके समान हे राजन्! आप किसकी अभिलाषा या कामनाके विषय नहीं हैं [हर एक व्यक्ति आपको चाहता है] ॥३९६॥

इसमें 'सुरतरु' उपमान, 'क्षितीश्वर' उपमेय, 'प्रगुणगरिमगीतश्रीत्व' तथा 'अभिलषणीयत्व' साधारणधर्म एवं 'सदृश' उपमावाचक शब्द है। 'सुरतरुसदृशः'में उपमान तथा उपमावाचक पदोंका समास होनेसे यह समासगा आर्थी उपमाका उदाहरण हुआ।

तद्धितगा श्रौती तथा आर्थी पूर्णोपमा

१. वाक्यगा श्रौती, २. वाक्यगा आर्थी, ३. समासगा श्रौती, ४. समासगा आर्थी इन चारों प्रकारकी पूर्णोपमाओंके उदाहरण देनेके बाद अब तद्धितगा श्रौती तथा आर्थी दोनों प्रकारकी तद्धितगा पूर्णोपमाका एक ही उदाहरणमें प्रयोग दिखलाते हैं—

(५-६) उस राजाके गाम्भीर्यकी गरिमा सचमुच [गङ्गाके उपपति अर्थात्] समुद्र [गङ्गाके वास्तविक पति शान्तनु थे इसलिए समुद्र गङ्गाका भुजङ्ग उपपति हुआ] के समान है और युद्धभूमिमें वह ग्रीष्मकालके सूर्यके समान बड़ी कठिनाईसे देखा जा सकता है ॥३९७॥

यहाँ श्लोकके पूर्वार्द्धमें 'गङ्गाभुजङ्ग' अर्थात् 'समुद्र' उपमान, 'तस्य' उपमेय 'गाम्भीर्यगरिमा' साधारणधर्म तथा 'गङ्गाभुजङ्गस्य इव इति गङ्गाभुजङ्गवत्' इस विग्रहमें 'तत्र तस्येव' सूत्र द्वारा षष्ठ्यन्त 'गङ्गाभुजङ्गस्य' पदसे इवार्थमें वति-प्रत्यय होनेसे यह तद्धितगा श्रौती पूर्णोपमाका उदाहरण होता है।

श्लोकके उत्तरार्द्धमें 'निदाघाम्बररत्न' उपमान, 'स' उपमेय, 'दुरालोकत्व' साधारणधर्म तथा 'निदाघाम्बररत्नवत्'में निदाघाम्बररत्नेन तुल्यम् इति निदाघाम्बररत्नवत्' इस विग्रहमें तृतीयान्त 'निदाघाम्बररत्नेन' पदसे 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' इस सूत्र द्वारा वति प्रत्यय होनेसे यह तद्धितगा आर्थी पूर्णोपमाका उदाहरण होता है।

अलङ्कारस्थलमें व्यङ्ग्यकी चारुताप्रयोजकता

प्रथम उल्लासमें ग्रन्थकारने यह लिखा था कि 'गुणालङ्कारयुक्तमव्यङ्ग्यं चित्रम्' अर्थात् गुण और अलङ्कारसे युक्त काव्य व्यङ्ग्यरहित होनेसे चित्रकाव्य कहलाता है। इसी प्रकार पञ्च उल्लासके

स्वाधीनपतिका कान्तं भजमाना यथा लोकोत्तरचमत्कारभूः, तथा जयश्रीस्त्वदासेवनेनेत्यादिना प्रतीयमानेन विना यद्यपि नोक्तेर्वैचित्र्यम्, वैचित्र्यं चालङ्कारः तथापि न ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्यव्यवहारः। न खलु व्यङ्ग्यसंस्पर्शपरामर्शादत्र चारुताप्रतीतिः अपि तु वाच्यवैचित्र्यप्रतिभासादेव। रसादिस्तु व्यङ्ग्योऽर्थोऽलङ्कारान्तरं च सर्वत्राव्यभिचारीति अगणयित्वैव तदलङ्कारा उदाहृताः। तद्रहितत्वेन तु उदाह्रियमाणा विरसतामावहन्तीति पूर्वापरविरुद्धाभिधानमिति न चोदनीयम्।

अन्तमें लिखा था कि 'तत्र च [चित्रकाव्ये] शब्दार्थालङ्कारभेदाद् बहवो भेदाः, ते चालङ्कारनिर्णये निर्णेष्यन्ते।' अर्थात् शब्दालङ्कार, अर्थालङ्कार आदि रूपसे चित्रकाव्यके बहुत-से भेद हो सकते हैं। उनका निरूपण अलङ्कारोंके निर्णयके अवसरपर करेंगे। इन दोनों स्थलोंके उल्लेखसे यह प्रतीत होता है कि १. सभी अलङ्कार चित्रकाव्यके उदाहरण होते हैं और २. वे सब व्यङ्ग्यसे रहित होते हैं। इन दोनों बातोंका यहाँ प्रकृत उदाहरणोंमें विरोध पाया जाता है। क्योंकि 'स्वाधीनपतिका यथा' इत्यादि उपमालङ्कारके उदाहरणमें स्वाधीनपतिका नायिका पतिके साथ रमण करती हुई जिस प्रकार लोकोत्तर आनन्दका अनुभव करती है उसी प्रकार विजयश्री तुम्हारा सेवन करनेसे अलौकिक आनन्दको प्राप्त करती है इत्यादि व्यङ्ग्य अर्थकी प्रतीति इस उदाहरणमें भी होती है। उस व्यङ्ग्य अर्थको यदि प्रधान माना जाय तो यह श्लोक ध्वनिकाव्यका उदाहरण बन जायगा और उसके अप्रधान होनेपर वह गुणीभूतव्यङ्ग्यका उदाहरण बन जायगा। इसलिए अलङ्कारयुक्त होनेपर भी वह चित्रकाव्यका उदाहरण नहीं हो सकता है। अपितु इसको ध्वनिकाव्य अथवा गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्यका ही उदाहरण मानना चाहिये। अलङ्कारोंको व्यङ्ग्यरहित और चित्रकाव्य जो कहा है वह उचित नहीं है इस प्रकारके पूर्वापरविरोधका यहाँ अनुभव होता है। इस शङ्काका परिहार करनेके लिए ग्रन्थकारने अगला अनुच्छेद लिखा है। समाधानका आशय यह है कि यद्यपि इस उदाहरणमें व्यङ्ग्य अर्थका संसर्ग अवश्य है परन्तु श्लोकका चमत्कार उस व्यङ्ग्यार्थके सम्पर्कके कारण नहीं अपितु उपमावाचक 'यथा' आदि पदसे वाच्यवैचित्र्यके कारण ही है। इसलिए उसे ध्वनि या गुणीभूतव्यङ्ग्य नहीं कहा जा सकता है। उसे अलङ्कारप्रधान होनेसे उपमा-चित्र ही कहना चाहिये। इसलिए यहाँ पूर्वापरविरोधकी शङ्का करना उचित नहीं है। इसी बातको ग्रन्थकी पंक्तियोंमें इस प्रकार कहा गया है—

स्वाधीनपतिका [नायिका] पतिके साथ [रमण करती हुई] जिस प्रकार लोकोत्तर आनन्दका अनुभव करती है उसी प्रकार जयश्री आपका सेवन करनेसे [अलौकिक आनन्दको प्राप्त करती है] इत्यादि व्यङ्ग्य [प्रतीयमान अर्थ] के विना यद्यपि उक्तिमें चमत्कार नहीं आता है, और [उक्तिका] वैचित्र्य ही अलङ्कार है। [इसलिए यदि व्यङ्ग्यका संस्पर्श यहाँ न हो तो अलङ्कार भी नहीं हो सकता है। और यदि व्यङ्ग्यका संस्पर्श है तब या तो यह ध्वनिकाव्य होगा या गुणीभूतव्यङ्ग्य] तो भी यहाँ ध्वनि या गुणीभूतव्यङ्ग्यका व्यवहार नहीं किया जाता है। [अर्थात् इसको ध्वनिकाव्य या गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि] यहाँ व्यङ्ग्यार्थके संस्पर्शमात्रसे चारुताकी प्रतीति नहीं होती है अपितु [यथा आदि उपमा-वाचक पदोंसे] वाच्य [उपमा अलङ्कार] के वैचित्र्यसे ही [चारुताप्रतीति होती है। इसलिए व्यङ्ग्यका संस्पर्श होनेपर भी उपमालङ्कार ही है]।

[सूत्र १२७] तद्वद्धर्मस्य लोपे स्यान्न श्रौती तद्धिते पुनः ।

धर्मः साधारणः । तद्धिते कल्पबादौ त्वार्थ्येव । तेन पञ्च । उदाहरणम्—

(१) धन्यस्यानन्यसामान्यसौजन्योत्कर्षशालिनः ।
करणीयं वचश्चेतः ! सत्यं तस्यामृतं यथा ॥३९८॥

---

४. क्यङ् प्रत्यय होनेपर वाचकलुप्ता [नारी इव आचरति नारीयते]
५. कर्ममें णमुल्प्रत्यय होनेपर वाचकलुप्ता [निदाघघर्मांशुदर्शं पश्यति]
६. कर्तामें णमुल्प्रत्यय होनेपर वाचकलुप्ता [पार्थसञ्चारं सञ्चरति]

दो प्रकारकी उपमानलुप्ता—
१. वाक्यगा उपमानलुप्ता
२. समासगा उपमानलुप्ता

धर्म तथा वाचक दोके लोपमें दो प्रकार—
१. क्विप्गता धर्मवाचकलुप्ता
२. समासगा धर्मवाचकलुप्ता

धर्म तथा उपमानके लोपमें दो प्रकार—
१. वाक्यगा धर्मोपमानलुप्ता
२. समासगा धर्मोपमानलुप्ता

वाचक तथा उपमेय दोके लोपमें एक भेद—
१ क्यच्-प्रत्यय होनेपर वाचकोपमेयलुप्ता

उपमान, उपमावाचक तथा साधारणधर्म तीनोंका लोप—
१. तीनोंका लोप होनेपर समासगा ।

इस प्रकार लुप्तोपमाके १९ भेद होते हैं। उन्हींका वर्णन ग्रन्थकार आगे निम्नलिखित प्रकार करते हैं—

[सूत्र १२७]—उसी प्रकार [अर्थात् पूर्णोपमाके छह भेदोंके समान ही] धर्मका लोप होनेपर तद्धितगत श्रौतीको छोड़कर [धर्मलुप्ता छहके स्थानपर पाँच प्रकारकी] हो सकती है।

धर्म अर्थात् साधारणधर्म [का लोप होनेपर]। कल्पप् आदि तद्धित-प्रत्ययोंके होनेपर तो आर्थी [धर्मलुप्ता] ही होती है [श्रौती धर्मलुप्ता नहीं है]। इसलिए [श्रौती धर्मलुप्ता उपमाका तद्धितगत भेद न होनेसे धर्मलुप्ता उपमा छह प्रकारकी नहीं अपितु केवल] पाँच प्रकारकी होती है। धर्मलुप्ताके पाँचों प्रकारोंके] उदाहरण [जैसे]—

पहिला वाक्यगा श्रौती धर्मलुप्ताका उदाहरण देते हैं—

(१) असाधारण सौजन्यके उत्कर्षसे शोभायमान उस [साधु महात्मा]के अमृतके समान [परिणामसुखम और आनन्ददायक] वचन, हे चित्त ! सचमुच [पालन] करना ही चाहिये ॥३९७॥

इसमें 'अमृत' उपमान और 'वचन' उपमेय है। 'परिणामसुखत्व' आदि उनका साधारण धर्म है परन्तु अत्यन्त प्रसिद्ध होनेके कारण यहाँ उसका ग्रहण नहीं किया गया है। इसलिए यह [illegible] उदाहरण है। यहाँ 'यथा' शब्द उपमावाचक है। उसके साथ समास न होनेसे यह [illegible]

(२) आकृष्टकरवालोऽसौ सम्पराये परिभ्रमन् ।
प्रत्यर्थिसेनया दृष्टः कृतान्तेन समः प्रभुः ॥ ३९९ ॥

(३-५) करवालइवाचारस्तस्य वागमृतोपमा ।
विषकल्पं मनो वेत्सि यदि जीवसि तत्सखे ! ॥४००॥

[सूत्र १२८] उपमानानुपादाने वाक्यगाथ समासगा ॥८८॥

उदाहरण हुआ । और 'यथा' शब्दके प्रयोगके कारण श्रौती उपमा हुई । इस प्रकार यह 'वाक्यगा श्रौती धर्मलुप्ता' उपमाका उदाहरण है ।

आगे वाक्यगा आर्थी धर्मलुप्ताका उदाहरण देते हैं—

(२) हाथमें नङ्गी तलवार लिये हुए और संग्राममें घूमते हुए इस राजाको शत्रुकी सेनाने यमराजके समान देखा [समझा] ॥ ३९९ ॥

इसमें यमराज उपमान और राजा उपमेय है । उन दोनोंका साधारणधर्म अत्यन्त क्रूरत्व, प्रसिद्ध होनेके कारण, शब्दतः उपात्त नहीं हुआ है । 'आकृष्टकरवालत्व'को, उन दोनोंका साधारण-धर्म नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि यमराजका आयुध करवाल नहीं अपितु दण्ड माना जाता है । और 'दृष्टः'को भी, यमराजके अदृष्ट होनेसे, साधारणधर्म नहीं कहा जा सकता है । 'सम' शब्द उपमा-वाचक है । परन्तु उसके साथ समास न होनेसे यह वाक्यगा आर्थी धर्मलुप्ताका उदाहरण है ।

धर्मलुप्ताके पाँच भेदोंमेंसे दो भेदोंके अलग-अलग उदाहरण देकर शेष तीनों भेदोंके एक ही श्लोकमें प्रयोगका उदाहरण देते हैं । श्लोकके पूर्वार्द्धमें समासगा श्रौती तथा समासगा आर्थी धर्म-लुप्ताका तथा उत्तरार्द्धमें तद्धितगा धर्मलुप्ताका प्रयोग पाया जाता है । इस प्रकार यह एक ही श्लोक तीनों भेदोंका उदाहरण बन जाता है ।

(३-५) हे मित्र ! [उस दुष्टके चक्करमें पड़कर भी] यदि जीवित रहते हो तो तुम देखोगे कि उसका आचरण तलवारके समान, वाणी अमृतके समान और मन विषके समान है ॥ ४०० ॥

१ 'करवालइवाचारः' इसमें करवाल उपमान और आचार उपमेय है । 'घातुकत्व' उनका साधारणधर्म है, परन्तु प्रसिद्ध होनेके कारण शब्दतः उपात्त नहीं किया गया है । 'इव'के साथ समास है । इसलिए यह समासगा श्रौती धर्मलुप्ताका उदाहरण है । २. 'वागमृतोपमा' इसमें वाक् उपमेय, अमृत उपमान और माधुर्य उनका साधारणधर्म है । परन्तु वह शब्दतः नहीं कहा गया है । 'उपमा' शब्द सदृशार्थक और उपमावाचक है । उसके साथ समास होनेसे यह समासगा आर्थी धर्मलुप्ताका उदाहरण है । ३. 'विषकल्पं मनः' इसमें विष उपमान, मन उपमेय और तद्धितगा कल्पप्प्रत्यय उपमावाचक है । मारकत्व साधारणधर्म शब्दतः नहीं कहा गया है । इसलिए यह तद्धितगा आर्थी धर्मलुप्ताका उदाहरण हुआ ।

यहाँतक छह प्रकारकी पूर्णा तथा पाँच प्रकारकी धर्मलुप्ता, कुल ११ प्रकारकी उपमाका निरूपण हुआ । आगे उपमानलुप्ताके दो भेद दिखलाते हैं—

उपमानलुप्ताके दो भेद

[सूत्र १२८]—उपमानका ग्रहण न करनेपर १. वाक्यगा तथा २. [illegible]
[दो प्रकारकी उपमानलुप्ता उपमा] होती है ॥ ८८ ॥

उदाहरणम्—

(१ क) ततः कुमुदनाथेन कामिनीगण्डपाण्डुना ।
नेत्रानन्देन चन्द्रेण माहेन्द्री दिगलङ्कृता ॥४०२॥

तथा—

(१ ख) असितभुजगभीषणासिपत्रो रुहरुहिकाहितचित्ततूर्णचारः ।
पुलकिततनुरुत्कपोलकान्तिः प्रतिभटविक्रमदर्शनेऽयमासीत् ॥४०३॥

उदाहरण [जैसे]—

'महाभारत' के द्रोणपर्वमें रात्रियुद्धके प्रसङ्गमें चन्द्रोदयवर्णनपरक यह पद्य आया है। इसमें 'कामिनीगण्ड' रूप उपमानवाचक पद तथा 'पाण्डु' रूप साधारणधर्मप्रतिपादक दो पदोंके समासमें उपमावाचक पदका लोप होनेसे यह समासगा वाचकलुप्ताका उदाहरण है। श्लोकका अर्थ है—

(१ क) तब [रात्रिके या सायंकालके समय] कामिनीके कपोलस्थलके सदृश पीतवर्ण, कुमुदोंके स्वामी, नेत्रोंको आनन्द प्रदान करनेवाले चन्द्रमाने पूर्वदिशाको अलङ्कृत किया ॥ ४०१ ॥

यहाँ कामिनीगण्ड इव पाण्डु' अथवा 'कामिनीगण्डवत् पाण्डु' इस विग्रहमें 'उपमानानि सामान्यवचनैः' [अष्टा० २, १, ५५] इस सूत्रसे उपमान तथा साधारणधर्मवाचक दोनों पदोंका समास होनेपर यह 'समासगा वाचकलुप्ता' का उदाहरण होता है। इसमें समासविधायक सूत्रमें 'उपमानानि' इत्यादि कथनसे साधर्म्यकी प्रतीति हो जानेके कारण उपमावाचक इवादिके प्रयोगकी आवश्यकता नहीं रहती है। इसलिए यह वाचकलुप्ता उपमा कहलाती है।

इस उदाहरणमें उपमान तथा साधारणधर्मवाचक दो पदोंका समास हुआ है। इसलिए यह द्विपद-समासगाका उदाहरण है। अगले उदाहरणमें उपमान, उपमेय तथा साधारणधर्म, तीनोंके वाचक पदोंका समास होनेपर बहुपदसमासगा वाचकलुप्ताका प्रयोग दिखलाते हैं—

(१ ख) काले नागके समान भीषण तलवारवाला यह [वीर योद्धा] शत्रुको [सम्मुख] देखकर उत्साह [रुहरुहिका] से चित्तके व्याप्त हो जानेसे त्वरितगति, पुलकितशरीर और गालोंपर विकसित कान्तिवाला हो गया [अर्थात् शत्रुको देखकर उत्साहातिरेकसे पुलकित हो उठा] ॥ ४०२॥

इसमें 'असितभुजग' पद उपमानवाचक, 'भीषण' पद साधारणधर्मवाचक और 'असिपत्र' पद उपमेयवाचक है। इन तीनों पदोंका समास हो गया है इसलिए यह 'बहुपदसमासगा वाचकलुप्ता'का उदाहरण है।

अगले एक श्लोकमें (१) 'पौर जन सुतीयति' में कर्ममें क्यच्प्रत्यय, (२) 'समरान्तरे अन्तःपुरीयति' में आधारमें क्यच्प्रत्यय तथा (३) 'नारीयते' में क्यङ्-प्रत्ययके प्रयोगसे तीन प्रकारकी वाचकलुप्ताके उदाहरण इकट्ठे दिखलाये हैं। 'सुतीयति' पदमें 'सुतमिवाचरति' इस विग्रहमें उपमानवाचक 'सुत' पदसे 'उपमानादाचारे' [अष्टा० ३, १, १०] इस सूत्रसे क्यच् प्रत्यय होकर 'सुतीयति' पद बनता है। इसी प्रकार 'अन्तःपुरे इव आचरति' इस विग्रहमें अधिकरणवाचक 'अन्तःपुर' पदसे 'अधिकरणाच्च' इस वार्तिकसे क्यच् प्रत्यय होकर 'अन्तःपुरीयति' पद बनता है। 'नारी इव आचरति' इस विग्रहमें उपमानवाचक 'नारी' पदसे 'कर्तुः क्यङ् सलोपश्च' [अष्टा० ३, १, ११] इस सूत्रसे

सअलकरणपरवीसामसिरिविअरणं ण सरसकव्वस्स ।
दीसइ अह व णिसम्मइ सरिसं अंसंसमेत्तेण ॥४०१॥
[सकलकरणपरविश्रामश्रीवितरणं न सरसकाव्यस्य ।
दृश्यतेऽथवा निशम्यते सदृशमंशांशमात्रेण ॥ इति संस्कृतम्]

'कव्वस्स' इत्यत्र 'कव्वसमम्' इति, 'सरिसम्' इत्यत्र च 'नूनम्' इति पाठे एषैव समासगा ।

[सूत्र १२९]—वादेर्लोपे समासे सा कर्माधारक्यचि क्यङि । कर्मकर्त्रोर्णमुलि

वाशब्दः उपमाद्योतक इति वादेरुपमाप्रतिपादकस्य लोपे षट् । समासेन, कर्मणोऽधिकरणाच्चोत्पन्नेन क्यचा, कर्तुः क्यङा, कर्मकर्त्रोरुपपदयोर्णमुला च भवेत् ।

धर्मलुप्ताके पाँच भेद दिखलाये गये थे, परन्तु उपमानलुप्ताके केवल दो ही भेद रह गये। इसका कारण यह है कि उपमाप्रतिपादक 'वति' आदि 'तद्धित-प्रत्यय' उपमानवाचक पदसे ही होते हैं। इसलिए उपमानका लोप होनेपर उपमानलुप्ताके तद्धितगत दोनों भेद नहीं बन सकते हैं। इसी प्रकार श्रौती उपमामें भी 'इव' आदि उपमावाचक पदोंका उपमानवाचक पदके साथ ही अन्वय होता है। इसलिए उपमानवाचक पदोंके न रहनेपर श्रौतीके वाक्यगत तथा समासगत दोनों भेद नहीं बन सकते हैं। इसलिए उपमानलुप्ताके केवल वाक्यगत तथा समासगत आर्थी उपमारूप दो ही भेद हो सकते हैं। उन्हीं दोनों भेदोंके उदाहरण आगे देते हैं—

(१) सरस काव्यके समान समस्त इन्द्रियोंकी परम-विश्रान्तिश्रीका वितरण [अन्यत्र कहीं] लेशमात्र भी न देखा और न सुना जाता है ॥ ४०१ ॥

इसमें वर्णनीय होनेसे काव्य उपमेय है, उपमानका उपादान नहीं किया गया है, 'सकलकरणपरविश्रामश्रीवितरण' साधारणधर्म तथा 'सदृश' उपमावाचक पद है। उसका किसीके साथ समास न होनेसे यह वाक्यगा आर्थी उपमानलुप्ताका उदाहरण हुआ।

['काव्यस्य'] 'कव्वस्स'के स्थानपर 'कव्वसमम्' ['काव्यसमम्'] तथा 'सरिसम्' के स्थानपर 'नूनं' पाठ कर देनेसे यही समासगाका उदाहरण हो सकता है।

वाचकलुप्ताके छह भेद

'वा' आदि उपमावाचक पदोंके लोपमें न वाक्यगा वाचकलुप्ता उपमा सम्भव है और न न तद्धितगा, केवल समासगा बनती है। आगे वाचकलुप्ताके प्रकारान्तर भेद करते हैं।

[सूत्र १२९]—'वा' इत्यादि [उपमावाचक] का लोप होनेपर वह [वाचकलुप्ता उपमा] (१) समासमें, (२) कर्ममें क्यच्-प्रत्यय, (३) आधारमें क्यच्-प्रत्यय, (४) क्यङ्-प्रत्यय, (५) कर्म उपपद रहते णमुल्-प्रत्यय तथा (६) कर्ता उपपद रहते णमुल्-प्रत्ययमें [होनेसे पाँच प्रकारकी] होती है।

वा शब्द उपमाका द्योतक शब्द है। इसलिए 'वा' इत्यादि उपमाप्रतिपादक [पदों] का लोप होनेपर (१) समासमें, (२) कर्ममें विहित क्यच् तथा (३) अधिकरणमें उत्पन्न क्यच्, (४) कर्तामें क्यङ्, (५) कर्म उपपद रहते णमुल् तथा (६) कर्ता उपपद रहते णमुल्प्रत्ययके होनेसे छह प्रकारकी [वाचकलुप्ता उपमा] होती है।

उदाहरणम्—

(१ क) ततः कुमुदनाथेन कामिनीगण्डपाण्डुना ।
नेत्रानन्देन चन्द्रेण माहेन्द्री दिगलङ्कृता ॥४०२॥

तथा—

(१ ख) असितभुजगभीषणासिपत्रो रुहरुहिकाहितचित्ततूर्णचारः ।
पुलकिततनुरुत्कपोलकान्तिः प्रतिभटविक्रमदर्शनेऽयमासीत् ॥४०३॥

उदाहरण [जैसे]—

'महाभारत'के द्रोणपर्वमें रात्रियुद्धके प्रसङ्गमें चन्द्रोदयवर्णनपरक यह पद्य आया है। इसमें 'कामिनीगण्ड' रूप उपमानवाचक पद तथा 'पाण्डु' रूप साधारणधर्मप्रतिपादक दो पदोंके समासमें उपमावाचक पदका लोप होनेसे यह समासगा वाचकलुप्ताका उदाहरण है। श्लोकका अर्थ है—

(१ क) तब [रात्रिके या सायंकालके समय] कामिनीके कपोलस्थलके सदृश पीतवर्ण, कुमुदोंके स्वामी, नेत्रोंको आनन्द प्रदान करनेवाले चन्द्रमाने पूर्वदिशाको अलङ्कृत किया ॥ ४०१ ॥

यहाँ कामिनीगण्ड इव पाण्डु' अथवा 'कामिनीगण्डवत् पाण्डु' इस विग्रहमें 'उपमानानि सामान्यवचनैः' [अष्टा० २, १, ५५] इस सूत्रसे उपमान तथा साधारणधर्मवाचक दोनों पदोंका समास होनेपर यह 'समासगा वाचकलुप्ता' का उदाहरण होता है। इसमें समासविधायक सूत्रमें 'उपमानानि' इत्यादि कथनसे साधर्म्यकी प्रतीति हो जानेके कारण उपमावाचक इवादिके प्रयोगकी आवश्यकता नहीं रहती है। इसलिए यह वाचकलुप्ता उपमा कहलाती है।

इस उदाहरणमें उपमान तथा साधारणधर्मवाचक दो पदोंका समास हुआ है। इसलिए यह द्विपद-समासगाका उदाहरण है। अगले उदाहरणमें उपमान, उपमेय तथा साधारणधर्म, तीनोंके वाचक पदोंका समास होनेपर बहुपदसमासगा वाचकलुप्ताका प्रयोग दिखलाते हैं—

(१ ख) काले नागके समान भीषण तलवारवाला यह [वीर योद्धा] शत्रुको [सम्मुख] देखकर उत्साह [रुहरुहिका] से चित्तके व्याप्त हो जानेसे त्वरितगति, पुलकितशरीर और गालोंपर विकसित कान्तिवाला हो गया [अर्थात् शत्रुको देखकर उत्साहातिरेकसे पुलकित हो उठा] ॥ ४०३॥

इसमें 'असितभुजग' पद उपमानवाचक, 'भीषण' पद साधारणधर्मवाचक और 'असिपत्र' पद उपमेयवाचक है। इन तीनों पदोंका समास हो गया है इसलिए यह 'बहुपदसमासगा वाचकलुप्ता'का उदाहरण है।

अगले एक श्लोकमें (१) 'पौर जन सुतीयति'में कर्ममें क्यच्प्रत्यय, (२) 'समरान्तरे अन्तःपुरीयति'में आधारमें क्यच्प्रत्यय तथा (३) 'नारीयते'में क्यङ्-प्रत्ययके प्रयोगसे तीन प्रकारकी वाचकलुप्ताके उदाहरण एकट्ठे दिखलाये हैं। 'सुतीयति' पदमें 'सुतमिवाचरति' इस विग्रहमें उपमानवाचक 'सुत' पदसे 'उपमानादाचारे' [अष्टा० ३, १, १०] इस सूत्रसे क्यच् प्रत्यय होकर 'सुतीयति' पद बनता है। इसी प्रकार 'अन्तःपुरे इव आचरति' इस विग्रहमें अधिकरणवाचक 'अन्तःपुर' पदसे 'अधिकरणाच्च' इस वार्तिकसे क्यच् प्रत्यय होकर 'अन्तःपुरीयति' पद बनता है। 'नारी इव आचरति' इस विग्रहमें उपमानवाचक 'नारी' पदसे 'कर्तुः क्यङ् सलोपश्च' [अष्टा० ३, १, ११] इस सूत्रसे

(२-४) पौरं सुतीयति जनं समरान्तरेऽसावन्तःपुरीयति विचित्रचरित्रचुञ्चुः ।
नारीयते समरसीम्नि कृपाणपाणेरालोक्य तस्य चरितानि सपत्नसेना ॥४०४॥

(५-६) मृधे निदाघघर्मांशुदर्शं पश्यन्ति तं परे ।
स पुनः पार्थसञ्चारं सञ्चरत्यवनीपतिः ॥४०५॥

[सूत्र १३०] एतद्द्विलोपे क्विप्समासगा ॥८९॥

क्यङ्-प्रत्यय होकर 'नारीयते' बनता है। इसलिए तीन प्रकारकी वाचकलुप्ताके उदाहरण इस एक ही श्लोकमें पाये जाते हैं। श्लोकका अर्थ निम्नलिखितप्रकार है—

(२-४) यह [राजा अपने] नगर-निवासी [प्रजा] जनोंको पुत्रके समान समझता है। विचित्र चरित्रसे प्रसिद्ध ['तेन वित्तश्चुञ्चुप्चणपौ' ५, २, २६ इस सूत्रसे चुञ्चुप् प्रत्यय होकर 'विचित्रचरित्रचुञ्चुः' पद बनता है]। यह राजा युद्धक्षेत्रमें अन्तःपुरके समान आचरण करता है [अर्थात् अन्तःपुरके समान स्वच्छन्दरूपसे विचरण करता है] और युद्धभूमिमें तलवार हाथमें लिये हुए उसके चरित्र [व्यवहार] को देखकर शत्रुसेना [भयके मारे स्त्रीके समान आचरण करती है ॥४०४॥

इस प्रकार वाचकलुप्ताके चार उदाहरण यहाँतक हो गये। अब कर्म और कर्तामें णमुल् प्रत्यय होनेपर दो प्रकारकी वाचकलुप्ताके उदाहरण अगले एक ही श्लोकमें दिखलाते हैं। इसमें '[illegible]' पदमें 'निदाघघर्मांशुमिव पश्यन्ति' इस विग्रहमें 'उपमाने कर्मणि च' ३, ४, ४५ इस सूत्रसे णमुल् प्रत्यय होता है। और 'पार्थमिव सञ्चरति' इसमें इसी 'उपमानादाचारे' [illegible] कर्तामें णमुल् प्रत्यय होता है। श्लोकका अर्थ निम्नलिखितप्रकार है—

युद्धमें शत्रु उस [राजा] को ग्रीष्मकालके सूर्यके समान [दुस्सह प्रतापवाला] देखते हैं और वह राजा [युद्धभूमिमें] अर्जुनके समान [निर्भय होकर] विचरण करता है ॥ ४०५ ॥

[illegible]

एतयोर्धर्मवाद्योः । उदाहरणम्—

(१) सविता विधवति विधुरपि सवितरति तथा दिनन्ति यामिन्यः ।
यामिनयन्ति दिनानि च सुखदुःखवशीकृते मनसि ॥४०६॥

(२) परिपन्थिमनोराज्यशतैरपि दुराक्रमः ।
सम्परायप्रवृत्तोऽसौ राजते राजकुञ्जरः ॥४०७॥

[सूत्र १३१] धर्मोपमानयोर्लोपे वृत्तौ वाक्ये च दृश्यते ।

इन दोनों अर्थात् धर्म तथा वादि [उपमावाचक पदों] का [लोप होनेपर दो प्रकारकी लुप्तोपमा होती है] ।

उदाहरण [जैसे]—

(१) [मनुष्यके] मनके सुखाधीन [सुखसे परिपूर्ण] होनेपर [प्रचण्ड] सूर्य भी चन्द्रमाके समान [आह्लाददायक हो जाता है] और दुःखाधीन होनेपर [आह्लाददायक] चन्द्रमा भी सूर्यके समान [असह्य दुःखदायक] हो जाता है। [इसी प्रकार सुखके समय अन्धकारमयी] रात्रियाँ भी [प्रकाशमय] दिन बन जाती हैं और [दुःखके समय प्रकाशमय] दिन भी [अन्धकारमयी] रात्रि [में परिणत] हो जाते हैं ॥४०६॥

इस श्लोकमें १. 'विधवति', २. 'सवितरति', ३. 'दिनन्ति' तथा ४. 'यामिनयन्ति' ये चार क्विबन्त प्रयोग पाये जाते हैं । इन चारों प्रयोगोंमें 'विधुरिव आचरति विधवति' आदि विग्रहमें 'कर्तुः क्यङ् सलोपश्च' [अष्टा० ३, १, ११] इस सूत्रके अन्तर्गत 'सर्वप्रातिपदिकेभ्य आचारे क्विब्वा वक्तव्यः' इस वार्तिकसे आचारार्थमें क्विप्-प्रत्यय होकर 'विधवति', 'सवितरति' आदि प्रयोग बनते हैं । यहाँ आचार अर्थमें क्विप्-प्रत्यय होता है उसी आचारको समानधर्म कहा जा सकता है इसलिए यह धर्मलोपका उदाहरण नहीं हो सकता है, यह शङ्का की जा सकती है । परन्तु यहाँ उस आचारार्थके सूचक क्विप् प्रत्ययका 'वेरपृक्तस्य' [६, १, ६७] इस सूत्रसे सर्वापहारी लोप हो जाता है । उसका कोई अंश शेष नहीं रह जाता है, इसलिए इसको धर्मलोपका उदाहरण माना गया है । इसीलिए उद्योतकारने लिखा है कि—

"यद्यपि क्विप्प्रकृते कर्तृभूतस्वसादृश्यप्रयोजकाचारे लक्षणेति कथं धर्मलोपः, तथापि तन्मात्रबोधकाभावात् लोपव्यवहारः ।"

धर्म तथा इवादिके लोपमें समासगा लुप्तोपमाका उदाहरण देते हैं—

(२) शत्रुगण जिसपर सैकड़ों मनोरथोंसे भी विजय नहीं प्राप्त कर सकते हैं इस प्रकारका युद्धमें लगा हुआ यह श्रेष्ठ राजा शोभित हो रहा है ॥४०७॥

यहाँ 'राजा कुञ्जर इव राजकुञ्जरः' इस प्रयोगमें 'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे' [२, १, ५६] इस सूत्रसे समास होकर 'राजकुञ्जरः' प्रयोग बनता है । यद्यपि यहाँ 'राजते' इसको सामान्यधर्म कहा जा सकता है परन्तु समासविधायक सूत्रमें 'सामान्याप्रयोगे' सामान्यधर्मका प्रयोग न होनेपर ही समासका विधान किया गया है, इसलिए 'राजते' रूप 'सामान्यधर्म'को अविवक्षित मानकर, धर्म तथा वादिके लोपमें यह समासगा लुप्तोपमाका उदाहरण दिया गया है ।

[सूत्र १३१]—धर्म तथा उपमानका लोप होनेपर समासगा तथा वाक्यगा [दो प्रकारकी द्विलुप्ता उपमा] पायी जाती है ।

ढुण्ढुण्णन्तो मरिहसि कण्टअकलिआइँ केअइवणाइं ।
मालइकुसुमसरिच्छं भमर ! भमन्तो ण पाविहिसि ॥४०८॥
[ढुण्ढुणायमानो मरिष्यसि कण्टककलितानि केतकीवनानि ।
मालतीकुसुमसदृशं भ्रमर ! भ्रमन् न प्राप्स्यसि ॥ इति संस्कृतम्]
'कुसुमेण समम्' [कुसुमेन समम्] इति पाठे वाक्यगा ।

[सूत्र १३२] **क्यचि वाद्युपमेयासे**

आसे निरासे ।

अरातिविक्रमालोकविकस्वरविलोचनः ।
कृपाणोदग्रदोर्दण्डः स सहस्रायुधीयति ॥४०९॥

अत्रात्मा उपमेयः ।

[सूत्र १३३] **त्रिलोपे च समासगा ॥९०॥**

त्रयाणां वादिधर्मोपमानानाम् । उदाहरणम्—

---

(३) काँटोंसे भरे हुए केतकीके वनोंमें ढुन-ढुन [याचना] करते हुए घूम-घूमकर मर जाओगे, पर हे भ्रमर! मालतीके कुसुमके सदृश [सुन्दर अन्य पुष्प] न पाओगे ॥ ४०८ ॥

यहाँ मालतीकुसुम उपमेय तथा 'सदृश' उपमावाचक शब्द दोका ग्रहण किया गया है। धर्म तथा उपमानका प्रयोग नहीं हुआ है। इसलिए यह द्विलुप्ताका उदाहरण है। 'मालतीकुसुमसदृश' यह समस्त पद है इसलिए यह समासगाका उदाहरण है।

(४) इसी श्लोकमें यदि 'कुसुमसदृशं'के स्थानपर 'कुसुमेन समं' यह पाठ कर दिया जाय तो वाक्यगा [का उदाहरण] हो जायगा।

[सूत्र १३२]—वादि [उपमावाचक शब्द] तथा उपमेय [इन दो] का लोप होनेपर क्यच्‌गत [एक प्रकारकी द्विलुप्तोपमा] होती है।

[सूत्रमें आये हुए] 'आसे' [पदका अर्थ 'निरासे'] लोप होनेपर [यह होता है]।

(५) शत्रुओंके पराक्रमको देखनेसे जिसकी आँखें [प्रसन्नताके कारण] चमक उठी हैं इस प्रकारका, तलवारके कारण भयङ्कर हाथवाला, वह [राजा] सहस्रायुध [कार्तवीर्य अर्जुन] के समान प्रतीत होता है ॥ ४०९ ॥

यहाँ 'सहस्रायुधमिव आत्मानमाचरति सहस्रायुधीयति' यह 'उपमानादाचारे' इस सूत्रसे आचारार्थमें क्यच्-प्रत्यय होकर रूप बनता है। इसमें—

आत्मा उपमेय है [उसका तथा उपमावाचक वादिका लोप होनेसे यह भी द्विलुप्ता उपमाका उदाहरण है]।

त्रिलुप्ताका एक भेद

[सूत्र १३३]—तीनका लोप होनेपर समासगा [त्रिलुप्तोपमा] होती है ॥ ९० ॥

तीन अर्थात् वादि [उपमावाचक], धर्म तथा उपमानका [लोप होनेपर त्रिलुप्ता उपमा केवल एक प्रकारकी होती है]। उदाहरण [जैसे]—

तरुणिमनि कृतावलोकना ललितविलासवितीर्णविभ्रमा ।
स्मरशरविसराचिताङ्गना मृगनयना हरते मुनेर्मनः ॥४१०॥
अत्र 'सप्तम्युपमान' इत्यादिना यदा समासलोपौ भवतस्तदेदमुदाहरणम् ।

[illegible] [प्रवेश करती] हुई, [इसलिए] सुन्दर हाव-भावोंको अपना शरीर प्रदान कर [illegible] [अर्थात् सुन्दर हाव-भावोंसे युक्त], कामदेवके बाणोंसे व्याप्त [illegible] मृगनयना [illegible] [भी] मनको लुभा लेती है ॥ ४१० ॥

[illegible] 'मृगस्य नयने इव नयने यस्याः सा मृगनयना' इस विग्रहमें 'अनेकमन्यपदार्थे' [illegible] 'सप्तम्युपमानपूर्वपदस्य बहुव्रीहिरुत्तरपदलोपश्च' इस वार्तिकसे [illegible] 'मृगनयन' पदका ग्रहण होने तथा १. उपमान, २. चञ्चलत्व [illegible] उपमावाचक पद, तीनोंका लोप होनेसे यह त्रिलुप्ता उपमाका [illegible] है।

'सप्तम्युपमानपूर्वपदस्य' इत्यादि वार्तिकका यह अभिप्राय है कि सप्तम्यन्त अथवा उपमान-[illegible] है उसका उत्तरपदके साथ बहुव्रीहि समास होकर उत्तरपदका लोप हो जाता है। [illegible] 'मृगनयने इव नयने यस्याः' इस विग्रहमें 'मृगनयने' यह उपमानवाचक पूर्वपद है। उसका 'नयने'के साथ बहुव्रीहि समास और उत्तरपद 'नयने'का लोप होकर 'मृगनयना' पद बनता है। कातन्त्रव्याकरणमें ऐसे स्थलोंपर 'मृग' पदकी 'मृगनयन' अर्थमें लक्षणा मानी है। उसके अनुसार '[illegible] नयने यस्याः सा मृगनयना' इस प्रकारका समास वहाँ होता है। उस दशामें मृगपद ही उपमानवाचक पद हो जाता है इसलिए यह उपमानलुप्ता नहीं हो सकती है। 'सप्तम्युपमानपूर्वपदस्य' इत्यादि वार्तिकके अनुसार समास होनेपर 'मृगनयने इव नयने यस्याः सा मृगनयना' यह विग्रह होता है इसमें 'मृगनयने' यह उपमानवाचक पूर्वपद है उसका 'नयने'के साथ बहुव्रीहि समास होता है। उस समासके कारण उपमानवाचक पूर्वपद 'मृगनयने'का जो उत्तरपद अर्थात् 'नयने' पद है उसका लोप हो जाता है इसलिए यह उपमानलोपका भी उदाहरण हो सकता है। इसी बातको ध्यानमें रखकर आगेकी पंक्तिका अवतरण करते हुए ग्रन्थकार लिखते हैं—

जब 'सप्तम्युपमानपूर्वपदस्य बहुव्रीहिरुत्तरपदलोपश्च' इत्यादि [वार्तिक] से समास तथा [उत्तरपदका] लोप होता है तब यह [त्रिलुप्ता उपमाका] उदाहरण होता है [कातन्त्रव्याकरणके अनुसार मृगपदकी मृगनयन अर्थमें लक्षणा मानकर समास करनेपर उपमानवाचक मृगपदके विद्यमान रहनेसे यह त्रिलुप्ता उपमाका उदाहरण नहीं हो सकता है]।

ऊपर 'मृगनयना' यह त्रिलुप्ता उपमाका उदाहरण दिया गया है। इसमें केवल उपमेय-मात्रका उपादान किया गया है, शेष तीनका लोप होनेसे यह त्रिलुप्ताका उदाहरण बनता है। इसी प्रकार कुछ लोग उपमानमात्रका उपादान होनेपर भी त्रिलुप्ता उपमा मानते हैं। और उसके उदा-हरणरूपमें 'आयःशूलिक' यह उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। 'तेनान्विच्छति' इसके अधिकारमें 'अयःशूल-दण्डाजिनाभ्यां ठक्ठञौ' ५, २, ७६ इस सूत्रसे 'अयःशूल' शब्दसे ठक्-प्रत्यय करके 'आयःशूलिक' यह प्रयोग बनता है। 'अयःशूलमिव अयःशूलम् साहसम्। तेनान्विच्छति व्यवहरति इति आयः-शूलिकः। यो मृदुनोपायेन अन्वेष्टव्यानर्थान् तीक्ष्णेनोपायेनान्विच्छति स आयःशूलिकः इति महा-भाष्यम्'। अर्थात् जो मृदु उपायसे साध्य अर्थके लिए साहसपूर्ण तीक्ष्ण उपायोंका प्रयोग करता है

क्रूरस्याचारस्यायःशूलतयाऽध्यवसायात् 'अयःशूलेनान्विच्छति आयःशूलिकः' इत्यतिशयोक्तिः, न तु क्रूराचारोपमेयतैक्ष्ण्यधर्मवादीनां लोपे त्रिलोपेयमुपमा ।

एवमेकोनविंशतिर्लुप्ताः पूर्णाभिः सह पञ्चविंशतिः ।

अनयेनेव राज्यश्रीर्दैन्येनेव मनस्विता ।
मम्लौ साऽथ विषादेन पद्मिनीव हिमाम्भसा ॥४११॥

इत्यभिन्ने साधारणे धर्मे ।

ज्योत्स्नेव नयनानन्दः सुरेव मदकारणम् ।
प्रभुतेव समाकृष्टसर्वलोका नितम्बिनी ॥४१२॥

उसको 'आयःशूलिकः' अर्थात् साहसिक कहा जाता है। अर्थात् 'अय शूल' शब्द लक्षणासे 'क्रूर आचार'को बोधित करता है। 'अयःशूल'के समान क्रूर आचारका व्यवहार करनेवाला 'आयःशूलिक' हुआ। यहाँ 'अयःशूल' पद उपमान है उसका उपादान किया गया है। क्रूर आचार उपमेय, तीक्ष्णत्वादि साधारणधर्म तथा इवादि उपमावाचक शब्द इन तीनोका उपादान नहीं किया गया है। इसलिए यह उपमानमात्रके उपादानमे त्रिलुप्ताका उदाहरण है यह पूर्वपक्षका आशय है।

सिद्धान्तपक्षमे मम्मट इसको उपमाका उदाहरण नहीं मानते है। वे इसमे अतिशयोक्ति अलङ्कार मानते है। क्रूर आचाररूप जो उपमेय है उसका निगरण करके 'अय.शूल' रूपसे उसका अध्यवसान करनेके कारण यहाँ निगीर्याध्यवसानरूपा अतिशयोक्ति है उपमा नहीं। इसी बातको ग्रन्थकार अगली पंक्तिमे लिखते हैं—

[आयःशूलिकः इस प्रयोगमें] क्रूर आचार [रूप उपमेयका निगरण करके उस] का 'अयःशूलः' रूपमें अध्यवसान होनेसे अयःशूल [तीक्ष्ण उपाय अर्थात् साहस] से [अन्विच्छति] व्यवहार करता है [इस विग्रहमें सिद्ध हुआ] 'आयःशूलिक' यह [पद] अतिशयोक्ति [का उदाहरण] है। क्रूर आचाररूप उपमेय, तैक्ष्ण्य आदि [साधारणधर्म] और वा आदि [उपमावाचक] के लोपमें त्रिलुप्ता उपमाका यह उदाहरण नही है।

इस प्रकार [कुल मिलाकर] उन्नीस प्रकारकी लुप्ता, [छह तरहकी] पूर्णा [उपमा] के साथ [मिलकर कुल] पचीस प्रकारकी उपमा होती है।

मालोपमा और रशनोपमाकी स्थिति

रुद्रटने अपने काव्यालङ्कारमे उपमाके इन भेदोके अतिरिक्त दो प्रकारकी मालोपमा तथा दो प्रकारकी रशनोपमा और मानी है। मम्मट इन भेदोका उक्त भेदोमें ही अन्तर्भाव मानते हैं इसलिए उन्होने उनके लक्षण आदि नहीं किये है। इस बातका प्रतिपादन करनेके लिए आगे 'मालोपमा' तथा 'रशनोपमा' दोनोके चारों उदाहरण देकर वे अपने मतका प्रतिपादन करते हुए लिखते हैं—

अनीतिसे राज्यश्रीके समान, दीनतासे मनस्विताके समान और पालेसे कमलिनीके समान वह [नायिका] दुःखसे मलिन [कान्तिहीन] हो गयी ॥ ४११ ॥

इसमें [म्लानतारूप] साधारणधर्म होनेपर। और—

यह नितम्बिनी चाँदनीके समान नेत्रोंको आनन्द देनेवाली, सुराके समान मदोत्पादक और प्रभुताके समान सारे संसारको आकृष्ट करनेवाली है ॥ ४१२ ॥

अपि भिन्ने च तस्मिन् एकस्यैव बहूपमानोपादाने **मालोपमा** ।

यथोत्तरमुपमेयस्योपमानत्वे पूर्ववदभिन्नभिन्नधर्मत्वे—

अनवरतकनकवितरणजललवभृतकरतरङ्गितार्थिततेः ।
भणितिरिव मतिर्मतिरिव चेष्टा चेष्टेव कीर्तिरतिविमला ॥४१३॥

मतिरिव मूर्तिर्मधुरा मूर्तिरिव सभा प्रभावचिता ।
तस्य सभेव जयश्रीः शक्या जेतुं नृपस्य न परेषाम् ॥४१४॥

इत्यादिका **रशनोपमा** च न लक्षिता एवंविधवैचित्र्यसहस्रसम्भवात्, उक्तभेदानतिक्रमाच्च ।

और इसमें उस [साधारणधर्म] के भिन्न होनेपर अनेक उपमानोंके उपादानरूप 'मालोपमा' [को अलग माननेकी आवश्यकता नहीं है। इसी प्रकार]—

उत्तरोत्तर उपमेयके उपमानरूप हो जानेपर पूर्ववत् [अर्थात् मालोपमाके समान] साधारणधर्मके १. अभिन्न तथा २. भिन्न होनेपर [दो प्रकारकी 'रशनोपमा' जो रुद्रटने मानी है उसको भी अलग माननेकी आवश्यकता नहीं है। जैसे]—

निरन्तर सुवर्णका दान करनेके [सङ्कल्पके] जललवसे भरे हुए जिसके हाथमें [पूर्व-पश्चाद्भावसे मिलित या प्रतिबिम्बित] याचकसमूह तरङ्गित हो रहा है ऐसे हे राजन्! आपकी वचनोंके समान मति, मतिके समान चेष्टा और चेष्टाके समान कीर्ति अत्यन्त निर्मल है ॥४१३॥

यहाँ 'भणितिरिव मतिः' में 'मति' उपमेय है, वही 'मतिरिव चेष्टा' इस दूसरी उपमामें उपमान बन गयी है और चेष्टा उपमेय है। यही चेष्टा अगली 'चेष्टेव कीर्तिः' इस तीसरी उपमामें उपमान बन गयी है। इस प्रकार उत्तरोत्तर उपमेयके उपमान होनेपर रुद्रट रशनोपमा मानते हैं। इन तीन उपमाओंमें 'अतिविमलत्व' रूप साधारणधर्म अभिन्न है। इसलिए यह साधारणधर्मकी अभिन्नतामें रशनोपमा का उदाहरण हुआ। इसी प्रकार साधारणधर्मकी भिन्नतामें—

मतिके समान [उस राजाकी] मूर्ति मधुर है, मूर्तिके समान [उसकी] सभा प्रभावसे युक्त है और उसकी सभाके समान उसकी जयश्रीको दूसरे शत्रुओंके द्वारा विजय करना संभव नहीं है ॥४१४॥

यहाँ [तीनों उपमाओंमें उत्तरोत्तर उपमेयके समान हो जानेपर भी साधारणधर्मके भिन्न होनेपर दूसरे प्रकारकी रशनोपमा होती है। परन्तु इस प्रकारकी] रशनोपमा [तथा मालोपमा दोनों] का लक्षण [हमने]' नहीं किया है। क्योंकि इस प्रकारके अनन्त वैचित्र्य हो सकते हैं [उन सबके आधारपर उपमाके यदि भेद किये जायँ तो उनकी गणना ही असम्भव हो जायगी]। और [वे सब भेद] उक्त [पचीस प्रकारके] भेदोंसे भिन्न नहीं हैं [इसलिए हमने दोनों प्रकारकी मालोपमा तथा दोनों प्रकारकी रशनोपमाका निरूपण नहीं किया है]।

इस प्रकार इस दशम उल्लासमें ग्रन्थकारको जिन ६१ प्रकारके अर्थालङ्कारोंका निरूपण करना है उनमेंसे प्रथम उपमा अलङ्कारका यहाँतक सविस्तर निरूपण किया गया। अब इसके आगे सादृश्यमूलक दूसरे—अनन्वय—अलङ्कारका निरूपण करते हैं।

[सूत्र १३४] **उपमानोपमेयत्वे एकस्यैवैकवाक्यगे ।**
अनन्वयः

उपमानान्तरसम्बन्धाभावोऽनन्वयः । उदाहरणम्—

न केवलं भाति नितान्तकान्तिर्नितम्बिनी सैव नितम्बिनीव ।
यावद्विलासायुधलास्यवासास्ते तद्विलासा इव तद्विलासाः ॥४१५॥

[सूत्र १३५] **विपर्यास उपमेयोपमा तयोः ॥९१॥**

तयोरुपमानोपमेययोः । परिवृत्तिः अर्थाद्वाक्यद्वये, इतरोपमानव्यवच्छेदपरा उपमेयेनोपमा इति **उपमेयोपमा** । उदाहरणम्—

कमलेव मतिर्मतिरिव कमला तनुरिव विभा विभेव तनुः ।
धरणीव धृतिर्धृतिरिव धरणी सततं विभाति बत यस्य ॥४१६॥

[सूत्र १३६] **सम्भावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत् ।**

समेन उपमानेन । उदाहरणम्—

---

२. सादृश्यमूलक अनन्वय अलङ्कार

[सू० १३४]—एक वाक्यमें एक ही के उपमान तथा उपमेय [दोनों] होनेपर अनन्वय [अलङ्कार] होता है ।

अर्थात् अन्य उपमानका सम्बन्ध न होना ही अनन्वय [अलङ्कार] है। [उसका] उदाहरण जैसे—

न केवल अत्यन्त सुन्दरी वह नितम्बिनी [नायिका] ही उस नितम्बिनीके समान शोभित होती है अपितु जिनमें कामदेव मानो थिरकता रहता है इस प्रकारके उसके वे [अनिर्वचनीय] हाव-भाव उसीके विलासोंके समान हैं ॥४१५॥

३. सादृश्यमूलक उपमेयोपमा अलङ्कार

[सू० १३५]—उन दोनो [अर्थात् उपमान और उपमेय] का परिवर्तन हो जाना [अर्थात् उपमानका उपमेय तथा उपमेयका उपमानरूपमें वर्णन] उपमेयोपमा [अलङ्कार कहलाता] है ॥९१॥

उन दोनोंका अर्थात् उपमान और उपमेयका परिवर्तन अर्थात् दो वाक्योंमें [परिवर्तन] अन्य उपमानका निराकरण करनेके अभिप्रायसे उपमेयके साथ [उपमानका सादृश्य जिसमें दिखलाया जाय] यह उपमेयोपमा [का शब्दार्थ] है । उदाहरण, जैसे—

अहो इस [राजा] की लक्ष्मीके समान बुद्धि और बुद्धिके समान लक्ष्मी, शरीरके समान कान्ति और कान्तिके समान शरीर तथा धरणीके समान धैर्य एवं धैर्यके समान धरणी सदैव शोभित होती है [ऐसा प्रभावशाली यह राजा है] ॥४१६॥

४. सादृश्यमूलक उत्प्रेक्षालङ्कार

[सू० १३६]—प्रकृत [अर्थात् वर्ण्य उपमेय] की सम [अर्थात् उपमान] के साथ सम्भावना [अर्थात् उत्कटैककोटिक सन्देह] उत्प्रेक्षा [कहलाती] है ।

उन्मेषं यो मम न सहते जातिवैरी निशाया-
मिन्दोरिन्दीवरदलदृशा तस्य सौन्दर्यदर्पः ।
नीतः शान्तिं प्रसभमनया वक्त्रकान्त्येति हर्षा-
ल्लग्ना मन्ये ललिततनु ! ते पादयोः पद्मलक्ष्मीः ॥४१७॥

लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः ।
असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्विफलतां गता ॥४१८॥

इत्यादौ व्यापनादि लेपनादिरूपतया सम्भावितम् ।

जो [मुख कमलश्रीका] जन्मका वैरी [चन्द्रमा] रात्रिमें [भी] मेरे विकासको सहन नहीं करता है, इस कमलनयनीने उस [चन्द्र] का सौन्दर्याभिमान अपने मुखकी कान्तिसे हठात् नष्ट कर दिया है इस कारणसे [ऐसा मानकर] हे सुन्दर शरीरवाली प्रियतमे ! प्रसन्नताके कारण कमलकी लक्ष्मी मानो तुम्हारे चरणोंमें चिपट गयी है [आ पड़ी है] ॥४१७॥

[वर्षाकालकी रात्रिके समय] अन्धकार अङ्गोंको लीप सा रहा है, आकाश काजलकी वृष्टि-सी कर रहा है और दुष्ट-पुरुषकी सेवाके समान दृष्टि विफल-सी हो गयी है ॥४१८॥

इत्यादिमें व्यापन आदि [उपमेय, उपमानभूत] लेपनादिरूपसे सम्भावित [उत्कटैककोटिक सन्देहरूप] किये गये हैं [अतः यहाँ उत्प्रेक्षालङ्कार है]।

उपमा और उत्प्रेक्षाका भेद

अबतक ग्रन्थकारने उपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा उत्प्रेक्षा इन चार अलङ्कारोंका विवेचन किया है। ये चारों अलङ्कार सादृश्यमूलक अलङ्कार हैं। फिर भी इनमें परस्पर भेद है। इसीलिए उनके अलग-अलग लक्षण किये गये हैं। इनमेंसे 'उपमा' और 'अनन्वय' का परस्पर भेद बहुत स्पष्ट है। उपमामें उपमान और उपमेय दोनों अलग अलग होते हैं। अनन्वयमें उपमान और उपमेय एक ही होता है। यह उपमा और अनन्वयका भेद है। इसी प्रकार उपमेयोपमाका भी उपमा तथा अनन्वय दोनोंसे भेद स्पष्ट है। उनको अलग-अलग पहिचाननेमें [illegible] कठिनाई नहीं होती है। किन्तु उत्प्रेक्षा और उपमाका अन्तर करना कहीं कहीं कठिन हो जाता है। [illegible] ध्यान देनेकी आवश्यकता है। इसकी दो मुख्य पहिचानें हैं।

(१) 'मन्ये शङ्के ध्रुव प्रायो नूनमित्येवमादयः। उत्प्रेक्षावाचकाः [illegible]' मन्ये, शङ्के, ध्रुव, प्रायः, नूनं ये उत्प्रेक्षावाचक शब्द हैं। इनका प्रयोग [illegible] इसलिए जहाँ इन शब्दोंका प्रयोग होता है वहाँ स्पष्टतः 'उत्प्रेक्षा' अलङ्कार [illegible]

(२) 'इव' शब्द ऐसा है जो उत्प्रेक्षा तथा उपमा दोनोंका वाचक है। [illegible] पहिचान यह है कि उत्प्रेक्षामें 'इव' शब्दका प्रयोग प्रायः क्रियापदके साथ होता है। [illegible] ङ्गानि, वर्षतीवाञ्जनं नभः।' आदिके सदृश जहाँ क्रियापदके साथ इव [illegible] निश्चितरूपसे उत्प्रेक्षा समझना चाहिये।

(३) जब उत्प्रेक्षावाचक 'इव' पद हो और उसका [illegible] पदके साथ हो उस स्थलपर उत्प्रेक्षाका निर्णय करना [illegible]

[सूत्र १३७] **ससन्देहस्तु भेदोक्तौ तदनुक्तौ च संशयः ॥९२॥**

भेदोक्तौ यथा—

अयं मार्तण्डः किं ? स खलु तुरगैः सप्तभिरितः ।
कृशानुः किं ? सर्वाः प्रसरति दिशो नैष नियतम् ।
कृतान्तः किं ? साक्षान्महिषवहनोऽसाविति चिरं
समालोक्याजौ त्वां विदधति विकल्पान्प्रतिभटाः ॥४१९॥

उत्प्रेक्षाका लक्षण विशेषरूपसे सहायक होता है। उपमाका प्राण सादृश्य है और उत्प्रेक्षाका प्राण सम्भावना है। सादृश्यस्थलमें उपमानरूप अर्थकी वास्तविक सत्ता होनी चाहिये। सम्भावनामें उपमान कल्पित होता है। उपमेयका वस्तुसत् उपमानके साथ सादृश्य होनेपर उपमा होती है और उपमेयकी कल्पित उपमानरूपेण सम्भावना होनेपर उत्प्रेक्षा होती है।

बालेन्दुवक्राण्यविकासभावाद् बभुः पलाशान्यतिलोहितानि ।
सद्यो वसन्तेन समागतानां नखक्षतानीव वनस्थलीनाम् ॥

'बालचन्द्रमाके समान अर्धचन्द्राकार और अत्यन्त लाल वर्णके पलाश [ढाक] के फूल वसन्तके समागमसे उत्पन्न वनस्थलियोंके नखक्षतोंके समान प्रतीत होते थे।' इसमें वनस्थलियोंके नखक्षत वस्तुतः विद्यमान नहीं है। इसलिए 'नखक्षतानीव वनस्थलीनाम्' इसमें 'इव' सादृश्यका वाचक नहीं अपितु 'सम्भावना' मात्रका बोधक है। अतः यहाँ उपमा नहीं, उत्प्रेक्षालङ्कार है।

५. ससन्देहालङ्कार

[सू० १३७]—[उपमेयमें उपमानरूपसे] संशय, सन्देह [नामक अलङ्कार] है। वह [उन दोनोंके] भेदका कथन करने तथा न करनेसे [दो प्रकारका] होता है ॥९२॥

इस कारिकामें ससन्देह तथा संशय दोनों समानार्थक पद आये हैं। इनमेंसे 'ससन्देह' पद लक्ष्य अलङ्कारका वाचक है और 'संशय' पद लक्षणपरक है। इसलिए उनमें पुनरुक्ति नहीं समझनी चाहिये। कारिकामें 'प्रकृतस्य समेन' इस अंशकी पिछली कारिकासे अनुवृत्ति आती है। इसलिए 'प्रकृत' अर्थात् उपमेयका 'सम' अर्थात् उपमानके साथ समानकोटिक संशय सन्देह नामक अलङ्कार कहलाता है। यह इस कारिकाका अर्थ हुआ। उसके दोनों भेदोंके उदाहरण आगे देते हैं।

[उपमान तथा उपमेय दोनोंके] भेदका कथन करते हुए [ससन्देहका उदाहरण]। जैसे—

यह [राजा] क्या [अत्यन्त तेजस्वी होनेसे] सूर्य है ? [यह संशय हुआ परन्तु उसका सूर्यसे भेद अगले वाक्यमें कहते हैं] वह तो सात घोड़ोंसे युक्त होता है [इसलिए यह सूर्य नहीं हो सकता है]। तब क्या यह अग्नि है ? [यह संशय हुआ उसका निराकरण अगले वाक्यमें आ जाता है कि] किन्तु यह [अग्नि] निश्चितरूपसे सब दिशाओंमें नहीं फैलता है। [अग्निका केवल ऊर्ध्वज्वलन स्वभाव है और इस राजाका तेज चारों ओर फैल रहा है इसलिए यह निश्चितरूपसे अग्नि भी नहीं हो सकता है। तब] क्या यह साक्षात् यमराज है ? [यह संशय हुआ] किन्तु उस [यमराज] का वाहन तो भैंसा है [इसलिए यमराज भी नहीं हो सकता है] इस प्रकार युद्धभूमिमें तुमको देखकर शत्रुवीर बड़ी देरतक [नाना प्रकारके विकल्प] सन्देह करते रहते हैं ॥४१९॥

भेदोक्ताविस्यनेन न केवलमयं निश्चयगर्भो यावन्निश्चयान्तोऽपि सन्देहः स्वीकृतः। यथा—

इन्दुः किं क कलङ्कः सरसिजमेतत्किमम्बु कुत्र गतम्।
ललितसविलासवचनैर्मुखमिति हरिणाक्षि! निश्चितं परतः ॥४२०॥

किन्तु निश्चयगर्भ इव नात्र निश्चयः प्रतीयमान इति उपेक्षितो **भट्टोद्भटेन**। तदनुक्तौ यथा—

अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः
शृङ्गारैकरसः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः।
वेदाभ्यासजडः कथन्नु विषयव्यावृत्तकौतूहलो
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः ॥४२१॥

[सूत्र १३८] तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः।

अतिसाम्यादनपह्नुतभेदयोरभेदः।

इस उदाहरणमें बीच बीचमें सन्देहका निवारण भी किया जाता रहा है इसलिए भेदोक्तिका निश्चयगर्भ भेद कहलाता है।

भेदोक्ति पदसे न केवल निश्चयगर्भरूप [एक ही प्रकारका नहीं होता है] अपितु निश्चयान्त सन्देह भी स्वीकार किया गया है। जैसे—

[तुम्हारा यह मुख] क्या चन्द्रमा है [यदि चन्द्रमा है] तो फिर [इसमेंका] कलङ्क कहाँ गया? क्या यह कमल है तो फिर जल कहाँ गया? [इस प्रकार सन्देह करके] सुन्दर विलासयुक्त वचनोंसे हे मृगनयनी, यह [तुम्हारा] मुख है यह बात बादको निश्चित कर पाया ॥४२०॥

परन्तु निश्चयगर्भ [सन्देह] के समान यहाँ [निश्चयान्त सन्देहमें] निश्चय प्रतीयमान [व्यङ्ग्य] नहीं होता है इसलिए भट्टोद्भटने [निश्चयान्त भेदकी] उपेक्षा कर दी है [अर्थात् इस निश्चयान्तको सन्देहालङ्कारका भेद नहीं माना है]।

उस [भेद] का कथन न करनेपर [सन्देहालङ्कारका दूसरा उदाहरण] जैसे—

इस [नायिका] के निर्माणमें क्या कान्तिको देनेवाला चन्द्रमा ही प्रजापति बना था [अर्थात् क्या स्वयं चन्द्रमाने अपनी कान्तिसे इसका निर्माण किया है] अथवा केवल शृङ्गाररसमय कामदेव स्वयं अथवा पुष्पाकर मास [वसन्त इसका प्रजापति बना] क्योंकि वेदाभ्यासके कारण मूढ़मति और [शृङ्गारोचित] विषयोंमें कौतूहलहीन बूढ़ा ब्रह्मा इस मनोहर रूपका निर्माण करनेमें कैसे समर्थ हो सकता है ॥४२१॥

६. रूपकालङ्कार

[सू० १३८]—उपमान और उपमेयका [जिनका भेद प्रसिद्ध है उनका सादृश्यातिशयवश] जो अभेद [वर्णन] है वह रूपक [अलङ्कार] है।

अत्यन्त सादृश्यके कारण, प्रसिद्ध [अनपह्नुत] भेदवाले [उपमान और उपमेय] का [अभेदवर्णन रूपकालङ्कार कहलाता है]।

[सूत्र १३९] समस्तवस्तुविषयं श्रौता आरोपिता यदा ॥९३॥

आरोपविषया इव आरोप्यमाणा यदा शब्दोपात्तास्तदा समस्तानि वस्तूनि विषयोऽस्येति समस्तवस्तुविषयम्। आरोपिता इति बहुवचनमविवक्षितम्। यथा—

ज्योत्स्नाभस्मच्छुरणधवला बिभ्रती तारकास्थी-
न्यन्तर्द्धानव्यसनरसिका रात्रिकापालिकीयम्।
द्वीपाद् द्वीपं भ्रमति दधती चन्द्रमुद्राकपाले
न्यस्तं सिद्धाञ्जनपरिमलं लाञ्छनस्य च्छलेन ॥४२२॥

[सूत्र १३९]—जब आरोपित [अर्थात् आरोप्यमाण अर्थ] शब्दतः उपात्त [श्रौत] होते हैं तब [वह रूपकका] समस्तवस्तुविषय [नामक] भेद होता है ॥९३॥

आरोपविषय [उपमेय] के समान जब आरोप्यमाण [उपमान] शब्दतः उपात्त [वाच्य] होते हैं तब समस्त वस्तुएँ [आरोप्यमाण] जिसका विषय है [इस विग्रहके अनुसार वह रूपकका] समस्तवस्तुविषय [नामक भेद] होता है। 'आरोपिताः' [इस बहुवचनान्त प्रयोगमें] यह बहुवचन अविवक्षित है [अर्थात् बहुत-से आरोप्यमाण होनेपर ही समस्तवस्तुविषय नामक रूपकका भेद होता हो यह आवश्यक नहीं है]। [समस्तवस्तुविषय नामक रूपकभेदका उदाहरण] जैसे—

चाँदनीरूप भस्मसे व्याप्त होनेके कारण धवलवर्ण, तारिकारूप अस्थियां [हड्डियां] को धारण किये हुए और अन्तर्धान [सब वस्तुओंको छिपा लेने] के व्यसनकी रसिका, यह रात्रिरूप कापालिकी, चन्द्रकलारूप कपालमें कलङ्कके बहानेसे सिद्धाञ्जन-चूर्णको रखे हुए द्वीप-द्वीपान्तरोंमें घूमती फिरती है ॥४२२॥

इस उदाहरणमें रात्रिके ऊपर कापालिकीका आरोप किया गया है। वही प्रधान रूपक है। उसके उपपादनके लिए अङ्गरूपमें ज्योत्स्नापर भस्मका, तारकोंपर अस्थिका, चन्द्रकलापर कपालका और लाञ्छनपर सिद्धाञ्जनपरिमलका आरोप किया गया है। ये सब अङ्गभूत रूपक हैं।

उपमा और रूपकके भेदक धर्म

यहाँ 'रात्रिकापालिकी' पदमें 'रात्रिरेव कापालिकी रात्रिकापालिकी' तथा 'रात्रिः कापालिकी इव इति रात्रिकापालिकी' ये दो प्रकारके विग्रह हो सकते हैं। पहिली अवस्थामें 'मयूरव्यंसकादयश्च' अष्टा० २, १, ७२ इस सूत्रसे समास होगा और 'रात्रिरेव कापालिकी' इस रूपमें रात्रि तथा कापालिकीका अभेद होनेसे रूपकालङ्कार होगा क्योंकि उसमें रात्रिके ऊपर कापालिकीका आरोप होता है। दूसरे 'रात्रिः कापालिकी इव' इस विग्रहमें दोनोंका अभेद नहीं अपितु साम्य प्रतीत होता है इसलिए उपमा अलङ्कार होगा। और उस दशामें 'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे' अष्टा० २, १, ५६ इस सूत्रमें उपमित समास होगा। इस प्रकार इस उदाहरणमें रूपक तथा उपमा दोनों अलङ्कार सम्भव हैं इसलिए उन दोनोंके सन्देहके कारण सन्देहसङ्कर अलङ्कार मानना चाहिये, रूपक नहीं, इस प्रकारकी शङ्का हो सकती है। इस शङ्काके निराकरणके लिए ग्रन्थकारने अगली पंक्ति लिखी है। उसका आशय यह है कि जहाँ उपमा या रूपकमें किसी एक पक्षमें निर्णय करनेका कोई हेतु सुलभ हो वहाँ सन्देहका अवसर नहीं रहता है अपितु उस विनिगमक हेतुके आधारपर एक पक्षमें निर्णय हो जाता है। जहाँ कोई ऐसा विनिगमक हेतु उपलब्ध न हो सके वहाँ सन्देहसङ्करालङ्कार माना जा सकता है। प्रकृत उदाहरणमें रूपकपक्षमें निर्णय करानेवाले अनेक विनिगमक हेतु विद्यमान हैं।

अत्र चान्तर्धानव्यसनरसिकत्वमारोपितधर्म एवेति रूपकपरिग्रहे साधकप्रमाणमिति सन्देहसङ्करो न कार्यः।

[सू० १४०] श्रौता आर्थाश्च ते यस्मिन्नेकदेशविवर्ति तत्।

केचिदारोप्यमाणाः शब्दोपात्ताः, केचिदर्थसामर्थ्यादवसेया इत्येकदेशविवर्तनाद् एकदेशविवर्ति। यथा—

> जस्स रणन्तेउरए करे कुणन्तस्स मण्डलग्गलअम्।
> रससम्मुही वि सहसा परम्मुही होइ रिउसेणा ॥४२३॥
> [यस्य रणान्तःपुरे करे कुर्वतो मण्डलाग्रलताम्।
> रससम्मुख्यपि सहसा पराङ्मुखीभवति रिपुसेना ॥ इति संस्कृतम्]

अत्र रणस्यान्तःपुरत्वमारोप्यमाणं शब्दोपात्तम्। मण्डलाग्रलतायाः नायिकात्वम्, रिपुसेनायाश्च प्रतिनायिकात्वम् अर्थसामर्थ्यादवसीयते इत्येकदेशे विशेषेण वर्तनादेकदेशविवर्ति।

इसलिए यहाँ रूपकका निश्चय हो जानेसे इसमें सन्देहसङ्करकी शङ्का नहीं करनी चाहिये। रूपकपक्षके इन विनिगमक हेतुओंमें 'अन्तर्धानव्यसनरसिका' यह विशेषण मुख्य है। यह विशेषण [illegible] तो बन जाता है परन्तु [illegible] ठीक तरहसे नहीं बनता है, इसलिए उसके आधारपर यहाँ रूपकका ही निश्चय होता है। इसी बातको ग्रन्थकारने इस प्रकार लिखा है—

यहाँ अन्तर्धानव्यसनरसिकत्व [रात्रिमें स्वाभाविक नहीं अपितु] आरोपित धर्म ही है इसलिए तीनों चरणोंमें [अर्थात् पहिले तीन पादोंमें आये हुए 'ज्योत्स्नाभस्मच्छुरणधवला' आदि पदोंमें] रूपक माननेमें [साधक] विनिगमक हेतु विद्यमान है इसलिए [उसके द्वारा रूपकपक्षमें निर्णय हो जानेसे उपमा तथा रूपकके सन्देह [सङ्करकी शङ्का नहीं करनी चाहिये।

[सूत्र १४०]—जिस [रूपक] में वे [अर्थात् आरोपित धर्म कुछ अंशमें] श्रौत [अर्थात् शब्दतः उपात्त और कुछ अंशमें] आर्थ [अर्थात् अर्थतः आक्षिप्त] हो वह एकदेशविवर्ति [रूपक] होता है।

कुछ आरोप्यमाण शब्दसे गृहीत और कुछ अर्थके सामर्थ्यसे आक्षिप्त होते हैं इसलिए एकदेशमें [विशेषेण स्पष्टरूपेण वर्तनात्] स्पष्टरूपसे विद्यमान होनेसे वह एकदेशविवर्ति [रूपक] होता है। जैसे—

जिसके रणरूप अन्तःपुरमें खड्गलता [तलवार] को हाथमें पकड़ते ही युद्धोत्साहसे बढ़ती हुई [रससम्मुखी] भी शत्रुसेना सहसा भाग खड़ी होती है [पराङ्मुखी भवति] ॥४२३॥

यहाँ 'रण'के ऊपर 'अन्तःपुरत्व' रूप आरोप्यमाण शब्दतः उपात्त है परन्तु 'खड्गलता' [मण्डलाग्रलता] का [आरोप्यमाण] 'नायिकात्व' तथा 'रिपुसेना' का [आरोप्यमाण] 'प्रतिनायिकात्व' अर्थतः आक्षिप्त होता है। इसलिए [रणान्तःपुररूप] एकदेशमें स्पष्टरूपसे वर्तमान [विशेषेण वर्तनात्] यह एकदेशविवर्ति [रूपक] है।

अत्र मानसमेव मानसम्, कमलायाः सङ्कोच एव कमलानामसङ्कोचः, दुर्गाणाममार्गणमेव दुर्गायाः मार्गणम्, समितां स्वीकार एव समिधां स्वीकारः, सत्ये प्रीतिरेव सत्यामप्रीतिः, विजयः पराभव एव विजयोऽर्जुनः, एवमारोपणनिमित्तो हंसादेरारोपः।

यद्यपि शब्दार्थालङ्कारोऽयमित्युक्तं वक्ष्यते च, तथापि प्रसिद्ध्यनुरोधादत्रोक्तः। एकदेशविवर्त्ति हीदमन्यैरभिधीयते।

राजाके ऊपर नीललोहित अर्थात् शिवका आरोप होनेसे यह परम्परित रूपक और 'दुर्गामार्गण' पदके श्लिष्ट होनेसे श्लिष्ट परम्परित रूपक होता है। इसी प्रकार अन्य विशेषणोंमें भी श्लिष्ट परम्परित रूपक दिखलाते हुए ग्रन्थकार अगली पंक्तिमें लिखते हैं कि—

इस [उदाहरण] में मन ही मानसरोवर [अर्थात् मनपर मानसरोवरका आरोप] [और वैरियोंकी] कमलाका सङ्कोच ही कमलोंका असङ्कोच [अर्थात् वैरियोंकी कमलाके सङ्कोचपर कमलोंके असङ्कोचका आरोप], दुर्गोंका अमार्गण ही दुर्गाका मार्गण [अर्थात् दुर्गोंके उपयोग न करनेके ऊपर पार्वतीके अनुसन्धान या प्राप्तिका आरोप], 'समित्' अर्थात् युद्धका स्वीकार ही समिधाओंका स्वीकार [अर्थात् युद्धके स्वीकारपर समिधाओंके स्वीकारका आरोप], सत्यकी प्रीति ही सती पार्वतीकी अप्रीति [अर्थात् सत्यकी प्रीतिपर सती पार्वतीकी अप्रीतिका आरोप], विजय अर्थात् शत्रुओंका पराजय ही विजय अर्थात् अर्जुन [अर्थात् शत्रुपराभवके ऊपर अर्जुनका आरोप] इन आरोपोंके कारण [राजाके ऊपर] हंस आदिका आरोप होता है [इसलिए यह परम्परित रूपक होता है और इसमें मानस आदि पद श्लिष्ट हैं इसलिए यह श्लिष्ट परम्परित रूपकका उदाहरण होता है]।

यद्यपि [पृष्ठ ४०३ पर गुण, दोष, अलङ्कार आदिके शब्दगत या अर्थगत होनेके विषयमें अन्वय व्यतिरेकका निर्णायक हेतु बतलानेके द्वारा, और इस श्लोकमें मानस आदि पदोंके परिवृत्त्यसह होनेसे शब्दालङ्कारत्व तथा हंसादि पदोंके परिवृत्तिसह होनेके कारण अर्थालङ्कारत्वका निर्धारण होनेसे] यह [परम्परित रूपक पुनरुक्तवदाभास अलङ्कारके समान शब्दार्थालङ्कार अर्थात्] उभयालङ्कार है यह बात [पूर्व पृष्ठ ४०३ पर [illegible]] कह चुके हैं और आगे भी [पृष्ठ [illegible] पर 'पुनरुक्तवदाभास [illegible]' [illegible]] कहेंगे। [इसलिए इस श्लिष्ट परम्परित रूपकका निरूपण पुनरुक्तवदाभासके साथ [illegible] प्रकरणमें ही करना उचित था] फिर भी [illegible] [illegible]

भेदभाजि यथा—

आलानं जयकुञ्जरस्य दृषदां सेतुर्विपद्वारिधेः
पूर्वाद्रि. करवालचण्डमहसो लीलोपधानं श्रियः ।
संग्रामामृतसागरप्रमथनक्रीडाविधौ मन्दरो
राजन् ! राजति वीरवैरिवनितावैधव्यदस्ते भुजः ॥ ४२७ ॥

अत्र जयादेर्भिन्नशब्दवाच्यस्य कुञ्जरत्वाद्यारोपे भुजस्य आलानत्वाद्यारोपो युज्यते ।

अलौकिकमहालोकप्रकाशितजगत्त्रयः ।
स्तूयते देव ! सद्वंशमुक्तारत्नं न कैर्भवान् ॥ ४२८ ॥

निरवधि च निराश्रयं च यस्य स्थितमनिवर्तितकौतुकप्रपञ्चम् ।
प्रथम इह भवान् स कूर्ममूर्तिर्जयति चतुर्दशलोकवल्लिकन्दः ॥ ४२९ ॥

इति च अमालारूपकमपि परम्परितं द्रष्टव्यम् ।

किसलयकरैर्लतानां करकमलैः कामिनां मनो जयति ।
नलिनीनां कमलमुखैर्मुखेन्दुभिर्योषितां मदनः ॥ ४३० ॥

[भेदभाजि अर्थात् वाचकके] अश्लिष्ट होनेपर [उदाहरण] जैसे—

हे राजन् ! शत्रुओंकी स्त्रियोंको वैधव्य प्रदान करनेवाला [अर्थात् शत्रुओंका नाश करनेवाला] आपका बाहु विजयरूप हाथीका बन्धनस्तम्भ [आलान] है, विपत्तिरूप सागर [को पार करने]के लिए पत्थरोंका बना [पक्का] पुल है, तलवारके प्रचण्ड तेजरूप [चण्डमहसः अर्थात] सूर्यका उदयाचल, लक्ष्मीके आराम करनेका तकिया, संग्रामरूप अमृतके सागरका मंथन करनेकी क्रीडामें मन्दराचलरूप शोभित हो रहा है ॥४२७॥

यहां अलग-अलग शब्दोंसे वाच्य जयादिपर कुञ्जरत्वादिका आरोप होनेपर भुजापर आलान आदिका आरोप बनता है । [इसलिए यह परम्परित रूपक है । आरोप विषय जयादि तथा आरोप्यमाण कुञ्जरत्वादि दोनों अलग अलग शब्दोंसे वाच्य हैं, 'विद्वन्मानस' आदि शब्दोंके समान श्लिष्ट पदोंसे वाच्य नहीं हैं [illegible] परम्परित रूपक है । और इस प्रकारके अनेक आरोप एक ही भुजाके ऊपर किये गये हैं, इसलिए यह अश्लिष्ट परम्परित मालारूपकका उदाहरण है] ।

आगे श्लिष्ट परम्परित अमालारूपकका उदाहरण देते ।

लोकोत्तर महादीप्तिसे [अथवा महद्यश] से तीनों लोकोंको प्रकाशित करने [illegible] उत्तम वंश [कुल तथा बांस] के मुक्तारत्नरूप आपकी कौन प्रशंसा नहीं करता है । [illegible]

यहाँ आरोपविषय उत्तमकुल तथा आरोप्यमाण [illegible]
शब्दसे कहा गया है । [illegible] अर्थात् कुलके [illegible]
है । यह आरोप राजाके ऊपर मुक्तारत्नके आरोपका निमित्त [illegible]
रूपकका उदाहरण है । इसमें अनेक आरोप नहीं किये [illegible]
परम्परित रूपकका उदाहरण है ।

आगे [illegible] अमालारूपके रूप परम्परित रूपक [illegible]

जिन [विष्णु भगवान्] की अवधिरहित [अर्थात् देश-कालसे [illegible]] आश्रयरहित [अर्थात् कूर्मावतार रूपमें सारे जगत्का धारण करनेके लिए [illegible]

अत्र मानसमेव मानसम्, कमलायाः सङ्कोच एव कमलानामसङ्कोचः, दुर्गाणाममार्गणमेव दुर्गायाः मार्गणम्, समितां स्वीकार एव समिधां स्वीकारः, सत्ये प्रीतिरेव सत्यामप्रीतिः, विजयः पराभव एव विजयोऽर्जुनः, एवमारोपणनिमित्तो हंसादेरारोपः।

यद्यपि शब्दार्थालङ्कारोऽयमित्युक्तं वक्ष्यते च, तथापि प्रसिद्ध्यनुरोधादत्रोक्तः। एकदेशविवर्ति हीदमन्यैरभिधीयते।

राजाके ऊपर नीललोहित अर्थात् शिवका आरोप होनेसे यह परम्परित रूपक और 'दुर्गामार्गण' पदके श्लिष्ट होनेसे श्लिष्ट परम्परित रूपक होता है। इसी प्रकार अन्य विशेषणोंमें भी श्लिष्ट परम्परित रूपक दिखलाते हुए ग्रन्थकार अगली पंक्तिमें लिखते हैं कि—

इस [उदाहरण] में मन ही मानसरोवर [अर्थात् मनपर मानसरोवरका आरोप] [और वैरियोंकी] कमलाका सङ्कोच ही कमलोंका असङ्कोच [अर्थात् वैरियोंकी कमलाके सङ्कोचपर कमलोंके असङ्कोचका आरोप], दुर्गोंका अमार्गण ही दुर्गाका मार्गण [अर्थात् दुर्गोंके उपयोग न करनेके ऊपर पार्वतीके अनुसन्धान या प्राप्तिका आरोप], 'समित्' अर्थात् युद्धका स्वीकार ही समिधाओंका स्वीकार [अर्थात् युद्धके स्वीकारपर समिधाओंके स्वीकारका आरोप], सत्यकी प्रीति ही सती पार्वतीकी अप्रीति [अर्थात् सत्यकी प्रीतिपर सती पार्वतीकी अप्रीतिका आरोप], विजय अर्थात् शत्रुओंका पराजय ही विजय अर्थात् अर्जुन [अर्थात् शत्रुपराभवके ऊपर अर्जुनका आरोप] इन आरोपोंके कारण [राजाके ऊपर] हंस आदिका आरोप होता है [इसलिए यह परम्परित रूपक होता है और उसमें मानस आदि पद श्लिष्ट हैं इसलिए यह श्लिष्ट परम्परित रूपकका उदाहरण होता है]।

यद्यपि [पृष्ठ ४२३ पर गुण, दोष, अलङ्कार आदिके शब्दगत या अर्थगत होनेके विषयमें अन्वय-व्यतिरेकको निर्णायक हेतु बतलानेके द्वारा, और इस श्लोकमें मानस आदि पदोंके परिवृत्त्यसह होनेसे शब्दालङ्कारत्व तथा हंसादि पदोंके परिवृत्तिसह होनेके कारण अर्थालङ्कारत्वका निर्धारण होनेसे] यह [परम्परित रूपक पुनरुक्तवदाभास अलङ्कारके समान शब्दार्थालङ्कार अर्थात्] उभयालङ्कार है यह बात [पूर्व पृष्ठ ४२३ पर प्रायः अर्थतः] कह चुके हैं और आगे भी [पृष्ठ '[illegible]' पर 'पुनरुक्तवदाभासपरम्परितरूपके चोभयोर्भावाभावानुविधायितया उभयालङ्कारौ' यह लिखकर स्पष्टरूपसे] कहेंगे। [इसलिए इस श्लिष्ट परम्परित रूपकका निरूपण पुनरुक्तवदाभासके साथ उभयालङ्कारके प्रकरणमें ही करना उचित था] फिर भी [भामह आदि प्राचीन आचार्यों ने इसका निरूपण अर्थालङ्कारोंमें ही किया है, इसलिए] प्रसिद्धिके अनुरोधसे [हमने भी] यहां [अर्थालङ्कारोंके प्रकरणमें] कह दिया है। अन्य [भामह आदि आचार्य] इसको एकदेशविवर्ति रूपक कहते हैं।

भेदभाजि यथा—

आलानं जयकुञ्जरस्य दृषदां सेतुर्विपद्वारिधेः
पूर्वाद्रिः करवालचण्डमहसो लीलोपधानं श्रियः ।
संग्रामामृतसागरप्रमथनक्रीडाविधौ मन्दरो
राजन् ! राजति वीरवैरिवनितावैधव्यदस्ते भुजः ॥ ४२७ ॥

अत्र जयादेर्भिन्नशब्दवाच्यस्य कुञ्जरत्वाद्यारोपे भुजस्य आलानत्वाद्यारोपो युज्यते ।

अलौकिकमहालोकप्रकाशितजगत्त्रयः ।
स्तूयते देव ! सद्वंशमुक्तारत्नं न कैर्भवान् ॥ ४२८ ॥

निरवधि च निराश्रयं च यस्य स्थितमनिवर्तितकौतुकप्रपञ्चम् ।
प्रथम इह भवान् स कूर्ममूर्तिर्जयति चतुर्दशलोकवल्लिकन्दः ॥ ४२९ ॥

इति च अमालारूपकमपि परम्परितं द्रष्टव्यम् ।

किसलयकरैर्लतानां करकमलैः कामिनां मनो जयति ।
नलिनीनां कमलमुखैर्मुखेन्दुभिर्योषितां मदनः ॥ ४३० ॥

[भेदभाजि अर्थात् वाचकके] अश्लिष्ट होनेपर [उदाहरण] जैसे—

हे राजन् ! शत्रुओंकी स्त्रियोंको वैधव्य-प्रदान करनेवाला [अर्थात् शत्रुओंका नाश करनेवाला] आपका बाहु विजयरूप हाथीका बन्धनस्तम्भ [आलान] है, विपत्ति-रूप सागर [को पार करने]के लिए पत्थरोंका बना [पक्का] पुल है, तलवारके प्रचण्ड तेज-रूप [चण्डमहसः अर्थात्] सूर्यका उदयाचल, लक्ष्मीके आराम करनेका तकिया, संग्राम-रूप अमृतके सागरका मंथन करनेकी क्रीडामें मन्दराचलरूप शोभित हो रहा है ॥४२७॥

यहाँ अलग-अलग शब्दोंसे वाच्य जयादिपर कुञ्जरत्वादिका आरोप होनेपर भुजापर आलान आदिका आरोप बनता है। [इसलिए यह परम्परित रूपक है। आरोप-विषय जयादि तथा आरोप्यमाण कुञ्जरत्वादि दोनों अलग-अलग शब्दोंसे वाच्य हैं, 'विद्वन्मानस' आदि शब्दोंके समान श्लिष्ट पदोंसे वाच्य नहीं है अतएव यह अश्लिष्ट परम्परित रूपक है। और इस प्रकारके अनेक आरोप एक ही भुजाके ऊपर किये गये हैं, इसलिए यह अश्लिष्ट परम्परित मालारूपकका उदाहरण है]।

आगे श्लिष्ट परम्परित अमालारूपकका उदाहरण देते हैं—

लोकोत्तर महादीप्तिसे [अथवा महद्यश] से तीनों लोकोंको प्रकाशित करने और उत्तम वंश [कुल तथा बाँस] के मुक्तारत्नरूप आपकी कौन प्रशंसा नहीं करता है॥४२८॥

यहाँ आरोपविषय उत्तमकुल तथा आरोप्यमाण उत्तम बाँस दोनोंको वंशरूप एक ही श्लिष्ट शब्दसे कहा गया है। उसके द्वारा वंश अर्थात् कुलके ऊपर वंश अर्थात् बाँसका आरोप किया गया है। यह आरोप राजाके ऊपर मुक्तारत्नके आरोपका निमित्त होता है। इसलिए यह श्लिष्ट परम्परित रूपकका उदाहरण है। इसमें अनेक आरोप नहीं किये गये हैं इसलिए यह अमालारूप केवल श्लिष्ट परम्परित रूपकका उदाहरण है।

आगे अश्लिष्ट अमालारूप केवल परम्परित रूपकका उदाहरण देते हैं—

जिन [विष्णु भगवान्] की अवधिरहित [अर्थात् देश-कालादिसे अपरिच्छिन्न] आश्रयरहित [अर्थात् कूर्मावताररूपमें सारे जगत्का धारण करनेके लिए सबसे नीचे

अवाप्तः प्रागल्भ्यं परिणतरुचः शैलतनये ।
कलङ्को नैवायं विलसति शशाङ्कस्य वपुषि ।
अमुष्येयं मन्ये विगलदमृतस्यन्दशिशिरे
रतिश्रान्ता शेते रजनिरमणी गाढमुरसि ॥४३१॥

इत्थं वा—

बत सखि ! कियदेतत् पश्य वैरं स्मरस्य
प्रियविरहकृशेऽस्मिन् रागिलोके तथा हि ।
उपवनसहकारोद्भासिभृङ्गच्छलेन
प्रतिविशिखमनेनोट्टङ्कितं कालकूटम् ॥४३२॥

अत्र हि न सभृङ्गाणि सहकाराणि, अपि तु सकालकूटाः शरा इति प्रतीतिः ।

यह अपह्नुति भी शाब्दी तथा आर्थी भेदसे दो प्रकारकी होती है । जहाँ प्रकृतका निषेध शब्दतः किया जाता है वह शाब्दी अपह्नुति कहलाती है और जहाँ निषेध शब्दतः न करके अर्थतः आक्षिप्त होता है वह आर्थी अपह्नुति कहलाती है। आर्थी अपह्नुतिमें प्रकृतका निषेध करनेके लिए कहीं कपटार्थक कहीं परिणामार्थक शब्दोंका ग्रहण किया जाता है। और कहीं अन्य उपायोंका भी अवलम्बन किया जाता है । उनमेंसे पहिले शाब्दी अपह्नुतिका उदाहरण देते हैं ।

[शाब्दी अपह्नुतिका] उदाहरण [जैसे]—

हे पार्वति [शैलतनये] ! परिपूर्ण [परिणतरुचः] चन्द्रमाके शरीर [अर्थात् वक्षःस्थल] में प्रगल्भताको प्राप्त [अत्यन्त प्रौढ़] यह कलङ्क नहीं दिखलायी देता है, बल्कि ऐसा प्रतीत होता है [मन्ये] कि इसके अमृतके प्रवाहसे शीतल वक्षःस्थलपर रतिसे परिश्रान्त हुई रात्रिरमणी [निशानामकी चन्द्रपत्नी] सो रही है ॥४३१॥

यहाँ उपमेयभूत कलङ्कका निषेध करके उपमानभूत रात्रिकी स्थापना की गयी है इसलिए यह अपह्नुति अलङ्कार है। इसमें भी 'कलङ्को नैवायं' कहकर शब्दतः उपमेयका निषेध होनेसे यह शाब्दी अपह्नुति है ।

जहाँ प्रकृतका निषेध शब्दतः नहीं होता अपितु अर्थतः आक्षिप्त होता है वहाँ आर्थी अपह्नुति होती है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, आर्थी अपह्नुतिमें कभी कपटार्थक शब्दके प्रयोग द्वारा और कभी परिणामार्थक शब्दोंके प्रयोग द्वारा प्रकृतके निषेधका बोधन किया जाता है। इन दोनों प्रकारकी आर्थी अपह्नुतिके दो उदाहरण आगे देते हैं ।

अथवा [कपटार्थक शब्दके प्रयोग द्वारा आर्थी अपह्नुतिका उदाहरण] जैसे—

हाय सखि, देखो तो प्रियके विरहसे दुबले हुए रागी लोगोंके प्रति कामदेवका यह कितना वैरभाव है कि बगीचेके आमके बौरोंपर बैठे हुए [शोभित] भौंरोंके बहानेसे इसने [अपने] प्रत्येक बाणपर कालकूट विष लगा दिया है ॥ ४३२ ॥

यहाँ यह भौंरोंसे युक्त आमके बौर नहीं है अपितु कालकूट विषसहित [कामदेवके] बाण है यह प्रतीति होती है। [इस प्रकार अर्थात् भ्रमरयुक्त सहकारोंके बौरोंका निषेध करके कालकूटयुक्त बाणोंकी स्थापना की जानेसे यह आर्थी अपह्नुतिका उदाहरण है]।

एवं वा—

> अमुष्मिंल्लावण्यामृतसरसि नूनं मृगदृशः
> स्मरः शर्वप्लुष्टः पृथुजघनभागे निपतितः ।
> यदङ्गाङ्गाराणां प्रशमपिशुना नाभिकुहरे
> शिखा धूमस्येयं परिणमति रोमावलिवपुः ॥४३३॥

अत्र न रोमावलिः धूमशिखेयमितिः प्रतिपत्ति । एवमियं भङ्ग्यन्तरैरप्यूह्या ।

इस उदाहरणमें प्रकृतके निषेधके लिए कपटार्थक 'छल' पदका प्रयोग किया गया है। परिणामार्थक शब्दके प्रयोग द्वारा प्रकृत अर्थके निषेधका अगला उदाहरण देते हैं—

इसी प्रकार [परिणामार्थक शब्दके प्रयोग द्वारा आर्थी अपह्नुतिका उदाहरण]—

निश्चय ही इस मृगनयनीके लावण्यरूप अमृतके तालाबरूप विस्तीर्ण जघनभाग [वरांगदेश] में [सन्तापशान्तिके लिए] शिवजीके द्वारा दग्ध किया हुआ कामदेव गिर पड़ा है जिसके अङ्गरूप अङ्गारोंके बुझनेकी सूचना देनेवाली धूमकी शिखा रोमावलिके रूपमें नाभिके कुहरमें दिखलायी देती है ॥ ४३३ ॥

यहाँ रोमावलि नहीं है अपितु धूमशिखा है, इस प्रकारकी प्रतीति होती है। [जिसमें प्रकृत रोमावलिका अर्थतः निषेध सूचित होता है इसलिए यह आर्थी अपह्नुतिका उदाहरण है]।

आर्थी अपह्नुतिमें प्रकृतके निषेधके लिए इन दो मार्गोंके अतिरिक्त अन्य उपायोंका भी अवलम्बन किया जा सकता है। जैसे, सप्तम उल्लासमें उदाहरण स० २६५ में 'इद ते केनोक्त' कहकर प्रकृतके निषेधका प्रदर्शन किया गया है। इसी प्रकार—

> अङ्के केऽपि शशङ्किरे जलनिधेः पङ्कं परे मेनिरे
> सारङ्गं कतिचिच्च सञ्जगदिरे भूच्छायमैच्छन् परे ।
> इन्दौ यद्दलितेन्द्रनीलशकलश्यामं दरीदृश्यते
> तत् सान्द्रं निशि पीतमन्धतमसं कुक्षिस्थमाचक्ष्महे ॥

इत्यादिरूपसे भी प्रकृतका निषेध करनेकी अन्य ही शैली अपनायी जा सकती है।

साहित्यदर्पणकारने अपह्नुतिका एक और भी स्वरूप माना है। उसका लक्षण यह किया है—

> गोपनीयं कमप्यर्थं द्योतयित्वा कथञ्चन ।
> यदि श्लेषेणान्यथा वान्यथयेत् साप्यपह्नुति. ॥

अर्थात् यदि किसी गोपनीय अर्थको कहकर फिर श्लेषके द्वारा या किसी अन्य प्रकारसे उसको छिपानेका यत्न किया जाय तो वह भी अपह्नुति अलङ्कारका उदाहरण होता है। जैसे—

> काले वारिधराणामपतितया नैव शक्यते स्थातुम् ।
> उत्कण्ठितासि तरले ! नहि नहि सखि ! पिच्छिलः पन्थाः ॥

अर्थात् वर्षाकालमें 'अपतितया' (बिना पतिके) नहीं रहा जा सकता है ऐसा कहकर किसी नायिकाने अपनी सखीके सामने पतिमिलनकी उत्सुकताको प्रगट किया। परन्तु जब सखी उसका उपहास करके पूछने लगी कि 'अच्छा, आप पतिमिलनके लिए व्याकुल हो रही है ?' तब नायिकाने 'अपतितया' शब्दका श्लेषसे 'बिना गिरे', 'बिना फिसले' यह अर्थ लेकर अपने उस उत्कण्ठाव्यञ्जक मूल भावको छिपानेका प्रयत्न किया है। इसलिए यह भी अपह्नुति अलङ्कारका उदाहरण है।

निदर्शनं दृष्टान्तकरणम् । उदाहरणम्—

(१) क्व सूर्यप्रभवो वंशः क्व चाल्पविषया मतिः ।
तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम् ॥ ४३६ ॥

अत्रोडुपेन सागरतरणमिव मन्मत्या सूर्यवंशवर्णनमित्युपमायां पर्यवस्यति । यथा वा—

(२) उदयति विततोर्ध्वरश्मिरज्जावहिमरुचौ हिमधाम्नि याति चास्तम् ।
वहति गिरिरयं विलम्बिघण्टाद्वयपरिवारितवारणेन्द्रलीलाम् ॥४३७॥

अत्र कथमन्यस्य लीलामन्यो वहतीति तत्सदृशीमित्युपमायां पर्यवसानम् ।

निदर्शन अर्थात् दृष्टान्त बनानेवाला [उपमापरिकल्पक होनेसे निदर्शना यह अन्वर्थ-संज्ञा है] । उदाहरण [जैसे]—

(१) कहाँ सूर्यसे उत्पन्न वंश [सूर्यवंश] और कहाँ मेरी क्षुद्र [अल्पविषया] बुद्धि [इन दोनोंका कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता है । सूर्यवंशका वर्णन कर सकना मेरी बुद्धिके लिए सम्भव नहीं है । फिर भी मैं यह जो सूर्यवंशके वर्णनका प्रयास कर रहा हूँ सो] अज्ञानवश दुस्तर सागरको ['चर्मावनद्ध पात्ररूप] छोटी-सी नौकासे पार करना चाहता हूँ ['चर्मावनद्धमुडुपं प्लवः काष्ठकरण्डवत्'] ॥४३६॥

यहाँ मेरी बुद्धिके द्वारा सूर्यवंशका वर्णन उडुप [बाँसकी बनी हुई और चमड़ेसे मढ़ी हुई नौका या पात्रविशेष] से सागरके पार करनेके समान है इस उपमामें [इस श्लोकवाक्यका] पर्यवसान होता है ।

इस उदाहरणमें पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्धरूप दो वाक्यार्थोंका उपमानोपमेयभाव पर्यवसित होता है । इसलिए इसको 'वाक्यार्थनिदर्शना' कहा जाता है । इसके अतिरिक्त जहाँ [illegible] उपमानोपमेयभाव पर्यवसित होनेपर 'पदार्थनिदर्शना' नामक निदर्शनाका दूसरा [illegible] है । इस पदार्थनिदर्शनारूप द्वितीय भेदका उदाहरण आगे देते हैं—

यह श्लोक [illegible] रैवतक पर्वतके वर्णनके प्रसङ्गमें [illegible] । प्रातःकालके समय रैवतक पर्वतके एक ओर उदय होते हुए सूर्यका बिम्ब और दूसरी ओर [illegible] चन्द्रमाका बिम्ब, दोनों किसी हाथीके दोनों ओर लटकते हुए घण्टोंके समान [illegible] हैं इस बातका वर्णन करते हुए कवि कह रहा है—

(२) जिसकी किरणरूप रस्सियाँ ऊपरको फैल रही [illegible] इस प्रकारके [अहिमधाम्नि] सूर्यके उदय होते और [हिमधाम्नि] चन्द्रमाके अस्त होते समय यह [पर्वत] लटकते हुए दो घण्टोंसे युक्त हाथीकी शोभा धारण कर रहा है ॥४३७॥

यहाँ दूसरे [हाथी] की शोभाको दूसरा [पर्वत] कैसे धारण कर सकता है [अर्थात् नहीं धारण कर सकता है इसलिए 'वारणेन्द्रलीला' रूप पदार्थका [illegible] पर्वतके साथ सम्बन्ध अनुपपन्न होकर] उसके समान शोभाको [धारण] करता है] इस उपमामें पर्यवसित होता है [इसलिए यह पदार्थनिदर्शना है] ।

वाक्यार्थनिदर्शना तथा पदार्थनिदर्शनारूप [illegible]
है । [illegible] भी हो सकती है । [illegible] उदाहरण [illegible]—

निदर्शनं दृष्टान्तकरणम् । उदाहरणम्—

(१) क्व सूर्यप्रभवो वंशः क्व चाल्पविषया मतिः ।
तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम् ॥ ४३६ ॥

अत्रोडुपेन सागरतरणमिव मन्मत्या सूर्यवंशवर्णनमित्युपमायां पर्यवस्यति ।

यथा वा—

(२) उदयति विततोर्ध्वरश्मिरज्जावहिमरुचौ हिमधाम्नि याति चास्तम् ।
वहति गिरिरयं विलम्बिघण्टाद्वयपरिवारितवारणेन्द्रलीलाम् ॥४३७॥

अत्र कथमन्यस्य लीलामन्यो वहतीति तत्सदृशीमित्युपमायां पर्यवसानम् ।

निदर्शन अर्थात् दृष्टान्त बनानेवाला [उपमापरिकल्पक होनेसे निदर्शना यह अन्वर्थ-संज्ञा है] । उदाहरण [जैसे]—

(१) कहाँ सूर्यसे उत्पन्न वंश [सूर्यवंश] और कहाँ मेरी क्षुद्र [अल्पविषया] बुद्धि [इन दोनोंका कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता है । सूर्यवंशका वर्णन कर सकना मेरी बुद्धिके लिए सम्भव नहीं है । फिर भी मैं यह जो सूर्यवंशके वर्णनका प्रयास कर रहा हूँ सो] अज्ञानवश दुस्तर सागरको ['चर्मावनद्ध पात्ररूप] छोटी सी नावसे पार करना चाहता हूँ ['चर्मावनद्धमुडुपं प्लवः काष्ठकरण्डवत्'] ॥४३६॥

यहाँ मेरी बुद्धिके द्वारा सूर्यवंशका वर्णन उडुप [बांसकी बनी हुई और चमड़ेसे मढ़ी हुई नौका या पात्रविशेष] से सागरके पार करनेके समान है इस उपमामें [इस श्लोकवाक्यका] पर्यवसान होता है ।

इस उदाहरणमें पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्धरूप दो वाक्यार्थ [illegible] है । इसलिए इसको 'वाक्यार्थनिदर्शना' कहा जाता है । [illegible] उपमानोपमेयभाव [illegible] 'पदार्थनिदर्शना' [illegible] है । इस पदार्थनिदर्शनाका द्वितीय [illegible] उदाहरण [illegible]

[illegible]

(२) [illegible] किरणरूप रस्सियाँ [illegible] [illegible] सूर्यके उदय होने और [हिमधाम्नि] [illegible] लटकते हुए दो घण्टाओंसे युक्त हाथीकी शोभा धारण [illegible]

[illegible] [हाथी] की शोभाको [illegible] [अर्थात् नहीं धारण कर सकता [illegible] [illegible] उपमामें पर्यवसित होता । [इसलिए यह पदार्थनिदर्शना [illegible]

[illegible]

तदन्यस्य कारणादेः । क्रमेणोदाहरणम् ।

(१) याताः किं न मिलन्ति सुन्दरि पुनश्चिन्ता त्वया मत्कृते
नो कार्या नितरां कृशाऽसि कथयत्येवं सबाष्पे मयि ।
लज्जामन्थरतारकेण निपतत्पीताश्रुणा चक्षुषा
दृष्ट्वा मां हसितेन भाविमरणोत्साहस्तया सूचितः ॥४४०॥

अत्र प्रस्थानात्किमिति निवृत्तोऽसीति कार्ये पृष्टे कारणमभिहितम् ।

(२) राजन् राजसुता न पाठयति मां देव्योऽपि तूष्णीं स्थिताः
कुब्जे ! भोजय मां कुमारसचिवैर्नाद्यापि किं भुज्यते ।
इत्थं नाथ ! शुकस्तवारिभवने मुक्तोऽध्वगैः पञ्जरात्
चित्रस्थानवलोक्य शून्यवलभावेकैकमाभाषते ॥४४१॥

अत्र प्रस्थानोद्यतं भवन्तं ज्ञात्वा सहसैव त्वदरयः पलाय्य गता इति कारणे प्रस्तुते कार्यमुक्तम् ।

होनेपर उससे भिन्न [अर्थात् (१) कार्यके प्रस्तुत होनेपर कारणका, (२) कारणके प्रस्तुत होनेपर उससे भिन्न कार्यका, (३) सामान्यके प्रस्तुत होनेपर विशेषका और (४) विशेषके प्रस्तुत होनेपर सामान्यका] तथा (५) तुल्यके प्रस्तुत होनेपर [उससे भिन्न दूसरे] तुल्यका कथन करना यह पाँच प्रकारकी [अप्रस्तुतप्रशंसा] होती है ॥९९॥

उस [कार्यादि] से भिन्न [अर्थात्] कारण आदिका [कथन अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार होता है]। क्रमशः [पाँचों भेदोंके] उदाहरण [आगे देते हैं]—

(१) हे सुन्दरि ! क्या [कार्यवश बाहर] गये हुए [प्रियजन] फिर नहीं मिलते हैं ? [इसलिए] तुमको मेरे लिए चिन्ता नहीं करनी चाहिये, तुम तो वैसे ही बहुत दुबली हो। मेरे इस प्रकार कहनेपर लज्जाके कारण स्थिर पुतलीवाले गिरते हुए आँसूको पी जानेवाले [रोक लेनेवाले] नेत्रसे मुझको देखकर [नायिकाने] हास द्वारा होनेवाले मरणके प्रति उत्साह प्रदर्शित किया ॥४४०॥

यहाँ [किसी मित्रके द्वारा] यात्राका विचार क्यों छोड़ दिया, इस 'कार्य' [रूप अर्थ] के पूछे जानेपर [नायकने उसके] कारणका कथन किया है।

(२) [जो राजपुत्री मुझे रोज पढ़ाया करती थी वह] राजकन्या [आज] मुझे नहीं पढ़ा रही है [यह क्या बात है], वे रानियाँ भी चुपचाप हैं [उनके बोलनेकी आवाज भी सुनाई नहीं देती है], अरी कुब्जा [दासी] मुझे खाना दे, क्या राजकुमार और [उनके] मन्त्रियों [या मित्रों] ने अभीतक खाना नहीं खाया है [जो मेरे खानेके लिए इतना विलम्ब कर दिया है], हे राजन् ! आपके शत्रुके महलमें [इधरसे आते-जाते] राहगीरोंके द्वारा पिंजड़ेसे छोड़ा गया हुआ तोता शून्य कोठेपर चित्रोंमें अङ्कित [राज परिवारके लोगोंको देखकर] प्रत्येकसे इस प्रकार कह रहा है ॥४४१॥

इसमें आपको [आक्रमणके लिए] प्रस्थानके लिए उद्यत जानकर आपके शत्रु

(३) एतत् तस्य मुखात् कियत् कमलिनीपत्रे कणं वारिणो
यन्मुक्तामणिरित्यमंस्त स जडः शृण्वन्यदस्मादपि ।
अङ्गुल्यग्रलघुक्रियाप्रविलयिन्यादीयमाने शनैः
कुत्रोड्डीय गतो ममेत्यनुदिनं निद्राति नान्तः शुचा ॥४४२॥

अत्रास्थाने जडानां ममत्वसम्भावना भवतीति सामान्ये प्रस्तुते विशेषः कथितः ।

(४) सुहृद्वधूबाष्पजलप्रमार्जनं करोति वैरप्रतियातनेन यः ।
स एव पूज्यः स पुमान् स नीतिमान् सुजीवितं तस्य स भाजनं श्रियः ॥४४३॥

अत्र कृष्णं निहत्य नरकासुरवधूनां यदि दुःखं प्रशमयसि तत् त्वमेव श्लाघ्य इति विशेषे प्रकृते सामान्यमभिहितम् ।

तुल्ये प्रस्तुते तुल्याभिधाने त्रयः प्रकाराः । श्लेषः, समासोक्तिः, सादृश्यमात्रं वा तुल्यात्तुल्यस्य हि आक्षेपे हेतुः । क्रमेणोदाहरणम्—

सहसा ही भागकर चले गये इस प्रकारके कारणके प्रस्तुत होनेपर [उसके] कार्यका कथन किया गया है । [इसलिए यह अप्रस्तुतप्रशंसाके दूसरे भेदका उदाहरण है] ।

सामान्यके प्रस्तुत होनेपर उससे भिन्न विशेषके कथनरूप अप्रस्तुतप्रशंसाके तीसरे भेदका उदाहरण 'भल्लट-शतक' मेसे देते हैं । इसमें किसी मूर्खराजके वर्णनमें कवि कह रहा है—

(३) कमलिनीके पत्तेपर स्थित पानीके बूँदको उस मूर्खने जो मोती समझा यह तो उसके मुखसे बहुत छोटी-सी [मूर्खताकी] बात है। इससे भी बड़ी [मूर्खताकी] बात [यह] सुनो कि अँगुलीके अगले भागसे धीरेसे उठानेपर [अँगुलीमें लग-कर ही सूख जानेके कारण] उसके लुप्त होनेसे, मेरा मुक्तामणि उड़कर कहाँ चला गया इस सोचके मारे, वह रात-दिन सो नहीं पाता है ॥४४२॥

यहाँ मूर्खोंकी अनुचित स्थानपर भी ममत्वबुद्धि हो जाती है इस सामान्य बातके [कथनके] प्रस्तुत होनेपर विशेष [व्यक्ति]का कथन किया है ।

विशेषके प्रस्तुत होनेपर सामान्यके कथनरूप चतुर्थ भेदका उदाहरण आगे देते हैं—श्रीकृष्णके द्वारा नरकासुरके मार दिये जानेपर नरकासुरके मन्त्री उसके मित्र शाल्व राजाको इसका बदला लेनेके लिए उत्साहित करते हुए कह रहे हैं—

(४) जो पुरुष वैरका बदला लेकर अपने मित्रकी स्त्रियोंकी आँखोंके आँसू पोंछ सकता है वही पूज्य है, वही मर्द है, वही नीतिज्ञ और लक्ष्मीका अधिकारी है और उसीका जीवन सफल है ॥४४३॥

यहाँ यदि तुम कृष्णको मारकर नरकासुरकी स्त्रियोंके दुःखको दूर कर सकते हो तो तुम्हीं प्रशंसाके पात्र हो सकते हो इस विशेषके प्रस्तुत होनेपर [जो कोई वैरका बदला लेकर मित्रकी स्त्रियोंका दुःख दूर करता है वही श्लाघ्य होता है] यह सामान्यका कथन है [यह अप्रस्तुतप्रशंसाके चौथे भेदका उदाहरण है]।

(५) तुल्यके प्रस्तुत होनेपर [उससे भिन्न दूसरे] तुल्य अर्थके कथनके

[सू० ९९, ग्र० १९३]

(५ क) पुंस्त्वादपि प्रविचलेद्यदि यद्यधोऽपि
यायाद्यदि प्रणयने न महानपि स्यात्।
अभ्युद्धरेत्तदपि विश्वमितीदृशीयं
केनापि दिक् प्रकटिता पुरुषोत्तमेन ॥४४४॥

(५ ख) येनास्यभ्युदितेन चन्द्र गमितः क्लान्तिं रवौ तत्र ते
युज्येत प्रतिकर्तुमेव न पुनस्तस्यैव पादग्रहः।
क्षीणेनैतदनुष्ठितं यदि ततः किं लज्जसे नो मना-
गस्त्वेवं जडधामता तु भवतो यद्व्योम्नि विस्फूर्जसे ॥४४५॥

तीन प्रकार हो सकते हैं। (१) श्लेष, (२) समासोक्ति तथा (३) सादृश्यमात्र [ये तीन] तुल्य अर्थसे [प्रस्तुत] तुल्यका आक्षेप करानेमें [तीन] हेतु हो सकते हैं। क्रमशः [उन तीनों प्रकारोंके] उदाहरण [आगे दिखलाते हैं]—

यह उदाहरण भी भल्लटकवि-विरचित 'भल्लटशतक' में ७९ संख्यापर आया है। शत्रुके द्वारा अपहरण किये हुए राज्यका पुनरुद्धार करनेके लिए किसी राजाको उत्तेजित करते हुए उसका मन्त्री कह रहा है कि—

(५ क)—यदि पुरुषत्वका भी परित्याग करना पड़े, यदि नीच-मार्गमें भी जाना पड़े और याचना [प्रणयन] के कारण क्षुद्र भी बनना पड़े तो भी संसारका उद्धार करना ही चाहिये, यह मार्ग किन्हीं अपूर्व पुरुषोत्तमने [विष्णु भगवान्‌ने मोहिनीरूप, कूर्मरूप, वराहरूप और वामन आदि रूप धारण करके] दिखला दिया है ॥४४४॥

यहाँ वर्णनीयरूपसे राजरूपके प्रस्तुत होनेपर उसके सदृश विष्णुका कथन होनेसे और उसमें 'पुंस्त्वात्' एवं 'पुरुषोत्तमेन' पदोंके श्लिष्ट होनेसे श्लेषमूलक प्रस्तुतप्रशंसा है।

यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि राजारूप प्रस्तुत अर्थकी ही प्रथम प्रतीति यदि मान ली जाय तो यहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार नहीं हो सकता है। इस शङ्काका यह समाधान किया गया है कि यद्यपि 'पुरुषोत्तम' पदसे राजा तथा विष्णु दोनों अर्थोंकी प्रतीति होती है, परन्तु पुरुषोत्तम-पद विष्णु अर्थमें रूढ है और राजाके बोधनमें उसको यौगिक पद मानना होगा। 'योगात् रूढिर्बलीयसी' अथवा 'अवयवशक्तेः समुदायशक्तिर्बलीयसी' इन नियमोंके अनुसार अवयवशक्तिसे गम्य यौगिक राजा-रूप अर्थकी अपेक्षा समुदायशक्तिसे बोधित विष्णुरूप रूढि अर्थकी ही प्रथम उपस्थिति होनेसे राजा-रूप अर्थ आक्षेपसे ही प्रतीत होता है इसलिए यह अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कारका ही उदाहरण है। इसलिए दोनों अर्थोंके तुल्यरूपसे वाच्य न होनेके कारण यहाँ श्लेष अलङ्कार युक्त नहीं है।

आगे समासोक्तिमूलक अप्रस्तुतप्रशंसाका उदाहरण देते हैं—

(५ ख)—हे चन्द्र ! जिस [सूर्य] ने उदयमात्रसे तुम्हारी कान्तिको मलिन कर दिया है उस सूर्यसे [अपने इस अपमान और अपकर्षका] बदला लेना ही [तुम्हारे लिए] उचित था, न कि उसीके पैरों [पादोंका दूसरे पक्षमें किरणों] का ग्रहण करना। फि[र] भी क्षीण [दुर्बल और दरिद्र] होनेसे यह [अपमान करनेवालेका पादग्रहण] भी य[दि] किया तो क्या तुम्हें तनिक भी लज्जा नहीं आती है [तुम बड़े बेशर्म हो। और इत...]

(५ ग) आदाय वारि परितः सरितां मुखेभ्यः किन्तावदर्जितमनेन दुरर्णवेन ।
क्षारीकृतं च वडवादहने हुतं च पातालकुक्षिकुहरे विनिवेशितं च ॥४४६॥

इयं च काचित् वाच्ये प्रतीयमानार्थानध्यारोपेणैव भवति । यथा—

अब्धेरम्भःस्थगितभुवनाभोगपातालकुक्षेः
पोतोपाया इह हि बहवो लङ्घनेऽपि क्षमन्ते ।
आहो रिक्तः कथमपि भवेदेष दैवात्तदानीं
को नाम स्यादवटकुहरालोकनेऽप्यस्य कल्पः ॥४४७॥

क्वचिदध्यारोपेणैव यथा—

अपमान सह कर भी] जो तुम आकाशमें चमक रहे हो इससे तुम्हारी [जडधामता शीतकान्तित्व, निस्तेजस्कता या] मूर्खता ही [सिद्ध] होती है ॥४४५॥

यहाँ विशेष्यवाचक 'चन्द्र' पदमें श्लेष नहीं है। केवल श्लिष्ट विशेषणोंके माहात्म्यसे इस चन्द्र और सूर्यके व्यवहारपर प्रस्तुत सधन और निर्धनके अथवा विजयी तथा पराजित राजाओंके व्यवहारका आक्षेप होनेसे यह समासोक्तिमूलक अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कारका उदाहरण होता है।

आगे सादृश्यमात्रहेतुक अप्रस्तुतप्रशंसाके तीसरे भेदका उदाहरण देते हैं—

'शार्ङ्गधरपद्धति'में इसको शुक नामक किसी कविका पद्य बतलाया गया है। परन्तु क्षेमेन्द्रकी 'औचित्यविचारचर्चा'में इसे अभिनवगुप्तके गुरु भट्टेन्दुराजका पद्य माना है।

(५ ग)—सब ओरसे नदियोंके मुहानेसे पानी लेकर इस दुष्ट समुद्रने क्या किया [उस मीठे सुस्वादु जलको] खारा कर दिया, वड्वानलमें झोंक दिया और [जो बचा-खुचा पानी रहा उसको] पातालके पेटके गढ़ेमें [सेंत कर] रख दिया ॥४४६॥

यहाँ निर्धन प्रजाजनोंके मुखके ग्रासको अर्थात् स्वल्प धनको उनसे अनुचित करों आदिके द्वारा लेकर उसका अपव्यय करनेवाले किसी राजा या कृपण व्यक्तिका वर्णन प्रस्तुत होनेपर उसके तुल्य समुद्रका वर्णन किया गया है।

और यह [तुल्यके प्रस्तुत होनेपर तुल्यके कथनरूप पञ्चम प्रकारकी अप्रस्तुत-प्रशंसा] वाच्य अर्थमें प्रतीयमान [व्यङ्ग्य] अर्थके अध्यारोपके बिना भी होती है, जैसे—

(५ घ)—जलसे भूवलय और पातालकी कुक्षिको भर देने [व्याप्त कर लेने] वाले समुद्रको जहाजोंकी सहायतासे बहुत-से लोग पार करनेमें भी समर्थ हो सकते हैं, परन्तु यदि यह कहीं खाली [पानीसे रहित] हो जाय तो इसके उस भयङ्कर गढ़ेको [पार करनेकी क्या बात] देख सकनेका भी साधन क्या हो सकेगा ॥४४७॥

यहाँ प्रजाजनका उत्पीडन करनेवाले दुष्ट राजा आदिका भण्डार यदि धन-धान्यसे भरा रहे तभी प्रजाजनोंका कुशल है। यदि उसके कोषमें धनकी कमी हुई तो वह प्रजापर धन प्राप्तिके लिए अत्याचार करेगा, उससे बचनेका कोई मार्ग नहीं निकलेगा। यह प्रतीयमान अर्थ है। इस वाच्य अर्थके स्वतः ही सम्भव होनेसे उसपर प्रतीयमान अर्थके अध्यारोपकी आवश्यकता नहीं होती है।

कहीं [वाच्यार्थपर प्रतीयमान अर्थके] अध्यारोपसे ही [अप्रस्तुतप्रशंसा] होती है। जैसे—

(१) उपमानेनान्तर्निगीर्णस्योपमेयस्य यदध्यवसानं सैका । यथा—

कमलमनम्भसि कमले च कुवलये तानि कनकलतिकायाम् ।

सा च सुकुमारसुभगेत्युत्पातपरम्परा केयम् ॥४५०॥

अत्र मुखादि कमलादिरूपतयाऽध्यवसितम् ।

(२) यच्च तदेवान्यत्वेनाध्यवसीयते साऽपरा यथा—

अण्णं लडहत्तणअं अण्णा विअ का वि वत्तणच्छाआ ।

सामा सामाण्णपआवइणो रेह च्चिअ ण होई ॥४५१॥

[अन्यत् सौकुमार्यमन्यैव च कापि वर्तनच्छाया ।

श्यामा सामान्यप्रजापतेः रेखैव च न भवति ॥ इति संस्कृतम्]

तृतीय प्रकारकी] और (४) कार्य-कारणके पौर्वापर्यका जो विपर्यय है वह [चतुर्थ प्रकारकी अतिशयोक्ति समझनी चाहिये ।

(१) उपमानके द्वारा भीतर निगल लिये गये [अर्थात् पृथक् न कहे हुए] उपमेयका जो अध्यवसान [अर्थात् उपमानके साथ आहार्य या कल्पित अभेदनिश्चय] होता है [वह प्रथम प्रकारकी] यह [अतिशयोक्ति] होती है । जैसे—

[अपनी प्रियतमाको देखकर उसकी सखीके प्रति नायककी यह उक्ति है] बिना जलके कमल [रूप नायिकाका मुख], कमलमें दो नील कमल [रूप नेत्र] और वे [एक कमल तथा दो नील कमल नायिकाके गौरवर्ण शरीररूप] सोनेकी लतामें [लगे हुए हैं] और वह [सोनेकी लतारूप शरीर भी] सुकुमार तथा सुन्दर है यह कैसी अनर्थ-परम्परा है ॥४५०॥

यहाँ [उपमानरूप कमल आदिके द्वारा उपमेयभूत] मुख आदि [का निगरण करके] कमल आदिरूपसे अभिन्नतया निश्चित किये गये हैं [इसलिए यह प्रथम प्रकारकी अतिशयोक्तिका उदाहरण है] ।

इस प्रथम प्रकारकी अतिशयोक्तिमें उपमानके द्वारा उपमेयका निगरण करके उपमानके साथ उसका आहार्य अभेद निश्चय किया गया है । अर्थात् इसमें धर्मीका अभेद प्रतिपादन किया गया है । अतिशयोक्तिके दूसरे भेदमें धर्मीका अभेद नहीं होता है इसी बातको 'प्रस्तुतस्य यदन्यत्व' इस कारिकांशके द्वारा कहते हुए द्वितीय भेदका लक्षण करते हैं—

(२) और जो उस ही [अर्थात् प्रस्तुत] का अन्य [अपूर्व] रूपसे [आहार्य अर्थात् कल्पित] भेद निश्चय किया जाता है [अर्थात् समानजातीय वस्तुको उससे भिन्न असमानजातीय बतलाया जाता है] यह दूसरे प्रकारकी [अतिशयोक्ति] होती है। जैसे—

[उस नायिकाका] सौन्दर्य कुछ और ही [लोकोत्तर] है और [उसके 'वर्तते इति वर्तनं शरीरम्'] शरीरकी कान्ति [भी] कुछ और ही [अलौकिक-सी] है । [उष्णकालमें शीत देहवाली और शीतकालमें उष्णदेहवाली षोडशवर्षदेशीया नायिकारूप] 'श्यामा' साधारण [संसारके बनानेवाले] प्रजाकी रचना ही नहीं हो सकती है ॥४५१॥

यहाँ लोकप्रसिद्ध सौन्दर्य तथा शरीरकान्तिका ही कविने 'अन्य' अर्थात् अलौकिक लोकोत्तररूपमें वर्णन किया है । इसलिए यह द्वितीय प्रकारकी अतिशयोक्तिका उदाहरण है । तृतीय प्रकारकी अतिशयोक्तिका वर्णन करते हैं ।

(३) 'यद्यर्थस्य' यदिशब्देन चेच्छब्देन वा उक्तौ यत्कल्पनम् (अर्थादसम्भविनोऽर्थस्य) सा तृतीया । यथा—

राकायामकलङ्कं चेदमृतांशोर्भवेद्वपुः ।
तस्या मुखं तदा साम्यपराभवमवाप्नुयात् ॥४५२॥

(४) कारणस्य शीघ्रकारितां वक्तुं कार्यस्य पूर्वमुक्तौ चतुर्थी । यथा—

हृदयमधिष्ठितमादौ मालत्याः कुसुमचापबाणेन ।
चरमं रमणीवल्लभ ! लोचनविषयं त्वया भजता ॥४५३॥

[सूत्र १५३] **प्रतिवस्तूपमा तु सा ॥१०१॥**

सामान्यस्य द्विरेकस्य यत्र वाक्यद्वये स्थितिः ।

साधारणो धर्मः उपमेयवाक्ये उपमानवाक्ये च कथितपदस्य दुष्टतयाऽभिहितत्वात् शब्दभेदेन यदुपादीयते सा वस्तुनो वाक्यार्थस्योपमानत्वात् प्रतिवस्तूपमा । यथा—

---

(३) 'यद्यर्थ'के अर्थात् 'यदि' शब्दसे अथवा [उसके समानार्थक] 'चेत्' शब्दके द्वारा कथन करनेमें जो कल्पना अर्थात् असम्भव अर्थकी कल्पना है वह तीसरे प्रकारकी [अतिशयोक्ति होती है] जैसे—

पूर्णिमाकी रात्रिमें यदि चन्द्रमाका बिम्ब कलङ्करहित हो तब उस [नायिका] का मुख चन्द्रमासे सादृश्यरूप पराभवको प्राप्त कर सकता है ॥४५२॥

(४) कारणकी शीघ्रकारिताको कहनेके लिए कार्यका [कारणकी अपेक्षा] पूर्वकथन करनेपर [कार्यकारणके पौर्वापर्यकी विपर्ययरूप] चौथी तरहकी [अतिशयोक्ति होती है] । जैसे—

हे रमणीवल्लभ [स्त्रियोंके प्रिय नायक] ! पुष्प ही जिसका धनुष तथा बाण हैं उस कामदेवने मालती [नायिका]के हृदयपर पहिले ही अधिकार कर लिया और तुमने दृष्टिगोचर होकर बादमें [उसके हृदयपर अधिकार कर पाया] ॥४५३॥

यह श्लोक दामोदरगुप्त-विरचित 'कुट्टनीमत' नामक काव्यमें ९६ संख्याका पद्य है । इसलिए 'काव्यप्रकाश'के व्याख्याकार महेश्वरने इसमें 'मालत्या.'के स्थानपर 'मालव्या.' पाठ मानकर इसे 'मालविकाग्निमित्र' नाटकमें अग्निमित्र राजाके प्रति दूतीकी उक्ति बतलाया है । यह असङ्गत है । इसी प्रकार सुधासागरकारने इसको 'मालतीमाधव' नाटकमें माधवके प्रति कहा हुआ बतलाया है वह भी असङ्गत है, क्योंकि इन दोनों नाटकोंमें यह पद्य नहीं पाया जाता है ।

१३. प्रतिवस्तूपमालङ्कार

अलङ्कारोंके वर्गीकरणमें तुल्ययोगिता, निदर्शना, दृष्टान्त, दीपक आदिके समान 'प्रतिवस्तूपमा'-को भी 'गम्य औपम्याश्रित' अलङ्कार माना गया है । तदनुसार उसका लक्षण करते हैं—

[सूत्र १५३] जहाँ एक ही साधारणधर्मको दो वाक्योंमें दो बार [भिन्न शब्दोंसे] कहा जाय वह प्रतिवस्तूपमा [अलङ्कार] होती है ॥१०१॥

[एक ही] साधारणधर्म, उपमेयवाक्य तथा उपमानवाक्यमें [एक ही शब्दसे

(१) देवीभावं गमिता परिवारपदं कथं भजत्वेषा ।
न खलु परिभोगयोग्यं दैवतरूपाङ्कितं रत्नम् ॥४५४॥

(२) यदि दहत्यनलोऽत्र किमद्भुतं यदि च गौरवमद्रिषु किन्ततः ।
लवणमम्बु सदैव महोदधेः प्रकृतिरेव सतामविषादिता ॥४५५॥

इत्यादिका मालाप्रतिवस्तूपमा द्रष्टव्या । एवमन्यत्राप्यनुसर्त्तव्यम् ।

कहनेपर] कथितपदता [पुनरुक्ति] दोष होनेके कारण भिन्न शब्दोंसे जब गृहीत किया जाता है तो वह वस्तु अर्थात् वाक्यार्थके उपमान होनेसे प्रतिवस्तूपमा [अलङ्कार] कहलाता है । जैसे—

(१) देवीभावको प्राप्त [अर्थात् पटरानी पदपर अभिषिक्त] यह [रानी] साधारण स्त्री [परिवारपद] अब कैसे समझी जा सकती है, देवताके रूपसे अङ्कित रत्न [साधारण आभूषण आदिके रूपमें] उपभोगके योग्य नहीं होता है ॥४५४॥

इस उदाहरणमें उत्तरार्द्धका वाक्यार्थ उपमानरूप है तथा पूर्वार्द्धका वाक्यार्थ उपमेयरूप है । इसलिए वस्तु अर्थात् वाक्यार्थके उपमान-उपमेय होनेसे तथा उनके एक ही 'अनौचित्य' रूप धर्मको पूर्वार्द्धमें 'कथं भजतु' पदसे तथा उत्तरार्द्धमें 'न खलु परिभोगयोग्य' पदसे कहा गया है । यह प्रतिवस्तूपमा अलङ्कार भी (१) केवलरूप तथा (२) मालारूप दो प्रकारका होता है । इनमेंसे केवलरूपका उदाहरण यह दिया गया है । मालारूप प्रतिवस्तूपमाका उदाहरण आगे देते हैं—

(२) यदि अग्नि जलाता है तो इसमें आश्चर्यकी बात क्या है ? यदि पहाड़ोंमें भारीपन [गौरव] है तो इससे क्या हुआ ? समुद्रका पानी सदा ही खारा होता है और दुःखी न होना [किसी बातमें दुःख न मानना] सज्जनोंका स्वभाव ही है ॥४५५॥

इत्यादि मालारूप प्रतिवस्तूपमा समझनी चाहिये । इसी प्रकार अन्य उदाहरण भी समझ लेने चाहिये ।

यहाँ 'स्वाभाविक धर्मका दर्शन विस्मयजनक नहीं होता है' यह साधारणधर्म भिन्न-भिन्न शब्दोंसे निर्दिष्ट किया गया है । जिस प्रकार अग्निका स्वाभाविक दाहकत्व धर्म अथवा पर्वतोंका गौरव अथवा समुद्रजलका क्षारत्वधर्म स्वाभाविक होनेके कारण विस्मयजनक नहीं होता है इसी प्रकार सज्जनोंका 'अविषादिता' धर्म, स्वाभाविक धर्म होनेसे, विस्मयका जनक नहीं है । इस प्रकार इस उदाहरणमें 'प्रकृतिरेव सतामविषादिता' इस चतुर्थ चरणका वाक्यार्थ उपमेय है और शेष तीन चरणोंके वाक्यार्थ उपमानरूप हैं, इसलिए यह मालारूप प्रतिवस्तूपमाका उदाहरण होता है ।

प्रतिवस्तूपमा तथा दृष्टान्तालङ्कारका भेद

प्रतिवस्तूपमालङ्कारके बाद अगले सूत्रमें दृष्टान्तालङ्कारका लक्षण है । 'प्रतिवस्तूपमा'के लक्षणमें आये हुए 'वाक्ययोः' पदकी अनुवृत्ति यहाँ 'दृष्टान्त'के लक्षणमें भी आती है । 'वाक्ययोः' अर्थात् उपमानवाक्य और उपमेयवाक्य दोनोंमें 'एतेषां' अर्थात् उपमान, उपमेय और साधारणधर्म इन तीनोंका 'प्रतिबिम्बनम्' अर्थात् बिम्बप्रतिबिम्बभाव होनेपर दृष्टान्तालङ्कार होता है । यह दृष्टान्तालङ्कारका सामान्य लक्षण है । प्रतिवस्तूपमामें एक ही सामान्यधर्म उपमानवाक्य तथा उपमेयवाक्यमें भिन्न-भिन्न शब्दों द्वारा पुनरुक्तिभयसे भिन्न भिन्न रूपमें कहा जाता है । परन्तु दृष्टान्तालङ्कारमें उपमानवाक्य तथा उपमेयवाक्यमें दो भिन्न भिन्न धर्म सादृश्यके कारण औपम्यके प्रयोजक होते हैं । इसलिए

[सूत्र १५४] **दृष्टान्तः पुनरेतेषां सर्वेषां प्रतिबिम्बनम् ॥१०२॥**

एतेषां साधारणधर्मादीनाम्। दृष्टोऽन्तो निश्चयो यत्र स दृष्टान्तः।

(१) त्वयि दृष्ट एव तस्या निर्वाति मनो मनोभवज्वलितम्।
आलोके हि हिमांशोर्विकसति कुसुमं कुमुद्वत्याः ॥४५६॥

प्रतिवस्तूपमा तथा दृष्टान्तालङ्कारका भेद प्रतिपादन करते हुए, 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' आदिमे वस्तु-प्रतिवस्तुभावमे प्रतिवस्तूपमा, तथा बिम्बप्रतिबिम्बभाव होनेपर दृष्टान्तालङ्कार माना है। एक ही या अभिन्न साधारणधर्मका पुनरुक्तिसे बचनेके लिए भिन्न शब्दोसे कथन करना 'वस्तुप्रतिवस्तुभाव' कहलाता है और वह प्रतिवस्तूपमालङ्कारका प्रयोजक होता है। **'एकस्यार्थस्य शब्दद्वयेनाभिधानं वस्तु-प्रतिवस्तुभावः'**। विभिन्न दो धर्मोंके सादृश्यके कारण औपम्य-प्रयोजक रूपमे उपमानवाक्य तथा उपमेयवाक्यमे पृथक् उपादानको 'बिम्बप्रतिबिम्बभाव' कहते है और वह दृष्टान्तालङ्कारका प्रयोजक होता है। **'द्वयोर्द्धिरुपादानं बिम्बप्रतिबिम्बभाव'**। यही दृष्टान्तालङ्कारका प्रतिवस्तूपमासे भेद है। इसी भेदको सूचित करनेके लिए मूल सूत्रमे 'पुन.' पदका विशेषरूपसे ग्रहण किया गया है। 'एतेषा सर्वेषा प्रतिबिम्बन'का अभिप्राय यह है कि उपमानका उपमेयके साथ, उपमानसे सम्बद्ध विशेषणादिका उपमेय-सम्बद्ध विशेषणादिके साथ तथा साधारणधर्मके साथ बिम्बप्रतिबिम्बभाव होना चाहिये। दृष्टान्तवाक्य अर्थात् उपमानवाक्य तथा दार्ष्टान्तिकवाक्य अर्थात् उपमेयवाक्यके द्वारा बिम्ब-प्रतिबिम्बभावसे दार्ष्टान्तिकवाक्यकी यथार्थताका निश्चय हो जाता है। इसलिए इसका नाम दृष्टान्ता-लङ्कार रखा गया है। इस नाममे आया हुआ 'अन्त' शब्द निश्चयार्थका बोधक है। 'अन्तोऽध्यव-सिते मृत्यौ स्वरूपे निश्चयेऽन्तिके' इस वैजयन्तीकोशके अनुसार 'अन्त' शब्दका 'निश्चय' अर्थ भी होता है। यही अर्थ यहाँ अभिप्रेत है। इसलिए जहाँ दृष्टान्तवाक्यके द्वारा दार्ष्टान्तिक वाक्यके अर्थका निश्चय देखा जाय वहाँ दृष्टान्तालङ्कार होता है। 'दृष्टोऽन्त' निश्चयो यत्र स दृष्टान्तः' यह 'दृष्टान्त' इस नामका अर्थ होता है। इन सभी बातोका प्रतिपादन दृष्टान्तालङ्कारके लक्षणसूत्रमे आगे बड़ी सुन्दरता-के साथ किया है।

१४. दृष्टान्तालङ्कार

अलङ्कारोके पूर्वोक्त वर्गीकरणमे प्रतिवस्तूपमाके समान दृष्टान्तालङ्कार भी 'गम्य औपम्याश्रित' अलङ्कार माना गया है। उसका लक्षण निम्नलिखित प्रकार है—

[सू० १५४]—इन [उपमान, उपमेय, उनके विशेषण और साधारणधर्म आदि] सबका [भिन्न होते हुए भी औपम्यके प्रतिपादनार्थ उपमानवाक्य तथा उपमेयवाक्यमें पृथगुपादानरूप] 'बिम्बप्रतिबिम्बभाव' होनेपर दृष्टान्तालङ्कार होता है ॥१२०॥

इनका [अर्थात् उपमान, उपमेय, उनके विशेषण और] साधारणधर्म आदिका [बिम्बप्रतिबिम्बभाव होनेपर दृष्टान्तालङ्कार होता है। यह दृष्टान्तका लक्षण हुआ। आगे 'दृष्टान्त' शब्दका अवयवार्थ देते हैं]। जहाँ [दृष्टान्तवाक्य या उपमानवाक्यके साथ बिम्बप्रतिबिम्बभावके द्वारा दार्ष्टान्तिकवाक्य या उपमेयवाक्यके अर्थका] 'अन्त' अर्थात् निश्चय देखा जाता है वह दृष्टान्त [अलङ्कार होता है यह दृष्टान्त शब्दका अर्थ है। इसलिए दृष्टान्तालङ्कारका नामकरण अन्वर्थ है। उसका उदाहरण। जैसे]—

(१) तुमको [अर्थात् नायकको] देखते ही उस [नायिका] का कामसे सन्तप्त

एष साधर्म्येण । वैधर्म्येण तु—

(२) तवाहवे साहसकर्मशर्मणः करं कृपाणान्तिकमानिनीषतः ।

भटाः परेषां विशरारुतामगुः दधत्यवाते स्थिरतां हि पांसवः ॥४५७॥

[सूत्र १५५] सकृद्वृत्तिस्तु धर्मस्य प्रकृताप्रकृतात्मनाम् ।
सैव क्रियासु बह्वीषु कारकस्येति दीपकम् ॥१०३॥

प्राकरणिकाप्राकरणिकानामर्थादुपमानोपमेयानां धर्मः क्रियादिः एकवारमेव यदुपादीयते तत् एकस्थस्यैव समस्तवाक्यदीपनाद् दीपकम् । यथा—

हृदय शान्त हो जाता है [इसके लिए दृष्टान्त देते हैं जैसे] चन्द्रमाको देखनेपर कुमुदिनीका फूल खिल उठता है ॥ ४५६ ॥

यहाँ नायक तथा चन्द्रमाका, नायिका तथा कुमुदिनीका और मन तथा कुसमका, मनोभवसन्तप्त तथा सुभिन्नतत्वका निर्वाण तथा विकाशका बिम्बप्रतिबिम्बभाव होनेसे दृष्टान्तालङ्कार है ।

यह साधर्म्यसे दृष्टान्तालङ्कारका उदाहरण है। वैधर्म्यसे दृष्टान्तालङ्कारका उदाहरण तो निम्नलिखित श्लोक है—

(२) [हे राजन् !] साहसपूर्ण कामोंमे आनन्द प्राप्त करनेवाले तुम्हारे तलवारकी ओर हाथ बढ़ाते ही शत्रुओंके सैनिक तितर-बितर हो गये [भाग खड़े हुए]। वायु न चलनेपर ही धूल स्थिर रहती है [आँधी आनेपर धूल नहीं टिक सकती है] ॥४५७॥

इसमें धूल तथा शत्रु सैनिकोंका और पलायन एवं अस्थिरत्वका बिम्बप्रतिबिम्बभाव है। 'पांसवः अवाते स्थिरता दधति' इसका 'वाते स्थिरता न दधति' इस रूपमें पर्यवसान होनेसे यह वैधर्म्यसे दृष्टान्तालङ्कारका उदाहरण होता है ।

२४. दीपकालङ्कार

दृष्टान्तालङ्कारके बाद दीपकालङ्कारका निरूपण करते हैं। प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, निदर्शना आदिके समान दीपकालङ्कार भी 'गम्य औपम्याश्रित' अलङ्कार है। यह दीपकालङ्कार दो प्रकारका होता है, एक क्रियादीपक और दूसरा कारकदीपक। दोनोंके लक्षण एक ही कारिकामें करते हैं—

[सूत्र १५५] (१) प्रकृत [प्राकरणिक अर्थात् उपमेय] तथा अप्रकृत [अप्राकरणिक अर्थात् उपमान] के [क्रियादिरूप] धर्मोंका एक ही बार ग्रहण [वृत्ति = ग्रहण] किया जाय [अर्थात् जहाँ एक ही क्रियादिरूप धर्मका अनेक कारकोंके साथ सम्बन्ध हो वहाँ क्रियादीपक नामक दीपकका एक भेद होता है। इसी प्रकार] (२) बहुत-सी क्रियाओंमें एक ही कारकका ग्रहण ['सैव' अर्थात् 'सकृद् वृत्ति' एक ही बार ग्रहण] यह दीपक [अलङ्कारका दूसरा भेद अर्थात् कारकदीपक] होता है ॥१०३॥

प्राकरणिक और अप्राकरणिक अर्थात् उपमान तथा उपमेयका क्रियादिरूप धर्म जो एक ही बार ग्रहण किया जाता है वह [जैसे दरवाजेकी देहलीपर रखा हुआ दीपक कमरेके बाहर और भीतर दोनों जगह प्रकाश करता है उसी प्रकार वाक्यमें केवल एक जगह ग्रहण किया गया क्रियादिरूप धर्म अनेक कारकोंके साथ सम्बद्ध होकर देहलीदीपकन्यायसे] एक जगह स्थित भी समस्त वाक्यका दीपक होनेसे [अनेक कारकोंके

(१) किवणाणं धनं णाआणं फणमणी केशराइँ सीहाणं ।
कुलबालिआणं त्थणआ कुत्तो छिप्पन्ति अमुआणं ॥४५८॥

[कृपणानां धनं नागानां फणमणिः केसराः सिंहानाम् ।
कुलबालिकानां स्तनाः कुतः स्पृश्यन्तेऽमृतानाम् ॥ इति संस्कृतम्]

कारकस्य च बह्वीषु क्रियासु सकृद्वृत्तिर्दीपकम् यथा—

(२) स्विद्यति कूणति वेल्लति विचलति निमिषति विलोकयति तिर्यक् ।
अन्तर्नन्दति चुम्बितुमिच्छति नवपरिणया वधूः शयने ॥४५९॥

साथ एक क्रियाका सम्बन्ध होनेपर प्रथम प्रकारका] दीपकालङ्कार होता है। [इस क्रियादीपकका उदाहरण] जैसे—

(१) कृपणोंके धन, सर्पोंके फणकी मणि, सिंहोंके केसर और कुलीन बालिकाओंके स्तनोंको उनके जीवित रहते [बिना मरे] कैसे छुआ जा सकता है ॥ ४५८ ॥

यहाँ 'स्पृश्यन्ते' यह एक ही क्रियापद है। उसके ही साथ धन, फणमणि, केसर और स्तन [illegible] अनेक कारकोंका सम्बन्ध होनेसे यह श्लोक 'क्रियादीपक'का उदाहरण होता है। इसमें वर्णनीय [illegible] कुलबालिकाओंके स्तन प्रकृत हैं और उपमेयरूप हैं। कृपणोंका धन, नागोंके फणकी मणि, [illegible] केसर ये सब अप्रकृत हैं और उपमानरूपमें प्रतीत होते हैं।

(२) [इसी प्रकार] बहुत सी क्रियाओंमें एक बार कारकका ग्रहण [अर्थात् अनेक क्रियाओंके साथ एक कारकका सम्बन्ध] होनेपर [कारकदीपक नामक दूसरे प्रकारका] दीपक [अलङ्कार] होता है। जैसे—

नवोढा वधू [पतिके] पलँगपर [जाकर कभी] पसीनेसे तर हो जाती है, [पतिके आलिङ्गन करनेके लिए उद्यत होनेपर] रोमाञ्चित हो उठती है, [इसपर भी पतिके न रुकनेपर आलिङ्गनादिसे बचनेके लिए] सिकुड़ जाती है या मुँह फेर लेती है, [illegible] होती है, आँखें बन्द कर लेती है, [परन्तु कुछ समय बाद] तिरछी आँखोंसे देखती है, मनमें प्रसन्न होती है और चुम्बन करना चाहती है ॥ ४५९ ॥

[illegible]

[सू० १५८] उपमानाद् यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः ।
अन्यस्योपमेयस्य । व्यतिरेक आधिक्यम् ।

क्षीणः क्षीणोऽपि शशी भूयो भूयोऽभिवर्धते सत्यम् ।
विरम प्रसीद सुन्दरि ! यौवनमनिवर्ति यातं तु ॥४६३॥

क्षीण इत्यादावुपमानस्योपमेयादाधिक्यमिति केनचिदुक्तम्, तदयुक्तम् । अत्र यौवनगतास्थैर्याधिक्यं हि विवक्षितम् ।

---

१७. व्यतिरेकालङ्कार

पूर्वोक्त वर्गीकरणमें 'व्यतिरेकालङ्कार'को भी 'गम्य औपम्याश्रित' अलङ्कारवर्गमें माना गया है । उसका लक्षण आगे करते हैं—

[सूत्र १५८]—उपमानसे अन्य [अर्थात् उपमेय] का जो [विशेषेण अतिरेकः व्यतिरेकः] आधिक्य [का वर्णन] वह ही व्यतिरेक [अलङ्कार] होता है ।

अन्यका अर्थात् उपमेयका । व्यतिरेक अर्थात् आधिक्य । [उदाहरण जैसे]—

हे सुन्दरि ! मान जाओ [मानको छोड़ दो] और [मेरे ऊपर] प्रसन्न हो जाओ । चन्द्रमा बार-बार क्षीण होकर भी फिर-फिर पूर्ण हो जाता है यह सत्य है, परन्तु बीता हुआ यौवन तो फिर वापस नहीं आता है । [इसलिए हे सुन्दरि ! मानको छोड़ दो और इस यौवनका उपभोग करनेके लिए] प्रसन्न हो जाओ ॥ ४६३ ॥

अलङ्कारसर्वस्वकार रुय्यकने उपमानसे उपमेयका आधिक्य होनेपर अथवा न्यूनता होनेपर दोनों अवस्थाओंमें व्यतिरेकालङ्कार माना है । इसलिए उन्होंने उसका लक्षण 'उपमानादुपमेयस्याधिक्ये विपर्यये [उपमेयादुपमानस्याधिक्ये] वा व्यतिरेकः' यह किया है और विपय अर्थात् उपमेयसे उपमानके आधिक्यके वर्णनमें 'क्षीण. क्षीण' शशी' इत्यादि श्लोकको उदाहरणरूपमे प्रस्तुत किया है । उनका अभिप्राय यह है कि इस श्लोकमे उपमेयभूत यौवनकी अपेक्षा उपमानभूत चन्द्रमाके आधिक्यका वर्णन किया गया है क्योंकि यौवन तो एक बार बीत जानेपर फिर वापस नहीं आता है परन्तु चन्द्रमा बार-बार क्षीण होकर भी फिर-फिर पूरा हो जाता है । इसलिए उपमेयरूप यौवनकी अपेक्षा उपमानरूप चन्द्रमाका आधिक्यवर्णन होनेसे यह दूसरे प्रकारके व्यतिरेकका उदाहरण है । यह रुय्यकका मत है । परन्तु काव्यप्रकाशकार इस मतसे सहमत नहीं हैं । उनके मतमे यहाँ चन्द्रमाके आधिक्यका वर्णन हुए नहीं है । अपितु यौवनमें अस्थैर्याधिक्यका वर्णन ही अभिप्रेत है । इसलिए यह चन्द्रमा तो इतना अस्थिर क्षणभङ्गुर नहीं है, क्योंकि वह तो क्षीण होकर भी फिर पूरा हो जाता है । परन्तु यौवन दुबारा नहीं लौटता है । इसलिए वह चन्द्रमाकी अपेक्षा अधिक अस्थिर है । यह श्लोकका भाव है । इसलिए यहाँ उपमानसे उपमेयका आधिक्य होनेसे यह प्रथम प्रकारके व्यतिरेकका ही उदाहरण है । यह काव्यप्रकाशकारका मत है । अपने इसी मतका वे अगली पंक्तियोमे प्रतिपादन करते हैं—

[क्षीण' क्षीणोऽपि शशी] इत्यादि [उदाहरण] मे उपमान [चन्द्रमा] का उपमेय [यौवन] से आधिक्य [वर्णित] है यह किसी [अलङ्कारसर्वस्वकार रुय्यक] ने कहा है । किन्तु वह उचित नहीं है । [क्योंकि] यहाँ [उपमेय] यौवनगत अस्थैर्यका आधिक्य ही [कविको] विवक्षित है ।

[सूत्र १५९] हेत्वोरुक्तावनुक्तीनां त्रये साम्ये निवेदिते ॥१०५॥
शब्दार्थाभ्यामथाक्षिप्ते श्लिष्टे तद्वत् त्रिरष्ट तत् ।

व्यतिरेकस्य हेतुः उपमेयगतमुत्कर्षनिमित्तम् । उपमानगतमपकर्षकारणम् । तयोर्द्वयोरुक्तिः । एकतरस्य द्वयोर्वा अनुक्तिरित्यनुक्तित्रयम् । एतद्भेदचतुष्टयम् उपमानोपमेयभावे शब्देन प्रतिपादिते, आर्थेन च क्रमेणोक्ताश्चत्वार एव भेदाः । आक्षिप्ते चौपम्ये तावन्त एव । एवं द्वादश । एते श्लेषेऽपि भवन्तीति चतुर्विंशतिर्भेदाः । क्रमेणोदाहरणम्—

इस व्यतिरेकालङ्कारके चौबीस प्रकार हो सकते है। उन सबका वर्णन अगली कारिकामें करते हैं। १. उपमानसे जो उपमेयका आधिक्यवर्णन है उसमे उपमेयके आधिक्यके हेतु तथा उपमानके अपकर्षके हेतु इन दोनोका वर्णन होनेपर व्यतिरेकका प्रथम भेद होता है। २. इन दोनोंमेंसे किसीके न कहने [अर्थात् दोनोके अनुक्त होने] अथवा, ३. उत्कर्षहेतुके अनुक्त होने, ४. अथवा अपकर्षहेतुके अनुक्त होनेपर अनुक्तिके क्रमशः तीन भेद हो जाते है। इस प्रकार व्यतिरेकके चार भेद हो जाते हैं। इन चारो भेदोमे साम्य कही शाब्द, कहीं आर्थ और कहीं आक्षिप्त होता है इसलिए प्रत्येकके तीन भेद होकर ४ × ३ = १२ भेद बन जाते हैं। ये बारह भेद श्लेषमूलक या अश्लेषमूलक होनेसे दो प्रकारके होकर व्यतिरेकके कुल १२ × २ = २४ भेद बन जाते हैं। इन्हीं चौबीस भेदोको अगली कारिकामे इस प्रकार दिखलाते है—

[सूत्र १५९]—[उपमेयके उत्कर्षहेतु तथा उपमानके अपकर्षहेतु] दोनों हेतुओंके उक्त होनेपर [व्यतिरेकका एक भेद होता है। उपमेयके उत्कर्षहेतुके अनुक्त होनेपर दूसरा, उपमानके अपकर्षहेतुके अनुक्त होनेपर तीसरा और इन दोनोंके एक साथ अनुक्त होनेपर चौथा इस प्रकार] तीन अनुक्तियोंके होनेपर [तीन भेद, कुल मिलकर चार भेद व्यतिरेकके हुए। इनमें भी इवादि शब्दके द्वारा शब्दतः अथवा तुल्यादि शब्दोंसे अर्थतः] साम्यके [इवादि] (१) शब्दके द्वारा [अथवा तुल्यादि पदोंसे] (२) अर्थके द्वारा निवेदित होनेपर और (३) [साम्यसूचक इवादि तथा तुल्यादि दोनोंके अभावमें साम्यके] आक्षिप्त होने [पूर्वोक्त चारों भेदोंके तीन भेद होकर ४ × ३ = १२ भेद हो जाते हैं। ये सब भेद श्लेषके बिना ही होते हैं] इसी प्रकार श्लेष होनेपर भी बारह भेद और होकर [१२ + १२ = २४ कुल] वह २४ [त्रिरष्ट ८ × ३ = २४] प्रकारका होता है।

व्यतिरेकके हेतु उपमेयगत उत्कर्षका कारण और उपमानगत अपकर्षका कारण [दो होते हैं]। उन दोनोंकी उक्ति [होनेपर व्यतिरेकका एक भेद होता है]। उन दोनोंमेंसे किसी एककी अथवा दोनोंकी अनुक्ति इस प्रकार तीन तरहकी अनुक्ति। ये [सब मिलाकर] चार भेद होते हैं। उपमान उपमेयभावके [उपमावाचक इवादि] (१) शब्दके द्वारा, [तुल्यादि शब्दों अथवा तुल्यार्थमें हुए 'वति' प्रत्ययके द्वारा साम्यके] (२) अर्थ द्वारा प्रतिपादित होनेपर क्रमशः [दोनों प्रकारसे] पूर्वोक्त चार-चार भेद ही होते हैं [अर्थात् आठ भेद हो जाते हैं। इवादि तथा तुल्यादि दोनों प्रकारके शब्दोंके अभावमें] साम्यके आक्षिप्त होनेपर उतने ही [चार ही] भेद होते हैं। इस प्रकार [मिलकर] बारह भेद हुए। ये [बारहों भेद] श्लेषमें भी होते हैं, इसलिए [कुल मिलाकर १२×२ = २४] चौबीस भेद हो जाते हैं। क्रमशः उनके उदाहरण [आगे देते हैं]—

(१) अभिमानयमहानरा प्रभूतारिपराभवे ।
अन्यतुच्छजनस्येव न स्मयोऽस्य महाधृतेः ॥४६४॥

अत्रैव तुच्छेति महाधृतेरित्यनयोः पर्यायेण युगपद्वाऽनुपादानेऽन्यद् भेदत्रयम् । एवमन्येष्वपि द्रष्टव्यम् । अत्रेवशब्दस्य सद्भावाच्छाब्दमौपम्यम् ।

(२) अरिमात्रसहायोऽपि प्रभूतारिपराभवे ।
नैवान्यतुच्छजनवत्सगर्वोऽयं महाधृतिः ॥४६५॥

अत्र तुल्यार्थे वतिरित्यार्थमौपम्यम् ।

---

(१) केवल तलवारकी सहायतावाला [अर्थात् सैन्यादिरहित अकेला] महाधैर्यशाली यह राजा प्रबल शत्रुओंके पराजित हो जानेपर भी अन्य तुच्छजनोंके समान अभिमानयुक्त नहीं [दिखलायी] देता है ॥ ४६४ ॥

यहाँ राजा उपमेय है। उसके उत्कर्षका कारण 'महाधृति' कथित है। इसी प्रकार अन्यतुच्छजनरूप उपमानके अपकर्षका कारण 'तुच्छत्व' उक्त है। इसलिए दोनों हेतुओंकी उक्तिमें व्यतिरेकालङ्कारके प्रथम भेदका यह उदाहरण हुआ। 'अरिपराभव' सामान्यधर्म है और श्लेषका अभाव है।

इसी [उदाहरण] में 'तुच्छ' इस [उपमानके अपकर्षहेतु अथवा] 'महाधृतेः' इस [उपमेयके उत्कर्षहेतु] इन दोनोंके पर्यायसे, अथवा एक साथ ग्रहण न करनेपर दूसरे ['अनुक्तीनां त्रये'वाले] तीन भेद होते हैं। इसी प्रकार अन्य उदाहरणोंमें भी समझना चाहिये। इसमें ['अन्यतुच्छजनस्येव'में] 'इव' शब्दका ग्रहण होनेसे उपमानोपमेयभाव शाब्द [शब्दसे कथित] है।

इसी उदाहरणमें 'अन्यतुच्छजनस्येव' पदमें उपमावाचक 'इव'को हटाकर 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' इस सूत्रसे वति प्रत्यय करके 'नैवान्यतुच्छजनवत्सगर्वोऽयं महाधृतिः' ऐसा पाठ कर देनेपर यही आर्थमौपम्यमें 'हेत्वोरुक्तौ'का उदाहरण हो सकता है। इसलिए इसी प्रकार परिवर्तन करके यही श्लोक दुबारा दिया गया है।

(२) इसका अर्थ ४६४ के समान ही है ॥ ४६५ ॥

यहाँ ['इव'के स्थानपर 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वति' इस सूत्रसे] तुल्यार्थमें 'वति' [प्रत्यय] है, इसलिए [उपमाप्रकरणमें पृष्ठ ४४५ पर दिखलाये गये नियमके अनुसार] आर्थ सादृश्य [औपम्य] है।

पूर्वश्लोकके समान यह उदाहरण भी मूलतः 'हेत्वोरुक्तौ'का है। अर्थात् इसमें उपमेयके उत्कर्षहेतु 'महाधृति'का तथा उपमानके अपकर्षहेतु 'तुच्छत्व'का कथन है। परन्तु पूर्व उदाहरणके समान ही यदि यहाँ भी 'तुच्छत्व' अथवा 'महाधृति'का पर्यायसे ग्रहण न किया जाय अथवा दोनोंका युगपद्ग्रहण न किया जाय तो यही 'अनुक्तीनां त्रये के तीन उदाहरणोंके रूपमें परिवर्तित हो जायगा। इस प्रकार इस श्लोकमें 'आर्थ औपम्य'के चारों उदाहरण बन जाते हैं। पहिले श्लोकमें 'शाब्द औपम्य'के चारों उदाहरण हो गये थे। इस प्रकार दो श्लोकों द्वारा अथवा एक ही श्लोकमें पाठ-परिवर्तनों द्वारा व्यतिरेकके आठ भेदोंके उदाहरण ग्रन्थकारने दिखला दिये हैं।

आगे आक्षिप्त साम्यमें व्यतिरेकका उदाहरण देते हैं—

(३) इयं सुनयना दासीकृततामरसश्रिया ।
आननेनाकलङ्केन जयतीन्दुं कलङ्किनम् ॥४६६॥

अत्रेवादितुल्यादिपदविरहेण आक्षिप्तैवोपमा ।

(४) जितेन्द्रियतया सम्यग्विद्यावृद्धनिषेविणः ।
अतिगाढगुणस्यास्य नाब्जवद्भङ्गुरा गुणाः ॥४६७॥

अत्रेवार्थे वतिः, गुणशब्दः श्लिष्टः, शाब्दमौपम्यम् ।

(५) अखण्डमण्डलः श्रीमान् पश्यैष पृथिवीपतिः ।
न निशाकरवज्जातु कलावैकल्यमागतः ॥४६८॥

---

(३) सुन्दर नेत्रोंवाली यह [नायिका] कमललक्ष्मीको भी तिरस्कृत करनेवाले कलङ्करहित मुखसे कलङ्की चन्द्रमाको पराजित कर रही है ॥ ४६६ ॥

यहाँ [शाब्द उपमाके प्रयोजक] इवादि तथा [आर्थ उपमाके प्रयोजक] तुल्यादि [दोनो प्रकारके] पदोंका अभाव होनेसे उपमा [सादृश्य] आक्षित ही है ।

इसमें उपमेयरूप मुखके उत्कर्षहेतु अकलङ्कित्व तथा उपमानरूप चन्द्रमाके अपकर्षहेतु कलङ्कित्व दोनोका ग्रहण है, इसलिए यह 'हेत्वोरुक्तौ'का उदाहरण है। यदि उसीमें अकलङ्कित्व तथा कलङ्कित्वरूप हेतुओंका अलग-अलग पर्यायसे ग्रहण न किया जाय अथवा दोनोंका युगपद् ग्रहण न किया जाय तो यही 'अनुक्तौना त्रये' तीन प्रकारकी अनुक्तियोंके तीन उदाहरणोंके रूपमें परिवर्तित हो जायगा। इन चारोंमें सादृश्य आक्षित रहेगा अत. यह आक्षित सादृश्यवाले व्यतिरेकके चार भेदोंका उदाहरण हो सकता है। इस प्रकार यहाँतक व्यतिरेकके श्लेषरहित बारह भेदोंके उदाहरण दिखला दिये हैं। आगे श्लेषयुक्त व्यतिरेकके उदाहरण दिखलाते हैं—

(४) जितेन्द्रिय होनेसे विद्यावृद्ध [पण्डित] जनोंकी भली प्रकार सेवा करनेवाले अत्यन्त दृढ़ [धैर्य आदि] गुणोंसे युक्त राजाके [उक्त धैर्यादि] गुण कमलके [गुण अर्थात् सूत्रों] समान [भङ्गुर अर्थात् तुरन्त] टूट जानेवाली नहीं है ॥ ४६७ ॥

यहाँ राजा उपमेय और अब्ज कमल उपमान है। उपमेयके उत्कर्षहेतु 'अतिगाढगुणत्व' तथा उपमानके अपकर्ष हेतु 'भङ्गुरत्वगुण' दोनोंका उपादान किया गया है, अत यह 'हेत्वोरुक्तौ'का उदाहरण है। इन दोनों हेतुओंका पर्यायसे या युगपद् अनुपादान होनेपर यही 'अनुक्तीना त्रये' तीन उदाहरणोंके रूपमें परिवर्तित किया जा सकता है। 'अब्जवत्' पदमें जो वति प्रत्यय हुआ है वह 'तत्र तस्येव' इस सूत्रसे हुआ है इसलिए उपमाके प्रकरणमें पृष्ठ ४८५ पर कहे हुए सिद्धान्तके अनुसार शाब्द औपम्य है। और 'गुण' शब्दमें श्लेष पाया जाता है। इस प्रकार यह श्लेषमूलक शाब्द औपम्यमें व्यतिरेकके 'हेत्वोरुक्तौ' भेदका उदाहरण है। और यह आगे [illegible] 'अनुक्तीना त्रये' तीन उदाहरणोंके रूपमें भी परिवर्तित किया जा सकता है।

यहाँ 'इव'के अर्थमें 'वति-प्रत्यय' है। 'गुण' शब्द श्लिष्ट [एक पक्षमें धैर्यादि गुणोंका और दूसरे पक्षमें सूत्रका वाचक] है। औपम्य शाब्द है।

(५) देखो, अखण्डित [चन्द्रपक्षमें सम्पूर्ण अथवा राजपक्षमें समग्र] मण्डल [राजपक्षमें राज्यसमूह अथवा चन्द्रपक्षमें चन्द्रबिम्ब] से युक्त और श्रीसे परिपूर्ण यह राजा चन्द्रमाके समान कभी भी कलाओं [के ज्ञान] से रहित नहीं होता ॥ ४६८ ॥

अत्र तुल्यार्थे वतिः, कलाशब्दः श्लिष्टः ।

मालाप्रतिवस्तूपमावत् मालाव्यतिरेकोऽपि सम्भवति । तस्यापि भेदा एवमूह्याः । दिङ्मात्रमुदाह्रियते यथा—

(६-१) हरवन्न विषमदृष्टिर्हरिवन्न विभो विधूतविततवृषः ।
रविवन्न चातिदुःसहकरतापितभूः कदाचिदसि ॥४६९॥

अत्र तुल्यार्थे वतिः, विषमादयश्च शब्दाः श्लिष्टाः ।

(७-२क) नित्योदितप्रतापेन त्रियामामीलितप्रभः ।
भास्वताऽनेन भूपेन भास्वानेष विनिर्जितः ॥४७०॥

अत्र आक्षिप्तैवोपमा, भास्वतेति श्लिष्टः ।

यहाँ तुल्यार्थमें वति-प्रत्यय है, [इसलिए ४४५ पृष्ठपर कहे नियमके अनुसार यह आर्थ औपम्यका उदाहरण है]। कला शब्द [एक पक्षमें चौसठ प्रकारकी कलाओं और दूसरे पक्षमें चन्द्रमाकी सोलह कलाओंका वाचक होनेसे] श्लिष्ट है।

इसमें उपमानभूत चन्द्रमाके अपकर्षका हेतु 'कलावैकल्य' तथा उपमेयगत [illegible] 'कलावैकल्यका अभाव' दोनों उक्त है। अतः यह 'दोनोंके उक्त होने'का उदाहरण है। इन दोनोंमें [illegible] एक-एकके क्रमशः अनुक्त होने अथवा दोनोंके युगपत् अनुक्त होनेपर भी उदाहरण '[illegible] भेदों'के उदाहरणरूपमें परिवर्तित किया जा सकता है।

मालाप्रतिवस्तूपमाके समान मालाव्यतिरेक भी हो सकता है। उसके भी इसी प्रकार [२४] भेद समझ लेने चाहिये। दिग्दर्शनके लिए [तीन] उदाहरण देते हैं—

(६-१) हे राजन्! आप कभी महादेवके समान विषमनेत्र [तीन नेत्रवाले अथवा असमदृष्टि] नहीं रखते हैं, विष्णुके समान महान धर्म [वृष अर्थात् धर्म, इसलिए [illegible] वृषासुरका नष्ट करनेवाले नहीं होते हैं और न कभी सूर्यके समान [illegible] कर [टैक्सों, सूर्यपक्षमें किरणों]से पृथिवीको सन्तप्त करनेवाले हैं ॥ ४६९ ॥

यहां तुल्यार्थमें वति-प्रत्यय है [इसलिए ४४५ पृष्ठपर वर्णित नियमके [illegible] आर्थ औपम्य है]। विषम [वृष तथा कर] आदि शब्द श्लिष्ट हैं।

यहाँ एक साथ हर, हरि तथा रवि इन तीनोंके साथ राजाका [illegible] इसलिए यह 'मालाव्यतिरेक'का उदाहरण है। इसमें राजा उपमेय [illegible] उपमानगत अपकर्षहेतु 'असमदृष्टि' आदि कहे हैं। इसलिए [illegible] 'अनुक्ति'का उदाहरण है। [illegible]

(७-२क) जिसका प्रताप सदा विद्यमान रहता है इस प्रकारके इस [illegible] [या सूर्यरूपी] राजाने रात्रिके समय जिसकी कान्ति विलीन हो जाती [illegible] इस सूर्यको पराजित कर दिया ॥ ४७० ॥

यहां [इवादि तथा तुल्यादि दोनों प्रकारके पदोंके न होनेसे] [illegible] है। 'भास्वता' यह पद [दोनों पक्षोंमें भिन्नार्थका बोधक होनेसे] श्लिष्ट है। [illegible] 'भास्वता'का अर्थ दीप्तियुक्त होता है और राजाके पक्षमें 'सूर्यके [illegible]

[सूत्र १६०] निषेधो वक्तुमिष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया ॥१०६॥
वक्ष्यमाणोक्तविषयः स आक्षेपो द्विधा मतः ।

विवक्षितस्य प्राकरणिकत्वादनुपसर्जनीकार्यस्य अशक्यवक्तव्यत्वमतिप्रसिद्धत्वं वा विशेषं वक्तुं निषेधो निषेध इव यः स वक्ष्यमाणविषय उक्तविषयश्चेति द्विधा आक्षेपः । क्रमेणोदाहरणम्—

(१) ए एहि किंपि कीएवि कएण णिक्किव भणामि अलमह वा ।
अविआरिअकज्जारंभआरिणी मरउ ण भणिस्सम् ॥४७२॥
[ए एहि किमपि कस्या अपि कृते निष्कृप ! भणामि अलमथवा ।
अविचारितकार्यारम्भकारिणी म्रियतां न भणिष्यामि ॥इति संस्कृतम्]

(२) ज्योत्स्ना मौक्तिकदाम चन्दनरसः शीतांशुकान्तद्रवः
कर्पूरं कदली मृणालवलयान्यम्भोजिनीपल्लवाः ।
अन्तर्मानसमास्त्वया प्रभवता तस्याः स्फुलिङ्गोत्कर-
व्यापाराय भवन्ति हन्त किमनेनोक्तेन न ब्रूमहे ॥४७३॥

---

१८. आक्षेपालङ्कार

[सूत्र १६०]—जो बात कहना चाहते हैं उसमें विशेष उत्कर्ष प्रकट करनेके लिए जो उसका निषेध किया जाय वह १. वक्ष्यमाणविषयक [अर्थात् जो बात आगे कहनी है उसका पहिलेसे निषेध कर देना इस तरह] और २. उक्तविषय [अर्थात् पूर्वकथित बातका निषेधरूप] आक्षेप [अलङ्कार] दो प्रकारका होता है।

विवक्षित अर्थात् प्रकृत होनेसे जिसको गौण या उपेक्षणीय नहीं किया जा सकता है ऐसे अर्थके अवर्णनीयत्व अथवा अतिप्रसिद्धत्वरूप विशेषताको बतलानेके लिए जो निषेध अर्थात् निषेध-सा [न कि वास्तविक निषेध] करना वह, १. वक्ष्यमाण-विषयक [अर्थात् आगे कहे जानेवाली बातको कहे बिना पहिले ही निषेध सा कर देना] और २. उक्तविषयक [अर्थात् बातको कहकर फिर उसका निषेध कर देना] दो प्रकारका 'आक्षेप' [अलङ्कार] होता है। क्रमसे [दोनोंके] उदाहरण [आगे देते हैं]—

(१) अरे निष्ठुर! इधर तो आओ, किसीके लिए कुछ कहना चाहती हूँ। अथवा बिना विचारे काम करनेवाली उसको मर जाने दो, मैं कुछ नहीं कहूँगी ॥४७२॥

यहाँ वियोगिनी नायिकाकी सखी नायकके पास उसका सन्देश लेकर आयी है। पर [illegible] दशाको कहनेके पहिले ही उसका निषेध सा कर रही है। [illegible] यह वक्ष्यमाणविषयक आक्षेपका उदाहरण है। उक्तविषयक निषेधरूप आक्षेपका दूसरा उदाहरण देते हैं—

(२) हृदयके भीतर बैठे हुए तुम्हारे कारण [अर्थात् तुम्हारे वियोगमें] चाँदनी, मुक्ताकी माला, चन्दन रस, चन्द्रकान्तमणिका जल, कपूर, केला, मृणालके कङ्कण और कमलिनीके पत्ते भी उसके लिए आग बरसानेका काम करनेवाले हो रहे हैं। [illegible] यह सब कहनेसे क्या लाभ? इसलिए हम नहीं कहेंगी ॥४७३॥

[सूत्र १६१] क्रियायाः प्रतिषेधेऽपि फलव्यक्तिर्विभावना ॥१०७॥

हेतुरूपक्रियाया निषेधेऽपि तत्फलप्रकाशनं विभावना । यथा—

कुसुमितलताभिरहताऽप्यधत्त रुजमलिकुलैरदष्टापि ।
परिवर्त्तते स्म नलिनीलहरीभिरलोलिताप्यघूर्णत सा ॥ ४७४॥

[सूत्र १६२] विशेषोक्तिरखण्डेषु कारणेषु फलावचः ।

मिलितेष्वपि कारणेषु कार्यस्याकथनं विशेषोक्तिः । अनुक्तनिमित्ता उक्तनिमित्ता अचिन्त्यनिमित्ता च । क्रमेणोदाहरणम्—

(१) निद्रानिवृत्तावुदिते द्युरत्ने सखीजने द्वारपदं पराप्ते ।
श्लथीकृताश्लेषरसे भुजङ्गे चचाल नालिङ्गनतोऽङ्गना सा ॥४७५॥

यहाँ बातको कह देनेके बाद फिर उसका निषेध किया गया है इसलिए यह उक्तविषयक निषेधाभासमूलक आक्षेपालङ्कारका उदाहरण है ।

१९. विभावना अलङ्कार

अलङ्कारोंके पूर्वोक्त वर्गीकरणमें दूसरा वर्ग 'विरोधमूलक अलङ्कार'का है । प्रकृत 'विभावना' अलङ्कारको इसी 'विरोधमूलक अलङ्कार' वर्गमें गिना गया है । आगे उसका लक्षण आदि करते हैं—

[सूत्र १६१]—['क्रियतेऽनयेति क्रिया' इस व्युत्पत्तिके अनुसार यहाँ क्रिया शब्द कारणका बोधक है । इस] कारणका [अभाव या] निषेध होनेपर भी फलकी उत्पत्ति [का वर्णन] होनेपर विभावना [अलङ्कार] होता है ।

हेतुरूप क्रिया [अर्थात् कारण] का निषेध [अथवा अभाव] होनेपर भी फलकी उत्पत्ति विभावना [अलङ्कार कहलाता] है । जैसे—

खिली हुई लताओंसे ताडित न होनेपर भी वह [नायिका] पीड़ाको प्राप्त हो रही थी, भ्रमर-कुलसे न काटे जानेपर भी तड़प रही थी और कमलिनियोंसे युक्त लहरोंके चक्करमें पड़े बिना भी चक्कर खा रही थी ॥ ४७४ ॥

यहाँ लताओंकी चोट पीडाका हेतु हो सकती थी, भ्रमरका काटना तड़पनेका और कमलिनियोंकी लहरोंके चक्करमें फँस जाना चक्कर आनेका कारण हो सकता था । परन्तु उन कारणोंका निषेध करनेपर भी कार्यका प्रकाशन किया गया है । इसलिए यह विभावनालङ्कारका उदाहरण है ।

२०. विशेषोक्ति अलङ्कार

यह विशेषोक्ति भी विरोधमूलक अलङ्कार माना गया है, उसका लक्षण आगे देते हैं—

[सूत्र १६२]—सम्पूर्ण कारणोंके होनेपर फलका न कहना विशेषोक्ति है ।

[प्रसिद्ध] कारणोंके एकत्र होनेपर भी कार्यका कथन न करना विशेषोक्ति [अलङ्कार] होता है । यह १ अनुक्तनिमित्ता, २ उक्तनिमित्ता तथा ३ अचिन्त्यनिमित्ता [इस तरह तीन प्रकारकी] होती है । क्रमसे [तीनों] उदाहरण [जैसे]—

(१) निद्रा खुल जानेपर, सूर्यका उदय हो जानेपर, सखियोंके [शयन स्थानके] दरवाजेपर आ जानेपर और उपपति [भुजङ्ग] के आलिङ्गनके रसको त्याग देनेपर भी वह आलिङ्गन [बाहुपाश] से विचलित नहीं हुई ॥४७५॥

(२) कर्पूर इव दग्धोऽपि शक्तिमान् यो जने-जने ।
नमोऽस्त्ववार्यवीर्याय तस्मै मकरकेतवे ॥४७६॥

(३) स एकस्त्रीणि जयति जगन्ति कुसुमायुधः ।
हरतापि तनुं यस्य शम्भुना न हृतं बलम् ॥४७७॥

[सूत्र १६३] यथासंख्यं क्रमेणैव क्रमिकाणां समन्वयः ॥१०८॥

यथा—

एकस्त्रिधा वससि चेतसि चित्रमत्र
देव द्विषां च विदुषां च मृगीदृशां च ।
तापं च सम्मदरसं च रतिं च पुष्णन्
शौर्योष्मणा च विनयेन च लीलया च ॥४७८॥

यहाँ निद्रानिवृत्ति, सूर्यका उदय हो जाना तथा प्रियतमका घरके द्वारपर आ जाना सब आलिङ्गन परित्यागके कारण उपस्थित हैं परन्तु नायिका आलिङ्गनका परित्याग नहीं कर रही है। इसलिए कारणके होनेपर भी कार्यके न होनेसे विशेषोक्ति अलङ्कार है। और उसका निमित्त नहीं बतलाया गया है इसलिए यह अनुक्तनिमित्ता विशेषोक्तिका उदाहरण है।

(२) जो [कामदेव] कर्पूरके समान भस्म हो जानेपर भी जन-जनमें शक्तिमान् हो गया है, उस अप्रत्याहत पराक्रमवाले कामदेवको नमस्कार है ॥४७६॥

यहाँ भस्म हो जाना शक्तिक्षयका कारण है। उसके विद्यमान होनेपर भी कामदेवकी शक्तिका क्षय नहीं हुआ है। यह कारणके होनेपर भी कार्यके न होनेसे विशेषोक्ति अलङ्कार है। परन्तु यहाँ उसका कारण या निमित्त 'अवार्यवीर्यत्व' कहा हुआ है। अतः यह उक्तनिमित्ता विशेषोक्तिका उदाहरण है। आगे अचिन्त्यनिमित्ता विशेषोक्तिका उदाहरण है।

(३) फूलोंके अस्त्र धारण करनेवाला वह [कामदेव] अकेला ही तीनों लोकोंको पराजित कर देता है, जिसके शरीरका अपहरण करके भी शिवजी उसकी शक्तिका विनाश नहीं कर पाये ॥४७७॥

२१. यथासंख्य अलङ्कार

[सूत्र १६३]—क्रमसे कहे हुए पदार्थोंका उसी क्रमसे समन्वय होनेपर यथासंख्य अलङ्कार होता है ॥१०८॥

जैसे—

हे देव ! आप अकेले ही शत्रुओं, विद्वानों तथा मृगनयनियोंके मनमें, [शत्रुओंके मनमें] शौर्यकी गरमीसे सन्तापको उत्पन्न करते हुए, [विद्वानोंके मनमें] विनयसे आनन्दरसको बढ़ाते हुए और सौन्दर्यसे मृगनयनियोंके मनमें रतिको उत्पन्न करते हुए तीन रूपोंमें रहते हैं यह आश्चर्यकी बात है ॥४७८॥

इसमें द्वितीय चरणमें क्रमसे कहे हुए 'द्विषाम्', 'विदुषाम्' और 'मृगीदृशाम्'का तृतीय चरणमें कहे हुए 'तापम्', 'सम्मदरसम्' और 'रतिम्'के साथ तथा चतुर्थ चरणमें कहे हुए 'शौर्योष्मणा', 'विनयेन' और 'लीलया'के साथ उसी क्रमसे अन्वय होता है इसलिए यह यथासंख्य अलङ्कारका उदाहरण है।

(३) गुणानामेव दौरात्म्याद् धुरि धुर्यो नियुज्यते ।
असञ्जातकिणस्कन्धः सुखं स्वपिति गौर्गलिः ॥४८१॥

(४) अहो हि मे बह्वपराद्धमायुषा यदप्रियं वाच्यमिदं मयेदृशम् ।
त एव धन्याः सुहृदः पराभवं जगत्यदृष्ट्वैव हि ये क्षयं गताः ॥४८२॥

[सूत्र १६५] विरोधः सोऽविरोधेऽपि विरुद्धत्वेन यद्वचः ।

वस्तुवृत्तेनाविरोधेऽपि विरुद्धयोरिव यदभिधानं स विरोधः ।

यहाँ 'क्व नासि शुभप्रदः' इस सामान्यसे अभिसारिकाके उपकाररूप विशेषका समर्थन किया गया है। इसलिए यह साधर्म्य द्वारा सामान्यसे विशेषके समर्थनरूप अर्थान्तरन्यासका उदाहरण है।

(३) गुणोंके ही दौरात्म्यके कारण [धुरं वहतीति धुर्यः] उत्तम बैल [अथवा कार्यकुशल पुरुष] सदा जुएमें जोता जाता है। दुष्ट बैलके कन्धेपर दाग भी नहीं लगता और वह आनन्दसे सोता रहता है ॥४८१॥

गुणवान् उत्तम पुरुष ही सदा कार्यमें पीसे जाते हैं इस सामान्य बातका दुष्ट बैलके उदाहरण द्वारा विशेषसे समर्थन किया गया है। इसलिए यह वैधर्म्यसे अर्थान्तरन्यास अलङ्कारका उदाहरण है। 'गलिः गौः' में गलि शब्दका अर्थ अनेकों टीकाकारोंने भिन्न-भिन्न प्रकारसे किया है। 'य आसक्तित धुरं बलात् पातयति स गौर्गलिरित्युद्योतः। धूःस्पर्शमात्रेण यः स्वयं पतति स गौर्गलिनामा वृषभ इति सुधासागरः। गलिः कुत्सितगल इति चन्द्रिका। कुत्सितो गलोऽस्यास्तीति गलिरिति सारस्वतीतीर्थः। गलिः कार्याकुशलो वृष इति माणिक्यचन्द्रः। समर्थोऽप्यधूर्वहो दुष्ट इति महेश्वरः।'

(४) अरे, मेरी लम्बी आयुने यह बड़ा अपराध किया है कि जिससे मुझे इस प्रकारका [सुहृद्विनाशका] अप्रिय [समाचार] कहना पड़ रहा है। वे ही वास्तवमें धन्य हैं जो संसारमें सुहृद्के पराभवको देखे बिना ही मृत्युको प्राप्त हो जाते हैं ॥४८२॥

यहाँ सामान्यसे विशेषका वैधर्म्यसे समर्थन किया गया है इसलिए अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है।

२३. विरोधालङ्कार

[सूत्र १६५]—वास्तवमें विरोध न होनेपर भी [विरोधकी प्रतीति करानेवाले] विरुद्धरूपसे जो वर्णन करना वह विरोध [या विरोधाभासनामक अलङ्कार] होता है।

वास्तवमें अविरोध होनेपर [या विरोध न होनेपर] भी जो दो विरुद्धोंका कथन करना है वह विरोध [या विरोधाभास अलङ्कार] होता है।

पृष्ठ ४३ पर सूत्र १० में जातिशब्द, गुणशब्द, क्रियाशब्द तथा यदृच्छाशब्द [या द्रव्यशब्द] इन चार प्रकारके शब्दोंका वर्णन किया जा चुका है। इनमेंसे जातिका जातिशब्द, गुणशब्द, क्रिया शब्द और द्रव्यशब्द चारोंके साथ विरोध हो सकता है। इसी प्रकार गुण तथा क्रियाशब्द एवं द्रव्य[illegible] चारोंके साथ विरोध हो सकता है। परन्तु जातिका गुणके साथ जो विरोध है वह पहिले चार [illegible] गुणके साथ विरोधमें ही आ चुका है इसलिए गुणका विरोध गुणादि तीनके साथ मिलने [illegible] जाता है। इसी प्रकार क्रियाका दोके साथ विरोध मिलने योग्य रह जाता है, [illegible] भेदोंमें ही आ चुकी है। इसी प्रकार द्रव्यके विरोधके तीन भेदोंकी गणना पहिले [illegible] उसका एक ही भेद रह जाता है। इस प्रकार जातिके चार गुणके तीन [illegible] कुल मिलाकर विरोधके ४+३+२+१ = १० दस भेद होते हैं। [illegible]

[सूत्र १६६] जातिश्चतुर्भिर्जात्याद्यैर्विरुद्धा स्याद् गुणस्त्रिभिः ॥११०॥
क्रिया द्वाभ्यामपि द्रव्यं द्रव्येणैवेति ते दश ।

क्रमेणोदाहरणम्—

(१) अभिनवनलिनीकिसलयमृणालवलयादि दवदहनराशिः ।
सुभग ! कुरङ्गदृशोऽस्या विधिवशतस्त्वद्वियोगपविपाते ॥४८३॥

(२) गिरयोऽप्यनुन्नतियुजो मरुदप्यचलोऽब्धयोऽप्यगम्भीराः ।
विश्वम्भराऽप्यतिलघुर्नरनाथ ! तवान्तिके नियतम् ॥४८४॥

(३) येषां कण्ठपरिग्रहप्रणयितां सम्प्राप्य धाराधर-
स्तीक्ष्णः सोऽप्यनुरज्यते च कमपि स्नेहं पराप्नोति च ।
तेषां सङ्गरसङ्गसक्तमनसां राज्ञां त्वया भूपते !
पांसूनां पटलैः प्रसाधनविधिर्निर्वर्त्यते कौतुकम् ॥४८५॥

[सूत्र १६६]—जातिका जाति आदि चार [जाति, गुण, क्रिया तथा द्रव्य] के साथ विरोध हो सकता है, गुणका गुणादि [गुण, क्रिया तथा द्रव्य] तीनके साथ, क्रियाका क्रिया तथा द्रव्य [दो] के साथ और द्रव्यका [केवल] द्रव्यके साथ विरोध हो सकता है। इस प्रकार ये दस प्रकारके [विरोध या विरोधाभास अलङ्कार] होते हैं।

क्रमशः इन [दसों भेदों] के उदाहरण [आगे देते हैं]।

जातिके गुणादिविरोधके चार उदाहरण—

(१) हे सुभग ! दैववश तुम्हारे वियोगरूप वज्रके गिरनेपर उस [नायिका] के लिए नवीन कमलिनीके पत्ते और मृणालके वलय आदि [जो उसकी गर्मीको शान्त करनेके लिए प्रयुक्त किये जाते हैं वे सब] दावाग्निका ढेर बन जाते हैं ॥४८३॥

(४) सृजति च जगदिदमवति च संहरति च हेलयैव यो नियतम्।
अवसरवशतः शफरो जनार्दनः सोऽपि चित्रमिदम् ॥४८६॥

(५) सततं मुसलासक्ता बहुतरगृहकर्मघटनया नृपते।
द्विजपत्नीनां कठिनाः सति भवति कराः सरोजसुकुमाराः ॥४८७॥

(६) पेशलमपि खलवचनं दहतितरां मानसं सतत्त्वविदाम्।
परुषमपि सुजनवाक्यं मलयजरसवत् प्रमोदयति ॥४८७॥

प्राप्त चिकणता] को प्राप्त हो जाती है। युद्धभूमिके लिए उत्सुक उन [राजाओं] को आप धूलमें मिलानेका काम करते हैं] यह आश्चर्यकी बात है ॥ ४८५ ॥

इसमे धाराधर अर्थात् खड्ग जातिवाचक शब्द है उसका अनुराग तथा स्नेह प्रातिरूप क्रियाके साथ विरोध दिखलाया गया है। परन्तु उनका रुधिरसम्पर्ककृत लौहित्य तथा चिक्कणतापरक अर्थ करनेपर विरोधका परिहार हो जाता है इसलिए यह विरोधाभासका तीसरा उदाहरण है।

जातिका द्रव्यके साथ विरोध दिखलानेवाला चौथा उदाहरण देते हैं—

(४) जो इस जगत्को अनायास ही बनाते, रक्षा करते और बिगाड़ते हैं वे जनार्दन भी कालवश मछली [मत्स्यावतार] बन जाते हैं यह बड़े आश्चर्यकी बात है ॥४८६॥

जो जनार्दन हैं वे मछली कैसे हो सकते हैं यह शफरत्व जातिका जनार्दनरूप द्रव्यसे विरोध है परन्तु भगवान्‌की लीलासे सब कुछ हो सकता है इसलिए वे मत्स्यावतार भी धारण कर लेते हैं। इस प्रकारकी व्याख्यासे उस विरोधका परिहार हो जाता है इसलिए यह जातिका द्रव्यके साथ विरोधाभासका उदाहरण है।

गुणके गुणादिके साथ विरोधके तीन उदाहरण

गुणका गुणके साथ विरोध दिखलानेवाला विरोधाभासका पाँचवाँ उदाहरण देते हैं—

(५) हे राजन्! सदैव मूसलमें लगे रहनेवाले और नाना प्रकारके घरके कामोंके करनेसे कठोर पड़े हुए ब्राह्मणोंकी स्त्रियोंके हाथ आपके होनेपर कमलके समान कोमल हो रहे हैं [अर्थात् आपने ब्राह्मणोंको इतना दान दिया है कि अब उनकी पत्नियोंको कोई काम नहीं करना पड़ता है, इसलिए उनके हाथ कमलके समान कोमल हो गये हैं] ॥४८७॥

यहाँ कठिनत्व और सुकुमारत्व गुणोंका विरोध है। और आपके दिये हुए दानके कारण उनको अब काम नहीं करना पड़ता है इसलिए उनके हाथ सुकुमार हो गये हैं इस प्रकारकी व्याख्यासे उस विरोधका परिहार हो जाता है, अतः यह विरोधाभासका पाँचवाँ उदाहरण है।

गुणका क्रियाके साथ विरोध प्रदर्शित करनेवाला विरोधाभासका छठा उदाहरण देते हैं—

(६) दुष्ट पुरुषोंका मधुर वचन भी [उस मधुर भाषणके] रहस्यको समझनेवालोंके मनको अत्यन्त सन्तप्त करता है। और सज्जन पुरुषोंका कठोर वचन भी [उस कठोरताके रहस्यको जाननेवालोंको] चन्दनके रसके समान आनन्दित करता है ॥४८८॥

यहाँ पेशलत्व गुणका दाह क्रियाके साथ और परुषत्व गुणका प्रमोदन क्रियाके साथ आपाततः विरोध प्रतीत होता है। और वक्ताओंके सज्जन तथा दुर्जनत्वके द्वारा उसका परिहार हो जाता है। इसलिए यह विरोधाभासका छठा उदाहरण है।

(७) क्रौञ्चाद्रिरुद्दामदृषद्दृढोऽसौ यन्मार्गणानर्गलशातपाते ।
अभून्नवाम्भोजदलाभिजातः स भार्गवः सत्यमपूर्वसर्गः ॥४८९॥

(८) परीच्छेदातीतः सकलवचनानामविषयः
पुनर्जन्मन्यस्मिन्ननुभवपथं यो न गतवान् ।
विवेकप्रध्वंसादुपचितमहामोहगहनो
विकारः कोऽप्यन्तर्जडयति च तापं च कुरुते ॥४९०॥

(९) अयं वारामेको निलय इति रत्नाकर इति ।
श्रितोऽस्माभिस्तृष्णातरलितमनोभिर्जलनिधिः ।
क एवं जानीते निजकरपुटीकोटरगतं
क्षणादेनं ताम्यत्तिमिमकरमापास्यति मुनिः ॥४९१॥

गुणका द्रव्यके साथ विरोधप्रदर्शक विरोधाभासका सातवाँ उदाहरण देते हैं—

(७) बड़ी-बड़ी कठोर शिलाओंसे दुर्भेद्य यह क्रौंच नामक पर्वत भी जिन [परशुराम] के अप्रतिहत वज्रके समान तीक्ष्ण बाणोंकी वृष्टिसे नवीन कमलके पत्तेके समान कोमल [सुभेद्य] हो गया वे भार्गव [परशुराम] सचमुच ही लोकोत्तर पुरुष हैं ॥ ४८९ ॥

यहाँ कोमलत्व गुणका क्रौञ्चाद्रि द्रव्यके साथ आपाततः विरोध प्रतीत होता है। परन्तु परशुरामके प्रतापसे वह सुभेद्य हो गया इस रूपसे उसका परिहार हो जाता है। अतः विरोधाभासका सातवाँ उदाहरण है। परशुराम द्वारा क्रौञ्चाद्रिके भेदनकी कथा पुराणप्रसिद्ध है।

क्रियाके क्रियादि दोके साथ विरोधके दो उदाहरण

जातिके जात्यादि चारके साथ और गुणके गुणादि तीनके साथ विरोधके प्रदर्शक विरोधाभासके ४ + ३ = ७ सात उदाहरण अबतक दे चुके हैं। अब क्रियाके क्रिया और द्रव्य दोके साथ विरोधके दो उदाहरण आगे देते हैं—

(८) पृष्ठ १८३, श्लोक सं० १०७ पर इस श्लोकका अर्थ देखिये ॥ ४९० ॥

इसमें 'जडयति च तापं च कुरुते' इन दोनों क्रियाओंका विरोध है। परन्तु विरहके वैचित्र्यसे, कालभेदसे उसका विरह कभी सन्तापदायक होता है और कभी उसकी स्मृति आनन्ददायक हो उठती है। इस प्रकार विरोधका परिहार हो जानेसे यह विरोधाभासका आठवाँ उदाहरण है।

क्रियाका द्रव्यके साथ विरोधप्रदर्शक नवम उदाहरण देते हैं—

(९) यह [समुद्र] जलका एक [अपूर्व या] मुख्य अगार है और रत्नोंका आकर है ऐसा समझकर तृष्णासे व्याकुलमन होकर हमने इसका आश्रय लिया था। पर यह किसको मालूम था कि अपने हाथकी अञ्जलिके कोनेमें समाये हुए और बड़े-बड़े मगरमच्छ जिसमें तड़फड़ा रहे हैं ऐसे इस [समुद्र] को [अगस्त्य] मुनि तनिक देरमें ही सोख जायेंगे ॥ ४९१ ॥

यहाँ अगस्त्यमुनिके द्वारा समुद्रका पी जाना आपाततः असम्भव होनेसे पानक्रियाका अगस्त्य तथा समुद्ररूप दोनों द्रव्योंके साथ विरोध प्रतीत होता है। अतः यह विरोधाभासका नौवाँ उदाहरण है।

(१०) समदमतङ्गजमदजलनिस्यन्दतरङ्गिणीपरिष्वङ्गात् ।
क्षितितिलक ! त्वयि तटजुषि शङ्करचूडापगापि कालिन्दी ॥४९२॥

[सूत्र १६७] स्वभावोक्तिस्तु डिम्भादेः स्वक्रियारूपवर्णनम् ॥१११॥

स्वयोस्तदेकाश्रययोः । रूपं वर्णः संस्थानं च । उदाहरणम्—

पश्चादंघ्री प्रसार्य त्रिकनतिविततं द्राघयित्वाङ्गमुच्चै-
रासज्याभुग्नकण्ठो मुखमुरसि सटां धूलिधूम्रां विधूय ।
घासग्रासाभिलाषादनवरतचलत्प्रोथतुण्डस्तुरङ्गो
मन्दं शब्दायमानो विलिखति शयनादुत्थितः क्ष्मां खुरेण ॥४९३॥

[सूत्र १६८] व्याजस्तुतिर्मुखे निन्दा स्तुतिर्वा रूढिरन्यथा ।

व्याजरूपा व्याजेन वा स्तुतिः ।

द्रव्यका द्रव्यके साथ विरोधका एक उदाहरण—

(१०) हे राजन् ! आपके किनारेपर उपस्थित होनेपर [अर्थात् गङ्गानदीके किनारे आपकी सेनाका पड़ाव पड़नेसे आपकी सेनाके] मदयुक्त हाथियोंके मदजलके प्रवाहसे उत्पन्न [मदधाराकी कृष्णवर्ण] नदीके [धारामें] मिल जानेसे [शिवजीके मस्तकपर रहनेवाली] गङ्गा नदी भी [जलके कृष्णवर्ण हो जानेसे] यमुना बन गयी है ॥४९२॥

यहाँ गङ्गा और यमुना नदी रूप द्रव्योंका परस्पर विरोध है । जो गङ्गा है वह यमुना [illegible] हो सकती है । परन्तु मदजलकी श्यामतासे गङ्गा यमुना-सी श्याम हो जाती है, [illegible] विरोधका परिहार हो जाता है । यह विरोधाभासका दसवाँ उदाहरण है ।

२४. स्वभावोक्ति अलङ्कार

[सूत्र १६७]—बालक आदिकी अपनी [स्वाभाविक] क्रिया अथवा रूप [illegible] वर्ण एवं अवयवसंस्थान] का वर्णन स्वभावोक्ति [अलङ्कार कहलाता] है ॥१११॥

केवल अपनेमें [अर्थात् बालक आदिमें] रहनेवाले [क्रिया या रूपका वर्णन] । रूप [शब्दसे यहाँ] रंग और संस्थान [अर्थात् अवयवोंकी बनावट [illegible]] चाहिये] । [बाणभट्टकृत 'हर्षचरित'के तृतीय उच्छ्वासमें स्वभावोक्ति [illegible]]—

पीछेकी दोनों टांगें फैलाकर त्रिक [illegible] लम्बे शरीरको यथासम्भव ऊपरकी ओर उठाते हुए, [illegible] छातीमें लगाकर और धूलिधूसरित अयालोंको हिलाकर घासका [illegible] जिसका होठ तथा मुख निरन्तर चल रहा है इस प्रकारका [illegible] हिनहिनाता हुआ घोड़ा खुरोंसे भूमि खोद रहा है ॥४९३॥

सोकर उठे हुए घोड़ेकी स्वाभाविक क्रियाका वर्णन [illegible]

२५. व्याजस्तुति अलङ्कार

[सूत्र १६८]—प्रारम्भमें [दिखनेमें] निन्दा अथवा स्तुति [illegible] उससे भिन्न [अर्थात् आपाततः दीखनेवाली निन्दाका स्तुतिमें [illegible]] में पर्यवसान होनेपर व्याजस्तुति [अलङ्कार] होता है ।

[व्याजस्तुति पदका अर्थ दो प्रकारसे हो सकता है, [illegible]

क्रमेणोदाहरणम्—

(१) हित्वा त्वामुपरोधवन्ध्यमनसां मन्ये न मौलिः परो
लज्जावर्जनमन्तरेण न रमामन्यत्र संदृश्यते ।
यस्त्यागं तनुतेतरां मुखशतैरेत्याश्रितायाः श्रियः
प्राप्य त्यागकृतावमाननमपि त्वय्येव यस्याः स्थितिः ॥४९४॥

(२) हे हेलाजितबोधिसत्त्व ! वचसां किं विस्तरैस्तोयधे !
नास्ति त्वत्सदृशः परः परहिताधाने गृहीतव्रतः ।
तृष्यत्पान्थजनोपकारघटनावैमुख्यलब्धायशो-
भारप्रोद्वहने करोषि कृपया साहाय्यकं यन्मरोः ॥४९५॥

[सूत्र १६९] सा सहोक्तिः सहार्थस्य बलादेकं द्विवाचकम् ॥११२॥

एकार्थाभिधायकमपि सहार्थबलाद् यत् उभयस्याप्यवगमकं सा सहोक्तिः । यथा—

स्तुति [अर्थात् जहाँ देखनेमें निन्दा प्रतीत हो पर वास्तवमें स्तुति हो वह व्याजरूपा स्तुति होनेसे व्याजस्तुति कहलाती है। और जहाँ देखनेमें स्तुति प्रतीत हो परन्तु वास्तवमें निन्दा हो वहाँ] व्याजेन स्तुति [इस अर्थसे व्याजस्तुति कहलाती है]।

क्रमसे [दोनों प्रकारसे] उदाहरण [देते हैं]—

हे राजन् ! मैं समझता हूँ कि आपके सिवा आश्रितजनोंकी प्रार्थनाका अनादर करने [उपरोधः अनुरोधः आश्रितजनोंकी प्रार्थना, लक्षणासे आश्रित जनोंके अङ्गीकाररूप अनुवर्तनसे वन्ध्य अर्थात् शून्य है मन जिनका, उनको स्वीकार न करने] वालोंका सिरमौर दूसरा कोई नहीं है और लक्ष्मीसे अधिक निर्लज्ज भी दुनियामें दूसरा कोई दिखलायी नहीं देता है। जो सैकड़ों मार्गोंसे [पास] आकर आश्रय लेनेवाली लक्ष्मीका त्याग कर देता है और त्यागसे उत्पन्न अपमानको सहकर भी जो आपके पास ही बनी रहती है [ऐसी लक्ष्मीसे बढ़कर निर्लज्ज दूसरा कोई नहीं है] ॥४९४॥

इसमें प्रारम्भमें राजाकी निन्दा प्रतीत होती है परन्तु उसका पर्यवसान स्तुतिमें होता है, इसलिए यह व्याजस्तुतिका उदाहरण है।

(२) अनायास ही बोधिसत्त्व [परोपकारी बुद्ध भगवान्] को भी जीत लेनेवाले हे समुद्रदेव ! आपसे बढ़कर परोपकारका व्रत लेनेवाला कोई दूसरा नहीं दीखता है। जो आप प्यासे पथिकजनोंका [जलदान द्वारा होनेवाले] उपकार करनेसे विमुखताके कारण बदनाम हुए मरुदेश [रेगिस्तान] के [उस अपयशके] भारको उठानेमें हाथ बँटाते हो [अर्थात् जैसे मरुभूमिमें प्यासे आदमीको पानी नहीं मिलता है ऐसे ही तुम्हारे पास भी प्यासेकी प्यास बुझानेकी सामर्थ्य नहीं है] ॥४९५॥

इसमें प्रारम्भमें समुद्रकी स्तुति प्रतीत होती है परन्तु उसका पर्यवसान निन्दामें होता है। यह दूसरे प्रकारकी व्याजस्तुतिका उदाहरण है।

७६. सहोक्ति अलङ्कार

[सूत्र १६९]—जहाँ सह [शब्दके] अर्थकी सामर्थ्यसे एक पद दोनोंका वाचक [दो पदोंके समान] हो वह सहोक्ति कहलाती है ॥११२॥

सह दिअहणिसाहि दीहरा सासदण्डा सह मणिवलयेहि बाप्पधारा गलन्ति ।
तुह सुहअ विओए तीअ उव्विग्गिरीए सह अ तणुलदाए दुव्वला जीविदासा ॥४९६॥

[सह दिवसनिशाभिः दीर्घाः श्वासदण्डाः सह मणिवलयैर्बाष्पधारा गलन्ति ।
तव सुभग ! वियोगे तस्या उद्विग्नायाः सह च तनुलतया दुर्बला जीविताशा ॥
इति संस्कृतम्]

श्वासदण्डादिगतं दीर्घत्वादि शाब्दम् । दिवसनिशादिगतं तु सहार्थसामर्थ्यात् प्रतीयते ।

[सूत्र १७०] विनोक्तिः सा विनाऽन्येन यत्रान्यः सन्न नेतरः ।

कश्चिदशोभनः कश्चिच्छोभनः । क्रमेणोदाहरणम्—

एकार्थवाचक होनेपर भी जो सहार्थकी सामर्थ्यसे दोनोंका बोधक होता है वह सहोक्ति [का स्थल होता] है ।

जहाँ जिन वस्तुओंका सहभाव वर्णित होता है उनमेंसे एक प्रधान और दूसरा [illegible] है । और 'सहयुक्तेऽप्रधाने' इस पाणिनिसूत्रके अनुसार अप्रधानमें तृतीया तथा प्रधानमें प्रथमा विभक्तिका प्रयोग होता है । जैसे 'पुत्रेण सह आगतः पिता' । इसमें पिता प्रधान और पुत्र [illegible] है । इसलिए 'पुत्रेण' में तृतीया तथा 'पिता' में प्रथमा विभक्तिका प्रयोग होता है । [illegible] 'आगतः' क्रियाका कर्ता होता है । 'आगतः' क्रियाका 'पिता' पदके साथ ही [illegible] है, 'पुत्रेण' पदके साथ नहीं । इसलिए 'आगतः' पद [illegible] । [illegible] पदकी सामर्थ्यसे पुत्र शब्दके साथ उसका गौणरूपसे सम्बन्ध होता है । [illegible] है । इस प्रकार 'सह' शब्दके प्रयोगसे जहाँ [illegible] अलङ्कार होता है । सहोक्तिका उदाहरण देते हैं—

हे सुभग ! तुम्हारे वियोगमें व्याकुल हुई उस [नायिका] के [illegible] साथ साथ श्वास-दण्ड बढ़ते जा रहे हैं [श्वासके [illegible] 'श्वास-दण्डाः' कहा है । वियोगमें दुबली हो जानेके कारण [illegible] गिर पड़ते हैं, और उन] मणिवलयोंके साथ आँसुओंकी धारा [illegible] उसकी कोमल देहलताके साथ जीवनकी आशा क्षीण होती जा रही है ॥४९६॥

[इसमें 'श्वासदण्डाः' जो प्रथमान्त पद है उनके प्रधान होनेके कारण [illegible] दीर्घत्वादि [का] शाब्द [साक्षात् सम्बन्ध] है । दिवस निशा आदि [illegible] हैं उनके अप्रधान होनेसे उन] के साथ सहार्थके बलसे [illegible] होता है ।

२७. विनोक्ति अलङ्कार

[सू० १७०]—जहाँ दूसरेके बिना दूसरा अर्थ सुन्दर न हो [illegible] [नेतरः] असुन्दर न हो [किन्तु शोभन हो [illegible]] ।

[अर्थात्] कहीं अशोभन [illegible] और कहीं [illegible] शोभन हो । क्रमसे [दोनों प्रकारकी विनोक्तिके] उदाहरण [illegible]—

(१) [illegible]

[illegible]

(२) [illegible]

[illegible]

[सूत्र १७१] परिवृत्तिर्विनिमयो योऽर्थानां स्यात् समासमैः ॥११३॥

(१) [illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible] ॥

(१) रात्रिके बिना [दिनमें] चन्द्रमा कान्तिहीन हो जाता है और चन्द्रमाके बिना वह [रात्रि] भी अत्यन्त अन्धकारमयी रहती है। [उन निशा तथा शशी] दोनोंके बिना कामियोंके कामका विलास शोभित नहीं होता है ॥४१७॥

[illegible] है। दूसरी विनोक्तिका उदाहरण आगे देते हैं—

(२) यह राजपुत्र मृगलोचना [के चक्करमें सब भूल जाता है। परन्तु] उसके न होनेपर नाना प्रकारके व्यवहारकी प्रतिभासे युक्त हो जाता है। [इसी प्रकार] किसी दुष्ट मित्रके साथ सदा दुष्ट बन जाता है [परन्तु] उस [दुष्ट] मित्रके न होनेपर चन्द्रमाके समान शुद्धहृदय हो जाता है ॥४१८॥

इस श्लोकमें मृगलोचना तथा दुष्ट मित्रके न होनेपर राजपुत्रकी शोभनताका वर्णन किया है इसलिए यह दूसरे प्रकारकी विनोक्तिका उदाहरण है।

२८. परिवृत्ति अलङ्कार

[सूत्र १७१]—पदार्थोंका समान अथवा असमान [उत्तम अथवा हीन पदार्थों] के साथ जो परिवर्तन [का वर्णन] है वह परिवृत्ति [अलङ्कार कहलाता] है ॥११३॥

कारिकामें 'परिवृत्ति' तथा 'विनिमय' दोनों पर्यायवाचक शब्दोंका एक साथ प्रयोग किया गया है। इसलिए पुनरुक्ति-सी प्रतीत होती है। उसके निवारणके लिए, अथवा इन दोनोंमें कौन-सा लक्ष्यपद है और कौन-सा लक्षणपद है इस शङ्काका निवारण करनेके लिए 'परिवृत्तिरलङ्कार' यह लिखा गया है। अर्थात् यहाँ 'परिवृत्ति' यही लक्ष्यपद है शेष 'विनिमयः' पद उसका लक्षण है।

परिवृत्ति अलङ्कार है। [परिवृत्तिका] उदाहरण [जैसे]—

यह वायु फूलोंसे लदी लताओंको उनका प्रिय नर्तन [लास्य] देकर उनके अनुपम सुगन्धको जी-भरकर [भृशम् अत्यर्थं] ले रहा है। और लताएँ तो [विरही] पथिकोंकी दृष्टिको सहसा लेकर उनको मानसिक वेदना [आधिस्तु मानसी व्यथा], शारीरिक रोग, चक्कर आना, रोदन और मोहका सम्पर्क प्रदान करती हैं ॥४१९॥

अत्र पूर्वार्धे समेन समस्य द्वितीये उत्तमेन न्यूनस्य ।

(१) नानाविधप्रहरणैर्नृप ! सम्प्रहारे स्वीकृत्य दारुणनिनादवतः प्रहारान् ।
दृप्तारिवीरविसरेण वसुन्धरेयं निर्विप्रलम्भपरिरम्भविधिर्वितीर्णा ॥५००॥

अत्र न्यूनेनोत्तमस्य ।

[सूत्र १८२] प्रत्यक्षा इव यद्भावाः क्रियन्ते भूतभाविनः
तद्भाविकम् ।

भूताश्च भाविनश्चेति द्वन्द्वः । भावः कवेरभिप्रायोऽत्रास्तीति भाविकम् ।

उदाहरणम्—

आसीदञ्जनमत्रेति पश्यामि तव लोचने ।

भाविभूषणसम्भारां साक्षात्कुर्वे तवाकृतिम् ॥५०१॥

आद्ये भूतस्य द्वितीये भाविनो दर्शनम् ।

यहाँ पूर्वार्द्धमें समसे समका और उत्तरार्द्धमें उत्तमसे न्यूनका [विनिमय] है ।

पूर्वार्द्धमें लास्य लताओंको प्रिय होनेसे उपादेय है और आमोद वायुको प्रिय होनेसे उपादेय है । इसलिए समसे समका विनिमय है । उत्तरार्द्धमें दृष्टि उत्तम और प्रिय है उससे आधि-व्याधि आदिका विनिमय किया है अतः यह उत्तमसे हीनके विनिमयका उदाहरण है ।

हे राजन् ! बलगर्वित शत्रुसमुदायने युद्धमें भयङ्कर गर्जन करनेवाले तुम्हारे नाना प्रकारके शस्त्रोंसे [किये गये] प्रहारोंको स्वीकार कर वियोगरहित चिर आलिङ्गन करनेवाली यह वसुन्धरा तुमको प्रदान की है ॥५००॥

इसमें न्यून [प्रहारों] से उत्तम [वसुन्धरा] का [विनिमय किया गया है] ।

२९. भाविक अलङ्कार

[सूत्र १८२]—अतीत और अनागत पदार्थ [भावनावश कविके द्वारा] जो प्रत्यक्षसे कराये जाते हैं उसको भाविक [नामक अलङ्कार] कहते हैं ।

भूत और भावी यह द्वन्द्वसमास है । [भूताश्च ते भाविनः इस प्रकारका कर्मधारयसमास नहीं है] । भाव अर्थात् कविका [अतीत अनागतको भी प्रत्यक्षवत् दिखलानेका] अभिप्राय यहाँ [रहता] है इसलिए इसे भाविक [कहते हैं] । उदाहरण [जैसे]—

[प्रिये] इनमें अञ्जन लगा हुआ था इस प्रकारके तुम्हारे नेत्रोंको मैं देख रहा हूँ और आगे होनेवाले आभूषणोंसे अलङ्कृत तुम्हारी [अनागत] आकृतिको [भावनावश] साक्षात् देख रहा हूँ ॥५०१॥

पूर्वार्द्धमें अतीतका और उत्तरार्द्धमें अनागतका दर्शन है ।

न्यायादि दर्शनोंमें प्रत्यक्षज्ञानके दो भेद माने गये हैं एक 'निर्विकल्पक ज्ञान' और दूसरा 'सविकल्पक ज्ञान'। चक्षुका घट आदि पदार्थोंके साथ सम्बन्ध होनेपर उनका प्रत्यक्षज्ञान होता है। प्रथम क्षणमें प्रत्येक प्रत्यक्षज्ञान निर्विकल्पक होता है और बादको वह सविकल्पक ज्ञानके रूपमें परिणत हो जाता है। 'नामजात्यादियोजनाहीन वस्तुमात्रावगाहि ज्ञान निर्विकल्पकम्' यह निर्विकल्पक ज्ञानका लक्षण है। अर्थात् जिस ज्ञानमें वस्तुके नाम, जाति, विशेषण आदिका भान न होकर केवल वस्तुके स्वरूपमात्रकी प्रतीति होती है उसको निर्विकल्पक ज्ञान कहते हैं। यद्यपि प्रत्येक वस्तुका ज्ञान होते ही उसके नाम, जाति आदिकी प्रतीति होती है इसलिए सामान्यरूपसे हमारा प्रत्येक ज्ञान 'सविकल्पक ज्ञान'के रूपमें ही अनुभवमें आता है। परन्तु वास्तवमें प्रथम क्षणमें वह नाम जात्यादिके संसर्गसे रहित ही होता है। इस प्रकारके 'निर्विकल्पक' ज्ञानके समझानेके लिए बालकके ज्ञानको उदाहरणरूपमें प्रस्तुत किया गया है। बालकके सामने एक घड़ी रख दी जाय तो बालकको उस घड़ीका ज्ञान उसी प्रकारका होगा जिस प्रकारका हमको होता है। घड़ीकी गोल आकृति, सफेद डायल-पर बने हुए अङ्क, उसकी सुइयाँ आदि जैसी हमको दिखलायी देती है उसी प्रकारकी बालकको भी दिखलायी देती है। हमारे और उसके ज्ञानमें जहाँतक वस्तुके स्वरूपज्ञानका सम्बन्ध है कोई अन्तर नहीं होता है। भेद केवल इतना है कि हम वस्तुके नामादिको जानते हैं इसलिए वस्तुको देखते ही हमें उसके नाम, जात्यादिका स्मरण हो आता है इसलिए हमारा ज्ञान अगले क्षणमें 'सविकल्पक' बन जाता है। परन्तु बालकको घड़ीके नाम, जाति आदि धर्मोंका ज्ञान नहीं है इसलिए उसका ज्ञान 'नामजात्यादियोजनाहीन' और 'वस्तुमात्रावगाही' ही रहता है। इसीको 'निर्विकल्पक' ज्ञान कहते हैं। इसलिए 'निर्विकल्पक' ज्ञानके समझानेके लिए बालकके ज्ञानको ही उदाहरणरूपमें प्रस्तुत किया जाता है, 'बालमूकादिविज्ञानसदृशं निर्विकल्पकम्'।

निर्विकल्पक तथा सविकल्पक ज्ञानके इन लक्षणोंको समझ लेनेपर यह स्पष्ट हो जाता है कि एक ही विषयका पहिले 'निर्विकल्पक' ज्ञान होता है और फिर उसीका सविकल्पक ज्ञान होता है। अर्थात् इन दोनों ज्ञानोंका विषय एक ही होता है परन्तु प्रकारका भेद होता है। जो घट आदि 'निर्विकल्पक'-में देखे जाते हैं वे ही 'सविकल्पक'के भी विषय होते हैं। परन्तु जिस रूपमें 'निर्विकल्पक'में देखे जाते हैं उस रूपमें 'सविकल्पक'में नहीं देखे जाते हैं। 'निर्विकल्पक'में नाम जात्यादिके संसर्गसे रहित वस्तुका भान होता है परन्तु 'सविकल्पक'में नामजात्यादिका संसर्ग भासता है। इसी बातको ग्रन्थकारने 'यदेव दृष्टं तदेव विकल्पयति न तु यथा दृष्टं तथा' इस पङ्क्तिसे कहा है।

'निर्विकल्पक' और 'सविकल्पक' ज्ञानके जो लक्षण ऊपर किये हैं उनके अनुसार 'निर्विकल्पक' ज्ञान 'नामजात्यादिकी योजनासे रहित' तथा 'सविकल्पक' ज्ञान 'नामजात्यादिकी योजनाके सहित' होता है। 'निर्विकल्पक' ज्ञान नामजात्यादिके संसर्गसे रहित होता है इसलिए 'असंसृष्टविषयक' होता है और 'सविकल्पक' ज्ञान संसर्गविषयक' होता है। यह सामान्य सिद्धान्त है। परन्तु बौद्ध दार्शनिकोंका सिद्धान्त इससे भिन्न है। बौद्धदर्शन क्षणभङ्गवादी दर्शन है। उसके मतमें सभी पदार्थ क्षणिक हैं। कोई भी पदार्थ दो क्षण टिकनेवाला नहीं है। इसलिए नित्यपदार्थकी कल्पना तो उनके मतमें सम्भव ही नहीं है। इसलिए बौद्ध लोग जातिको नहीं मानते हैं। नैयायिकके मतमें जाति नित्यपदार्थ है। वही 'सविकल्पक' ज्ञानका विषय होती है। परन्तु बौद्ध नित्यपदार्थको नहीं मानता है इसलिए उसके मतमें जाति 'सविकल्पक' ज्ञानका विषय नहीं है। बौद्धोंने उसके स्थानपर 'अपोह' पदार्थको माना है। 'अपोह'का अर्थ है 'अतद्व्यावृत्ति'। 'अतद्व्यावृत्ति'का अर्थ है 'तद्भिन्नभिन्नत्व'। नैयायिक मतमें घटके 'सविकल्पक' ज्ञानमें घटत्व जातिका ज्ञान होता है और घट शब्दका सङ्केतग्रह भी जातिमें ही

[सूत्र १७५] उदात्तं वस्तुनः सम्पत् ।

सम्पत् समृद्धियोगः । यथा—

मुक्ताः सलिविसूत्रहारगलिताः सम्मार्जनीभिर्हृताः
प्रातः प्राङ्गणसीम्नि मन्थरचलद्बालांघ्रिलाक्षारुणाः ।
दूराद्दाडिमबीजशङ्कितधियः कर्षन्ति केलीशुका
यद्विद्वद्भवनेषु भोजनृपतेस्तत् त्यागलीलायितम् ॥५०६॥

[सूत्र १७६] महतां चोपलक्षणम् ॥११५॥

उपलक्षणमङ्गभावः अर्थादुपलक्षणीयेऽर्थे । उदाहरणम्—

होता है। अर्थात् घटशब्दका अर्थ व्यक्ति नहीं, जाति ही होता है। परन्तु बौद्धमतमें जातिके स्थानपर सर्वत्र 'अपोह' 'अतद्व्यावृत्ति' या 'तद्भिन्नभिन्नत्व'से जातिका काम निकाला जाता है। अतः बौद्धमतमें 'कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षं निर्विकल्पकम्' यह प्रत्यक्षका लक्षण किया है। इसमें 'कल्पना' शब्दसे नामादि भेदोंका ही ग्रहण होता है। उस 'कल्पना' रूप भेदोंसे रहित निर्विकल्पक ज्ञान ही प्रत्यक्ष प्रमाण है। इसलिए बौद्धमतमें 'निर्विकल्पक' ज्ञान 'कल्पना' से रहित या भेदरहित होता है और 'सविकल्पक' ज्ञानमें 'कल्पना' या भेदकी प्रतीति होती है। इसी बातको यहाँ ग्रन्थकारने 'अभिन्नामसंसृष्टत्वेन दृष्टं भेदसंसर्गाभ्यां विकल्पयति' लिखकर प्रतिपादन किया है। 'अभिन्न' पदका अर्थ 'कल्पनापोढम्' है और 'असंसृष्ट'का अर्थ संसर्गरहित है। बौद्धमतमें निर्विकल्पक ज्ञान 'कल्पनापोढम्' भेदरहित होता है और अन्य मतोंमें वह संसर्गरहित अर्थात् नामजात्यादिके संसर्गसे रहित होता है। इसी प्रकार सविकल्पक ज्ञान बौद्धमतमें 'कल्पनायुक्त' या भेदयुक्त और अन्योंके मतमें संसर्गयुक्त अर्थात् नामजात्यादियोजनासहित है। इसलिए ग्रन्थकारने बौद्धमत तथा नैयायिकादिके मतोंका साथ-साथ उल्लेख करते हुए ही अभिन्नमसंसृष्टत्वेन इत्यादि पंक्ति लिखी है।

३७. उदात्त अलङ्कार

[सूत्र १७५]—वस्तुकी समृद्धि [का वर्णन], उदात्त अलङ्कार कहलाता है।

[सूत्रमें आये हुए] 'सम्पत्' [शब्दका अर्थ] समृद्धिका योग है। जैसे—

[राजा भोजकी स्तुति करते हुए कवि कहता है कि—] विद्वानोंके भवनोंमें सुरतकेलिके अवसरपर [मुक्ताहारके भीतरका डोरा टूट जानेके कारण] सूत्रहीन हारोंसे गिरे हुए और झाड़ुओंसे बुहारकर इकट्ठे किये हुए, धीरे-धीरे चलती हुई बालाओंके पैरोंके महावर [की कान्ति] से लाल-लाल दीखते हुए मोतियोंको मनोरंजनके लिए पाले हुए तोते अनारके दाने समझकर खींच रहे हैं यह राजा भोजके दानकी महिमा है॥५०६॥

इसमें [illegible] है।

[सूत्र १७६]—और जो किसी प्रधान वर्णनीय अर्थमें] महापुरुषोंका [illegible] है [illegible]।

[illegible]

अत्र विरहासहत्वं स्मरमार्गणा एव कुर्वन्ति तदुपरि प्रियतमदूरस्थित्यादि उपात्तम्। एष एव समुच्चयः सद्योगे, असद्योगे, सदसद्योगे च पर्यवस्यतीति न पृथक् लक्ष्यते। तथाहि—

(२) कुलममलिनं भद्रा मूर्तिर्मतिः श्रुतिशालिनी
भुजबलमलं स्फीता लक्ष्मीः प्रभुत्वमखण्डितम्।
प्रकृतिसुभगा ह्येते भावा अमीभिरयं जनो
व्रजति सुतरां दर्पं राजन्! त एव तवाङ्कुशाः ॥५०९॥

अत्र सतां योगः। उक्तोदाहरणे त्वसतां योगः।

(३) शशी दिवसधूसरो गलितयौवना कामिनी
सरो विगतवारिजं मुखमनक्षरं स्वाकृतेः।
प्रभुर्धनपरायणः संततदुर्गतः सज्जनो
नृपाङ्गणगतः खलो मनसि सप्त शल्यानि मे ॥५१०॥

अत्र शशिनि धूसरे शल्ये शल्यान्तराणीति शोभनाशोभनयोगः।

यहाँ कामदेवके बाण ही विरहको असह्य बना देते हैं, उसके ऊपर फिर प्रिय-वियोग आदिका भी वर्णन किया है [इसलिए यहाँ समुच्चयालङ्कार है]। यह समुच्चय १. सत् पदार्थके योगमें, २. असत् [अशोभन] के योगमें और ३. शोभनाशोभन [दोनों] के योगमें [तीन भेदोंमें] समाप्त होता है इसलिए [उन तीनों भेदोंके] अलग लक्षण नहीं किये हैं। [सत्के योग आदिके] उदाहरण [जैसे]—

(२) आपका कुल उज्ज्वल है, आकृति बड़ी सुन्दर है, बुद्धि वेदानुसारिणी है, भुजाएँ अत्यन्त बलशालिनी, अपार लक्ष्मी और अखण्डित प्रभुत्व आपके पास है। ये सब पदार्थ स्वभावतः ही सुन्दर हैं। इनके कारण यह [साधारण] आदमी अभिमानी बन जाता है परन्तु हे राजन्! आपके लिए ये ही [अभिमानके] निवारण करनेवाले [अङ्कुश] हैं [यह बड़े आश्चर्यकी बात है।] ॥५०९॥

यहाँ [सब] उत्तम [पदार्थों] का योग है। और पहिले [कहे हुए उदाहरण सं० ५०८] में अशोभन पदार्थोंका योग है।

[illegible]—

(३) १. दिनमें कान्तिहीन चन्द्रमा, २. यौवनसे रहित कामिनी, ३. कमलोंसे रहित तालाब, ४. सुन्दर आकृतिवाले मनुष्यका निरक्षर मुख, ५. धनका लोभी राजा, ६. सदा दुःख भोगनेवाला सज्जन और ७. राजाके दरबारमें दुष्ट पुरुष, ये सात तीर मेरे मनमें [चुभे हुए हैं] ॥५१०॥

[illegible]

[सूत्र १७८] स त्वन्यो युगपद् या गुणक्रिया ॥११६॥

गुणौ च क्रिये च गुणक्रिये च गुणक्रियाः । क्रमेणोदाहरणम्—

(१) विदलितसकलारिकुलं तव बलमिदमभवदाशु विमलं च ।
प्रखलमुखानि नराधिप ! मलिनानि च तानि जातानि ॥५११॥

(२) अयमेकपदे तया वियोगः प्रियया चोपनतः सुदुःसहो मे ।
नववारिधरोदयादहोभिर्भवितव्यं च निरातपत्वरम्यैः ॥५१२॥

अत्र क्रमेणेति समुच्चयव्यावर्तनाय ।

(३) कलुषं च तवाहितेष्वकस्मात् सितपङ्कजसोदरश्रि चक्षुः ।
पतितं च महीपतीन्द्र ! तेषां वपुषि प्रस्फुटमापदां कटाक्षैः ॥५१३॥

[सू० १७८]—अथवा दो गुणों या दो क्रियाओं अथवा एक गुण और एक क्रिया [इस रूपमें गुणक्रियाओं]का एक साथ वर्णन [भी दूसरा समुच्चयालङ्कार कहलाता है ।]

[सूत्रमें आये हुए 'गुणक्रियाः' पदमें [illegible] इस प्रकार [illegible] कि वृत्तिमें दिखलाया है । इसके अनुसार इस 'गुणक्रिया' [illegible] दो गुण, २. दो क्रियाएँ, ३. एक गुण और एक क्रिया [ये तीन [illegible]] [illegible] [इनका इस रूपमें युगपद् वर्णन होनेपर दूसरे प्रकारका समुच्चयालङ्कार होता है]— [तीनों प्रकारके] उदाहरण [आगे देते हैं । जैसे]—

(१) हे राजन् ! समस्त शत्रुओंका नाश करनेवाली तुम्हारी [illegible] निर्मल [कीर्तिशालिनी] हुई वैसे ही शत्रुओंके मुख मलिन [उदास] हो गये ।५११।

यहाँ विमलता तथा मलिनत्वरूप दो गुणोंका एक साथ [illegible] सूचित होता है । अतः यह समुच्चयालङ्कार है ।

[विक्रमोर्वशीय [illegible] 'विक्रमोर्वशी' [illegible] किया गया है । [illegible]]

(२) प्रियतमा [उर्वशी] के साथ एक दुस्सह वियोग [illegible] हुआ वैसे ही नवीन मेघोंके आ जानेसे [illegible]

यहाँ 'उपनत' तथा 'भवित[व्य]' [illegible] हो रहा है इसलिए यहाँ भी समुच्चयालङ्कार है ।

एक गुण तथा एक क्रिया [illegible]

(३) हे राजन् ! [illegible] [illegible] [क्रोधसे रक्त] हुई कि उनके शरीरपर [illegible] लगे ॥५१३॥

[illegible]

'धुनोति चासि तनुते च कीर्तिम्' इत्यादेः,

'कृपाणपाणिश्च भवान् रणक्षितौ ससाधुवादाश्च सुराः सुरालये ।'

इत्यादेश्च दर्शनात् 'व्यधिकरणे' इति 'एकस्मिन् देशे' इति च न वाच्यम् ।

[सूत्र १७९] एकं क्रमेणानेकस्मिन् पर्यायः ।

एकं वस्तु क्रमेणानेकस्मिन् भवति क्रियते वा स पर्यायः । क्रमेणोदाहरणम्—

(१) नन्वाश्रयस्थितिरियं तव कालकूट ! केनोत्तरोत्तरविशिष्टपदोपदिष्टा ।
प्रागर्णवस्य हृदये वृषलक्ष्मणोऽथ कण्ठेऽधुना वससि वाचि पुनः खलानाम् ॥५१४॥

समुच्चयके 'युगपद् या 'गुणक्रियाः' रूप दूसरे भेदके विषयमें रुय्यकका यह मत है कि युगपत् होनेवाले गुणक्रिया आदि एक ही अधिकरणमें न होकर भिन्न-भिन्न अधिकरणमें होने चाहिये तभी समुच्चयालङ्कार होगा । उन्होंने समुच्चयके इस दूसरे भेदका लक्षण करते हुए स्पष्ट ही लिखा है कि—

व्यधिकरणे वा यस्मिन् गुणक्रिये चैककालमेकस्मिन् ।
उपजायेते देशे समुच्चयः स्यात् तदन्योऽन्यौ ॥ रुद्रट-काव्यालङ्कार ७, २७ ।

इसमें रुद्रटने यह कहा है कि युगपत् होनेवाले गुणक्रियादि एकदेश, एककालमें और भिन्न अधिकरणमें होने चाहिये । परन्तु मम्मट इससे सहमत नहीं हैं । उनका कथन है कि आगे दिये हुए उदाहरणोंमेंसे—

'[राजा] तलवार को चलाता है [और उसके साथ ही अपनी] कीर्तिका विस्तार करता है ।'

इत्यादिमें ['धुनोति' तथा 'तनुते' दोनों क्रियाएँ एक ही अधिकरण—राजामें रहती हैं, भिन्न अधिकरणमें नहीं] । इसलिए व्यधिकरणमें युगपत् गुण या क्रिया होने-पर समुच्चयालङ्कार होता है यह कहना उचित नहीं है । [इसी प्रकार]

'आप जैसे ही युद्धभूमिमें तलवार हाथमें पकड़ते हैं वैसे ही स्वर्गमें देवता लोग साधुवाद करने लगते हैं ।'

इत्यादिमें [क्रियाओंके भिन्नदेशमें] देखे जानेसे 'व्यधिकरणे' भिन्न अधिकरणमें और 'एकस्मिन् देशे' एकदेशमें [ये जो दो बातें रुद्रटने अपने समुच्चयालङ्कारके लक्षणमें कही हैं वे दोनों बातें] नहीं कहनी चाहिये ।

३. पर्याय अलङ्कार

[सूत्र १७९]—एक क्रमसे अनेकमें [होता है अथवा किया जाता है तब] पर्याया-लङ्कार होता है ।

एक वस्तु क्रमसे अनेकमें हो, या की जाय वह पर्याय [अलङ्कार] होता है । [यह पर्याय अलङ्कार पहिले कहे हुए पर्यायोक्त अलङ्कारसे भिन्न है] । क्रमसे [पर्याय अलङ्कारके 'भवति' तथा 'क्रियते' इन दोनों भेदोंके] उदाहरण [जैसे]—

(१) हे कालकूट [विष] ! तुमको उत्तरोत्तर विशिष्ट पदवाके आश्रयमें रहनेकी स्थिति किसने बतलायी है कि पहिले [तुम] समुद्रके हृदयमें [भीतर रहते थे] फिर शिवजीके कण्ठमें [आये] और अब दुष्टोंकी वाणीमें रहते हो ॥ ५१४ ॥

यथा वा—

(२) बिम्बोष्ठ एव रागस्ते तन्वि ! पूर्वमदृश्यत ।
अधुना हृदयेऽप्येष मृगशावाक्षि ! लक्ष्यते ॥५१५॥

रागस्य वस्तुतो भेदेऽप्येकतयाऽध्यवसितत्वादेकत्वमविरुद्धम् ।

(३) तं ताण सिरिसहोअररअणाहरणंमि हिअअमेक्करसम् ।
बिम्बाहरे पिआणं णिवेसिअं कुसुमबाणेण ॥५१६॥
[तत्तेषां श्रीसहोदररत्नाहरणे हृदयमेकरसम् ।
बिम्बाधरे प्रियाणां निवेशितं कुसुमबाणेन ॥ इति संस्कृतम्]

यहाँ एक कालकूटके अनेक स्थानोंपर रहनेका वर्णन किया गया है इसलिए पर्याय अलङ्कार-का उदाहरण है। परन्तु यहाँ भिन्न आश्रयोंमें जानेका कोई प्रयोजक नहीं बताया गया है इसलिए यह 'क्रियते'का नहीं अपितु 'भवति'का उदाहरण है। इसमें एक कालकूट अनेक स्थानोंमें [illegible] गया है। परन्तु केवल वास्तविक एकत्वमें ही नहीं, कहीं-कहीं आरोपित एकत्वमें भी यह अलङ्कार हो सकता है। इसके दिखलानेके लिए दूसरा उदाहरण देते हैं—

(२) हे तन्वि ! पहले तो केवल तुम्हारे कुन्दरूके सदृश [लाल] ओष्ठमें ही राग दिखलायी देता था किन्तु हे मृगशावकके समान [चञ्चल] नेत्रोंवाली ! अब तो यह राग तुम्हारे हृदयमें भी दिखलायी पड़ने लगा है ॥ ५१५ ॥

यहाँ [ओष्ठ और हृदय दोनोंके] रागका वस्तुतः भेद होनेपर भी [नाम-सादृश्यके कारण उन दोनोंमें केवल] औपचारिक एकत्व मान लेनेसे एकत्वका विरोध नहीं होता।

इन दोनों उदाहरणोंमें क्रमशः 'एक आधारमें स्थिति तथा 'राग' [illegible] प्रयोजक कोई दूसरा नहीं है। अतः ये दोनों 'एकमनेकस्मिन् भवति' [illegible] उदाहरण थे। अगला उदाहरण इस प्रकारका देते हैं जिसमें अन्य प्रयोजक [illegible] क्रियते' है। यह उदाहरण ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धनाचार्यके 'विषमबाणलीला' [illegible] है। स्वयं आनन्दवर्धनाचार्यने 'ध्वन्यालोक'के द्वितीय उद्योतमें इस श्लोक [illegible] इसे अपने 'विषमबाणलीला' काव्यसे लिया हुआ बतलाया है।

(३) उन [राक्षसों] का वह मन [जो पहिले विष्णुजीसे] [illegible] अपहरणमें लगा हुआ था उसको कामदेवने [प्रियाओंका पहले वाला कौस्तुभ [illegible] है अतः] कौस्तुभसे अधरबिम्बमें आसक्त कर दिया है ॥ ५१६ ॥

'श्रीसहोदररत्नाहरणे'के स्थानपर कहीं 'श्रीसहोदररत्नभर' [illegible] पक्षमें 'श्रीसहोदररत्न' अर्थात् कौस्तुभमणि [illegible] मनको कामदेवने कौस्तुभसे बिम्बाधरमें लगा दिया यह [illegible] एकत्वका विरोध नहीं होता है इसलिए एक ही को [illegible] प्रयोग किया गया है, [illegible]

[सूत्र १८०] **अन्यस्ततोऽन्यथा ।**

अनेकमेकस्मिन् क्रमेण भवति क्रियते वा सोऽन्यः । क्रमेणोदाहरणम्—

(१)　मधुरिमरुचिरं वचः खलानाममृतमहो प्रथमं पृथु व्यनक्ति ।
　　अथ कथयति मोहहेतुमन्तर्गतमिव हालहलं विषं तदेव ॥५१७॥

(२)　तद्गेहं नतभित्ति मन्दिरमिदं लब्धावकाशं दिवः ।
　　सा धेनुर्जरती नदन्ति करिणामेता घनाभा घटाः ।
　　स क्षुद्रो मुसलध्वनिः कलमिदं सङ्गीतकं योषिता-
　　माश्चर्यं दिवसैर्द्विजोऽयमियतीं भूमिं समारोपितः ॥६१८॥

अत्रैकस्यैव हानोपादानयोरविवक्षितत्वान्न **परिवृत्तिः** ।

यहाँ राक्षसोंका मन पहिले कौस्तुभमणिकी प्राप्तिके लिए उत्सुक अथवा विष्णु भगवान्के स्वरूपमें तत्पर था, वह मोहिनीके बिम्बाधरमें आसक्त कर दिया गया और उसका प्रवर्तक कामदेव है। इसलिए यह 'एकमनेकस्मिन् क्रियते' इस रूपके पर्यायालङ्कारका उदाहरण है।

[सूत्र १८०]—उसके विपरीत [अर्थात् 'अनेकमेकस्मिन् भवति क्रियते वा' इस रूपमें] दूसरे प्रकारका [पर्याय अलङ्कार] होता है।

[पहिले लक्षणमें 'एकमनेकस्मिन् भवति क्रियते' यह बात कही गयी थी। अब उससे विपरीत] अनेकके क्रमशः एकमें होने अथवा किये जानेपर वह दूसरे प्रकारका [पर्यायालङ्कार] होता है। क्रमसे [दोनों प्रकारके] उदाहरण [जैसे]—

मधुरताके द्वारा मनको हरण करनेवाला दुष्ट पुरुषोंका वचन पहिले तो अमृतकी वृष्टि-सी करता है, किन्तु आश्चर्य है कि बादको [विचार करनेपर] वही मूर्च्छित कर देनेवाले [कष्टदायक] भीतर छिपे हुए हालाहल विषको प्रकट करता है ॥५१७॥

यहाँ अमृतव्यञ्जन और विषकथनरूप अनेक अर्थ एक खलवचनमें क्रमसे होते हैं, उनका कोई प्रयोजक हेतु कथित नहीं है इसलिए यह 'अनेकमेकस्मिन् भवति'का उदाहरण है।

[कहाँ] वह टूटी-फूटी दीवारोंका घर और [कहाँ आज] यह गगनचुम्बी महल, [कहाँ इसकी] वह बूढ़ी गाय और [कहाँ आज] ये मेघोंके समान और [काली काली और ऊँची] हाथियोंकी पंक्तियाँ चिंघाड़ रही हैं, कहाँ वह मूसलका क्षुद्र शब्द और कहाँ [आज सुनायी देनेवाला] सुन्दरियोंका यह मनोहर संगीत। आश्चर्य है इन [थोड़े-से] दिनों द्वारा ही यह दरिद्र ब्राह्मण [सुदामा] इतनी अच्छी हालतपर पहुँचाया गया ॥५१८॥

यहाँ ब्राह्मणमें वह घर, मन्दिर आदि अनेकके क्रमसे [?] वर्णन किया गया है और उसका प्रयोजक दिवसोंको बतलाया है। इसलिए 'अनेकमेकस्मिन् क्रियते' का पर्याय अलङ्कारका उदाहरण है।

यहाँ एक ही कर्ता ['कर्तृकर्मणोः कृति' इस सूत्रमें कर्तामें षष्ठी होनेसे एक ही कर्ता यह अर्थ करना चाहिये] के [एक वस्तुके] त्याग [और उसके बदलेमें दूसरी वस्तुके] ग्रहणकी विवक्षा न होनेसे [यहाँ] परिवृत्ति [अलङ्कार] नहीं है [अर्थात्] जहाँ एक कर्ता द्वारा एक वस्तुका त्याग करके उसके बदलेमें दूसरी वस्तुका ग्रहण किया जाता है वहीं परिवृत्ति अलङ्कार होता है। इसके साथ ही परिवृत्ति अलङ्कारों

[सू० १८३] अनुमानं तदुक्तं यत् साध्यसाधनयोर्वचः ॥११७॥

इसको [illegible] भी नहीं वस्तुको दूसरा [illegible] करता है। इस 'तद् गेहं' इत्यादि श्लोक-में इस प्रकारकी बात नहीं है, इसलिए यहाँ परिवृत्ति अलङ्कार नहीं है। यही परिवृत्ति तथा पर्यायका भेद है]।

२५. अनुमान अलङ्कार

[सू० १८३]—साध्य और साधनका जो कथन वह अनुमान [अलङ्कार] कहा जाता है ॥ ११७ ॥

यह लक्षण [illegible] नैयायिकोंके अनुमानके आधारपर किया गया है। परन्तु [illegible] अनुमान प्रमाणमें केवल साध्य तथा साधन दो ही शब्दोंका ग्रहण किया गया है। अनुमानमें तो इनके अतिरिक्त पक्ष, सपक्ष, विपक्ष, दृष्टान्त आदि अन्य अनेक वस्तुओंकी आवश्यकता होती है। उनका ग्रहण न करनेसे यह लक्षण अपूर्ण रह जाता है। यह शङ्का की जा सकती है। उसके समाधानके लिए ग्रन्थकारने अगली पंक्ति लिखी है। उसका आशय यह है कि साध्य और साधन इन दो शब्दोंके ग्रहणसे ही यहाँ अनुमानोपयोगी समस्त शब्दोंका ग्रहण हो जाता है। इस प्रकरणमें भी कुछ दार्शनिक पुट आ गया है इसलिए न्यायके पारिभाषिक शब्दोंको ठीक तरहसे समझ लेनेपर ही इस प्रकरणका भाव स्पष्ट हो सकेगा। अतएव उनका परिचय कराना आवश्यक है।

पर्वतादिमें नहीं धूमको उठता देखकर वहाँ वह्निका अनुमान सबको ही होता है। इस अनु-मानमें धूम साधन तथा वह्नि साध्य कहलाता है। धूमको देखकर जो वह्निका अनुमान होता है उसका कारण यह है कि हमने धूम और वह्निको अनेक बार साथ साथ देखा है। इन दोनोंके भूयःसहचार-दर्शनसे हमको उनके स्वाभाविक सम्बन्धका अर्थात् जहाँ जहाँ धूम होता है वहाँ-वहाँ वह्नि अवश्य रहता है इस व्याप्तिसम्बन्धका ज्ञान हो जाता है। इसलिए जब हम किसी जगह केवल धूमको देखते हैं तो वहाँ न दिखलायी देनेवाले वह्निका भी अनुमान कर लेते हैं। 'यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निः' जहाँ जहाँ धूम होता है वहाँ वहाँ वह्नि होता है इस स्वाभाविक सम्बन्धका नाम व्याप्ति है। इस व्याप्ति-के बलसे जो वह्निका ग्रहण कराता है वह धूमादि 'साधन' या 'लिङ्ग' कहा जाता है और वह्नि 'साध्य' कहलाता है। यह साधन तथा साध्यका स्वरूप हुआ।

इस साधन या लिङ्गकी साध्यके साथ जो 'व्याप्ति' है वह दो प्रकारकी होती है—एक 'अन्वय-व्याप्ति' और दूसरी 'व्यतिरेकव्याप्ति'। 'यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निः' जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ-वहाँ वह्नि होता है यह 'अन्वयव्याप्ति' हुई। इसके विपरीत जहाँ-जहाँ वह्निका अभाव होता है वहाँ-वहाँ धूमका भी अभाव होता है 'यत्र यत्र वह्न्यभावस्तत्र तत्र धूमाभावः' यह 'व्यतिरेकव्याप्ति' कहलाती है। धूम और वह्निमें यह दोनों प्रकारकी व्याप्ति पायी जाती है। अर्थात् इसकी दोनों प्रकारकी व्याप्तिमें उदाहरण मिल जाते हैं। जहाँ जहाँ धूम होता है वहाँ वहाँ वह्नि होता है। इस 'अन्वय-व्याप्ति'में महानस अर्थात् पाकशाला [रसोईघर] उदाहरण है। क्योंकि महानसमें धूम तथा वह्निको साथ साथ देखा जा सकता है। इसलिए 'अन्वयव्याप्ति'में महानस उदाहरण होता है। इसके विपरीत जहाँ-जहाँ वह्निका अभाव होता है वहाँ वहाँ धूमका भी अभाव होता है यह 'व्यतिरेकव्याप्ति' कहलाती। इस 'व्यतिरेकव्याप्ति'में महाह्रद या तालाब उदाहरण है। तालाबमें वह्निका अभाव है तो वहाँ धूमका भी अभाव है। इस प्रकार धूम हेतुकी अन्वयव्याप्ति तथा व्यतिरेकव्याप्ति दोनोंमें उदाहरण मिल जाते हैं इसलिए यह 'अन्वयव्यतिरेकी' कहलाता है।

तच्चक्रीकृतचापमञ्चितशरप्रेङ्खत्करः क्रोधनो
धावत्यग्रत एव शासनधरः सत्यं सदासां स्मरः ॥५१९॥

साध्यसाधनयोः पौर्वापर्यविकल्पे न किञ्चिद्वैचित्र्यमिति न तथा दर्शितम् ।

[सू० १८३] विशेषणैर्यत्साकूतैरुक्तिः परिकरस्तु सः ।

अर्थाद्विशेष्यस्य । उदाहरणम्—

महौजसो मानधना धनार्चिता धनुर्भृतः संयति लब्धकीर्तयः ।
न संहतास्तस्य न भेदवृत्तयः प्रियाणि वाञ्छन्त्यसुभिः समीहितुम्॥५२०॥

रखे हुए उनका आज्ञाकारी क्रोधयुक्त कामदेव सचमुच सदा इनके आगे-आगे ही दौड़ता जाता है ॥५१९॥

यहाँ पूर्वार्द्धमें कहा गया अर्थ साधनरूप है और उत्तरार्द्धमें कहा हुआ अर्थ साध्यरूप है। इसलिए यहाँ अनुमानालङ्कार है। यत् और तत् शब्दोंसे इन दोनों धर्मोंकी व्याप्ति सूचित की गयी है।

रुद्रटने अनुमानालङ्कारके दो भेद किये हैं—एक वह जिसमें पहिले साधनका कथन हो और बादमें साध्यका कथन हो और दूसरा वह जिसमें पहिले साध्यका और बादमें साधनका कथन हो। जैसे यह श्लोक जो ऊपर दिया उसमें पहिले साधन कहा गया है और साध्य बादमें कहा गया है इसलिए यह पहिले भेदका उदाहरण है। पहिले साध्य तथा बादमें साधनका कथन जहाँ हो उस प्रकारका उदाहरण भर्तृहरिके 'नीतिशतक'का निम्नाङ्कित श्लोक है—

मधु तिष्ठति वाचि योषितां हृदि हालाहलमेव केवलम् ।
अत एव निपीयतेऽधरो हृदयं मुष्टिभिरेव ताड्यते ॥

मम्मटके मतमें इस साध्य साधनके पौर्वापर्यके परिवर्तनके चमत्कारमें कोई अन्तर नहीं आता है, इसलिए इस प्रकारका अलग भेद करनेकी आवश्यकता नहीं है। इसी बातको वे अगली पंक्तिमें कहते हैं—

साध्य और साधनके आगे-पीछे बदलनेसे कोई विचित्रता नहीं होती है, इसलिए [रुद्रटके समान] उस प्रकारको नहीं दिखलाया है।

३६. परिकर अलङ्कार

[सूत्र १२८]—अभिप्राययुक्त [साकूत] विशेषणोंके द्वारा जो [किसी बातका] कथन करना है वह परिकर [अलङ्कार कहलाता] है।

अर्थात् विशेष्यका [साभिप्राय विशेषणोंसे कथन करना परिकरालङ्कार कहलाता है]। उदाहरण [जैसे]—

'किरातार्जुनीय' महाकाव्यके प्रथम सर्गमें दुर्योधनका समाचार देते हुए युधिष्ठिरके प्रति उनका गुप्तचर कह रहा है कि—

महाबलशाली, आत्मगौरवकी भावनासे युक्त, धनसे सत्कृत, [किसी दुर्भावनासे] न मिले हुए और न परस्पर विरोधी, युद्धमें लब्धकीर्ति धनुर्धारी अपने प्राणों [के बलिदान]से भी उस [दुर्योधन] के अभीष्टको सिद्ध करना चाहते हैं ॥ ५२० ॥

यहाँ 'महौजस', 'मानधनाः' आदि विशेषण धनुर्धारियोंके दुर्योधनके प्रति स्वाभाविक प्रेमको

यद्यप्यपुष्टार्थस्य दोषताभिधानात् तन्निराकरणेन पुष्टार्थस्वीकारः कृतः तथाप्येकनिष्ठत्वेन बहूनां विशेषणानामेवमुपन्यासे वैचित्र्यमित्यलङ्कारमध्ये गणितः ।

[सूत्र १८३] व्याजोक्तिश्छद्मनोद्भिन्नवस्तुरूपनिगूहनम् ॥११८॥

निगूढमपि वस्तुनो रूपं कथमपि प्रभिन्नं केनापि व्यपदेशेन यदपह्नूयते सा व्याजोक्तिः। न चैषाऽपह्नुतिः प्रकृताप्रकृतोभयनिष्ठस्य साम्यस्येहासम्भवात् । उदाहरणम्—

सूचित करनेके लिए दिये गये हैं । जो अपने प्राणोंकी भी बाजी लगाकर दुर्योधनका प्रिय कार्य करना चाहते हैं सो कुछ दुर्योधनके भयसे डरकर या चाटुकारीके लिए नहीं अपितु स्वाभाविक प्रेमवश ही ऐसा कर रहे हैं । वैसे तो वे स्वयं महाबलशाली और युद्धमें ख्याति पाये हुए हैं इसलिए दुर्योधनसे डरनेका कोई प्रश्न ही उनके सामने नहीं है । और वे स्वाभिमानी हैं इसलिए चाटुकारिता उनको छू भी नहीं सकती है । अतः उनका सारा व्यापार स्वाभाविक स्नेहवश ही है यह विशेष अभिप्राय इन विशेषणोंसे निकलता है । अतः यहाँ परिकरालङ्कार है ।

यहाँ प्रश्न यह होता है कि साभिप्राय विशेषणोंके होनेपर आपने परिकरालङ्कार माना है परन्तु वह तो कोई अलङ्कार नहीं केवल दोषाभावरूप है क्योंकि यदि साभिप्राय विशेषण न होंगे तो निरर्थक होंगे । उस दशामें, जैसा कि पहिले कहा जा चुका है, अपुष्टार्थत्व दोष होगा । साभिप्राय विशेषणोंसे उस अपुष्टार्थत्वका परिहार हो जाता है, उसको अलङ्कार मानना उचित नहीं । इसका समाधान करनेके लिए ग्रन्थकारने अगली पङ्क्तियाँ लिखी हैं । समाधानका आशय यह है कि जहाँ इस प्रकारसे अनेक विशेषण एक विशेष्यके साथ जुटते हैं तब कुछ विशेष चमत्कार वाक्यमें आ जाता है इसलिए इसको अलङ्कार माना है । इसी बातको कहते हैं—

यद्यपि अपुष्टार्थको दोष कहनेसे उसके निराकरणसे [दोषाभावरूप] पुष्टार्थका स्वीकार किया गया है । [उसको अलङ्कार मानना उचित नहीं है] फिर भी एक [विशेष्य] में रहनेवाले अनेक विशेषणोंको इस प्रकारसे [एक वाक्यमें] रखनेसे [वाक्यमें विशेष प्रकारका] वैचित्र्य आ जाता है इसलिए [इसको] अलङ्कारोंमें गिना गया है ।

जयदेवने अपने 'चन्द्रालोक'में विशेष्यके साभिप्राय होनेपर परिकराङ्कुर नामक अलङ्कार माना है । उसके विषयमें सुधासागरकारका यह मत है कि वहाँ भी विशेषणोंकी ही साभिप्रायता माननी चाहिये, क्योंकि विशेषणके बिना केवल विशेष्य किसी प्रकारसे भी साभिप्राय नहीं हो सकता है । इसलिए परिकराङ्कुरको अलग अलङ्कार माननेकी आवश्यकता नहीं है ।

मम्मटकृत काव्यप्रकाश समाप्त

कुछ विद्वानोंका मत है कि श्रीमम्मटाचार्यकृत 'काव्यप्रकाश' यहीं तक ही समाप्त हो जाता है । इसके आगेका भाग मम्मटाचार्यका नहीं अपितु अल्लटसूरिका बनाया हुआ है । इस मतका मूल 'कृतः श्रीमम्मटाचार्यवर्यैः परिकरावधिः । प्रबन्धः पूरितः शेषो विधायाल्लटसूरिणा ॥' यह श्लोक है जिसे हम पहले ही उद्धृत कर चुके हैं ।

३७. व्याजोक्ति अलङ्कार

[सूत्र १८३] प्रकट हुए वस्तुके स्वरूपको किसी बहानेसे छिपाने [के प्रयत्न या वर्णन]को व्याजोक्ति [अलङ्कार] कहते हैं ॥११८॥

वस्तुका गूढ़ स्वरूप भी जब किसी प्रकार प्रकट हो जाय तो किसी बहानेसे

शैलेन्द्रप्रतिपाद्यमानगिरिजाहस्तोपगूढोल्लसद्-
रोमाञ्चादिविसंष्ठुलाखिलविधिव्यासङ्गभङ्गाकुलः ।
हा शैत्यं तुहिनाचलस्य करयोरित्यूचिवान् सस्मितं
शैलान्तःपुरमातृमण्डलगणैर्दृष्टोऽवताद्वः शिवः ॥५२१॥

अत्र पुलकवेपथू सात्त्विकरूपतया प्रसृतौ शैत्यकारणतया प्रकाशितत्वादपलपित-स्वरूपौ व्याजोक्तिं प्रयोजयतः ।

उसको छिपानेका जो प्रयत्न किया जाता है वह व्याजोक्ति [अलङ्कार कहलता] है। [अपह्नुति अलङ्कारसे व्याजोक्तिका भेद दिखलाते हैं] और यह [व्याजोक्ति] अपह्नुति [अलङ्कारके अन्तर्गत] नहीं [हो सकती] है [क्योंकि अपह्नुतिमें प्रकृत और अप्रकृत अर्थात् उपमेय और उपमानका साम्य विवक्षित होता है, उस साम्यके द्वारा ही उपमेयका अपह्नव किया जाता है। परन्तु] यहाँ [व्याजोक्तिमें] प्रकृत तथा अप्रकृतका साम्य नहीं होता है [यही अपह्नुति तथा व्याजोक्तिका भेद है]। उदाहरण [जैसे]—

[शिव-पार्वतीके विवाहमें कन्यादानके अवसरपर] हिमालयके द्वारा समर्पित किये जाते हुए पार्वतीके हाथके स्पर्शसे समुद्भूत रोमाञ्चादि [आदि शब्दसे कम्परूप सात्त्विक भावका भी ग्रहण होता है] के कारण [वैवाहिक विधिके] सारे क्रिया-कलापके गड़बड़ा जानेसे [मेरी रति प्रकट हो गयी इस शङ्कासे] घबड़ाये हुए [और उनको छिपानेके लिए] 'हाय, हिमालयके हाथ बड़े शीतल हैं' कहनेवाले [और उनके इस बहानेको समझ लेनेवाली] हिमालयके अन्तःपुरकी स्त्रियों और [ब्राह्मी आदि] मातृमण्डल एवं [नन्दी आदि] गणोंके द्वारा मुस्कुराते हुए देखे गये शिव तुम्हारी रक्षा करें ॥५२१॥

यहाँ [पार्वतीके हाथके स्पर्शसे उत्पन्न सात्त्विकभावरूप] रोमाञ्च तथा कम्प सात्त्विकभावरूपसे प्रकट हो गये परन्तु [हिमालयके हाथके स्पर्शसे] शैत्यके कारण हुए हैं इस प्रकार प्रकाशित करते हुए [उनकी सात्त्विकभावरूपताको] छिपाया गया है इसलिए वे व्याजोक्ति [अलङ्कार] को सूचित करते हैं।

३८. परिसंख्या अलङ्कार

जिस प्रकार अनुमान अलङ्कार न्यायदर्शनके प्रतिपाद्य अनुमानप्रमाणके आधारपर [illegible] गया है उसी प्रकार परिसंख्या अलङ्कारका आधार मीमांसादर्शनके परिसंख्याविधिको [illegible] सकता है। मीमांसादर्शनमें विधिके तीन भेद किये हैं १. सामान्यविधि, [illegible] तथा ३. परिसंख्याविधि। जहाँ सर्वथा अप्राप्त बातका विधान किया जाता है वह [illegible] कहलाती है। 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' आदि अत्यन्त अप्राप्त अर्थका विधान [illegible] ये सामान्यविधिरूप कहे जाते हैं। पाक्षिक प्राप्ति होनेपर नियमविधि होती है [illegible] इसमें व्रीहि अर्थात् धानका अवघात अर्थात् कूटनेका विधान किया गया है। [illegible] उसके छिलकोंको दूर करना है। [illegible] जैसे पुरोडाश तैयार किया [illegible] आहुति दी जाती है। इसलिए जैसे वितुषीकरण अर्थात् छिलका हटानेके [illegible] किया गया है। यह वितुषीकरण या छिलका हटानेका कार्य [illegible] द्वारा भी हो सकता है। [illegible]

[सूत्र १८४] किंचित्पृष्टमपृष्टं वा कथितं यत्प्रकल्पते ।
ताद‍ृगन्यव्यपोहाय परिसंख्या तु सा स्मृता ॥११९॥

प्रमाणान्तरावगतमपि वस्तु शब्देन प्रतिपादितं प्रयोजनान्तराभावात्सदृशवस्त्वन्तरव्यवच्छेदाय यत्पर्यवस्यति सा भवेत्परिसंख्या । अत्र च कथनं प्रश्नपूर्वकं तदन्यथा च परिदृष्टम् । तथोभयत्र व्यपोह्यमानस्य प्रतीयमानता वाच्यत्वं चेति चत्वारो भेदाः । क्रमेणोदाहरणम्—

(१) किमासेव्यं पुंसां ? सविधमनवद्यं द्युसरितः
किमेकान्ते ध्येयं ? चरणयुगलं कौस्तुभभृतः ।

खरबूजेके बीज छीले जाते हैं इसी प्रकार जौ भी छीले जा सकते हैं । ऐसा सोचकर कोई कूटनेके बजाय नखविदलन द्वारा वितुषीकरणमें प्रवृत्त हो सकता है । उस अवस्थामें अवघातकी प्राप्ति नहीं रहेगी । अर्थात् अवघातकी एक पक्षमें प्राप्ति होती है, एक पक्षमें नहीं । इसलिए यह पाक्षिक प्राप्ति है । इस पाक्षिक प्राप्तिमें जब नखविदलनपक्षमें अवघातकी प्राप्ति नहीं रहती उस समय अवघात प्रापक नियमविधि लागू होती है । उसका अभिप्राय यह है कि अवघातके द्वारा ही वितुषीकरण करना चाहिये ।

तीसरा भेद 'परिसंख्याविधि' है । जहाँ दोनोंकी युगपत् प्राप्ति हो वहाँ उनमेंसे एकका निषेध करनेवाली विधि 'परिसंख्याविधि' कहलाती है । वैसे परिसंख्याका स्वरूप तो विधिपरक होता है परन्तु उसका फलितार्थ अन्यके निषेधमें होता है । जैसे 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः' यह वाक्य देखनेमें भक्ष्यताका विधान कर रहा है पर उसका आशय भक्षणके विधानमें नहीं अपितु 'पञ्चपञ्चनखव्यतिरिक्ता अभक्ष्याः' पाँच पञ्चनखोंसे अतिरिक्तके भक्षणका निषेध करनेमें है । इसीके आधारपर यहाँ परिसंख्या अलङ्कारका निरूपण किया गया है । इस परिसंख्या अलङ्कारमें भी कही हुई बातका फलितार्थ अन्यका निषेध करनेमें होता है । वह अन्यका निषेध कहीं प्रश्नपूर्वक और कहीं अप्रश्नपूर्वक दो प्रकारसे हो सकता है और जिस वस्तुका निषेध किया जा रहा है वह भी कहीं वाच्यरूप और कहीं व्यङ्ग्य रूपसे दो प्रकारका हो सकता है । इस प्रकार परिसंख्याके चार भेद हो जाते हैं ।

[सूत्र १८४]—कोई पूछी गयी या बिना पूछी हुई कही गयी बात जो उसी प्रकारकी अन्य वस्तुके निषेधमें पर्यवसित होती है वह परिसंख्या कहलाती है ॥११९॥

अन्य प्रमाणसे ज्ञात वस्तु भी जब [अनुवादरूपमें] शब्दसे प्रतिपादित होकर, [उस प्रतिपादनका] अन्य प्रयोजन न होनेसे अपने सदृश अन्य वस्तुके निषेधमें परिणत हो जाती है वह परिसंख्या [अलङ्कार] होता है । यहाँ अन्यके निषेधमें पर्यवसित होनेवाले वस्तुका] कथन [कहीं] प्रश्नपूर्वक और [कहीं उससे भिन्न अर्थात्] बिना प्रश्नके [दो प्रकारका] देखा जाता है और दोनों जगह जिसका निषेध किया जा रहा है वह [कहीं] व्यङ्ग्य और [कहीं] वाच्य [दो प्रकारका] होता है । इस प्रकार [परिसंख्याके] चार भेद होते हैं । क्रमसे [चारों भेदोंके] उदाहरण [जैसे]—

१. प्रश्नपूर्वक प्रतीयमान व्यपोह्य परिसंख्याका उदाहरण देते हैं —

मनुष्योंको किसका सेवन करना चाहिये ? [यह प्रश्न है, इसका उत्तर देते हैं कि] गङ्गाके उत्तम तटका [अर्थात् अन्य नदियोंके तट अथवा स्त्रीनितम्बादिका सेवन नहीं

किमाराध्यं ? पुण्यं किमभिलषणीयं ? च करुणा
यदासक्त्या चेतो निरवधि विमुक्त्यै प्रभवति ॥५२२॥

(२) किं भूषणं सुदृढमत्र ? यशो न रत्नं किं कार्यमार्यचरितं सुकृतं न दोषः ।
किं चक्षुरप्रतिहतं धिषणा न नेत्रं जानाति कस्त्वदपरः सदसद्विवेकम् ॥५२३॥

(३) कौटिल्यं कचनिचये करचरणाधरदलेषु रागस्ते ।
काठिन्यं कुचयुगले तरलत्वं नयनयोर्वसति ॥५२४॥

करना चाहिये]। एकान्तमें किसका ध्यान करना चाहिये ? [इस प्रश्नका उत्तर है कि कौस्तुभधारी [श्रीकृष्ण भगवान्] के चरणयुगलका [ध्यान करना चाहिये अन्य किसी देवका या स्त्री आदिका ध्यान नहीं करना चाहिये]। किसकी आराधना करनी चाहिये ? [इस प्रश्नका उत्तर है] पुण्यकी [उसका फलितार्थ है—पापकी नहीं]। और किसकी कामना करनी चाहिये ? [इस प्रश्नका उत्तर है कि] करुणाकी [फलितार्थ है—अन्य हिंसादिकी कामना नहीं करनी चाहिये]। जिन [पुसरित् आदि] के प्रेमसे चित्त सदाके लिए मुक्तिकी प्राप्ति कर सकता है ॥५२२॥

यहाँ भगवान्‌के चरणयुगल आदिका सेव्यत्व पुराणादिमें प्रसिद्ध ही है इसलिए उनके सेव्यत्वका प्रतिपादन करना इस पद्यका प्रयोजन नहीं है अपितु उनसे भिन्न स्त्रीनितम्बादि अन्य सांसारिक वस्तुओंकी सेव्यताका निषेध करनेके लिए इसकी रचना हुई है। इसलिए यह परिसंख्याका उदाहरण है और यह भी प्रश्नपूर्वक व्यङ्ग्यव्यवच्छेद्य परिसंख्याका।

२. प्रश्नपूर्वक वाच्यव्यवच्छेद्य परिसंख्याका दूसरा उदाहरण देते हैं—

इस संसारमें चिरस्थायी रहनेवाला अलङ्कार कौन-सा है ? [यह प्रश्न है, इसका उत्तर देते हैं कि] यश [ही चिरस्थायी रहनेवाला अलङ्कार है] रत्न नहीं। [मनुष्यको] क्या करना चाहिये ? [इस प्रश्नका उत्तर है कि] सज्जनों द्वारा किया जानेवाला पुण्य कर्म [ही करने योग्य है] दोष [या पाप] नहीं। कहीं भी व्यर्थ न होनेवाला [अर्थात् अपरोक्ष अर्थोंको भी देख सकनेमें समर्थ] नेत्र कौन-सा है ? [इस प्रश्नका उत्तर है कि] बुद्धि [ही अपरोक्ष अर्थोंको देख सकनेवाला नेत्र है। यह बाह्य] आँख नहीं। [उत्तर देनेवालेके उत्तरोंसे सन्तुष्ट होकर प्रश्न करनेवाला उत्तरदाताकी प्रशंसा करते हुए कह रहा है कि] तुम्हारे सिवा भले-बुरेके भेदको पहिचाननेवाला और कौन हो सकता है ॥५२३॥

यह यश आदिका चिरस्थायित्व सर्वविदित ही है इसलिए उसका प्रतिपादन इस पद्यका प्रयोजन नहीं है अपितु रत्नादिके चिरस्थायित्वका निषेध करना ही प्रयोजन है। यह निषेध प्रश्नपूर्वक किया जा रहा है और जिसका निषेध किया जा रहा है वह रत्नादि भी यहाँ शब्दतः उपात्त होनेसे वाच्य है। इसलिए यह प्रश्नपूर्वक वाच्यव्यवच्छेद्य परिसंख्याका उदाहरण है।

३. अप्रश्नपूर्वक प्रतीयमानव्यवच्छेद्य परिसंख्याका तीसरा उदाहरण देते हैं—

[हे प्रिये] तुम्हारे केशपाशमें वक्रता [घुँघरालापन], तुम्हारे हाथ, पैर और अधरमें राग [लालिमा], कुचयुगलमें कठोरता और आँखोंमें चञ्चलता निवास करती है ॥५२४॥

यहाँ केशपाशमें कुटिलता है इससे हृदयमें कुटिलता नहीं है। हाथ, पैर और अधरमें राग है,

[illegible]

३९. कारणमाला अलङ्कार

[सूत्र १८५]—जहाँ अगले-अगले अर्थके प्रति पहिले-पहिले अर्थ हेतु [रूपमें वर्णित] हों वहाँ कारणमाला [नामक अलङ्कार] होता है।

[यहाँ उत्तरम्-उत्तरं प्रति] अगले-अगलेके प्रति यह 'यथोत्तरम्' [पदका समास तथा अर्थ है]। उदाहरण [जैसे]—

जितेन्द्रियत्व विनयका कारण है और विनयसे गुणोंका प्रकर्ष प्राप्त होता है। गुणोंके प्रकर्षसे लोगोंका अनुराग होता है और जनानुरागसे सम्पत्तिकी प्राप्ति होती है ॥५२८॥

यहाँ उत्तर-उत्तरके प्रति पूर्व-पूर्वकी हेतुताको उपलक्षण मानकर पूर्व-पूर्वके प्रति उत्तर-उत्तरकी हेतुता वर्णित होनेपर भी कारणमाला अलङ्कार होता है। यहाँ यद्यपि अनेक कार्योंका वर्णन होनेसे कार्यमाला पायी जाती है फिर भी इसमें कारणके ऊपर ही कविका विशेष सरम्भ प्रतीत होता है इसलिए यह कारणमाला अलङ्कार ही माना जाता है।

उद्भट आदि आचार्योंने एक 'हेतु' अलङ्कार भी माना है। वह 'हेतु' अलङ्कार मम्मटके 'काव्यलिङ्ग' तथा 'कारणमाला' दोनों अलङ्कारोंसे भिन्न है। उनका लक्षण 'अभेदेनाभिधा हेतुर्हेतोर्हेतुमता सह'—हेतु और हेतुमान् अर्थात् कार्य और कारणका अभेद वर्णित होनेपर 'हेतु' अलङ्कार होता है, यह किया है। मम्मट उस रूपमें 'हेतु'को अलग अलङ्कार नहीं मानते हैं। उनका कहना है कि 'आयुर्घृतम्' आदिमें कार्यकारणका अभेद प्रदर्शित किया गया है परन्तु उसमें कोई विशेष चमत्कार नहीं है इसलिए उसको अलङ्कार मानना उचित नहीं है। इसलिए हमने उसका लक्षण नहीं किया है।

"हेतुमता सह हेतोरभिधानमभेदतो हेतुः" इति हेत्वलङ्कारो न लक्षितः। आयुर्घृतमित्यादिरूपो ह्येष न भूषणतां कदाचिदर्हति वैचित्र्याभावात्।

अविरलकमलविकासः सकलालिमदश्च कोकिलानन्दः।
रम्योऽयमेति सम्प्रति लोकोत्कण्ठाकरः कालः ॥५२७॥

इत्यत्र काव्यरूपतां कोमलानुप्रासमहिम्नैव समाम्नासिषुर्न पुनर्हेत्वलङ्कारकल्पनयेति पूर्वोक्तकाव्यलिङ्गमेव हेतुः

[सू० १८९] **क्रियया तु परस्परम् ॥१२०॥**
वस्तुनोर्जननेऽन्योन्यम्।

अर्थयोरेकक्रियामुखेन परस्परं कारणत्वे सति अन्योन्यनामाऽलङ्कारः। उदाहरणम्—

हमारे मतमें काव्यलिङ्गका ही दूसरा नाम हेतु अलङ्कार है। इसी बातको आगे कहते हैं—

'हेतुमान् [कार्य] के साथ हेतु [कारण]का अभेदसे कथन करना 'हेतु' होता है।'

[इस प्रकार उद्भट आदिने जिस 'हेतु'का लक्षण किया है] उस हेतु अलङ्कारका हमने प्रतिपादन नहीं किया है [उस 'हेतु' अलङ्कारका हमने लक्षण नहीं किया है]। क्योंकि 'आयुर्घृतम्' [आयुके कारणभूत घीको आयु कह देने] आदिके समान चमत्कार-रहित होनेके कारण वह कदापि अलङ्कार कहलाने योग्य नहीं है।

इसपर शङ्का यह होती है कि आगे कहे जानेवाले 'अविरलकमलविकासः' इत्यादि श्लोकको जो कि उद्भटके अनुसार 'हेतु' अलङ्कारका उदाहरण है, भामह आदि प्राचीन आचार्योंने भी काव्य-रूप माना है, यदि आप 'हेतु' अलङ्कारको नहीं मानते हैं तो इस श्लोकमें काव्यरूपता न बननेसे भामह आदिके साथ आपका विरोध आता है। इस शङ्काका समाधान मम्मट यह करते है कि भामह आदिने जो इसमें काव्यरूपता मानी है वह तो कोमल अनुप्रासके सद्भावसे बन जाती है। इसलिए 'हेतु'को अलग अलङ्कार माननेकी कोई आवश्यकता नहीं है। इसी बातको ग्रन्थकार अगली पङ्क्तिमें निम्नलिखितप्रकार कहते हैं—

निरन्तर कमलोंका जिसमें विकास हो रहा है, समस्त भ्रमर-समूहको मस्त करनेवाला, कोकिलाओंका आनन्दस्वरूप और संसारको उत्कण्ठित करनेवाला यह रमणीय [वसन्त] काल आ रहा है ॥ ५२७ ॥

इसमें [भामह आदिने] कोमल अनुप्रासके कारण ही काव्यरूपताका प्रतिपादन किया है, न कि 'हेतु' अलङ्कारकी कल्पना करके [उसे काव्यरूप माना है]। इसलिए पूर्वोक्त काव्यलिङ्ग [अलङ्कार] ही 'हेतु' [अलङ्कार कहा जा सकता] है। [उससे भिन्न उद्भटका कहा हुआ यह हेतु अलङ्कार मानने योग्य नहीं है]।

४०. अन्योन्य अलङ्कार

[सू० १८९]—क्रियाके द्वारा दो पदार्थोंके एक-दूसरेके उत्पादनमें ['यत् वैचित्र्यं' यह अध्याहार करके अर्थ होगा] अन्योन्य [अलङ्कार कहलाता] है।

एक क्रियाके द्वारा दो पदार्थोंके परस्पर कारण होनेपर अन्योन्य नामक अलङ्कार होता है। जैसे—

हंसाणं सरेहि सिरी सारिज्जइ अह सराण हंसेहि ।
अण्णोण्णं विअ एए अप्पाणं णवर गरुअन्ति ॥५२८॥
[हंसानां सरोभिः श्रीः सार्यते अथ सरसां हंसैः ।
अन्योन्यमेव एते आत्मानं केवलं गरयन्ति ॥ इति संस्कृतम्]

अत्रोभयेपामपि परस्परं जनकता मिथःश्रीसारतासम्पादनद्वारेण ।

[सूत्र १८७] **उत्तरश्रुतिमात्रतः ।**
प्रश्नस्योन्नयनं यत्र क्रियते तत्र वा सति ॥१२१॥
असकृद्यदसम्भाव्यमुत्तरं स्यात्तदुत्तरम् ।

(१) प्रतिवचनोपलम्भादेव पूर्ववाक्यं यत्र कल्प्यते तदेकं तावदुत्तरम् । उदाहरणम्—

वाणिअअ हत्थिदन्ता कुत्तो अम्हाणं वग्घकित्ती अ ।
जाव लुलिआलअमुही घरम्मि परिसक्कए सोण्हा ॥५२९॥
[वाणिजक ! हस्तिदन्ताः कुतोऽस्माकं व्याघ्रकृत्तयश्च ।
यावत् लुलितालकमुखी गृहे परिष्वक्कते स्नुषा ॥ इति संस्कृतम्]

हस्तिदन्तव्याघ्रकृत्तीनामहमर्थी ता मूल्येन प्रयच्छेति क्रेतुर्वचनम् अमुना वाक्येन समुन्नीयते ।

तालाबोंके द्वारा हंसोंकी शोभा बढ़ती है और हंसोंके द्वारा तालाबोंकी श्रीवृद्धि होती है । ये दोनों एक-दूसरेके द्वारा अपने ही गौरवको बढ़ाते हैं ॥ ५२८ ॥

यहाँ एक-दूसरेकी श्रीवृद्धिके द्वारा दोनों एक दूसरेके कारण [जनक] हैं ।

४१. उत्तर अलङ्कार

[सू० १८७]—उत्तरके श्रवणमात्रसे जहाँ प्रश्नकी कल्पना की जाती है [वह उत्तर अलङ्कार होता है] अथवा प्रश्नके होनेपर अनेक बार जो असम्भाव्य उत्तर दिया जाय वह [दूसरे प्रकारका] उत्तर अलङ्कार होता है ।

उत्तरको सुनकर ही जहाँ पूर्ववाक्य [अर्थात् प्रश्न]की कल्पना कर ली जाय वह एक प्रकारका उत्तर [अलङ्कार] होता है । जैसे—

हे वणिक् ! जबतक चञ्चल अलकों [लटों]से युक्त मुखवाली यह पुत्रवधू घरमें घूमती है तबतक हाथीदाँत और व्याघ्रचर्म हमारे यहाँ कहाँ मिल सकते हैं ? [क्योंकि पुत्र तो इसको छोड़कर बाहर जाता नहीं तब कौन इन चीजोंको लाये] ॥५२९॥

[यह व्याधका उत्तरवाक्य है । इसके सुनने मात्रसे प्रश्नरूप] मैं हाथीदाँत और व्याघ्रचर्म लेना चाहता हूँ तुम मूल्य लेकर उनको दो इस क्रय करनेवालेके वाक्यकी कल्पना इस उत्तरवाक्यके द्वारा की जाती है [अतः यहाँ उत्तर अलङ्कार है] ।

यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि प्रश्न होनेपर उत्तर दिया जाता है इसलिए प्रश्न कारण है, उत्तर कार्य है । उत्तर सुननेसे प्रश्नका ज्ञान करना कार्यसे कारणका ज्ञान है । इसलिए इसको या तो काव्यलिङ्ग अलङ्कार कहा जा सकता है अथवा फिर अनुमान अलङ्कारके भीतर इसका अन्तर्भाव

न चैतत् काव्यलिङ्गम्, उत्तरस्य तादृप्यानुपपत्तेः। नहि प्रश्नस्य प्रतिवचनं जनको हेतुः। नापीदमनुमानम्, एकधर्मिनिष्टतया साध्यसाधनयोरनिर्देशादित्यलङ्कारान्तरमेवोत्तरं साधीयः।

(२) प्रश्नादनन्तरं लोकातिक्रान्तगोचरतया यदसम्भाव्यरूपं प्रतिवचनं स्यात्तदपरमुत्तरम्। अनयोश्च सकृदुपादाने न चारुताप्रतीतिरित्यसकृदित्युक्तम्। उदाहरणम्—

का विसमा देव्वगई कि लद्धं जं जणो गुणग्गाही।
कि सोक्खं सुकलत्तं कि दुक्खं जं खलो लोओ ॥५३०॥

हो सकता है। इसलिए इस उत्तर अलङ्कारको अलग नहीं मानना चाहिये। इस शङ्काका समाधान करनेके लिए ग्रन्थकार अगली पंक्तियोंमें काव्यलिङ्ग तथा अनुमान दोनों अलङ्कारोंसे इस उत्तर अलङ्कारका भेद दिखलाते हैं। काव्यलिङ्ग अलङ्कारसे तो इस उत्तर अलङ्कारका यह भेद है कि यहाँ उत्तरसे प्रश्नकी कल्पना अवश्य की जाती है परन्तु प्रश्न उत्तरका ज्ञापक हेतु है, कारक हेतु नहीं। काव्यलिङ्ग अलङ्कार कारक या उत्पादक हेतुके होनेपर ही होता है। ज्ञापक हेतु काव्यलिङ्ग अलङ्कारका विषय नहीं है। अतः यहाँ काव्यलिङ्ग अलङ्कार नहीं हो सकता है। अनुमान अलङ्कार यहाँ इसलिए नहीं हो सकता है अनुमानस्थलमें साध्य वह्नि तथा साधन धूम, दोनों एकधर्मी अर्थात् पक्षमें रहते हैं। पक्षमें धूमके होनेपर पक्ष पर्वतादिमें ही वह्निकी सिद्धि होती है। परन्तु यहाँ साध्य अर्थात् प्रश्न श्रोता वणिक्निष्ठ है और साधन अर्थात् उत्तर व्याधनिष्ठ है। इसलिए दोनोंके एकधर्मिनिष्ठ न होनेसे अनुमान नहीं है। इसलिए यह उत्तरालङ्कार काव्यलिङ्ग तथा अनुमान दोनों अलङ्कारोंसे भिन्न तीसरा अलग ही अलङ्कार है। इसी बातको ग्रन्थकार अगली पंक्तियोंमें कहते हैं—

यह काव्यलिङ्ग [अलङ्कार] नहीं है। क्योंकि उत्तर [अर्थात् प्रतिवचन काव्यलिङ्गका कारक] हेतु नहीं हो सकता है। [तादृप्यानुपपत्तेः अर्थात् हेतुत्वानुपपत्तेः] क्योंकि [हेतु कारक और ज्ञापक भेदसे दो प्रकारका होता है। इनमेंसे काव्यलिङ्गका विषय केवल कारक हेतु होता है। ज्ञापक हेतु उसका विषय नहीं होता है। परन्तु यहाँ] उत्तर प्रश्नका कारक हेतु नहीं है अतः यह काव्यलिङ्ग नहीं हो सकता है]।

और न यह अनुमान [अलङ्कार] हो सकता है। क्योंकि यहाँ साध्य [प्रश्न] और साधन [उत्तर] दोनोंका एकधर्मिनिष्ठरूपसे निर्देश नहीं किया गया है [अनुमानमें जिस पर्वतादिरूप धर्मी अर्थात् पक्षमें धूमादि साधन रहता है उसी धर्मीमें साध्य वह्नि रहता है। यहाँ साधनरूप प्रतिवचन व्याधनिष्ठ है और साध्यरूप प्रश्न वणिक्निष्ठ है अतः भिन्नाधिकरण होनेके कारण यह अनुमान अलङ्कार भी नहीं है] इसलिए उत्तरको अलग अलङ्कार मानना ही उचित है।

[उत्तर अलङ्कारका दूसरा भेद दिखलाते हैं]—अथवा प्रश्नके बाद जो अलौकिक असम्भाव्य-सा उत्तर [अनेक बार] दिया जाता है वह दूसरे प्रकारका उत्तर [अलङ्कार] है। इन दोनोंके एक बार कहनेमें चमत्कारकी प्रतीति नहीं होती है इसलिए [लक्षणमें असकृत्] 'अनेक बार' यह कहा है। उदाहरण [जैसे]—

दुर्गम क्या है? दैव [भाग्य] की गति [दुर्गम है]। क्या प्राप्त करने योग्य है?

सङ्केतकालमनसं विटं ज्ञात्वा विदग्धया ।

हसन्नेत्रार्पिताकूतं लीलापद्मं निमीलितम् ॥५३२॥

अत्र जिज्ञासितः सङ्केतकालः कयाचिदिङ्गितमात्रेण विदितो निशासमयशंसिना कमलनिमीलनेन लीलया प्रतिपादितः ।

[सूत्र १८९] उत्तरोत्तरमुत्कर्षो भवेत्सारः परावधिः ॥१२३॥

परः पर्यन्तभागोऽवधिर्यस्य धाराधिरोहितया तत्रैवोत्कर्षस्य विश्रान्तेः । उदाहरणम्—

राज्ये सारं वसुधा वसुधायां पुरं पुरे सौधम् ।

सौधे तल्पं तल्पे वराङ्गनानङ्गसर्वस्वम् ॥५३३॥

[सूत्र १९०] भिन्नदेशतयात्यन्तं कार्यकारणभूतयोः ।

युगपद्धर्मयोर्यत्र ख्यातिः सा स्यादसङ्गतिः ॥१२४॥

इह यद्देशं कारणं तद्देशमेव कार्यमुत्पद्यमानं दृष्टं यथा धूमादि । यत्र तु हेतुकार्यरूपयोरपि धर्मयोः केनाप्यतिशयेन नानादेशतया युगपदवभासनम्, सा तयोः स्वभावोत्पन्नपरस्परसङ्गतित्यागादसङ्गतिः । उदाहरणम्—

किसी चतुर [उपनायिका] ने हँसकर नेत्रोंमें अभिप्राय [illegible] [मिलनेके] सङ्केतसमयको जाननेकी इच्छा [illegible] [illegible] कमल बन्द कर दिया ॥५३२॥

यहाँ जिज्ञासित सङ्केतकालको किसी [विदग्धा उपनायिका] ने [illegible] लिया और रात्रि समयके सूचक कमलको बन्द करनेके द्वारा [illegible] प्रकाशित कर दिया है [इसलिए यह सूक्ष्म अलङ्कारका उदाहरण है] ।

४३. सार अलङ्कार

[सूत्र १८९]—जहाँ पराकाष्ठापर्यन्त उत्तरोत्तर [illegible] हो वह सार [नामक अलङ्कार] होता है ॥१२३॥

पर अर्थात् चरम भाग [पराकाष्ठा] जिसकी [illegible] । [illegible] हुए उसी [पराकाष्ठा] में उत्कर्षकी विश्रान्ति होती है । उदाहरण [illegible]

राज्यका सार पृथ्वी है, पृथ्वीमें नगर, नगरमें [illegible] पलंग और पलंगका [भी सार] कामदेवका सर्वस्व [illegible] ।

४४. असङ्गति अलङ्कार

[सूत्र १९०] जहाँ कार्यकारणभूत दो धर्मोंकी [illegible] एक साथ प्रतीति हो वह असङ्गति [अलङ्कार] होता है । [illegible]

लोकमें जिस स्थानपर कारण होता [illegible] जाता है । जैसे धूमादि [कार्य वहीं उत्पन्न होता है] [illegible] रहता है] । परन्तु जहाँ कार्यकारणभूत दो धर्मोंकी [illegible] देशमें [अथवा] एक साथ प्रतीति होती है [illegible]

जस्सेअ वणो तस्सेअ वेअणा भणइ तं जणो अलिअं ।
दन्तक्खअं कवोले वहूए वेअणा सवत्तीणं ॥५३४॥
[यस्यैव व्रणस्तस्यैव वेदना भणति तज्जनोऽलीकम् ।
दन्तक्षतं कपोले वध्वा वेदना सपत्नीनाम् ॥इति संस्कृतम्]

एषा च विरोधबाधिनी न विरोधः, भिन्नाधारतयैव द्वयोरिह विरोधितायाः प्रतिभासात्। विरोधे तु विरोधित्वम् एकाश्रयनिष्ठमनुक्तमपि पर्यवसितम् । अपवादविषयपरिहारेणोत्सर्गस्य व्यवस्थितेः । तथा चैवं निदर्शितम् ।

[सूत्र १९१] **समाधिः सुकरं कार्यं कारणान्तरयोगतः ।**

साधनान्तरोपकृतेन कर्त्रा यदक्लेशेन कार्यमारब्धं समाधीयते स समाधिर्नाम । उदाहरणम्—

मानमस्या निराकर्तुं पादयोर्मे पतिष्यतः ।
उपकाराय दिष्ट्येदमुदीर्णं घनगर्जितम् ॥५३५॥

त्याग देनेसे असङ्गति [अलङ्कार होता] है। [असङ्गतिका] उदाहरण [जैसे]—

जिसके घाव होता है उसीको वेदना होती है [यह बात जो] लोग कहते हैं वह झूठ है। [क्योंकि पतिके द्वारा किया गया] दन्तक्षत वधूके गालमें है और [उसको देखकर] सपत्नियोंके हृदयमें वेदना होती है ॥५३४॥

यह [असङ्गति] विरोधकी बाधिका है। [स्वयं] विरोध [अलङ्कार] रूप नहीं है। क्योंकि यहाँ [कारणभूत दन्तक्षत तथा कार्यभूत वेदना] दोनोंका विरोध भिन्नाधारतया ही प्रतीत हो रहा है। विरोध [अलङ्कार] में विना कहे भी एक आश्रयनिष्ठ विरोधित्व ही फलित होता है, क्योंकि अपवादके स्थलको छोड़कर सामान्य नियम [उत्सर्ग] ही सर्वत्र रहता है। यही बात [विरोधाभासके निरूपणमें] दिखलायी भी है।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि जहाँ भिन्नाधिकरण धर्मोंका एकाधिकरणमें आ जानेके कारण विरोध प्रतीत होता है वह विरोधाभासका विषय है और जहाँ समानाधिकरण धर्मोंकी वैयधिकरण्येन प्रतीतिके कारण विरोधका भान हो वहाँ असङ्गति अलङ्कार ही होता है। यह इन दोनोंका भेद है।

४५. समाधि अलङ्कार

[सूत्र १९१]—जहाँ अन्य कारणके आ जानेसे कार्य सुकर हो जाता है वहाँ समाधि [अलङ्कार] होता है।

[पूर्वसिद्ध कारणोंके अतिरिक्त] अन्य कारणकी सहायता प्राप्त हो जानेसे जहाँ कर्ता प्रारम्भ किये हुए कार्यको सरलतासे सम्पादन कर लेता है वह समाधि [नामक अलंकार] होता है। उदाहरण [जैसे]—

इस [नायिका]के मानको दूर करनेके निमित्त इसके पैरोंपर गिरनेके लिए उद्यत मेरी सहायताके लिए भाग्यसे मेघोंका गर्जन होने लगा [जिससे इसका मान तत्काल ही दूर हो गया] ॥५३५॥

[सूत्र १९२] समं योग्यतया योगो यदि सम्भावितः क्वचित् ॥१२५॥

इदमनयोः श्लाघ्यमिति योग्यतया सम्बन्धस्य नियतविषयमध्यवसानं चेत्तदा समम्। तत्सद्योगेऽसद्योगे च। उदाहरणम्—

(१) धातुः शिल्पातिशयनिकषस्थानमेषा मृगाक्षी
रूपे देवोऽप्ययमनुपमो दत्तपत्रः स्मरस्य।
जातं दैवात्सदृशमनयोः सङ्गतं यत् तदेतत्
शृङ्गारस्योपनतमधुना राज्यमेकातपत्रम् ॥५३६॥

(२) चित्रं चित्रं बत बत महच्चित्रमेतद्विचित्रं
जातो दैवादुचितरचनासंविधाता विधाता।
यन्निम्बानां परिणतफलस्फीतिरास्वादनीया
यच्चैतस्याः कवलनकलाकोविदः काकलोकः ॥५३७॥

[सूत्र १९३] क्वचिद्यदतिवैधर्म्यान्न श्लेषो घटनामियात्।
कर्तुः क्रियाफलावाप्तिर्नैवानर्थश्च यद् भवेत् ॥१२६॥

---

४६. सम अलङ्कार

[सूत्र १९२]— यदि कहीं [दो विशेष वस्तुओंका] योग्यरूपसे सम्बन्ध वर्णित हो तो सम [नामक अलङ्कार] होता है ॥१२५॥

यह इन दोनों [विशेष वस्तुओं] का [सम्बन्ध] श्लाघ्य है इस प्रकार योग्य होनेसे नियत [वस्तु] विषयक सम्बन्धका निश्चय [अध्यवसान] हो तो [वहाँ] 'सम' [नामक अलंकार] होता है। १. उत्तम [वस्तुओंके] योगमें और २. असद् वस्तुओंके योगमें [इस तरहसे यह दो प्रकारका] होता है [दोनों प्रकारके] उदाहरण [जैसे]—

(१) यह मृगाक्षी [नायिका] ब्रह्माके रचनाकौशलकी परीक्षाकी कसौटी है और कामदेवका भी [साम्मुख्यके लिए] आह्वान करनेवाला यह राजा भी रूपमें अनुपम है। भाग्यसे इन दोनोंका जो यह मेल हो गया है इससे अब शृङ्गारका एकच्छत्र राज्य आ गया है [यह समझना चाहिये। यह सद्योगमें सम अलङ्कारका उदाहरण है।]॥५३६॥

(२) देखो, देखो आश्चर्य, महान् आश्चर्यकी विचित्र बात है कि भाग्यसे विधाता उचित सृष्टिरचनाका करनेवाला हो गया। क्योंकि [उसने] नीमकी पकी हुई निबौलियोंके अपूर्व रस [स्फीति] को पान करने योग्य बनाया है और इनके खानेकी कलामें निपुण काकसमुदायको बनाया है ॥५३७॥

यहाँ काक और निबौलीके सुन्दर सम्बन्धका वर्णन [illegible] असत् पदार्थ है इसलिए यह असद्योगमें 'सम' अलङ्कारका उदाहरण है।

४७. विषम अलङ्कार

[सूत्र १९३]-(१) जहाँ [सम्बन्धियोंके] अत्यन्त वैधर्म्यके कारण जो उनका सम्बन्ध न बनता प्रतीत हो [वह एक प्रकारका विषमालंकार होता है। और दूसरे

(३) सद्यः करस्पर्शमवाप्य चित्रं रणे रणे यस्य कृपाणलेखा ।
तमालनीला शरदिन्दुपाण्डु यशस्त्रिलोक्याभरणं प्रसूते ॥५४०॥

(४) आनन्दममन्दमिमं कुवलयदललोचने ददासि त्वम् ।
विरहस्त्वयैव जनितस्तापयतितरां शरीरं मे ॥५४१॥

अत्रानन्ददानं शरीरतापेन विरुध्यते । एवम्—

विपुलेन सागरशयस्य कुक्षिणा भुवनानि यस्य पपिरे युगक्षये ।
मदविभ्रमासकलया पपे पुनः स पुरस्त्रियैकतमयैकया दृशा ॥५४२॥

इत्यादावपि विषमत्वं यथायोगमवगन्तव्यम् ।

---

(३) प्रत्येक युद्धमें जिसके हाथका स्पर्श प्राप्त करके तमालके समान नीलवर्णकी तलवार तुरन्त ही तीनों लोकोंके अलङ्काररूप, शरदिन्दुके समान शुभ्रवर्णके यशको उत्पन्न करती है ॥५४०॥

यहाँ कार्यभूत यश और कारणभूत कृपाण दोनोंके गुण एक-दूसरेसे विपरीत है। कृपाण तमालके समान नीलवर्ण है परन्तु उससे शरदिन्दुके समान शुभ्रवर्ण यशकी उत्पत्ति वर्णित है। इसलिए यह विषमालङ्कारके तीसरे भेदका उदाहरण है। यह श्लोक पद्मगुप्तके 'नवसाहसाङ्कचरित'का है।

(४) हे कमलदलके समान नेत्रोंवाली [प्रिये]! तुम तो इस अमित आनन्दको प्रदान करती हो परन्तु तुमसे उत्पन्न हुआ विरह मेरे शरीरको अत्यन्त सन्तप्त करता है ॥५४१॥

यहाँ [कारणभूत नायिकाका] आनन्ददान, [कार्यभूत विरहके] शरीरसन्तापका विरोधी है। [इसलिए कारण तथा कार्यकी क्रियाओंके विपरीत होनेके कारण यह विषमालङ्कारके चौथे भेदका उदाहरण है]।

इस विषम अलङ्कारका विरोधालङ्कारसे यह भेद है कि विरोधालङ्कारमें विरोधियोंका सामानाधिकरण्य अपेक्षित होता है, यहाँ विरोधियोंका सामानाधिकरण्य नहीं है। वे कार्य तथा कारणरूप भिन्न अधिकरणोंमें रहते हैं। इसी प्रकार यह असङ्गति अलङ्कारसे भी भिन्न है क्योंकि असङ्गति अलङ्कारमें कार्यकारणकी भिन्नदेशता आवश्यक होती है, यहाँ कार्यकारण दोनों एक ही देशमें रहते हैं।

इसी प्रकार—

जिस समुद्रशायी [विष्णु भगवान्] की विशाल कोखमें प्रलयकालमें सारे लोक विलीन हो जाते हैं उसी [श्रीकृष्ण] को मद्यके नशेके कारण पूरे रूपसे न खुलनेवाली एक ही आँखसे नगरकी एक ही स्त्रीने पी लिया [सादर अवलोकन किया] ॥५४२॥

इत्यादिमें यथायोग विषम [अलङ्कार] समझना चाहिये।

'यथायोग विषमत्व समझ लेना चाहिये' यह जो यहाँ कहा है इसका अभिप्राय यह है कि विषमालङ्कारमें जिन चार प्रकारके वैषम्योंका उल्लेख किया गया है उनमेंसे कई प्रकारके वैषम्य यहाँ बन सकते हैं और उनसे भिन्न प्रकारके वैषम्यका भी उपपादन हो सकता है। उदाहरणार्थ, यहाँ जिस शरीरके कुक्षिरूप अवयवमें सारा लोक समा जाता है उस सम्पूर्ण शरीररूप अवयवीको एक स्त्रीने एक ही अपूर्ण आधखुली दृष्टिसे पान कर लिया यह अवयव और अवयवीका योग

[सू० १९६] प्रतिपक्षमशक्तेन प्रतिकर्तुं तिरस्क्रिया ।
या तदीयस्य तत्स्तुत्यै प्रत्यनीकं तदुच्यते ॥१२९॥

स्वस्य प्रतिपक्षमपि विपक्षं साक्षान्निरसितुमशक्तेन केनापि यत् तमेव प्रतिपक्षमुत्कर्षयितुं तदाश्रितस्य तिरस्करणम् तदनीकप्रतिनिधितुल्यत्वात् प्रत्यनीकमभिधीयते । यथाऽनीकेऽभियोज्ये तत्प्रतिनिधिभूतमपरं मूढतया केनचिदभियुज्यते, तथेह प्रतियोगिनि विजेये तदीयोऽन्यो विजीयते इत्यर्थः । उदाहरणम्—

त्वं विनिर्जितमनोभवरूपः सा च सुन्दर ! भवत्यनुरक्ता ।
पञ्चभिर्युगपदेव शरैस्तां तापयत्यनुशयादिव कामः ॥५४५॥

यथा वा—

यस्य किञ्चिदपकर्तुमक्षमः कायनिग्रहगृहीतविग्रहः ।
कान्तवक्त्रसदृशाकृतिं कृती राहुरिन्दुमधुनाऽपि बाधते ॥५४६॥

इन्दोरत्र तदीयता सम्बन्धिसम्बन्धात् ।

---

४९. प्रत्यनीक अलङ्कार

[सूत्र १९६] अपने प्रतिपक्षी [शत्रु] का अपकार कर सकनेमें असमर्थ [व्यक्ति] के द्वारा उस [प्रतिपक्षी]के किसी [सम्बन्धी वस्तु]का जो उसकी स्तुतिमें पर्यवसित होनेवाला तिरस्कार करना है वह प्रत्यनीक [अलङ्कार] कहलाता है ॥१२९॥

अपना तिरस्कार करनेवाले प्रतिपक्षीका भी साक्षात् अपकार करनेमें असमर्थ किसी [व्यक्ति] के द्वारा [फलतः] उसी प्रतिपक्षीके उत्कर्ष सम्पादनार्थ जो उसके आश्रितका तिरस्कार करना है वह [प्रतिः प्रतिनिधिप्रतिदानयोः १, ४, ९२ इस पाणिनिसूत्रके अनुसार प्रति शब्द यहाँ प्रतिनिधिके अर्थमें है ।] अनीक [सेना] के प्रतिनिधिके तुल्य होनेसे [यह अलङ्कार] प्रत्यनीक [नामसे] कहा जाता है । जैसे सेनाके ऊपर आक्रमण करनेके अवसरपर किसीके द्वारा मूर्खतासे उसके प्रतिनिधिभूत दूसरेपर आक्रमण कर दिया जाता है इसी प्रकार यहाँ प्रतिपक्षीको विजय करनेके स्थानपर उसके सम्बन्धी दूसरेको विजय किया जाता है [इसलिए इस अलङ्कारकी प्रत्यनीक यह अन्वर्थ संज्ञा है] । उदाहरण [जैसे]—

हे सुन्दर [नायक] ! तुमने कामदेवके सौन्दर्यको जीत लिया है, [कामदेव तुम्हारा तो कुछ नहीं बिगाड़ पाता है परन्तु] वह [नायिका] तुमपर अनुरक्त [तुम्हारी] है इसीलिए पाँचों बाणोंसे एक साथ ही उसको अत्यन्त पीड़ित कर रहा है ॥५४५॥

अथवा जैसे—

[श्रीकृष्णके द्वारा राहुके 'कायनिग्रह' अर्थात्] सिर काट डाले जानेके कारण उनसे वैर माननेवाला [गृहीतविग्रहः] राहु जिस [कृष्ण] का कुछ भी बिगाड़ सकनेमें असमर्थ होनेपर उसके [कृष्णके] सुन्दर मुखके समान आकृतिवाले चन्द्रमाको आज भी पीड़ित कर रहा है [और इसीसे अपनेको कृतकृत्य मानता है] ॥५४६॥

[सूत्र १९६] समेन लक्ष्मणा वस्तु वस्तुना यन्निगूह्यते ।
निजेनागन्तुना वापि तन्मीलितमिति स्मृतम् ॥१३०॥

सहजमागन्तुकं वा किमपि साधारणं यत् लक्षणं तद्द्वारेण यत्किञ्चित् केनचिद्वस्तुना वस्तुस्थित्यैव बलीयस्तया तिरोधीयते तन्मीलितमिति द्विधा स्मरन्ति। क्रमेणोदाहरणम्—

(१) अपाङ्गतरले दृशौ मधुरवक्रवर्णा गिरो
विलासभरमन्थरा गतिरतीव कान्तं मुखम् ।
इति स्फुरितमङ्गके मृगदृशः स्वतो लीलया
तदत्र न मदोदयः कृतपदोऽपि संलक्ष्यते ॥५४७॥

अत्र दृक्तरलतादिकमङ्गस्य लिङ्गं स्वाभाविकं साधारणं च मदोदयेन तत्राप्येतस्य दर्शनात् ।

यहाँ [कृष्णके साक्षात्] सम्बन्धी [मुख] के साथ सम्बन्ध होनेसे चन्द्रमा उन [कृष्णका] परम्परासे सम्बन्धी है ।

५०. मीलित अलङ्कार

[सूत्र १९६]—जहाँ अपने (१) स्वाभाविक अथवा (२) आगन्तुक [तिरोधायक तथा तिरोधीयमान दोनोंमें समानरूपसे रहनेके कारण] साधारण चिह्नसे किसीके द्वारा वस्तुका आच्छादन कर दिया जाय वह मीलित [अलङ्कार कहलाता है ॥१३०॥

(१) स्वाभाविक अथवा (२) औपाधिक [आगन्तुक] जो कोई [तिरोधीयमान एवं तिरोधायकका] साधारण चिह्न, उससे जो किसीका किसी वस्तुके द्वारा बलवान् होनेसे वास्तविकरूपमें [अन्य वस्तुका] तिरोधान कर देना है वह मीलित [अलङ्कार] कहलाता है । और वह भी [सहज तथा आगन्तुक भेदसे] दो प्रकारका होता है । क्रमसे [दोनों भेदोंके] उदाहरण [जैसे]—

(१) [नायिकाके] नेत्र प्रान्तोंमें [कटाक्ष करनेमें] चञ्चल हो रहे हैं, वाणी मधुर और वक्रोक्तिपूर्ण है, गति सौन्दर्यातिशयके कारण मन्द है और मुख अत्यन्त सुन्दर हो रहा है । इस प्रकार मृगनयनीके सुन्दर शरीरमें विलासका स्वयं ही उदय हो रहा है । इसलिए इसमें [मादक द्रव्यके सेवनसे अथवा धनादिके कारण होनेवाले] मदके उदयको कोई स्थान ही नहीं मिला दीखता है ॥५४७॥

यहाँ नायिकाके शरीरमें दृक्तरलता आदि स्वाभाविक चिह्न पाये जाते हैं । इसलिए साधारण चिह्न हैं । ये चिह्न मदकी अवस्थामें भी होते हैं । इस प्रकार स्वाभाविकतया प्रसिद्ध होनेके कारण बलवान् होनेसे उनके द्वारा 'मदोदय' रूप वस्तुका तिरोधान कर दिया गया है, अतः मीलित अलङ्कार है ।

यहाँ नेत्रोंकी चञ्चलता आदि शरीरके स्वाभाविक चिह्न हैं और मदोदय [मदिरादिजन्य नशे] के समान [चिह्न] हैं । क्योंकि उन [नशा आदि] के होनेपर भी ये देखे जाते हैं ।

(२) ये कन्दरासु निवसन्ति सदा हिमाद्रे-
स्त्वत्पातशङ्कितधियो विवशा द्विषस्ते ।
अप्युद्गतपुलकमुद्वहतां सकम्पं
तेषामहो बत भियं न बुधोऽप्यवैति ॥५४८॥

अत्र तु सामर्थ्याववसितस्य शैत्यस्य आगन्तुकत्वात् तत्प्रभवयोरपि कम्पपुलकयोरागन्तुकत्वं समानता च भयेऽपि तयोरुपलक्षितत्वात् ।

[सूत्र १९९] स्थाप्यतेऽपोह्यते वापि यथापूर्वं परं परम् ।
विशेषणतया यत्र वस्तु सैकावली द्विधा ॥१३१॥

पूर्वं पूर्वं प्रति यथोत्तरस्य वस्तुनो वीप्सया विशेषणभावेन यत्स्थापनं निषेधो वा सम्भवति सा द्विधा बुधैरेकावली भण्यते । क्रमेणोदाहरणम्—

---

(२) हे राजन् ! तुम्हारे जो शत्रु तुम्हारे आक्रमणके भयसे विवश होकर सदा हिमालयकी कन्दराओंमें रहते हैं उनके [तुम्हारे भयके कारण] काँपते हुए और रोमाञ्च-युक्त शरीर धारण करनेपर भी [यह कम्प और रोमाञ्च हिमालयके शैत्याधिक्यके कारण है ऐसा समझकर] बुद्धिमान् व्यक्ति भी उन [शत्रुओं] के भयको [अनुमान द्वारा] नहीं जान पाता है ॥ ५४८ ॥

यहाँ [हिमालयकी कन्दराओंमें निवास करनेके कारण उसके] सामर्थ्यसे निश्चित किये गये शैत्यके आगन्तुक [धर्म] होनेसे उस [शैत्य]से उत्पन्न कँपकँपी और रोमाञ्च भी उसी प्रकारके [अर्थात् आगन्तुक धर्म] हैं । और उनकी [भयजन्य कम्प तथा रोमाञ्चके साथ] समानता भी है । क्योंकि भय [के अवसरों]में भी उन [कम्प] तथा रोमाञ्च] दोनोंको देखा जाता है ।

इस प्रकार यहाँ हिमालयके सामीप्यके कारण प्रबल शीतरूप वस्तु आगन्तुक एवं भय चिह्नोंके साथ मिलते हुए साधारण कम्प तथा रोमाञ्चरूप चिह्नोंसे, भयरूप वस्तुको तिरोहित कर रही है अतएव यह भी मीलितके दूसरे भेदका उदाहरण है ।

५१. एकावली अलङ्कार

[सूत्र १९९]—जहाँ पूर्व-पूर्व वस्तुके प्रति उत्तर-उत्तर वस्तु विशेषणरूपसे (१) रखी जाय अथवा (२) हटायी जाय वह दो प्रकारका एकावली अलंकार होता है ॥१३१॥

पूर्व-पूर्व वस्तुके प्रति उत्तर-उत्तर[बादमें आयी हुई] वस्तुका अनेक बार [वीप्सया] विशेषणरूपसे (१) प्रतिपादन अथवा (२) निषेध होता है वह दो प्रकारका एकावली अलङ्कार विद्वानोंके द्वारा कहा जाता है । क्रमसे [दोनों भेदोंके] उदाहरण [जैसे]—

यह श्लोक पद्मगुप्त प्रणीत 'नवसाहसाङ्कचरित'के प्रथम सर्गमें राजा विक्रमादित्यकी राजधानी उज्जयिनीके वर्णनमें आया है । इसमें पुर-शब्दका प्रयोग विशेषरूपसे ध्यान देने योग्य है । 'पुर'का साधारणतया प्रचलित अर्थ 'नगर' है परन्तु वह यहाँ सङ्गत नहीं हो सकता है । इसलिए 'अगारे नगरे पुरम्' इस अमरकोषके अनुसार, अथवा 'गृहोपरिगृहं पुरम्' इस धरणीकोशके अनुसार 'पुर' शब्द 'घरके ऊपरके कमरे'का वाचक है । श्लोकका अर्थ इस प्रकार है—

(१) पुराणि यस्यां सवराङ्गनानि वराङ्गना रूपपुरस्कृताङ्ग्यः ।
रूपं समुन्मीलितसद्विलासम् अस्त्रं विलासाः कुसुमायुधस्य ॥५४९॥

(२) न तज्जलं यन्न सुचारुपङ्कजं न पङ्कजं तद्यदलीनषट्पदम् ।
न षट्पदोऽसौ कलगुञ्जितो न यो न गुञ्जितं तन्न जहार यन्मनः॥५५०॥

पूर्वत्र पुराणां वराङ्गनाः, तासामङ्गविशेषणमुखेन रूपम्, तस्य विलासाः, तेषामप्यस्त्रम् इत्यमुना क्रमेण विशेषणं विधीयते । उत्तरत्र प्रतिषेधेऽप्येवं योज्यम् ।

[सूत्र १९८] यथाऽनुभवमर्थस्य दृष्टे तत्सदृशे स्मृतिः ।

स्मरणम्

यः पदार्थः केनचिदाकारेण नियतः यदा कदाचिदनुभूतोऽभूत्, स कालान्तरे स्मृति-

---

(१) जिस [उज्जयनी नगरी]मे घर सुन्दरियो [वराङ्गनाओं] से युक्त है, और उन सुन्दरियोंके शरीर रूपसे युक्त हैं, रूपसे हाव-भाव [विलास] प्रकट हो रहे है, और वे विलास कामदेवके अस्त्र [का काम कर रहे] है ॥५४९॥

इसमे पहिले चरणमे 'पुर'का विशेषण 'वराङ्गना' है। दूसरे चरणमे 'वराङ्गना'का विशेषण 'रूपपुरस्कृताङ्ग्यः' रखा गया है। इसी प्रकार तीसरे चरणमे 'रूप'का विशेषण 'समुन्मीलितसद्विलास' रखा गया है और चौथे चरणमे उन विलासोको 'कुसुमायुधका अस्त्र' बनाया गया है। इस प्रकार पूर्व-पूर्वके प्रति विशेषणरूपमें उत्तर-उत्तरके स्थापित किये जानेसे यह पहिले प्रकारके एकावली अलङ्कारका उदाहरण है। दूसरे प्रकारके निषेधात्मक एकावलीका उदाहरण आगे देते हैं—

(२) जिसमें सुन्दर कमल न हो वह जल [जलाशय] ही नहीं है, जिसके भीतर भ्रमर न बैठे हो वह कमल ही नहीं है, जो मनोहर गुञ्जन नहीं करता है वह भ्रमर ही नहीं है और जो मनको हरण न कर ले वह गुञ्जन ही नहीं है ॥ ५५० ॥

हिन्दीके किसी कविने इस श्लोकका पद्यानुवाद इस प्रकार किया है—

सो नहि सर जिन सरसिज नाहीं,
सरसिज नहि जेहि अलि न लुभाहीं।
अलि नहि जो कल गुञ्जनहीना,
गुञ्जन नहि जु मन न हरि लीना ॥

पहिले श्लोकमें 'पुर'के [विशेषणरूपमें] वराङ्गना, [फिर] उनके विशेषणरूपमें सौन्दर्य [रूप], उनके [विशेषणरूपमें] विलास और उनके [विशेषणरूपमें] अस्त्र, इस प्रकार क्रमसे विशेषणकी स्थापना की गयी है [अतः यह प्रथम एकावलीका उदाहरण है]। दूसरे श्लोकमें इसी प्रकार निषेधके विषयमें भी योजना कर लेनी चाहिये।

५२. स्मरण अलङ्कार

[सूत्र १९८]—उस [पहिले देखी हुई वस्तु] के समान [दूसरी वस्तु]को देखकर [अथवा सुनकर, अर्थात पूर्वदृष्ट वस्तुके सदृश वस्तुका किसी प्रकारसे ज्ञान प्राप्तकर] पूर्व अनुभवके अनुसार वस्तुकी स्मृति होना स्मरण [नामक अलङ्कार कहलाता] है।

जो पदार्थ किसी आकारविशेषसे निश्चित है [अर्थात] कभी [उस रूपमें]

प्रतिबोधाधायिनि तत्समाने वस्तुनि दृष्टे सति यत्तथैव स्मर्यते तद्भवेत्स्मरणम् । उदाहरणम्—

निम्ननाभिकुहरेषु यदम्भः प्लावितं चलदृशां लहरीभिः ।
तद्भवैः कुहरुतैः सुरनार्यः स्मारिताः सुरतकण्ठरुतानाम् ॥५५१॥

यथा वा—

करजुअगहिअजसोआत्थणमुहविणिवेसिआहरपुडस्स ।
सम्भरिअपञ्चजण्णस्य णमह कण्हस्स रोमाञ्चं ॥५५२॥
[करयुगगृहीतयशोदास्तनमुखविनिवेशिताधरपुटस्य ।
संस्मृतपाञ्चजन्यस्य नमत कृष्णस्य रोमाञ्चम् ॥इति संस्कृतम्]

[सू १९९] भ्रान्तिमानन्यसंवित् तत्तुल्यदर्शने ॥१३२॥

तदिति अन्यत् अप्राकारणिकं निर्दिश्यते । तेन समानं अर्थादिह प्राकरणिकम् आश्रीयते । तस्य तथाविधस्य दृष्टौ सत्यां यत् अप्राकरणिकतया संवेदनं स भ्रान्तिमान ।

न चैव रूपकं प्रथमातिशयोक्तिर्वा । तत्र वस्तुतो भ्रमस्याभावात् । इह च अर्थानुगमनेन संज्ञायाः प्रवृत्तेः, तस्य स्पष्टमेव प्रतिपन्नत्वात् । उदाहरणम्—

अनुभव किया गया हो, दूसरे समय [स्मृतिके कारणभूत] संस्कारोद्बोधक समान वस्तुके देखनेपर उसका जो उसी रूपमें स्मरण होता है वह स्मरण [नामक अलङ्कार] होता है । उदाहरण [जैसे]—

यह स्मृति कहीं इसी जन्ममें अनुभूत अर्थकी होती है और कहीं पूर्वजन्ममें अनुभूत अर्थकी । इस प्रकार इस अलङ्कारके दो भेद हो जाते हैं । उसी क्रमसे पहिले इस जन्मकी अनुभूत वस्तुकी स्मृतिका उदाहरण देते हैं । इस श्लोकमें सुरनारियों अर्थात् अप्सराओंकी जलक्रीडाका वर्णन करते हुए कवि कहता है—

(१) चञ्चल नेत्रोंवाली अप्सराओंकी गहरी नाभिके कुहरोंमें लहरोंने जो पानी फेंका उससे उत्पन्न [कुहरुत] 'कुह' इस प्रकारकी [अनुकरणात्मक] ध्वनिने अप्सराओं को [अपने] सुरतकालीन कण्ठध्वनिका स्मरण हो आया ॥ ५५१ ॥

अथवा जैसे—

(२) दोनों हाथोंमें यशोदा [माता]के स्तनको पकड़कर उसपर होंठ लगाये हुए [स्तनोंके शङ्खसदृश होनेसे] पाञ्चजन्य [नामक अपने शङ्ख]का स्मरण करनेवाले कृष्णके रोमाञ्चको नमस्कार करो ॥ ५५२ ॥

५३. भ्रान्तिमान् अलङ्कार

[सूत्र १९९]—उस [अन्य अप्राकरणिक वस्तु]के समान [प्राकरणिक वस्तु]के देखनेपर जो अन्य वस्तु [अप्राकरणिक अर्थ]का भान होता है वह भ्रान्तिमान् [अलङ्कार कहलाता] है ॥ १३२ ॥

[कारिकामें आये हुए] 'तत्' इस पदसे 'अन्य' अर्थात् 'अप्राकरणिक'का निर्देश किया गया है । उसके समान अर्थात् प्राकरणिकका यहाँ ग्रहण किया जाता है । उस प्रकारकी उस [अप्राकरणिकके सदृश प्राकरणिक] वस्तुके देखनेपर [जो उस प्राकरणिक वस्तु]की अप्राकरणिकरूपसे प्रतीति है वह भ्रान्तिमान् [अलङ्कार] कहलाता है ।

कपाले मार्जारः पय इति करान् लेढि शशिनः
तरुच्छिद्रप्रोतान् बिसमिति करी सङ्कलयति ।
रतान्ते तल्पस्थान् हरति वनिताऽप्यंशुकमिति
प्रभामत्तश्चन्द्रो जगदिदमहो विप्लवयति ॥५५३॥

[सूत्र २००] **आक्षेप उपमानस्य प्रतीपमुपमेयता ।**
तस्यैव यदि वा कल्प्या तिरस्कारनिबन्धनम् ॥१३३॥

(१) अस्य धुरं सुतरामुपमेयमेव वोढुं प्रौढमिति कैमर्थ्येन यदुपमानमाक्षिप्यते (२) यदपि तस्यैवोपमानतया प्रसिद्धस्य उपमानान्तरविवक्षयाऽनादरार्थमुपमेयभावः कल्प्यते, तदुपमेयस्योपमानप्रतिकूलवर्तित्वादुभयरूपं प्रतीपम् । क्रमेणोदाहरणम्—

इस प्रकार यह रूपक, अथवा [निगीर्याध्यवसानरूपा] प्रथमा अतिशयोक्ति नहीं है। क्योंकि उन दोनोंमें वास्तवमें भ्रम नहीं होता है और यहाँ अन्वर्थ संज्ञा [अर्थानुकूल नाम] होनेके कारण उस [भ्रान्ति]की स्पष्ट स्वीकृति होनेसे [यह भ्रान्तिमान् अलङ्कार रूपक तथा प्रथम अतिशयोक्ति दोनोंसे भिन्न है। भ्रान्तिमान्‌का] उदाहरण [जैसे]—

'शार्ङ्गधरपद्धति'में इसे भासका श्लोक बतलाया गया है। इसमें चन्द्रमाकी निर्मल चाँदनीमें भ्रान्तिमान् अलङ्कार द्वारा सौन्दर्य प्रदर्शित करते हुए कवि कहता है कि—

खप्परमें [पड़ी हुई] चन्द्रमाकी किरणोंको यह दूध है ऐसा समझकर बिल्ली चाट रही है। वृक्षके छिद्रों [पत्तोंके बीचमें] से निकलती हुई [किरणों] को हाथी मृणालदण्ड समझ लेता है। स्त्री सुरतसम्भोगके बाद पलँगपर फैली हुई [किरणोंको] यह शुभ्र वस्त्र है यह समझकर समेटने लगती है। इस प्रकार प्रभासे मत्त चन्द्रमा इस संसारको भ्रममें डाल रहा है यह बड़े आश्चर्यकी बात है ॥ ५५३ ॥

५४. प्रतीप अलङ्कार

[सूत्र २००] उपमान [की सत्ता] पर आक्षेप [अर्थात् उसकी व्यर्थताका प्रतिपादन] करना [प्रथम प्रकारका] प्रतीप [अलङ्कार होता] है। अथवा [उस उपमानके] अनादरके [सूचनके] लिए यदि उसी [उपमान]को उपमेय बना दिया जाय [तो वह दूसरे प्रकारका प्रतीप अलङ्कार होता ॥ १३२ ॥

(१) इस [उपमान]के कार्यको उपमेय ही भली प्रकारसे सम्पादन करनेमें समर्थ है फिर इस [उपमान]की रचना किसलिए की गयी है इस प्रकार जो उपमान [की सत्ता] पर आक्षेप किया जाता है [वह प्रथम प्रकारका प्रतीप अलङ्कार होता है] और (२) जो उसी उपमानरूपसे प्रसिद्धका [उसके लिए] दूसरे उपमान बनानेकी विवक्षा करके [प्रसिद्ध उपमानके] तिरस्कारके लिए उसकी जो उपमेयरूपमें कल्पना कर ली जाय वह [भी] उपमेयके [प्रसिद्ध] उपमानके प्रतिकूलवर्ती होनेसे दोनों प्रकारका प्रतीप [अलङ्कार] होता है। क्रमसे [दोनों प्रकारके] उदाहरण [जैसे]—

(१) लावण्यौकसि सप्रतापगरिमण्यग्रेसरे त्यागिनां
देव त्वय्यवनीभरक्षमभुजे निष्पादिते वेधसा ।
इन्दुः किं घटितः किमेष विहितः पूषा किमुत्पादितं
चिन्तारत्नमहो मुधैव किममी सृष्टाः कुलक्ष्माभृतः ॥५५४॥

(२) ए एहि दाव सुन्दरि कण्णं दाऊण सुणसु वअणिज्जम् ।
तुज्झ मुहेण किसोअरि चन्दो उवमिज्जइ जणेण ॥५५५॥
[अयि एहि तावत् सुन्दरि ! कर्णं दत्त्वा शृणुष्व वचनीयम् ।
तव मुखेन कृशोदरि ! चन्द्र उपमीयते जनेन ॥ इति संस्कृतम्]

अत्र मुखेनोपमानभूतेन शशिनः न्यूनगुणत्वात् उपमित्यनिष्पत्त्या 'वअणिज्जम्' इति चन्द्रोपमानमित्यर्थः तिरस्कारः ।

क्वचित् निष्पन्नैवोपमितिक्रिया तिरस्कारनिबन्धनम् । यथा—

(१) लावण्यके निवास, तेजस्विताके गौरवरूप और दाताओंके [त्यागिनां] नायक हे राजन् ! पृथिवीके भारको धारण करने योग्य भुजाओंवाले आपको उत्पन्न करनेके बाद ब्रह्माने चन्द्रमाको क्यों बनाया ? [उसका कार्य तो सौन्दर्यनिधान होनेसे आप ही कर सकते थे]। इस सूर्यको क्यों बनाया ? [आपके तेजसे ही उसका काम पूरा हो जाता] और यह चिन्तामणि [रत्न] क्यों उत्पन्न किया ? [उसका कार्य याचकोंकी तृप्ति तो आप ही कर रहे हैं]। और [पृथ्वीके भारको धारण करनेके लिए जब आपकी भुजाएँ विद्यमान हैं तब] इन कुलपर्वतोंकी रचना व्यर्थ ही क्यों की ? ॥५५४॥

यहाँ राजाके अधिक गुणशाली होनेपर चन्द्रमा आदि प्रसिद्ध उपमानोंकी व्यर्थता सूचित की गयी है इसलिए यह प्रथम प्रकारके प्रतीप अलङ्कारका उदाहरण है।

बिहारीका निम्नलिखित पद इस प्रकारके प्रथम प्रतीप अलङ्कारका सुन्दर उदाहरण है—

जहँ राधा आनन उदित निसि वासर आनन्द ।
तहाँ कहा अरविन्द है कहा बापुरो चन्द ॥

यहाँ उपमेयभूत राधा-आननके सामने उपमानभूत अरविन्द तथा चन्द्रकी व्यर्थता प्रदर्शित करके उनका तिरस्कार किया गया है। अतः यह प्रतीप अलङ्कारका उदाहरण है।

प्रसिद्ध उपमानकी उपमेयरूपसे कल्पना करनेपर दूसरे प्रकारका प्रतीप अलङ्कार होता है, उसका उदाहरण आगे देते हैं—

(२) हे सुन्दरि ! तनिक इधर आओ और कान लगाकर [अपनी] इस निन्दाको सुनो। हे कृशोदरि ! देखो लोग तुम्हारे मुखसे चन्द्रमाको उपमा देते हैं ॥५५५॥

यहाँ मुख [रूप उपमान] के साथ जिसकी उपमा दी जा रही है उस [उपमेय] चन्द्रमाके [तुम्हारे मुखकी अपेक्षा] कम गुणोंसे युक्त होनेके कारण यह उपमा बनती ही नहीं है इस प्रकार 'वचनीयं' पदसे [चन्द्रमाका] तिरस्कार व्यङ्ग्य है।

कहीं उपमितिक्रिया उत्पन्न होकर ही [प्रसिद्ध उपमानके] तिरस्कारका कारण होती है। जैसे—

(३) गर्वमसंवाह्यमिमं लोचनयुगलेन किं वहसि मुग्धे ।
सन्तीदृशानि दिशि दिशि सरःसु ननु नीलनलिनानि ॥५५६॥

इहोपमेयीकरणमेवोत्पलानामनादरः ।

अनयैव रीत्या यदसामान्यगुणयोगात् नोपमानभावमपि अनुभूतपूर्वि तस्य तत्कल्पनायामपि भवति प्रतीपमिति प्रत्येतव्यम् । यथा—

(४) अहमेव गुरुः सुदारुणानामिति हालाहल ! तात ! मा स्म दृप्यः ।
ननु सन्ति भवादृशानि भूयो भुवनेऽस्मिन् वचनानि दुर्जनानाम् ॥५५७॥

अत्र हालाहलस्योपमानत्वमसम्भाव्यमेवोपनिबद्धम् ।

[सूत्र २०१] **प्रस्तुतस्य यदन्येन गुणसाम्यविवक्षया ।**
ऐकात्म्यं बध्यते योगात् तत्सामान्यमिति स्मृतम् ॥१३४॥

अतादृशमपि तादृशतया विवक्षितुं यत् अप्रस्तुतार्थेन सम्पृक्तमपरित्यक्तनिजगुणमेव तदेकात्मतया निबध्यते तत्समानगुणनिबन्धनात्सामान्यम् । उदाहरणम्—

---

(३) हे मुग्धे ! इन दोनों आँखोंके ऊपर तुम इतना अपार अभिमान क्यों करती हो । ऐसे नील कमल तो तालाबोंमें चारों ओर पाये जाते हैं ॥५५६॥

यहाँ कमलोंको उपमेय बना देना ही उनका अनादर करना है [क्योंकि वे तो सदा उपमानरूपसे ही प्रसिद्ध रहे हैं] ।

इसी प्रकार [जो वस्तु] असाधारण गुणके कारण पहिले कभी उपमान नहीं बनी है [अर्थात् जो उपमानरूपसे प्रसिद्ध नहीं है] उसकी उस [उपमान] रूपमें कल्पना होनेपर भी प्रतीप [अलङ्कार] होता है यह समझना चाहिये । जैसे—

(४) अरे बेटा हलाहल ! मैं ही अत्यन्त भयङ्कर लोगोंका गुरु हूँ ऐसा समझकर अभिमान न करो, इस संसारमें आप ऐसे दुर्जनोंके बहुतेरे वचन पाये जाते हैं ॥५५७॥

यहाँ हालाहलका असम्भाव्य उपमानत्व दिखलाया है [जो कि प्रसिद्ध नहीं है, यहाँ केवल दुर्जन-वचनोंके सामने उसकी हीनता दिखलानेके लिए उसको उपमान बनाया गया है] ।

५५. सामान्य अलङ्कार

[सूत्र २०१]—प्रस्तुत [वर्णनीय वस्तु] के [अन्य] अप्रस्तुतके साथ सम्बन्धसे [दोनोंके] गुणोंकी समानताका प्रतिपादन करनेकी इच्छासे जो [उन दोनोंके ऐकात्म्य] अभेदका वर्णन है वह सामान्य [नामक अलङ्कार कहलाता] है ॥१३४॥

वैसा [अर्थात् अप्रस्तुत अर्थके समान] न होनेपर भी उस रूपमें कहनेकी इच्छासे जो अप्रस्तुत अर्थसे सम्बद्ध होकर अपने गुणका परित्याग किये बिना ही उस [अप्रस्तुत] के साथ अभिन्नरूपसे वर्णित किया जाता है वह [उन दोनोंके] समान गुणोंके कारण [एकात्मरूपसे वर्णित] होता है इसलिए 'सामान्य' [इस अन्वर्थ नामसे] कहा जाता है । उदाहरण [जैसे]—

[सूत्र २०२] **विना प्रसिद्धमाधारमाधेयस्य व्यवस्थितिः ।**
एकात्मा युगपद्वृत्तिरेकस्यानेकगोचरा ॥१३५॥
अन्यत् प्रकुर्वतः कार्यमशक्यस्यान्यवस्तुनः ।
तथैव करणं चेति विशेषस्त्रिविधः स्मृतः ॥१३६॥

(१) प्रसिद्धाधारपरिहारेण यत् आधेयस्य विशिष्टा स्थितिरभिधीयते स प्रथमो विशेषः यथा—

दिवमप्युपयातानामाकल्पमनल्पगुणगणा येषाम् ।
रमयन्ति जगन्ति गिरः कथमिह कवयो न ते वन्द्याः ॥५६०॥

(२) एकमपि वस्तु यत् एकेनैव स्वभावेन युगपदनेकत्र वर्तते स द्वितीयः । यथा—
सा वसइ तुज्झ हिअए सा च्चिअ अच्छीसु अ वअणेसु ।
अह्मारिसाण सुन्दर ओआसो कत्थ पावाणं ॥५६१॥
[सा वसति तव हृदये सैवाक्षिषु सा च वचनेषु ।
अस्मादृशीनां सुन्दर ! अवकाशः कुत्र पापानाम् ॥ इति संस्कृतम्]

हो चुकी है तब भ्रमरपतनके बाद होनेवाली उन दोनोंकी भेदप्रतीतिसे वह उत्पन्न ही नहीं हुई यह तो नहीं कहा जा सकता है। इसलिए बादमें उत्पन्न भेदप्रतीतिसे पूर्वोत्पन्न अभेदप्रतीतिका बाध नहीं होता है यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है। इसलिए यहाँ सामान्य अलङ्कार है।

५६. विशेष अलङ्कार

[सूत्र २०२]—१. प्रसिद्ध आधारके विना आधेयकी स्थिति [का वर्णन होनेपर एक प्रकारका विशेष अलङ्कार होता है], २. एक पदार्थकी एक ही रूपसे अनेक जगह एक साथ उपस्थिति [का वर्णन होनेपर दूसरे प्रकारका विशेष अलङ्कार होता है], ३. अन्य कार्यको करते हुए उसी प्रकारसे [अथवा अनायास] किसी अशक्य वस्तुका उत्पादन [वर्णन होनेपर तीसरे प्रकारका विशेष होता है] इस प्रकार तीन तरहका विशेष [अलङ्कार] माना गया है ॥१३६॥

(१) प्रसिद्ध आधारका परित्याग करके जो आधेयकी विशेष प्रकारकी स्थिति का वर्णन किया जाता है वह पहिले प्रकारका विशेष होता है। जैसे—

स्वर्गवास होनेपर भी प्रचुर गुणोंसे युक्त जिनकी [काव्यरूप] वाणी संसार [सहृदय जनों]को प्रलयपर्यन्त आह्लादित करती रहती है वे कवि वन्दनायोग्य क्यों न माने जायँ ॥५६०॥

(२) वस्तु भी एक ही स्वरूपसे एक साथ अनेक जगह जो वर्णित होती है वह दूसरे प्रकारका [विशेष अलङ्कार] होता है। [उसका उदाहरण] जैसे—

वह [नायिका] तुम्हारे हृदयमें रहती है, वह [तुम्हारी] आँखोंमें [रहती है और] वही [तुम्हारे] वचनोंमें रहती है। तब हे सुन्दर! हमारे जैसी पापिनियोंके लिए [तुम्हारे पास] स्थान भी कहाँ हो सकता है ॥५६१॥

(३) यदपि किञ्चिद्रभसेन आरभमाणस्तेनैव यत्नेनाशक्यमपि कार्यान्तरमारभते सोऽपरो विशेषः। उदाहरणम्—

स्फुरदद्भुतरूपमुत्प्रतापज्वलनं त्वां सृजताऽनवद्यविद्यम्।
विधिना ससृजे नवो मनोभूर्भुवि सत्यं सविता बृहस्पतिश्च ॥५६२॥

यथा वा—

(४) गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ।
करुणाविमुखेन मृत्युना हरता त्वां वत किं न मे हृतम् ॥५६३॥

सर्वत्र एवंविधविषयेऽतिशयोक्तिरेव प्राणत्वेनावतिष्ठते तां विना प्रायेणालङ्कारत्वायोगात्। अत एवोक्तम्—

---

(३) और जो [दूसरे अशक्य कार्यको भी करूँगा इसका विचार किये बिना] जल्दीसे किसी कार्यको प्रारम्भ करनेवाला [कर्ता] उसी प्रयत्नसे किसी अशक्य दूसरे कार्यको उत्पन्न कर देता है यह तीसरे प्रकारका विशेष होता है। जैसे—

हे राजन्! अद्भुत [लोकोत्तर] सौन्दर्यसे युक्त, अत्यन्त तेजस्वी और उत्तम विद्यासे विभूषित आपको उत्पन्न करते हुए ब्रह्माने [उसी प्रयत्नसे अनायास] सचमुच पृथ्वीपर दूसरे नवीन कामदेव, दूसरे सूर्य और [दूसरे] बृहस्पतिकी रचना कर दी है ॥ ५६२ ॥

यहाँ राजाके निर्माणरूप एक कार्यको करते हुए विधाताने उसी प्रयत्नसे दूसरे कामदेव, सूर्य तथा बृहस्पतिरूप अशक्य कार्यको उत्पन्न किया। इस प्रकारका वर्णन होनेसे यह तीसरे प्रकारके विशेष अलङ्कारका उदाहरण है।

इसी प्रकारका एक उदाहरण और देते हैं। इस उदाहरणके देनेके प्रयोजनकी व्याख्या भिन्न-भिन्न प्रकारसे की गयी है। किन्हींके मतसे पिछले श्लोकमें 'उत्पन्न किया है', वह बात शब्दतः कथित है। इसलिए वह वाच्य कार्यान्तरका उदाहरण है। अगला श्लोक उससे भिन्न व्यङ्ग्य कार्यान्तरके उदाहरणरूपमें उपस्थित किया गया है। चक्रवर्ती आदिका मत है कि पहले सृष्टिरूपमें कार्यान्तरके उत्पादनका उदाहरण दिया था, अब संहाररूपमें कार्यान्तरके उत्पादनका दूसरा उदाहरण देते हैं।

(४) [हे प्रिये इन्दुमति! तुम मेरी] गृहिणी, मन्त्री, एकान्तकी सखी, मनोहर कलाओं [अथवा कामकला] के विषयमें प्रिय शिष्या [सब ही कुछ थीं], निर्दय मृत्युने तुमको हरण करके बताओ मेरा क्या हरण नहीं कर लिया [मेरा सर्वस्व ही लूट लिया है] ॥ ५६३ ॥

बिना आधारके आधेयकी अवस्थिति, एक वस्तुकी एक ही रूपसे अनेकत्र युगपत् स्थिति और अन्य कार्यको करते हुए कार्यान्तरकी उत्पत्ति यह सब वास्तवमें सम्भव नहीं है, तब इन स्थितियोंमें विशेष अलङ्कार कैसे माना जाय यह शङ्का यहाँ हो सकती है। उसके समाधानके लिए ग्रन्थकारने अगली पंक्ति लिखी है, उसका आशय यह है कि—

इस प्रकारके विषयमें सर्वत्र अतिशयोक्ति ही [उस अलङ्कारके] प्राणरूपमें स्थित होती है। क्योंकि उस [अतिशयोक्ति]के बिना प्रायः अलङ्कारत्व ही नहीं बनता है। जैसा कि [भामहने अपने 'काव्यालङ्कार'में] कहा है—

'सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते ।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना ॥' इति ।

[सूत्र २०३] स्वमुत्सृज्य गुणं योगादत्युज्ज्वलगुणस्य यत् ।
वस्तु तद्गुणतामेति भण्यते स तु तद्गुणः ॥१३७॥

वस्तु तिरस्कृतनिजरूपं केनापि समीपगतेन प्रगुणतया स्वगुणसम्पदोपरक्तं तत्प्रतिभासमेव यत्समासादयति स तद्गुणः । तस्याप्रकृतस्य गुणोऽत्रास्तीति । उदाहरणम्—

विभिन्नवर्णा गरुडाग्रजेन सूर्यस्य रथ्याः परितः स्फुरन्त्या ।
रत्नैः पुनर्यत्र रुचा रुचं स्वामानिन्यिरे वंशकरीरनीलैः ॥५६४॥

अत्र रवितुरगापेक्षया गरुडाग्रजस्य, तदपेक्षया च हरिन्मणीनां प्रगुणवर्णता ।

[जिस अतिशयोक्तिका वर्णन पहले किया जा चुका है] वह अतिशयोक्ति ही सब अलङ्कारोंमें सौन्दर्यकी आधायिका [वक्रोक्ति] होती है इस ही [अतिशयोक्तिरूप वक्रोक्ति] से अर्थ अलंकृत किया जाता है [विभाव्यते]। इस [की सिद्धि] के विषयमें कविको यत्न करना चाहिये, इसके विना कौन-सा अलङ्कार हो सकता है ?

यहाँ 'अतिशयोक्ति' तथा 'वक्रोक्ति' शब्दोंका प्रयोग हुआ है। ये दोनों दो भिन्न भिन्न अलङ्कारोंके नाम भी है। परन्तु यहाँ उन अलङ्कारोंका ग्रहण इन शब्दोंसे नहीं करना चाहिये। क्योंकि उनके लक्षण सब अलङ्कारोंमें नहीं पाये जा सकते हैं। इसलिए अलङ्कारविशेषके लिए जो इन शब्दोंका प्रयोग है, उसको योगरूढ और यहाँ प्रयुक्त हुए इन दोनों शब्दोंको यौगिक मानकर उनको भिन्नार्थक समझना चाहिये।

५७. तद्गुण अलङ्कार

[सूत्र २०३] जब न्यून गुणवाली प्रस्तुत वस्तु अत्यन्त उत्कृष्ट गुणवाली [अप्रस्तुत वस्तु]के सम्बन्धसे अपने स्वरूप [या गुण]को छोड़कर उस [अप्रस्तुत वस्तु]के रूपको प्राप्त हो जाती है उसको तद्गुण [नामक अलङ्कार] कहते हैं ॥ १३७ ॥

किसी समीपस्थ [अप्रस्तुत] वस्तुके द्वारा उसकी उत्कृष्ट गुणसम्पत्तिसे उपरक्त होनेके कारण अपने स्वरूपका अभिभव करके जो [प्रस्तुत] वस्तु उस [समीपगत वस्तु] के स्वरूप [प्रतिभास]को प्राप्त हो जाती है वह उस [अप्रस्तुत]का गुण इस [प्रस्तुत वस्तु]में आ गया है इस [व्युत्पत्ति]के कारण तद्गुण [इस नामका अन्वर्थ अलङ्कार कहलाता] है। उदाहरण [जैसे]—

माघकाव्यके चतुर्थ सर्गमें रैवतकपर्वतके प्रकरणमें सूर्यके अश्वोंका वर्णन करते हुए कवि ने कहा है कि—

[गरुड़के अग्रज अर्थात् सूर्यके सारथि] अरुण [की रक्तवर्ण कान्तिके आवरण] से भिन्न रंगको प्राप्त हुए सूर्यके घोड़े जहाँ [जिस रैवतकपर्वतपर स्थित] बाँसके [अत्यन्त हरितवर्ण] अंकुरोंके समान हरितवर्ण मरकत मणियोंकी चारों ओर फैलती हुई कान्तिसे फिर अपनी [हरितवर्ण] कान्तिको प्राप्त कराये गये ॥ ५६४ ॥

यहाँ सूर्यके घोड़ोंकी अपेक्षा [गरुडाग्रज अर्थात् सूर्यके सारथि] अरुण [के वर्ण]का

[सूत्र २०४] तद्रूपाननुहारश्चेदस्य तत् स्यादतद्गुणः ।

यदि तु तदीयं वर्णं सम्भवन्त्यामपि योग्यतायाम् इदं न्यूनगुणं न गृह्णीयात्तदा भवेदतद्गुणो नाम । उदाहरणम्—

धवलोसि जइ वि सुन्दर तह वि तुए मज्झ रञ्जिअं हिअअं ।
राअभरिए वि हिअए सुहअ णिहित्तो ण रत्तोसि ॥५६५॥
[धवलोऽसि यद्यपि सुन्दर ! तथापि त्वया मम रञ्जितं हृदयम् ।
रागभरितेऽपि हृदये सुभग ! निहितो न रक्तोऽसि ॥ इति संस्कृतम्]

अत्रातिरक्तेनापि मनसा संयुक्तो न रक्ततामुपगत इत्यतद्गुणः ।

किं च तदिति अप्रकृतम् अस्येति च प्रकृतमत्र निर्दिश्यते । तेन यत् अप्रकृतस्य रूपं प्रकृतेन कुतोऽपि निमित्तान्नानुविधीयते सोऽतद्गुण इत्यपि प्रतिपत्तव्यम् । यथा—

उत्कर्ष है। [क्योंकि उसके कारण सूर्यके हरिद्वर्ण अश्वोंका रंग बदलकर लाल-सा हो गया था परन्तु] उससे भी अपेक्षा [श्वेतकपर्वतपर स्थित] हरे रंगकी [मरकत] मणियोंके वर्णकी उत्कृष्टता है [क्योंकि सूर्यके घोड़ोंका अरुणके सम्पर्कसे जो रंग बदल गया था उसको श्वेतकपर्वतके पास सूर्यका रथ जानेपर वहाँकी मरकत मणियोंकी कान्तिने बदलकर फिर हरा कर दिया। अतः यहाँ तद्गुण अलङ्कार है]।

बिहारीका निम्नलिखित पद्य तद्गुण अलङ्कारका सुन्दर उदाहरण है—

अधर धरत हरिके परत ओठ दीठि पट जोति ।
हरित बाँसकी बाँसुरी इन्द्रधनुष रँग होति ॥ —बिहारी

५८. अतद्गुण अलङ्कार

[सूत्र २०४]—[योगादस्युज्ज्वलगुणस्य इसकी पूर्व सूत्रसे अनुवृत्ति आती है उसको मिलाकर इस सूत्रका अर्थ होगा कि अत्यन्त उत्कृष्ट गुणवाली समीपस्थ वस्तुका योग होनेपर भी न्यूनगुणवाले 'अस्य' अप्रकृत] इसके द्वारा उस [प्रस्तुत]के गुणका अनुसरण न किये जानेपर [तद्गुणके विपरीत] अतद्गुण होता है।

यदि योग्यता [अर्थात् उसके ग्रहण करनेका उपाय सामीप्यादि] होनेपर भी यह न्यूनगुणवाला [अप्रस्तुत] उस [प्रस्तुत] के वर्णको ग्रहण नहीं करे तो अतद्गुण नामका अलङ्कार होता है। उदाहरण [जैसे]—

हे सुन्दर ! तुम यद्यपि धवल [गौरवर्णके] हो फिर भी तुमने मेरे हृदयको रँग दिया [अनुरागयुक्त कर दिया] है। और मैंने तुमको राग [अनुराग, पक्षान्तरमें लाल रंग] से युक्त हृदयमें रखा. फिर भी हे सुभग ! तुम अनुरक्त नहीं हुए ॥५६५॥

यहाँ अत्यन्त अनुरक्त हृदयसे संयुक्त होनेपर भी [नायक] अनुरक्त नहीं हुआ इसलिए अतद्गुण [अलङ्कार] है।

और यहाँ 'तत्' शब्दसे अप्रकृतका तथा 'अस्य' पदसे प्रकृतका निर्देश किया गया है। इसलिए जो अप्रकृतके रूपको किसी भी कारणसे प्रकृत ग्रहण नहीं करता है वह अतद्गुण होता है यह भी [अतद्गुणका दूसरा रूप] समझना चाहिये। जैसे—

गाङ्गमम्बु सितमम्बु यामुनं कज्जलाभमुभयत्र मज्जतः ।
राजहंस ! तव सैव शुभ्रता चीयते न च न चापचीयते ॥५६६॥

[सूत्र २०५] **यद्यथा साधितं केनाप्यपरेण तदन्यथा ॥१३८॥**
तथैव यद्विधीयेत स व्याघात इति स्मृतः ।

येनोपायेन यत् एकेनोपकल्पितं तस्यान्येन जिगीषुतया तदुपायकमेव यदन्यथा-करणम् , स साधितवस्तुव्याहतिहेतुत्वाद् व्याघातः । उदाहरणम्—

दृशा दग्धं मनसिजं जीवयन्ति दृशैव याः ।
विरूपाक्षस्य जयिनीस्ताः स्तुवे वामलोचनाः ॥ ५६७ ॥

[सूत्र २०६] **सेष्टा संसृष्टिरेतेषां भेदेन यदिह स्थितिः ॥१३९॥**

एतेषां समनन्तरमेवोक्तस्वरूपाणां यथासम्भवमन्योन्यनिरपेक्षतया यदेकत्र शब्दभागे एव अर्थविषये एव उभयत्रापि वा अवस्थानं सा एकार्थसमवायस्वभावा संसृष्टिः ।

गङ्गाका जल शुभ्र है और यमुनाका जल कज्जलकी तरह काला है। किन्तु हे राजहंस ! दोनो जगह स्नान करने [तैरने, डुबकी लगाने] पर भी तुम्हारी वैसी ही शुभ्रता रहती है [गङ्गाजलमें स्नान करनेसे] न तो बढ़ती है और न [यमुनाके जलसे] कम होती है ॥ ५६६ ॥

हिन्दीका निम्नलिखित पद्य अतद्गुण अलङ्कारका सुन्दर उदाहरण है—

लाल, बाल-अनुराग सो रँगत रोज सब अग ।
तऊ न छोडत रावरो अग साँवरो रग ॥

५९. व्याघात अलङ्कार

[सूत्र २०५]—किसी बातको कोई जिस प्रकारसे सिद्ध करे [बनावे] उसको उसी प्रकारसे यदि दूसरा बदल दे [बिगाड़ दे] उसको व्याघात अलङ्कार कहते हैं।

जिस उपायसे एक [व्यक्ति] ने जिस [कार्य या वस्तु] को बनाया हो उसको जीतनेकी इच्छासे दूसरा उसी उपायसे उसे जो बदल डाले वह सिद्ध की हुई वस्तुके व्याघात [बिगाड़ देने] का हेतु होनेसे 'व्याघात' [इस अन्वर्थ संज्ञावाला अलङ्कार] कहलाता है। उदाहरण [जैसे]—

[शिवजीके द्वारा अपने तीसरे] नेत्रसे भस्म किये हुए कामदेवको जो [अपने] नेत्र [के कटाक्ष]से ही जीवित कर देती हैं इस प्रकार [शिवजीको भी जीत लेनेवाली उन सुन्दरियोंकी हम स्तुति करते हैं [राजशेखरकविविरचित 'विद्धशालभञ्जिका'से] ॥५६७॥

६०. संसृष्टि अलङ्कार

[सूत्र २०६]—इन ['एतेषां' पदमें बहुवचन अविवक्षित है। इसलिए दो या अधिक अलङ्कारों] की यहाँ [काव्य या वाक्यमें] भेदसे [परस्पर निरपेक्षरूपसे] जो स्थिति है वह संसृष्टि [नामक अलङ्कार] मानी जाती है ॥ १३९ ॥

इनकी अर्थात् अभी [नवम तथा दशम दो उल्लासोंमें] कहे हुए [शब्दालङ्कार तथा

तत्र (१) शब्दालङ्कारसंसृष्टिर्यथा—

वदनसौरभलोभपरिभ्रमद्भ्रमरसम्भ्रमसम्भृतशोभया ।
चलितया विदधे कलमेखलाकलकलोऽलकलोलदृशाऽन्यया ॥५६८॥

(२) अर्थालङ्कारसंसृष्टिस्तु—

लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः ।
असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्विफलतां गता ॥५६९॥

पूर्वत्र परस्परनिरपेक्षौ यमकानुप्रासौ संसृष्टिं प्रयोजयतः । उत्तरत्र तु तथाविधे उपमोत्प्रेक्षे ।

(३) शब्दार्थालङ्कारयोस्तु संसृष्टिः—

अर्थालङ्कारों]की यथासम्भव [अर्थात् कहीं केवल शब्दालङ्कारोंकी, कहीं केवल अर्थालङ्कारोंकी या कहीं दोनोंकी, जैसे जहाँ बन जाय] जो एक ही शब्दभागमें अथवा अर्थभागमें अथवा दोनों जगह, परस्पर निरपेक्षरूपसे स्थिति है वह [दो या अधिक अलङ्कारोंके] एकार्थमें सम्बन्ध ही जिसका स्वरूप है इस प्रकारकी संसृष्टि होती है ।

(१) उनमें शब्दालङ्कारोंकी संसृष्टि [का उदाहरण] जैसे—

[माघकाव्यके छठे सर्गसे ऋतुवर्णनके प्रसङ्गमेंसे यह श्लोक लिया गया है] । अपने मुखकी सुगन्धिके लोभसे [मुखके ऊपर] मँडराते हुए भ्रमरके आतङ्कसे [विकारकार] और भी अधिक शोभाको धारण करनेवाली [और भ्रमरके भयसे इधर-उधर] भागती हुई, केशपाशके गिरनेसे [और भी अधिक] चञ्चल नेत्रोंवाली [कि कामिनी] से सुन्दर मेखला [तगड़ी] का सुन्दर शब्द होने लगा ॥ ५६८ ॥

यहाँ पूर्वार्द्धमें 'भकार'के तथा तृतीय चरणमें 'लकार'के अनेक बार प्रयोगके कारण [illegible] अलङ्कार है । चतुर्थ चरणमें 'लकलो लकलो'की आवृत्ति होनेसे यमकालङ्कार है । ये दोनों [illegible] इस एक श्लोकमें परस्पर निरपेक्षरूपसे स्थित हैं । अतः यहाँ [illegible] संसृष्टि है ।

(२) अर्थालङ्कारोंकी संसृष्टि तो [निम्नलिखित उदाहरणमें देखी जा सकती है]—

अन्धकार अङ्गोंका लेपन सा कर रहा है, आकाशसे सुरमा बरस-सा रहा है और दुष्ट पुरुषकी सेवाके समान दृष्टि विफल हो गयी है ॥ ५६९ ॥

इसके पूर्वार्द्धमें लेपनविषयक तथा वर्षणविषयक उत्प्रेक्षा और [illegible] उपमालङ्कार पाया जाता है । ये दोनों अर्थालङ्कार हैं और इस श्लोकमें [illegible] रूपसे स्थिति है । इसलिए इस श्लोकमें दो अर्थालङ्कारोंकी संसृष्टि है । [illegible]

पहिले श्लोक [५६८] में परस्पर निरपेक्ष [रूपसे स्थित] [illegible] [दो शब्दालङ्कार] संसृष्टिकी रचना कर रहे हैं और दूसरे उदाहरण [५६९] में [illegible] प्रकारके [अर्थात् परस्पर निरपेक्ष] उपमा तथा उत्प्रेक्षा [रूप दो अर्थालङ्कार संसृष्टिके] प्रयोजक हैं [इसलिए पहिला श्लोक शब्दालङ्कारोंकी संसृष्टिका तथा दूसरा [illegible] लङ्कारोंकी संसृष्टिका उदाहरण है] ।

(३) शब्द और अर्थ दोनों प्रकारके अलङ्कारोंकी संसृष्टिका उदाहरण जैसे—

सो णत्थि एत्थ गामे जो एअं महमहन्तलाअण्णं ।
तरुणाण हिअअलूडिं परिसक्कन्तीं णिवारेइ ॥ ५७० ॥
[स नास्त्यत्र ग्रामे य एनां महमहायमानलावण्याम् ।
तरुणानां हृदयलुण्ठाकीं परिष्वक्कमानां निवारयति ॥ इति संस्कृतम्]

अत्रानुप्रासो रूपकं चान्योन्यानपेक्षे । संसर्गश्च तयोरेकत्र वाक्ये छन्दसि वा समवेतत्वात् ।

सूत्र २०७] **अविश्रान्तिजुषामात्मन्यङ्गाङ्गित्वं तु सङ्करः ।**

एते एव यत्रात्मनि अनासादितस्वतन्त्रभावाः परस्परमनुग्राह्यानुग्राहकतां दधति स एषां सङ्कीर्यमाणस्वरूपत्वात् सङ्करः । उदाहरणम्—

(१) आत्ते सीमन्तरत्ने मरकतिनि हृते हेमताटङ्कपत्रे
लुप्तायां मेखलायां झटिति मणितुलाकोटियुग्मे गृहीते ।

इस ग्राममें ऐसा कोई [युवक] नहीं है जो निखरते हुए सौन्दर्यवाली और तरुणोंके हृदयको वशमें कर लेनेवाली इस [सुन्दरी] को रोक सके ॥ ५७० ॥

यहाँ पूर्वार्द्धमें [णत्थि एत्थ 'त्थ'का] अनुप्रास [रूप शब्दालङ्कार] तथा उत्तरार्द्ध में ['हृदयलुण्ठाकीं' पदमें] रूपक अलङ्कार दोनों परस्पर निरपेक्ष [रूपसे स्थित] हैं। और उनके एक वाक्य अथवा [एक] छन्दमें एकत्र होनेसे संसृष्टि होती है ।

यहाँ संसर्गका अर्थ 'संसृष्टि' है, यद्यपि शब्दालङ्कारका मुख्य आश्रय शब्द तथा अर्थालङ्कारका आश्रय मुख्यरूपसे अर्थ होता है । परन्तु एक वाक्य अथवा एक छन्दरूप एक आश्रयमें उन दोनोंके स्थित होनेसे शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कारकी भी एकत्र 'संसृष्टि' होती है यह आशय है ।

६१. सङ्कर अलङ्कार

अनेक अलङ्कारोंकी एक वाक्यमें स्थिति होनेपर संसृष्टि तथा सङ्कर दो अलङ्कार माने जाते हैं । जहाँ अनेक अलङ्कार परस्पर निरपेक्षरूपसे स्थित होते हैं वहाँ 'संसृष्टि' अलङ्कार होता है यह बात अभी 'संसृष्टि'के लक्षणमें कह चुके हैं । इसके विपरीत जहाँ उन अनेक अलङ्कारोंकी सापेक्ष स्थिति होती है वहाँ सङ्करालङ्कार माना जाता है । यह सङ्करालङ्कार भी तीन प्रकारका होता है—१. अङ्गाङ्गिभावसङ्कर, २. सन्देहसङ्कर तथा ३. एकाश्रयानुप्रवेशसङ्कर । इन तीनोंके लक्षण तथा उदाहरण आगे देंगे । इनमेंसे पहिले 'अङ्गाङ्गिभावसङ्कर'का लक्षण करते हैं ।

(१) अङ्गाङ्गिभावसङ्कर

[सूत्र २०७]—अपने स्वरूपमात्रमें जिनकी विश्रान्ति न हो [अर्थात् जो परस्पर निरपेक्ष स्वतन्त्ररूपसे अलङ्कार न बनते हों] उनका अङ्गाङ्गिभाव होनेपर [प्रथम प्रकारका] सङ्कर होता है ।

ये ही [पूर्वोक्त अलङ्कार] जहाँ अपने स्वरूपमात्रमें स्वतन्त्ररूपसे स्थित नहीं होते हैं और परस्पर अनुग्राह्य-अनुग्राहक भावको प्राप्त हो जाते हैं वहाँ इनके स्वरूपके [एक-दूसरेके साथ] संकीर्ण हो जानेसे 'संकर' अलङ्कार होता है । उदाहरण [जैसे]—

(१) हे राजन् ! [तुम्हारे डरके मारे] जङ्गलोंमें भागती हुई तुम्हारे शत्रुओंकी

परिप्रेङ्खत्तारापरिकरकपालाङ्कितलले
शशी भस्मापाण्डुः पितृवन इव व्योम्नि चरति ॥५७२॥

उपमा, रूपकम्, उत्प्रेक्षा, श्लेषश्चेति चत्वारोऽत्र पूर्ववत् अङ्गाङ्गितया प्रतीयन्ते ।

जटाओंके समान [पीत या शुभ्रवर्णकी] किरणोंसे उपलक्षित [इत्थंभूतलक्षणे २, ३, २१ इस सूत्रसे उपलक्षणमें तृतीया है इसलिए योगियोंकी जटाओंके समान शुभ्र किरणोंसे उपलक्षित, इस अंशमें उपमालङ्कार है], हाथमें कलङ्करूप रुद्राक्ष मालाको धारण किये हुए [कलङ्करूप अक्षवलयमें रूपकालङ्कार है] वियोगियो [अर्थात् विरहियों तथा वियुक्त होनेवाले विषयों] के नाशके कारण उत्पन्न वैराग्य [अर्थात् विषयोंके प्रति अनुरागका अभाव और चन्द्रमाका उदय हो चुकनेके बाद उदयकालीन लौहित्यके अभाव] के कारण शुभ्र [सफेद और दूसरे पक्षमे निर्मल हृदयसे युक्त] सा [इस अंशमें श्लेषानुप्राणित उत्प्रेक्षालङ्कार है।] चञ्चल तारासमूहरूप कपालों [कपालकी हड्डियों] से जिसका तल व्याप्त हो रहा है इस प्रकारके [पितृवन इव] श्मशान-सदृश [इस अंशमें उपमा अलङ्कार] आकाशमें भस्मके समान शुभ्र [अथवा भस्म लपेटनेके कारण शुभ्र योगी-सा कापालिकरूप] चन्द्रमा घूम रहा है ॥ ५७२ ॥

यहाँ उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा और श्लेष ये चारों [अलङ्कार] पूर्व [उदाहरण] के समान अङ्गाङ्गिभावसे [संकीर्ण] प्रतीत होते है [इसलिए इसमें बहुत-से अलङ्कारोंका संकर है]।

इसमें 'जटाभाभिर्भाभिः', 'पितृवन इव व्योम्नि' इन दोनों भागोंमें उपमालङ्कार है। 'कलङ्क एव अक्षवलयः', तथा 'तारापरिकर एव कपालस्थि' इन दोनों भागोंमें रूपक अलङ्कार है। 'वियोगिव्यापत्तेरिव' इस अंशमें उत्प्रेक्षालङ्कार है और 'कलितवैराग्यविशदः'के 'विशद' पदमें श्लेषालङ्कार है। इन चारों अलङ्कारोंकी यहाँ अङ्गाङ्गिभावसे स्थिति है। क्योंकि 'वियोगिव्यापत्तेरिव' इस उत्प्रेक्षाके कारण ही वैराग्यकी उत्पत्ति सम्भव होनेसे 'विशदः' पदके श्लेषके प्रति उत्प्रेक्षाका उपकारकत्व है। श्लेष दोनों स्थलोंके रूपकों तथा उपमाओंका प्रयोजक होता है क्योंकि उसीके द्वारा 'जटाभाभिः'की उपमा और 'कलङ्काक्षवलय'का रूपक सङ्गत होता है। इस प्रकार 'तारापरिकरकपाल' रूप रूपक 'पितृवन इव व्योम्नि' इस उपमाका उपकारक होता है क्योंकि उपमाका बीज सादृश्य है। आकाश और श्मशानका वास्तविक कोई सादृश्य नहीं है। उक्त रूपकमें ताराओंपर जो कपालका आरोप किया गया है उसी कल्पित सादृश्यसे उपमाका समन्वय होता है। इस प्रकार इसमें चारों अलङ्कारोंका अङ्गाङ्गिभाव होनेसे यह अङ्गाङ्गिभावसङ्करका उदाहरण है।

इस श्लोकका प्रधान अलङ्कार तो समासोक्ति है क्योंकि विशेषणोंकी समानतासे यहाँ चन्द्रमामें योगिव्यवहारकी प्रतीति हो रही है। इसलिए समासोक्ति अलङ्कार स्पष्ट ही प्रतीत होता है। फिर भी ग्रन्थकारने यहाँ उसका उल्लेख नहीं किया है इसका कारण स्पष्टता ही है, ऐसा कुछ व्याख्याकारोंका मत है। दूसरे व्याख्याकारोंका यह भी कहना है कि 'व्योम्नि' और 'भाभिः' आदि कुछ विशेषण दोनों पक्षमें सङ्गत नहीं होते हैं इसलिए यहाँ समासोक्ति है ही नहीं।

रूपकपक्षमें विनिगमक हेतु

इस उदाहरणमें 'कलङ्काक्षवलय' पदमें [illegible] रूपकालङ्कार [illegible] है। परन्तु [illegible] यह आशङ्का हो सकती है कि यहाँ '[illegible]' [illegible]

'कलङ्क एवाक्षवलयम्' इति रूपकपरिग्रहे करधृतत्वमेव साधकप्रमाणतां प्रतिपद्यते । अस्य हि रूपकत्वे तिरोहितकलङ्करूपम् अक्षवलयमेव मुख्यतयाऽवगम्यते, तस्यैव च करग्रहणयोग्यतायां सार्वत्रिकी प्रसिद्धिः । श्लेषच्छायया तु कलङ्कस्य करधारणम् असदेव प्रत्यासत्त्या उपचर्य योज्यते । शशाङ्केन केवलं कलङ्कस्य मूर्त्यैव उद्वहनात् ।

'कलङ्कोऽक्षवलयमिव' इति तु उपमायां कलङ्कस्योत्कटतया प्रतिपत्तिः । न चास्य करधृतत्वं तत्त्वतोऽस्तीति मुख्येऽप्युपचार एव शरणं स्यात् ।

अक्षवलय' इस प्रकारका समास करनेपर रूपक होता है। परन्तु यहाँ 'उपमित व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे' इस सूत्रके द्वारा 'कलङ्कोऽक्षवलयमिव इति कलङ्काक्षवलयम्', इस प्रकारका उपमित समास भी किया जा सकता है। उस दशामें यहाँ उपमालङ्कार होगा। ऐसी स्थितिमें उपमा तथा रूपक दोनोंके होनेसे यहाँ आगे कहा जानेवाला 'सन्देहसङ्कर' माना जा सकता है। स्पष्टरूपसे रूपक नहीं माना जा सकता है। इस शङ्काके समाधानके लिए ग्रन्थकारने अगला अनुच्छेद लिखा है। उसका आशय यह है कि जहाँ किसी विशेष अलङ्कारके पक्षमें कोई साधक या बाधक हेतु नहीं मिलता है वहाँ सन्देहसङ्कर अलङ्कार होता है। यहाँ इस प्रकारके साधक-बाधक प्रमाणोंका अभाव नहीं है अपितु रूपकपक्षमें साधक प्रमाण तथा उपमापक्षका बाधक प्रमाण विद्यमान है इसलिए उपमा या रूपकउपमामूलक सन्देहसङ्कर नहीं अपितु निश्चितरूपसे रूपकालङ्कार मुख्य है। यही बात ग्रन्थकार अगले अनुच्छेदमें इस प्रकार कहते हैं—

'कलङ्क ही अक्षवलय' इस प्रकार रूपकके स्वीकार करनेमें 'करधृतत्व' ही साधकताको प्राप्त होता है [क्योंकि अक्षवलयको ही हाथमें धारण किया जाता है, इसलिए कलङ्कको जो 'करधृत' कहा है वह 'कलङ्क एव अक्षवलयं' इस रूपकके माननेपर ही ठीक बनता है, उपमाके माननेपर ठीक नहीं बनता है। अतः यहाँ रूपक ही मानना उचित है]। इस [कलङ्काक्षवलयं]को रूपक माननेपर [चन्द्रमाके] कलङ्करूपको दबाकर अक्षवलय ही [करधृतत्वके कारण] मुख्यरूपसे प्रतीत होता है। क्योंकि उस [अक्षवलय]की ही करग्रहण [हाथमें पकड़ने] योग्य होनेकी सर्वत्र प्रसिद्धि है। [कलङ्कको हाथसे नहीं पकड़ा जा सकता है इसलिए] कलङ्कका करसे धारण करना वस्तुतः सत् न होनेपर भी [कर शब्दका दूसरा अर्थ किरण भी होनेके कारण] श्लेषकी सहायता [छाया]से कलङ्कके आधारभूत चन्द्रमण्डलकी किरणोंके साथ सम्बन्धरूप] प्रत्यासत्ति होनेके कारण उपचार [गौणीवृत्तिसे] सङ्गत होता है। क्योंकि चन्द्रमा तो कलङ्कको केवल शरीरसे ही धारण करता है [करसे नहीं]।

[इस प्रकार यहाँतक रूपककी साधक युक्तिका उल्लेख कर उपमाके बाधक हेतुका प्रदर्शन अगली पङ्क्तियोंमें करते हैं]।

'कलङ्क अक्षवलयके समान' इस [उपमित समासके आधारपर] उपमा माननेपर [अक्षवलयके स्थानपर] कलङ्ककी ही प्रधानतया प्रतीति होगी और उस [कलङ्क]में करधृतत्व वास्तवमें नहीं होता है इसलिए प्रधान [अर्थ कलङ्कके करधृतत्व]में भी उपचारका ही सहारा लेना होगा, अतः उपमा नहीं मानी जा सकती है]।

इसका आशय यह है कि 'कलङ्क एव अक्षवलय' इस रूपकके माननेपर अक्षवलय प्रधानरूपसे प्रतीत होता है। कलङ्क उसके भीतर गौण-सा, तिरोहित सा हो जाता है। 'अक्षवलय' प्रधान विशेष्य

[यथा गभीरो यथा रत्ननिर्भरो यथा च निर्मलच्छायः ।

तथा किं विधिना एष सरसपानीयो जलनिधिर्न कृतः ॥ इति संस्कृतम्]

अत्र (१) समुद्रे प्रस्तुते विशेषणसाम्यादप्रस्तुतार्थप्रतीतेः किमसौ समासोक्तिः, (२) किमब्धेरप्रस्तुतस्य मुखेन कस्यापि तत्समगुणतया प्रस्तुतस्य प्रतीतेः इयमप्रस्तुत-प्रशंसा इति सन्देहः । यथा वा—

(२) नयनानन्ददायीन्दोर्बिम्बमेतत्प्रसीदति ।

अधुनापि निरुद्धाशमविशीर्णमिदन्तमः ॥५७५॥

अत्र (१) किं कामस्योद्दीपकः कालो वर्तते इति भङ्ग्यन्तरेणाभिधानात्पर्यायोक्तम्, उत (२) वदनस्येन्दुबिम्बतयाऽध्यवसानादतिशयोक्तिः, किं वा (३) एतदिति वक्त्रं निर्दिश्य तद्रूपारोपवशाद्रूपकम्, अथवा (४) तयोः समुच्चयविवक्षायां दीपकम्, (५) अथवा तुल्ययोगिता, (६) किमु प्रदोषसमये विशेषणसाम्यादाननस्यावगतौ समासोक्तिः, (७) आहोस्वित् मुखनैर्मल्यप्रस्तावादप्रस्तुतप्रशंसा इति बहूनां सन्देहादयमेव सङ्करः ।

यहाँ १. समुद्रके प्रस्तुत होनेपर विशेषणोंकी समानतासे अप्रस्तुत [पुरुषरूप] अर्थकी प्रतीति होनेसे क्या यह समासोक्ति [अलङ्कार] है, अथवा २. क्या अप्रस्तुत समुद्रके द्वारा उस [समुद्र]के समान [गाम्भीर्यादिसे युक्त] किसी प्रस्तुत [पुरुष]की प्रतीति होनेसे यह अप्रस्तुतप्रशंसा [अलङ्कार] है इस प्रकारका सन्देह [संकर] होता है ।

यह दो अलङ्कारोंके सन्देहसङ्करका उदाहरण दिया था । आगे दोसे अधिक अलङ्कारोंके सन्देहसङ्करका उदाहरण देते है ।

अथवा जैसे—

नेत्रोंको आनन्द देनेवाला यह चन्द्रमाका बिम्ब चमक रहा है किन्तु दिशाओंको आच्छादित करनेवाला यह अन्धकार अब भी नष्ट नहीं हुआ ॥ ५७५ ॥

यहाँ १. क्या यह कामका उद्दीपन करनेवाला समय है यह बात प्रकारान्तरसे कही जा रही है इसलिए पर्यायोक्त [अलङ्कार है ? अथवा २. क्या मुखके चन्द्रमारूपसे निश्चय करनेसे अतिशयोक्ति [अलङ्कार] है, अथवा ३. क्या यह 'एतत्' इस देशरूप मुखका निर्देश करके उसमें [चन्द्रमा]के रूपका आरोप होनेसे रूपक [अलङ्कार] है अथवा ४. उन दोनोंके प्रकृत मुख तथा अप्रकृत चन्द्रके साथ 'प्रसीदति' रूप एक क्रियाके [सम्बन्धरूप] समुच्चयकी विवक्षामें दीपक [अलङ्कार] है अथवा ५. [चन्द्र तथा मुख दोनोंके प्रस्तुत होनेसे दीपकके बजाय] तुल्ययोगिता [अलङ्कार] है अथवा ६. क्या सन्ध्याकाल [के वर्णन] में विशेषणोंकी समानतासे मुखकी प्रतीति होनेसे समासोक्ति [अलङ्कार] है, अथवा ७. मुखकी निर्मलताके [वर्णनके] प्रसङ्गमें [अप्रस्तुत चन्द्रमाका वर्णन होनेसे] अप्रस्तुतप्रशंसा है । इस प्रकार बहुत-से अलङ्कारोंका सन्देह होनेसे यह सन्देहसङ्कर [अलङ्कार] ही है ।

यत्र तु न्यायदोषयोरन्यतरस्यावतारः तत्रैकतरस्य निश्चयान्न संशयः। न्यायश्च साधकत्वमनुकूलता। दोषोऽपि बाधकत्वं प्रतिकूलता। तत्र—

सौभाग्यं वितनोति वक्त्रशशिनो ज्योत्स्नेव हासद्युतिः ॥५७६॥

इत्यत्र मुखस्य शशाङ्कत्वेन रूप्यमाणा हासद्युतिर्वक्त्रे एवानुकूल्यं भजते इत्युपमायाः साधकम्। शशिनि तु न तथा प्रतिकूलेति रूपकं प्रति तस्या अबाधकता।

वक्त्रेन्दौ तव सत्ययं यदपरः शीतांशुरभ्युद्गतः ॥५७७॥

किसी पक्षमें साधक या बाधक प्रमाणका अभाव होनेपर ही यह सन्देहसङ्कर होता है। जहाँ किसी पक्षमें साधक या किसी पक्षमें बाधक प्रमाण मिल जाय वहाँ सन्देह न रहकर एक पक्षमें निर्णय हो जाता है इसलिए सन्देहसङ्कर नहीं होता है यह बात अगली पंक्तिमें कहते हैं—

जहाँ [किसी एक अलंकारके स्वीकार करनेमें न्याय अर्थात्] साधक प्रमाण अथवा [दोष अर्थात्] बाधक प्रमाण मिल जाता है वहाँ किसी एकका निश्चय हो जानेसे संशय नहीं होता है। [सूत्रमें आये हुए] 'न्याय' [शब्द] का अर्थ साधकत्व अथवा अनुकूलता और [सूत्रमें आया हुआ] 'दोष' [पद] भी बाधकत्व अथवा प्रतिकूलताका बोधक है। उनमेंसे [साधक प्रमाणके होनेसे सन्देहके अभावका उदाहरण देते हैं]—

चाँदनी जैसे चन्द्रमाके सौन्दर्यकी जनक होती है उसी प्रकार हासकी कान्ति मुखचन्द्रकी शोभाका विस्तार कर रही है ॥५७६॥

यहाँ मुख्य रूपसे प्रतीत होनेवाली हासकी कान्ति मुखके ही अनुकूल होती है इसलिए उपमाकी साधिका है, चन्द्रमाके प्रति उसकी वैसी प्रतिकूलता नहीं है इसलिए रूपकके प्रति बाधक नहीं है।

यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि जहाँ किसी एक पक्षमें साधक या बाधक प्रमाण मिलता है वहाँ एक ही प्रमाण एकका साधक और दूसरेका बाधक हो सकता है। जो प्रमाण एकका बाधक है वह स्वयं ही दूसरेका साधक हो जाता है या जो किसी एकका साधक है वह स्वयं ही दूसरेका बाधक हो जाता है। तब फिर दोनोंके अलग-अलग कहने या उदाहरण देनेकी क्या आवश्यकता है? इस शङ्काका समाधान करनेकी दृष्टिसे ग्रन्थकारने यह पंक्ति लिखी है। उनका आशय यह है कि यद्यपि एकका साधक अर्थतः दूसरेका बाधक बन सकता है अथवा एकका बाधक अर्थतः दूसरेका साधक बन सकता है, फिर भी उन दोनों प्रमाणोंके स्वरूपमें भेद अवश्य होता है। साधक प्रमाणमें साधक अंशकी प्रधानता रहती है, बाधक प्रमाणमें बाधक अंशकी प्रधानता रहती है। दूसरा कार्य वे गौण-रूपसे अर्थापत्ति द्वारा ही करते हैं। इसलिए उन दोनोंके उदाहरण अलग-अलग दिये जाते हैं। पूर्वोक्त श्लोकमें 'हासद्युति'का मुखके साथ समन्वय जैसा अनुकूल बैठता है वैसा चन्द्रमाके विपरीत नहीं बैठता है। इस दृष्टिसे उसको मुखका साधक प्रमाण ही कहा जा सकता है, चन्द्रमाका बाधक नहीं। इसलिए 'हासद्युतिः' पद 'वक्त्रशशिनः' पदमें 'वक्त्रं शशीव' इस उपमाका साधक है, 'वक्त्रमेव शशी' इस रूपकका बाधक नहीं है। इसलिए इसे 'साधक प्रमाण सम्बन्धी उदाहरण समझना चाहिये।

तुम्हारे मुखचन्द्रके विद्यमान रहते यह जो दूसरा चन्द्रमा उदित हो रहा है [वह व्यर्थ ही है] ॥५७७॥

इत्यत्रापरत्वमिन्दोरनुगुणं न तु वक्त्रस्य प्रतिकूलमिति रूपकस्य साधकतां प्रतिपद्यते न तूपमाया बाधकताम् ।

राजनारायणं लक्ष्मीस्त्वामालिङ्गति निर्भरम् ॥५७८॥

इत्यत्र पुनरालिङ्गनमुपमां निरस्यति । सदृशं प्रति परप्रेयसीप्रयुक्तस्यालिङ्गनस्यासंभवात् ।

पादाम्बुजं भवतु नो विजयाय मञ्जु-
मञ्जीरशिञ्जितमनोहरमम्बिकायाः ॥५७९॥

यहाँ 'अपरः' शब्दका प्रयोग चन्द्रमाके [अर्थात् मुखको चन्द्रमा मानने अर्थात् 'वक्त्रमेवेन्दुः वक्त्रेन्दुः' इस प्रकारका—'मयूरव्यंसकादयश्च' इस सूत्रसे समास करके रूपक माननेके] अनुकूल है [वक्त्रमिन्दुरिव इस उपमित समासके द्वारा] उपमा [माननेमें उतना] प्रतिकूल नहीं है, इसलिए [यह] रूपकका साधक होता है, उपमाका बाधक नहीं होता है।

इस प्रकार 'वक्त्रशशिनः' तथा 'वक्त्रेन्दौ' पदोंमे जहाँ रूपक तथा उपमाका सन्देह हो सकता था वहाँ क्रमशः पहिलेमें उपमाका साधक 'हासद्युति' रूप प्रमाण और दूसरेमें रूपकका साधक 'अपरः' शब्दका प्रयोगरूप प्रमाण मिल जानेसे एक पक्षमे निर्णय हो गया है। इसलिए ये दोनों साधक प्रमाणके द्वारा एक पक्षमें निर्णय होनेके उदाहरण हैं।

आगे बाधक प्रमाणोंके आधारपर संशयका निवारण कर निश्चयके उदाहरण देते हैं।

राजा रूप नारायण [अर्थात् विष्णुस्वरूप, न कि विष्णुसदृश] आपको लक्ष्मी अतिशय आलिङ्गन करती हैं ॥५७८॥

यहाँ 'राजा एव नारायणः राजनारायणः' इस प्रकार रूपकपरक समास भी हो सकता है और 'राजा नारायण इव राजनारायणः' इस प्रकारका उपमापरक समास भी हो सकता है। इसलिए रूपक तथा उपमामेंसे कौन सा अलङ्कार यहाँ माना जाय यह सन्देह हो सकता है। उस सन्देहका निवारण यहाँ उपमाके बाधक प्रमाणके द्वारा होता है। लक्ष्मीका आलिङ्गन ही यहाँ उपमाका बाधक प्रमाण है। लक्ष्मी विष्णु या नारायणकी पत्नी है। यदि वह उपमालङ्कार माना जाय तो 'राजा नारायणके सदृश है' यह अर्थ निकलता है। उस दशामें यदि राजा नारायणस्वरूप नहीं अपितु नारायणके सदृश है तो लक्ष्मीके द्वारा उसका आलिङ्गन नहीं बन सकता है, क्योंकि कोई पतिव्रता स्त्री पतिके सदृश व्यक्तिका आलिङ्गन नहीं करती है। इसलिए यह उपमाका बाधक प्रमाण है। यद्यपि यही रूपकका साधक प्रमाण भी हो सकता है परन्तु ग्रन्थकारने उपमाबाधकताकी प्रधानता मानकर ही इसको उदाहरणरूपमें प्रस्तुत किया है। यही बात अगली पंक्तिमें कहते हैं।

और यहाँ [इस उदाहरणमें लक्ष्मीका] आलिङ्गन उपमाका निराकरण करता है। [पतिके] सदृशके प्रति दूसरोंकी स्त्रीका आलिङ्गन सम्भव नहीं है।

इस प्रकार उपमाके बाधक प्रमाणका उदाहरण देकर अब रूपकके बाधक प्रमाणका उदाहरण देते हैं। श्लोकका केवल उत्तरार्द्धमात्र यहाँ उद्धृत किया गया है। धर्माचार्यकृत देवी पार्वतीकी स्तुतिमें लिखे गये 'पञ्चस्तवी' नामक काव्यके तृतीय स्तवका यह पद्य है।

नूपुरकी मधुर ध्वनिसे युक्त पार्वतीका चरणकमल हमारे लिए विजय प्रदान करनेवाला है ॥५७९॥

स्पष्टोल्लसत्किरणकेसरसूर्यबिम्बविस्तीर्णकर्णिकमथो दिवसारविन्दम् ।
श्लिष्टाष्टदिग्दलकलापमुखावतारबद्धान्धकारमधुपावलि सञ्चुकोच ॥५८०॥

अत्रैकपदानुप्रविष्टौ रूपकानुप्रासौ ।

[सूत्र २१०] तेनासौ त्रिरूपः परकीर्त्तितः ॥१४१॥

तदयं (१) अनुग्राह्यानुग्राहकतया, (२) सन्देहेन, (३) एकपदप्रतिपाद्यतया च व्यवस्थितत्वात् त्रिप्रकार एव सङ्करो व्याकृतः । प्रकारान्तरेण तु न शक्यो व्याकर्तुम् । आनन्त्यात्तत्प्रभेदानामिति ।

दलरूप और सन्ध्याकालके अन्धकारको मधुपावलि मानकर साङ्ग रूपकका वर्णन किया है। इसके तीन चरणोंमें एक ही पदमें रूपक तथा अनुप्रास दोनों अलङ्कार साथ-साथ पाये जाते हैं। जैसे 'किरण-केसर' पदमें किरणोंपर केसरका आरोप होनेसे रूपक तथा रकारकी आवृत्ति होनेसे अनुप्रास दोनों अलङ्कार स्पष्ट हैं। और वे दोनों एक ही अभिन्न पदमें रहते हैं इसलिए यह 'एकाश्रयानुप्रवेशसङ्कर'का उदाहरण है। इसी प्रकार 'सूर्यबिम्बविस्तीर्णकर्णिक' में सूर्यके ऊपर कर्णिका अर्थात् बीजकोषका आरोप होनेसे रूपक तथा र्ण की आवृत्ति होनेसे अनुप्रास दोनों शब्दार्थालङ्कार एकाश्रयमें अनुप्रविष्ट हो रहे हैं। इसी प्रकार तीसरे चरणमें 'श्लिष्टाष्टदिग्दलकलाप'में दिक्के ऊपर दलका आरोप होनेसे रूपक तथा ष्ट, दकार तथा लकारकी आवृत्ति होनेसे अनुप्रास दोनों शब्दार्थालङ्कारोंके विद्यमान होनेसे एकाश्रयानुप्रवेशसङ्कर पाया जाता है। श्लोकका अर्थ निम्नलिखितप्रकार है—

स्पष्टरूपसे निकलती हुई किरणरूप केसरसे युक्त सूर्यबिम्बरूप विस्तीर्ण बीज-कोषवाला एवं खिली हुई आठ दिशारूप पँखुड़ियोंसे युक्त रात्रिके प्रारम्भमें फैले हुए अन्धकाररूप भ्रमरपंक्तिसे भूषित दिवसरूप कमल बन्द हो गया ॥५८०॥

इसमें [तीनों चरणों] में रूपक [अर्थालङ्कार] तथा अनुप्रास [शब्दालङ्कार] एक ही पदमें समाये हुए हैं। [इसलिए यह सङ्करके तीसरे भेदका उदाहरण है]।

[सूत्र २१०]—इसलिए यह [सङ्करालङ्कार] तीन प्रकारका माना जाता है ॥१४१॥

इसलिए यह [सङ्कर] १. अनुग्राह्य-अनुग्राहकरूपसे, २ सन्देहरूपसे और ३ एकपदप्रतिपाद्यरूपसे व्यवस्थित होनेके कारण तीन प्रकारका ही सङ्कर माना गया है। अन्य प्रकारसे [अर्थात् प्रत्येक अलङ्कारका नाम लेकर दूसरे अलङ्कारके साथ उसका सङ्कर] नहीं दिखलाया जा सकता है क्योंकि [ऐसा करनेसे तो सङ्करके] अनन्त भेद हो जायेंगे [इसलिए तीन ही प्रकारका सङ्कर माना जाता है]।

[illegible]

प्रतिपादिताः शब्दार्थोभयगतत्वेन त्रैविध्यभुषोऽलङ्काराः ।
कुतः पुनरेष नियमो यदेतेषां तुल्येऽपि काव्यशोभातिशयहेतुत्वे कश्चिदलङ्कारः शब्दस्य, कश्चिदर्थस्य, कश्चिच्चोभयस्येति चेत् उच्यते यथा काव्ये दोषगुणालङ्काराणां शब्दार्थोभयगतत्वेन व्यवस्थायाम् अन्वयव्यतिरेकावेव प्रभवतः निमित्तान्तरस्याभावात् । ततश्च योऽलङ्कारो यदीयान्वयव्यतिरेकावनुविधत्ते स तदलङ्कारो व्यवस्थाप्यते इति ।

एवं च यथा पुनरुक्तवदाभासः परम्परितरूपकं चोभयोर्भावाभावानुविधायितया उभयालङ्कारौ तथा शब्दहेतुकार्थान्तरन्यासप्रभृतयोऽपि द्रष्टव्याः । अर्थस्य तु तत्र वैचित्र्यम् उत्कटतया प्रतिभासते इति वाच्यालङ्कारमध्ये वस्तुस्थितिमनपेक्ष्यैव लक्षिताः ।

शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कारोंकी व्यवस्था

शब्दगत, अर्थगत तथा उभयगत तीनों प्रकारके अलङ्कारोंका वर्णन हो गया ।

[प्रश्न]—इन अलङ्कारोंमें काव्यशोभाके अतिशय हेतुत्वके समान रूपसे रहनेपर भी उनमेंसे कुछ शब्दके अलङ्कार, कुछ अर्थालङ्कार और कुछ उभयालङ्कार माने जाते हैं, यह नियम किस आधारपर बनाया गया है यह पूछो तो? [उत्तर यह है कि] इस विषयमें पहिले कह चुके हैं कि—काव्यमें गुण, दोष तथा अलङ्कारोंकी शब्दनिष्ठता अर्थनिष्ठता या उभयनिष्ठताकी व्यवस्थामें, अन्य कोई निमित्त न होनेसे, अन्वय व्यतिरेक ही नियामक होते हैं । इसलिए जो अलङ्कार [शब्द और अर्थमेंसे] जिसके अन्वय व्यति-रेकका अनुसरण करता है वह उसका अलङ्कार माना जाता है ।

'तत्सत्त्वे तत्सत्ता अन्वयः, तदभावे च तदभावो व्यतिरेकः' [illegible] किसी विशेष शब्दके रहनेपर ही जो अलङ्कार रहे, [illegible] देनेपर न रहे वह अलङ्कार उस शब्दविशेषपर आश्रित है [illegible] अनुसरण करता है इसलिए शब्दालङ्कार कहलाता है । [illegible] बदले उसके समानार्थक पर्यायवाचक रख देनेपर भी बना रहे [illegible] और जो शब्द तथा अर्थ दोनोंके अन्वय-व्यतिरेकका अनुसरण करता है [illegible]

इस प्रकार [उदाहरण सं० ३९२ 'तनुवपु' इत्यादिमें] [illegible] [उदाहरण सं० ४२६ 'विलसमानहंस' इत्यादिमें] परम्परित रूपक [illegible] दोनोंके अन्वय-व्यतिरेक [भावाभाव]का अनुसरण [illegible] कहलाते हैं । इसी प्रकार शब्दहेतुक अर्थान्तरन्यास आदि भी [illegible] चाहिये । परन्तु उन [अर्थान्तरन्यासादि]में अर्थका [illegible] है इसलिए वस्तुस्थिति [अर्थात् उनकी उभयालङ्कारता] [illegible] अलङ्कार [वाच्यालङ्कार]में गिनाया गया है ।

[illegible]

योऽलङ्कारो यदाश्रितः स तदलङ्कार इत्यपि कल्पनायाम् अन्वयव्यतिरेकावेव समाश्रितव्यौ तदाश्रयणमन्तरेण विशिष्टस्याश्रयाश्रयिभावस्याभावात् । इत्यलङ्काराणां यथोक्तनिमित्त एव परस्परव्यतिरेको ज्यायान् ।

[सूत्र २११] एषां दोषा यथायोगं सम्भवन्तोऽपि केचन ।
उक्तेष्वन्तर्भवन्तीति न पृथक् प्रतिपादिताः ॥ १४२ ॥

(१) तथाहि अनुप्रासस्य (क) प्रसिद्ध्यभावो (ख) वैफल्यं (ग) वृत्तिविरोध

ग्रन्थकारका अभिप्राय है । इसीको वे अगले अनुच्छेदमें निम्नलिखित प्रकार कहते हैं—

'जो अलङ्कार [शब्द और अर्थमेंसे] जिसके आश्रित रहता है वह उसका अलङ्कार होता है' [यह जो अलङ्कारसर्वस्वकारने माना है उनकी] इस कल्पनामें भी अन्वय-व्यतिरेकका ही आश्रय लेना होगा । उसका [अर्थात् अन्वय-व्यतिरेकका] आश्रय लिये विना विशिष्ट [किन्हीं दो पदार्थों] का आश्रयाश्रयिभाव नहीं वन सकता है । इसलिए अलङ्कारोंका उस [अन्वय-व्यतिरेकरूप] हेतुके आधारपर ही [यह शब्दालङ्कार है, यह अर्थालङ्कार है और यह उभयालङ्कार है इस प्रकारका] परस्पर भेद मानना अधिक अच्छा है ।

वामनाभिमत अलङ्कारदोषोंका खण्डन

इस प्रकार शब्दालङ्कार, अर्थालङ्कार आदिके नियामक हेतुका निर्णय करनेके बाद अब अलङ्कारदोषोंकी विवेचना प्रारम्भ करते हैं । इस प्रकरणको ग्रन्थकारने मुख्यतः वामनके मतका खण्डन करनेके लिए आरम्भ किया है । वामनने अपने 'काव्यालङ्कारसूत्र'में अनुप्रास, यमक, उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलङ्कारोंके अनेक दोष दिखलाये हैं । काव्यप्रकाशकार अलङ्कारदोषोंको अलग माननेकी आवश्यकता नहीं समझते हैं । इसलिए इस लम्बे प्रकरणमें वामनके मतका खण्डन करेंगे । इस विषयमें ग्रन्थकार मम्मटका सिद्धान्तमत यह है कि जिन दोषोंकी गणना सप्तम उल्लासमें की जा चुकी है उनसे भिन्न अलङ्कारके अन्य दोष नहीं होते हैं । अलङ्कारोंमें जो दोष हो सकते हैं उनका अन्तर्भाव पूर्वोक्त दोषोंमें ही हो जाता है । इसी बातका प्रतिपादन करनेके लिए यहाँ वामन द्वारा प्रस्तुत अलङ्कारदोषोंके उदाहरण लेकर, उनका अन्तर्भाव पूर्वोक्त दोषोंमें दिखलानेका प्रयत्न करेंगे ।

[सूत्र २११]—इन [अलङ्कारों]के यथायोग कुछ दोष सम्भव होनेपर भी उक्त दोषोंमें ही अन्तर्भूत हो जाते हैं इसलिए उनका अलग प्रतिपादन नहीं किया है ॥ १४२ ॥

वामन आदि प्राचीन आचार्योंने अलङ्कारोंके दोषोंका भी निरूपण किया है । काव्यप्रकाशकार उन दोषोंकी सत्ता तो मानते हैं फिर भी उनका मत है कि उनका अन्तर्भाव सप्तम उल्लासमें कहे हुए दोषोंके भीतर ही हो जानेसे उनका अलग प्रतिपादन करनेकी आवश्यकता नहीं है । अतः इस ग्रन्थमें उनका प्रतिपादन न होनेसे ग्रन्थमें अपूर्णतादोष नहीं समझना चाहिये । यह ग्रन्थकारका आशय है । आगे कुछ उदाहरण देकर इसी बातको स्पष्ट करते हैं ।

(१) अनुप्रासदोषोंका अन्तर्भाव

जैसे कि अनुप्रासमें प्रसिद्धिका अभाव, वैफल्य [अर्थात् चमत्कारानाधायकत्व] और

(ग) 'अकुण्ठोत्कण्ठया' इति। अत्र शृंगारे परुषवर्णाडम्बरः पूर्वोक्तरीत्या विरुध्यत इति परुषानुप्रासोऽत्र प्रतिकूलवर्णतैव वृत्तिविरोधः।

(२) यमकस्य पादत्रयगतत्वेन यमनगप्रयुक्तत्वं दोषः। यथा—

शुजङ्गमस्येव मणिः सदम्भा ग्राहावतीर्णेव नदी सदम्भाः।
दुरन्ततां निर्णयतोऽपि जन्तोः कर्षन्ति चेतः प्रसभं सदम्भाः ॥५८४॥

(३) १. उपमायामुपमानस्य जातिप्रमाणगतन्यूनत्वम् अधिकता तादृशी अनुचितार्थत्वं दोषः।

२. धर्मगते तु न्यूनाधिकत्वे यथाक्रमं हीनपदत्वमधिकपदत्वं च न व्यभिचरतः। क्रमेणोदाहरणम्—

का तनिक भी चारुत्व प्रतीत नहीं होता है इसलिए अनुप्रासकी विफलता [अर्थात् अनुप्रास-वैफल्य रूप दोष, पूर्वोक्त दोषोंके अन्तर्गत] अपुष्टार्थता [दोष] ही है।

(ग) 'अकुण्ठोत्कण्ठया' यह [सप्तमोल्लासका उदाहरणसंख्या २०८।]

यहां शृंगाररसमें कठोर वर्णोंका बाहुल्य पूर्वोक्त [अर्थात् अष्टम उल्लासमें गुण-विवेचनके प्रसङ्गमें कही हुई] रीतिसे विरुद्ध होता है। इसलिए परुष वर्णोंका अनुप्रास-रूप जो वृत्तिविरोध [अनुप्रासका दोष] है वह प्रतिकूलवर्णता [रूप पूर्वोक्त दोषरूप] ही है [उससे भिन्न नहीं है]।

(२) यमकदोषका अन्तर्भाव

यमकका तीन चरणोंमें स्थापन अप्रयुक्तत्व दोष है। जैसे—

[दम्भी कपटी पुरुषके संसर्गका] परिणाम बुरा होगा इस बातको जाननेवाले [दुरन्ततां निर्णयतोऽपि जन्तोः] पुरुषोंके चित्तको भी, साँपकी पानीदार [आबदार] मणिके समान और घड़ियालोंसे भरी हुई किन्तु स्वच्छजलयुक्त नदीके समान, कपटी हठात् [अपनी ओर] खींच लेते हैं ॥५८४॥

इस श्लोकके केवल तीन चरणोंमें 'सदम्भा' पदकी आवृत्ति होनेसे यह पादत्रयगत यमकका उदाहरण है। यमककी इस प्रकारकी पादत्रयगत स्थितिको वामन आदि प्राचीन आचार्योंने पृथक् अलङ्कारदोष माना है। परन्तु काव्यप्रकाशकार मम्मटके मतानुसार उसका अन्तर्भाव पहिले कहे हुए अप्रयुक्तत्व दोषके अन्तर्गत हो जाता है। इसलिए उसको अलग माननेकी आवश्यकता नहीं है।

(३) उपमादोषोंका अन्तर्भाव

१. उपमा [अलङ्कार]में उपमानकी जातिगत अथवा परिमाणगत न्यूनता अथवा उसी प्रकारकी [जातिगत तथा परिमाणगत] अधिकता [जिसे प्राचीन वामन आदिने उपमादोषोंमें अलग गिनाया है वस्तुतः पूर्वोक्त] अनुचितार्थत्व दोषरूप है।

२ [साधारण] धर्ममें रहनेवाले न्यूनत्व और अधिकत्व क्रमशः हीनपदत्व तथा अधिकपदत्व [रूप पूर्वोक्त दोषों]से भिन्न नहीं हैं। क्रमशः [उन सबके] उदाहरण [जैसे]—

अत्रोपमानस्य मौञ्जीस्थानीयतडिल्लक्षणो धर्मः केनापि पदेन न प्रतिपादित इति हीनपदत्वम् ।

(ख) स पीतवासाः प्रगृहीतशार्ङ्गो मनोज्ञभीमं वपुराप कृष्णः ।
शतह्रदेन्द्रायुधवान्निशायां संसृज्यमानः शशिनेव मेघः ॥५९०॥

अत्रोपमेयस्य शङ्खादेरनिर्देशे शशिनो ग्रहणमतिरिच्यते इत्यधिकपदत्वम् ।

यहाँ उपमान [सूर्य]का मौञ्जीस्थानीय विद्युत् रूप धर्म किसी पदके द्वारा प्रतिपादित नहीं किया गया है इसलिए हीनपदत्वदोष है ।

इसका आशय यह है कि उपमेय नारदमुनि हैं । उनके साथ पीतवर्णकी मूँजकी मेखला तथा कृष्णमृगचर्मरूप दो धर्मोंका सम्बन्ध है । दूसरी ओर उपमान सूर्य है । परन्तु उनके साथ कृष्ण-मृगचर्मके स्थानपर नीलमेघखण्डका सम्बन्ध तो है, पर पीतवर्णकी मौञ्जीस्थानीय किसी धर्मका सम्बन्ध नहीं है । इसलिए वामनने इसे उपमानगत धर्मन्यूनताका उदाहरण माना है । परन्तु काव्यप्रकाशकार इसे पहिले कहे हुए 'हीनपदत्व'का ही उदाहरण मानते हैं ।

अगला उदाहरण उपमानगत धर्माधिक्यका देते हैं । उसमें श्रीकृष्ण उपमेय हैं और मेघ उपमान है । श्रीकृष्णके साथ 'पीतवासाः' और 'प्रगृहीतशार्ङ्गः' ये दो विशेषण लगे हुए हैं । परन्तु उपमानभूत मेघके साथ कृष्णके पीतवस्त्रोंके स्थानपर 'शतह्रदा' अर्थात् विद्युत्का और शार्ङ्ग धनुषके स्थानपर इन्द्रधनुषका सम्बन्ध तो वर्णित है ही, उसके अतिरिक्त चन्द्रमाके साथ मेघका भी सम्बन्ध दिखलाया गया है । इसकी टक्करमें कृष्णके साथ 'शङ्ख' का सम्बन्ध दिखलाना चाहिये था । उसके न होनेसे प्राचीन वामन आदिके मतसे इस श्लोकमें उपमानगत धर्माधिक्यरूप दोष आता है । पर काव्य-प्रकाशकार इसे पूर्वोक्त अधिकपदत्वके ही अन्तर्गत मानते हैं । श्लोकका अर्थ निम्नलिखितप्रकार है—

(ख) पीताम्बरधारी और शृङ्गके बने हुए धनुषको लिये हुए कृष्ण, विद्युत् एवं इन्द्रधनुषसे युक्त, और रात्रिमें चन्द्रमाके साथ मिलते हुए मेघके समान सुन्दर एवं भयङ्कर [एक ही साथ दोनों प्रकारके] रूपको प्राप्त हुए ॥५९०॥

इसमें उपमेय [श्रीकृष्ण]के शङ्खादि [धर्म]का कथन न होनेसे [उपमानभूत मेघमें] चन्द्रमाका ग्रहण अधिक हो जाता है । इसलिए इसमें अधिकपदत्वदोष है ।

३. लिङ्गभेद और वचनभेद

वामन आदि आचार्योंने उपमान तथा उपमेयके लिङ्गभेद एवं वचनभेदको भी उपमादोषका दोष माना है । काव्यप्रकाशकारका इस विषयमें यह मत है कि जहाँ उपमान-उपमेयके लिङ्गभेद अथवा वचनभेदके कारण साधारणधर्ममें भी लिङ्ग या वचनभेदरूप अन्तर आ जाता है वहीं वे दोषाधायक होते हैं । और उस दशामें भी उनको अलग दोष न मानकर 'भग्नप्रक्रम' दोषके अन्तर्गत ही समझना चाहिये । लिङ्गभेद या वचनभेदमें 'भग्नप्रक्रम' दोष इसलिए होता है कि उपमान-उपमेयमें लिङ्गभेद या वचनभेद होनेपर साधारणधर्मका एक जगह तो वाच्यरूपसे यथाश्रुत अन्वय हो जाता है, परन्तु दूसरेके साथ फिर लिङ्गविपर्ययकी कल्पना करके प्रतीयमान धर्मके रूपमें अन्वय होता है । इसलिए उन दोनोंमें वाच्य तथा प्रतीयमानताका भेद हो जानेसे भग्नप्रक्रम दोष हो जाता है और जहाँ उपमान उपमेयमें लिङ्ग या वचनका भेद होनेपर भी साधारणधर्ममें कोई परिवर्तन नहीं होता है, वह दोनोंके साथ यथाश्रुतरूपसे ही अन्वित हो जाता है, वहाँ किसी प्रकारका दोष ही नहीं

१. (क) चण्डालैरिव युष्माभिः साहसं परमं कृतम् ॥५८५॥
(ख) वह्निस्फुलिङ्ग इव भानुरयं चकास्ति ॥५८६॥
(ग) अयं पद्मासनासीनश्चक्रवाको विराजते ।
युगादौ भगवान्वेधा विनिर्मित्सुरिव प्रजाः ॥५८७॥
(घ) पातालमिव ते नाभिः स्तनौ क्षितिधरोपमौ ।
वेणीदण्डः पुनरयं कालिन्दीपातसन्निभः ॥५८८॥
अत्र चण्डालादिभिरुपमानैः प्रस्तुतोऽर्थोऽत्यर्थमेव कदर्थित इत्यनुचितार्थता ।
२. (क) स मुनिर्लाञ्छितो मौञ्ज्या कृष्णाजिनपटं वहन् ।
व्यराजन्नीलजीमूतभागाश्लिष्ट इवांशुमान् ॥५८९॥

---

१. उपमानका न्यूनाधिक्य

उपमानकी जातिगत न्यूनताका उदाहरण देते हैं—

(क) चाण्डालोंके समान आप लोगोंने अतिसाहस ['साहसं तु दम्भे दुष्कर्मणि अविमृश्यकृते धाष्टर्ये ।' इति हेमः] किया है ॥५८५॥

वामनकी 'काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति'में इसे उपमानकी जातिगत न्यूनताके उदाहरणरूपमें उद्धृत किया गया है, क्योंकि इसमें चाण्डालको उपमान बनाया गया है। काव्यप्रकाशकारके मतसे पूर्वोक्त अनुचितार्थत्वदोषमें ही इसका अन्तर्भाव हो जाता है।

(ख) यह सूर्य आगकी चिनगारीके समान शोभित हो रहा है ॥५८६॥

इसे वामनने उपमानके परिमाणगत न्यूनत्वदोषका उदाहरण माना है, क्योंकि इसमें 'भानु'का उपमान 'वह्निस्फुलिङ्ग'को बनाया है जो परिमाणमें उपमेय सूर्यसे कहीं अधिक न्यून है। काव्यप्रकाश-कार पूर्वोक्त अनुचितार्थत्वदोषमें ही इसका भी अन्तर्भाव मानते हैं।

(ग) कमलरूप आसनपर बैठा हुआ यह चकवा ऐसा शोभित हो रहा है मानों सृष्टिके प्रारम्भमें प्रजाओंको उत्पन्न करनेकी इच्छासे पद्मासनपर ब्रह्मा बैठे हों ॥५८७॥

यहाँ उपमेय चक्रवाक है और ब्रह्माको उसका उपमान बनाया गया है। इसे वामनने उप-मानके जातिगत आधिक्यका उदाहरण माना है। मम्मट इसे भी अनुचितार्थत्व मानते हैं।

(घ) तुम्हारी नाभि पातालके समान [गहरी], स्तन पहाड़ोंके समान [ऊँचे] और वेणीदण्ड यमुनाप्रवाहके सदृश [कृष्णवर्ण] है ॥५८८॥

वामनने इसे उपमानके परिमाणगत आधिक्य दोषका उदाहरण माना है। काव्यप्रकाशकार इसे भी पूर्वोक्त अनुचितार्थत्वदोषके अन्तर्गत मानते हैं।

इन [उदाहरणोंमें] में चाण्डाल आदि उपमानोंने वर्णनीय अर्थको अत्यन्त निकृष्ट कर दिया है इसलिए [इन सब उदाहरणोंमें] अनुचितार्थता [दोष] है।

२. साधारणधर्मका न्यूनाधिक्य

साधारणधर्मकी न्यूनताका हीनपदत्वमें अन्तर्भाव करते हुए उदाहरण देते हैं—

(क) मूँजकी मेखला और मृगके चर्मको धारण किये हुए वे नारद [मुनि] नीलमेघखण्डसे आवृत सूर्यके समान शोभित हुए ॥५८९॥

अत्रोपमानस्य मौञ्जीस्थानीयस्तडिल्लक्षणो धर्मः केनापि पदेन न प्रतिपादित इति हीनपदत्वम् ।

(ख) स पीतवासाः प्रगृहीतशार्ङ्गो मनोज्ञभीमं वपुराप कृष्णः ।
शत-ह्रदेन्द्रायुधवान्निशायां संसृज्यमानः शशिनेव मेघः ॥५९०॥

अत्रोपमेयस्य शङ्खादेरनिर्देशे शशिनो ग्रहणमतिरिच्यते इत्यधिकपदत्वम् ।

यहाँ उपमान [सूर्य]का मौञ्जीस्थानीय विद्युत् रूप धर्म किसी पदके द्वारा प्रतिपादित नहीं किया गया है इसलिए हीनपदत्वदोष है ।

इसका आशय यह है कि उपमेय नारदमुनि हैं। उनके साथ पीतवर्णकी मूँजकी मेखला तथा कृष्णमृगचर्मरूप दो धर्मोंका सम्बन्ध है । दूसरी ओर उपमान सूर्य है । परन्तु उनके साथ कृष्ण-मृगचर्मके स्थानपर नीलजीमूतका सम्बन्ध तो है, पर पीतवर्णकी मौञ्जीस्थानीय किसी धर्मका सम्बन्ध नहीं है । इसलिए वामनने इसे उपमानगत धर्मन्यूनताका उदाहरण माना है । परन्तु काव्यप्रकाशकार इसे पहिले कहे हुए 'हीनपदत्व'का ही उदाहरण मानते हैं ।

अगला उदाहरण उपमानगत धर्माधिक्यका देते हैं । उसमें श्रीकृष्ण उपमेय हैं और मेघ उपमान है । श्रीकृष्णके साथ 'पीतवासा.' और 'प्रगृहीतशार्ङ्ग.' ये दो विशेषण लगे हुए हैं । परन्तु उपमानभूत मेघके साथ कृष्णके पीतवस्त्रोंके स्थानपर 'शतह्रदा' अर्थात् विद्युत्का और शार्ङ्ग धनुषके स्थानपर इन्द्रधनुषका सम्बन्ध तो वर्णित है ही, उसके अतिरिक्त चन्द्रमाके साथ मेघका भी सम्बन्ध दिखलाया गया है । इसकी टक्करमें कृष्णके साथ 'शङ्ख' का सम्बन्ध दिखलाना चाहिये था । उसके न होनेसे प्राचीन वामन आदिके मतसे इस श्लोकमें उपमानगत धर्माधिक्यरूप दोष आता है । पर काव्य-प्रकाशकार इसे पूर्वोक्त अधिकपदत्वके ही अन्तर्गत मानते हैं । श्लोकका अर्थ निम्नलिखितप्रकार है—

(ख) पीताम्बरधारी और शृङ्गके बने हुए धनुषको लिये हुए कृष्ण, विद्युत् एवं इन्द्रधनुषसे युक्त, और रात्रिमें चन्द्रमाके साथ मिलते हुए मेघके समान सुन्दर एवं भयङ्कर [एक ही साथ दोनों प्रकारके] रूपको प्राप्त हुए ॥५९०॥

इसमें उपमेय [श्रीकृष्ण]के शङ्खादि [धर्म]का कथन न होनेसे [उपमानभूत मेघमें] चन्द्रमाका ग्रहण अधिक हो जाता है । इसलिए इसमें अधिकपदत्वदोष है ।

३. लिङ्गभेद और वचनभेद

वामन आदि आचार्योंने उपमान तथा उपमेयके लिङ्गभेद एवं वचनभेदको भी उपमालङ्कारका दोष माना है । काव्यप्रकाशकारका इस विषयमें यह मत है कि जहाँ उपमान-उपमेयके लिङ्गभेद अथवा वचनभेदके कारण साधारणधर्ममें भी लिङ्ग या वचनभेदरूप अन्तर आ जाता है वहीं वे दोषाधायक होते हैं । और उस दशामें भी उनको अलग दोष न मानकर 'भग्नप्रक्रम' दोषके अन्तर्गत ही समझना चाहिये । लिङ्गभेद या वचनभेदमें 'भग्नप्रक्रम' दोष इसलिए होता है कि उपमान-उपमेयमें लिङ्गभेद या वचनभेद होनेपर साधारणधर्मका एक जगह तो वाच्यरूपसे यथाश्रुत अन्वय हो जाता है, परन्तु दूसरेके साथ फिर लिङ्गविपर्ययकी कल्पना करके प्रतीयमान धर्मके रूपमें अन्वय होता है । इसलिए उन दोनोंमें वाच्य तथा प्रतीयमानताका भेद हो जानेसे भग्नप्रक्रम दोष हो जाता है और जहाँ उपमान उपमेयमें लिङ्ग या वचनका भेद होनेपर भी साधारणधर्ममें कोई परिवर्तन नहीं होता है, वह दोनोंके साथ यथाश्रुतरूपमें ही अन्वित हो जाता है, वहाँ किसी प्रकारका दोष ही नहीं

३. लिङ्गवचनभेदोऽपि उपमानोपमेययोः साधारणं चेद् धर्ममन्यथा कुर्यात्तदा एकतरस्यैव तद्धर्मसमन्वयावगतेः सविशेषणस्यैव तस्योपमानत्वमुपमेयत्वं वा प्रतीयमानेन धर्मेण प्रतीयते । इति प्रक्रान्तस्यार्थस्य स्फुटमनिर्वाहादस्य भग्नप्रक्रमरूपत्वम् । यथा—

(क) चिन्तारत्नमिव च्युतोऽसि करतो धिङ्मन्दभाग्यस्य मे ॥५९१॥

(ख) सक्तवो भक्षिता देव ! शुद्धाः कुलवधूरिव ॥५९२॥

होता है । इसलिए लिङ्गभेद तथा वचनभेदको अलग उपमादोष माननेकी आवश्यकता नहीं है। इसी बातको ग्रन्थकार आगे अनुच्छेदमें कहते हैं—

उपमान तथा उपमेयका लिङ्गभेद या वचनभेद यदि साधारणधर्मको परिवर्तित [अथवा किसी एकके ही साथ अन्वित होने योग्य अर्थात् असाधारणधर्म] कर दे तो [उपमान या उपमेयमेंसे] किसी एकके साथ उस [साधारण] धर्मके अन्वयकी प्रतीति होनेसे [उपमान-उपमेयमेंसे जिसका लिङ्ग या वचन साधारणधर्मके लिङ्ग या वचनसे मिलता हुआ है] उसका उपमानत्व या उपमेयत्व [साधारणधर्मरूप] विशेषणसे युक्तका ही होता है और दूसरी जगह [अर्थात् उपमान-उपमेयमेंसे जिसके साथ साधारणधर्मका लिङ्ग और वचन नहीं मिलता है वहाँ लिङ्गविपरिणामके द्वारा] प्रतीयमान धर्मसे [उपमानत्व अथवा उपमेयत्व] प्रतीत होता है इसलिए [एक जगह वाच्यरूपसे और दूसरी जगह प्रतीयमानरूपसे साधारणधर्मका अन्वय होनेके कारण] प्रक्रान्त [उपमालङ्कार]का स्पष्टरूपसे निर्वाह [अर्थात् तुरन्त प्रतीति] न होनेसे 'भग्नप्रक्रमत्व' [दोष होता] है । जैसे—

(क) हा धिक् ! चिन्तामणिके समान [चिन्तित अर्थको देनेवाले] तुम मन्द-भाग्य मेरे हाथसे गिर गये हो ॥५९१॥

इसमें 'चिन्तारत्न' यह उपमानवाचक पद नपुंसकलिङ्गमें है और उपमेयभूत 'त्वं' पुल्लिङ्गमें है । 'च्युतः' यह साधारणधर्म भी पुल्लिङ्गमें है । इसलिए उपमेयके साथ तो 'च्युतः' इस साधारणधर्म-का वाच्यरूपसे यथाश्रुत अन्वय हो जाता है । परन्तु 'चिन्तारत्न' रूप उपमान पदके साथ तुरन्त अन्वय नहीं होता है । उसमें लिङ्गविपरिणाम आदिकी कल्पनामें विलम्ब होनेसे प्रतीयमानरूपसे ही साधारणधर्मका अन्वय होनेसे 'भग्नप्रक्रमता' दोष हो जाता है । इस प्रकार यह लिङ्गभेदका उदाहरण दिया ।

वचनभेदका उदाहरण आगे देते हैं ।

(ख) हे राजन् ! कुलवधूके समान शुद्ध, सत्तुओंको खाया ॥५९२॥

यहाँ 'सक्तवः' यह बहुवचनमें पठित उपमानपद है और एकवचनमें पठित 'कुलवधूः' यह उपमेय-वाचक पद है । 'शुद्धाः' यह बहुवचनान्त साधारणधर्मका वाचक पद है । इस बहुवचनान्त 'शुद्धाः' पदका 'सक्तवः' के साथ तो वाच्यरूपमें यथाश्रुत अन्वय हो जाता है परन्तु एकवचनान्त उपमान-वाचक 'कुलवधूः' पदके साथ वचनविपरिणामकी कल्पना द्वारा प्रतीयमानरूपमें ही उसका अन्वय होता है । इसलिए एक जगह वाच्य और दूसरी जगह प्रतीयमानरूपसे साधारणधर्मका अन्वय होनेसे 'भग्नप्रक्रमता' दोष होता है । और वचनविपरिणाममें विलम्ब होनेके कारण उपमालङ्कारकी सद्यः प्रतीति या स्फुट निर्वाह भी नहीं होता है । इसलिए भी 'भग्नप्रक्रमता' दोष होता है ।

ननु नानात्वेऽपि लिङ्गवचनयोः साधारणधर्माभिधायि पदं स्वरूपभेदं नापद्यते न तत्रैतद्दूषणावतारः । उभयत्रापि अस्यानुगमक्षमस्वभावत्वात् । यथा—

(क) गुणैरनर्घ्यैः प्रथितो रत्नैरिव महार्णवः ॥५९३॥

(ख) तद्वेषोऽसदृशोऽन्याभिः स्त्रीभिर्मधुरताभृतः ।
दधते स्म परां शोभां तदीया विभ्रमा इव ॥५९४॥

लिङ्गभेदकी अदोषता

और जहाँ [उपमान तथा उपमेयके] लिङ्ग एवं वचनमें [नानात्मक] भेद होनेपर भी साधारणधर्मके वाचक पदके स्वरूपमें परिवर्तन नहीं होता है वहाँ इस [साधारण-धर्मवाचक पद] का [उपमान तथा उपमेय] दोनोंके साथ [उसी रूपसे] अन्वय हो सकता है इसलिए इस [लिङ्गभेद या वचनभेदरूप वामनोक्त] दोषके आनेका अवसर ही नहीं आता है। जैसे—

(क) बहुमूल्य रत्नोंसे जैसे समुद्र प्रसिद्ध है इसी प्रकार वह राजा अतिश्रेष्ठ गुणोंसे प्रसिद्ध हुआ ॥५९३॥

यहाँ उपमानवाचक 'रत्नैः' पद तथा उपमेयवाचक 'गुणैः' पदमें लिङ्गभेद है। रत्न शब्द नपुंसकलिङ्ग तथा गुण शब्द पुल्लिङ्ग है। परन्तु उन दोनोंमें लिङ्गभेद रहते हुए भी तृतीयामें दोनोंके रूप एक समान ही बनते हैं। अतः 'अनर्घ्यैः' इस साधारणधर्मवाचक पदका दोनोंके साथ यथाश्रुत अन्वय हो जाता है, इसलिए यहाँ उपमान-उपमेयका लिङ्गभेद दोषाधायक नहीं माना जा सकता है।

वचनभेदकी अदोषता

इसी प्रकार वचनभेदके दोषाधायक न होनेका उदाहरण आगे देते हैं—

(ख) उस [नायिका]का मधुरतासे भरा हुआ वेष उसके मधुरतापूर्ण हाव-भावोंके समान अन्य स्त्रियोंसे भिन्न होनेसे अत्यन्त शोभाको धारण कर रहा था ॥५९४॥

यहाँ 'तद्वेष' यह उपमेयवाचक पद एकवचनान्त तथा 'विभ्रमाः' यह उपमानवाचक पद बहुवचनान्त है। 'असदृशः', 'मधुरताभृतः' और 'दधते' ये तीनों पद साधारणधर्मके वाचक हैं। साधारणधर्मवाचक तीनों पदोंके एकवचन तथा बहुवचन दोनोंमें ही एकसे रूप बनते हैं। इसलिए जब उपमानवाचक बहुवचनान्त 'विभ्रमा' के साथ इनका अन्वय होता है तब वे बहुवचनान्त रूप माने जाते हैं और जब उपमेयवाचक एकवचनान्त 'तद्वेष' पदके साथ इनका अन्वय होता है तब एकवचनान्त माने जाते हैं। इसलिए उपमान-उपमेयमें वचनभेद होनेपर भी उससे साधारणधर्मवाचक पदोंके स्वरूपमें कोई परिवर्तन न होनेसे यहाँ कोई दोष नहीं आता है।

'असदृशः' पद एकवचन तथा बहुवचन दोनोंमें बन सकता है। 'समान इव पश्यति इति सदृशः' इस विग्रहमें 'त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कञ् च' [३-२-६०] इस सूत्रमें पठित 'समानान्ययोश्चेति वाच्यम्' इस वार्तिकसे 'समान' शब्द उपपद रहते 'दृश' धातुसे कर्तामें 'कञ् प्रत्यय' और 'दृग्दृशवतुषु' [६-३-८९] सूत्रसे 'समान'को 'स' आदेश होकर 'सदृश' बनता है और उसका प्रथमाके एकवचनमें 'सदृशः' रूप होता है। इसके विपरीत उसी 'समान इव पश्यति' इसी विग्रहमें 'क्विप् च' [३-२-७६] इस सूत्रसे क्विप्-प्रत्यय होता है तब 'सदृश्' शब्द बनता है। उससे प्रथमाके बहुवचनमें 'सदृशः' रूप बनता

३. लिङ्गवचनभेदोऽपि उपमानोपमेययोः साधारणं चेत् धर्ममन्यरूपं कुर्यात्तदा एकतरस्यैव तद्धर्मसमन्वयावगतेः सविशेषणस्यैव तस्योपमानत्वमुपमेयत्वं वा प्रतीयमानेन धर्मेण प्रतीयते । इति प्रकान्तस्यार्थस्य स्फुटमनिर्वाहादस्य भग्नप्रक्रमरूपत्वम् । यथा—

(क) चिन्तारत्नमिव च्युतोऽसि करतो धिङ्मन्दभाग्यस्य मे ॥५११॥

(ख) सक्तवो भक्षिता देव ! शुद्धाः कुलवधूरिव ॥५१२॥

होता है। इसलिए लिङ्गभेद तथा वचनभेदको अलग उपमादोष माननेकी आवश्यकता नहीं है। इसी बातको ग्रन्थकार अगले अनुच्छेदमें कहते हैं—

उपमान तथा उपमेयका लिङ्गभेद या वचनभेद यदि साधारणधर्मको परिवर्तित [अथवा किसी एकके ही साथ अन्वित होने योग्य अर्थात् असाधारणधर्म] कर दे तो [उपमान या उपमेयमेंसे] किसी एकके साथ उस [साधारण] धर्मके अन्वयकी प्रतीति होनेसे [उपमान-उपमेयमेंसे जिसका लिङ्ग या वचन साधारणधर्मके लिङ्ग या वचनसे मिलता हुआ है] उसका उपमानत्व या उपमेयत्व [साधारणधर्मरूप] विशेषणसे युक्तका ही होता है और दूसरी जगह [अर्थात् उपमान-उपमेयमेंसे जिसके साथ साधारणधर्मका लिङ्ग और वचन नहीं मिलता है वहाँ लिङ्गविपरिणामके द्वारा] प्रतीयमान धर्मसे [उपमानत्व अथवा उपमेयत्व] प्रतीत होता है इसलिए [एक जगह वाच्यरूपसे और दूसरी जगह प्रतीयमानरूपसे साधारणधर्मका अन्वय होनेके कारण] प्रक्रान्त [उपमालङ्कार]का स्पष्टरूपसे निर्वाह [अर्थात् तुरन्त प्रतीति] न होनेसे 'भग्नप्रक्रमत्व' [दोष होता] है। जैसे—

(क) हा धिक् ! चिन्तामणिके समान [चिन्तित अर्थको देनेवाले] तुम मन्दभाग्य मेरे हाथसे गिर गये हो ॥५११॥

इसमें 'चिन्तारत्न' यह उपमानवाचक पद नपुंसकलिङ्गमें है और उपमेयभूत 'त्वं' पुल्लिङ्गमें है। 'च्युत:' यह साधारणधर्म भी पुल्लिङ्गमें है। इसलिए उपमेयके साथ तो 'च्युत' इस साधारणधर्मका वाच्यरूपसे यथाश्रुत अन्वय हो जाता है। परन्तु 'चिन्तारत्न' रूप उपमान पदके साथ तुरन्त अन्वय नहीं होता है। उसमें लिङ्गविपरिणाम आदिकी कल्पनामें विलम्ब होनेसे प्रतीयमानरूपसे ही साधारणधर्मका अन्वय होनेसे 'भग्नप्रक्रमता' दोष हो जाता है। इस प्रकार यह लिङ्गभेदका उदाहरण दिया।

वचनभेदका उदाहरण आगे देते हैं।

(ख) हे राजन् ! कुलवधूके समान शुद्ध, सत्तुओंको खाया ॥५१२॥

यहाँ 'सक्तव:' यह बहुवचनमें पठित उपमानपद है और एकवचनमें पठित 'कुलवधू' यह उपमेयवाचक पद है। 'शुद्धा' यह बहुवचनान्त साधारणधर्मका वाचक पद है। इस बहुवचनान्त 'शुद्धाः' पदका 'सक्तव:' के साथ तो वाच्यरूपमें यथाश्रुत अन्वय हो जाता है परन्तु एकवचनान्त उपमानवाचक 'कुलवधू:' पदके साथ वचनविपरिणामकी कल्पना द्वारा प्रतीयमानरूपमें ही उसका अन्वय होता है। इसलिए एक जगह वाच्य और दूसरी जगह प्रतीयमानरूपसे साधारणधर्मका अन्वय होनेसे 'भग्नप्रक्रमता' दोष होता है। और वचनविपरिणाममें विलम्ब होनेके कारण उपमालङ्कारकी तुरन्त प्रतीति या स्फुट निर्वाह भी नहीं होता है। इसलिए भी 'भग्नप्रक्रमता' दोष होता है।

यत्र तु नानात्वेऽपि लिङ्गवचनयोः सामान्याभिधायि पदं स्वरूपभेदं नापद्यते न तत्रैतद्दूषणावतारः । उभयथापि अस्यानुगमक्षमस्वभावत्वात् । यथा—

(क) गुणैरनर्घ्यैः प्रथितो रत्नैरिव महार्णवः ॥५९३॥

(ख) तद्वेषोऽसदृशोऽन्याभिः स्त्रीभिर्मधुरताभृतः ।
दधते स्म परां शोभां तदीया विभ्रमा इव ॥५९४॥

लिङ्गभेदकी अदोषता

और जहाँ [उपमान तथा उपमेयके] लिङ्ग एवं वचनमें [नानात्मक] भेद होनेपर भी साधारणधर्मके वाचक पदके स्वरूपमें परिवर्तन नहीं होता है वहाँ इस [साधारण-धर्मवाचक पद] का [उपमान तथा उपमेय] दोनोंके साथ [उसी रूपसे] अन्वय हो सकता है इसलिए इस [लिङ्गभेद या वचनभेदरूप वामनोक्त] दोषके आनेका अवसर ही नहीं आता है । जैसे—

(क) बहुमूल्य रत्नोंसे जैसे समुद्र प्रसिद्ध है इसी प्रकार वह राजा अतिश्रेष्ठ गुणोंसे प्रसिद्ध हुआ ॥५९३॥

यहाँ उपमानवाचक 'रत्नै' पद तथा उपमेयवाचक 'गुणै' पदमें लिङ्गभेद है । रत्न शब्द नपुंसकलिङ्ग तथा गुण शब्द पुल्लिङ्ग है । परन्तु उन दोनोंमें लिङ्गभेद रहते हुए भी तृतीयामें दोनोंके रूप एक समान ही बनते हैं । अतः 'अनर्घ्यै' इस साधारणधर्मवाचक पदका दोनोंके साथ यथाश्रुत अन्वय हो जाता है, इसलिए यहाँ उपमान-उपमेयका लिङ्गभेद दोषाधायक नहीं माना जा सकता है ।

वचनभेदकी अदोषता

इसी प्रकार वचनभेदके दोषाधायक न होनेका उदाहरण आगे देते हैं—

(ख) उस [नायिका]का मधुरतासे भरा हुआ वेष उसके मधुरतापूर्ण हाव-भावोंके समान अन्य स्त्रियोंसे भिन्न होनेसे अत्यन्त शोभाको धारण कर रहा था ॥५९४॥

यहाँ 'तद्वेष' यह उपमेयवाचक पद एकवचनान्त तथा 'विभ्रमा' पद उपमानवाचक [illegible] बहुवचनान्त है । 'असदृश', 'मधुरताभृत' और 'दधते' ये तीनों पद साधारणधर्मके वाचक [illegible] । साधारणधर्मवाचक तीनों पदोंके एकवचन तथा बहुवचन दोनोंमें ही एकसे रूप बनते [illegible] । [illegible] उपमानवाचक बहुवचनान्त 'विभ्रमाः' के साथ इनका अन्वय होता है तब ये बहुवचनान्त [illegible] जाते हैं और जब उपमेयवाचक एकवचनान्त 'तद्वेष' पदके साथ इनका अन्वय होता है तब एकवचनान्त माने जाते हैं । इसलिए उपमान-उपमेयमें वचनभेद होनेपर भी इनके साधारण[illegible] पदोंके स्वरूपमें कोई परिवर्तन न होनेसे यहाँ कोई दोष नहीं आता है ।

'असदृश' पद एकवचन तथा बहुवचन दोनोंमें बन सकता है । [illegible] सदृश' इस विग्रहमें 'त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कञ्च' [३-२-६०] इस सूत्र [illegible] [illegible]वाच्यम्' इस वार्तिकसे 'समान' शब्द उपपद रहते 'दृश' धातुसे [illegible] [६-३-८९] सूत्रसे 'समान' को 'स' आदेश होकर 'सदृश' बनता है [illegible] 'सदृश' रूप होता है । इसके विपरीत जभी 'समान इव पश्यति' इसी [illegible] रूपसे क्विप् प्रत्यय होता है तब 'सदृश्' शब्द बनता है । इसके प्रथमाके [illegible]

४. कालपुरुषविध्यादिभेदेऽपि न तथा प्रतीतिरस्खलितरूपतया विश्रान्तिमासादयतीत्यसावपि भग्नप्रक्रमतयैव व्याप्तः । यथा—

(क) अतिथि नाम काकुत्स्थात्पुत्रमाप कुमुद्वती ।
पश्चिमाद् यामिनीयामात् प्रसादमिव चेतना ॥५९५॥

अत्र चेतना प्रसादमाप्नोति न पुनरापेति कालभेदः ।

है । इसी प्रकार 'मधुरताभृतः'में भृत पदको यदि क्त प्रत्ययान्त माना जाय तो 'भृतः' यह प्रथमाके एकवचनका रूप होगा और यदि उसको क्विप्-प्रत्ययान्त माना जाय तो 'भृतः' यह प्रथमाके बहुवचनका रूप होगा । इसी प्रकार भ्वादिगणपठित 'दधृ धारणे' धातुसे प्रथमपुरुषके एकवचनमें 'दधते' यह रूप बनता है और जुहोत्यादिगण-पठित 'डुधाञ् धारणपोषणयोः' धातुसे प्रथमपुरुषके बहुवचनमें 'दधते' रूप बनता है ।

४. कालभेद और पुरुषभेद

वामनादिने जिस प्रकार उपमान-उपमेयके लिङ्गभेदमें तथा वचनभेदको उपमाका दोष माना है इसी प्रकार उपमामें कालभेद, पुरुषभेद, विध्यादिके भेदको भी उन्होंने उपमाका दोष माना है । परन्तु काव्यप्रकाशकारके मतमें जैसे लिङ्गभेद और वचनभेदका अन्तर्भाव 'भग्नप्रक्रमता' दोषमें हो जाता है उसी प्रकार कालभेद, पुरुषभेद तथा विध्यादिभेदका भी अन्तर्भाव 'भग्नप्रक्रमता' दोषमें हो जाता है, क्योंकि वहाँ भी काल, पुरुष आदिके विपरिणामके बिना उनका उपमान-उपमेय दोनोंके साथ यथाश्रुतरूपमें अन्वय नहीं हो सकता है । इसलिए एक जगह वाच्यरूपसे और दूसरी जगह विपरिणाम आदि द्वारा प्रतीयमानरूपसे उनका अन्वय होनेसे 'भग्नप्रक्रमता' दोष आ ही जाता है । इसी बातको ग्रन्थकार अगले अनुच्छेदमें कहते हैं—

[उपमामें] काल, पुरुष तथा विधि आदिका भेद होनेपर भी [जैसे कि काल, पुरुष, विधि आदिके ऐक्यस्थलमें होती थी] उसी प्रकारसे अस्खलितरूपसे [अर्थात् कालादिका विपरिणाम किये बिना उपमान-उपमेयकी] प्रतीतिकी समाप्ति नहीं होती है इसलिए यह [काल, पुरुष, विधि आदिका भेद] भग्नप्रक्रमतासे ही व्याप्त है [अर्थात् जहाँ-जहाँ कालभेद, पुरुषभेद या विध्यादि भेद रहता है वहाँ भी भग्नप्रक्रमता दोष होता है]। जैसे—

(क) रात्रिके अन्तिम पहरसे जैसे चेतना प्रसन्नताको प्राप्त करती है इसी प्रकार [कुमुद नामक नागराजकी बहिन] कुमुद्वतीने ककुत्स्थ-कुलमें उत्पन्न हुए [राजा कुश]से अतिथि नामक पुत्रको प्राप्त किया ॥५९५॥

यहाँ चेतना [बुद्धि प्रातःकालमें] निर्मलताको [प्रतिदिन] प्राप्त करती है [इसलिए उपमानमें वर्तमान कालका प्रयोग होना चाहिये था] न कि प्राप्त किया [इस भूतकालवाचक पदका प्रयोग किया जाना चाहिये था] इसलिए कालभेद है ।

[illegible]

[illegible]

(ख) प्रत्यग्रमज्जनविशेषविविक्तमूर्त्तिः कौसुम्भरागरुचिरस्फुरदंशुकान्ता ।
विभ्राजसे मकरकेतनमर्चयन्ती बालप्रवालविटपप्रभवा लतेव ॥५९६॥

अत्र लता 'विभ्राजते' न तु 'विभ्राजसे' इति सम्बोध्यमाननिष्ठस्य परभागस्य असम्बोध्यमानविषयतया व्यत्यासात् पुरुषभेदः ।

(ग) गङ्गेव प्रवहतु ते सदैव कीर्त्तिः ॥ ५९७ ॥

इत्यादौ च गङ्गा 'प्रवहति' न तु 'प्रवहतु' इति अप्रवृत्तप्रवर्त्तनात्मनो विधेः ।

(ख) तुरन्त स्नान करनेके कारण विशेषरूपसे निर्मल रूपवाली और कुसुम्भ रागसे रँगे हुए उज्ज्वल वस्त्र [साड़ी]को धारण किये हुए कामदेवकी पूजा करती हुई तुम नवीन किसलयोंवाली शाखाकी जननी [प्रभवः] लताके समान शोभित हो रही हो ॥ ५९७ ॥

इसमें 'लता' उपमानवाचक तथा 'त्व' उपमेयवाचक पद है। 'विभ्राजित होना' इन दोनों-का साधारणधर्म है। परन्तु लतापक्षमें 'विभ्राजते' इस प्रथमपुरुषके एकवचनमें ही उसका अन्वय हो सकता है और उपमेयभूत 'त्व'के साथ 'विभ्राजसे' इस पदका यथाश्रुत अन्वय हो जाता है। इसलिए पुरुषभेदके कारण एक जगह वाच्य और दूसरी जगह प्रतीयमान अर्थरूप साधारणधर्मका अन्वय होनेसे यहाँ पुरुषभेदरूप उपमादोष है। यह वामनका मत है। परन्तु काव्यप्रकाशकारके मतमें यहाँ भी 'भग्नप्रक्रमता' दोष ही मानना उचित है। यही बात वे अगली पंक्तिमें कहते हैं—

यहाँ लता [के साथ] 'विभ्राजते' [इस प्रथमपुरुषका प्रयोग होना चाहिये] न कि 'विभ्राजसे' [इस मध्यमपुरुषका]। इसलिए सम्बोध्यमान [जिसको सम्बोधन करके राजा उदयन यह श्लोक कह रहे हैं उस वासवदत्ता] विषयक [विभ्राजसे इस] पदके अन्तिम भाग [से, इस प्रत्ययांश]के [सम्बोध्यमान उपमेयवाचक पदसे भिन्न लतारूप] असम्बोध्यमानविषयक रूपसे परिवर्तन होनेसे [अर्थात् लतापक्षमें 'विभ्राजसे'के स्थानपर 'विभ्राजते' इस प्रकारका विपरिणाम करना अनिवार्य होनेसे वामनके मतमें] पुरुषभेददोष है [जो काव्यप्रकाशकारके मतमें भग्नप्रक्रमताके अन्तर्गत हो जाता है]।

विधिभेदका उदाहरण आगे देते हैं—

(ग) गङ्गाके समान तुम्हारी कीर्ति सदा प्रवाहित होती रहे ॥५९७॥

यहाँ गङ्गा 'बहती है' न कि 'बहे' यह [अर्थात् गङ्गापक्षमें 'प्रवहतु'के स्थानपर 'प्रवहति' पदका अन्वय ठीक बनता है। 'प्रवहतु' पदका प्रयोग ठीक नहीं बनता है] इसलिए अप्रवृत्तप्रवर्तनात्मक विधिका [विधिभेदरूप दोष है]।

यहाँ शङ्का हो सकती है कि दोनों जगह 'प्रवहतु' पदका ही अन्वय मान [illegible] इसके समाधानके लिए कहते हैं कि विधिके अप्रवृत्तप्रवर्तनरूप होनेसे गङ्गा [illegible] विधिका सम्भव न होनेसे 'प्रवहतु' पदका प्रयोग नहीं हो सकता है।

इसका यह अभिप्राय है कि लिङ्, लोट्, तव्यत् आदि प्रत्यय 'विधि' [illegible] विधिप्रत्ययोंका काम अप्रवृत्तको किसी विशेष कार्यमें प्रवृत्त करना है। [illegible]

(ग) [illegible]कुसुम्भरागनिरस्तकंचुकान्ता ।
[illegible] बालप्रवालविटपप्रभवा लतेव ॥५९६॥

[illegible] 'विभ्राजते' न तु 'विभ्राजसे' इति सम्बोध्यमाननिष्ठस्य परभागस्य [illegible] पुरुषभेदः ।

(घ) [illegible] ॥ ५९७ ॥

[illegible] 'प्रवहति' न तु 'प्रवहतु' इति अप्रवृत्तप्रवर्त्तनात्मनो विधेः ।

(ग) [illegible] कारण [illegible]रूपसे निर्मल रूपवाली और कुसुम्भ [illegible] [लता]को धारण किये हुए कामदेवकी पूजा करती हुई तुम नवीन [illegible] जननी [प्रभवः] लताके समान शोभित हो रही हो ॥ ५९६ ॥

[illegible] 'विभाजित होना' उन दोनो- [illegible] 'विभ्राजते' इस प्रथमपुरुषके एकवचनमें ही उसका अन्वय हो [illegible] इस पदका यथायुक्त अन्वय हो जाता है । इसलिए [illegible] दूसरी जगह प्रतीयमान अर्थरूप साधारणधर्मका अन्वय होनेसे [illegible] यह वामनका मत है । परन्तु काव्यप्रकाशकारके मतसे यहाँ भी [illegible] अगली पंक्तिमें कहते हैं—

यहाँ लता [के साथ] 'विभ्राजते' [इस प्रथमपुरुषका प्रयोग होना चाहिये] न कि 'विभ्राजसे' [इस मध्यमपुरुषका] । इसलिए सम्बोध्यमान [जिसको सम्बोधन करके राजा उदयन यह श्लोक कह रहे हैं उस वासवदत्ता] विषयक [विभ्राजसे इस] पदके अन्तिम भाग [से, इस प्रत्ययांश]के [सम्बोध्यमान उपमेयवाचक पदसे भिन्न लतारूप] असम्बोध्यमानविषयक रूपसे परिवर्तन होनेसे [अर्थात् लतापक्षमें 'विभ्राजसे'के स्थानपर 'विभ्राजते' इस प्रकारका विपरिणाम करना अनिवार्य होनेसे वामनके मतमें] पुरुषभेददोष है [जो काव्यप्रकाशकारके मतमें भग्नप्रक्रमताके अन्तर्गत हो जाता है] ।

विधिभेदका उदाहरण आगे देते हैं—

(घ) गङ्गाके समान तुम्हारी कीर्ति सदा प्रवाहित होती रहे ॥५९७॥

यहाँ गङ्गा 'बहती है' न कि 'बहे' यह [अर्थात् गङ्गापक्षमें 'प्रवहतु'के स्थानपर 'प्रवहति' पदका अन्वय ठीक बनता है । 'प्रवहतु' पदका प्रयोग ठीक नहीं बनता है] इसलिए अप्रवृत्तप्रवर्तनात्मक विधिका [विधिभेदरूप दोष है] ।

यहाँ शङ्का हो सकती है कि दोनों जगह 'प्रवहतु' पदका ही अन्वय मान लेनेमें क्या हानि है ? इसके समाधानके लिए कहते हैं कि विधिके अप्रवृत्तप्रवर्तनरूप होनेसे गङ्गापक्षमें अप्रवृत्तके प्रवर्तनरूप विधिका सम्भव न होनेसे 'प्रवहतु' पदका प्रयोग नहीं हो सकता है ।

इसका यह अभिप्राय है कि लिङ्, लोट्, तव्यत् आदि प्रत्यय 'विधिप्रत्यय' कहलाते हैं । इन विधिप्रत्ययोंका काम अप्रवृत्तको किसी विशेष कार्यमें प्रवृत्त करना है । गङ्गा नदी तो स्वयं ही सदा

४. कालपुरुषविध्यादिभेदेऽपि न तथा प्रतीतिरस्खलितरूपतया विश्रान्तिमासादयतीत्यसावपि भग्नप्रक्रमतयैव व्याप्तः । यथा—

(क) अतिथिं नाम काकुत्स्थात्पुत्रमाप कुमुद्वती ।
पश्चिमाद् यामिनीयामात् प्रसादमिव चेतना ॥५९५॥

अत्र चेतना प्रसादमाप्नोति न पुनरापेति कालभेदः ।

है। इसी प्रकार 'मधुरताभृतः' में भृत पदको यदि क्त-प्रत्ययान्त माना जाय तो 'भृतः' यह प्रथमाके एकवचनका रूप होगा और यदि उसको क्विप्-प्रत्ययान्त माना जाय तो 'भृतः' यह प्रथमाके बहुवचनका रूप होगा। इसी प्रकार भ्वादिगणपठित 'दध् धारणे' धातुसे प्रथमपुरुषके एकवचनमें 'दधते' यह रूप बनता है और जुहोत्यादिगण-पठित 'डुधाञ् धारणपोषणयोः' धातुसे प्रथमपुरुषके बहुवचनमें 'दधते' रूप बनता है।

४. कालभेद और पुरुषभेद

वामनादिने जिस प्रकार उपमान-उपमेयके लिङ्गभेदमें तथा वचनभेदको उपमाका दोष माना है इसी प्रकार उपमामें कालभेद, पुरुषभेद, विध्यादिके भेदको भी उन्होंने उपमाका दोष माना है। परन्तु काव्यप्रकाशकारके मतमें जैसे लिङ्गभेद और वचनभेदका अन्तर्भाव 'भग्नप्रक्रमता' दोषमें हो जाता है उसी प्रकार कालभेद, पुरुषभेद तथा विध्यादिभेदका भी अन्तर्भाव 'भग्नप्रक्रमता' दोषमें हो जाता है, क्योंकि वहाँ भी काल, पुरुष आदिके विपरिणामके बिना उनका उपमान-उपमेय दोनोंके साथ यथाश्रुतरूपमें अन्वय नहीं हो सकता है। इसलिए एक जगह वाच्यरूपसे और दूसरी जगह विपरिणाम आदि द्वारा प्रतीयमानरूपसे उनका अन्वय होनेसे 'भग्नप्रक्रमता' दोष आ ही जाता है। इसी बातको ग्रन्थकार अगले अनुच्छेदमें कहते हैं—

[उपमामें] काल, पुरुष तथा विधि आदिका भेद होनेपर भी [जैसे कि काल, पुरुष, विधि आदिके ऐक्यस्थलमें होती थी] उसी प्रकारसे अस्खलितरूपसे [अर्थात् कालादिका विपरिणाम किये बिना उपमान-उपमेयकी] प्रतीतिकी समाप्ति नहीं होती है इसलिए यह [काल, पुरुष, विधि आदिका भेद] भग्नप्रक्रमतासे ही व्याप्त है [अर्थात् जहाँ-जहाँ कालभेद, पुरुषभेद या विध्यादि भेद रहता है वहाँ भी भग्नप्रक्रमता दोष होता है]। जैसे—

(क) रात्रिके अन्तिम पहरमें जैसे चेतना प्रसन्नताको प्राप्त करती है इसी प्रकार [कुमुद नामक नागराजकी बहिन] कुमुद्वतीने ककुत्स्थ-कुलमें उत्पन्न हुए [राजा कुश]से अतिथि नामक पुत्रको प्राप्त किया ॥५९५॥

यहाँ चेतना [बुद्धि प्रातःकालमें] निर्मलताको [प्रतिदिन] प्राप्त करती है [इसलिए उपमानमें वर्तमान कालका प्रयोग होना चाहिये था] न कि प्राप्त किया [इस भूतकालवाचक पदका प्रयोग किया जाना चाहिये था] इसलिए कालभेद है।

यत्राप्युपात्तेनैव सामान्यधर्मेण उपमाऽवगम्यते यथा 'युधिष्ठिर इवायं सत्यं वदति' इति, तत्र युधिष्ठिर इव सत्यवाग्ययं सत्यं वदतीति प्रतिपत्स्यामहे।

'सत्यवादी सत्यं वदति' इति च न पौनरुक्त्यमाशङ्कनीयम्। 'रैपोषं पुष्णाति इतिवत्' युधिष्ठिरसत्यवदनेन सत्यवाग्ययमित्यर्थावगमात्।

सत्यमेतत् किन्तु स्थितेषु प्रयोगेषु समर्थनमिदं न तु सर्वथा निरवद्यम्। प्रस्तुतवस्तुप्रतीतिव्याघातादिति सचेतस एवात्र प्रमाणम्।

५. असादृश्यासम्भवावप्युपमायामनुचितार्थतायामेव पर्यवस्यतः। यथा—

(क) ग्रथ्नामि काव्यशशिनं विततार्थरश्मिम् ॥५९८॥

सम्भावनाके निवारणके लिए 'रैपोष पुष्णाति' आदि प्रयोगोंमें अपनायी जानेवाली नीतिका अवलम्बन करना चाहिये। इसलिये कालभेद आदि दोषोंका कोई अस्तित्व नहीं है। अतः उनका अन्तर्भाव करनेका यत्न भी व्यर्थ है। इसी पूर्वपक्षको अगले अनुच्छेदमें इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—

और जहाँ [वाक्यमें] उपात्त साधारणधर्मके द्वारा ही उपमा [अर्थात् सादृश्य]-की प्रतीति होती है, जैसे, यह युधिष्ठिरकी तरह सत्य बोलता है, वहाँ भी 'युधिष्ठिरके समान सत्यवादी स्वभाववाला यह सत्य बोलता है' यह अर्थ लेंगे [उस दशामें 'सत्यं वदति'के बजाय 'सत्यवादित्व' अर्थात् सत्य बोलनेकी 'क्रिया' नहीं अपितु 'स्वभाव' साधारणधर्म होगा। इससे कालभेदका दोष नहीं आयेगा]।

सत्यवादी सत्य बोलता है इस प्रकार [का अर्थ माननेपर उसमें] पुनरुक्तिकी शङ्का भी नहीं करनी चाहिये, क्योंकि 'रैपोषं पुष्णाति' इत्यादिके समान युधिष्ठिरकी तरह सत्य बोलनेके कारण सत्यवादी यह [सत्य बोलता है] इस अर्थकी प्रतीति होती है [अतः यहाँ पुनरुक्तिकी शङ्का भी नहीं हो सकती है]।

यह मार्ग प्राचीन प्रयोगोंतक ही सीमित है [सिद्धान्त]

इस पूर्वपक्षका निराकरण ग्रन्थकार अगली पंक्तिमें यह कहकर करते हैं कि—

[उत्तर—आपका कहना] ठीक है। [महाकवियोंके काव्योंमें] पाये जानेवाले प्रयोगोंके विषयमें तो वह समाधान ठीक है किन्तु वह सर्वथा निर्दोष [मार्ग] नहीं है। कालभेद आदिके होनेपर] प्रस्तुत वस्तु [अर्थात् उपमा]की प्रतीतिमें बाधा होनेसे [कालभेद आदिको भग्नप्रक्रमताके अन्तर्गत दोष मानना ही चाहिये] इस विषयमें सहृदय लोग ही प्रमाण है।

असादृश्य और असम्भवदोष

इनके अतिरिक्त उपमामें असादृश्य तथा असम्भवको भी वामनने उपमादोष माना है। काव्यप्रकाशकार उन दोषोंका पूर्वोक्त 'अनुचितार्थता' दोषमें अन्तर्भाव करते हुए लिखते हैं कि—

५. उपमामें असादृश्य तथा असम्भवत्व भी 'अनुचितार्थता' [दोष]में ही पर्यवसित होते हैं [अर्थात् उनको भी अलग दोष न मानना उचित है] जैसे—

(क) फैली हुई अर्थरूप किरणोंसे युक्त काव्यरूप चन्द्रमाकी रचना करता हूँ ॥५९८॥

२. उत्प्रेक्षितमपि तात्त्विकेन रूपेण परिवर्जितत्वात् निरुपाख्यप्रख्यं तत्समर्थनाय यदर्थान्तरन्यासोपादानं तत् आलेख्यमिव गगनतलेऽत्यन्तमसमीचीनमिति निर्विषयत्वमेतस्यानुचितार्थतैव दोषः । यथा—

(ख) दिवाकराद्रक्षति यो गुहासु लीनं दिवाभीतमिवान्धकारम् ।
क्षुद्रेऽपि नूनं शरणं प्रपन्ने ममत्वमुच्चैः शिरसामतीव ॥६०१॥

अत्राचेतनस्य तमसो दिवाकरात् त्रास एव न सम्भवतीति कुत एव तत्प्रयोजितमद्रिणा परित्राणम् ? सम्भावितेन तु रूपेण प्रतिभासमानस्यास्य न काचिदनुपपत्तिरवतरतीति व्यर्थ एव तत्समर्थनायां यत्नः ।

(५) साधारणविशेषणवशादेव समासोक्तिरनुक्तमपि उपमानविशेषं प्रकाशयतीति तस्यात्र पुनरुपादाने प्रयोजनाभावात् अनुपादेयत्वं यत् , तत् अपुष्टार्थत्वं पुनरुक्तं वा दोषः । यथा—

विवक्षित होता है । वह केवल 'यथा' शब्दसे द्योतित नहीं होता है । इसलिए यहाँ उत्प्रेक्षावाचक शब्दके रूपमें 'यथा' शब्दका प्रयोग करनेसे अवाचकत्व दोष होता है ।

२. [उत्प्रेक्षालङ्कारमें] उत्प्रेक्षित [अर्थ] भी वास्तविकरूपसे हीन [केवल कल्पनात्मकमात्र] होनेसे [वन्ध्यापुत्र, खपुष्प आदिके समान] असत् जैसा ही होता है । उसके समर्थनके लिए जो कहीं अर्थान्तरन्यास [अलङ्कार]का आश्रय लिया जाता है वह [समर्थनीय अर्थके असत् होनेसे] आकाशमें बनाये [निराधार] चित्रके समान अत्यन्त अनुचित है । इसलिए [उत्प्रेक्षित अर्थका] निर्विषयत्व [सर्वथा अविद्यमानत्व] [भी] अनुचितार्थत्व दोष ही होता है । जैसे—

(ख) जो [हिमालय पर्वत] दिनमें [सूर्यसे] डरकर [हिमालयकी] गुफाओंमें छिपे हुए अन्धकारको सूर्यसे मानो बचाता है, क्योंकि ऊँचे सिरवालों [अर्थात् महापुरुषों] की नीच शरणागतके प्रति भी अत्यन्त ममता हो जाती है [इसलिए उन्नत सिरवाला हिमालय क्षुद्र अन्धकारकी भी सूर्यसे रक्षा करता है सो उचित ही है] ॥६०१॥

इसमें [वर्णित] अचेतन अन्धकारमें सूर्यसे भय ही नहीं बनता है इसलिए उस [भय]से प्रयोजित हिमालयके द्वारा रक्षाकी बात ही कैसे बन सकती है ? और [केवल] सम्भावितरूपसे प्रतीत होनेवाले इस [भय या परित्राणरूप तात्पर्य]में कोई अनुपपत्ति नहीं आती है इसलिए उसके समर्थनका [जो यत्न यहाँ अर्थान्तरन्यास द्वारा किया गया वह] यत्न व्यर्थ ही है ।

(५) समासोक्तिके दोषोंका अन्तर्भाव

[illegible]

[illegible]

[illegible]

(क) स्पृशति तिग्मरुचौ ककुभः करैर्दयितयेव विजृम्भिततापया ।
अतनुमानपरिग्रहया स्थितं रुचिरया चिरयापि दिनश्रिया ॥६०२॥

अत्र तिग्मरुचेः ककुभां च यथा सदृशविशेषणवशेन व्यक्तिविशेषपरिग्रहेण च नायकतया नायिकात्वेन च व्यक्तिः तथा ग्रीष्मदिवसश्रियोऽपि प्रतिनायिकात्वेन भविष्यतीति किं दयितयेति स्वशब्दोपादानेन ?

सोक्ति [अलङ्कार] भी उपमानविशेषको प्रकाशित करती है इसलिए यहाँ [समासोक्ति अलङ्कारमें] उस [उपमानविशेष]का फिर [अलगसे] ग्रहण करनेमें कोई प्रयोजन न होनेसे [उस उपमानको शब्दतः ग्रहण करनेपर] जो 'अनुपादेयत्व' [नामका समासोक्तिका दोष प्राचीन आचार्योंने माना] है। वह [प्रकृतमें व्यर्थ या अनुपयुक्त होनेके कारण] 'अपुष्टार्थत्व' अथवा [प्रकारान्तरसे प्रतीत अर्थका शब्दतः पुनः कथन होनेसे] 'पुनरुक्ति' दोष है। जैसे—

सूर्य [रूप नायक]के करों [हाथों और किरणों] द्वारा [नायिकारूप] दिशाओंका स्पर्श करनेपर [ग्रीष्म दिनोंकी] प्रौढ़ा दिनश्री [रूप प्रतिनायिका] अत्यन्त सन्ताप [मनःखेद तथा उष्णतातिशय]से भरी हुई और अत्यन्त मान [दिनोंकी दीर्घता और नायिकापक्षमें कोप]को धारण करके [दयितया इव] प्रेमिकाके समान देरतक सुन्दर लगती रही ॥६०२॥

यहाँ [दोनों पक्षोंमें लग सकनेवाले] साधारण विशेषणोंके द्वारा और सूर्य तथा दिशाओंमें [क्रमशः पुल्लिङ्ग तथा स्त्रीलिङ्गरूप] लिङ्गविशेषका ग्रहण होनेसे सूर्य तथा दिशाओंमें [क्रमशः] नायक तथा नायिकारूपसे प्रतीति जैसे [स्वयं ही] हो जाती उसी प्रकार ग्रीष्मकालकी दिनश्रीमें प्रतिनायिकारूपसे प्रतीति [स्वयं ही] हो जायगी इसलिए [उस प्रतिनायिकात्वको] 'दयितया' इस [उपमान-वाचक] स्वशब्दसे प्रतिपादन करनेसे क्या लाभ ? [इसलिए इस उदाहरणमें जो 'दयितया' पदका ग्रहण किया गया है उसको प्राचीन आचार्योंने समासोक्तिका 'अनुपादेयत्व' नामक अलङ्कारदोष माना है, परन्तु काव्यप्रकाशकारके मतमें वह 'अपुष्टार्थत्व' अथवा 'पुनरुक्तत्व'मेंसे किसी भी एक [illegible] दोषके अन्तर्गत हो सकता है]।

श्लेषोपमा और समासोक्तिका भेद

इस प्रकार 'स्पृशति तिग्मरुचौ' इत्यादि समासोक्ति अलङ्कारके उदाहरणमें [illegible] द्वारा ही सूर्यमें नायकत्व, दिशाओंमें नायिकात्व और ग्रीष्मदिन [illegible] प्रतिनायिका[illegible] सम्भव होनेपर भी जो उपमानवाचक 'दयितया इव' पदका प्रयोग किया गया वह प्राचीन [illegible] मतसे 'अनुपादेयत्व' नामक अलङ्कारदोष [illegible] और काव्यप्रकाशकारके [illegible] पुनरुक्तत्व [illegible] प्रयोजन [illegible] यह बात [illegible] है।

इसपर यह शङ्का हो सकती है कि इस श्लोकमें समासोक्ति अलङ्कार मानने [illegible] है तो उसको न माना जाय। उसके स्थानपर यहाँ 'श्लेषोपमालङ्कार' [illegible] होगा। जैसे [illegible] द्वारा [illegible] स्पर्श किये जानेपर [illegible] उसी प्रकार [illegible] द्वारा दिशाओंका स्पर्श किये जानेपर [illegible]

श्लेषोपमायास्तु स विषयः यत्रोपमानस्योपादानमन्तरेण साधारणेष्वपि विशेषणेषु न तथा प्रतीतिः । यथा—

स्वयं च पल्लवाताम्रभास्वत्करविराजिना ।
प्रभातसन्ध्येवास्वापफललुब्धेहितप्रदा ॥६०३॥

इस प्रकार इसमें समासोक्ति नहीं अपितु उपमा अलङ्कार है और उसमें 'कर', 'ताप' आदि पदोंमें श्लेष होनेसे यह 'श्लेषोपमा'का उदाहरण हो सकता है।

इस शङ्काका समाधान ग्रन्थकार अगली पंक्तिमें करेंगे। उनके समाधानका यह आशय है कि—'श्लेषोपमा' वहीं मानी जा सकती है जहाँ उपमानका शब्दतः ग्रहण किये बिना साधारण विशेषणोंके द्वारा स्पष्टरूपसे उसकी प्रतीति नहीं होती है। यहाँ तो 'दयिता' इस उपमानपदका ग्रहण किये बिना भी साधारण विशेषणोंके द्वारा ही ग्रीष्मकी दिनश्रीमें प्रतिनायिकात्वकी स्पष्टरूपसे प्रतीति हो सकती है। इसलिए इस प्रकारके उदाहरणोंमें 'श्लेषोपमा' नहीं अपितु समासोक्ति ही माननी चाहिये। अन्यथा समासोक्तिके सभी उदाहरणोंमें श्लेषोपमा सम्भव होनेसे समासोक्तिका उदाहरण मिलना ही कठिन हो जायगा। इसीलिए श्लेषोपमा और समासोक्तिका विषयविभाग करना आवश्यक है। और वह इसी आधारपर किया जा सकता है कि जहाँ उपमानका ग्रहण किये बिना साधारण विशेषणोंके द्वारा उपमानकी स्पष्टरूपसे प्रतीति सम्भव न हो वहाँ श्लेषोपमा माननी चाहिये और उपमानपदका शब्दतः प्रतिपादन भी करना चाहिये। परन्तु 'स्पृशति तिग्मरुचौ' जैसे उदाहरणोंमें जहाँ कि साधारण विशेषणोंसे ही उपमानकी प्रतीति हो जाती है, समासोक्ति ही माननी चाहिये और उपमानपदका अलगसे प्रयोग नहीं करना चाहिये।

समासोक्ति तथा श्लेषोपमाके इसी भेदको स्पष्ट करनेके लिए ग्रन्थकार अगली पंक्ति लिखकर उसका उदाहरण देते हैं—

श्लेषोपमाका विषय वही होता है जहाँ विशेषणोंके समान होनेपर भी उपमान-विशेषका ग्रहण किये बिना उस प्रकारकी [स्पष्ट] प्रतीति नहीं हो सकती है। जैसे—

[पार्वती न केवल अपने सम्बन्धियोंके महत्त्वके कारण ही अपितु] स्वयं भी नव-किसलयोंके समान लाल-लाल और चमकते हुए हाथोंसे शोभित और [मोक्ष आदि रूप 'अस्वाप'] दुर्लभ फलके लोभी [मुमुक्षु] जनोंकी कामनाको सिद्ध करनेवाली [प्रभातसन्ध्यापक्षमें पल्लवोंके समान] रक्तवर्ण सूर्यकी किरणोंसे शोभायमान और प्रातःकालके समय 'अस्वाप' जागरणके स्नानादि फलके लोभी जनोंके इष्टको सिद्ध करनेवाली प्रभातसन्ध्याके समान है] ॥ ६०३ ॥

यह श्लोक नवम उल्लासमें श्लोकसंख्या ३७८ पर भी आ चुका है। इसमें 'प्रभातसन्ध्या' उपमानवाचक पद है। यदि उसको शब्दतः उपात्त न किया जाय तो केवल 'पल्लवाताम्रभास्वत्कर-विराजिता' और 'अस्वापफललुब्धेहितप्रदा' इन विशेषणोंके द्वारा उसकी स्पष्टरूपसे प्रतीति नहीं हो सकती है। इसीलिए यहाँ समासोक्ति अलङ्कार नहीं अपितु 'श्लेषोपमा' ही माननी चाहिये। परन्तु 'स्पृशति तिग्मरुचौ' इत्यादि पूर्वोक्त उदाहरणमें प्रतिनायिकारूप उपमानकी प्रतीति 'दयितया' पदका ग्रहण किये बिना भी साधारण विशेषणोंके द्वारा ही हो सकती है इसलिए उसमें श्लेषोपमा माननेका अवसर नहीं है। यहाँ समासोक्ति ही माननी होगी और समासोक्तिमें उपमानपदका पृथक् ग्रहण अनुचित है।

(६) अप्रस्तुतप्रशंसायामपि उपमेयमनयैव रीत्या प्रतीतं न पुनः प्रयोगेण कदर्थतां नेयम्। यथा—

आहूतेषु विहङ्गमेषु मशको नायान् पुरो वार्यते,
मध्येवारिधि वा वसंस्तृणमणिर्धत्ते मणीनां रुचम्।
खद्योतोऽपि न कम्पते प्रचलितुं मध्येऽपि तेजस्विनां,
धिक् सामान्यमचेतनं प्रभुमिवानामृष्टतत्त्वान्तरम्॥६०४॥

अत्राचेतनस्य प्रभोरप्रस्तुतविशिष्टसामान्यद्वारेणाभिव्यक्तौ न युक्तमेव पुनः कथनम्। तदेतेऽलङ्कारदोषा यथासम्भविनोऽन्येऽप्येवंजातीयकाः पूर्वोक्तयैव दोषजात्याअन्तर्भाविता न पृथक् प्रतिपादनमर्हन्तीति सम्पूर्णमिदं काव्यलक्षणम्।

---

(६) अप्रस्तुतप्रशंसाके दोष

इसी प्रकार उद्भट आदि प्राचीन आचार्योंने अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कारमें भी साधारण विशेषणोंके द्वारा ही प्रस्तुत अर्थ की प्रतीति हो जानेसे उसका शब्दतः ग्रहण होनेपर भी 'अनुपादेयत्व' नामक अलङ्कारदोष अलग माना है। परन्तु काव्यप्रकाशकार उसको भी अपुष्टार्थत्व या पुनरुक्तत्व दोषके ही अन्तर्गत मानते हैं। इसी बातको स्पष्ट करते हुए आगे लिखते हैं कि—

अप्रस्तुतप्रशंसा [अलङ्कार]में भी उपमेय [अर्थात् प्रस्तुत अर्थ, साधारण विशेषणों द्वारा] इसी प्रकारसे [शब्दतः उपादानके बिना ही प्रतीत हो जाता है उसको दुबारा शब्दसे कथन करके दूषित नहीं करना चाहिये। जैसे—

पक्षियोंको बुलानेपर आगे बढ़कर आनेवाले मच्छरको भी [पक्षधारी होनेके कारण] नहीं रोका जा सकता है [उसी सामान्यके कारण] समुद्रके भीतर पड़ा हुआ तुच्छ तृणमणि भी [पद्मराग आदि बहुमूल्य] मणियोंकी बराबरी करता है और [जिस सामान्यके कारण सूर्य-चन्द्रमा आदि] तेजस्वियोंके साथ चलनेमें जुगुनूको भी भय नहीं मालूम होता है [वह भी अपनेको तेजस्वी समझता है] उस अन्य विशेषताओंका विचार करनेमें असमर्थ राजाके समान जड़ सामान्य [जातिमात्र]को धिक्कार है॥६०४॥

इसमें [गुणों और विशेषताओंको पहिचाननेमें असमर्थ] मूर्ख राजा [जिसकी निन्दा अभीष्ट है उस प्रस्तुत अर्थ]की विशेषणोंसे युक्त [विशिष्ट] सामान्यके द्वारा अभिव्यक्ति हो जानेपर फिर उसका [प्रभोः इस] शब्दसे कहना उचित नहीं है।

इसलिए यहाँ प्रभु शब्दका उपादान होनेसे इसमें 'अनुपादेयत्व' दोष है। काव्यप्रकाशकारके मतमें उसका अन्तर्भाव पूर्वोक्त 'अपुष्टार्थत्व' अथवा 'पुनरुक्तत्व' दोषमें हो सकता है।

इस प्रकार [वामनादि प्राचीन आचार्योंके माने हुए] ये अलङ्कारदोष और इसी प्रकारके अन्य भी जो दोष सम्भव हों, वे सब पहिले कहे हुए दोषोंके वर्ग [जाति] में ही अन्तर्भूत हो जाते हैं। उनका अलग वर्णन करना उचित नहीं है [इसलिए उनका हमने प्रतिपादन नहीं किया है]। [इसलिए हमारा लिखा हुआ] यह काव्यलक्षण सम्पूर्ण है।

इत्येष मार्गो विदुषां विभिन्नोऽप्यभिन्नरूपः प्रतिभासते यत् ।
न तद्विचित्रं यदमुत्र सम्यग्विनिर्मिता सङ्घटनैव हेतुः ॥
इति काव्यप्रकाशेऽर्थालङ्कारनिर्णयो नाम दशम उल्लासः ।
समाप्तश्चायं काव्यप्रकाशः ।

अब ग्रन्थकार अपने ग्रन्थकी समन्वयात्मक प्रकृतिका सङ्केत करते हुए उसको समाप्त करते हैं—

इस प्रकार [भामह, वामन, उद्भट, आनन्दवर्धन आदि प्राचीन] विद्वानोंका [रससम्प्रदाय, ध्वनिसम्प्रदाय, रीतिसम्प्रदाय, अलङ्कारसम्प्रदाय आदि रूपसे] भिन्न-भिन्न प्रतीत होनेवाला यह काव्य [निरूपण] मार्ग भी जो [इस काव्यप्रकाश ग्रन्थमें समन्वित पद्धतिसे निरूपित होकर] अभिन्न-सा प्रतीत हो रहा है वह कोई विचित्र बात नहीं है, क्योंकि भली प्रकारसे [समन्वयात्मक भावनासे]की हुई रचना ही उसका कारण है।

इस उपसंहारात्मक श्लोकसे दो बातें प्रतीत होती हैं। एक बात तो यह है कि काव्यप्रकाश-कारके पूर्व साहित्यशास्त्रपर जिन अनेक आचार्योंने ग्रन्थोंकी रचना की थी उनमें किसीने ध्वनिपर, किसी-ने रीति या गुणोंपर, किसीने अलङ्कारोंपर, किसीने वक्रोक्तिपर विशेषरूपसे बल दिया था। और जिसने जिस विषयको लिया उसीको काव्यका आत्मा प्रतिपादन किया। ध्वनिवादियोंके मतमें 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' ध्वनि ही काव्यका आत्मा माना गया है। रीतिमार्गके प्रवर्तक आचार्य वामनके मतमें 'रीति-रात्मा काव्यस्य' काव्यका आत्मा रीति ही है। वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तक वक्रोक्तिको ही काव्यका जीवन मानते हैं। इसी प्रकार कोई रसको, कोई अलङ्कारको काव्यका आत्मा मानते हैं। इस प्रकार पूर्वाचार्योंमें बहुत-कुछ मतभेद दिखलायी देता है। काव्यप्रकाशकारने अपने ग्रन्थमें उन सब मतोंका समन्वय करनेका प्रयत्न किया है इसलिए उनकी इस समन्वयात्मक रचनाशैलीके कारण ध्वनि, रीति, रस, अलङ्कार आदि सभी विषयोंका समावेश और विवेचन उनके इस ग्रन्थमें पाया जाता है और उन-में किसी प्रकारका विरोध नहीं भासता है। इसी बातका सङ्केत ग्रन्थकारने इस श्लोकमें किया है।

दूसरी बात यह भी प्रतीत होती है कि यह 'काव्यप्रकाश' ग्रन्थ, जैसा कि पहिले कहा जा चुका है, श्री मम्मटाचार्यकी कृति है परन्तु वे इस ग्रन्थको केवल परिकरालङ्कारतक ही लिख सके थे, उसके बाद उनका देहान्त हो जानेसे या किसी अन्य कारणसे अधूरे पड़े हुए ग्रन्थके शेष भागकी रचना अल्लटसूरि नामक किसी विद्वान्‌ने की है। इस प्रकार दो भिन्न-भिन्न विद्वानों द्वारा लिखा जानेपर भी रचनाशैलीकी अत्यन्त समानताके कारण यह सारा ग्रन्थ एक ही व्यक्तिकी रचना-सा जान पडता है।

काव्यप्रकाशमें अर्थालङ्कारनिर्णय नामका यह दशम उल्लास समाप्त हुआ।

यह काव्यप्रकाश [ग्रन्थ भी] समाप्त हुआ।

उत्तरप्रदेशस्थ 'पीलीभीत' मण्डलान्तर्गत 'मकतुल'-ग्रामनिवासिना,
श्रीशिवलालबख्शीमहोदयाना तनुजनुषा,
वृन्दावनस्थगुरुकुलविश्वविद्यालयाधिगतविद्येन तत्रत्याचार्यपदमधितिष्ठता एम० ए०
इत्युपपदधारिणा 'विद्यामार्तण्डेन' श्रीमदाचार्यविश्वेश्वरसिद्धान्तशिरोमणिना
विरचिता 'काव्यप्रकाशदीपिका' हिन्दीव्याख्या समाप्ता।

समाप्तश्चाय ग्रन्थ ।

प्रथम परिशिष्ट

काव्यप्रकाशस्थ सूत्रोंकी अकारादिक्रमसे सूची

प्रथम परिशिष्ट

———

द्वितीय परिशिष्ट

काव्यप्रकाशस्थ उदाहरणोंकी वर्णक्रमानुसारिणी सूची

द्वितीय परिशिष्ट